

हिंदी-शब्दसागर

अर्थात्

हिंदी भाषा का एक बृहत् कोश

संपादक

श्यामसुंदरदास बी० ए०

सहायक संपादक

रामचंद्र शुक्ल

जगन्मोहन वर्मा

अमीरसिंह

भगवानदीन

रामचंद्र वर्मा ।

प्रकाशक

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ।

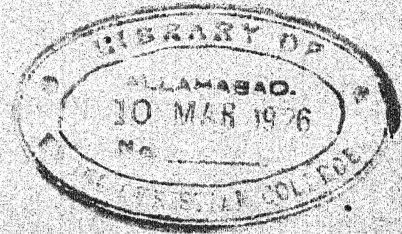
इंडियन प्रेस, प्रयाग, में मुद्रित ।

१९२०

मूल्य १/

डाकव्यय अतिरिक्त ।

Printed by Anurva Krishna Bose, at The Indian Press, Ltd., Allahabad.



संकेताक्षरों का विवरण ।

अ० = अंगरेजी भाषा
 अ० = अरबी भाषा
 अनु० = अनुकरण शब्द
 अने० = अनेकार्थनाममाला
 अप० = अपभ्रंश
 अयोध्या = अयोध्यासिंह उपाध्याय
 अर्द्धमा० = अर्द्धमागधी
 अल्प० = अल्पार्थक प्रयोग
 अव्य० = अव्यय
 आनंदघन = कवि आनंदघन
 इब० = इब्रानी भाषा
 उ० = उदाहरण
 उत्तरचरित = उत्तररामचरित
 उप० = उपसर्ग
 उभ० = उभयलिङ्ग
 कठ० उप० = कठवल्ली उपनिषद्
 कबीर = कबीरदास
 केशव = केशवदास
 कोंक = कोंकण देश की भाषा
 क्रि० = क्रिया
 क्रि०अ० = क्रिया अकर्मक
 क्रि०प्र० = क्रियाप्रयोग
 क्रि०वि० = क्रियाविशेषण
 क्रि०स० = क्रिया सकर्मक
 क० = कचित् अर्थात् इसका प्रयोग
 बहुत कम देखने में आया है ।
 खानखाना = अब्दुरहीम खानखाना
 गि०दा० वा गि०दास = गिरिधर-
 दास (बा० गोपालचंद्र)
 गिरिधर = गिरिधरराय (कुंड-
 लियावाले)
 गुज० = गुजराती भाषा

गुमान = गुमानमिश्र
 गोपाल = गिरिधरदास (बा०
 गोपालचंद्र)
 चरण = चरणचंद्रिका
 चिंतामणि = कवि चिंतामणि
 त्रिपाठी
 छीत = छीतस्वामी
 जायसी = मलिक मुहम्मद जायसी
 जावा० = जावा द्वीप की भाषा
 ज्यो० = ज्योतिष
 डि० = डिंगल भाषा
 तु० = तुरकी भाषा
 तुलसी = तुलसीदास
 तोष = कवि तोष
 दादू = दादूदयाल
 दीनदयालु = कवि दीनदयालु गिरि
 दूलह = कवि दूलह
 दे० = देखो
 देव = देव कवि (मैनपुरीवाले)
 देश० = देशज
 द्विवेदी = महावीरप्रसाद द्विवेदी
 नागरी = नागरीदास
 नाभा = नाभादास
 निश्चल = निश्चलदास
 पं० = पंजाबी भाषा
 पद्माकर = पद्माकर भट्ट
 पर्या० = पर्याय
 पा० = पाली भाषा
 पुं० = पुल्लिङ्ग
 पु० हि० = पुरानी हिंदी
 पुर्त० = पुर्तगाली भाषा
 पू० हि० = पूर्वी हिंदी

प्रताप = प्रतापनारायण मिश्र
 प्रत्य० = प्रत्यय
 प्रा० = प्राकृत भाषा
 प्रिया = प्रियादास
 प्रे० = प्रेरणार्थक
 प्रे० सा० = प्रेमसागर
 फ० = फ़रासीसी भाषा
 फ़ा० = फ़ारसी भाषा
 बंग० = बंगला भाषा
 बरमी० = बरमी भाषा
 बहु० = बहुवचन
 बिहारी = कवि बिहारीलाल
 बुं० खं० = बुंदेलखंडी बोली
 बेनी = कवि बेनी प्रवीन
 भाव० = भाववाचक
 भूषण = कवि भूषण त्रिपाठी
 मतिराम = कवि मतिराम त्रिपाठी
 मला० = मलयालम भाषा
 मलूक = मलूकदास
 मि० = मिजाओ
 मुहा० = मुहाविरे
 यू० = यूनानी भाषा
 यौ० = यौगिक तथा दो वा अधिक
 शब्दों के पद
 रघु० दा० = रघुनाथदास
 रघुनाथ = रघुनाथ बंदीजन
 रघुराज = महाराज रघुराजसिंह
 रीवानिरेश
 रसखान = सैयद इब्राहीम
 रसनिधि = राजा पृथ्वीसिंह
 रहीम = अब्दुरहीम खानखाना
 लक्ष्मणसिंह = राजा लक्ष्मणसिंह

लछू = लछूलाळ
 लश० = लशकरी भाषा अर्थात्
 हिंदुस्तानी जहाजियों
 की बोली
 लाल = लाल कवि (छत्रप्रकाश
 वाले)
 लै० = लैटिन भाषा
 वि० = विशेषण
 विश्राम = विश्रामसागर
 व्यंग्यार्थ = व्यंग्यार्थकौमुदी
 व्या० = व्याकरण
 व्यास = अंबिकादत्त व्यास
 शं० दि० = शंकर दिग्विजय
 शृं० सत० = शृंगार सतसई
 सं० = संस्कृत
 संयो० = संयोजक अव्यय
 संयो० क्रि० = संयोज्य क्रिया
 स० = सकर्मक
 सबल = सबलसिंह चौहान
 सभा० वि० = सभाविलास
 सर्व० = सर्वनाम
 सुधाकर = सुधाकर द्विवेदी
 सूदन = सूदनकवि(भरतपुरवाले)
 सूर = सूरदास
 स्त्रि० = स्त्रियों द्वारा प्रयुक्त
 स्त्री० = स्त्रीलिङ्ग
 स्पे० = स्पेनी भाषा
 हिं० = हिंदी भाषा
 हनुमान = हनुमन्नाटक
 हरिदास = स्वामी हरिदास
 हरिचंद्र = भारतेन्दु हरिचंद्र

* यह चिह्न इस बात को सूचित करता है कि यह शब्द केवल पद्य में प्रयुक्त है ।

† यह चिह्न इस बात को सूचित करता है कि इस शब्द का प्रयोग प्रांतिक है

‡ यह चिह्न इस बात को सूचित करता है कि शब्द का यह रूप प्राग्भ्य है ।

क्योंकि वह इंद्रियविषय है

जो कुछ इंद्रियविषय हो वह घट की तरह अनित्य है

शब्द इंद्रियविषय है

अतः शब्द अनित्य है ।

दूसरा कहता है—जाति (जैसे घटत्व) इंद्रियविषय होने पर भी नित्य है इसी प्रकार शब्द भी क्यों नहीं ।

इस पर पहला कहता है—जो कुछ इंद्रियविषय हो वह घट की तरह नित्य है । उसके इस कथन से प्रतिज्ञा की हानि हुई ।

(२) प्रतिज्ञांतर वहाँ होता है जहाँ प्रतिज्ञा का विरोध होने पर कोई अपने दृष्टांत और प्रतिदृष्टांत में विकल्प से एक और नए धर्म का आरोप करता है ।

एक आदमी कहता है—शब्द अनित्य है ।

क्योंकि वह घट के समान इंद्रियों का विषय है ।

दूसरा कहता है—शब्द नित्य है ।

क्योंकि कि वह जाति के समान इंद्रियविषय है ।

इस पर पहला कहता है पात्र और जाति दोनों इंद्रिय-विषय हैं । पर जाति सर्वगत है और घट सर्वगत नहीं । अतः शब्द सर्वगत न होने से घट के समान अनित्य है । यहाँ शब्द अनित्य है यह पहली प्रतिज्ञा थी; शब्द सर्वगत नहीं यह दूसरी प्रतिज्ञा हुई । एक प्रतिज्ञा की साधक दूसरी प्रतिज्ञा नहीं हो सकती, प्रतिज्ञा के साधक हेतु और दृष्टांत होते हैं । (३) जहाँ प्रतिज्ञा और हेतु का विरोध हो वहाँ प्रतिज्ञा-विरोध होता है । जैसे, किसी ने कहा—द्रव्य गुण से भिन्न है (प्रतिज्ञा), क्योंकि उसकी उपलब्धि रूपादिक से भिन्न नहीं होती । यहाँ प्रतिज्ञा और हेतु में विरोध है क्योंकि यदि द्रव्य गुण से भिन्न है तो वह रूप से भी भिन्न हुआ ।

(४) जहाँ पक्ष का निषेध होने पर माना हुआ अर्थ छोड़ दिया जाय वहाँ प्रतिज्ञासंन्यास होता है । जैसे किसी ने कहा “इंद्रियविषय होने से शब्द अनित्य है ।” दूसरा कहता है जाति इंद्रिय-विषय है पर अनित्य नहीं, इसी प्रकार शब्द भी समझिए । इस प्रकार पक्ष के निषेध होने पर यदि पलहा कहने लगे कि कौन कहता है कि ‘शब्द अनित्य है’ तो उसका यह कथन प्रतिज्ञासंन्यास नामक निग्रहस्थान के अंतर्गत हुआ ।

(५) जहाँ अविशेष रूप से कहे हुए हेतु के निषेध होने पर उसमें विशेषत्व दिखाने की चेष्टा की जाती है वहाँ हेतुंतर नाम का निग्रहस्थान होता है । जैसे किसी ने कहा—‘शब्द अनित्य है’ क्योंकि वह इंद्रियविषय है । दूसरा कहता है कि इंद्रियविषय होने से ही शब्द अनित्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि जाति (जैसे घटत्व) भी तो इंद्रियविषय है पर वह अनित्य नहीं । इस पर पहला कहता है कि इंद्रियविषय

होना जो हेतु मैंने दिया है उसे इस प्रकार का इंद्रिय-विषय समझना चाहिए जो जाति के अंतर्गत लाया जा सकता हो । जैसे, ‘शब्द’ जाति के अंतर्गत लाया जा सकता है (जैसे, शब्दत्व) पर जाति (जैसे घटत्व) फिर जाति के अंतर्गत नहीं लाई जा सकती । हेतु का यह टालना हेतुंतर कहलाता है ।

(६) जहाँ प्रकृत विषय या अर्थ से संबंध रखनेवाला विषय उपस्थित किया जाता है वहाँ अर्थांतर होता है, जैसे, कोई कहे कि शब्द अनित्य है, क्योंकि वह अस्पृश्य है । विरोध होने पर यदि वह इधर उधर की फजूल बातें बकने लगे जैसे हेतु शब्द ‘हिं’ धातु से बना है इत्यादि तो उसे अर्थांतर नामक निग्रहस्थान में आया हुआ समझना चाहिए ।

(७) जहाँ वयों की बिना अर्थ की योजना की जाय वहाँ निरर्थक होता है । जैसे कोई कहे क ल ग नित्य है ज व ग ड से ।

(८) जब पक्ष का विरोध होने पर अपने वचाव के लिये कोई ऐसे शब्दों का प्रयोग करने लगे जो अर्थप्रसिद्ध न होने के कारण जल्दी समझ में न आवें अथवा बहुत जल्दी जल्दी और अस्पष्ट स्वर में बोलने लगे तब अविज्ञातार्थ नामक निग्रहस्थान होता है ।

(९) जहाँ अनेक पदों या वाक्यों का पूर्वपर क्रम से अन्वय न हो, पद और वाक्य असंबद्ध हों, वहाँ अपार्थक्य होता है ।

(१०) प्रतिज्ञा हेतु आदि अवयव क्रम से न कहे जायें, आगे पीछे उलट पुलट कर कहे जायें वहाँ अप्राप्तकाल होता है ।

(११) प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों में से जहाँ कथन में कोई अवयव कम हो वहाँ न्यून नामक निग्रहस्थान होता है ।

(१२) हेतु और उदाहरण जहाँ आवश्यकता से अधिक हो जायें वहाँ अधिक नामक निग्रहस्थान होता है क्योंकि जब एक हेतु और उदाहरण से अर्थ सिद्ध हो गया तब दूसरा हेतु और उदाहरण व्यर्थ है । पर यह बात पहले से नियम के मान लेने पर है ।

(१३) जहाँ व्यर्थ पुनः कथन हो वहाँ पुनरुक्त होता है ।

(१४) चुप रह जाने को अनुभाषण कहते हैं । जहाँ वादी अपना अर्थ साफ साफ तीन बार कहे और प्रतिवादी सुन और समझ कर भी कोई उत्तर न दे वहाँ अनुभाषण नामक निग्रहस्थान होता है ।

(१५) जिस बात को सभासद समझ गए हों उसी को तीन बार समझाने पर भी यदि प्रतिवादी न समझे तो अज्ञान नामक निग्रहस्थान होता है ।

(१६) जहाँ पर पक्ष का खंडन अर्थात् उत्तर न देने वहाँ अप्रतिभा नामक निग्रहस्थान होता है ।

(१७) जहाँ प्रतिवादी इस प्रकार टालतूल कर दे कि ‘मुझे इस समय काम है, फिर कहूँगा’ वहाँ विचेष्ट होता है ।

(१८) जहाँ प्रतिवादी के दिए हुए दोष को अपने पक्ष में अंगीकार कर के वादी बिना उस दोष का उद्धार किए प्रतिवादी से कहे कि 'तुम्हारे कथन में भी तो यह दोष है' वहाँ मतानुज्ञा नामक निग्रहस्थान होता है।

(१९) जहाँ निग्रहस्थान में प्राप्त हो जानेवाले का निग्रह न किया जाय वहाँ पर्यनुयोज्योपेक्षण होता है।

(२०) जो निग्रहस्थान में न प्राप्त होनेवाले को निग्रह स्थान में प्राप्त कहे उसे निरनुयोज्यानुयोग नामक निग्रहस्थान में गया समझना चाहिए।

(२१) जहाँ कोई एक सिद्धांत को मान कर विवाद के समय उसके विरुद्ध कहता है वहाँ असिद्धांत नामक निग्रहस्थान होता है।

(२२) दे० "हेत्वाभास"।

निग्रही-वि० [सं० निग्रहिन्] (१) रोकनेवाला। दबानेवाला।

(२) दमन करनेवाला। दंड देनेवाला।

निग्राह-संज्ञा पुं० [सं०] आक्रोश। शाप।

निग्रोध-संज्ञा पुं० [सं० न्यग्रोध] राजा अशोक के एक भतीजे का नाम।

निर्घंटिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का कंद। गुलंच।

निर्घंटु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वैदिक शब्दों का संग्रह। वैदिक कोश।

विशेष—यास्क ने निर्घंटु की जो व्याख्या लिखी है वह निरुक्त के नाम से प्रसिद्ध है। यह निर्घंटु अत्यंत प्राचीन है क्योंकि यास्क के पहले भी शाकपूर्णि और स्थौलष्टीवी नामक इसके दो व्याख्याकार या निरुक्तकार हो चुके थे। महाभारत में कश्यप की निर्घंटु का कर्त्ता लिखा है।

(२) शब्द-संग्रह मात्र। जैसे, वैद्यक का निर्घंटु।

निघटना*-क्रि० अ० दे० "घटना"। उ०—संदेशन क्यों निघटत दिन राति।—सूर।

निघरघट-वि० [हिं० नि=नहीं + घट] (१) जिसका कहीं घर घट न हो। जिसे कहीं ठिकाना न हो। जो घूम फिर कर फिर वहीं आवे जहाँ से दुतकारा या हटाया जाय।

(२) निर्लज्ज। बेहया।

मुहा०—निघरघट देना=लज्जित किए जाने पर झूठी बातें बनाना कि मैं यहाँ था, वहाँ था। बेहयाई से झूठी सफाई देना। उ०—दुरै न निघरघटौ दिए ये रावरी कुचाल। बिष सी लागति है बुरी हँसी खिसी की लाल।—बिहारी।

निघरा-वि० [हिं० नि+घर] जिसके घर बार न हो। निगोड़ा (गाली)। उ०—मेरी भई यह आनि दशा निघरे विधि तोहि अरे यह पीर न।—गुमान।

निघर्षण-संज्ञा पुं० [सं०] घर्षण। घिसना। रगड़ना।

निघात-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आह्वन। प्रहार। (२) अनुदात्त स्वर।

निघाति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लौह दंड। (२) वह लोहे के खंड जिस पर हथौड़े आदि का आघात पड़े। निहाई।

निघाती-वि० [सं० निघातिन्] [स्त्री० निघातिनी] (१) मारनेवाला। प्रहार करनेवाला। (२) बध करनेवाला।

निघ्न-वि० [सं०] (१) अधीन। आगत। वशीभूत। (२) निर्भर। अवलंबित। (३) गुणित। गुणा किया हुआ।

संज्ञा पुं० (१) सूर्यवंशीय राजा अनरण्य का पुत्र। (हरिवंश)।

(२) एक राजा जो अनमित्र का पुत्र था। (हरिवंश)।

निचंद्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक दानव का नाम।

निचक्र-संज्ञा पुं० [सं०] हस्तिनापुर के एक राजा जो असीमकृष्ण के पुत्र थे। हस्तिनापुर को जब गंगा बहा ले गई तब इन्होंने कौशांबी में राजधानी बसाई।

निचमन-संज्ञा पुं० [सं०] थोड़ा थोड़ा पीना।

निचय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) समूह। (२) निश्चय। (३) संचय।

निचल*-वि० दे० "निश्चल"।

निचला-वि० [हिं० नीचे + ला (प्रत्य०)] [स्त्री० निचली] नीचे का। नीचेवाला। जैसे, निचला भाग।

वि० [सं० निश्चल] (१) अचल। जो हिलता डोलता न हो। (२) स्थिर। शांत। जो चंचल न हो। अचपल।

क्रि० प्र०—रहना।—होना।

मुहा०—निचला बैठना=(१) स्थिर होकर बैठना। शांतभाव से बैठना। चंचलता न करना। (२) शिष्टतापूर्वक बैठना।

निचाई-संज्ञा स्त्री० [हिं० नीच] (१) नीचा होने का भाव। नीचापन। जैसे, ऊँचाई निचाई। (२) नीचे की ओर दूरी या विस्तार। (३) नीच होने का भाव। नीचता। ओछापन। कमीनापन। उ०—(क) भले भलाई पै लहहिं लहहिं निचाई नीच।—तुलसी। (ख) नीच निचाई नहिं तजैं जो पावैं सतसंग।

निचान-संज्ञा स्त्री० [हिं० नीचा] (१) नीचापन। (२) ढाल। ढालुवाँपन। ढुलान।

निचिंत-वि० [सं० निश्चित] चिंतारहित। बेफिक्र। सुचित।

निचि-संज्ञा पुं० [सं०] कानों के सहित गाय का सिर।

निचिकी-संज्ञा स्त्री० [सं०] अच्छी गाय।

निचित-वि० [सं०] (१) संचित। इकट्ठा। (२) पूरित। व्याप्त। (३) तैयार। निर्मित। (४) संकीर्ण।

निचिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी का नाम। (महाभारत)

निचुड़ना-क्रि० अ० [सं० उप० नि+च्यवन=चूना] (१) रस से भरी या गीली चीज का इस प्रकार दबना कि रस या पानी टपक कर निकल जाय। दबकर पानी या रस छोड़ना। गरना। जैसे, धोती निचुड़ना, नीचू निचुड़ना।

संयो० क्रि०—जाना।

(२) भरे या समाए हुए जल आदि का दाब पाकर अलग होना या टपकना। छूट कर चूना। गरना। जैसे, गीली धोती का पानी निचुड़ना, नीबू का रस निचुड़ना। उ०—
कहे देत रँग रात को रँग निचुरत से नैन।—बिहारी।

संयो० क्रि०—जाना।

(३) रस या सार हीन होना। (४) शरीर का रस या सार निकल जाने से दुबला होना। तेज और शक्ति से रहित होना।

संयो० क्रि०—उठना।—जाना।

निचुल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बेंत। (२) हिजल वृक्ष।
ईंजड़ का पेड़।

निचै*-संज्ञा पुं० दे० “निचय”।

निचोड़-संज्ञा पुं० [हिं० निचोड़ना] (१) वह वस्तु जो निचोड़ने से निकले। निचोड़ने से निकला हुआ जल रस आदि।
(२) सार वस्तु। सार। सत्। (३) कथन का सारांश।
मुख्य तात्पर्य। खूलासा। जैसे, सब बातों का निचोड़।

निचोड़ना-क्रि० सं० [हिं० निचुड़ना] (१) गीली या रसभरी वस्तु को दबाकर या हँडकर उसका पानी या रस टपकाना।
दबाकर पानी या रस निकालना। गरना। जैसे, गीली धोती निचोड़ना, नीबू निचोड़ना, धोती का पानी निचोड़ना, नीबू का रस निचोड़ना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।—लेना।

(२) किसी वस्तु का सार भाग निकाल लेना। (३) सब कुछ ले लेना। सर्वस्व हरण कर लेना। निर्धन कर देना।
जैसे, उनके पास अब कुछ नहीं रह गया लोगों ने उन्हें निचोड़ लिया।

संयो० क्रि०—लेना।

निचोना*-क्रि० सं० [सं० नि + च्यवन] निचोड़ना। उ०—(क)
तृषावत सुरसरि विहाय सठ फिरि फिरि बिकल अकास
निचोयो।—तुलसी। (ख) मुसुकानि भरी बलि बोलनि तें
श्रुति माँहि पिपृष निचोती रही।—द्विजदेव।

निचोर*-संज्ञा पुं० दे० “निचोड़”।

निचोरना*-क्रि० सं० दे० “निचोड़ना”।

निचोल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आच्छादन वस्त्र। ऊपर से शरीर
ढाँकने का कपड़ा। (२) स्त्रियों की ओढ़नी। घूँघट का
कपड़ा। (३) उत्तरीय वस्त्र। (४) घाघरा। लहंगा।
(५) वस्त्र। कपड़ा।

निचोलक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चोल। कंचुक। अंगरा।
(२) सन्नाह। बकर।

निचोवना*-क्रि० सं० दे० “निचोना”।

निचौहाँ-वि० [हिं० नीचा + हिं० औहाँ (प्रत्य०) (सं० आवाह)]
[खी० निचौहाँ] नीचे की ओर किया हुआ या झुका हुआ।

नमित। उ०—(क) सखिन मध्य करि दीठि निचौँही राधा
सकुच मरी।—सूर। (ख) बिबुरे जिये सकोच यह मुख ते
कहत न बैन। दोऊ दौरि लगे हिये किये निचौँहें नैन।—
बिहारी।

निचौहैं-क्रि० वि० [हिं० निचौहाँ] नीचे की ओर।

निच्छवि-संज्ञा स्त्री० [सं०] तीरभुक्ति देश। तिरहुत।

निच्छवि-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार के द्रात्य चित्रिय। सवर्णा
स्त्री से उत्पन्न द्रात्य चित्रिय की संतान। (मनु०)

निछक्का-संज्ञा पुं० [सं० निस् + चक्र = मंडली] वह समय वा स्थान
जिसमें कोई दूसरा न हो। निराखा। एकांत। निर्जन।

मुहा०—निछक्के में = एकांत में।

निछत्र-वि० [सं० निश्छत्र] (१) जिसके सिर पर छत्र न हो।
छत्रहीन। बिना छत्र का। (२) बिना राजचिह्न का। बिना
राज्य का।

वि० [सं० निःछत्र] चित्रियों से हीन। बिना चित्रिय का।
चत्रियों से रहित। उ०—मारथो मुनि बिनही अपराधहिं
कामधेनु लै आज। इकइस बार निछत्र तब कीन्हों तहाँ
न देखे हाऊ।—सूर।

निछनयौं-क्रि० वि० दे० “निछान”। उ०—यशुमति दौरि
लये हरि कनिधौं। आजु गयो मेरो गाय चरावन हौं बलि
गई निछनयौं।—सूर।

निछल*-वि० [सं० निश्छल] कपटरहित। छत्रहीन।

निछला-वि० [?] बिना मिलावट का। बिलकुल। एक मात्र।

निछान-वि० [हिं० उप० नि = नहीं + छान = जो छानने से
निकले] (१) खालिस। विशुद्ध। जिसमें मेल न हो।
बिना मिलावट का। (२) बिलकुल। निछला। निखल।
एक मात्र। केवल।

क्रि० वि० एकदम। बिलकुल।

निछावर-संज्ञा स्त्री० [सं० न्यास + अवर्त = न्यासावर्त मि० अ०
निसार] (१) एक उपचार या टोटका जिसमें किसी
की रक्षा के लिये कुछ द्रव्य या कोई वस्तु उसके सिर या सारे
अंगों के ऊपर से घुमा कर दान कर देते या डाल देते हैं।
उत्सर्ग। वारा फेरा। उतारा। बखेर। (इस का अभिप्राय यह
होता है कि जो देवता शरीर को कष्ट देनेवाले हों वे शरीर
और अंगों के बदले में द्रव्य आदि पाकर संतुष्ट हो जायँ।)

क्रि० प्र०—करना।—होना।

मुहा०—निछावर करना = उत्सर्ग करना। छोड़ देना। त्यागना।
दे डालना। निछावर होना = दे दिया जाना। त्याग दिया
जाना। (किसी का) किसी पर निछावर होना = किसी
के लिये मर जाना। किसी के लिये प्राण त्यागना।

(२) वह द्रव्य या वस्तु जो ऊपर घुमाकर दान की जाय
या छोड़ दी जाय। (३) इनाम। नेमा।

निष्ठावरि-संज्ञा स्त्री० दे० “निष्ठावर” ।

निष्ठोह-वि० [हिं० उप० नि + होह] (१) जिसे छोह या प्रेम न हो । (२) निर्दय । निष्ठुर ।

निष्ठोही-वि० [हिं० नि + होह] (१) जिसे प्रेम या छोह न हो । (२) निर्दय । निष्ठुर ।

निज-वि० [सं०] (१) अपना । स्वीय । स्वकीय । पराया नहीं ।

विशेष—आज काल इस शब्द का प्रयोग प्रायः ‘का’ विभक्ति के साथ होता है, जैसे, निज का काम । कर्म की विभक्ति भी इसके साथ लगती है जैसे, निज को, निजहिं । कविता में और विभक्तियाँ भी दिखाई देती हैं पर कम ।

मुहा०—निज का=खास अपना । अपने शरीर वा जन कुटुंब से संबंध रखनेवाला ।

(२) खास । मुख्य । प्रधान । उ०—(क) परम चतुर निज दास श्याम के संतत निकट रहत हौ । जल बूझत अवलंब फेन को फिरि फिरि कहा गहत हौ ।—सूर । (ख) कह मास्तसुत सुनहु प्रभु ससि तुम्हार निज दास ।—तुलसी ।

(३) ठीक । सही । वास्तविक । सच्चा । यथार्थ । उ०—(क) अब बिनती मन सुनहु शिव जो मोपर निज नेह ।—तुलसी । (ख) मन मेरो भानै सिख मेरी । जो निज भक्ति चहै हरि केरी ।—तुलसी ।

अव्य० (१) निश्चय । ठीक ठीक । सही सही । सटीक ।

मुहा०—निज करके=कीस विस्वे । निश्चय । अवश्य । जरूर ।

(२) खासकर । विशेष करके । मुख्यतः । उ०—देखु विचारि सार का साँचो, कहा निगम निज गाये ।—तुलसी ।

निजकाना-क्रि० अ० [फा० नजदीक] निकट पहुँचना । समीप आना । उ०—थाने थाने हनुमान अंगद सयाने रहो, जाने निजकाने दिन राखण मरण के ।—हनुमान ।

निजकारी-संज्ञा स्त्री० [हिं० निज + कर] (१) बैटाई की फसल । (२) वह जमीन जिसके लगान में उससे उत्पन्न वस्तु ही ली जाय ।

निजघास-संज्ञा पुं० [सं०] पार्वती के क्रोध से उत्पन्न गणों में से एक ।

निज्जा-संज्ञा पुं० [अ०] झगड़ा । विवाद ।

निज्जाम-संज्ञा पुं० [अ०] (१) बँदोबस्त । ईतजाम । (२) हैदराबाद के नवाबों का पदवीसूचक नाम ।

निजि-वि० [सं०] शुद्ध । जो शुद्धि के सहित हो ।

निजु-वि० दे० “निज” ।

निजु-वि० [हिं० निज] निज का । खास अपना ।

निजोर-वि० [हिं० उप० नि + फा० जोर] निर्बल ।

निभरना-क्रि० अ० [हिं० उप० नि + भरना] (१) अच्छी तरह

झड़ जाना । लगा या झँटका न रहना । जैसे, पेड़ से फलों का निभरना ।

संयो० क्रि०—जाना ।

(२) लगी हुई वस्तु के झड़ जाने से खाली हो जाना । जैसे, पेड़ का निभरना । (३) सार वस्तु से रहित हो जाना । खुल हो जाना । (४) हाथ झाड़कर निकल जाना । दोष से मुक्त बनना । अपने को निर्दोष प्रमाणित करना । सफाई देना । उ०—सदा चतुरई फबती नाहीं अतिही निभरि रही हो । सूर “श्याम धौ कहा रहत हैं” यह कहि कहि जो रही है ।—सूर ।

निभाना-क्रि० अ० [देश०] ताक झाँक करना । झाँक झूँक करना । झाड़ में छिपकर देखना ।

निभोटना-क्रि० सं० [हिं० उप० नि + भपटना] खींच कर झीनना । भपटना ।

निभोल-संज्ञा पुं० [हिं० उप० नि + भोल] हाथी का एक नाम ।

निटरा-वि० [देश०] जिसमें कुछ दम न हो । जिसका जोर मर गया हो । मरा हुआ । जो उपजाऊ न रह गया हो । (खेत या जमीन के लिये) ।

निटल-संज्ञा पुं० [सं०] कपाल । मस्तक ।

निटोल-संज्ञा पुं० [हिं० उप० नि + टोल] टोला । मुहल्ला । पुरा । बस्ती । उ०—अब न कौनो चूक करिहैं यह हमारे बोल । किंकरिनि की लाज धरि ब्रज सुबस करो निटोल ।—सूर ।

निट्टि-क्रि० वि० दे० “नीटि” ।

निठ्ठा-वि० [हिं० उप० नि = नहीं + टहल = काम] (१) जिसके पास कोई काम धंधा न हो । खाली । (२) बे-रोजगार । बेकार । (३) जो कोई काम धंधा न करे । निकम्मा ।

निठल्लू-वि० दे० “निठल्ला (३)” ।

निठाला-संज्ञा पुं० [हिं० उप० नि + टहल = काम] (१) ऐसा समय जब कोई काम धंधा न हो । खाली वक्त । (२) वह समय जिसमें हाथ में कोई काम धंधा या रोजगार न हो । वह वक्त या हालत जिसमें कुछ आमदनी न हो । जीविका का अभाव । जैसे, ऐसे निठाले में तुम भी माँगने आए ।

निठुर-वि० [सं० निष्ठुर] कठोर हृदय । जिसे दूसरे की पीड़ा का अनुभव न हो । जो पराया कष्ट न समझे । निर्दय । क्रूर ।

निठुरई-संज्ञा स्त्री० दे० “निठुराई” ।

निठुरता-संज्ञा स्त्री० [सं० निष्ठुरता] निर्दयता । क्रूरता । हृदय की कठोरता ।

निठुराई-संज्ञा स्त्री० [हिं० निठुर] निर्दयता । हृदय की कठोरता । क्रूरता ।

निठुरावा-संज्ञा पुं० [हिं० निठुर + आव (प्रत्य०)] निठुराई । निर्दयता ।

निठौर-संज्ञा पुं० [हिं० नि + ठौर] (१) बुरी जगह। कुठाँव।

(२) बुरा दौंव। बुरी दशा।

मुहा०—निठौर पड़ना = कुठाँव में पड़ना। बुरी दशा में पड़ना।

उ०—बहुरि बन बोझन जागे मोर।...जिनको पिय परदेस सिधारो सो तिय परी निठौर।—सूर।

निडर-वि० [हिं० उप० नि + डर] (१) जिसे डर न हो। जो न डरे। निःशंक। निर्भय। (२) साहसी। हिम्मतवाला।

(३) ठीठ। घृष्ट।

निडरपन, निडरपना-संज्ञा पुं० [हिं० निडर + पन (प्रत्य०)]

निडर होने का भाव। निर्भीकता। निर्भयता।

निढाल-वि० [हिं० उप० नि + ढाल = गिरा हुआ] (१) गिरा हुआ। पस्त। शिथिल। थका साँदा। अशक्त। सुस्त।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

मुहा०—जी निढाल होना = जी डूबना। मूर्च्छा आना। बेहोशी आना।

(२) सुस्त। मरा हुआ। उत्साहहीन।

निढिल-वि० [हिं० नि + ढीला] (१) जो ढीला न हो। कसा या तना हुआ। (२) कड़ा। उ०—गाढे गाढे कुच निढिल पिय हिय को ठहराय। उकसौँ है ही तो हिये सबै दई उसकाय।—बिहारी।

नितंत-क्रि० वि० दे० “नितांत”।

नितंत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कटिपरचाद्राग। कमर का पिछला उभरा हुआ भाग। चूतड़। (विशेषतः स्त्रियों का)। (२) स्कंध। कंधा। (३) तीर। तट। (४) पर्वत का ढालुवाँ किनारा।

नितंतिनी-वि० स्त्री० [सं०] सुंदर नितंबवाली।

संज्ञा स्त्री० सुंदर नितंबवाली स्त्री। सुंदरी।

नित-अव्य० [सं०] (१) प्रति दिन। रोज। जैसे, वह यहाँ नित आता है।

धौ०—नित नित = प्रति दिन। रोज रोज। नित नथा = सब दिन नया रहनेवाला। कभी पुराना न पड़नेवाला। सदा ताजा रहनेवाला।

(२) सदा। सर्वदा। हमेशा।

नितराम्-अव्य० [सं०] सदा। हमेशा। सर्वदा।

नितल-संज्ञा पुं० [सं०] सात पातालों में से एक।

नितांत-वि० [सं०] (१) अतिशय। बहुत अधिक। (२) बिल्कुल। सर्वथा। एकदम। निरा। निपट।

निति-अव्य० दे० “नित”।

नित्य-वि० [सं०] (१) जो सब दिन रहे। जिसका कभी नाश न हो। शाश्वत। अविनाशी। त्रिकालव्यापी। उत्पत्ति और विनाश-रहित। जैसे, ईश्वर नित्य है।

विशेष—न्याय मत से परमाणु नित्य हैं। सांख्य मत से

पुरुष और प्रकृति दोनों नित्य हैं। वेदांत इन सब का खंडन करके केवल ब्रह्म को नित्य कहता है।

(२) प्रति दिन का। रोज का। जैसे, नित्य कर्म।

अव्य० (१) प्रति दिन। रोज रोज। जैसे, वह नित्य यहाँ आता है। (२) सदा। सर्वदा। अनवरत। हमेशा।

नित्यकर्म-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रति दिन का काम। रोज का काम। (२) वह धर्म संबंधी कर्म जिसका प्रति दिन करना आवश्यक ठहराया गया हो। नित्य की क्रिया। जैसे, संध्या, अग्निहोत्र।

विशेष—मीमांसा में प्रधान वा अर्थ कर्म तीन प्रकार के कहे गए हैं—नित्य, नैमित्तिक और काम्य। नित्यकर्म वह है जिसका प्रति दिन करना कर्त्तव्य हो और जिसे न करने से पाप होता हो। दे० “कर्म”।

नित्यक्रिया-संज्ञा स्त्री० [सं०] नित्यकर्म। जैसे, स्नान, संध्या आदि।

नित्यगति-संज्ञा पुं० [सं०] वायु। हवा।

नित्यता-संज्ञा स्त्री० [सं०] नित्य होने का भाव। अनश्वरता।

नित्यत्व-संज्ञा पुं० [सं०] नित्यता।

नित्यदा-अव्य० [सं०] सर्वदा। हमेशा।

नित्यनर्त्त-संज्ञा पुं० [सं०] महादेव।

नित्यनियम-संज्ञा पुं० [सं०] प्रति दिन का बँधा हुआ व्यापार। रोज का कायदा।

नित्यनैमित्तिककर्म-संज्ञा पुं० [सं०] पर्वश्राद्ध, प्रायश्चित्त आदि कर्म।

विशेष—पर्वश्राद्ध, प्रायश्चित्त आदि अवश्य कर्त्तव्य हैं और किसी निमित्त (जैसे पापचय) से भी किए जाते हैं इससे नित्य और नैमित्तिक दोनों हुए।

नित्यप्रति-अव्य० [सं०] प्रति दिन। हर रोज।

नित्यप्रलय-संज्ञा पुं० [सं०] नित्य होनेवाला प्रलय।

विशेष—वेदांत परिभाषा में चार प्रकार के प्रलय कहे गए हैं—नित्य, प्राकृत, नैमित्तिक और आत्यंतिक। इन में से सुषुप्ति को नित्यप्रलय कहते हैं। जिस प्रकार प्रलय काल में किसी कार्य का बोध नहीं होता उसी प्रकार इस सुषुप्ति की अवस्था में भी नहीं होता। यह अवस्था प्रति दिन होती है।

नित्ययज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] प्रति दिन का कर्त्तव्य यज्ञ। जैसे, अग्निहोत्र।

नित्ययौवना-वि० स्त्री० [सं०] जिसका यौवन बराबर या बहुत काल तक स्थिर रहे।

संज्ञा स्त्री० द्रौपदी।

नित्यशः-अव्य० [सं०] (१) प्रति दिन। रोज। (२) सदा। सर्वदा।

नित्यसम—संज्ञा पुं० [सं०] न्याय में जो २४ जाति अर्थात् केवल साधर्म्य और वैधर्म्य से अयुक्त खंडन कहे गए हैं उनमें से एक। वह अयुक्त खंडन जो इस प्रकार किया जाय कि अनित्य वस्तुओं में भी अनित्यता नित्य है अतः धर्म के नित्य होने से धर्मों भी नित्य हुआ। जैसे, किसी ने कहा शब्द अनित्य है क्योंकि वह घट के समान उत्पत्ति-धर्मवाला है। इसका यदि कोई इस प्रकार खंडन करे कि यदि शब्द का अनित्यत्व नित्य है तो शब्द भी नित्य हुआ और यदि अनित्यत्व अनित्य है तो भी अनित्यत्व के अभाव से शब्द नित्य हुआ। इस प्रकार का दूषित खंडन नित्यसम कहलाता है।

नित्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पार्वती। (२) मनसा देवी। (३) एक शक्ति का नाम।

नित्यानध्याय—संज्ञा पुं० [सं०] ऐसा अवसर चाहे वह जिस बार या जिस तिथि को पढ़ जाय जिसमें वेद के अध्ययन अध्यापन का निषेध हो।

विशेष—जब पानी बरसता, बादल गरजता और बिजली चमकती हो या आंधी के कारण धूल आकाश में छाई हो या इत्कापात होता हो तब अनध्याय रखना चाहिए। (मनु०)

नित्याभियुक्त—वि० [सं०] (योगी) जो केवल इतना ही भोजन करके रहे जितने से देहरक्षा होती रहे और सब त्याग करके योग साधन करे।

निर्धम*—संज्ञा पुं० [सं० उप० नि + स्तम्भ] खंभा। स्तंभ। उ०—रची विरंचि वास सी निर्धम राजिका भली।—केशव।

निथरना—क्रि० अ० [हिं० उप० नि + थिर + ना (प्रत्य०)] (१) पानी या और किसी पतली चीज का स्थिर होना जिससे उसमें घुली हुई मैल आदि नीचे बैठ जाय। थिर कर साफ होना। (२) घुली हुई चीज के नीचे बैठ जाने से जल का अलग हो जाना। पानी छन जाना।

निथार—संज्ञा पुं० [हिं० निथारना] (१) घुली हुई चीज के बैठ जाने से अलग हुआ साफ पानी। (२) पानी के स्थिर होने से उसके तल में बैठी हुई चीज।

निथारना—क्रि० सं० [हिं० निथारना] (१) पानी या और किसी पतली चीज को स्थिर करना जिससे उसमें घुली हुई मैल आदि नीचे बैठ जाय। थिरा कर साफ करना। (२) घुली हुई चीज को नीचे बैठकर खाली पानी अलग करना। पानी छानना। पानी छानकर अलग करना।

निथालना—क्रि० सं० दे० “निथारना”।

निर्दई*—वि० दे० “निर्दयी”।

निर्दरना*—क्रि० सं० [सं० निरदर] (१) निरादर करना। अपमान करना। अप्रतिष्ठा करना। बेइज्जती करना। उ०—

मोर प्रभाव विदित नहिं तोरे। बोलसि निदरि विप्र के भोरे।—तुलसी। (२) तिरस्कार करना। त्याग करना। (३) मात करना। बड़ जाना। बढ़कर निकलना। तुच्छ ठहराना। उ०—(क) नाना जाति न जाहिं बखाने। निदरि पवनु जनु चहत उड़ाने।—तुलसी। (ख) एक एक जीतहिं संसारा। उनहिं निदरि पावत को पारा।—सबल।

निदर्शन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) दिखाने का कार्य। प्रदर्शित करने का कार्य। प्रकट करने का कार्य। (२) उदाहरण। दृष्टांत।

निदर्शना—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अर्थालंकार जिसमें एक बात किसी दूसरी बात को ठीक ठीक कर दिखाती हुई कही जाती है। उ०—(क) सरिसंगम हित चले ठेलते नाले पथर। दिखलाते पथरोध प्रेमियों का अति दुष्कर। (ख) जात चंद्रिका चंद्र सह विद्युत् घन सह जाय। पिय सहगमन जो तियन को जड़ हू देत दिखाय। (ग) कहाँ सूर्य को वंश अरु कहाँ मोरि मति छुद्र। मैं बूढ़े सों मोहवश चाहत तरयो समुद्र। (घ) जंगजीत जे चहत हैं तो सों वैर बढ़ाय। जीबे की इच्छा करत कालकूट ते खाय। (च) उदय होत दिन नाथ इत अथवत् उत निशिराज। द्वय घंटा युत द्विरद की छवि धारत गिरि आज। (छ) लघु उन्नत पद प्राप्त है तुरतहि लहत निपात। गिरि तें काँकर बात बस गिरत कहत यह बात।

विशेष—इस अलंकार के भिन्न भिन्न लक्षण आचार्यों ने लिखे हैं।

जहाँ होता हुआ वस्तुसंबंध और न होता हुआ वस्तुसंबंध दोनों बिंबानुबिंब भाव से दिखाए जाते हैं वहाँ निदर्शना होती है। उ०—संपदयुत चिर थिर रहत नहिं कोउ जनहि तपाय। चरमाचल चलि भानु यह सब कहँ रहे जनाय। (साहित्य दर्पण)।

न होता हुआ वस्तुसंबंध जहाँ उपमा की कल्पना करे। (प्रथम निदर्शना) अथवा जहाँ क्रिया से ही अपने और अपने हेतु के संबंध की उक्ति हो वहाँ निदर्शना अलंकार होता है। (दूसरी निदर्शना) दे० उ०—“(छ)” (कान्यप्रकाश कारिका) दंडी का यह लक्षण है—अर्थात्तर में प्रवृत्त कर्त्ता द्वारा अर्थात्तर के सदृश जो सत् वा असत् फल दिखाया जाता है वह निदर्शना है।

चंद्रालोककार का लक्षण—सदृश वाक्यार्थों की एकता का आरोप निदर्शना है।

हिंदी के कवि प्रायः चंद्रालोककार का ही लक्षण ग्रहण करते चले हैं। जैसे,—सरिस वाक्य युग के अर्थ करिए एक आरोप। भूषण ताहि निदर्शना कहत बुद्धि दै ओप।—भूषण। प्रथम निदर्शना—जो सो, जे ते, पदन करि असम वाक्य सम कीन। उ०—सुनु खगेश हरि भक्ति बिहाई। जे सुख चाहिँ

आन उपाई। ते सठ महा सिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहत जड़करनी।—तुलसी। दूसरी निदर्शना—थापिय गुन उपमान के उपमेयहि के अंग। उ०—जब कर गहत कमान सर देत अरिन को भीति। भाउसिंह में पाइए सब अरजुन की रीति। तीसरी निदर्शना—थापिय गुण उपमेय को उपमानहि के अंग। उ०—तुव बचनन की मधुरता रही सुधा मई छाये। चारु चमक चला नैन की मीनन लई छिनाय।

निदलन*—संज्ञा पुं० दे० “निर्दलन”।

निदहना*—कि० सं० [सं० निदहन] जलाना।

निदाघ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) गरमी। ताप। (२) धूप। घाम। (३) ग्रीष्मकाल। गरमी। (४) पुलस्त्य ऋषि का एक पुत्र। (विष्णुपुराण)

निदाघकर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य। (२) मदार। आक।

निदान—संज्ञा पुं० [सं०] (१) आदि कारण। (२) कारण।

(३) रोगनिर्णय। रोगलक्षण। रोग की पहचान।

विशेष—सुश्रुत के पूछने पर धन्वंतरि जी ने कहा है कि वायु ही प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का मूल है। यह शरीर के दोषों का स्वामी और रोगों का राजा है। वायु पाँच हैं—प्राण, उदान, समान, व्यान और अपान। ये ही पाँचों वायु शरीर की रक्षा करती हैं। जिस वायु का सुख में संवरण होता है उसे प्राणवायु कहते हैं। इससे शरीर की रक्षा, प्राणधारण और स्थाया हुआ अन्न जठर में जाता है। इसके दूषित होने से हिचकी, दमा, आदि रोग होते हैं। जो वायु ऊपर की ओर चलती है उसे उदान वायु कहते हैं। इसके कुपित होने से कंधे के ऊपर के रोग होते हैं। समान वायु आमाशय और पक्वाशय में काम करती है। इसके बिगड़ने से गुल्म, मंदाग्नि, अतीसार आदि रोग होते हैं। व्यानवायु सारे शरीर में घूमती है और रसों को सर्वत्र पहुँचाती है। इसी से पसीना और रक्त आदि निकलता है। इसके बिगड़ने से शरीर भर में होनेवाले रोग हो सकते हैं। अपान वायु का स्थान पक्वाशय है। इसके द्वारा मल, मूत्र, शुक्र, आर्तव, गर्भ, समय पर खिँच कर बाहर होता है। इस वायु के कुपित होने से वस्ति और गुप्त स्थानों के रोग होते हैं। व्यान और अपान दोनों के कुपित होने से प्रमेह आदि शुक्र रोग होते हैं। (सुश्रुत)

(४) अंत। अवसान। (५) तप के फल की चाह। (६)

शुद्धि। (७) बड़ड़े का बंधन।

अव्य० अंत में। आखिर। उ०—जहाँ सुमति तहाँ संपति नाना। जहाँ कुमति तहाँ विपति निदाना।—तुलसी।

वि० अंतिम वा निम्न श्रेणी का। निकृष्ट। बहुत ही गया बीता। हद दर्जे का। उ०—उत्तम खेती मध्यम बान। निरधिन सेवा भीख निदान। (कहावत)

निदाघ—वि० [सं०] (१) कठिन। घोर। भयानक। (२)

दुःसह। (३) निर्दय। कठोर।

निदिग्ध—वि० [सं०] छोपा हुआ। लेप किया हुआ।

निदिग्धा—संज्ञा स्त्री० [सं०] इलायची।

निदिग्धिका—संज्ञा स्त्री० दे० “निदिग्धा”।

निदिध्यासन—संज्ञा पुं० [सं०] फिर फिर स्मरण। बार बार ध्यान में लाना।

विशेष—श्रुतियों में दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन आत्मज्ञान के लिये आवश्यक बतलाया गया है।

निदेश—संज्ञा पुं० [सं०] (१) शासन। (२) आज्ञा। हुक्म। (३) कथन। (४) पास। सामीप्य।

निदेशी—वि० [सं० निदेशिन्] आज्ञा करनेवाला।

निदेश*—संज्ञा पुं० दे० “निदेश”।

निदोष*—वि० दे० “निदोष”।

निद्धि—संज्ञा स्त्री० दे० “निधि”।

निद्र—संज्ञा पुं० [सं०] एक उपसंहारक अस्त्र। उ०—जोतिष पावक निद्र दैत्यमंथन रति लेख्यो।—पद्माकर।

निद्रा—संज्ञा स्त्री० [सं०] सचेष्ट अवस्था के बीच बीच में होनेवाली प्राणियों की वह निश्चेष्ट अवस्था जिसमें उनकी चेतन वृत्तियाँ (और कुछ अचेतन वृत्तियाँ भी) रुकी रहती हैं। नींद। स्वप्न। सुप्ति।

विशेष—गहरी निद्रा की अवस्था में मनुष्य की पेशियाँ ढीली हो जाती हैं, नाड़ी की गति कुछ मंद हो जाती है, साँस कुछ गहरी हो जाती है और कुछ अधिक अंतर देकर आती जाती है, साधारण संपर्क से ज्ञानेंद्रियों में संवेदन और कर्मेन्द्रियों में प्रतिक्रिया नहीं होती; तथा अर्तों के जिस प्रवाहवत् चलनेवाले आकुंचन से उनके भीतर का द्रव्य आगे खिसकता है उसकी चाल भी धीमी हो जाती है। निद्रा के समय मस्तिष्क वा अंतःकरण विश्राम करता है जिससे प्राणी निःसंज्ञ वा अचेतन अवस्था में रहता है।

निद्रा के संबंध में सब से अधिक माना जानेवाला वैज्ञानिक मत यह है कि निद्रा मस्तिष्क में कम रक्त पहुँचने के कारण आती है। निद्रा के समय मस्तिष्क में रक्त की कमी हो जाती है यह बात तो देखी गई है। बहुत छोटे बच्चों के सिर के बीच जो पुलपुला भाग होता है वह उनके सिर के नीचे पर कुछ अधिक घँसा मालूम होता है। यदि वह नाड़ी जो हृदय से मस्तिष्क में रुधिर पहुँचाती है दबाई जाय तो निद्रा या बेहोशी आवेगी। निद्रा की अवस्था में मस्तिष्क में रक्त की कमी का होना तो ठीक है पर यह नहीं कहा जा सकता कि इस कमी के कारण निद्रा आती है या निद्रा (मस्तिष्क की निष्क्रियता) के कारण यह कमी होती है। हाल के दो वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया है कि निद्रा संवेदन-सूत्रों वा

ज्ञानतंतुओं के घटकों (Cells) के संयोग तोड़ने से आती है। संवेदन-सूत्र अनेक सूक्ष्म घटकों के योग से बने होते हैं और मस्तिष्क रूपी केंद्र में जाकर मिलते हैं। जाग्रत वा सचेष्ट अवस्था में ये सब घटक अत्यंत सूक्ष्म सूत की सी उँगलियाँ निकालकर एक दूसरे से जुड़े हुए मस्तिष्कघटकों के साथ संबंध जोड़े रहते हैं। जब घटक आंत हो जाते हैं तब उँगलियाँ भीतर सिमट जाती हैं और मस्तिष्क का संबंध संवेदन-सूत्रों से टूट जाता है जिससे तंद्रा वा निद्रा आती है। एक और दूसरे वैज्ञानिक का यह कहना है कि मस्तिष्क के घटक दिन के समय जितना अधिक और जितनी जल्दी जल्दी प्राणदवायु (आक्सिजन) खर्च करते हैं उतनी उन्हें फेफड़ों से मिल नहीं सकती। अतः जब प्राणदवायु का अभाव एक विशेष मात्रा तक पहुँच जाता है तब मस्तिष्क-घटक शिथिल होकर निष्क्रिय हो जाते हैं। सोने की दशा में आमदनी की अपेक्षा प्राणदवायु का खर्च बहुत कम हो जाता है जिससे उसकी कमी पूरी हो जाती है अर्थात् चेतना के लिये जितनी प्राणदवायु की जरूरत होती है उतनी वा उससे अधिक फिर हो जाती है और मनुष्य जाग पड़ता है। इतना तो सर्वसम्मत है कि निद्रा की अवस्था में शरीर पोषण करनेवाली क्रियाएँ चय करनेवाली क्रियाओं की अपेक्षा अधिक होती हैं।

निद्रा के संबंध में यह ठीक ठीक नहीं ज्ञात होता कि विकाश की किस श्रेणी के जीवों से नियमपूर्वक सोने की आदत शुरू होती है। स्तनपायी उष्णरक्त जीवों तथा पक्षियों से नीचे की कोटि के जीवों के यथार्थ रीति से सोने का कोई पक्का प्रमाण नहीं मिलता। मछली, साँप, कछुप आदि ठंडे रक्त के जीवों की आँखों पर हिलनेवाली पलकें तो होती नहीं कि उनके आँख मूढ़ने से उनके सोने का अनुमान कर सकें। मछलियाँ घंटों निश्चेष्ट अवस्था में पड़ी पाई गई हैं पर उनकी यह अवस्था नियमित रूप से हुआ करती है यह नहीं कहा जा सकता।

पातंजल योगदर्शन के अनुसार निद्रा भी एक मनोवृत्ति है, जिसका आलंबन अभावप्रत्यय अर्थात् तमोगुण है। अभाव से तात्पर्य शेष वृत्तियों का अभाव है, जिसका प्रत्यय वा कारण हुआ तमोगुण। सारांश यह कि तमोगुण की अधिकता से सब विषयों को छोड़कर जो वृत्ति रहती है वह निद्रा है। निद्रा मन की एक क्रिया वा वृत्ति है इसके प्रमाण में भोजवृत्ति में यह लिखा है कि “मै खूब सुख से सोया।” ऐसी स्मृति लोगों को जागने पर होती है और स्मृति उसी बात की होगी जिसका अनुभव हुआ होगा।

निद्रायमान-वि० [सं०] जो नींद में हो। सोता हुआ।

निद्रालु-वि० [सं०] निद्राशील। सोनेवाला।

संज्ञा स्त्री० (१) दैगन। भंडा। (२) वबरी। ममरी। बनतुलसी। (३) नली नामक गंधद्रव्य।

निद्रासंजन-संज्ञा पुं० [सं०] श्लेष्मा। कफ। (कफ की वृद्धि से निद्रा आती है)

निद्रित-वि० [सं०] सुप्त। सोया हुआ।

निधङ्क-क्रि० वि० [हिं० नि = नहीं + षङ्क] (१) बेरोक। बिना किसी रुकावट के। (२) बिना संकोच के। बिना हिचक के। बिना आगा पीछा किए। (३) निःशंक। बेखटके। बिना किसी भय या चिंता के।

निधन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नाश। (२) मरण। (३) फलित ज्योतिष में लग्न से आठवाँ स्थान।

विशेष—इस स्थान से अत्यंत संकट, आयु, शस्त्र आदि का विचार किया जाता है। यदि लग्न से चौथे स्थान पर सूर्य हो और ग्रह पर शनि की दृष्टि हो तो जिस दिन निधन स्थान पर शुभग्रहों की दृष्टि होगी उसी दिन मृत्यु होगी।

(४) जन्मनक्षत्र से सातवाँ, सोलहवाँ और तेईसवाँ नक्षत्र।

(५) कुल। खानदान। (६) कुल का अधिपति। (७)

विष्णु। (८) पाँच अवयव का सात अवयव युक्त साम का अंतिम अवयव।

वि० धनहीन। निर्धन। दरिद्र।

निधनपति-संज्ञा पुं० [सं०] प्रलयकर्त्ता। शिव।

निधनी-वि० [हिं० नि + धनी] निर्धन। धनहीन। दरिद्र।
उ०—जैसे निधनी धनहिं पाए हरख दिन अरु राति।—सूर।

निधरका-क्रि० वि० दे० “निधङ्क”।

निधातव्य-वि० [सं०] स्थापनीय।

निधान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आधार। आश्रय। (२) निधि। (३) लयस्थान। वह स्थान जहाँ जाकर कोई वस्तु लीन हो जाय। (४) स्थापन।

निधि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गढ़ा हुआ खजाना। खजाना।

विशेष—पृथ्वी में गढ़ा हुआ धन यदि राजा को मिले तो उसे आधा ब्राह्मणादि को देकर आधा ले लेना चाहिए। विद्वान् ब्राह्मण यदि पावे तो उसे सब ले लेना चाहिए। यदि अपति ब्राह्मण वा क्षत्रिय आदि पावें तो राजा को उन्हें छुड़ा भाग देकर शेष ले लेना चाहिए। यदि कोई निधि पाकर राजा को संवाद न दे तो राजा को उसे दंड देना चाहिए और सारा खजाना ले लेना चाहिए। (मिताक्षरा)

(२) कुंवर के नौ प्रकार के रत्न। ये नौ रत्न ये हैं—पद्म, महापद्म, शंख, मकर, कच्छप, सुकुंद, कुंद, नील और वरूच।

विशेष—ये सब निधियाँ लक्ष्मी की आश्रित हैं। जिन्हें ये प्राप्त होती हैं उन्हें भिन्न भिन्न रूपों में धनागम आदि होता है।

जैसे, पद्मनिधि के प्रभाव से मनुष्य सोने चाँदी तर्बे आदि का खूब उपभोग और क्रय विक्रय करता है, महापद्मनिधि की प्राप्ति से रत्न, मोती, खूँगे आदि की अधिकता रहती है, इत्यादि।

(३) ससुद्र। (४) आधार। घर। जैसे जलनिधि, गुण-निधि। (५) विष्णु। (६) शिव। (७) नौकी संख्या। (८) जीवक नाम की ओषधि। (९) नखिका नामक द्रव्य।

निधिगोप-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो वेदवेदांग में पारंगत होकर गुरुकुल से आया हो। अनूचान।

निधिनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] निधियों के स्वामी, कुवेर।

निधिप-संज्ञा पुं० [सं०] कुवेर।

निधिपति-संज्ञा पुं० [सं०] कुवेर।

निधिपाल-संज्ञा पुं० [सं०] कुवेर।

निधीश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] कुवेर।

निधुवन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मैथुन। (२) नर्म। कैलि। (३) हँसी ठट्ठा। (४) कंप।

निधेय-वि० [सं०] स्थापनीय। स्थापन करने योग्य।

निध्यान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दर्शन। देखना। (२) निदर्शन।

निध्रव-संज्ञा पुं० [सं०] एक गोत्रप्रवर्तक ऋषि।

निध्वान-संज्ञा पुं० [सं०] शब्द।

निनद-संज्ञा पुं० [सं०] शब्द। आवाज। घर्घराहट।

निनय-संज्ञा स्त्री० [सं०] नम्रता। नौताई। आजड़ी।

निनयन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) निष्पादन। (२) प्रणीता के जल को कुश से यज्ञ की वेदी पर छिड़कने का कार्य।

निनरा-वि० [सं० निः + निकट, प्रा० निनिअड] न्यारा। अलग। जुदा। दूर। उ०—मानहु दिवर गए चलि कारे तजि कँचुरी भए निनरे री।—सूर।

निनाद-संज्ञा पुं० [सं०] शब्द। आवाज।

निनादित-वि० [सं०] शब्दित। ध्वनित।

निनादी-वि० [सं० निनादिन्] [स्त्री० निनादिनी] शब्द करनेवाला।

निनान*-संज्ञा पुं० [सं० निदान] (१) अंत। (२) लक्षण। क्रि० वि० अंत में। आखिर।

वि० (१) परखे सिरे का। बिलकुल। एकदम। घोर।

(२) बुरा। निकृष्ट। उ०—कबीरा नमन बहु अंतरा नमन बहुत निनान। ये तीनों बहुते नवें चीता, चोर, कमान।—कबीर।

निनाया-संज्ञा पुं० [देश०] खटमल।

निनार-वि० दे० “निनारा”।

निनारा-वि० [सं० निः + निकट, प्रा० निनिअड, हिं० निनर] (१) अलग। जुदा। भिन्न। न्यारा। (२) दूर। हटा हुआ।

निनावी-संज्ञा पुं० [हिं० नन्हा ?] जीम, मसूड़े तथा सुँह के

भीतर के और भागों में निकलनेवाले महीन महीन लाख दाने जिनमें छुरछुराहट और पीड़ा होती है।

निनावी-संज्ञा स्त्री० [हिं० नि = बुरा + नाम, नाँव] (१) बिना नाम की वस्तु। वह वस्तु जिसका नाम लेना अशुभ या बुरा समझा जाता हो। (२) चुड़ैल। भुतनी।

निनौना-क्रि० सं० [हिं० नवना = झुकना] नीचे करना। झुकाना। नथाना। उ०—नैन निने बहु नेकहूँ कमलनैन नव नाथ। बालनि के मन मोहिले बेचे मनमथ हाथ।—केशव।

निनौरा-संज्ञा पुं० [हिं० नानी + औरा (प्रत्य०)] नानी वा नानी का घर। वह स्थान जहाँ नाना-नानी रहते हों।

निनानवे-वि० [सं० नवनवति, प्रा० नवनवह] नब्बे और नौ। जो संख्या में एक कम सौ हो। संज्ञा पुं० नब्बे और नौ की संख्या जो इस प्रकार लिखी जाती है—६६।

मुहा०—निनानवे के फेर में आना या पड़ना = रुपया बढ़ाने की धुन में होना। धन बढ़ाने की चिंता में पड़ना। (इस मुहावरे के संबंध में एक कहानी है। कोई मनुष्य बड़ा अपन्ययी था। एक दिन उसके एक मित्र ने उसे ६६) दिए। उसी दिन से वह १००) पूरे करने के फेर में पड़ गया। जब १००) पूरे हो गए तब १०१) करने की चिंता में हुआ। इस प्रकार वह दिन रात रुपय के फेर में रहने लगा और भारी कंजूस हो गया।)

निन्यारा*-वि० दे० “निनारा”।

निन्हियाना-क्रि० अ० [अनु० नी नी] गिड़गिड़ाया। दीनता प्रकट करना। आजड़ी दिखाना।

निपंग*-वि० [सं० नि + पंग] जिसके हाथ पैर टूटे हों वा काम न दे सके। अपाहिज। निकम्मा। उ०—जाकी धन धरती हरी ताहि न लीजै संग। जो चाहै खेतो बनै तो करि डार निपंग।—गिरधर।

निपजना*-क्रि० अ० [सं० निष्पद्यते, प्रा० निपज्जइ] (१) उप-जना। उत्पन्न होना। उगना। जमना। उ०—(क) राम नाम कर सुमिरन हँसि कर भावै खीज। उलटा सुलटा नीपजै ज्यों खेतन में बीज।—कबीर। (ख) अमिरित वरसै हीरा निपजै घटा परै टकसार। तहाँ कबीरा पारखी अनुभव उतरै पार।—कबीर। (२) बढ़ना। पुष्ट होना। पकना। उ०—भल्ली बुद्धि तेरे जिय उपजी। ज्यों ज्यों दिनी भई त्यों त्यों निपजी।—सूर। (३) बनना। तैयार होना। उ०—सिख खाँड़ा गुरु मसकला चढ़ै शब्द खरसान। शब्द सहै सम्मुख रहै निपजै शिष्य सुजान।—कबीर।

निपजी*-संज्ञा स्त्री० [हिं० निपजना] (१) लाभ। मुनाफा।

(२) उपज। उ०—निश्चय, निधी, मिलाय तत, सहस्रस
साहस धीर। निपजी में साक्षी घना बाँटनहार कबीर।
—कबीर।

निपत्र-वि० [सं० निपत्र] पत्रहीन। ठूँठा। उ०—बिन गँठ वृत्त
निपत्र ज्यों ठाढ़ ठाढ़ पै सूख।—जायसी।

निपट-अव्य० [हिं० नि + पट] (१) निरा। विशुद्ध। खाली।
और कुछ नहीं। केवल। एक मात्र। उ०—निपटहिं द्विज
करि जानेसि मोड़ी। मैं जस विप्र सुनावउँ तोही।—तुलसी।
(२) सरासर। एकदम। बिल्कुल। नितांत। बहुत अधिक।
उ०—(क) आसे पासे जो फिरै निपट पिसावै सोय।
कीला सों लागा रहै ताको विघ्न न होय।—कबीर। (ख) भा
नुवंस राकेस कलंकू। निपट निरंकुस अबुध असंकू।
—तुलसी। (ग) बाम्हन हुत इक निपट भिलारी। सों
पुनि चला चलत व्यापारी।—जायसी। (घ) मैं तेहि
बारहि बार मनायो। सिर सों खेल निपट जिउ लायो।—
जायसी।

निपटना-क्रि० अ० दे० “निबटना”।

निपटाना-क्रि० स० दे० “निबटाना”।

निपटारा-संज्ञा पुं० दे० “निबटारा”।

निपटावा-संज्ञा पुं० दे० “निबटावा”।

निपटेरा-संज्ञा पुं० दे० “निबटेरा”।

निपतन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० निपतित] अधःपतन। गिरना।
गिराव।

निपतित-वि० [सं०] गिरा हुआ। पतित। अधःपतित।

निपत्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) युद्ध की भूमि। (२) गीली
चिकनी जमीन। ऐसी भूमि जिस पर पैर फिसले।

निपांगुर-वि० [हिं० नि + पंगु] (१) लँगड़ा। (२) अपाहिज।
जिसके हाथ पैर न चलते हों।

निपात-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पतन। गिराव। पात (२) अधः-
पतन। (३) विनाश। उ०—और न कुछ देखै तन श्यामहि
ताको करो निपात। तू जो करै बात सोइ साँची कहा करों
तोहि मातु।—सूर। (४) मृत्यु। क्षय। नाश। उ०—बन-
माला पहिरावत श्यामहि बार बार अंकवारि भरी धरि। कंस
निपात करहुगे तुमही हम जानी यह बात सही परि।—सूर।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(५) शाब्दिकों के मत से वह शब्द जिसके बनने के नियम
का पता न चले अर्थात् जो व्याकरण में दिष्ट नियमों के
अनुसार न बना हो।

निपातन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गिराने का कार्य। (२) नाश।
क्षय वा ध्वंस करने का कार्य। (३) मारने का काम। वध
करने का कार्य।

निपातना-क्रि० स० [हिं० निपातन] (१) गिराना। नीचे

गिराना। उ०—(क) पिपर पात दुख भरे निपाते। सुख
पलहा अपने हिय राते।—जायसी। (ख) व्याकुल राउ
शिथिल सब गाता। करिनि कलपतरु मनहुँ निपाता।—
तुलसी। (२) नष्ट करना। काटकर गिराना। उ०—कह
लंकेश कहत किन बाता। केहि तव नासा कान निपाता।—
तुलसी। (३) मारना। मार गिराना। वध करना। उ०—
(क) चंदन वास निवारहु तुम कारण बन काटिया। जीवत
जिय जनि मारहु मुए ते सबै निपातिया।—कबीर। (ख) तैसहि
भरतहिं सेन समेता। सानुज निदरि निपातउँ खेता।—
तुलसी। (ग) खोजत रह्यो तोहि सुतघाती। आजु निपाति
जुड़ावहुँ छाती।—तुलसी।

निपाती-वि० [सं० निपातिन्] (१) गिरानेवाला। फेंकनेवाला।
चलानेवाला। उ०—सायक निपाती चतुरंग के सँघाती ऐसे
सोहत मदाती अरिघाती उग्रसेन के।—गोपाल। (२)
मारनेवाला। घातक।

संज्ञा पुं० शिव। महादेव।

* वि० [हिं० नि + पाति] बिना पत्ते का। पत्रहीन। ठूँठा।
उ०—तेहि दुख भए पलास निपाती। लोहू बूड उठी होइ
राती।—जायसी।

निपान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ताजाब। गड्ढा। खत्ता। (२) कुएँ
के पास दीवार घेर कर बनाया हुआ कुंड या खोदा हुआ
गड्ढा जिसमें पशु पक्षियों आदि के पीने के लिये पानी इकट्ठा
रहता है। (३) दूध दुहने का बरतन।

निपीड़क-वि० [सं०] (१) पीड़ा देनेवाला। दुःखदायक। (२)
मलने दलनेवाला। (३) निचोड़नेवाला। (४) पेरनेवाला।

निपीड़न-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कष्ट पहुँचाने वा पीड़ित करने का
कार्य। पीड़ित करना। तकलीफ देना। (२) मलना दलना।
(३) पछाना। पसेव निकालना। (४) पेरना। पेर कर निका-
लना (जैसे तेल निकाला जाता है)।

निपीड़ना-क्रि० स० [सं० निपीड़न] (१) दवाना। मलना
दलना। उ०—भुजन भुजा भरि उरोजन उरहि मीड़ि कंठ कंठ
सों निपीड़े रोप्यो हिय हियो है।—देव। (२) कष्ट पहुँचाना।
पीड़ित करना।

निपीड़ित-वि० [सं०] (१) दबाया हुआ। (२) आक्रांत। (३)
जिसे पीड़ा पहुँचाई गई हो। (४) पेरा हुआ। निचोड़ा हुआ।

निपुड़ना-क्रि० अ० [सं० निपुट, प्रा० निपुड] (दांत) खोलना।
उघारना।

निपुण-वि० [सं०] दक्ष। कुशल। प्रवीण। चतुर। कार्य करने
में पटु।

निपुणता-संज्ञा स्त्री० [सं०] दक्षता। कुशलता।

निपुणार्ह-संज्ञा स्त्री० [हिं० निपुण + आर्ह (प्रत्य०)] निपुण्यता।

दक्षता। कुशलता। चतुराई। उ०—पुर शोभा अबलोकित
सुहाई। लागइ लघु विरंचि निपुनाई।—तुलसी।

निपुत्री-वि० [हि० नि + पुत्री] निपुता। निःसंतान। उ०—(क)
वो निपुत्री को घर में क्या सुख कि जिस बिना वह सदा
अंधकार रहता है।—सदलमिश्र। (ख) जो नर ब्राह्मण
हत्या कीन्हा। जन्म निपुत्री तेहि जग चीन्हा।—
विश्राम।

निपुन*—वि० दे० “निपुण”।

निपुनई*—संज्ञा स्त्री० [सं० निपुण + ई (प्रत्य०)] निपुणता।

निपुनता*—संज्ञा स्त्री० दे० “निपुणता”।

निपुनाई*—संज्ञा स्त्री० दे० “निपुणई”।

निपूत* [हि० नि + पूत] [ख० निपूती] अपुत्र। पुत्रहीन।
उ०—कीने जिन रावण निपूतो यमहू ते यम कृते खेत मूँड़
आजहू ते न सिरात है।—हनुमान।

निपूता-वि० [सं० निपुत्र, प्रा० निवृत्त] [स्त्री० निपूती] जिसे
पुत्र न हो। अपुत्र।

निपोड़ना*—क्रि० सं० [सं० निष्पुट, प्रा० निष्पुट + ना (प्रत्य०)]
खोलना। उधारना। (दाँत के लिये)।

मुहा०—दाँत निपोड़ना = व्यर्थ हँसना।

निफन*—वि० [सं० निष्पन्न, प्रा० निष्पन्न] पूर्ण। पूरा। संपूर्ण।
क्रि० वि० पूर्णरूप से। अच्छी तरह। उ०—जोते बिनु
बोएँ बिनु निफन निराए बिनु सुकृत सुखेत सुख साखि फूलि
फरिगे। मुनिहुँ मनोरथ को अगम अलभ्य लाभ सुगम सो
राम लघु लोगनि कौं करिगे।—तुलसी।

निफरना—क्रि० अ० [हि० निफारना] चुभकर या धँसकर। इस
पार से उस पार होना। छिड़ कर आरपार होना। उ०—
घायल सों घूमि रह्यो खड़गी घमंड भरो नेजा नोक जागी
शीश कैकथी के नंद की। निफरि धँसी सो भूमि गौंडा गिरयो
घूमि घूमि खासी रघुराज बाणी कड़ी रघुचंद की।—रघुराज।
क्रि० अ० [सं० नि + स्फुट] खुलना। उद्घाटित होना।
स्पष्ट होना। साफ होना। प्रकट होना।

निफल*—वि० [सं० निष्फल, प्रा० निष्फल] निरर्थक। निष्फल।
व्यर्थ। उ०—(क) नाचै पंडुक मोर परेवा। निफल न जाय
काहि की सेवा।—जायसी। (ख) निफल होंहि रावण सर
कैसे। खल के सकल मनोरथ जैसे।—तुलसी।

निफला—संज्ञा स्त्री० [सं०] ज्योतिष्मती ज्ञाता।

निफाक—संज्ञा पुं० [अ०] (१) विरोध। द्रोह। वैर। (२) फूट।
भेद। बिगाड़। अनवतन।

क्रि० प्र०—करना।—पड़ना।—होना।

निफारना—क्रि० सं० [हि० नि + फारना] (१) इस पार से उस
पार तक छेद करना। आर पार करना। वेधना। (२) इस
पार से इस पार निकालना।

क्रि० सं० [सं० नि + स्फुट] खोलना। उद्घाटित करना।
प्रकट करना। स्पष्ट करना। साफ करना।

निफालन—संज्ञा पुं० [सं०] दृष्टि।

निफोट—वि० [सं० नि + स्फुट] स्पष्ट। साफ साफ। उ०—(क)
कै मिलि कर मेरो कह्यो कै कर मेरो वात। पाछे बचन सँभारियो
कहों निफोटक बात।—हनुमान। (ख) सुन ले निफोट
ओट वज्र की न बचै कोऊ लागे भेद चोट सावधान को
अचानक।—हनुमान।

निबंध—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बंधन। (२) वह व्याख्या जिसमें
अनेक मतों का संग्रह हो। (३) लिखित प्रबंध। लेख।
(४) गीत। (५) नीम का पेड़। (६) आनाह रोग। पेशाब
बंद होने की बीमारी। करक। (७) वह वस्तु जिसे किसी
को देने का वादा कर दिया गया हो।

निबंधन—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० निबद्ध] (१) बंधन। उ०—
तनु कंडु कंड त्रिरेख राजति रज्जु सी उनमानिए। अविनीत
इंद्रिय निग्रही तिनके निबंधन जानिए।—केशव।
(२) व्यवस्था। नियम। बंधन। (३) कर्त्तव्य। बंधन।
(४) हेतु। कारण। (५) गाँठ। (६) बीणा वा. सितार की
रख्ती। उपनाह। कान।

निबंधनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बंधन। (२) बेड़ी।

निब—संज्ञा स्त्री० [अ०] लोहे की चद्दर की बनी हुई चौंच जो अँग-
रेजी कलमों की नोक का काम देती है। (यह ऊपर से
खोँसी जाती है)।

निबकौरी—संज्ञा स्त्री० [हि० नीब, नीम + कौड़ी] (१) नीम का
फल। निबौली। निबौरी। (२) नीम का बीज।

निबटना—क्रि० अ० [सं० निवर्त्तन, प्रा० निवट्टना] [संज्ञा निवटेरा,
निवटाव] (१) निवृत्त होना। छुट्टी पाना। फुरसत पाना।
फारिग होना। खाली होना। जैसे, सब कामों से निबटना।
(२) समाप्त होना। पूरा होना। किए जाने को बाकी न रहना।
अगतना। जैसे, काम निबटना। (३) निर्णीत होना। तै
होना। अनिश्चित दशा में न रह जाना। जैसे, झगड़ा निबटना।
(४) चुकना। खतम होना। न रह जाना। उ०—हे सुंदरी
तेरो सुकृत मेरो ही सो हीन। फल सों जान्यो जात है मैं
निरनै कर लीन। अधिक मनोहर अरुन नख उन अँगुरि को
पाय। गिरी फेर तू आय जब पुछ गयो निबटाय।—
लक्ष्मणसिंह। (५) शौच आदि से निवृत्त होना।

निबटाना—क्रि० सं० [हि० निबटना] (१) पूरा करना। समाप्त
करना। खतम करना। करने को बाकी न छोड़ना। जैसे, काम
निबटाना। (२) अगतना। चुकाना। बेबाक करना। जैसे,
कर्जा निबटाना। (३) तै करना। निर्णीत करना। झगड़ न
रखना। जैसे, झगड़ा निबटाना।

संज्ञा० क्रि०—ढालना।—देना।—लेना।

निबटाव-संज्ञा स्त्री० [हि० निबटना] (१) निबटने की भावना वा क्रिया। निबटेरा। (२) ऋगड़े का फैसला। फैसला। निर्णय। निबटेरा-संज्ञा पुं० [हि० निबटना] (१) निबटने का भाव वा क्रिया। छुट्टी। (२) समाप्ति। (३) ऋगड़े का फैसला। निश्चय।

क्रि० प्र०-करना।-होना।

निबटना-क्रि० अ० दे० "निबटना"।

निबड़ा-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बड़ा चड़ा।

निबद्ध-वि० [सं०] (१) बँधा हुआ। (२) निरुद्ध। रक्का हुआ। (३) ग्रथित। गुथा हुआ। (४) बैठाया हुआ। जड़ा हुआ। निवेशित।

संज्ञा पुं०-वह गीत जिसे गाते समय अक्षर, ताल मान, गमक, रस आदि के नियमों का विशेष ध्यान रखा जाय।

निबर-वि० दे० "निर्वल"।

निबरना-क्रि० अ० [सं० निवृत्त, प्रा० निविड्ड] (१) बँधी, फँसी या लगी वस्तु का अलग होना। छूटना। (२) मुक्त होना। उद्धार पाना। बच निकलना। पार पाना। उ०-(क) पाय कै उराहने, उराहने न दीजै मोहिं कालि काला कासीनाथ कहे निबरत हौं।-तुलसी। (ख) कब लौं, कहाँ पूजि निबरैंगे बचिहै बर हमारे ?-सूर। (ग) कैसे निबरै निबल जन करि सबलन सों बैर।-सभाविजास। (३) छुट्टी पाना। अवकाश पाना। फुरसत पाना। खाली होना। निवृत्त होना। उ०-हरि छवि जल जब तें परे तब तें छिन निबरै न। भरत, डरत, बूझत तरत रहत घरी लौं नैन।-बिहारी। (४) (काम) पूरा होना। समाप्त होना। भुगतना। सपरना। निबटना। चुकना। उ०-(क) सूरदास बिनती कहा बिनवै दोषनि देह भरी। आपन विरद सँभारौगे तौ यामें सब निबरी।-सूर। (ख) चितवत जितवत हित हिये किए तिरीछे नैन। भीजे तन दोऊ कँपे क्यों हूँ जप निबरै न।-बिहारी। (५) निर्णय होना। तै होना। फैसला होना। (६) एक में मिली जुली वस्तुओं का अलग होना। बिलग होना। छूटना। उ०-नैना भए पराए चरे। नंदलाल के रंग गए रंगि अब नाहीं बस मेरे। जद्यपि जतन किए जुगवति हौं श्यामल शोभा घेरे। तउ मिलि गए दूध पानी उधौं निबरत नाहिं निबरे।-सूर। (७) उलझन दूर होना। सुलझना। फँसाव या अड़चन दूर होना।

संयो० क्रि०-जाना।

(८) जाता रहना। दूर होना। न रह जाना। खतम होना। उ०-अब नीके कै समुक्ति परी। जिन लागि हती बहुत उर आसा सोऊ बात निबरी।-सूर।

निबल-वि० [सं० निर्वल] निर्वल। दुर्बल। उ०-कैसे निबहैं निबल जन करि सबलन सों बैर।-सभाविजास।

निबर्हण-संज्ञा पुं० [सं०] मारण। नष्ट करने की क्रिया या भाव। निबह-संज्ञा पुं० दे० "निर्वह"।

निबहना-क्रि० अ० [हि० निवाहना] (१) पार पाना। निकलना। बचना। छुट्टी पाना। छुटकारा पाना। उ०-(क) मेरे हठ क्यों निबहन पैहौ ? अब तो रोकि सबनि को राख्यो कैसे कै तुम जैहौ ?-सूर। (ख) श्याम गए देखै जनि कोई। सखियन सों निबहन किमि पैहौं इन आगे राखौ रस गोई।-सूर। (ग) कैसे निबहैं निबल जन करि सबलन सों बैर।-सभाविजास। (२) निर्वह होना। बराबर चला चलना। किसी स्थिति, संबंध आदि का लगातार बना रहना। पालन या रक्षा होना। जैसे, साथ निबहना, मित्रता निबहना, प्रीति निबहना। उ०-(क) महमद चारिउ मीत मिलि भए जो एकहि चित्त। यहि जग साथ जो निबहा ओहि जग बिछुरहि कित्त।-जायसी। (ख) काल बिलोकि कहै तुलसी मन में प्रभु की परतीति अघाई। जन्म जहाँ तहाँ रावरे सों निबहै भरि देह सनेह सगाई।-तुलसी। (३) बराबर होता चलना। पूरा होना। सपरना। जैसे, यहाँ का काम तुम से नहीं निबहेगा। (४) किसी बात के अनुसार निरंतर व्यवहार होना। पालन होना। पूरा होना। चरितार्थ होना। जैसे, बचन निबहना, प्रतिज्ञा निबहना।

संयो० क्रि०-जाना।

निबाह-संज्ञा पुं० [सं० निवाह] (१) निवाहने की क्रिया या भाव। रहन। रहायस। गुजारा। कालचेप। किसी स्थिति के बीच जीवन व्यतीत करने का कार्य। जैसे, वहाँ तुम्हारा निबाह नहीं हो सकता। उ०-(क) उबरहिं अंत न होय निबाहू।-तुलसी। (ख) लोक लाहु परलोक निबाहू।-तुलसी। (२) लगातार साधन। (किसी बात को) चलाए चलने या जारी रखने का कार्य। किसी बात के अनुसार निरंतर व्यवहार। संबंध या परंपरा की रक्षा। जैसे (क) प्रीति का निबाह, दोस्ती का निबाह। (ख) काम तो मैंने अपने ऊपर ले लिया पर निबाह तुम्हारे हाथ है। (३) चरितार्थ करने का कार्य। पूरा करने का कार्य। पालन। साधन और पूर्ति। जैसे, प्रतिज्ञा का निबाह। (४) छुटकारे का ढंग। बचाव का रास्ता। जैसे, बड़ी अड़चन में फँसे हैं, निबाह नहीं दिखाई देता।

निबाहक-वि० [सं० निवाहक] निबाह करनेवाला।

निवाहना-क्रि० स० [सं० निवाहन] (१) निर्वह करना। (किसी बात को) बराबर चलाए चलना। जारी रखना। बनाए रखना। संबंध या परंपरा की रक्षा करना। जैसे, नाता निवाहना, प्रीति निवाहना, मित्रता निवाहना, धर्म निवाहना। उ०-(क) पहिले सुख नेहहि जब जोरा। पुनि होय कठिन निबाहत ओरा।-जायसी। (ख) निबाहो बाँह गहे की

लाज।—सूर। (२) पूरा करना। पालन करना। चरितार्थ करना। किसी बात के अनुसार निरंतर व्यवहार करना। जैसे, बचन निबाहना। उ०—यह परतिज्ञा जो न निबाहीं। तौ तनु अपनो पावक दाहीं।—सूर। (३) निरंतर साधन करना। बराबर करते जाना। सपराणा। जैसे, अभी काम न छोड़े थोड़े दिन और निबाह दो।

संयो० क्रि०—देना।

निबिड-वि० दे० “निबिड”।

निबुआ*—संज्ञा पुं० दे० “नीबू”।

निबुकना*—क्रि० अ० [सं० निबुक्त, प्रा० निबुक्त] (१) छुटकारा पाना। छूटना। बंधन से निकलना। उ०—(क) निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अटारी। भईं समीत निसाचर नारी।—तुलसी। (ख) सुग्रीवहु कै मुरछा बीती। निबुकि गयउ तेहि मृतक प्रतीती।—तुलसी। (ग) दीठि निसैनी चढ़ि चह्यौ ललचि सुचित मुख गोर। चिबुक गढ़ारे खेत सैं निबुकि गिरयो चित चोर।—शृ० सत०। (२) बंधन आदि का खिलकना।

संयो० क्रि०—जाना।

निबेडना—क्रि० स० [सं० निवृत्त, प्रा० निबिड] (१) (बंधन आदि) छुड़ाना। उन्मुक्त करना। बँधी, फँसी, या लगी वस्तु को अलग करना। (२) परस्पर मिली हुई वस्तुओं को अलग अलग करना। बिलगाना। छूटना। चुनना। (३) उलझन दूर करना। सुलझाना। लगाव फँसाव दूर करना। (४) निबटाना। निर्यय करना। तै करना। फैसला करना। (५) छोड़ना। हटाना। दूर करना। अलग करना। (६) पूरा करना। निबटाना। सपराणा। भुगताना।

निबेडा—संज्ञा पुं० [हिं० निबेडना] (१) छुटकारा। मुक्ति। (२) बचाव। उद्धार। (३) एक में मिली जुली वस्तुओं के अलग होने की क्रिया या भाव। बिलगाव। छूट। चुनाव। (४) सुलझाने की क्रिया या भाव। उलझन या फँसाव दूर होना। (५) त्याग। (६) निबटारा। भुगतान। समाप्ति। चुकती। (७) निर्यय। फैसला।

निबेरना—क्रि० स० [सं० निवृत्त, प्रा० निबिड] (१) (बंधन आदि) छुड़ाना। उन्मुक्त करना। बँधी, फँसी या लगी वस्तु को अलग करना। उ०—औरन की तोहिं का परी अपनी आप निबेर।—कबीर। (२) एक में मिली हुई वस्तुओं को अलग अलग करना। बिलगाना। छूटना। चुनना। उ०—(क) नैना भए पराए चरे। नंदलाल के रंग गए रंगि अब नाहीं बस मेरे। यद्यपि जतन किए जुगवति हौं, श्यामल शोभा घेरे। तउ मिलि गए दूध पानी ज्यों निबरत नाहिं निबेरे।—सूर। (ख) आगे भए हनुमान पाछे नील जांबवान लंका के निसंक सूर मारे हैं निबेरि कै।—हनुमान। (३) उलझन दूर करना। सुलझाना। फँसाव या

अड़चन दूर करना। (४) निर्यय करना। तै करना। फैसला करना। उ०—(क) जेहि कौतुक बक स्वान को प्रभु न्याव निबेरो। तेहि कौतुक कहिए कृपालु तुलसी है मेरो।—तुलसी। (ख) प्रण करि के झूठे करि डारत सकल धरम तेहि केरो। जात रसातल तनु ते तुरतहि वेद पुरान निबेरो।—रघुराज। (५) छोड़ना। त्यागना। तत्रना। उ०—मारी मरै कुसंग की ज्यों केरे दिग बेर। वह हालै वह जीरइ साकट संग निबेर।—कबीर। (६) दूर करना। हटाना। मिटाना। उ०—मिटै न विपति भजे बिनु रघुपति श्रुति संदेह निबेरो।—तुलसी। (७) (काम) पूरा करना। निबटाना। सपराणा। भुगताना। उ०—प्रसुदित मुनिहि भावरी फेरी। नेग सहित सब रीति निबेरी।—तुलसी।

निबेरा—संज्ञा पुं० [हिं० निबेरना] (१) छुटकारा। मुक्ति। उद्धार। बचाव। उ०—ज्याकुल अति भवजाल बीच परि प्रभु के हाथ निबेरो।—सूर। (२) मिली जुली वस्तुओं के अलग होने की क्रिया या भाव। बिलगाव। छूट। चुनाव। (३) सुलझाने की क्रिया या भाव। उलझन या फँसाव का दूर होना। (४) निर्यय। फैसला। निबटारा। उ०—(क) जैसे वरत भवन तजि भजिए तैसहि गए फेरि नहिं हेरयो। सूर श्याम रस रसे रसीले पै को करै निबेरो।—सूर। (ख) ब्राह्मण नृपति युधिष्ठिर केरो। जानै सब गुन ज्ञान निबेरो।—सदल। (५) (काम का) निबटारा। भुगतान। समाप्ति। पूर्ति।

निबेहना*—क्रि० स० दे० “निबेरना”।

निबौरी*—संज्ञा स्त्री० दे० “निबौली”।

निबौली—संज्ञा स्त्री० [सं० निब्व + वृत्त] निबौरी। नीम का फल। उ०—(क) दाख छूँड़ि कै तजि कटुक निबौरी को अपने मुख खैहै ? गुणनिधान तजि सूर साँवरे को गुणहीन निबैहै। (ख) तो रस राच्यो आन बस कह्यो कुटिल मति कूर। जीभ निबौरी क्यों लगै बौरी चाख खजूर।—बिहारी।

निभ—संज्ञा पुं० [सं०] प्रकाश। प्रभा। चमक दमक।

वि० तुल्य। समान। उ०—जुतज-नयन धर बाहु बिसाला।

हिमिगिरि निभ तनु कहु एक लाला।—तुलसी।

निभना—क्रि० अ० [हिं० निबहना] (१) पार पाना। निकलना।

बचना। छुटी पाना। छुटकारा पाना। (२) निर्वाह होना।

बराबर चला चलना। जारी रहना। लगातार बना रहना।

संबंध, परंपरा आदि की रचा होना। जैसे, (क) साथ निभना,

प्रीति निभना, मित्रता निभना, नाता निभना। (ख) इनकी

उनकी मित्रता कैसे निभेगी ? (३) किसी स्थिति के अनुकूल

जीवन व्यतीत होना। गुजारा होना। रहायस होना। जैसे,

(क) तुम वहाँ निभ नहीं सकते। (ख) जैसे इतने दिन

निभा वैसे ही थोड़े दिन और सही। (४) बराबर होता चलना। पूरा होना। सपरना। भुगतना। जैसे, यहाँ का काम तुमसे नहीं निभेगा। (५) किसी बात के अनुसार निरंतर व्यवहार होना। पालन होना। पूरा होना। चरितार्थ होना। जैसे, वचन निभना, प्रतिज्ञा निभना। दे० “निबहना”।

संयो० क्रि०—जाना।

निभरम—वि० [सं० निभ्रम] भ्रमरहित। जिसे या जिसमें किसी प्रकार की शंका न हो। जिसे या जिसमें कोई खटका न हो।

क्रि० वि० निःशंक। बेखटके। बेधड़क।

निभरमा—वि० [सं० निभ्रम] जिसका परदा ढका न हो। जिसकी कलाई खुल गई हो। जिसकी थाप या मर्यादा न रह गई हो। जिसका विश्वास उठ गया हो।

निभरोसा—वि० [हिं० नि + भरोसा] [संज्ञा निभरोसा] जिसे भरोसा न हो। निराश। हताश।

निभरोसी—वि० [हिं० नि = नहीं, भरोसा] (१) जिसे कोई भरोसा न रह गया हो। निराश। हताश। (२) जिसे किसी का आसरा भरोसा न हो। निराश्रय। निराधार। बिना सहारे का। हीन। उ०—कीन्हेसि कोई निभरोसी कीन्हेसि कोई बरियार। छारहिं ते सब कीन्हेसि पुनि कीन्हेसि सब छार।—जायसी।

निभागा—वि० [हिं० नि + भाग, भाग्य] अभागा। बदकिस्मत।

निभाना—क्रि० सं० [हिं० निबाहना] (१) निर्वाह करना। (किसी बात को) बराबर चलाए चलना। बनाए और जारी रखना। संबंध या परंपरा रक्षित रखना। जैसे, नाता निभाना, प्रीति निभाना, धर्म निभाना। (२) किसी बात के अनुसार निरंतर व्यवहार करना। चरितार्थ करना। पूरा करना। पालन करना। जैसे, प्रतिज्ञा निभाना, वचन निभाना। उ०—सारंग वचन कहयो करि हरि को सारंग वचन निभावति।—सूर। (३) निरंतर साधन करना। बराबर करते जाना। सपराना। चलाना। भुगताना। जैसे, अभी काम न छोड़ो, थोड़े दिन और निभा दो।

संयो० क्रि०—देना।

निभाव—संज्ञा पुं० दे० “निबाह”।

निभूत—वि० [सं०] भूत। व्यतीत। बीता हुआ।

निभृत—वि० [सं०] (१) धरा हुआ। रखा हुआ। धृत। (२) निश्चल। अटल। (३) गुप्त। छिपा हुआ। (४) बंद किया हुआ। (५) निश्चित। स्थिर। (६) नम्र। विनीत। (७) शांत। अनुद्विग्न। धीर। (८) निर्जन। एकांत। सूना। (९) भरा हुआ। पूर्ण। युक्त। (समास में)। (१०) अस्त होने के निकट (सूर्य या चंद्रमा)।

निभ्रांत—* वि० दे० “निभ्रांत”।

निमंत्रण—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० निमंत्रित] (१) किसी कार्य के लिये नियत समय पर आने के लिये ऐसा अनुरोध जिसका अकारण पालन न करने से दोष का भागी होना पड़ता है। बुलावा। आह्वान।

क्रि० प्र०—करना।—देना।

(२) भोजन आदि के लिये नियत समय पर आने का अनुरोध। खाने का बुलावा। न्योता।

क्रि० प्र०—करना।—देना।

विरोध—‘आमंत्रण’ और ‘निमंत्रण’ में यह भेद है कि निमंत्रण का पालन न करने पर दोष का भागी होना पड़ता है।

निमंत्रणपत्र—संज्ञा पुं० [सं०] वह पत्र जिसके द्वारा किसी पुरुष से भोजन उत्सव आदि में सम्मिलित होने के लिये अनुरोध किया गया हो।

निमंत्रना—* क्रि० सं० [सं० निमंत्रण] न्योता देना। उ०—पुनि पुनि नृपहिं निमंत्रेउ मुनिवर। मान्यो नृप तब शासन मुनि कर।—रघुराज।

निमंत्रित—वि० [सं०] जो निमंत्रित किया गया हो। जिसे न्योता दिया गया हो। आहूत।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

निम—संज्ञा पुं० [सं०] शलाका। शंकु।

निमक—संज्ञा पुं० दे० “नमक”।

निमकी—संज्ञा स्त्री० [फा० नमक] (१) नीबू का अचार। (२) घी में तली हुई मैदे की मोयनदार नमकीन टिकिया।

निमकौड़ी—संज्ञा स्त्री० दे० “निबकौरी”, “निबौली”।

निमग्न—वि० [सं०] [स्त्री० निमग्नता] (१) डूबा हुआ। मग्न। (२) तन्मय।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

निमछड़ा—संज्ञा पुं० [हिं० छँड़ना ?] ऐसा समय जिसमें कोई काम न हो। अवकाश। फुरसत। छुट्टी।

निमज्जक—संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र आदि जलाशयों में डुबरी लगानेवाला। गोते मारकर समुद्र आदि के नीचे की चीजों को निकाल कर जीविका करनेवाला।

निमज्जन—संज्ञा पुं० [सं०] डूब कर किया जानेवाला स्नान। अवगाहन।

निमज्जना—* क्रि० अ० [सं० निमज्जन] डूबना। गोता लगाना। अवगाहन करना। उ०—(क) सोक समुद्र निमज्जत कादि कपीस कियो जग जानत जैसो।—तुलसी। (ख) देखि मिटै अपराध अगाध निमज्जत साधु समाज भलो रे।—तुलसी।

निमज्जित—वि० [सं०] (१) डूबा हुआ। मग्न। (२) स्नात। नहाया हुआ।

निमटना—क्रि० अ० दे० “निबटना”।

निमटाना—क्रि० सं० दे० “निवटाना” ।

निमटेरा—संज्ञा पुं० दे० “निवटेरा” ।

निमता*—वि० [हिं० नि + माँता] जो माता न हो । जो उन्मत्त न हो । उ०—माँते निमते गरजहि बाँधे । निसि दिन रहैं महा-वत काँधे ।—जायसी ।

निमरी—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की कपास जो मध्यभारत में होती है । बरही । बैंगई ।

निमाज़—संज्ञा पुं० [अ०] मुसलमानों के मत के अनुसार ईश्वर की आराधना जो दिन रात में पाँच बार की जाती है । इसलाम मत के अनुसार ईश्वर-प्रार्थना ।

क्रि० प्र०—गुजारना ।—पढ़ना ।

निमाजबंद—संज्ञा पुं० [फा०] कुरती का एक पेश जिसमें जोड़ के दाहिनी ओर बैठकर उसकी दाहिनी कलाई को अपने दाहिने साथ से खींचा जाता है और फिर अपना बायाँ पैर उसकी पीठ की ओर से लाकर उसकी दाहिनी भुजा को इस प्रकार बाँध लिया जाता है कि वह चूतड़ के बीच आ जाती है । इसके बाद उसके दाहिने आँगूठे को अपने दाहिने हाथ से खींचते हुए बाँए हाथ से उसकी जाँघिया पकड़कर उसे उलटकर चित कर देते हैं ।

विशेष—इस पेश के विषय में प्रसिद्ध है कि इसके आविष्कर्ता इसलामी मल्लविद्या के आचार्य अली साहब हैं । एक बार किसी जंगल में एक दैत्य से उन्हें मल्लयुद्ध करना पड़ा । उसे नीचे तो वे ले आए, पर चित करने के लिये समय न था, क्योंकि नमाज का समय बीत रहा था । इसलिये उन्होंने उसे इस प्रकार बाँधा कि उसे उसी स्थिति में रखते हुए नमाज पढ़ सकें । जब वे खड़े होते तब उसे भी खड़ा होना और जब बैठते या झुकते तब बैठना या झुकना पड़ता । यही इसका निमाजबंद नाम पड़ने का कारण है ।

निमाज़ी—वि० [फा० निमाज़] (१) जो नियमपूर्वक निमाज़ पढ़ता हो । (२) दीनदार । धार्मिक (मुसलमान) ।

निमान*—संज्ञा पुं० [सं० निम्र = गड्ढा (वेद)] (१) नीचा स्थान । गड्ढा । (२) जलाशय । उ०—खोजहुँ दंडक जनस्थाना । सैल सिखर सर सरित निमाना ।

निमाना—वि० [सं० निम्र] [स्त्री० निमानी] (१) नीचा । ठलुवाँ । नीचे की ओर गया हुआ । उ०—फिरत न पाछे नीर ज्यो भूमि निमानी जाय । सो गति मो मन की भई कीजै कौन उपाय ।—लक्ष्मणसिंह । (२) नम्र । विनीत । सरल स्वभाव का । सीधा सादा । भोला भाला । (३) दबू ।

निमि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) महाभारत के अनुसार एक ऋषि जो दत्तात्रेय के पुत्र थे । (२) राजा इक्ष्वाकु के एक पुत्र का नाम । इन्हीं से मिथिला का विदेह वंश चला । पुराणों में लिखा है कि एक बार महाराज निमि ने सहस्रवार्षिक यज्ञ

कराने के लिये वसिष्ठ जी को बुलाया । वसिष्ठ जी ने कहा मुझे देवराज इंद्र पहले से ही पंचशत वार्षिक यज्ञ में वरण कर चुके हैं । उनका यज्ञ कराके मैं आपका यज्ञ करा सकूँगा । वसिष्ठ के चले जाने पर निमि ने गोतमादि ऋषियों को बुलाकर यज्ञ करना प्रारंभ किया । इंद्र का यज्ञ हो जाने पर जब वसिष्ठ जी देवलोक से आए तब उन्हें मालूम हुआ कि निमि गोतम को बुलाकर यज्ञ कर रहे हैं । वसिष्ठ जी ने निमि के यज्ञ मंडप में पहुँच कर राजा निमि को शाप दिया कि तुम्हारा यह शरीर न रहेगा । वसिष्ठ के शाप देने पर राजा ने भी वसिष्ठ को शाप दिया कि आपका भी शरीर न रहेगा । दोनों का शरीर छूट गया । वसिष्ठ जी तो अपना शरीर छोड़ कर मित्रावरुण के वीर्य से उत्पन्न हुए । यज्ञ की समाप्ति पर देवताओं ने निमि को फिर उसी शरीर में रख कर अमर कर देना चाहा पर राजा निमि ने अपने छोड़े हुए शरीर में जाना नहीं चाहा और देवताओं से कहा कि शरीर के त्यागने में मुझे बड़ा दुःख हुआ है, मैं फिर शरीर नहीं चाहता । देवताओं ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और उनको मनुष्यों की आँखों की पलक पर जगह दी । उसी समय से निमि विदेह कहलाए और उनके वंशवाले भी इसी नाम से प्रसिद्ध हुए । उ०—भये विलोचन चारु अचंचल । मनहुँ सकुचि निमि तजे दगंचल ।—तुलसी । (३) आँखों का मिचना । निमेष ।

निमिस्त्र—संज्ञा पुं० दे० “निमिष” ।

निमित्त—संज्ञा पुं० [सं०] (१) हेतु । कारण । (२) चिह्न । लक्षण । (३) शकुन । सगुन । (४) उद्देश्य । फल की ओर लक्ष्य । जैसे, पुत्र के निमित्त यज्ञ करना ।

निमित्तक—वि० [सं०] किसी हेतु से होनेवाला । जनित । उत्पन्न । उ०—उदर निमित्तक बहुकृत वेषा ।—तुलसी ।

संज्ञा पुं० चुंबन ।

निमित्त कारण—संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसकी सहायता वा कर्तृत्व से कोई वस्तु बने । जैसे, घड़े के बनने के निमित्त कारण कुम्हार, चाक, दंड, सूत्र इत्यादि । (न्याय) । विशेष—दे० “कारण” ।

निमिराज*—संज्ञा पुं० [सं०] निमिवंशी राजा जनक । उ०—दोउ समाज निमिराज रघुराज नहाने प्राप्त । बैठे सब बड बिटपतर मन मलीन कृष्णात ।—तुलसी । दे० “निमि” ।

निमिष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) आँखों का ढँकना । पलकों का गिरना । आँख मिचना । निमेष । (२) उतना काल जितना पलक गिरने में लगता है । पलक मारने भर का समय । (३) सुश्रुत के अनुसार एक रोग जो पलक पर होता है ।

निमिष-क्षेत्र—संज्ञा पुं० [सं०] नैमिषारण्य ।

निमिषित—वि० [सं०] निमीलित । मिचा हुआ ।

निमीलन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पलक मारना । निमेष ।
(२) मरण । (३) पलक मारने भर का समय । पल । क्षण ।

निमीलिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आँख की झपक । (२) व्याज ।
झल ।

निमीलित-वि० [सं०] (१) बंद । ढका हुआ । (२) मृत ।
मरा हुआ ।

निमुह्रा-वि० [हिं० नि = नहीं + मुह्र] [स्त्री० निमुह्री] जिसे बोलने
को मुह्र न हो । न बोलनेवाला । कर्म बोलनेवाला । चुपका ।

निमूल-वि० [सं०] (१) मूलरहित । (२) प्रकाशन ।

निमेष-संज्ञा पुं० दे० “निमेष” ।

निमेष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पलक का गिरना । आँख का झप-
कना । ड०—(क) कहा करौं नीके करि हरि को रूप रेख
नहिं पावति । संगहि संग फिरति निसि बासर नैन निमेष
न लावति ।—सूर । (ख) मो डर ते डरपै सुरराजहु सोवत
नैन लगाय निमेष ।—हनुमान ।

क्रि० प्र०—लगाना ।

(२) पलक मारने भर का समय । पलक के स्वभावतः उठने
और गिरने के बीच का काल । उतना वक्त जितना पलकों के
उठकर फिर गिरने में लगता है । पल । क्षण । (३) आँख
का एक रोग जिसमें आँखें फड़कती हैं । (४) एक यक्ष का
नाम । (महाभारत)

निमेषक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पलक । (२) खद्योत । जुगनु ।

निमेषकृत्-संज्ञा स्त्री० [सं०] विद्युत् । बिजली ।

निमेषण-संज्ञा पुं० [सं०] पलक गिरना । आँख मुँदना ।

निमोची-संज्ञा स्त्री० [सं०] राक्षस विशेष ।

निमोना-संज्ञा पुं० [सं० नवान्न] चने या मटर के पिसे हुए हरे
दानों को हलदी मसाले के साथ घी में भून कर बनाया हुआ
रसेदार व्यंजन । ड०—(क) ककरी, कचरी औ कचनारयो ।
सरस निमोननि स्वाद सँवारयो ।—सूर । (ख) बहुत मिरिच
दे कियो निमोना । बेसन के दस बीसक दोना ।—सूर ।

निमौनी-संज्ञा स्त्री० [सं० नवान्न] वह दिन जब ईख पहले पहल
काटी जाती है ।

निम्न-वि० [सं०] नीचा ।

निम्नग-संज्ञा पुं० [सं०] नीचे जानेवाला ।

निम्नगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] नदी ।

निम्नना-वि० दे० “नीमन” ।

निम्लोच-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य का अस्त होना ।

निम्लोचनी-संज्ञा पुं० [सं०] वरुण की नगरी का नाम जो
मानसोत्तर पर्वत के पश्चिम है ।

निम्लोचा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अप्सरा का नाम ।

नियंतव्य-वि० [सं०] नियमित होने के योग्य । प्रतिबद्ध होने
योग्य । शासन योग्य ।

नियंता-संज्ञा पुं० [सं० नियन्तृ] [स्त्री नियंत्री] (१) नियम बाँधने-
वाला । व्यवस्था करनेवाला । कायदा बाँधनेवाला । (२) कार्य
को चलावेवाला । विधायक । (३) शिक्षक । नियम पर
चलानेवाला । शासक । (४) घोड़ा फेरनेवाला । घोड़ा
निकालनेवाला । (५) विष्णु ।

नियंत्रित-वि० [सं०] नियम से बँधा हुआ । कायदे का पाबंद ।
जिसकी क्रिया सर्वथा स्वच्छंद न हो । जिस पर किसी प्रकार
का प्रतिबंध हो । प्रतिबद्ध ।

नियत-वि० [सं०] (१) नियम द्वारा स्थिर । बँधा हुआ । परिमित ।
संयत । बद्ध । पाबंद । (२) ठहराया हुआ । स्थिर । ठीक
क्रिया हुआ । निश्चित । सुकरर । जैसे, किसी काम के लिये
कोई दिन नियत करना, वेतन नियत करना । (३) नियोजित ।
स्थापित । प्रतिष्ठित । सुकरर । तैनात । जैसे, किसी पद पर या
काम पर नियत करना ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

संज्ञा पुं० महादेव । शिव ।

संज्ञा स्त्री० दे० “नीयत” ।

नियत व्यावहारिक काल-संज्ञा पुं० [सं०] ज्योतिष में पुण्य,
दान, व्रत, आश्रम, यात्रा, विवाह इत्यादि के लिये नियत
समय ।

विशेष—ज्योतिष में कालमान नौ प्रकार के माने गए हैं सौर,
सावन, चांद्र, नाक्षत्र, पित्र्य, दिव्य, प्राजापत्य (मन्वन्तर),
ब्राह्म (कल्प), और बार्हस्पत्य । इनमें से ऊपर लिखी बातों
के लिये तीन प्रकार के कालमान लिए जाते हैं—सौर
चांद्र और सावन । संक्रांति, उत्तरायण, दक्षिणायन आदि
पुण्य काल सौर काल के अनुसार नियत किए जाते हैं ।
तिथि, करण, विवाह चौर, व्रत, उपवास और यात्रा
इत्यादि में चांद्र काल लिया जाता है । जन्म, मरण (सूतक),
चांद्रायण आदि प्रायश्चित्त, यज्ञदिनाधिपति, मासाधिपति
वर्षाधिपति और ग्रहों की मध्यगति आदि का निर्णय सावन
काल द्वारा होता है ।

नियतात्मा-वि० [सं० नियतात्मन्] अपने ऊपर प्रतिबंध रखने-
वाला । अपने आपको वश में रखनेवाला । संयमी ।
जितेंद्रिय ।

नियताभि-संज्ञा स्त्री० [सं०] नाटक में अन्य उपायों को छोड़
एक ही उपाय से फलप्राप्ति का निश्चय । जैसे, किसी का
यह कहना कि अब तो ईश्वर को छोड़ और कोई उपाय
नहीं है, वे अवश्य फल देंगे । (साहित्य दर्पण)

नियति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नियत होने का भाव । बंधेज ।
बद्ध होने का भाव । (२) ठहराव । स्थिरता । सुकररी । (३)
भाग्य । दैव । अदृष्ट । (४) बँधी हुई बात । अवश्य होने-

वाली बात । (५) पूर्वकृत कर्म का परिणाम जिसका होना निश्चित होता है । (६) जड़ । प्रकृति । (जैन)

नियती—संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा । भगवती ।

नियतेंद्रिय—वि० [सं०] इंद्रियों को वश में रखनेवाला । जितेंद्रिय ।

नियम—संज्ञा पुं० [सं०] (१) विधि वा निश्चय के अनुकूल प्रतिबंध । परिमिति । रोक । पाबंदी । नियंत्रण । जैसे, तुम कोई काम नियम से नहीं करते ।

क्रि० प्र०—करना ।—बाँधना ।

विशेष—जैनग्रंथों में चौदह वस्तुओं के परिमाण बाँधने के नियम कहा है— जैसे, द्रव्यनियम, विनयनियम, उपानहनियम, तांबूलनियम, आहारनियम, वस्त्रनियम, पुष्पनियम, वाहननियम, शयाननियम, इत्यादि ।

(२) दबाव । शासन । (३) बाँधा हुआ क्रम । चला आता हुआ विधान । परंपरा । दस्तूर । १ से, (क) यहाँ तक आने का उनका नित्य का नियम है । (ख) सबेरे उठने का नियम ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

(४) ठहराई हुई रीति । विधि । व्यवस्था । पद्धति । कायदा । कानून । जास्ता । जैसे, ब्रह्मचर्य के नियम, व्यवहार के नियम, प्रकृति के नियम ।

क्रि० प्र०—करना ।—बाँधना ।—होना ।

मुहा०—नियम का पालन = नियम के अनुकूल व्यवहार । कायदे की पाबंदी । नियम का भंग = नियम के प्रतिकूल आचरण ।

(५) ऐसी बात का निर्धारण जिसके होने पर दूसरी बात का होना निर्भर किया गया हो । शर्त । जैसे, दानपत्र के नियम बहुत कड़े हैं ।

क्रि० प्र०—करना ।—रखना ।

(६) किसी बात को बराबर करते रहने का संकल्प । प्रतिज्ञा । व्रत । जैसे, आज से यह नियम कर लो कि झूठ न बोलेंगे ।

विशेष—योग के आठ अंगों में एक नियम भी है । शौच, संतोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान, इन सब क्रियाओं का पालन नियम कहलाता है । शौच दो प्रकार का होता है—वाह्य और आभ्यंतर । जल, मिट्टी आदि से शरीर को साफ रखना वाह्य शौच है । कष्टना, मैत्री, भक्ति आदि सात्त्विक वृत्तियों को धारण करना आभ्यंतर शौच है । आवश्यक से अधिक की इच्छा न करना ही संतोष है । तप से अभिप्राय है गरमी सरदी सहना, धर्मशास्त्रों में लिखे हुए 'कृच्छ्र चांद्रायण' आदि व्रतों का करना, सब कर्मों को ईश्वर के नाम पर (ईश्वरार्पण) करना ईश्वरप्रणिधान है । याज्ञवल्क्य स्मृति में दस नियम गिनाए गए हैं—ज्ञान,

मौन, उपवास, यज्ञ, वेदपाठ, इंद्रियनिग्रह, गुरुसेवा, शौच, अक्रोध और अग्रसाद ।

जैन शास्त्र में गृहस्थधर्म के अंतर्गत १२ प्रकार के नियम कहे गए हैं—प्राणातिपात विरमण, मृषावाद विरमण, अदत्तदान विरमण, मैथुन विरमण, परिग्रह विरमण, दिग्गत, भोगोपभोग नियम, धनार्थ दंड निषेध, सामयिक शिवाव्रत, देशावकाशिक शिवाव्रत, औषध और अतिथि संविभाग ।

(७) एक अर्थालंकार जिसमें किसी बात का एक ही स्थान पर नियम कर दिया जाय अर्थात् उसका होना एक ही स्थान पर बतलाया जाय । जैसे, हो तुम ही कलिकाल में गुनगाहक नरराय । (८) विष्णु । (९) महादेव ।

नियमतंत्र—वि० [सं०] नियमों से बाँधा हुआ । नियमों के अधीन ।

नियमन—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० नियमित, नियम्य] (१) नियमबद्ध करने का कार्य । कायदा बाँधना । (२) शासन ।

नियमपत्र—संज्ञा पुं० [सं०] प्रतिज्ञापत्र । शर्तनामा ।

नियमपर—वि० [सं०] नियमानुवर्त्ता । नियमाधीन ।

नियमबद्ध—वि० [सं०] नियमों से बाँधा हुआ । नियमों के अनुकूल । कायदे का पाबंद ।

नियमस्थिति—संज्ञा स्त्री० [सं०] तपस्या ।

नियमित—वि० [सं०] (१) बाँधा हुआ । क्रमबद्ध । (२) नियमों के भीतर लाया हुआ । नियमबद्ध । बाकायदा । कायदे कानून के मुताबिक ।

नियमी—संज्ञा पुं० [सं०] नियम पालन करनेवाला ।

नियम्य—वि० [सं०] (१) नियमित करने योग्य । नियमों से बाँधने योग्य । प्रतिबद्ध होने योग्य । (२) शासित होने योग्य । रोके या दबाए जाने योग्य ।

नियर—अव्य० [सं० निकट, प्रा० निग्रह] समीप । पास । नजदीक ।

नियराई—संज्ञा स्त्री० [हि० नियर + आई (प्रत्य०)] निकटता । सामीप्य ।

नियराना—क्रि० अ० [हि० नियर + आना (प्रत्य०)] निकट पहुँचना । पास होना । नजदीक आना या जाना । उ०—आगे चले बहुरि रघुराई । ऋष्यमूक पर्वत नियराई ।—तुलसी ।

नियरे—अव्य० दे० "नियर" ।

नियान—संज्ञा पुं० [सं० निदान] अंत । परिणाम ।

अव्य० अंत में । आखिर । उ०—(क) अग्निन उठै जरि बुझै नियाना । खुर्वाँ उठा उठि बीच बिलाना ।—जायसी ।

(ख) कोउ काहू का नाहि नियाना । मया मोह बाँधा डरझाना ।—जायसी ।

नियाम—संज्ञा पुं० [सं०] नियम ।

नियामक—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० नियामिका] (१) नियम करने-

वाला । नियम या कायदा बाँधनेवाला । (२) व्यवस्था करने-वाला । विधान करनेवाला । प्रबंध करनेवाला । (३) मारने-वाला । (४) पेतवाह । माझी । मछाह ।

नियामकगण-संज्ञा पुं० [सं०] रसायन में पारे को मारनेवाली औषधियों का समूह ।

विशेष—सर्पाक्षी, बनककड़ी, सतावर, शंखाहुली, सर-फोंका, पुनर्नवा (गदहपूना), मूसाकानी, मत्स्याक्षी, ब्रह्मदंडी, शिखंडिनी (डुँवची), अनंता, काकजंघा, काकमाची, पोतिका (पोई का साग), विष्णुकांता, पीली कटसरैया, सहदेइया, महावला, वला, नागवला, मूर्वा, चकवैड़, करंज (कंजा), पाठा, नील, गोजिहा इत्यादि ।

नियामत-संज्ञा स्त्री० [अ० नेअमत] (१) अलभ्य पदार्थ । दुर्लभ पदार्थ । (२) स्वादिष्ट भोजन । उत्तम व्यंजन । मजेदार खाना । (३) धन । दौलत । माल ।

नियामिका-वि० स्त्री० [सं०] नियम करनेवाली । दे० “नियामक” ।

नियार-संज्ञा पुं० [हिं० न्यारा ?] जौहरी वा सुनारों की दूकान का कूड़ा कतवार ।

नियारा-वि० [सं० निर्निकट, प्रा० निन्निअड] अलग । जुदा । दूर । उ०—आज नेह से होइ नियारा । आज प्रेम सँग चला पियारा ।—जायसी ।

संज्ञा पुं० सुनारों या जौहरियों के यहाँ का कूड़ा करकट ।

नियारिया-संज्ञा पुं० [हिं० नियारा, न्यारा] (१) मिली हुई वस्तुओं को अलग अलग करनेवाला । (२) सुनारों या जौहरियों की राख, कूड़ा करकट आदि में से माल निकलने-वाला । (३) चतुर मनुष्य । चालाक आदमी ।

नियारे*—अव्य० दे० “न्यारे” ।

नियाव*—संज्ञा पुं० दे० “न्याव”, “न्याय” ।

नियुक्त-वि० [सं०] (१) नियोजित । लगाया हुआ । (२) (किसी काम में) लगाया हुआ । जोता हुआ । तैनात । मुकर्रर । (३) तत्पर किया हुआ । प्रेरित । (४) स्थिर किया हुआ । ठहराया हुआ ।

क्रि० प्र०—करवा ।—होना ।

नियुक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] मुकर्ररी । तैनाती ।

नियुत्-संज्ञा पुं० [सं०] वायु का अश्व । (वैदिक)

नियुत-वि० [सं०] (१) एक लाख । लख । (२) दस लाख ।

नियुत्वत्-संज्ञा पुं० [सं०] वायु ।

नियुद्ध-संज्ञा पुं० [सं०] बाहुयुद्ध । हाथाबाही । कुश्ती ।

नियोक्तव्य-वि० [सं०] नियोजित करने योग्य ।

नियोक्ता-संज्ञा पुं० [सं० नियोक्ता] (१) नियोजित करनेवाला । लगानेवाला । (२) नियोग करनेवाला ।

नियोग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नियोजित करने का कार्य । किसी

काम में लगाना । तैनाती । मुकर्ररी । (२) प्रेरणा । (३) अवधारण । (४) प्राचीन आर्यों की एक प्रथा जिसके अनुसार यदि किसी स्त्री का पति न होता या उसे अपने पति से संतान न होती तो वह अपने देवर या पति के और किसी गोत्रज से संतान उत्पन्न करा लेती थी (भनु) । पर कलि में यह रीति वर्जित है । (५) आज्ञा । (६) निश्चय । नियोगी-वि० [सं०] (१) जो नियोजित किया गया हो । जो लगाया या मुकर्रर किया गया हो । (२) जो किसी स्त्री के साथ नियोग करे ।

नियोजक-संज्ञा पुं० [सं०] नियोजित करनेवाला । काम में लगाने-वाला । मुकर्रर करनेवाला ।

नियोजन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० नियोजित, नियोज्य, नियुक्त] किसी काम में लगाना । तैनात या मुकर्रर करना । प्रेरणा ।

नियोजित-वि० [सं०] नियुक्त किया हुआ । लगाया हुआ । मुकर्रर । तैनात ।

नियोद्धा-संज्ञा पुं० [सं०] मल्ल योद्धा । कुश्ती लड़नेवाला । पहलवान ।

निर-अव्य० दे० “निर” ।

निरकार*—संज्ञा पुं० दे० “निराकार” ।

निरंकुश-वि० [सं०] जिसके लिये कोई अंकुश या प्रतिबंध न हो । जिस पर कोई दबाव न हो । जिसके लिये कोई रोक या बंधन न हो । बिना डर दाव का । बेकहा । स्वेच्छा-चारी । उ०—निपट निरंकुश अबुध अशंकु ।—तुलसी ।

निरंग-वि० [सं०] (१) अंगरहित । (२) केवल । खाली । जिसमें कुछ न हो । जैसे, यह दूध निरंग पानी है । (३) रूपक अलंकार का एक भेद ।

विशेष—रूपक दो प्रकार का होता है—एक अभेद दूसरा तादृश्य । अभेद रूपक भी तीन प्रकार का होता है—सम, अधिक और न्यून । इनमें से ‘सम अभेद रूपक’ के तीन भेद हैं—संग वा सावयव, निरंग वा निरवयव और परंपरित । जहाँ उपमेय में उपमान का इस प्रकार आरोप होता है कि उपमान के और सब अंग नहीं आते वहाँ निरवयव या निरंग रूपक होता है—जैसे, रैनन नौद न चैन हिये छिनहुँ घर में कछु और न भावै । सींचन को अब प्रेमलता यहि के हिय काम प्रवेश लखावै । यहाँ प्रेम में केवल लता का आरोप है उसके और अंगों या सामग्रियों का कथन नहीं है । निरंग वा निरवयव रूपक भी दो प्रकार का होता है—शुद्ध और मालाकार । ऊपर जो उदाहरण है वह शुद्ध निरवयव का है क्योंकि उसमें एक उपमेय में एक ही उपमान का (प्रेम में लता का) आरोप हुआ है । मालाकार निरवयव वह है जिसमें एक उपमेय में बहुत से उपमानों का आरोप हो । जैसे, भँवर सँदेह की अछेह आपरत यह, गेह त्यो अनम्रता

की देह दुति हारी है। दोष की निधान, कोटि कपट प्रधान
जामें, मान न विश्वास दुम ज्ञान की कुठारी है। कहै तोष
हरि स्वर्गद्वार की विघन धार, नरक अपार की विचार अधि-
कारी है। भारी भयकारी यह पाप की पिठारी नारी क्यों
करि विचारि याहि भाखैं सुख प्यारी है।

यहाँ एक स्त्री उपमेय में सँदेह का भँवर, अविनय का घर,
इत्यादि बहुत से आरोप किए गए हैं।

वि० [हि० उप० नि = नहीं + रंग] (१) बेरंग। बदरंग।
विवर्ण। (२) फीका। उदास। बेरौनक। उ०—सो धनि
पान चून भइ चोली। रंग रंगील, निरंग भइ डोली।—
जायसी।

निरंजन-वि० [सं०] (१) अंजन रहित। बिना काजल का।
जैसे निरंजन नेत्र। (२) क्लमपशून्य। दोषरहित। (३) माया
से निर्मल। (ईश्वर का एक विशेषण)

संज्ञा पुं० (१) परमात्मा। (२) महादेव।

निरंजना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पूणिमा। (२) दुर्गा का
एक नाम।

निरंजनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] साधुओं का एक संप्रदाय।

विशेष—कहते हैं कि इस संप्रदाय के प्रवर्तक कोई निरानंद
स्वामी थे। उन्होंने निरंजन, निराकार ईश्वर की उपासना
चलाई थी, इससे उनके संप्रदाय को निरंजनी संप्रदाय कहने
लगे। किंतु आजकल निरंजनी साधु रामानंद के मतानुसार
साकार उपासना ग्रहण करके उदासी वैष्णवों में हो गए हैं।
ये कौपीन पहनते तथा तिलक और कंठी धारण करते हैं।
मारवाड़ में इनके अखाड़े बहुत हैं।

निरंतर-वि० [सं०] (१) अंतर रहित। जिसमें या जिसके
बीच अंतर या फासला न हो। जो बराबर चला गया हो।
अविच्छिन्न। (देश के संबंध में)। (२) निबिड़। घना।
गमिन। (३) जिसकी परंपरा खंडित न हो। अविच्छिन्न।
लगातार होनेवाला। बराबर होनेवाला। जैसे, निरंतर
प्रवाह। (काल के संबंध में)। (४) सदा रहनेवाला।
बराबर बना रहनेवाला। अविचल। स्थायी। जैसे, निरंतर
नियम, निरंतर प्रेम। (५) जिसमें भेद वा अंतर न हो।
जो समान या एक ही हो। (६) जो अंतर्धान न हो। जो
दृष्टि से ओझल न हो।

क्रि० वि० लगातार। बराबर। सदा। हमेशा। जैसे, उन्नति
निरंतर होती आ रही है।

निरंध-वि० [सं० निरंध = जिससे बढ़कर अंधा न हो] (१) भारी
अंधा। (२) महा मूर्ख। ज्ञानशून्य। उ०—जाका गुरु
है आंधरा चेला खरा निरंध। अंधे को अंधा मिला परा काल
के फंद।—कबीर। (३) बहुत अंधेरा। उ०—अंध ज्यों अंधनि
साथ निरंध कुआँ परिहूँ न हिण पड़ितानो।—केशव।

वि० [सं० निरंधस्] बिना अंध का। निरंध।

निरंबु-वि० [सं०] (१) निर्जल। बिना पानी का। (२) जो
जल न पिए। जो बिना पानी के रहे। (३) जिसमें बिना
जल के रहना पड़े। जैसे, निरंबु व्रत।

निरंभ-वि० [सं० निरंभस्] (१) निर्जल। (२) जो पानी न
पिए। बिना पानी पिए रह जानेवाला। उ०—प्रात अरंभ
की खंभ लगी निरंभ निरंभ सँभारै न सासुनि।—
देव।

निरंश-वि० [सं०] (१) जिसे उसका भाग न मिला हो। उ०—
शेष सहस्र फन नाथि ज्यों सुस्पति करे निरंश। अग्निपान
क्रियो साँवरे कहा वापुरो कंस।—सूर।

विशेष—स्मृतियों में लिखा है कि पतित, कजीव आदि निरंश
हैं, इन्हें संपत्ति का भाग न मिलना चाहिए।

(२) बिना अंश का।

संज्ञा पुं० राशि के भोगकाल का प्रथम और शेष दिन।
संक्रांति।

निरकेवला-वि० [सं० निस् + केवल] (१) खाली। खालिस।
बिना मेल का। (२) स्वच्छ। साफ।

निरक्षदेवा-संज्ञा पुं० [सं०] भूमध्यरेखा के आसपास के देश
जिनमें रात और दिन बराबर होते हैं।

विशेष—पूर्व में भद्राश्ववर्ष और यमकोटि, दक्षिण में भारत-
वर्ष और लंका, पश्चिम में केतुमातवर्ष, रोमक, उत्तर
कुरु और सिद्धपुरी निरक्ष देश कहे गए हैं। (सूर्यसिद्धांत)

निरक्षन-संज्ञा पुं० दे० “निरिक्षण”। उ०—होत विलक्षण यज्ञ
विदेह की जात निरक्षन आपने अक्षन।—रघुराज।

निरक्षर-वि० [सं०] (१) अक्षरशून्य। (२) जिसने एक
अक्षर भी न पढ़ा हो। अनपढ़। मूर्ख।

यौ०—निरक्षर भट्टाचार्य—पंडित बना हुआ मूर्ख।

निरक्षरेखा-संज्ञा स्त्री० [सं०] नाडीमंडल। निरक्षवृत्त।
क्रांतिवृत्त।

निरखना-क्रि० सं० [सं० निरीक्षण] देखना। ताकना। अवलोकन
करना। उ०—बहुतक चढ़ी अटारिन्ह निरखहि गनन
विमान।—तुलसी।

निरग-संज्ञा पुं० दे० “नृग”।

निरगुन-वि० दे० “निर्गुण”।

निरगुनिया-वि० दे० “निरगुनी”।

निरगुन-वि० [सं० निर्गुण वा हिं० प्रत्य० निर + गुण] जिसमें
गुण न हो या जो गुणी न हो। अनाड़ी।

निरग्नि-वि० [सं०] अग्निहोत्र न करनेवाला। जो श्रौत और
स्मार्त्त विधि के अनुसार अग्निकर्म न करता हो।

निरञ्च-वि० [सं० निरिंचत] निश्चित। खाली। जिसे फुरसत
मिल गई हो। जिसने छुट्टी पाई हो। उ०—इस काम से

तो मैं निरचू हुई अब चलकर उस राजर्षि का वृत्तांत देखूँ।—लक्ष्मणसिंह।

निरञ्ज—वि० [सं० निरञ्जि] बिना आँख का। अंधा।

निरञ्जल—वि० दे० “निर्जल”।

निरञ्जी—संज्ञा स्त्री० [देश०] संगतशाश्वों की महीन टाँकी जिससे संगमर्मर पर काम बनाया जाता है।

निरञ्जोस—संज्ञा पुं० [सं० निरञ्जस] (१) निचोड़। (२) निरर्थक।

निरञ्जोसी—वि० [हिं० निरञ्जोस] (१) निचोड़ निकालनेवाला। (२) निरर्थक करनेवाला।

निरभर—संज्ञा पुं० दे० “निर्भर”।

निरभरनी—संज्ञा स्त्री० दे० “निर्भरिणी”।

निरभरी—संज्ञा स्त्री० पुं० दे० “निर्भरी”।

निरत—वि० [सं०] किसी काम में लगा हुआ। तत्पर। लीन। मशगूल।

संज्ञा पुं० दे० “नृत्य”।

निरतना—क्रि० सं० [सं० नर्तन] नाचना। नृत्य करना।

निरति—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अत्यंत रति। अधिक प्रीति। (२) जिस होने का भाव। लीन होने का भाव।

निरतिशय—वि० [सं०] जिससे और अतिशय न हो सके। हद दर्जे का।

संज्ञा पुं० परमेश्वर।

निरदई—वि० दे० “निर्दय”।

निरदय—वि० दे० “निर्दय”।

निरधातु—वि० [सं० निर्धातु] वीर्यहीन। शक्तिहीन। अशक्त।
उ०—धातु कमाय सिखे तू जोगी। अब कस अस निरधातु चियोगी।—जायसी।

निरधार—संज्ञा पुं० [सं०] निश्चय करने वा ठहराने का कार्य।

निरधारना—क्रि० सं० [सं० निर्धारण] (१) निश्चय करना। ठहराना। स्थिर करना। (२) मन में धारण करना। समझना। उ०—एक एक नग देखि अनेकन उडुगन वारिय। बसत मनहु सिमुमार चक्र तन इमि निरधारिय।—गोपाल।

निरना—वि० दे० “निरञ्जा”।

निरनुनासिक—वि० [सं०] जिसका उच्चारण नाक के संबंध से न हो। जैसे, निरनुनासिक वर्ण।

निरानुयाज्यानुयाग—संज्ञा पुं० [सं०] न्याय में एक निग्रहस्थान। दे० “निग्रहस्थान”।

निरनै—संज्ञा पुं० दे० “निरणै”।

निरञ्ज—वि० [सं०] (१) अन्नरहित। बिना अन्न का। (२) निराहार। जो अन्न न खाए हो। जैसे, उस दिन वह निरञ्ज रह गया।

निरञ्जा—वि० [सं० निरञ्ज] जो अन्न न खाए हो। निराहार।

मुहा०—निरन्ने मुहँ = बिना मुहँ में अन्न डाले। बिना कुछ खाए। वाली मुहँ। जैसे, यह दवा निरन्ने मुहँ पीनी चाहिए।

निरपना—वि० [सं० उप० निस्, निर + हिं० अपना] (१) जो अपना न हो। जो आत्मीय न हो। बिराना। गैर। बेगाना। उ०—जानकीजीवन ! मेरे रावरे बदन फेरे ठाउँ न समाउँ कहाँ सकल निरपने ?—तुलसी।

निरपराध—वि० [सं०] अपराध रहित। बेकसूर। निर्दोष।

कि० वि० बिना अपराध के। बिना कोई कसूर किए। जैसे, तुमने उसे निरपराध मारा।

निरपराधी—वि० दे० “निरपराध”।

निरपवर्त्त—संज्ञा पुं० [सं०] जिसमें भाजक के द्वारा भाग लगे। (गणित)

निरपवाद—वि० [सं०] (१) अपवादशून्य। जिसकी कोई गुराई न की जाय। (२) निर्दोष। (३) जिसका कभी अन्यथा न हो। जैसे, निरपवाद नियम।

निरपाय—वि० [सं०] जिसका विनाश न हो।

निरपेक्ष—वि० [सं०] (१) जिसे किसी बात की अपेक्षा या चाह न हो। बेपरवा। (२) जो किसी पर अवलंबित न हो। जो किसी पर निर्भर न हो। (३) जिसे कुछ लगाव न हो। अलग। तटस्थ।

संज्ञा पुं० (१) अनादर। (२) अवहेलना।

निरपेक्षा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अपेक्षा या चाह का अभाव। (२) लगाव का न होना। (३) अवज्ञा। परवा न होना। (४) निराशा।

निरपेक्षित—वि० [सं०] (१) जिसकी अपेक्षा या चाह न की गई हो। (२) जिसके साथ लगाव न रखा गया हो।

निरपेक्षी—वि० [सं० निरपेक्षिन्] (१) अपेक्षा या चाह न रखनेवाला। (२) लगाव न रखनेवाला।

निरवंसी—वि० [सं० निर्वंश] जिसे वंश या संतान न हो।

निरवर्त्ती—संज्ञा पुं० [सं० निवृत्त] विरागी। त्यागी।

निरबल—वि० दे० “निर्बल”।

निरबहना—क्रि० अ० [सं० निर्वहना] निभना। चला चलना। निर्वाह होना। उ०—ताते न तरनि ते, न सीरे सुधाकर हूँ ते सहज समाधि निरबही है।—तुलसी।

निरबान—संज्ञा पुं० दे० “निर्वाण”।

निरबिस्ती—संज्ञा स्त्री० दे० “निर्विषी”।

निरबेरा—संज्ञा पुं० दे० “निर्वेरा”।

निरभय—वि० दे० “निर्भय”।

निरभर—वि० दे० “निर्भर”।

निरभिमान—वि० [सं०] अहंकारशून्य। अभिमानरहित।

निरभिलाष—वि० [सं०] अभिलाषारहित। इच्छाशून्य।

निरञ्ज-वि० [सं०] बिना बादल का । मेघशून्य । जैसे, निरञ्ज आकाश ।

निरमना—क्रि० सं० [सं० निर्माण] निर्माण करना । बनाना ।
उ०—रूपरासि मनु बिधि निरमई—जायसी ।

निरमल—वि० दे० “निर्मल” ।

निरमली—संज्ञा स्त्री० दे० “निर्मली” ।

निरमसोर—संज्ञा पुं० [देश०] एक ओषधि या जड़ी जिससे अफीम के विष का प्रभाव दूर हो जाता है । यह पंजाब में होती है ।

निरमान—संज्ञा पुं० दे० “निर्माण” ।

निरमाना—क्रि० सं० [सं० निर्माण] बनाना । तैयार करना । रचना ।

निरमायल—संज्ञा पुं० दे० “निर्माल्य” ।

निरमित्र—वि० [सं०] जिसका कोई शत्रु न हो ।

संज्ञा पुं० (१) त्रिगर्त्तराज के एक पुत्र का नाम जो कुरुक्षेत्र की लड़ाई में मारा गया था । (२) चौथे पांडव नकुल के पुत्र का नाम ।

निरमूल—वि० दे० “निर्मूल” ।

निरमूलना—क्रि० सं० [सं० निर्मूलन] (१) निर्मूल करना । उखाड़ना । (२) नष्ट करना ।

निरमोल—वि० [सं० उप० निस्, निर + हिं० मोल] (१) जिसका मोल न हो । अनमोल । अमूल्य । (२) बहुत बढ़िया ।

निरमोही—वि० दे० “निर्मोही” ।

निरय—संज्ञा पुं० [सं०] नरक । दोख ।

निरयण—संज्ञा पुं० [सं०] अयन रहित गणना । ज्योतिष में गणना की एक रीति ।

विशेष—सूर्य्य राशिचक्र में निरंतर घूमता रहता है । उसके एक चक्र पूरे होने को वर्ष कहते हैं । ज्योतिष की गणना के लिये यह आवश्यक है कि सूर्य्य के अमण का आरंभ किसी स्थान से माना जाय । सूर्य्य के मार्ग में दो स्थान ऐसे पड़ते हैं जिन पर उसके आने पर रात और दिन बराबर होते हैं । इन दो स्थानों में से किसी स्थान से अमण का आरंभ माना जा सकता है । पर विषुवरेखा (सूर्य्य के मार्ग) के जिस स्थान पर सूर्य्य के आने से दिनमान की वृद्धि होने लगती है उसे वासंतिक विषुवपद कहते हैं । इस स्थान से आरंभ करके सूर्य्यमार्ग को ३६० अंशों में विभक्त करते हैं । प्रथम ३० अंशों को मेष, द्वितीय को वृष इत्यादि मानकर राशि विभाग द्वारा जो लग्नस्फुट और ग्रहस्फुट गणना करते हैं उसे ‘सायन’ गणना कहते हैं ।

पर गणना की एक दूसरी रीति भी है जो अधिक प्रचलित है । ज्योतिषगणना के आरंभकाल में मेषराशिस्थित अश्विनी नक्षत्र में आरंभ में दिन और रात्रिमान बराबर स्थिर

हुआ था । पर नक्षत्र गण खसकता जाता है । अतः प्रति वर्ष अश्विनी नक्षत्र विषुवरेखा से जहाँ खसका रहेगा वहीं से राशिचक्र का आरंभ और वर्ष का प्रथम दिन मानकर जो लग्नस्फुट गणना की जाती है उसे “निरयण” गणना कहते हैं । भारतवर्ष में अधिकतर पंचांग निरयण गणना के अनुसार बनाए जाते हैं । ज्योतिषियों में ‘सायन’ और ‘निरयण’ ये दो पक्ष बहुत दिनों से चले आ रहे हैं । बहुत से विद्वानों की राय है कि सायन मत ही ठीक है ।

निरर्थ—वि० [सं०] (१) अर्थहीन । (२) व्यर्थ । निष्फल ।

निरर्थक—वि० [सं०] (१) अर्थशून्य । बेमानी ।

विशेष—निरर्थक वाक्य काव्य का एक दोष माना गया है । (चंद्रालोक)

(२) न्याय में एक निग्रहस्थान । दे० “निग्रहस्थान” ।

(३) निष्प्रयोजन । व्यर्थ । बिना मतलब का । (४) निष्फल ।

जिससे कोई कार्यसिद्धि न हो । बेफायदा ।

निरवुद—संज्ञा पुं० [सं०] एक नरक का नाम ।

निरवग्रह—वि० [सं०] (१) प्रतिबंध रहित । स्वतंत्र । स्वच्छंद ।

(२) जो दूसरे की इच्छा पर न हो । (३) बिना विघ्न या बाधा का ।

निरवच्छिन्न—क्रि० वि० [सं०] (१) अनवच्छिन्न । जिसका सिलसिला न टूटे । (२) निरंतर । लगातार । (३) विशुद्ध । निर्मल ।

निरवद्य—वि० [सं०] [स्त्री० निरवद्या] जिसे कोई बुरा न कहे । अनिंद्य । निर्दोष । जिसमें कोई ऐब या बुराई न हो ।

निरवधि—वि० [सं०] (१) अपार । असीम । बेहद । (२) निरंतर । लगातार । बराबर । (३) सदा । सतत । हमेशा ।

निरवयव—वि० [सं०] अंगों से रहित । निराकार ।

निरवलंब—वि० [सं०] (१) अवलंबहीन । आधार-रहित । बिना सहारे का । (२) निराश्रय । जिसे कहीं टिकाना न हो । जिसका कोई सहायक न हो ।

निरवसित—वि० [सं०] जो ऊँची जातियों से अलग हो । जिसके भोजन या स्पर्श से पात्र आदि अशुद्ध हो जायें । (चांडाल आदि)

निरवस्कृत—वि० [सं०] परिष्कृत । साफ किया हुआ ।

निरवहालिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] प्राचीर ।

निरवाना—क्रि० सं० [हिं० निराना का प्रे०] निराने का काम कराना ।

निरवार—संज्ञा पुं० [हिं० निवारना] (१) निस्तार । छुटकारा । बचाव ।—उ० यही सोच सब पगि रहे कहूँ नहीं निरवार ।

ब्रज भीतर नंद भवन में घर घर यहै विचार ।—सूर ।

(२) बुझाने या सुलझाने का काम । (३) निवेटा । फँसला ।

निरवारना—क्रि० सं० [सं० निवारण] (१) टालना । रोकने-

वाली वस्तु को हटाना । छेड़ने या बाधा डालनेवाली वस्तु को दूर करना । उ०—आगे आगे लाल लता निरवारत, पाछे पाछे आवत नवल लाड़िली ।—नंददास । (२) बंधन आदि खोलना । मुक्त करना । छुड़ाना । उ०—ये सुकुमार बहुत दुख पाए सुत कुबेर के तारों । सूरदास प्रभु कहत मनहिं मन कर बंधन निरवारों ।—सूर । (३) छोड़ना । त्यागना । किनारे करना । उ०—राना देसपति लाजै, बापकुल रती जाति, मानि लीजै बात बेगि संग निरवारिण ।—प्रियादास । (४) गाँठ आदि छुड़ाना । सुलझाना । उ०—कबहुँ कान्ह आपने कर सों केसपास निरवारत ।—सूर । (५) निवटाना । निरर्थक करना । तै करना ।

निरवाह—संज्ञा पुं० दे० “निर्वाह” ।

निरशन—संज्ञा पुं० [सं०] भोजन का न करना । न खाने का भाव । लंघन । उपवास ।

वि० (१) भोजनरहित । जिसने खाया न हो या जो न खाय । (२) जिसके अनुष्ठान में भोजन न किया जाय । जो बिना कुछ खाए किया जाय । जैसे, निरशन व्रत ।

निरसंक—वि० दे० “निःशंक” ।

निरस—वि० [सं०] (१) जिसमें रस न हो । रसविहीन । (२) बिना स्वाद का । बदजायका । फीका । (३) असार । निस्तत्त्व । (४) रुखा । सूखा । (५) विरक्त । उ०—रे मन जग सो निरस है सरस राम सों होहि । भलो सिखावन हेतु है निसि दिन तुलसी तोहि ।—तुलसी ।

निरसन—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० निरसनीय, निरस्य] (१) फेंकना । दूर करना । हटाना । (२) खारिज करना । रद्द करना । (३) निराकरण । परिहार । उ०—सांगतार्थ तहँ करत भे कुँवर चारि गोलच्छ । प्रतिग्रह फल निरसन हितै दीने द्विजन प्रतच्छ ।—रघुराज । (४) निकालना । (५) थूकना । (६) नाश । (७) वध ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

निरसा—संज्ञा स्त्री० [सं०] निःश्रेणिका नाम की घास जो कोंकण देश में होती है ।

निरस्त—वि० [सं०] (१) फेंका हुआ । छोड़ा हुआ (जैसे, शर) । (२) त्याग किया हुआ । अलग किया हुआ । निकाला हुआ । दूर किया हुआ । (३) खारिज किया हुआ । रद्द किया हुआ । बिगाड़ा हुआ । निराकृत । (४) वर्जित । रहित । (५) थूका हुआ । उगला हुआ । (६) मुँह से अस्पष्ट रूप से जल्दी जल्दी बोला हुआ । शीघ्र उच्चारित (वाक्य आदि) ।

निरस्त्र—वि० [सं०] अस्त्रहीन । बिना हथियार का ।

निरस्य—वि० [सं०] निरसन के योग्य ।

निरहंकार—वि० [सं०] अभिमानरहित ।

निरहंकृत—वि० [सं०] अहंकारशून्य ।

निरहम्—वि० [सं०] अहंभाव-शून्य । अहंकाररहित ।

निरहेतु—वि० दे० “निर्हेतु” ।

निरहेला—वि० [सं०] हेय । अनादृत । तुच्छ । जिसकी कोई कदर न हो ।

निरा—वि० [सं०] निराख्य, पू० हिं० निराख [स्त्री० निरी] (१) विशुद्ध । बिना मेल का । खालिस । (२) जिसके साथ और कुछ न हो । केवल । एकमात्र । जैसे, निरी बकवाद से काम नहीं चलेगा । (३) निपट । नितांत । सर्वतोऽभावात् । एकदम । बिहकुल । जैसे, वह निरा बेवकूफ है ।

निराई—संज्ञा स्त्री० [हिं० निराना] (१) निराने का काम । फसल के पौधों के आसपास उगनेवाले तृण, घास, आदि को दूर करने का काम । (२) निराने की मजदूरी ।

निराकरण—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० निराकरणीय, निराकृत] (१) छूटना । अलग करना । (२) हटाना । दूर करना । (३) मिटाना । रद्द करना ।

(२) किसी बुराई को दूर करने का काम । शमन । निवारण । परिहार । (३) खंडन । युक्ति या दलील को काटने का काम । जैसे, किसी सिद्धांत का निराकरण ।

निराकांक्ष—वि० [सं०] जिसे आकांक्षा न हो ।

निराकांक्षी—वि० [सं०] निराकांक्षिन् [स्त्री० निराकांक्षिणी] निस्पृह । जिसे कुछ इच्छा न हो ।

निराकार—वि० [सं०] जिसका कोई आकार न हो । जिसके आकार की भावना न हो ।

संज्ञा पुं० (१) ब्रह्म । ईश्वर । (२) आकाश ।

निराकुल—वि० [सं०] (१) जो आकुल न हो । जो दुःख या डीवाडोल न हो । (२) जो घबराया न हो । अनुद्विग्न । (३) बहुत व्याकुल । बहुत घबराया हुआ । उ०—व्याकुल वाहु निराकुल बुद्धि धक्यौ बलविक्रम लंकपती को ।—केशव ।

निराकृत—वि० [सं०] (१) मिटाई हुई । रद्द की हुई । (२) दूर की हुई । हटाई हुई । (३) खंडन की हुई ।

निराकृति—संज्ञा स्त्री० [सं०] निराकरण । परिहार ।

वि० (१) आकृतिरहित । निराकार । (२) स्वाध्यायरहित । वेदपाठरहित । (३) पंचमहायज्ञ के अनुष्ठान से रहित । (मनु)

संज्ञा पुं० रोहित मनु के पुत्र । (हरिवंश)

निराक्रंद—वि० [सं०] (१) जहाँ कोई पुकार सुननेवाला न हो । जहाँ कोई रक्षा या सहायता करनेवाला न हो । (२) जो पुकार न सुने । जो रक्षा या सहायता न करे । (३) जिसकी पुकार न सुनी जाय । जिसकी कोई सहायता न करे ।

निराखर—वि० [सं०] निराखर [स्त्री० निराखरी] (१) जिसमें अक्षर न हों । बिना अक्षर का । (२) बिना अक्षर वा शब्द का । मौन । (३) जिसे अक्षर का बोध न हो । अपढ़ ।

निरागस्-वि० [सं०] पापरहित । निष्पाप ।

निराचार-वि० [सं० निः + आचार] आचारहीन ।

निराजी-संज्ञा स्त्री० [?] जुवाहों के करघे की वह लकड़ी जो हथे और तरौछी को मिलाने के लिये दोनों के सिरों पर लगी रहती है ।

निराट-वि० [हि० निराल] जिसके साथ और कुछ न हो । अकेला । एकमात्र । निरा । बिल्कुल । निपट । उ०—(क) प्रथम एक जो है किया भया सो बारह बाट । कसत कसौटी ना टिका पीतर भया निराट ।—कबीर । (ख) साधत देह प नेह निराट कहै मति कोई कहूँ अटकी सी ।—देव ।

निरातंक-वि० [सं०] (१) भयरहित । निर्भय । (२) रोग-शून्य । नीरोग ।

निरातपा-संज्ञा स्त्री० [सं०] रात्रि । रात ।

निरादर-संज्ञा पुं० [सं०] आदर का अभाव । अपमान । बेहज्ज़ती ।

क्रि० प्र०—करना ।

निरादान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आदान वा लेने का अभाव । (२) एक बुद्ध का नाम ।

निरादेश-संज्ञा पुं० [सं०] भुगताना । अदा करने वा चुकाने का काम ।

निराधार-वि० [सं०] (१) अवलंब वा आश्रय रहित । जिसे सहारा न हो या जो सहारे पर न हो । जैसे, वह निराधार ठहरा रहा । (२) जो प्रमाणों से पुष्ट न हो । बे-जड़ बुनियाद का । अयुक्त । मिथ्या । झूठ । जैसे, निराधार कल्पना । (३) जिसे या जिसमें जीविका आदि का सहारा न हो । (४) जो बिना अन्न जल आदि के हो । जैसे, उसने दूध तक न पिया, निराधार रह गया ।

निराधि-वि० [सं०] (१) रोगशून्य । नीरोग । (२) चिंता-रहित ।

निरानंद-वि० [सं०] आनंदरहित । जिसे आनंद न हो ।

संज्ञा पुं० (१) आनंद का अभाव । (२) दुःख ।

निराना-क्रि० सं० [सं० निराकरण] फसल के पौधों के आस पास उगी हुई घास को खोद कर दूर करना जिसमें पौधों की बाढ़ न रुके । नींदना । निकाना । उ०—कृषी निरावहिं चतुर किसान ।—तुलसी ।

निरापद-वि० [सं०] (१) जिसे कोई आपदा न हो । जिसे कोई आफत या डर न हो । सुरक्षित । (२) जिससे किसी प्रकार विपत्ति की संभावना न हो । जिससे हानि वा अनर्थ की आशंका न हो । जैसे, निरापद उपाय, औषध । (३) जहाँ अनर्थ वा विपत्ति की आशंका न हो । जहाँ किसी बात का डर या खतरा न हो । जैसे, निरापद स्थान ।

निरापन*-वि० [सं० उप० निः + हि० अपना] जो अपना न हो ।

पराया । बेगाना । उ०—(क) ज्यों मुख मुकुर विलोकिष्ट चित न रहै अनुहारि । त्यों सेवतहुँ निरापने ये मातु पिता सुत नारि ।—तुलसी । (ख) सब दुख आपने निरापने सकल सुख जौ लौं जन भयो न बजाय राजा राम को ।—तुलसी । (ग) ऐसन देह निरापन वौरे सुये लुबै नहिं कोई हो ।—कबीर ।

निरापुन-वि० दे० “निरापन” । उ०—जउ लहि जिउ आपुन सब कोई । बिनु जिय सबइ निरापुन होई ।—जायसी ।

निरामय-वि० [सं०] जिसे रोग न हो । नीरोग । भला चंगा । तंदुरुस्त ।

संज्ञा पुं० (१) जंगली बकरा । (२) सूअर । (३) कुशल ।

निरामालु-संज्ञा पुं० [सं०] कैथ का पेड़ । कपित्थ ।

निरामिष-वि० [सं०] (१) मांसरहित । जिसमें मांस न मिला हो । उ०—निरामिष भोजन । (२) जो मांस न खाय । उ०—वायस पालिय अति अनुरागा । होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा ।—तुलसी ।

निरार-वि० [हि० निराल वा निआरा, न्यारा] अलग । पृथक् । जुदा । उ०—(क) नीर खीर छानै दरबारा । दूध पानि सब करै निरारा ।—जायसी । (ख) बातहिं जानहुँ विषम पहारा । हिरदै मिला न होइ निरारा ।—जायसी ।

निरारा-वि० दे० “निरार” ।

निरालंब-वि० [सं०] (१) बिना आलंब या सहारे का । निराधार । (२) निराश्रय । बिना ठिकाने का ।

निरालंबा-संज्ञा स्त्री० [सं०] छोटी जटामासी ।

निरालक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की समुद्री मछली ।

निरालस-वि० दे० “निरालस्य” ।

निरालसी-संज्ञा पुं० [हि० निरालस] जो आलसी न हो ।

निरालस्य-वि० [सं०] जिसमें आलस्य न हो । तत्पर । फुरतीला । सुस्त ।

संज्ञा पुं० [सं०] आलस्य का अभाव ।

निराला-संज्ञा पुं० [सं० निरालय] [स्त्री० निराली] एकांत स्थान । ऐसा स्थान जहाँ कोई मनुष्य या वस्ती न हो । जैसे, (क) वहाँ निराला पड़ता है ; चोर डाकू होंगे । (ख) चलो निराले में बात करें ।

वि० (१) जहाँ कोई मनुष्य या वस्ती न हो । एकांत ।

निर्जन । (२) जिसके ऐसा दूसरा न हो । विजलण । सब से भिन्न । अद्भुत । अजीब । जैसे, निराला ढंग, निराली चाल ।

(३) जिसके जोड़ का दूसरा न हो । अनोखा । अनुपम ।

अनूठा । अपूर्व । बहुत बढ़िया ।

निरावना-क्रि० सं० दे० “निराव” ।

निरावलंब-वि० [सं०] बिना सहारे का । निराधार ।

निराश-वि० [हि० नि + आश] आशाहीन । जिसे आशा न हो ।
नाउम्मीद ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

निराशा-संज्ञा स्त्री० [सं०] नाउम्मीद । आशा का अभाव ।

निराशिष-वि० [सं०] (१) आशीर्वादशून्य । (२) तृष्णारहित ।

निराशी-वि० [सं० निराश] (१) हताश । नाउम्मीद । (२) आशा तृष्णा रहित । उदासीन । विरक्त । उ०—तनक नहीं तिथ को सुख जानत संसृति विषय निरासी ।—रघुराज ।

निराश्रय-वि० [सं०] (१) आश्रयरहित । आधारहीन । बिना सहारे का । (२) जिसे कहीं ठिकाना न हो । असहाय । अशरण । (३) जिसे शरीर आदि पर ममता न हो । निर्लस ।

निरास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दूर करना । निराकरण । (२) खंडन ।

*वि० दे० “निराश” ।

निरासन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दूर करना । निराकरण । (२) खंडन ।

वि० आसनरहित ।

निरासा-संज्ञा स्त्री० दे० “निराशा” ।

निरासी-वि० (१) दे० “निराशी” । (२) उदास । बेरौनक । जहाँ वा जिसमें चित्त प्रसन्न न हो । उ०—सूर श्याम बिनु यह बन सूने शशि बिनु रैन निरासी ।—सूर ।

निराहार-वि० [सं०] (१) आहाररहित । जो बिना भोजन के हो । जिसमें कुछ खाया न हो या जो कुछ न खाय । (२) जिसके अनुष्ठान में भोजन न किया जाता हो । जैसे, निराहार व्रत ।

निरिग-वि० [सं०] निश्चल । अचल ।

निरिगिणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] चिक । झिलझिली । परदा ।

निरिन्द्रिय-वि० [सं०] (१) इन्द्रियशून्य । जिसे कोई इन्द्रिय न हो । (२) जिसके हाथ, पैर, आँख, कान आदि न हों या काम के न हों ।

विशेष—मनु ने जन्मांध, क्लीव, पतित, जन्मवधिर, उन्मत्त, जड़, मूक इत्यादि को निरिन्द्रिय कहा है और इन्हें पितृधन के अनधिकारी ठहराया है ।

निरिच्छ-वि० [सं०] इच्छारहित । जिसे कोई इच्छा न हो ।

निरिच्छता-क्रि० सं० [सं० निरीक्षण] देखना । उ०—सुनि कै प्रतच्छ बीस अच्छ बध रच्छ सनि, बैठा जो समच्छ अच्छ अच्छनि सों लक्ष्यो है ।..... पच्छवान शैल सों विपच्छ पर पच्छिन पै, कौश को निरिच्छौ चमा छोहरी जो रक्ष्यो है ।—रघुराज ।

निरी-वि० स्त्री० दे० “निरा” ।

निरीक्षक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) देखनेवाला । (२) देख रेख करनेवाला ।

निरीक्षण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० निरीक्षित, निरीक्ष्य निरीक्ष्यमाण] (१) देखना । दर्शन । (२) देख रेख । निगरानी ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

(३) देखने की सुझा या ढंग । चितवन । (४) नेत्र । आँख ।

निरीक्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] देखना । दर्शन ।

निरीक्षित-वि० [सं०] (१) देखा हुआ । (२) देखा भाजा हुआ । जाँच किया हुआ ।

निरीक्ष्य-वि० [सं०] (१) देखने योग्य । (२) जाँच के लायक । निगरानी के लायक ।

निरीक्ष्यमाण-वि० [सं०] जिसको देखते हैं । जो देखा जाता हो ।

निरीति-वि० [सं०] ईतिरहित । अति वृष्टि आदि से रहित ।

निरीश-वि० [सं०] (१) जिसे ईश या स्वामी न हो । बिना मालिक का । (२) जिसकी समझ में ईश्वर न हो । अनीश्वरवादी । नास्तिक ।

संज्ञा पुं० हल का फाल ।

निरीश्वरवाद-संज्ञा पुं० [सं०] यह सिद्धांत कि कोई ईश्वर नहीं है ।

निरीश्वरवादी-संज्ञा पुं० [सं०] जो ईश्वर का अस्तित्व न माने ।

निरीष-संज्ञा पुं० [सं०] हल का फाल ।

निरीह-वि० [सं०] (१) चेष्टारहित । जो किसी बात के लिये प्रयत्न न करे । (२) जिसे किसी बात की चाह न हो । (३) उदासीन । विरक्त । जो सब बातों से किनारे रहे । (४) जो किसी बखेड़े में न पड़े । तटस्थ । (५) शांतिप्रिय ।

निरीहा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चेष्टा का अभाव । (२) चाह का न होना । विरक्ति ।

निरुआरा-संज्ञा पुं० दे० “निरुवार” ।

निरुआराना-क्रि० सं० दे० “निरुवारना” ।

निरुक्त-वि० [सं०] (१) निश्चय रूप से कहा हुआ । व्याख्या किया हुआ । (२) नियुक्त । ठहराया हुआ ।

संज्ञा पुं० छः वेदांगों में से एक । वेद का चौथा अंग ।

विशेष—वैदिक शब्दों के निर्वण्टु की जो व्याख्या यास्क मुनि ने की है उसे निरुक्त कहते हैं । इसमें वैदिक शब्दों के अर्थों का निर्णय किया गया है । वेद के शब्दों का अर्थ प्रकट करनेवाला प्राचीन आर्ष ग्रंथ यही है । यद्यपि यास्क ने शाक-पूर्ण्य और स्थौलष्ठीवी आदि अपने से पहले के निरुक्तकारों का उल्लेख किया है पर उनके ग्रंथ अब प्राप्त नहीं हैं । सायणाचार्य के अनुसार जिसमें एक शब्द के कई अर्थ वा पर्याय कहे गए हों वह निरुक्त है । काशिकावृत्ति के अनुसार निरुक्त पाँच प्रकार का होता है—वर्णागम (अक्षर बढ़ाना), वर्णविपर्यय (अक्षरों को आगे पीछे करना), वर्ण-

विकार (अक्षरों को बदलना), नाश (अक्षरों को छोड़ना) और धातु के किसी एक अर्थ को सिद्ध करना ।

निरुक्ति के १२ अध्याय हैं । प्रथम में व्याकरण और शब्दशास्त्र पर सूक्ष्म विचार हैं । इतने प्राचीन काल में शब्दशास्त्र पर ऐसा गूढ़ विचार और कहीं नहीं देखा जाता । शब्दशास्त्र पर दो मत प्रचलित थे इसका पता यास्क के निरुक्ति से लगता है । कुछ लोगों का मत था कि सब शब्द धातुमूलक हैं और धातु क्रियापद मात्र हैं जिनमें प्रत्ययादि लगाकर भिन्न भिन्न शब्द बनते हैं । यास्क ने इसी मत का मंडन किया है । इस मत के विरोधियों का कहना था कि कुछ शब्द धातुरूप क्रियापदों से बनते हैं पर सब नहीं, क्योंकि यदि “अश” से अश्व माना जाय तो प्रत्येक चलने या आगे बढ़नेवाला पदार्थ अश्व कहलावेगा । यास्क मुनि ने इसके उत्तर में कहा है कि जब एक क्रिया से एक पदार्थ का नाम पड़ जाता है तब वही क्रिया करनेवाले और पदार्थ को वह नाम नहीं दिया जाता । दूसरे पक्ष का एक और विरोध यह था कि यदि नाम इसी प्रकार दिए गए हैं तो किसी पदार्थ में जितने गुण हों उतने ही उसके नाम भी होने चाहिएँ । यास्क इस पर कहते हैं कि एक पदार्थ किसी एक गुण या कर्म से एक नाम को धारण करता है । इसी प्रकार और भी समझिए ।

दूसरे और तीसरे अध्याय में तीन निघंटुओं के शब्दों के अर्थ प्रायः व्याख्या सहित हैं, चौथे से छठे अध्याय तक चौथे निघंटु की व्याख्या हैं । सातवें से बारहवें तक पाँचवे निघंटु के वैदिक देवताओं की व्याख्या है ।

निरुक्ति—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) निरुक्ति की रीति से निर्वचन । किसी पद या वाक्य की ऐसी व्याख्या जिसमें व्युत्पत्ति आदि का पूरा कथन हो । (२) एक काव्यालंकार जिसमें किसी शब्द का मनमाना अर्थ किया जाय परंतु वह अर्थ सयुक्तिक हो । उ०—रूप आदि गुण सों भरी तजि कै ब्रज बनितान उद्धव कुबजा बस भय, निर्गुण वहै निदान । तात्पर्य यह कि गुणवती ब्रज बनितियों को छोड़कर ‘गुणरहित’ कुबजा के वश होने से कृष्ण अब सचमुच ‘निर्गुण’ हो गए हैं ।

निरुच्छवास—वि० [सं०] (१) (स्थान) जहाँ बहुत से लोग न अट सकें । सँकरा । संकीर्ण । (२) जहाँ ठसठस लोग भरे हों । जहाँ खड़े होने तक की जगह न हो ।

निरुज—वि० दे० “निरुज” ।

निरुत्तर—वि० [सं०] (१) जिसका कुछ उत्तर न हो । लाजवाब ।

(२) जो उत्तर न दे सके । जो कायल हो जाय । उ०—बंशुबधूरत कहि कियो बचन निरुत्तर बाखि ।—तुलसी ।

निरुत्साह—वि० [सं०] उत्साहहीन । जिसे उत्साह न हो ।

निरुद्ध—वि० [सं०] रुका हुआ । बँधा हुआ ।

संज्ञा पुं० योग में पाँच प्रकार की मनोवृत्तियों में से एक ।

२२६

चित्त की वह अवस्था जिसमें वह अपनी कारणीभूत प्रकृति को प्राप्त होकर निश्चेष्ट हो जाता है ।

विशेष—मन की वृत्तियाँ योग में पाँच मानी गई हैं—चित्त, मूढ़, विचित्र, एकग्र और निरुद्ध । चित्त के डाँवाडोल रहने को चिसावस्था, कर्त्तव्याकर्त्तव्य-ज्ञानशून्य होने को मूढ़ावस्था, चंचलता के बीच बीच में चित्त की स्थिरता को विचिसावस्था, और एक वस्तु पर निश्चल रूप से स्थिर होने को एकग्रवस्था कहते हैं । एकग्र के उपरांत फिर निरुद्ध अवस्था की प्राप्ति होती है जिसमें स्थिर होने के लिये किसी वस्तु के अवलंबन की आवश्यकता नहीं होती, चित्त अपनी प्रकृति में ही स्थिर हो जाता है ।

निरुद्ध शुद्ध—संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें मलद्वार बंद सा हो जाता है और मल बहुत थोड़ा थोड़ा और कष्ट से निकलता है ।

निरुद्ध प्रकाश—संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें मूत्रद्वार बंद सा हो जाता है और पेशाब बहुत रुक रुक कर और थोड़ा थोड़ा होता है ।

निरुद्यम—वि० [सं०] जिसके पास कोई उद्यम न हो । उद्योग-रहित । बेकाम ।

निरुद्यमता—संज्ञा स्त्री० [सं०] निरुद्यम होने की क्रिया या भाव । बेकारी ।

निरुद्यमी—संज्ञा पुं० [सं० निरुद्यामिन्] जो कोई उद्यम न करता हो । बेकार । निकम्मा ।

निरुद्योग—वि० [सं०] जिसके पास कोई उद्योग न हो । उद्योग-रहित । बेकार । निकम्मा ।

निरुद्योगी—संज्ञा पुं० [सं० निरुद्योगिन] जो कुछ उद्योग न करे । निकम्मा । बेकार ।

निरुद्वेग—वि० [सं०] उद्वेग से रहित । निश्चित ।

निरुपद्रव—वि० [सं०] जिसमें कोई उपद्रव न हो । जो उत्पात या उपद्रव न करता हो ।

निरुपद्रवता—संज्ञा स्त्री० [सं०] निरुपद्रव होने की क्रिया या भाव ।

निरुपद्रवी—संज्ञा पुं० [सं० निरुपद्रविन्] जो उपद्रव न करे । शांत ।

निरुपधि—वि० [सं०] जिसमें किसी प्रकार की उपाधि न हो । जो उपद्रव न करता हो ।

निरुपपत्ति—वि० [सं०] जिसकी कोई उपपत्ति न हो ।

निरुपभोग—वि० [सं०] जिसका कोई उपभोग न हो ।

निरुपम—वि० [सं०] जिसकी उपमा न हो । उपमारहित । बेजोड़ ।

संज्ञा पुं० [सं०] राष्ट्रकूट वंश के एक राजा का नाम ।

निरुपमा—संज्ञा स्त्री० [सं०] गायत्री का एक नाम ।

निरूपयोगी-वि० [सं०] जो उपयोग में न आ सके । व्यर्थ ।
निरर्थक ।

निरुपाख्य-वि० [सं०] (१) जिसकी व्याख्या न हो सके । (२) जो बिल्कुल मिथ्या हो और जिसके होने की कोई संभावना न हो ।

संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्म ।

निरुपाधि-वि० [सं०] (१) उपाधिरहित । बाधरहित । (२) माधारहित ।

संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्म ।

विशेष—उपाधि के नष्ट हो जाने पर जीव को ब्रह्म का रूप प्राप्त हो जाता है ।

निरुपाय-वि० [सं०] (१) जो कुछ उपाय न कर सके ।
(२) जिसका कोई उपाय न हो ।

निरुपेक्ष-वि० [सं०] जिसमें उपेक्षा न हो । उपेक्षारहित ।

निरुवरणा*—क्रि० अ० [सं० निवारण] कठिनता आदि का दूर होना । सुलभना । उ०—अस संयोग ईश जब करई । तबहुँ कदाचित् सो निरुवरई ।—तुलसी ।

निरुवारा*—संज्ञा पुं० [सं० निवारण] (१) छुड़ाने का काम । मोचन । (२) छुटकारा । बचाव । (३) सुलभाने का काम । उलभन मिटाने का काम । (४) तै करने का काम । निबटाने का काम । (५) निर्याय । फैसला । उ०—कहौ जाय करैं युद्ध विचार । साँच भूट होयहै निरुवार ।—सूर ।

निरुवारना*—क्रि० स० [हिं० निरुवार] (१) छुड़ाना । मुक्त करना । बंधन आदि खोलना । (२) सुलभाना । फँसी या गुथी हुई वस्तुओं को अलग अलग करना । उलभन मिटाना । उ०—तब सोइ बुद्धि पाय उजियारा । उर गृह बैठि ग्रंथि निरुवारा ।—तुलसी । (३) तै करना । निबटाना । निर्याय करना । फैसला करना ।

विशेष—दे० “निरवारना” ।

निरुद्ध-वि० [सं०] (१) उत्पन्न । (२) प्रसिद्ध । विख्यात । (३) अविवाहित । कुँआरा ।

संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का पशु-याग ।

निरुद्ध-लक्षणा—संज्ञा स्त्री० [सं०] वह लक्षणा जिसमें शब्द का गृहीत अर्थ रूढ़ हो गया हो अर्थात् वह केवल प्रसंग वा प्रयोजनवश ही न ग्रहण किया गया हो । जैसे, कर्म-कुशल । कुशल शब्द का मुख्य अर्थ है कुश उखाड़ने में प्रवीण । पर यहाँ लक्षणा द्वारा वह साधारणतः दक्ष या प्रवीण के अर्थ में ग्रहण किया जाता है ।

निरुद्धवस्ति—संज्ञा स्त्री० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार की वस्ति या पिचकारी जिसमें रोगी की गुदा में एक विशेष प्रकार की नली के द्वारा कुछ ओषधियाँ पहुँचाई जाती हैं । यह क्रिया ङाकटरी एनिमा की क्रिया के समान ही होती है ।

निरुद्धा—संज्ञा स्त्री० दे० “निरुद्ध-लक्षणा” ।

वि० [सं०] अविवाहिता । कुँआरी ।

निरुद्धि—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) निरुद्ध-लक्षणा । (२) प्रसिद्धि ।

निरूप-वि० [हिं० नि + रूप] (१) रूपरहित । निराकार ।

उ०—मोहन माँग्यो अपने रूप । यहि ब्रज बसत अँचै तुम बैठीं ताबिन वहाँ निरूप ।—सूर । (२) कुरूप । बदशकल । उ०—मदन निरूपम निरूपन निरूप भयो चंद बहुरूप अनुरूप कै बिचारिये ।—केशव ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) वायु । (२) देवता । (३) आकाश ।

निरूपक-वि० [सं०] किसी विषय का निरूपण करनेवाला ।

निरूपण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रकाश । (२) किसी विषय का विवेचनापूर्वक निर्याय । विचार । (३) निदर्शन ।

निरूपना*—क्रि० अ० [सं० निरूपण] निर्याय करना । ठहराना ।

निश्चित करना । उ०—(क) नेति नेति जेहि वेद निरूपा ।

—तुलसी । (ख) भगति निरूपहिँ भगत कलि निंदहिँ वेद पुरान ।—तुलसी ।

निरूपम-वि० दे० “निरूपम” ।

निरूपित-वि० [सं०] निरूपण किया हुआ । जिसकी विस्तृत विवेचना हो चुकी हो । जिसका निर्याय हो चुका हो ।

निरूप्य-वि० [सं०] जो निरूपण करने योग्य हो ।

निरुहवस्ति—संज्ञा स्त्री० दे० “निरुहवस्ति” ।

निर्गृहीति—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नैर्ऋत कोण की स्वामिनी । (२) राक्षसी । (३) मृत्यु । (४) दरिद्रता । (५) विपत्ति ।

निरेखना*—क्रि० स० [सं० निरीक्षण] देखना । निरखना । उ०—(क) हनुमान भये डग औरई से गज लौं गति मंद निरेखो री ।—हनुमान । (ख) न टरैं मन मोहनौ चाहि रहैं सब सौतैं सकानी निरेखियो री ।—हनुमान ।

निरै*—संज्ञा पुं० [सं० निरय] नरक ।

निरोगा*—वि० [सं० निरोग] रोगरहित । जिसे कोई रोग न हो । स्वस्थ ।

निरोगी*—संज्ञा पुं० [सं० निरोग] वह व्यक्ति जिसे कोई रोग न हो । स्वस्थ । तंदुरुस्त ।

निरोठा*—वि० [देश०] बदसूरत । बदशकल । कुरूप ।

निरोध—संज्ञा पुं० [सं०] (१) रोक । अवरोध । रुकावट । बंधन । (२) घेरा । घेर लेना । उ०—तब रावण सुनि लंका निरोध । उपज्यो तन मन अति परम क्रोध ।—केशव । (३) नाश । (४) योग में चित्त की समस्त वृत्तियों को रोकना जिसमें अभ्यास और वैराग्य की आवश्यकता होती है । चित्त-वृत्तियों के निरोध के उपरांत मनुष्य को निर्बीज समाधि प्राप्त होती है ।

निरोधक-वि० [सं०] रोकनेवाला । जो रोकता हो ।

निरोधन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) रोक । रुकावट । (२) पारे का छटा संस्कार । (वैद्यक)

निरोध-परिणाम-संज्ञा पुं० [सं०] योग शास्त्र के अनुसार चित्त-वृत्ति की वह अवस्था जो व्युत्थान और निरोध के मध्य में होती है।

विशेष—योगशास्त्र में चित्त, मूढ, विचित्र इन तीन राजसिक परिणामों को व्युत्थान कहते हैं और विशुद्ध सत्त्वगुण की प्रधानता होने पर जो अवस्था प्राप्त होती है उसे निरोध कहते हैं। जब व्युत्थान से उत्पन्न संस्कारों का अंत हो जाता है और निरोध का आरंभ होने को होता है तब चित्त का थोड़ा थोड़ा संबंध दोनों ओर रहता है। उस अवस्था को निरोध-परिणाम कहते हैं।

निरोधी-वि० [सं० निरोधिन्] निरोध करनेवाला। प्रतिबंध या रुकावट करनेवाला।

निर्ख-संज्ञा पुं० [फा०] भाव। दर।

थौ०—निर्ख-दारोगा। निर्खनामा। निर्खबंदी।

क्रि० प्र०—सुकरंर करना।

निर्ख-दारोगा-संज्ञा पुं० [फा०] सुसलमानों के राजत्वकाल में बाजार का वह दारोगा जो चीजों के भाव या दर आदि की निगरानी करता था।

निर्खनामा-संज्ञा पुं० [फा०] सुसलमानों के राजत्वकाल की वह सूची जिसमें बाजार की प्रत्येक वस्तु का भाव लिखा रहता था।

निर्खबंदी-संज्ञा स्त्री० [फा०] किसी चीज का भाव या दर निश्चित करने की क्रिया।

निर्गंध-वि० [सं०] जिसमें किसी प्रकार की गंध न हो। गंधहीन।

निर्गंधता-संज्ञा स्त्री० [सं०] निर्गंध होने की क्रिया या भाव।

निर्गंधपुष्पी-संज्ञा पुं० [सं०] सेमर का पेड़।

निर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] देश।

निर्गत-वि० पुं० [सं०] [स्त्री० निर्गता] निकला हुआ। बाहर आया हुआ।

निर्गम-संज्ञा पुं० [सं०] निकास।

निर्गमन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) निकलने का काम। निकलना। (२) द्वार जिसमें से होकर निकलते हैं।

निर्गमना-क्रि० अ० [सं० निर्गमन] निकलना। उ०—इक प्रवि-सहिं इक निर्गमहिं भीर भूप दरबार।—तुलसी।

निर्गर्व-वि० [सं०] जिसे किसी प्रकार का गर्व या अभिमान न हो।

निर्गुंठी-संज्ञा स्त्री० दे० “निर्गुंठी”।

निर्गुंठी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का झुप जिसके प्रत्येक साँके में अरहर की पत्तियों के समान पाँच पाँच पत्तियाँ होती हैं जिनका ऊपरी भाग नीला और नीचे का भाग सफेद होता है। इसकी अनेक जातियाँ हैं। किसी में काले और किसी में सफेद फूल लगते हैं। फूल आम के सौर के समान मंजरी के रूप में लगते हैं और केसरिया रंग

के होते हैं। वैद्यक में इसे स्मरण-शक्ति-वर्धक, गरम, रूखी, कसैली, चरपरी, हलकी, नेत्रों के लिये हितकारी तथा शूल, सूजन, आमवात, कृमि, प्रदर, कोढ़, अरुचि, कफ, और ज्वर को दूर करनेवाली माना है। औषधियों में इसकी जड़ का व्यवहार होता है। सँभालू। सम्हालू। सिंदुवार।

पर्या०—नीलिका। नीलनिर्गुंठी। सिंदुक। नीलसिंदुक। पीतसहा। भूतकेशी। इंद्राणी। कपिका। शेफालिका। शीतभीरु। नीलमंजरी। वनजा। मरुपत्री। कर्तरीपत्रा।

निर्गुंठीकल्प संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार निर्गुंठी और शहद को मिलाकर एक विशेष प्रकार से तैयार की हुई औषध जो आँखों की ज्योति बढ़ानेवाली, और कोढ़, गुल्म, शूल, प्लीहा, बदर आदि रोगों को दूर करनेवाली तथा बहुत ही पौष्टिक समझी जाती है।

निर्गुंठीतैल-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक विशेष प्रकार से तैयार किया हुआ निर्गुंठी का तेल जो सब प्रकार के फोड़े, फुंसियों, अपचों तथा कंठमाला आदि को अच्छा करनेवाला माना जाता है।

निर्गुण-संज्ञा पुं० [सं०] सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों से परे। परमेश्वर।

वि० [सं०] (१) जो सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों से परे हो। (२) जिसमें कोई अच्छा गुण न हो। बुरा। खराब।

निर्गुणता-संज्ञा स्त्री० [सं०] निर्गुण होने की क्रिया या भाव।

निर्गुणिया-वि० [सं० निर्गुण + इया (प्रत्य०)] वह जो निर्गुण ब्रह्म की उपासना करता हो।

निर्गुणी-वि० [सं० निर्गुण] जिसमें कोई गुण न हो। गुणों से रहित। मूर्ख।

निर्गुन-वि० दे० निर्गुण”।

निर्गूढ़-संज्ञा पुं० [सं०] वृक्ष का कोटर।

वि० [सं०] जो बहुत ही गूढ़ हो।

निर्ग्रन्थ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बौद्ध ग्रन्थक। (२) दिगंबर। (३) एक प्राचीन मुनि का नाम।

वि० [सं०] (१) निर्धन। गरीब। (२) मूर्ख। बेवकूफ।

(३) जिसे कोई सहायता देनेवाला न हो। निःसहाय।

निर्घट-संज्ञा पुं० [सं०] शब्द या ग्रंथ सूची। फिहरिस्त।

निर्घट-संज्ञा पुं० [सं०] वह हाट या बाजार जहाँ किसी प्रकार का राजकर न लगता हो।

निर्घात-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह शब्द जो हवा के बहुत तेज चलने से होता है।

विशेष—फलित ज्योतिष के अनुसार दिन के भिन्न भिन्न भागों में इस प्रकार के शब्द होने के भिन्न भिन्न शुभ और अशुभ

परिणाम होते हैं। जिस समय निर्घात होता हो उस समय किसी प्रकार का संगल कार्य करना निषिद्ध है।

(२) बिजली की कड़क। (३) प्राचीन काल का एक प्रकार का अस्त्र।

निर्घातन—संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार अस्त्रचिकित्सा की एक क्रिया का नाम।

निर्घृण—वि० [सं०] (१) जिसे घृणा न हो। जिसे गंदी और बुरी वस्तुओं से घिन न लगे। (२) जिसे बुरे कामों से घृणा या लज्जा न हो। (३) बिना घृणावाले मनुष्यों का। अति नीच। अयोग्य। निक्कमा। निर्दित। उ०—ज्यों ज्यों करके अपने निर्घृण जीवन को बिताने का मनसूबा मैंने ठान लिया।—सरस्वती। (४) निर्दय। बेरहम। दयाहीन। उ०—रावण क्यों न तउथो तब ही हूँ। सीय हरी जवहीं वह निर्घृण।—देशव।

निर्घोष—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० निर्घोषित] शब्द। आवाज।

वि० [सं०] शब्द-रहित।

निर्घा—संज्ञा पुं० [सं०] चंचु नामक साग। विशेष—दे०—“चंचु”।

निर्घल—वि० [सं०] निश्चल। जिसे किसी प्रकार का छल या कपट न आता हो। निष्कपट।

निर्जन—वि० [सं०] वह स्थान जहाँ कोई मनुष्य न हो। सुनसान।

निर्जर—वि० [सं०] जिसे कभी बुढ़ापा न आवे। कभी बुढ़ा न होनेवाला।

संज्ञा पुं० (१) देवता।

विशेष—देवता लोग जरा अर्थात् बुढ़ापे से सदा बचे हुए माने जाते हैं, इसी लिये वे “निर्जर” कहलाते हैं।

(२) सुधा। अमृत।

निर्जरा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गुडुच। गिलोय। (२) ताल-पर्ण। (३) संचित कर्म का तप द्वारा निर्जरण या क्षय करना। (जैन०)

निर्जल—वि० [सं०] (१) बिना जल का। जल के संसर्ग से रहित। (२) जिसमें जल पीने का विधान न हो। जैसे, निर्जल व्रत।

संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जहाँ जल बिलकुल न हो।

निर्जल व्रत—संज्ञा पुं० [सं०] वह व्रत या उपवास जिसमें व्रती जल तक न पीए।

निर्जला एकादशी—संज्ञा स्त्री० [सं०] जेठ सुदी एकादशी तिथि, जिस दिन लोग निर्जल व्रत रखते हैं।

निर्जित—संज्ञा पुं० [सं०] (१) जीता हुआ। जिसे जीत लिया हो। (२) जो वश में कर लिया गया हो।

निर्जीव—वि० [सं०] (१) जीवरहित। बेजान। मृतक। प्राणहीन। (२) अशक्त या वत्साहरीन।

निर्भर—संज्ञा पुं० [सं०] किसी ऊँचे स्थान अथवा पर्वत से निकला हुआ पानी का भरना। सोता। चरमा।

निर्णय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) औचित्य और अनौचित्य आदि का विचार कर के किसी विषय के दो पक्षों में से एक पक्ष को ठीक ठहराना। किसी विषय में कोई सिद्धांत स्थिर करना। निश्चय। (२) वादी और प्रतिवादी की बातों को सुन कर उनके सत्य अथवा असत्य होने के संबंध में कोई विचार स्थिर करना। फैसला। निबटारा। (स्मृतियों में यह चतुष्पाद व्यवहार का अंतिम पाद है)। (३) मीमांसा में किसी स्थिर सिद्धांत से कोई परिणाम निकालना।

निर्णयोपमा—संज्ञा पुं० [सं०] एक अर्थालंकार जिसमें उपमेय और उपमान के गुणों और दोषों की विवेचना की जाती है।

निर्णीत—वि० [सं०] निर्णय किया हुआ। जिसका निर्णय हो चुका हो।

निर्त—संज्ञा पुं० [सं०] नृत्य। नाच।

निर्तक—संज्ञा पुं० [सं०] नर्तक। (१) नाचनेवाला। नट। (२) भांड।

निर्जना—वि० [सं०] नृत्य। नाचना। नृत्य करना।

निर्दंड—वि० [सं०] जिसे सब प्रकार के दंड दिए जा सकें।

संज्ञा पुं० [सं०] शूद्र जिसे सब प्रकार के दंड दिए जा सकते हैं।

निर्दंभ—वि० [सं०] जिसे दंभ या अभिमान न हो। दंभहीन।

निर्दई—वि० दे० “निर्दय”।

निर्दय—वि० [सं०] जिसे कुछ भी दया न हो। निष्ठुर। बेरहम।

निर्दयता—संज्ञा स्त्री० [सं०] निर्दय होने की क्रिया या भाव। बेरहमी। निष्ठुरता।

निर्दयी—वि० दे० “निर्दय”।

निर्दहन—संज्ञा पुं० [सं०] भिलावे का पेड़।

निर्दहना—क्रि० सं० [सं०] दहन। जला देना। उ०—को न क्रोध निर्दहो काम बल केहि नहि कीन्हा।—तुलसी।

निर्दहनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] मूर्खता। चूरनहार। मुरा। मरोड़फली।

निर्दिष्ट—वि० [सं०] (१) जिसका निर्देश हो चुका हो। (२) बतलाया या नियत किया हुआ। जिसके संबंध में पहले ही कुछ बतलाया या निश्चय कर दिया गया हो। ठहराया हुआ। जैसे, (क) सब लोग निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच गए। (ख) आप निर्दिष्ट समय पर आ जाइएगा।

निर्दोष—वि० दे० “निर्दोष”।

निर्देश—संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी पदार्थ को बतलाना। (२) ठहराना या निश्चित करना। (३) आज्ञा। हुक्म। (४) कथन। (५) उल्लेख। जिक्र। (६) वर्णन। (७) नाम। संज्ञा।

निर्दोष-वि० [सं०] (१) जिसमें कोई दोष न हो। बे-पेव। बे-दाग। (२) जिसने कोई अपराध न किया हो। बेकसूर।
निर्दोषता-संज्ञा स्त्री० [सं० निर्दोष + ता (प्रत्य०)] निर्दोष होने की क्रिया या भाव। अकलंकता। शुद्धता। दोष-विहीनता।

निर्दोषी-वि० दे० “निर्दोष (२)”।

निर्द्वंद्व, निर्द्वंद्व-वि० [सं०] (१) जिसका कोई विरोध करनेवाला न हो। जिसका कोई द्वंद्वी न हो। (२) जो राग, द्वेष, मान, अपमान आदि द्वंद्वों से रहित या परे हो। (३) स्वच्छंद। बिना बाधा का।

निर्धन-वि० [सं०] जिसके पास धन न हो। धनहीन। गरीब। दरिद्र। कंगाल।

निर्धनता-संज्ञा स्त्री० [सं०] निर्धन होने की क्रिया या भाव। गरीबी। कंगाली। दरिद्रता।

निर्धर्म-संज्ञा पुं० [सं०] जो धर्म से रहित हो।

निर्धार, निर्धारण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ठहराना या निश्चित करना। (२) निश्चय। निर्णय। उ०—करि राख्यो निराधार यह मैं लखि नारी ज्ञान। वहै वैद औषधि वहै वहै जु रोगनिदान।—बिहारी। (३) न्याय के अनुसार किसी एक जाति के पदार्थों में से गुण वा कर्म आदि के विचार से कुछ को अलग करना। जैसे, काली गौएँ बहुत दूध देनेवाली होती हैं। यहाँ “गो” जाति में से अधिक दूध देनेवाली होने के कारण काली गौएँ पृथक् की गई हैं।

निर्धारना-क्रि० सं० [सं० निर्धारण] निश्चित करना। निर्धारित करना। ठहराना।

निर्धारित-वि० [सं०] जिसका निर्धारण हो चुका हो। निश्चित किया हुआ। ठहराया हुआ।

निर्धूत-वि० [सं०] धोया हुआ। उ०—साधु पद सखिल निर्धूत कलमप सकल स्वपच जवनादि कैवल्यभागी।—तुलसी।
वि० [सं०] (१) खंडित। टूटा हुआ। (२) जिसका त्याग कर दिया गया हो।

निर्निमित्त, निर्निमित्तक-वि० [सं०] अकारण। बिना वजह।
निर्निमेष क्रि० वि० [सं०] बिना पलक रूपकाए। एकटक।

वि० (१) जो पलक न गिरावे। (२) जिसमें पलक न गिरे। जैसे, निर्निमेष दृष्टि।

निर्णय-वि० दे० “निष्पत्ति”।

निर्णय-वि० दे० “निष्पत्ति”।

निर्वैद्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रुकावट। अड़चन। (२) जड़। हठ। (३) आग्रह।

निर्वल-वि० [सं०] बलहीन। कमजोर।

निर्वलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] कमजोरी।

निर्वहना-क्रि० अ० [सं० निर्वहन] (१) पार होना। अलग होना। दूर होना। उ०—जे नाथ करि करुणा बिलोके त्रिविध

दुख ते निर्वहे।—तुलसी। (२) क्रम का चलना। निम्नना। पालन होना। उ०—जासों बात राम की कही। प्रीति न काहू सों निर्वही।—कबीर।

निर्वाचन-संज्ञा पुं० दे० “निर्वाचन”।

निर्वाण-संज्ञा पुं० दे० “निर्वाण”।

निबुद्धि-वि० [सं०] जिसे बुद्धि न हो। मूर्ख। बेवकूफ।

निर्बोध-वि० [सं०] जिसे कुछ भी बोध न हो। जिसे अच्छे बुरे का कुछ भी ज्ञान न हो। अज्ञान। अनजान।

निर्भय-वि० [सं०] (१) जिसे कोई डर न हो। निडर। बेखौफ।
संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार शैव्य मनु के एक पुत्र का नाम। (२) बढ़िया घोड़ा।

निर्भयता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) निडरपन। निडर होने का भाव। (२) निडर होने की अवस्था।

निर्भर-वि० [सं०] (१) पूर्ण। भरा हुआ। उ०—सबके उर निर्भर हरष पूरित पुलक शरीर। कबहिं देखिवै नयन भरि राम लपन दोड बीर।—तुलसी। (२) युक्त। मिला हुआ। (३) अवलंबित। आश्रित। मुनहसर।
संज्ञा पुं० [सं०] वह सेवक जिसे वेतन न दिया जाता हो। बेगार।

निर्भर्त्सन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भर्त्सन। डाँट डपट। तिरस्कार। (२) निंदा। (३) अलगाव।

निर्भर्त्सना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) डाँट डपट। बुरा भला कहना। (२) निंदा। बदनामी।

निर्भीक-वि० [सं०] बेडर। निडर। जिसे डर न हो।

निर्भीकता-संज्ञा स्त्री० [सं०] निर्भीक होने की क्रिया या भाव।

निर्भीत-वि० [सं०] जिसे भय न हो। निडर।

निर्भूति-संज्ञा स्त्री० [सं०] अंतर्धान होना। गायब होना।

निर्भ्रम-वि० [सं०] अमरहित। शंकाहित। जिसमें कोई संदेह न हो।

क्रि० वि० निधङ्क। बेखटके। बिना संकोच के। स्वच्छंदता से। बेडर। उ०—श्यामा श्याम सुभग जमुना जब निर्भ्रम करत विहार।—सूर।

निर्भ्रत-वि० [सं०] (१) अमरहित। निश्चित। जिसमें कोई संदेह न हो। (२) जिसको कोई भ्रम न हो।

निर्मथ-संज्ञा पुं० [सं०] अरणी जिसे रगड़कर यज्ञों के लिये आग निकालते हैं।

निर्मथ्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] नालिका या नली नाम का गंध-द्रव्य।
निर्मा-क्रि० सं० दे० “निर्माना”।

निर्मम-वि० [सं०] जिसे ममता न हो। जिसको कोई वासना न हो।

निर्मल-वि० [सं०] (१) मलरहित। साफ। स्वच्छ। (२) पाप-रहित। शुद्ध। पवित्र। (३) दोषरहित। निर्दोष। कलंकहीन।
संज्ञा पुं० (१) अन्नक। (२) निर्मली।

निर्मलता—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सफाई । स्वच्छता । (२) निष्कलंकता । (३) शुद्धता । पवित्रता ।

निर्मला—संज्ञा पुं० [सं० निर्मल] (१) एक नानकपंथी संप्रदाय जिसके प्रवर्तक रामदास नामक एक महात्मा थे । इस संप्रदाय के लोग गेरुए वस्त्र पहनते और साधु-संन्यासियों की भाँति रहते हैं । (२) इस संप्रदाय का कोई व्यक्ति ।

निर्मली—संज्ञा स्त्री० [सं० निर्मल] (१) एक प्रकार का मझला सदाबहार वृक्ष जो बंगाल, मध्य भारत, दक्षिण भारत और बर्मा में पाया जाता है । इसकी लकड़ी बहुत चिकनी, कड़ी और मजबूत होती है और इमारत, खेती के औजार और गाड़ियाँ आदि बनाने के काम में आती है । चीरने के समय इसकी लकड़ी का रंग अंदर से सफेद निकलता है परंतु हवा लगते ही कुछ भूरा या काला हो जाता है । इस वृक्ष के फल का गूदा खाया जाता है और इसके धके हुए बीजों का, जो कुचले की तरह के परंतु उससे बहुत छोटे होते हैं, आँखों, पेट तथा मूल-यंत्र के अनेक रोगों में व्यवहार होता है । गँदले पानी को साफ करने के लिये भी ये बीज उसमें घिसकर डाल दिए जाते हैं जिससे पानी में मिली हुई मिट्टी जल्दी बैठ जाती है । कतक । पाय पसारी । चाकस । (२) रीठे का वृक्ष या फल ।

निर्मलोपम—संज्ञा पुं० [सं०] स्फटिक ।

निर्मल्य—संज्ञा स्त्री० [सं०] स्पृका । असवरग ।

निर्मास—संज्ञा पुं० [सं०] वह मनुष्य जो भोजन के अभाव के कारण बहुत दुबला हो गया हो, जैसे, तपस्वी या दरिद्र भिक्षमंगा आदि ।

निर्माण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) रचना । बनावट । (२) बनाने का काम ।

निर्माणविद्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] इमारत, नहर, पुल इत्यादि बनाने की विद्या । वास्तु-विद्या । इंजीनियरी ।

निर्माता—संज्ञा पुं० [सं०] निर्माण करनेवाला । बनानेवाला । जो बनावे ।

निर्मात्रिक—वि० [सं०] बिना मात्रा का । जिसमें मात्रा न हो ।

निर्माणा—क्रि० सं० [सं० निर्माण] बनाना । रचना । उत्पन्न करना । उ०—ब्रह्मा ऋषि मरीचि निर्मायो । ऋषि मरीचि कश्यप उपजायो ।—सूर ।

निर्मायल—संज्ञा पुं० दे० “निर्माल्य” ।

निर्माल्य—संज्ञा पुं० [सं०] वह पदार्थ जो किसी देवता पर चढ़ चुका हो । देवता पर चढ़ चुकी हुई चीज । देवापित वस्तु ।

विशेष—(क) जो पुष्प, फल और मिष्टान्न आदि किसी देवता पर चढ़ाए जाते हैं वे विसर्जन से पहले “नैवेद्य” और विसर्जन के उपरांत “निर्माल्य” कहलाते हैं ।

(ख) शिव के अतिरिक्त और सब देवताओं के निर्माल्य पुष्प और मिष्टान्न आदि ग्रहण किए जाते हैं ।

निर्माल्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] स्पृका । असवरग ।

निर्मित—वि० [सं०] बनाया हुआ । रचित ।

निर्मिति—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) निर्माण । बनाने की क्रिया । (२) बनाने का भाव ।

निर्मुक्त—वि० [सं०] (१) जो मुक्त हो गया हो । जो छूट गया हो । (२) जिसके लिये किसी प्रकार का बंधन न हो । संज्ञा पुं० [सं०] वह सर्प जिसने अभी हाल में केंचुली छोड़ी हो ।

निर्मुक्ति—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मुक्ति । छुटकारा । (२) मोक्ष ।

निर्मूल—वि० [सं०] (१) जिसमें जड़ न हो । बिना जड़ का । (२) जिसकी जड़ न रह गई हो । जड़ से उखाड़ा हुआ । जैसे, निर्मूल करना । (३) जिसका कोई आधार, बुनियाद या असलियत न हो । बेजड़ । जैसे, निर्मूल बात । (४) जिसका मूल ही न रह गया हो । जो सर्वथा नष्ट हो गया हो । जैसे, रोग को निर्मूल करना ।

निर्मूलक—वि० दे० “निर्मूल” ।

निर्मूलन—संज्ञा पुं० [सं०] निर्मूल होना या करना । विनाश ।

निर्मोक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सर्प की केंचुली । (२) शरीर के ऊपर की छाल । (३) पुराणानुसार सावर्णि मनु के एक पुत्र का नाम । (४) तेरहवें मनु के सप्तर्षियों में से एक का नाम । (५) आकाश ।

निर्मोक्ष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पूर्ण मोक्ष जिसमें कुछ भी संस्कार बाकी न रह जाय । (२) त्याग ।

निर्मोल—वि० [सं० निः + हि० मोल] जिसका मूल्य बहुत अधिक हो या जिसके मूल्य का अनुमान न हो सके । अमूल्य । उ०—नैना लोभहिं लोभ भरे ।.....जोड़ देखें सोइ सोइ निर्मोलै कर लै तहाँ धरै ।—सूर ।

निर्मोह—वि० [सं०] जिनके मन में मोह या ममता न हो ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) रैवत मनु के एक पुत्र का नाम ।

(२) सावर्णि मनु के एक पुत्र का नाम ।

निर्मोहिनी—वि० स्त्री० [हि० निर्मोही + इनी (प्रत्य०)] निर्दय । जिसके चित्त में ममता या दया न हो । कठोर हृदय । उ०—वा निर्मोहिनी रूप की राशि जो ऊपर के उर आनति है ।.....आवत हैं नित मेरे लिये इतना तो विशेष है जानति है ।—ठाकुर ।

निर्मोहिया—वि० दे० “निर्मोही” ।

निर्मोही—वि० [सं० निर्मोह] जिसके हृदय में मोह या ममता न हो । निर्दय । कठोर हृदय ।

निर्याण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाहर निकलना । (२) यात्रा ।

रवानगी । प्रस्थान । विशेषतः सेना का युद्ध-वेग की ओर
अथवा पशुओं का चराई की ओर प्रस्थान । (३) वह सड़क
जो किसी नगर के बाहर की ओर जाती हो । (४) अदृश्य
होना । गायब होना । (५) शरीर से आत्मा का निकलना ।
मृत्यु । (६) मोक्ष । मुक्ति । (७) हाथी की आँख का बाहरी
कोना । (८) पशुओं के पैरों में बाँधने की रस्ती ।

निर्यातन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बदला चुकाना । (२) प्रतीकार ।
(३) मार डालना । (४) ऋण चुकाना ।

निर्याम-संज्ञा पुं० [सं०] मछलाह ।

निर्यास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वृक्षों या पौधों में से आपसे आप,
अथवा उनका तना आदि चीरने से निकलनेवाला रस । (२)
गोंद । (३) बहना या झरना । चरण । (४) क्वाथ । काढ़ा ।

निर्युष-संज्ञा पुं० दे० “निर्यास” ।

निर्यूह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) क्वाथ । काढ़ा । (२) द्वार ।
दरवाजा । (३) सिर पर पहनी जानेवाली कोई चीज । जैसे,
मुकुट आदि । (४) दीवार में लगाई हुई वह लकड़ी आदि
जिसके ऊपर कोई चीज रखी या बनाई जाय ।

निर्लज्ज-वि० [सं०] लज्जाहीन । बेशर्मा । बेहया ।

निर्लज्जता-संज्ञा स्त्री० [सं०] बेशर्मी । बेहयाई । निर्लज्ज होने
का भाव ।

निर्लिप्त-वि० [सं०] (१) राग द्वेष आदि से मुक्त । जो किसी
विषय में आसक्त न हो । (२) जो लिप्त न हो । जो कोई
संबंध न रखता हो । बेजोस ।

निर्लेखन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी चीज पर जमी हुई मैल
आदि खुरचना । (२) वह चीज जिससे मैल खुरची जाय ।
(सुश्रुत)

निर्लेप-वि० [सं०] विषयों आदि से अलग रहनेवाला । निर्लिप्त ।

निर्लोभ-वि० [सं०] जिसे लोभ न हो । लालच न करनेवाला ।

निर्लोभी-वि० दे० “निरलोभ” ।

निर्वंश-वि० [सं०] जिसके आगे वंश चलानेवाला कोई न हो ।
जिसका वंश नष्ट हो गया हो ।

निर्वंशता-संज्ञा स्त्री० [सं०] निर्वंश होने का भाव ।

निर्वर-वि० [सं०] (१) निर्लज्ज । बेशर्मा । (२) निर्भय । निडर ।

निर्वहण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) निवाह । गुजर । निर्वाह । (२)
समाप्ति ।

निर्वहना-† क्रि० अ० [सं० निर्वहन] गुजर करना या होना ।
निभना । चला चलना । परंपरा का पालन होना ।

निर्वाक-वि० [सं०] जिसके मुँह से बात न निकले । जो
चुप हो ।

निर्वाक्य-वि० [सं०] जो बोल न सकता हो । गूँगा ।

निर्वाण-वि० [सं०] (१) बुझा हुआ (दीपक अग्नि आदि) ।
(२) अस्त । डूबा हुआ । (३) शांत । धीमा पड़ा हुआ ।

(४) मृत । मरा हुआ । (५) निश्चल । (६) शून्यता को
प्राप्त । (७) बिना वाद्य का ।

संज्ञा पुं० (१) बुझना । ठंडा होना । (२) समाप्ति । न रह
जाना । (३) अस्त । गमन । डूबना । (४) शांति । (५)
मुक्ति । मोक्ष ।

विशेष—यद्यपि मुक्ति के अर्थ में निर्वाण शब्द का प्रयोग
गीता, भागवत, रघुवंश, शारीरक भाष्य इत्यादि नए पुराने
ग्रंथों में मिलता है पर यह शब्द बौद्धों का पारिभाषिक है ।
सांख्य, न्याय, वैशेषिक, योग, मीमांसा (पूर्व) और वेदांत
में क्रमशः मोक्ष, अपवर्ग, निःश्रेयस, मुक्ति या स्वर्गप्राप्ति
तथा कैवल्य शब्दों का व्यवहार हुआ है पर बौद्ध दर्शन में
बराबर निर्वाण शब्द ही आया है और उसकी विशेष रूप
से व्याख्या की गई है । बौद्ध धर्म की दो प्रधान शाखाएँ हैं
हीनयान (या उत्तरीय) और महायान (या दक्षिणी) । इनमें से
हीनयान शाखा के सब ग्रंथ पाली भाषा में हैं और बौद्ध
धर्म के मूल रूप का प्रतिपादन करते हैं । महायान शाखा
कुछ पीछे की है और उसके सब ग्रंथ संस्कृत में लिखे गए
हैं । महायान शाखा में ही अनेक आचार्यों द्वारा बौद्ध
सिद्धांतों का निरूपण गूढ़ तर्क-प्रणाली द्वारा दार्शनिक
दृष्टि से हुआ है । प्राचीन काल में वैदिक आचार्यों का जिन
बौद्ध आचार्यों से शास्त्रार्थ होता था वे प्रायः महायान
शाखा के थे । अतः निर्वाण शब्द से क्या अभिप्राय है
इसका निर्णय उन्हीं के बचनों द्वारा हो सकता है ।

बोधिसत्त्व नागार्जुन ने माध्यमिक सूत्र में लिखा है कि
‘भवसंतति का उच्छेद ही निर्वाण है’ अर्थात् अपने संस्कारों
द्वारा हम बार बार जन्म के बंधन में पड़ते हैं इससे उनके
उच्छेद द्वारा भवबंधन का नाश हो सकता है । रत्नकूट
सूत्र में बुद्ध का यह वचन है—“राग, द्वेष और मोह”
के क्षय से निर्वाण होता है” । वज्रच्छेदिका में बुद्ध ने
कहा है कि निर्वाण अनुपधि है उसमें कोई संस्कार नहीं
रह जाता । माध्यमिक सूत्रकार चंद्रकीर्त्ति ने निर्वाण के
संबंध में कहा है कि सर्वप्रपंचनिवर्त्तक शून्यता को ही
निर्वाण कहते हैं । यह शून्यता वा निर्वाण क्या है ? न
इसे भाव कह सकते हैं, न अभाव । क्योंकि भाव और अभाव
दोनों के ज्ञान के क्षय का ही नाम तो निर्वाण है, जो अस्ति
और नास्ति दोनों भावों के परे और अनिर्वचनीय है । माध-
वाचार्य ने भी अपने सर्वदर्शनसंग्रह में शून्यता का यही
अभिप्राय बतलाया है—“अस्ति, नास्ति, उभय और अनुभय
इस चतुष्कोटि से विनिर्मुक्ति ही शून्यत्व है । माध्यमिक सूत्र में
नागार्जुन ने कहा है कि अस्तित्व (है) और नास्तित्व (नहीं
है) का अनुभव अल्पबुद्धि ही करते हैं । बुद्धिमान् लोग
इन दोनों का उपशमरूप कल्याण प्राप्त करते हैं ।

उपर्युक्त वाक्यों से स्पष्ट है कि निर्वाण शब्द जिस शून्यता का बोधक है उससे चित्त का ग्राह्यग्राहक संबंध ही नहीं है। मैं भी मिथ्या, संसार भी मिथ्या। एक बात ध्यान देने की है कि बौद्ध दार्शनिक जीव या आत्मा की भी प्रकृत सत्ता नहीं मानते। वे एक महाशून्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानते।

निर्वाणप्रिया—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक गंधर्वी का नाम।

निर्वाणी—संज्ञा पुं० [सं०] जैनों के एक शासन-देवता।

निर्वात—वि० [सं०] (१) जहाँ हवा न हो। जहाँ हवा का झोंका न लग सके। (२) जो चंचल न हो। स्थिर।

निर्वाद—संज्ञा पुं० [सं०] (१) अपवाद। निंदा। (२) अवज्ञा। लापरवाही।

निर्वाप—संज्ञा पुं० [सं०] (१) दान। (२) वह दान जो पितरों के उद्देश्य से किया जाय।

निर्वास—संज्ञा पुं० [सं०] (१) निर्वासन। निकाल देना। (२) प्रवास। विदेश-यात्रा।

निर्वासक—वि० [सं०] निर्वासन करनेवाला।

निर्वासन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मार डालना। वध। (२) गाँव, शहर या देश आदि से दंड-स्वरूप बाहर निकाल देना। देशनिकास। (३) निकालना। (४) विसर्जन।

निर्वाह—संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी क्रम या परंपरा का चला चलना। किसी बात का जारी रहना। निबाह। जैसे, प्रीति का निर्वाह, कार्य का निर्वाह। (२) किसी बात के अनुसार बराबर आचरण। पालन। जैसे, प्रतिज्ञा का निर्वाह, बचन का निर्वाह। (३) समाप्ति। पूरा होना।

निर्वाहक—संज्ञा पुं० [सं०] वह जो किसी काम का निर्वाह करे।

निर्वाहना—क्रि० अ० [सं० निर्वाह + ना (हिं० प्रत्य)] निर्वाह करना।
उ०—दोष न कछु है तुम्हें नेह निर्वाहे को।—पद्माकर।

निर्विध्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] विध्याचल से निकली हुई एक छोटी नदी जिसका उल्लेख मेघदूत में है।

निर्विकल्प—वि० [सं०] (१) जो विकल्प, परिवर्तन या प्रभेदों आदि से रहित हो। (२) स्थिर। निश्चित।

संज्ञा स्त्री० दे० “निर्विकल्प समाधि”।

निर्विकल्पक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वेदांत के अनुसार वह अवस्था जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय में भेद नहीं रह जाता, दोनों एक हो जाते हैं। (२) न्याय के अनुसार वह अलौकिक आलोचनात्मक ज्ञान जो इंद्रियजन्य ज्ञान से बिलकुल भिन्न होता है। बौद्ध शास्त्रों के अनुसार केवल ऐसा ही ज्ञान प्रमाण माना जाता है।

निर्विकल्प समाधि—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की समाधि जिसमें ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञाता आदि का कोई भेद नहीं रह जाता और ज्ञानात्मक सच्चिदानंद ब्रह्म के अतिरिक्त और

कुछ दिखाई नहीं देता। इस समाधि की सुखना योग की सुषुप्ति अवस्था के साथ की जा सकती है।

निर्विकार—वि० [सं०] विकाररहित। जिसमें किसी प्रकार का विकार या परिवर्तन न हो।

निर्विघ्न—वि० [सं०] विघ्न-बाधा-रहित। जिसमें कोई विघ्न न हो।

क्रि० वि० बिना किसी प्रकार के विघ्न या बाधा के। जैसे, सब कार्य निर्विघ्न समाप्त हो गया।

निर्विचार—वि० [सं०] विचाररहित। जिसमें कोई विचार न हो।

संज्ञा पुं० [सं०] योगदर्शन के अनुसार एक प्रकार की सजीव समाधि जो किसी सूक्ष्म आलंबन में तन्मय होने से प्राप्त होती है और जिसमें उस आलंबन के नाम और संकेत आदि का कोई ज्ञान नहीं रह जाता, केवल इसके आकार आदि का ही ज्ञान होता है। ऐसी समाधि सबसे उत्तम समझी जाती है और उससे चित्त निर्मल होता है और बुद्धि सर्वप्रकाशक हो जाती है।

निर्वितर्क समाधि—संज्ञा स्त्री० [सं०] योगदर्शन के अनुसार एक प्रकार की सजीव समाधि जो किसी स्थूल आलंबन में तन्मय होने से प्राप्त होती है और जिसमें उस आलंबन के नाम और संकेत आदि का कोई ज्ञान नहीं रह जाता, केवल उसके आकार आदि का ही ज्ञान होता है।

निर्विद्य—वि० [सं०] विद्याहीन। जो पढ़ा-लिखा न हो।

निर्विवाद—वि० [सं०] जिसमें कोई विवाद न हो। बिना कगड़े का।

निर्विवेक—वि० [सं०] जो किसी बात की विवेचना न कर सकता हो। विवेकहीन।

निर्विवेकता—संज्ञा स्त्री० [सं०] निर्विवेक होने का भाव।

निर्विशेष—संज्ञा पुं० [सं०] परब्रह्म। परमात्मा।

निर्विष—वि० [सं०] विषहीन। जिसमें विष न हो।

निर्विषा—संज्ञा स्त्री० दे० “निर्विषी”।

निर्विषी—संज्ञा स्त्री० [सं०] असर्ग की जाति की एक घास जो पश्चिमोत्तर हिमालय, काश्मीर और मलयागिरि में अधिकता से होती है। इसकी जड़ अतीस के समान होती है जिसका व्यवहार साँप-बिच्छू आदि के विषों के अतिरिक्त शरीर के और भी अनेक प्रकार के विषों का नाश करने के लिये होता है। वैद्यक के अनुसार यह जड़ कटु, शीतल, व्रण को भरनेवाली और कफ, वात, रुधिर-विकार, विष को नष्ट करनेवाली मानी जाती है। जड़वार।

पर्या०—निर्विषा। अवविषा। विविषा। विषहा। विषहन्त्री। विषाभावा। अविषा। विषवैरिणी।

निर्विष्ट—वि० [सं०] (१) जो भोग कर चुका हो। (२) जो विवाह कर चुका हो। (३) जो अग्निहोत्र कर चुका हो। (४) जो मुक्त हो गया हो।

निर्वीज-वि० [सं०] (१) बीजरहित । जिसमें बीज न हों ।
(२) जो कारण से रहित हो ।

निर्वीज समाधि-संज्ञा स्त्री० [सं०] पातंजल के अनुसार समाधि की वह अवस्था जिसमें चित्त का निरोध करते करते उसका अवलंबन या बीज भी विलीन हो जाता है । इस अवस्था में मनुष्य को सुख दुःख आदि का कुछ भी अनुभव नहीं होता और उसका मोक्ष हो जाता है ।

निर्वीजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] किशमिश नाम का मेवा ।

निर्वीरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्त्री जिसका पति और पुत्र न हो ।

निर्वीर्य-वि० [सं०] वीर्यहीन । बल वा तेजरहित । कमजोर । निस्तेज ।

निर्वृत्त-वि० [सं०] जो पूरा हो गया हो । जिसकी निष्पत्ति हो गई हो ।

निर्वृत्तात्मा-संज्ञा पुं० [सं० निर्वृत्तात्मन्] विष्णु ।

निर्वृत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] निष्पत्ति ।

निर्वेग-वि० [सं०] जिसमें वेग या गति न हो । स्थिर ।

निर्वेद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अपना अपमान । (२) वैराग्य । (३) खेद । दुःख । (४) अनुत्ताप ।

निर्वेधिम-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार कान छेदने का एक औजार ।

निर्वेश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भोग । (२) वेतन । तनखाह । (३) विवाह । व्याह । शादी । (४) सूझाई । बेहोशी ।

निर्वैर-वि० [सं०] जिसमें वैर न हो । द्वेष से रहित ।

निर्व्यलीक-वि० [सं०] निष्कपट । छलरहित । उ०—शंकर हृद पुंडरीक निवसत हरि चंचरीक निर्व्यलीक मानस गृह संतत रहे छाई ।—तुलसी ।

निर्व्याज-वि० [सं०] (१) निष्कपट । छलरहित । उ०—पूजा यहै उर आनु । निर्व्याज धरिप ध्यानु ।—केशव । (२) बाधारहित ।

निर्व्याधि-वि० [सं०] व्याधि या रोग से मुक्त ।

निर्वरण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० निर्हारी] (१) शव को जलाने के लिये ले जाना । (२) जलाना । (३) नाश करना ।

निर्हेतु-वि० [सं०] जिसमें कोई हेतु या कारण न हो ।

निल-संज्ञा पुं० [सं०] एक राक्षस का नाम जो मात्सी नामक राक्षस की वसुदा नामक स्त्री से उत्पन्न हुआ था और जो विभीषण का मंत्री था ।

निलजा-वि० दे० “निलज्ज” ।

निलजई-संज्ञा स्त्री० [हिं० निलज + ई (प्रत्य०)] निलज्जता । बेशर्मा । बेहयाई । उ०—स्त्रीकिंबे लायक करतब कोटि कोटि कटु, रीकिंबे लायक तुलसी की निलजई ।—तुलसी ।

निलजता-संज्ञा स्त्री० [सं० निलज्जता] निलज्जता । बेशर्मा ।

बेहयाई । उ०—निलजता पर रीकिं रखुबर देहु तुलसिहिं छोरि ।—तुलसी

निलजी-वि० स्त्री० [हिं० निलज्ज] निलज्जता (स्त्री) । बेशर्मा । बेहया ।

निलज्ज-वि० दे० “निलज्ज” ।

निलय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मकान । घर । (२) स्थान । जगह ।

निलाम-संज्ञा पुं० दे० “नीलाम” ।

निलीन-वि० [सं०] बहुत अधिक लीन ।

निवक्ष-संज्ञा पुं० [सं० निवक्षस्] वह जीव या पशु जो यज्ञ आदि में उत्सर्ग किया जाय ।

निवछावरी-संज्ञा स्त्री० दे० “निछावर” ।

निवडिया-संज्ञा स्त्री० [हिं० नावर] एक प्रकार की नाव । दे० “निवाड़ा” ।

निवपन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पितरों आदि के उद्देश्य से कुछ दान करना । (२) वह जो कुछ पितरों आदि के उद्देश्य से दान किया जाय ।

निवर-वि० [सं०] निवारण करनेवाला । निवारक ।

निवरा-वि० स्त्री० [सं०] जिसके वर न हो । अविवाहिता । कुमारी ।

निवर्तन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राचीन काल में भूमि की एक नाप जो २१० हाथ लंबाई और २१० हाथ चौड़ाई की होती थी । (२) निवारण । (३) पीछे हटाना या लौटाना ।

निवर्त्ती-संज्ञा पुं० [सं० निवर्त्तिन्] (१) वह जो पीछे की ओर हट आया हो । (२) वह जो युद्ध में से भाग आया हो । (३) निर्लस ।

निवसथ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गाँव । (२) सीमा । हद्द । (डि०) निवसन-संज्ञा पुं० [सं० निस् + वसन] (१) गाँव । (२) घर । (३) वस्त्र । (४) स्त्री का सामान्य अधोवस्त्र । (डि०)

निवसना-क्रि० अ० [सं० निवसन या निवास] रहना । निवास करना । उ०—(क) यहि मिसि चित्रकूट की महिमा मुनि-वर बहुत बखानि । सुनत राम हरखित तहँ निवसे पावन गिरि पहचानि ।—देवस्वामी । (ख) बल बालक नंदराज समेत । मम गृह निवसहु कृपानिकेत ।—गोपाल ।

निवह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) समूह । यूथ । उ०—किंशुक वरन सुअंसुक सुखमा सुखन समेत । जनु विधु निवह रहे करि दामिन निक्कर निकेत ।—तुलसी । (२) सात वायुओं में से एक वायु ।

विशेष—फलित ज्योतिष में सात वायुएँ मानी गई हैं जिनमें से प्रत्येक वायु एक वर्ष तक बहती है । निवह वायु भी उन्हीं में से एक है । यह न तो बहुत तेज होती है और न बहुत धीमी । जिस वर्ष यह वायु चलती है, कहते हैं कि उस वर्ष कोई सुखी नहीं रहता ।

निवाई-वि० [सं० नव] (१) नवीन । नया । (२) अनेखा । विलक्षण । उ०—पुनि लक्ष्मी येँ विनय सुनाई । डरौं देखि यह रूप निवाई ।—सूर ।

निवाज-वि० [फा०] कृपा करनेवाला । अनुग्रह करनेवाला ।

विशेष—इसका प्रयोग फारसी और अरबी आदि शब्दों के अंत में, यौगिक में, होता है । जैसे, गरीबनिवाज ।

† संज्ञा स्त्री० दे० “नमाज़” ।

निवाजना—क्रि० सं० [फा० निवाज] अनुग्रह करना । उ०—
(क) नाम गरीब अनेक निवाजे । लोक वेद वर विरद विराजे ।—तुलसी । (ख) कायर कूर कपूतन की हृद तेज गरीबनिवाज निवाजे ।—तुलसी ।

निवाजिश-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) कृपा । मेहरबानी । (२) दया ।

निवाड़-संज्ञा स्त्री० दे० “निवार” ।

निवाड़ा-संज्ञा पुं० [देश०] (१) छोटी नाव । (२) नाव की एक क्रीड़ा जिसमें उसे बीच में ले जाकर चकर देते हैं । नावर ।
क्रि० प्र०—खेलना ।

निवाड़ी-संज्ञा स्त्री० दे० “निवारी” ।

निवात-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रहने का स्थान । घर । (२) वह वर्ग जो शस्त्र के द्वारा छेदा न जा सके ।

निवाना-संज्ञा पुं० [सं० निम्न] (१) नीची जमीन जहाँ सीढ़, कीचड़ या पानी भरा रहता हो । (२) जलाशय । झील । बड़ा तालाब ।

निवाना-क्रि० सं० [सं० नम्र] नीचे की तरफ करना । झुकाना ।

निवार-संज्ञा स्त्री० [सं० नेमि + आर] पक्षि के आकार का लकड़ी का वह गोब चक्र जो कुँए की नोंव में दिया जाता है और जिसके ऊपर कोठी की जोड़ाई होती है । जाखन । जमवट ।
संज्ञा स्त्री० [फा० नवार] बहुत मोटे सूत की बुनी हुई प्रायः तीन चार अंगुल चौड़ी पट्टी जिससे पलंग आदि बुने जाते हैं । निवाड़ । नेवार ।

संज्ञा पुं० [सं० नीवार] तिखी का धान । मुन्यन्न । पसही ।
उ०—कहूँ मूल फल दल मिलि कूटत । कहूँ कहूँ पके निवारनि कूटत ।—गुमान ।

संज्ञा पुं० देश० एक प्रकार की मूली जो बहुत मोटी और स्वाद में कुछ मीठी होती है, कड़ुई नहीं होती ।

निवारक-वि० [सं०] (१) रोकनेवाला । रोधक । (२) दूर करनेवाला । मिटानेवाला ।

निवारण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रोकने की क्रिया । (२) हटाने या दूर करने की क्रिया । (३) निवृत्ति । छुटकारा ।

निवारन-संज्ञा पुं० दे० “निवारण” ।

निवारना—क्रि० सं० [सं० निवारण] (१) रोकना । दूर करना । हटाना । उ०—(क) पौष्टि ह्माजन सों श्रमसीकर भौर की भौर निवारत ही रहे ।—हरिश्चंद्र । (ख) पलका पै

पौष्टि श्रम राति को निवारिष ।—मतिराम । (२) बचाना । रक्षा के साथ काटना या बिताना । उ०—(क) यह सुख ठाम को आराम को निहारो नेक, मेरे कहे धरिक निवारि लो जै धाम को । (ख) धाम धरीक निवारिये कलित ललित अलि पुंज । जमुना तीर तमाल तरु मिलति मालती कुंज :—बिहारी । (३) निषेध करना । मना करना ।—उ०—सैनहिं लखनहिं राम निवारै ।—तुलसी ।

निवार-वाफ-संज्ञा पुं० [फा० नवार + वाफ] निवार बुननेवाला ।

निवारी-संज्ञा स्त्री० [सं० नेपाली या नेमाली] (१) जूही की जाति का एक फैलनेवाला झाड़ू या पौधा जो जूही के पौधों से बड़ा होता है । इसके पत्ते कुछ गोलाई लिए लंबोतरे होते हैं और बरसात में इसमें जूही की तरह के छोटे सफेद फूल लगते हैं । ये फूल आम के मौरी की तरह गुच्छों में होते हैं और इनमें से भीनी मनोहर सुगंध निकलती है । वैद्यक में इसे चरपरी, कड़वी, शीतल, हलकी और त्रिदोष, नेत्ररोग, मुख-रोग और कर्णरोग आदि को दूर करनेवाली माना है ।
(२) इस पौधे का फल ।

निवाला-संज्ञा पुं० [फा०] उतना भोजन जितना एक बार मुँह में डाला जाय । कौर । प्रास । लुकमा ।

निवास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रहने की क्रिया या भाव । (२) रहने का स्थान । (३) घर । मकान । (४) वस्त्र । कपड़ा ।

निवासस्थान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रहने का स्थान । वह स्थान जहाँ कोई रहता हो । (२) घर । मकान ।

निवासी-संज्ञा पुं० [सं० निवासिन्] [स्त्री० निवासिनी] रहनेवाला । बसनेवाला । वासी ।

निवास्य-वि० [सं०] रहने योग्य ।

निविड़-वि० [सं०] (१) घना । घन । घोर । (२) गहरा । (३) जिसकी नाक चिपटी या दबी हुई हो ।

निविड़ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] वंशी या इसी प्रकार के किसी और वाजे के स्वर का गंभीर होना जो उसके पाँच गुणों में से एक गुण माना जाता है ।

निविष्टान-संज्ञा पुं० [सं०] वह यज्ञ आदि जो एक ही दिन में समाप्त हो जाय ।

निविषा-वि० दे० “निर्विष” ।

निविष्ट-वि० [सं०] (१) जिसका चित्त एकाग्र हो । (२) एकाग्र । (३) लपेटा हुआ । (४) घुसा या घुसाया हुआ । (५) बाँधा हुआ । (६) स्थित । ठहरा हुआ ।

निवीत-संज्ञा पुं० [सं०] ओढ़ने का कपड़ा । चादर ।

निवीर्य-वि० [सं०] वीर्यहीन । जिसमें वीर्य या पुरुषत्व न हो ।

निवृत्त-वि० [सं०] (१) छूटा हुआ । (२) जो अलग हो गया हो । विरक्त । (३) जो छुट्टी पा गया हो । खाली ।

निवृत्तसंतापनीय-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक रसायन जिसमें अठारह औषधियाँ हैं। कहते हैं कि इस रसायन के सेवन से मनुष्य का शरीर युवा के समान और बल सिंह के समान हो जाता है और वह मनुष्य श्रुतिधर हो जाता है। ये सब औषधियाँ सोमरस के समान वीर्ययुक्त मानी जाती हैं। इन के नाम ये हैं—अजगरी, श्वेतकपोती, कृष्णकपोती, गोनसी, वाराही, कन्या, छत्रा, अतिछत्रा, करेणु, अजा, चक्रका, आदित्यवर्णिनी, ब्रह्मसुवर्चला, श्रावणी, हाश्रावणी, गोलोभी, अजलोभी और महावेगवती।

निवृत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मुक्ति। लुटकारा। प्रवृत्ति का उलटा। (२) बौद्धों के अनुसार मुक्ति या मोक्ष। (३) एक प्राचीन तीर्थ का नाम।

निवेद*†-संज्ञा पुं० दे० “नैवेद्य”।

निवेदक-संज्ञा पुं० [सं०] निवेदन करनेवाला। प्रार्थी।

निवेदन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विनय। विनती। प्रार्थना। (२) समर्पण।

निवेदना*†-क्रि० सं० [हिं० निवेदन] (१) विनती करना। प्रार्थना करना। (२) नजर करना। कुछ भोज्य पदार्थ आगे रखना। नैवेद्य चढ़ाना। अर्पित कर देना। उ०—सदा आपु को मोहि निवेदै। प्रेम शस्त्र ते ग्रंथिहि छेदै।—रघुनाथ।

निवेदित-वि० [सं०] (१) चढ़ाया हुआ। अर्पित किया हुआ। दिया हुआ। (२) कहा हुआ। सुनाया हुआ। निवेदन किया हुआ।

निवेरना*†-क्रि० सं० [हिं० निवेदना] (१) निबटाना, फैसल करना। (२) खतम कर देना। उ०—अति बहु केलि गोपिकन केरी। संचेपै मैं कलुक निवेरी।—रघुनाथ। (२) छोटना। चुन लेना। (४) छुड़ाना। दूर करना। हटाना। उ०—कुलवंत निकारहि नारि सती। गृह आनहि चेरि निवेरि गती।—तुलसी।

निवेरा*-वि० [हिं० निवेदना या निवेरना] (१) चुना हुआ। छोट्टा हुआ। उ०—आजु भई कैसी गति तेरी ब्रज में चतुर निवेरी।—सूर। (२) नवीन। अनाखा। नया। उ०—(क) मैं कह आजु निवेरी आई? बहुतै आदर करति सवै मिलि पहुने की कीजै पहुनाई।—सूर।

निवेश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विवाह। (२) शिविर। डेरा। खेमा। (३) प्रवेश। (४) घर। मकान।

निवेश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह कपड़ा जिसमें कोई चीज ढाँकी जाय। (२) सामवेद का मंत्रभेद।

निवेश्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) व्यासि। (२) बरफ का पानी। (३) जलस्तंभ।

निव्याधी-संज्ञा पुं० [सं० निव्याधिन्] एक रुद्र का नाम।

निश-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रात। (२) हल्दी।

निशंक-वि० [सं० निशंक] जिसे किसी बात की शंका या भय न हो। निर्भय। निडर। बेझोफ।

संज्ञा पुं० एक प्रकार का नृत्य विशेष।

निशंग-संज्ञा पुं० दे० “निशंग”।

निश*†-संज्ञा स्त्री० [सं० निशा] रात्रि। रजनी।

निशाचर*†-संज्ञा पुं० दे० “निशाचर”।

निशाठ-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार बलदेव के एक पुत्र का नाम।

निशतर-संज्ञा पुं० दे० “नशतर”।

निशमन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दर्शन। देखना। (२) श्रवण। सुनना।

निशल्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] दंतीवृक्ष।

निशांत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रात्रि का अंत। पिछली रात। रात का चौथा पहर। (२) प्रभात। तड़का। (३) घर। गृह।

वि० जो बहुत ही शांत हो।

निशांध-वि० [सं०] रात का अंधा। जिसे रात को न सुझे। जिसे रतौंधी होती हो।

संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष में एक प्रकार का योग जो उस समय पड़ता है जब सिंहराशि में सूर्य हो। कहते हैं कि इस योग के पड़ने से मनुष्य को रतौंधी होती है।

निशांधी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जतुका या पहाड़ी नामक लता जिनकी पत्तियाँ औषधि के काम में आती हैं। (२) राज-कन्या। राजकुमारी।

निशा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रात्रि। रजनी। रात। (२) हरिद्रा। हल्दी। (३) दाहहरिद्रा। (४) फलित ज्योतिष में मेष, वृष, मिथुन आदि छः राशियाँ। दे० “राशि”।

निशाकर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा। शशि। चाँद। (२) कुकुट। मुरगा। (३) महादेव। (४) एक महर्षि का नाम। (५) कपूर।

निशाखातिर*†-संज्ञा स्त्री० [अ० खातिर + फा० निशाँ (खातिर निशाँ)] तसल्ली। दिलजमई। प्रबोध।

निशाख्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] हल्दी।

निशाचर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राक्षस। (२) शृगाल। गीदड़। (३) उल्लू। (४) सर्प। (५) चक्रवाक। (६) भूत। (७) चोर। (८) ग्रंथिपर्ण का एक भेद। (९) महादेव। (१०) चोर नामक गंधद्रव्य। (११) बिछी। (१२) वह जो रात को चले। जैसे, कुलटा, पिशाच आदि।

निशाचरपति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। महादेव। (२) रावण।

निशाचरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) राक्षसी । (२) कुलटा ।
(३) केशिनी नामक गंधद्रव्य । (४) अभिसारिका नायिका ।

निशाचर्म-संज्ञा पुं० [सं०] अंधकार । अंधेरा ।

निशाचारी-संज्ञा पुं० [सं० निशाचारिन्] (१) शिव । (२) निशाचर ।

निशाजल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हिम । पाला । (२) ओस ।

निशाट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उल्लू । (२) निशाचर ।

निशाटक-संज्ञा [सं०] गूगल ।

निशाटन-संज्ञा पुं० [सं०] उल्लू ।

वि० जो रात को विचरण करे । निशाचर ।

निशातैल-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का तेल जो
सेर भर कडुवे तेल, धतूरे के पत्तों के चार सेर रस, आठ
तोले पीसी हुई हलदी और चार तोले गंधक के मेल से
बनता है । यह तेल कान के रोगों के लिये विशेष उपकारी
माना जाता है ।

निशाध तैल-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का तेल जो
भगंदर के लिये उपकारी माना जाता है और जो कडुवे तेल,
पीसी हुई हलदी, सेंधा नमक, चितामूल और गुग्गुलु आदि
के मेल से बनाया जाता है ।

निशाधीश-संज्ञा पुं० दे० "निशापति" ।

निशान-संज्ञा पुं० [फा०] (१) लक्षण जिससे कोई चीज पह-
चानी जाय । चिह्न । जैसे, (क) उस मकान का कोई निशान
बता दो तो जल्दी पता लग जायगा । (ख) जहाँ तक पुस्तक
पढ़ो उसके आगे कोई निशान रख दो । (२) किसी पदार्थ
से अंकित किया हुआ अथवा और किसी प्रकार बना हुआ
चिह्न । जैसे, पैर का निशान, अँगूठे का निशान, चोट का
निशान, कपड़े पर बना हुआ धोबी का निशान, धनियों की
पहचान के लिये बनाए हुए निशान (अक्षर), किताब पर
बनाए हुए निशान आदि ।

क्रि० प्र०—करना ।—डालना ।—लगाना ।—बनाना ।

(३) शरीर अथवा और किसी पदार्थ पर बना हुआ स्वाभा-
विक या और किसी प्रकार का चिह्न, दाग या धब्बा । जैसे, किसी
पशु पर बना हुआ गुल का निशान, चेहरे पर बना हुआ
गुग्गुलु का निशान । (४) किसी पदार्थ का परिचय करने के
लिये उसके स्थान पर बनाया हुआ कोई चिह्न । जैसे, ज्योतिष
में ग्रहों आदि के बनाए हुए निशान, वनस्पति शास्त्र में
वृक्ष, झाड़ी और नर या मादा पेड़ या फूल के लिये बनाए
हुए निशान । (५) वह चिह्न जो अपढ़ आदमी अपने हस्ता-
क्षर के बदले में किसी कागज आदि पर बनाता है । (६)
वह लक्षण या चिह्न जिससे किसी प्राचीन या पहले की घटना
अथवा पदार्थ का परिचय मिले । जैसे, किसी पुराने नगर
आदि का खंडहर ।

धौ०—नाम-निशान = (१) किसी प्रकार का चिह्न या लक्षण ।
(२) अस्तित्व का लेश । बचा हुआ थोड़ा अंश । जैसे, वहाँ
अब किसी घर का नाम-निशान नहीं है ।

(७) पता । ठिकाना ।

मुहा०—निशान देना = (१) पता बताना । (२) आसामी को
सम्मन आदि तामिल करने के लिये पहचनवाना ।

धौ०—निशानदेही ।

(८) वह चिह्न या संकेत जो किसी विशेष कार्य या पहचान
के लिये नियत किया जाय । (९) समुद्र में या पहाड़ों आदि
पर बना हुआ वह स्थान जहाँ लोगों को मार्ग आदि दिखाने
के लिये कोई प्रयोग किया जाता हो । जैसे, मार्ग-दर्शक
प्रकाशालय आदि । (लश०) । (१०) दे० "लक्षण" । (११)
दे० "निशाना" । (१२) दे० "निशानी" । (१३) ध्वजा ।
पताका । झंडा ।

मुहा०—किसी बात का निशान उठाना या खड़ा करना । =

(१) किसी काम में अगुआ या नेता बन कर लोगों को अपना
अनुयायी बनाना । जैसे, बगावत का निशान खड़ा करना ।

(२) आंदोलन करना ।

निशानकोना-संज्ञा पुं० [सं० ईशान + हि० कोना] उत्तर और
पूर्व का कोण । (लश०)

निशानची-संज्ञा पुं० [फा० निशान + ची (प्रत्य०)] वह जो
किसी राजा, सेना या दल आदि के आगे झंडा लेकर
चलता हो । निशानबरदार ।

निशानदिही-संज्ञा स्त्री० दे० "निशानदेही" ।

निशानदेही-संज्ञा स्त्री० [फा० निशान + हि० देना या फा० देह =
देना] आसामी को सम्मन आदि की तामिल के लिये पह-
चनवाने की क्रिया । आसामी का पता बतलाने का काम ।

निशानपट्टी-संज्ञा स्त्री० [फा० निशान + हि० पट्टी] चेहरे की बना-
वट आदि अथवा उसका वर्णन । हुलिया ।

निशानबरदार-संज्ञा पुं० [फा०] वह जो किसी राजा, सेना या
दल आदि के आगे आगे झंडा लेकर चलता हो । निशानची ।

निशापति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा । निशाकर । (२)
कर्पूर । कपूर ।

निशाना-संज्ञा पुं० [फा०] (१) वह जिसपर ताक कर किसी
अस्त्र या शस्त्र आदि का वार किया जाय । लक्ष्य ।

मुहा०—निशाना करना या बनाना = अस्त्र आदि के वार करने
के लिये किसी को लक्ष्य बनाना । निशाना होना = निशाना
बनना । लक्ष्य होना ।

(२) किसी पदार्थ को लक्ष्य बना कर उसकी ओर किसी
प्रकार का वार करना ।

मुहा०—निशाना बाँधना = वार करने के लिये अस्त्र आदि को
इस प्रकार साधना जिममें ठीक लक्ष्य पर वार हो । निशाना

मारना या लगाना = ताक कर अन्न शन्न आदि का वार करना । निशाना साधना = (१) निशाना बाँधना । (२) निशाना लगाने का अभ्यास करना ।

(३) मिट्टी आदि का वह ढेर या और कोई पदार्थ जिस पर निशाना साधा जाय । (४) वह जिस पर लक्ष्य करके कोई व्यंग्य या बात कही जाय ।

निशानाथ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा । (२) कपूर ।

निशानी—संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) स्मृति के उद्देश्य से दिया अथवा रखा हुआ पदार्थ । वह जिससे किसी का स्मरण हो । यादगार । स्मृति-चिह्न । जैसे, (क) हमारे पास यही घड़ी उनकी निशानी है । (ख) चलते समय हमें अपनी कुछ निशानी तो दे जाओ । (ग) बस यही लड़का हमारे स्वर्गीय मित्र की निशानी है ।

क्रि० प्र०—देना ।—रखना ।

(२) वह चिह्न जिससे कोई चीज पहचानी जाय । निशान । पहचान ।

निशापुत्र—संज्ञा पुं० [सं०] नक्षत्र आदि आकाशीय पिंड ।

निशापुष्प—संज्ञा पुं० [सं०] कुमुदिनी । कोई ।

निशाबल—संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष में मेष, वृष, मिथुन, कर्क, धन और मकर ये छः राशियाँ जो रात के समय अधिक बलवती मानी जाती हैं ।

विशेष—फलित ज्योतिष में दो प्रकार की राशियाँ मानी जाती हैं—निशाबल और दिनबल । उक्त छः राशियाँ निशाबल और शेष दिनबल मानी जाती हैं । कहा जाता है कि जो काम दिन के समय करना हो वह दिनबल राशियों में और जो काम रात के समय करना हो वह रात्रिबल राशियों में करना चाहिए ।

निशाभंगा—संज्ञा स्त्री० [सं०] दुग्धपुच्छी नामक पौधा ।

निशामणि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा । (२) कपूर ।

निशामन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) दर्शन । देखना । (२) आलोचन । (३) श्रवण । सुनना ।

निशामय—संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

निशामुख—संज्ञा पुं० [सं०] संध्याकाल । गोधूली का समय ।

निशामृग—संज्ञा पुं० [सं०] गीदड़ ।

निशारत्न—संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा । (२) कपूर ।

निशारुक—संज्ञा पुं० [सं०] सात प्रकार के रूपक तालों में से एक प्रकार का ताल जिसमें दो लघु और दो गुरु मात्राएँ होती हैं । इसका व्यवहार प्रायः हास्य रस के गीतों के साथ होता है ।

वि० [सं०] बहुत अधिक हिंसा करनेवाला ।

निशावन—संज्ञा पुं० [सं०] सन का पौधा ।

निशावसान—संज्ञा पुं० [सं०] रात का अंतिम भाग । प्रभात । तड़का ।

निशाविहार—संज्ञा पुं० [सं०] रातस ।

निशास्ता—संज्ञा पुं० [फा०] (१) गेहूँ को भिगोकर उसका निकास और जमाया हुआ सत या गूदा । (२) माँड़ी । कलफ ।

निशाहस—संज्ञा पुं० [सं०] कुमोदनी ।

निशाहसा—संज्ञा स्त्री० [सं०] शेफालिका । सिंदुवार । निर्गुंडी ।

निशाह्वा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हलदी । (२) जतुका नाम की लता ।

निशि—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रात । रात्रि । रजनी । (२) हलदी ।

निशिकर—संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा । शशि ।

निशिचर—संज्ञा पुं० दे० “निशाचर” ।

निशिचरराज—संज्ञा पुं० [सं०] राक्षसों का राजा, विभीषण ।

निशित—संज्ञा पुं० [सं०] लोहा ।

वि० चोखा । तेज । तीखा । जो सान पर चढ़ा हुआ हो ।

निशिदिन—क्रि० वि० [सं०] रातदिन । सदा । सर्वदा ।

निशानाथ—संज्ञा पुं० दे० “निशानाथ” ।

निशानायक—संज्ञा पुं० दे० “निशानाथ” ।

निशिपति—संज्ञा पुं० दे० “निशापति” ।

निशिपाल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा । (२) एक छंद जिसके प्रत्येक चरण में भगण जगण सगण, नगण और रगण होता है । इ०—भाजे सुनि राघव कवींद्र कुल की नई । काव्य रचना विपुल वित्त तिहीं दै दई । वार निशि-पाल हम से बुध कवी जनै । हो नृप चिरायु अखिलेश ! कवि यों भनै ।

निशिपालिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] दे० “निशिपाल” ।

निशिपुष्पा—संज्ञा स्त्री० [सं०] निर्गुंडी या शेफालिका नामक फूल का पेड़ । सिंदुवार ।

निशिपुष्पिका, निशिपुष्पी—संज्ञा स्त्री० [सं०] निर्गुंडी । शेफालिका ।

निशिवासर—संज्ञा पुं० [सं०] रातदिन । सदा । सर्वदा । हमेशा ।

निशीथ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) रात । (२) आधी रात । (३) भागवत के अनुसार रात्रि के एक कल्पित पुत्र का नाम ।

निशीथिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] रात्रि । रात ।

निशुंभ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वध । (२) हिंसा । (३) पुराणा-नुसार एक असुर का नाम जिसका जन्म कश्यप ऋषि की स्त्री दनु के गर्भ से हुआ था और जो शुंभ तथा निमुचि का भाई था । निमुचि तो इंद्र के हाथ से मारा गया था पर शुंभ और निशुंभ ने देवताओं पर आक्रमण करके उन्हें जीत लिया था और स्वर्ग पर राज्य करना आरंभ कर दिया था । जब इन दोनों ने रक्तबीज से सुना कि दुर्गा ने महिषासुर को मार डाला तब निशुंभ ने प्रतिज्ञा की कि मैं दुर्गा को मार डालूँगा । उस समय नर्मदा नदी से निकलकर चंड और सुंड नामक दो और राक्षस भी इन लोगों में मिल गए । पहले शुंभ और निशुंभ ने दुर्गा से कहा था कि तुम हम

में से किसी के साथ विवाह करो पर दुर्गा ने कहला दिया कि रण में मुझे जो जीतेगा उसीसे मैं विवाह करूँगी। रण में दुर्गा ने पहले धूमलोचन, चंड, मुंड, रक्तबीज आदि असुरों तथा उनके साथियों को मारा। फिर शुंभ और निशुंभ ने युद्ध आरंभ किया। देवी ने पहले निशुंभ को और तब शुंभ को मारा जिससे असुरों का उत्पात शांत हुआ और इंद्र को फिर स्वर्ग का राज्य मिला।

निशुंभन—संज्ञा पुं० [सं०] वध। मार डालना।

निशुंभमर्दिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

निशुंभी—संज्ञा पुं० [सं० निशुंभिन्] एक बुद्ध का नाम।

निशेश—संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा।

निशैत—संज्ञा पुं० [सं०] वक। बगुजा।

निशोत्सर्ग—संज्ञा पुं० [सं०] प्रभात। तड़का।

निश्कुला—वि० [सं०] अपने कुल से निकाली हुई (स्त्री)।

नश्चंद्र—वि० [सं०] (१) चंद्रमारहित। (२) जिसमें चमक न हो।

नश्चंद्र अभ्रक—संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में वह अभ्रक जो दूध, गवारपाठ, आदमी के मूत्र, बकरी के दूध आदि कई पदार्थों में मिलाकर और सौ बार उनका पुट देकर तैयार किया जाता है। कहते हैं कि यह पद्मराग के समान हो जाता है। यह वीर्यवर्द्धक, रसायन और ज्वरनाशक माना जाता है।

निश्चय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऐसी धारणा जिसमें कोई संदेह न हो। निःसंशय ज्ञान। (२) विश्वास। यकीन। (३) निर्णय। जैसे, इसका निश्चय हो जाना चाहिए कि यह वस्तु क्या है।

विरोध—निश्चय बुद्धि की वृत्ति है।

(४) पक्का विचार। दृढ़ संकल्प। पूरा हरादा। जैसे, मैंने वहाँ जाने का निश्चय कर लिया है। (५) एक अर्थालंकार जिसमें अन्य विषय का निषेध होकर प्रकृत वा यथार्थ विषय का स्थापन होता है जैसे, 'नहिँ सरोज यह बदन है नहिँ' इंदीवर नैन। मधुकर ! जनि धावै वृथा, मानि हमारे नैन ॥ यहाँ सरोज और इंदीवर का निषेध करके यथार्थ वस्तु मुख और नैन की स्थापना हुई है।

निश्चयात्मक—वि० [सं०] जो बिल्कुल निश्चित हो। ठीक ठीक। असंदिग्ध।

निश्चयात्मकता—संज्ञा स्त्री० [सं०] निश्चयात्मक होने का भाव। यथार्थता। असंदिग्धता।

निश्चर—संज्ञा पुं० दे० [सं०] एकादश मन्वन्तर के सप्तर्षियों में से एक।

निश्चल—वि० [सं०] (१) जो अपने स्थान से न हटे। अचल। अटल। (२) जो जरा भी न हिले-डुले। स्थिर।

निश्चलता—संज्ञा स्त्री० [सं०] निश्चल होने का भाव। स्थिरता। दृढ़ता।

निश्चलांग—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बगुजा। (२) पर्वत आदि जो सदा निश्चल रहते हैं।

वि० जिसके अंग हिलते ढोलते न हों।

निश्चिला—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शालपर्णा। (२) पृथ्वी।

(३) मत्स्यपुराण के अनुसार एक नदी का नाम।

नश्चायक—संज्ञा पुं० [सं०] वह जो किसी बात का निश्चय या निर्णय करता हो। निश्चयकर्ता। निर्णायक।

निश्चारक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रवाहिका नाम का रोग जो अतिसार का एक भेद है। यह बच्चों को प्रायः होता है और इसमें बहुत दस्त आते हैं। (२) वायु। हवा।

निश्चित—वि० [सं०] जिसे कोई चिंता या फिक्र न हो या जो चिंता से मुक्त हो गया हो। चिंतारहित। बे फिक्र। जैसे, (क) आप निश्चित रहें, मैं ठीक समय पर पहुँच जाऊँगा। (ख) अब कहीं जाकर हम इस काम से निश्चित हुए हैं।

निश्चितई—संज्ञा स्त्री० [हिं० निश्चित] निश्चित होने का भाव। बेफिक्री।

निश्चित—वि० [सं०] (१) जिसके संबंध में निश्चय हो चुका हो। तै किया हुआ। निर्णीत। जैसे, (क) हमारे वहाँ जाने की सब बातें निश्चित हो चुकी हैं। (ख) इस काम के लिये कोई दिन निश्चित कर लो। (२) जिसमें कोई परिवर्तन या फेर-बदल न हो सके। दृढ़। पक्का। जैसे, तुम कोई निश्चित बात तो कहते ही नहीं, नित्य नए बहाने निकालते हो।

निश्चिति—संज्ञा स्त्री० [सं०] निश्चय करना।

निश्चित—संज्ञा पुं० [सं०] योग में एक प्रकार की समाधि।

निश्चिरा—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी का नाम जिसका उल्लेख महाभारत में है।

निश्चुक्कण—संज्ञा पुं० [सं०] मिस्सी।

निश्चेतन—वि० [सं०] (१) बेसुध। बेहोश। बदहवास। (२) जड़।

निश्चेष्ट—वि० [सं०] (१) बेहोश। अचेत। चेष्टारहित। (२) निश्चल। स्थिर।

निश्चेष्टाकरण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वैद्यक में एक प्रकार की औषध जो मैनसिल से बनाई जाती है। (२) कामदेव के एक प्रकार के बाण का नाम।

निश्चै*—संज्ञा पुं० दे० "निश्चय"।

निश्चयवन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार वैवस्वत मन्वन्तर के सप्तर्षियों में से एक ऋषि का नाम। (२) महाभारत के अनुसार एक प्रकार की अग्नि।

निश्छंद—वि० [सं० निश्छंदस्] जिसने वेद न पढ़ा हो।

निश्छल—वि० [सं०] झलरहित। सीधा। सरलचित्त। निष्कपट।

निश्छेद-संज्ञा पुं० [सं०] गणित में वह राशि जिसका किसी गुणक के द्वारा भाग न दिया जा सके। अविभाज्य।

निश्चम-संज्ञा पुं० [सं०] किसी कार्य से न थकना अथवा न घबराना। अध्यवसाय।

निश्चयणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] सीढ़ी।

निश्चीक-संज्ञा पुं० [सं०] सीढ़ी।

निश्चेष्टिका तृण-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की घास जो रस-हीन और गरम होती और पशुओं को निर्बल कर देती है।

निश्चेष्टी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सीढ़ी। ज़ीना। (२) मुक्ति। (३) खजूर का पेड़।

निश्चेयस-संज्ञा पुं० [सं० निश्चेयस] (१) मोक्ष। (२) दुःख का अत्यंत अभाव। (३) कल्याण।

निश्वास-संज्ञा पुं० [सं०] नाक या मुँह के बाहर निकलनेवाला श्वास। प्राण वायु के नाक के बाहर निकलने का व्यापार।

निश्शक्त-वि० [सं०] (१) निडर। निर्भय। बेखौफ। (२) संदेह रहित। जिसमें शंका न हो।

निश्शक्त-वि० [सं०] निर्बल। नाताकत। जिसमें शक्ति न हो।

निश्शील-वि० [सं०] बेमुरौबत। बदमिज़ाज। बुरे स्वभाववाला।

निश्शीलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुष्ट स्वभाव। बदमिज़ाजी।

निश्शेष-वि० [सं०] जिसमें से कुछ भी बाकी न बचा हो। जिसका कुछ भी अवशिष्ट न हो।

निषंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) तूण। तूणीर। तरकश। (२) खड्ग। (३) प्राचीन काल का एक बाजा जो मुँह से फूँक कर बजाया जाता था।

निषंगथि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आलिंगन करनेवाला। (२) रथ। (३) कंधा। (४) तृण। (५) सारथी। (६) धनुस् धारण करनेवाला।

निषंगी-वि० [सं० निषंगिन्] (१) तीर चलावेवाला। धनुर्धारी। (२) खड्ग धारण करनेवाला।

संज्ञा पुं० महाभारत के अनुसार धृतराष्ट्र के एक पुत्र का नाम।

निषकपुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] राक्षस। निशाचर। असुर।

निषकर्ष-संज्ञा पुं० [सं०] स्वरसाधन की एक प्रणाली जिसमें प्रत्येक स्वर को दो दो बार अलापना पड़ता है। जैसे, सा सा रे रे ग ग म म प प ध ध नि नि सा सा। सा सा नि नि ध ध प प म म ग ग रे रे सा सा।

निषक्त-संज्ञा पुं० [सं०] बाप। पिता। जनक।

निषद्-संज्ञा स्त्री० [सं०] यज्ञ की दीक्षा।

निषद्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) निषाद स्वर। (संगीत)। (२) एक राजा का नाम।

निषद्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह स्थान जहाँ कोई चीज बिकती हो। हाट। (२) छोटी छाट।

निषद्यापरीषत-संज्ञा पुं० [सं०] ऐसे स्थान में जहाँ स्त्री पंड

आदि का आगम हो न रहना और यदि इष्टानिष्ठ का उपसर्ग हो तो भी अपने चित्त को चलायमान न करना। (जैन)

निषद्वर-संज्ञा पुं० [सं०] कीचड़। चहला।

निषद्वरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] रात।

निषध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार एक पर्वत का नाम।

कहते हैं कि यह पर्वत इलावृत्त के दक्षिण हरिवर्ष की सीमा पर है। (२) हरिवंश के अनुसार रामचंद्र के प्रपौत्र और कुश के पौत्र का नाम। (३) महाराज जनमेजय के पुत्र का नाम।

(४) पुराणानुसार एक देश का प्राचीन नाम जो विंध्याचल पर्वत पर था। किसी किसी के मत से यह वर्तमान कमाऊँ का एक भाग है और दमयंती-पति नल यहीं के राजा थे।

(५) कुरु के एक लड़के का नाम। (६) संगीत के सात स्वरों में से अंतिम या सातवाँ स्वर। निषाद।

वि०-कठिन।

निषधावती-संज्ञा स्त्री० [सं०] मार्कंडेय पुराण के अनुसार एक नदी का नाम जो विंध्य पर्वत से निकलती है।

निषधाभास-संज्ञा पुं० [सं०] आक्षेप। अलंकार के ५ भेदों में से एक।

निषधाश्व-संज्ञा पुं० [सं०] कुरु के एक लड़के का नाम।

निषसई-संज्ञा स्त्री० दे० “निखिसई”।

निषाद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक बहुत पुरानी अनार्य जाति जो

भारत में आर्य जाति के आने से पहले निवास करती थी।

इस जाति के लोग शिकार खेलते, मछलियाँ मारते और

डाका डालते थे।

विशेष—पुराणों में जिस प्रकार और अनेक अनार्य जातियों की उत्पत्ति के संबंध में अनेक प्रकार की कथाएँ लिखी हुई हैं उसी प्रकार इस जाति की उत्पत्ति के संबंध में भी एक

कथा है। अग्नि-पुराण में लिखा है कि जिस समय राजा वेणु

की जाँव मथी गई थी उस समय उसमें से काले रंग का एक

छोटा सा आदमी निकला था। वही आदमी इस वंश का

आदि-पुरुष था। लेकिन मनु के मत से इस जाति की सृष्टि

ब्राह्मण पिता और शूद्रा माता से हुई है। मिताचरा में यह

जाति क्रूर और पापी कही गई है।

(२) एक देश का प्राचीन नाम जिसका उल्लेख महाभारत, रामा-

यण तथा कई पुराणों में है। महाभारत के अनुसार यह एक

छोटा राष्ट्र था जो विनशान के दक्षिण पश्चिम में था। संभवतः

रामायणवाला शृंगवेरपुर इस राज्य का राजनगर था।

(३) संगीत के सात स्वरों में अंतिम और सब से ऊँचा स्वर

जिसका संक्षिप्त रूप “नि” है। इसकी दो श्रुतियाँ हैं—उग्रता

और शोभिनी। नारद के अनुसार यह स्वर हाथी के स्वर

के समान है और इसका उच्चारण, स्थान ललाट है।

व्याकरण के अनुसार यह दंत्य है। संगीतदर्पण के अनुसार इस स्वर की उत्पत्ति असुर वंश में हुई है, इसकी जाति वैश्य, वर्ण विचित्र, जन्म पुष्कर द्वीप में, ऋषि तुंगरु, देवता सूर्य और छंद जगती है। यह संपूर्ण जाति का स्वर है और करुण रस के लिये विशेष उपयोगी है। इसकी कूट तान १०४० हैं। इसका वार शनिवार और समय रात्रि के अंत की २ घड़ी ३४ पल है। इसका स्वरूप गणेश जी के समान माना जाता है।

निषादकर्म-संज्ञा पुं० [सं०] एक देश का प्राचीन नाम।

निषादी-संज्ञा पुं० [सं० निषादिन्] हाथीवान। महावत।

निषिक्त-संज्ञा पुं० [सं०] वीर्य से उत्पन्न गर्भ।

निषिद्ध-वि० [सं०] (१) जिसका निषेध किया गया हो।

जिसके लिये मनाही हो। जो न करने के योग्य हो। (२)

खराब। बुरा। दूषित।

निषिद्धि-संज्ञा स्त्री० [सं०] निषेध। मनाही।

निषूदन-वि० [सं०] मारनेवाला। जैसे, अरिनिषूदन, केशिनिषूदन।

निषेक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गर्भाधान। (२) रेत। वीर्य।

(३) क्षरण। चूना। टपकना।

निषेचन-कि० सं० [सं०] सींचना। तर करना। भिगोना। आर्द्र करना।

निषेध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वर्जन। मनाही। न करने का आदेश। (२) बाधा। रुकावट।

निषेधक-संज्ञा पुं० [सं०] मना करनेवाला। रोकनेवाला।

निषेधन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० निषेधित, निषिद्ध] निषेध करने का काम। निवारण। मना करना।

निषेधपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] वह पत्र जिसके द्वारा किसी प्रकार का निषेध किया जाय।

निषेधविधि-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह बात या आज्ञा जिसके द्वारा किसी बात का निषेध किया जाय।

निषेधित-संज्ञा पुं० [सं०] जिसके लिये निषेध किया गया हो। मना किया हुआ। वर्जित।

निषेवन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० निषेवनीय, निषेवित, निषेव्य] सेवा। (२) सेवन। व्यवहार।

निषेव्य-वि० [सं०] सेवनीय। सेवा के योग्य।

निषेवी-संज्ञा पुं० [सं०] [निषेविन्] सेवा करनेवाला।

निष्कण्टक-वि० [सं०] जिसमें किसी प्रकार की बाधा, आपत्ति या कंस्ट आदि न हो। बिना-खटका। निर्विघ्न। जैसे, इन्होंने पचीस वर्ष तक निष्कण्टक राज्य किया।

निष्कण्ट-संज्ञा पुं० [सं०] वरुण या वरुणा नाम का पेड़।

निष्कंप-वि० [सं०] जिसमें किसी प्रकार का कंप न हो। स्थिर।

निष्कंभ-संज्ञा पुं० [सं०] गरुड़ के एक पुत्र का नाम।

निष्कंभु-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार देवाताओं के एक सेनापति का नाम।

निष्क-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वैदिक काल का एक प्रकार का सोने का सिक्का या मोहर भिन्न भिन्न समयों में जिसका मान भिन्न भिन्न था।

विशेष—प्राचीन काल में यज्ञों में राजा लोग ऋषियों और ब्राह्मणों को दक्षिणा में देने के लिये सोने के बराबर तौल के टुकड़े कटवा लिया करते थे जो “निष्क” कहलाते थे। सोने के इस प्रकार टुकड़े कराने का मुख्य हेतु यह होता था कि दक्षिणा में सब लोगों को बराबर सोना मिले, किसी के पास कम या ज्यादा न चला जाय। पीछे से सोने के इन टुकड़ों पर यज्ञस्वरूप आदि के चिह्न और नाम आदि बनाए या खोदे जाने लगे। इन्हीं टुकड़ों ने आगे चलकर सिक्कों का रूप धारण कर लिया। उस समय कुछ लोग इन टुकड़ों को गूँथ कर और उनकी माला बनाकर गले में भी पहनते थे। भिन्न भिन्न समयों में निष्क का मान नीचे लिखे अनुसार था।

एक निष्क	=	एक कर्ष (१६ माशे)
„ „	=	„ सुवर्ण „
„ „	=	„ दीनार „
„ „	=	„ पल (४ या ५ सुवर्ण)
„ „	=	चार माशे
„ „	=	१०८ अथवा १२० सुवर्ण

(२) प्राचीन काल में चाँदी की एक प्रकार की तौल जो चार सुवर्ण के बराबर होती थी। (३) वैद्यक में चार माशे की तौल। टंक। (४) सुवर्ण। सोना। (५) सोने का वरतन। (६) हीरा।

निष्कपट-वि० [सं०] जो किसी प्रकार का छल या कपट न जानता हो। निश्छल। छलरहित। सीधा। सरल।

निष्कपटता-संज्ञा स्त्री० [सं०] निष्कपट होने का भाव। निश्छलता। सरलता। सीधापन।

निष्कपटी-वि० दे० “निष्कपट”।

निष्कर-संज्ञा पुं० [सं०] वह भूमि जिसका कर न देना पड़ता हो।

निष्करुण-वि० [सं०] जिसमें करुणा या दया न हो। करुणारहित। निष्ठुर। निर्दय। बेरहम।

निष्कर्म-वि० [सं० निष्कर्मन्] अकर्म। जो कामों में लिस न हो। उ०—विष्णु नारायण कृष्ण जो वासुदेव ही ब्रह्म।

परमेश्वर परमात्मा विश्वंभर निष्कर्म—विश्राम।

निष्कर्मण्य-वि० [सं०] अकर्मण्य। अयोग्य। निकम्मा। जो कुछ काम न कर सके।

निष्कर्मा-वि० [सं०] [निष्कर्म्मन्] (१) जो कर्मों में लिस न हो। अकर्म। (२) निकम्मा।

निष्कर्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) निश्चय। खुलासा। तत्त्व।

(२) निचोड़। सार। सारांश। (३) राजा का अपने लाभ या कर आदि के लिये प्रजा को दुःख देना। (४) निकालने की क्रिया।

निष्कर्षी-संज्ञा पुं० [सं० निष्कर्षिन्] एक प्रकार के मरुत्।

निष्कलंक-वि० [सं०] जिसमें किसी प्रकार का कलंक न हो। निर्दोष। बेपेव।

निष्कलंकतीर्थ-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक तीर्थ का नाम जिसमें स्नान करने से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं।

निष्कलंकित-वि० दे० 'निष्कलंक'।

निष्कलकी-वि० दे० 'निष्कलंक'।

निष्कल-वि० [सं०] (१) जिसमें कला न हो। कला-रहित। (२) जिसका कोई अंग या भाग नष्ट हो गया हो। (३) जिसका वीर्य नष्ट हो गया हो। वृद्ध। (४) नपुंसक। (५) पूरा समूचा।

संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मा।

निष्कलत्व-संज्ञा पुं० [सं०] अविभाज्य होने की अवस्था। किसी पदार्थ की वह अवस्था जिसमें उसके और अधिक विभाग न हो सकें।

निष्कला-संज्ञा स्त्री० [सं०] वृद्धा स्त्री। बुढ़िया।

निष्कली-संज्ञा स्त्री० [सं०] अधिक अवस्थावाली वह स्त्री जिसका मासिक धर्म होना बंद हो गया हो।

निष्कषाय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसके चित्त में किसी प्रकार का दोष न हो। वह जिसका चित्त स्वच्छ और पवित्र हो। (२) समुद्र। (३) एक जिन का नाम। (जैन)

निष्काम-वि० [सं०] (१) (वह मनुष्य) जिसमें किसी प्रकार की कामना, आसक्ति या इच्छा न हो। (२) (वह काम) जो बिना किसी प्रकार की कामना या इच्छा के किया जाय। (सांख्य और गीता आदि के मत से ऐसा काम करने से चित्त शुद्ध होता और मुक्ति मिलती है।)

निष्कामता-संज्ञा स्त्री० [सं०] निष्काम होने की अवस्था या भाव।

निष्कामी-वि० [सं० निष्कामिन्] (वह मनुष्य) जिसमें किसी प्रकार की कामना या आसक्ति न हो।

निष्कारण-वि० [सं०] (१) बिना कारण। बेसबब। (२) व्यर्थ। वृथा।

निष्कालक-संज्ञा पुं० [सं०] मूँड़े हुए बाल या रोएँ आदि।

निष्कालन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चलाने की क्रिया। (२) मार डालने की क्रिया। मारण।

निष्काश-संज्ञा पुं० [सं०] प्रासाद आदि का बाहर निकला हुआ भाग। जैसे, बरामदा।

निष्काशन-संज्ञा पुं० [सं०] निकालना। बाहर करना।

निष्काशित-वि० [सं०] (१) बहिष्कृत। निकाला हुआ। (२) निर्दित। जिसकी निंदा की गई हो।

निष्कास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) निकालने की क्रिया या भाव। (२) मकान का बरामदा।

निष्कासन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० निष्कासित] बाहर करना। निकालना।

निष्किंचन-वि० [सं०] अकिंचन। धनहीन। दरिद्र। जिसके पास कुछ न हो।

निष्कुम्भ-संज्ञा पुं० [सं०] दंती वृक्ष।

निष्कुट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) घर के पास का बाग। नजर बाग। पाई बाग। (२) क्षेत्र। खेत। (३) कपाट। किवाड़ा। (४) जलाना मढ़ल। खियों के रहने का घर। (५) एक पर्वत का नाम।

निष्कुटि, निष्कुटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] इलायची।

निष्कुटिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार कुमार की अनुचरी एक मातृका का नाम।

निष्कुह-संज्ञा पुं० [सं०] पेड़ का खोंड़रा। कोटर।

निष्कृत-वि० [सं०] (१) मुक्त। छुटा हुआ। स्वतंत्र। (२) निश्चय किया हुआ। निश्चित।

निष्कृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) निस्तार। छुटकारा। (२) प्रायश्चित्त।

निष्कृप-वि० [सं०] तेज। तीव्र। धारदार। चोखा।

निष्क्रम-वि० [सं०] (१) बिना क्रम या सिलसिले का। बेतर-तीव।

संज्ञा पुं० (१) बाहर निकलना। (२) निष्क्रमण की रीति। (३) पतित होना। (४) मन की वृत्ति।

निष्क्रमण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० निष्क्रान्त] (१) बाहर निकलना। (२) हिंदुओं में छोटे बच्चों का एक संस्कार जिसमें जब बालक चार महीने का होता है तब उसे घर से बाहर निकालकर सूर्य का दर्शन कराया जाता है।

निष्क्रमणिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] चार महीने के बालक को पहले पहल घर से निकालकर सूर्य के दर्शन कराना।

निष्क्रय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वेतन। तनखाह। मजदूरी। भाड़ा। (२) वह धन जो किसी पदार्थ के बदले में दिया जाय। (३) विनिमय। बदला। (४) बिक्री। बेचने की क्रिया। (५) सामर्थ्य। शक्ति। (६) पुरस्कार। इनाम।

निष्क्रिय-वि० [सं०] जिसमें कोई क्रिया या व्यापार न हो। सब प्रकार की क्रियाओं से रहित। निश्चेष्ट।

यौ०-निष्क्रिय प्रतिरोध = किसी कार्य या आज्ञा का वह विरोध जिसमें विरोध करनेवाला अपनी समझ से सत्य और उचित काम करता रहता है और इस बात की परवा नहीं करता कि इसके लिये मुझे दंड सहना पड़ेगा।

संज्ञा पुं० कर्मशून्य ब्रह्म।

निष्क्रियता-संज्ञा स्त्री० [सं०] निष्क्रिय होने का भाव या अवस्था।

निष्कलेश-वि० [सं०] (१) क्लेशरहित । सब प्रकार के कष्टों से मुक्त । (२) बौद्धों के अनुसार दसों प्रकार के क्लेशों से मुक्त ।

निष्कवाथ-संज्ञा पुं० [सं०] मांस आदि का रस । शोरबा ।

निष्ठि-संज्ञा स्त्री० [सं०] दूध की कन्या और कश्यप की स्त्री दिति का एक नाम ।

निष्ठित्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] अदिति का एक नाम ।

निष्ठु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चांडाल । (२) स्लेच्छों की एक जाति का नाम जिसका उल्लेख वेदों में है ।

निष्ठु-वि० [सं०] (१) स्थित । ठहरा हुआ । (२) तत्पर । लगा हुआ । जैसे, कर्त्तव्यनिष्ठ । (३) जिसमें किसी के प्रति श्रद्धा या भक्ति हो । जैसे, स्वामिनिष्ठ ।

निष्ठांत-वि० [सं०] जिसका नाश अवश्य हो । जो अविनाशी न हो । नष्ट होनेवाला ।

निष्ठा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्थिति । अवस्था । ठहराव । (२) निर्वाह । (३) मन की एकांत स्थिति । चित्त का जमना । (४) विश्वास । निश्चय । (५) धर्म, गुरु या बड़े आदि के प्रति श्रद्धा-भक्ति । पुण्य बुद्धि । (६) विष्णु जिनमें प्रलय के समय समस्त भूतों की स्थिति होगी । (७) इति । समाप्ति । (८) नाश । (९) सिद्धावस्था की अंतिम स्थिति । ज्ञान की वह चरमावस्था जिसमें आत्मा और ब्रह्म की एकता हो जाती है ।

निष्ठान, निष्ठानक-संज्ञा पुं० [सं०] चटनी आदि ।

निष्ठान-वि० [सं० निष्ठानत्] जिसमें निष्ठा या श्रद्धा हो ।

निष्ठित-वि० [सं०] (१) स्थित । दृढ़ । ठहरा या जमा हुआ । (२) जिसमें निष्ठा हो । निष्ठायुक्त ।

निष्ठिवन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) थूक । (२) वैद्यक के अनुसार एक औषध जिसका व्यवहार गले या फेफड़े से कफ निकालने में किया जाता है । इसके सेवन से रोगी कफ थूकने लगता है ।

निष्ठुर-वि० [सं०] [स्त्री० निष्ठुरा] (१) कठिन । कड़ा । सख्त । (२) जिसमें दया न हो । कठोर-हृदयवाला । क्रूर । बेरहम ।

निष्ठुरता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) निष्ठुर होने का भाव । कड़ाई । सख्ती । कठोरता । (२) निर्दयता । क्रूरता । बेरहमी ।

निष्ठुरिक-संज्ञा पुं० [सं०] एक नाग का नाम जिसका उल्लेख महाभारत में है ।

निष्ठैव, निष्ठैवन-संज्ञा पुं० [सं०] थूक ।

निष्ण-वि० [सं०] कुशल । होशियार ।

निष्णात-वि० [सं०] किसी विषय का बहुत अच्छा ज्ञाता या जानकार । किसी बात का पूरा पंडित । विज्ञ । निपुण ।

निष्पंक-वि० [सं०] जिसमें कीचड़ आदि न लगा हो । स्वच्छ । निर्मल । साफ़ । सुथरा ।

निष्पंद-वि० [सं०] जिसमें किसी प्रकार का कंप न हो ।

निष्पक्ष-वि० [सं०] जो किसी के पक्ष में न हो । पक्षपातरहित ।

निष्पक्षता-संज्ञा स्त्री० [सं०] निष्पक्ष होने का भाव । पक्षपात न करने का भाव ।

निष्पताकध्वज-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का ध्वज जिसे राजा लोग अपने पास रखते थे । यह ध्वज ठीक पताका के ध्वज के समान होता था, अंतर केवल इतना ही होता था कि इसमें पताका नहीं होती थी ।

निष्पत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) समाप्ति । अंत । (२) सिद्धि । परिपाक । (३) दृढ बोध के अनुसार नाद की चार प्रकार की अवस्थाओं में से अंतिम अवस्था । (४) निर्वाह । (५) मीमांसा । (६) निश्चय । निर्धारण ।

निष्पत्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] करील का पेड़ ।

निष्पद-संज्ञा पुं० [सं०] वह सवारी जिसमें पहिए आदि न हों । जैसे, नाव आदि ।

निष्पक्ष-वि० [सं०] जिसकी निष्पत्ति हो चुकी हो । जो समाप्त या पूरा हो चुका हो ।

निष्परिग्रह-वि० [सं०] (१) जो दान आदि न ले । (२) जिसके स्त्री न हो । रंडुआ । (३) अविवाहित । कुंवारा ।

निष्परुष-वि० [सं०] जो सुनने में कर्कश न हो । कोमल ।

निष्पवन-संज्ञा पुं० [सं०] धान आदि की भूसी निकालना । कूटना छोटना ।

निष्पाद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अनाज की भूसी निकालने का काम । दाना । (२) बोड़ा नाम की तरकारी या फली । (३) मटर । (४) सेम ।

निष्पादक-वि० [सं०] निष्पत्ति करनेवाला ।

निष्पादन-संज्ञा पुं० [सं०] निष्पत्ति करना ।

निष्पादी-संज्ञा स्त्री० [सं०] बोड़ा नाम की तरकारी या फली । लोबिया ।

निष्पाव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भूसी निकालना । कूट छोट । (२) सूप की हवा । (३) सेम । लोबिया ।

निष्पावक-संज्ञा पुं० [सं०] सफेद सेम ।

निष्पीडन-संज्ञा पुं० [सं०] निचोड़ना । गीले कपड़े को दबाकर उसमें से पानी निकालना ।

निष्पुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] पुत्रहीन । जिसके आगे पुत्र न हो ।

निष्पुलाक-संज्ञा पुं० [सं०] आगामी उत्सर्पिणी के अनुसार १४ वें अर्हत का नाम । (जैन)

निष्प्रकंप-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार तेरहवें मन्वन्तर के सप्तर्षियों में से एक का नाम ।

निष्प्रचार-संज्ञा पुं० [सं०] जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर न जा सके । जिसमें गति न हो । न चल सकने योग्य ।

निष्प्रभ-वि० [सं०] जिसमें किसी प्रकार की प्रभा या चमक न हो। प्रभाशून्य। तेजरहित।

निष्प्रयोजन-वि० [सं०] (१) प्रयोजन-रहित। जिसमें कोई मतलब न हो। स्वार्थशून्य। जैसे, निष्प्रयोजन प्रीति। (२) जिससे कुछ अर्थ सिद्ध न हो। (३) व्यर्थ। निरर्थक।
क्रि० वि० (१) बिना अर्थ या मतलब के। (२) व्यर्थ। फूजूल।

निष्प्राण-वि० [सं०] प्राणरहित। मुरदा। मरा हुआ।

निष्प्रेही*-वि० [सं० निस्पृह] जिसको किसी वस्तु की चाह न हो। किसी बात की इच्छा न रखनेवाला। उ०—चतुराई हरि ना मिलै ये बातों की बात। निष्प्रेही निराधार को गाहक दीना-नाथ।—कबीर।

निष्फल-वि० [सं०] (१) जिसका कोई फल न हो। व्यर्थ। निरर्थक। बेफायदा। (२) अंडकोश-रहित। जिसके अंडकोष न हो। उ०—हे दुर्मति तूने मेरा रूप लेकर इस अकार्थ कर्म को किया इसलिये तैं निष्फल अर्थात् अंडकोश रहित हो जायगा।—गोपाल भट्ट (वाल्मीकि रामायण)। (३) धान का पयाल। पूला।

निष्फला-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्त्री जिसका रजोधर्म होना बंद हो गया हो। वृद्धा स्त्री।

विशेष—जटाधर के मत से ५० वर्ष की अवस्था के उपरांत और सुश्रुत के मत से ५५ वर्ष की अवस्था के उपरांत स्त्रियाँ निष्फला हो जाती हैं।

निष्फलि-संज्ञा पुं० [सं०] अश्वों के निष्फल करने का अश्व।

विशेष—वाल्मीकि के अनुसार जिस समय विश्वामित्र अपने साथ रामचंद्र को वन में ले गए थे उस समय उन्होंने रामचंद्र को और और अश्वों के साथ यह अश्व भी दिया था।

निसंक-वि० दे० “निरशंक”।

निसंसा*-वि० [सं० नृशंस] क्रूर। बेरहम। निर्दय।

निसंसना*-क्रि० अ० [सं० निःश्वास] हाँफना। निःश्वास लेना।
उ०—खनहिं निसांस बूढ़ि जिउ जाई। खनहिं उठइ निसंसइ बउराई।—जायसी।

निस-संज्ञा स्त्री० दे० “निशा”।

निसक-वि० [सं० निःशक्त] अशक्त। कमजोर। दुर्बल। उ०—
कहैं यहै श्रुति समुत सो यहै सयाने लोग। तीन दबावत निसक ही राजा पातक रोग।—बिहारी।

निसकरा*-संज्ञा पुं० [सं० निशकर] चंद्रमा। चाँद।

निसचय-संज्ञा पुं० दे० “निश्चय”।

निसत*-वि० [सं० निःसत्य] असत्य। मिथ्या।

निसतरना*-क्रि० अ० [सं० निस्तार] निस्तार पाना। छुटकारा पाना। छुट्टी पाना।

निसतार-संज्ञा पुं० दे० “निस्तार”।

निसद्योस*-क्रि० वि० [सं० निशि + दिवस] रात दिन। नित्य। सदा।

निसनेहा*-संज्ञा स्त्री० दे० “निःस्नेहा”।

निसवत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) संबंध। लगाव। सारलुक। जैसे, इन दोनों में कोई निसवत नहीं है। (२) मँगनी। विवाह संबंध की बात।

क्रि० प्र०—आना।—ठहरना।

(३) तुलना। अपेक्षा। मुकाबला। जैसे, (क) इसकी और उसकी क्या निसवत? (ख) यह चीज उसकी निसवत अच्छी है।

विशेष—इदाहरण ‘ख’ की कोटि के वाक्यों में “निसवत” शब्द के पहले प्रायः फारसी का “ब” उपसर्ग लगा देते हैं। जैसे, इसकी बनिसवत वह कुछ बड़ा है।

मुहा०—निसवत देना = तुलना करना। मुकाबला करना।

निसरना*-क्रि० अ० [सं० निःस्रवण] निकलना। बाहर होना।
उ०—नव दसन निसरत बदन मँह जो दसन कली समान तैं।—सीताराम।

निसर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्वभाव। प्रकृति। (२) रूप। आकृति। (३) दान। (४) सृष्टि।

निसर्गायु-संज्ञा स्त्री० [सं० निसर्गायुस्] फलित ज्योतिष में एक प्रकार की गणना जिससे किसी व्यक्ति की आयु का पता लगाया जाता है।

निसवादली*-वि० [सं० निःस्वाद] स्वाद-रहित। जिसमें कोई स्वाद न हो। उ०—जनक भूठ निसवादली कौन बात परिजाइ। तिथसुख रति आरंभ की नहिं झूठयहि मिटाइ।—बिहारी।

निसवासर*-संज्ञा पुं० [सं० निशिवासर] रात और दिन।

क्रि० वि० नित्य। सदा। हमेशा।

निसस*-वि० [सं० निःश्वास] श्वास-रहित। अचेत। बेहोश।
उ०—निसस ऊभ मर लीन्है सासा। भइ आधार जीवन की आसा।—जायसी।

निसहाय-वि० दे० “निस्सहाय”।

निसांक-वि० [सं० निःशंक] (१) बेखटके। निर्भय। बेखौफ। (२) बेफिक्र। निश्चिंत।

निसांस*-संज्ञा पुं० [सं० निःश्वास] ठंडी साँस। लंबी साँस। वि० बेदम। मृतकप्राय। उ०—खिनहीं साँस बूढ़ि जिव आई। खिनहिं उठै निसरै बौराई।—जायसी।

निसा-संज्ञा स्त्री० [? निशाखातिर] संतोष। तृप्ति। उ०—है है तब निसा मेरे लोचन चकोरनि की जब वह अमेल आनन हंडु देखिहैं।—मतिराम।

मुहा०—निसा भर = जी भर के। खूब अच्छी तरह। उ०—

आज निसा भरि प्यारे निसा भरि कीजिये कान्हर केलि
खुसी मै।—ठाकुर।

* संज्ञा स्त्री० दे० “निशा”।

† संज्ञा पुं० दे० “नशा”।

निसाकर—संज्ञा पुं० दे० “निशाकर”।

निसाचर—संज्ञा पुं० दे० “निशाचर”।

निसाद—संज्ञा पुं० [सं० निषाद] भंगी। मेहतर।

निसान—संज्ञा पुं० [फा० निशान] (१) दे० “निशान”। (२)
नगाड़ा। धौंसा। उ०—बीस सहस्र घुमरहि निसाना। गुल-
कंचन फेरहि असमाना।—जायसी।

निसानन*†—संज्ञा पुं० [सं० निशानन] संध्या का समय।
प्रदोष काल।

निसाना—संज्ञा पुं० दे० “निशाना”।

निसानाथ*—संज्ञा पुं० दे० “निशानाथ”।

निसानी—संज्ञा स्त्री० दे० “निशानी”।

निसापति—संज्ञा पुं० दे० “निशापति”।

निसाफा†—संज्ञा पुं० [अ० इन्साफ] न्याय। इनसाफ।

निसार—संज्ञा पुं० [अ०] (१) निछावर। सद्का। उत्तार।
(२) मुगलों के राजत्व काल का एक सिक्का जो चौथाई
रूपय या चार आने मूल्य का होता था।
संज्ञा पुं० [सं०] (१) समूह। (२) सहोरा या सोनापाठा
नाम का वृक्ष।

*† वि० दे० “निस्सार”।

निसारक—संज्ञा पुं० [सं०] शालक राग का एक भेद।

निसारना†—क्रि० सं० [सं० निःसारण] निकालना। बाहर करना।

निसारा—संज्ञा स्त्री० [सं० निःसारा] केले का पेड़।

निसावरा—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का कवूतर।

निसास*—संज्ञा पुं० [सं० निःश्वास] गहरी या ठंडा साँस।

वि० [हिं० नि (प्रत्यय) + साँस] विगतश्वास। बेदम। उ०—
गगन भरति जल बूझि गइ बूझत होइ निसास। पिय पिय
चातक जोहि री मरै सेवाति पियास।—जायसी।

निसासी*—वि० [सं० निःश्वास] जिसका साँस न चलता हो।
बेदम। उ०—अब हूँ मरौं निसासी हिये न आवै साँस।

रुगिया की को चलै वैदहि जहाँ उपास।—जायसी।

निसिंधु—संज्ञा पुं० [सं०] समूह नाम का पेड़।

निसि—संज्ञा स्त्री० [सं० निशि] (१) दे० “निशि”। (२) एक
वृत्त का नाम। इसके प्रत्येक चरण में एक भग्या और एक
बधु (SII—) होता है।

निसिकर—संज्ञा पुं० दे० “निसिकर” वा “निशाकर”।

निसिचर*†—संज्ञा पुं० दे० “निशाचर”।

निसिचारी*—संज्ञा पुं० [सं० निशिचारी] निशाचर। राक्षस।

निसिदिन*—क्रि० वि० [सं० निशिदिन] (१) रातदिन। आठो
पहर। (२) सदा। सर्वदा। नित्य। हमेशा।

निसिनाथ*—संज्ञा पुं० दे० “निशिनाथ” या “निशानाथ”

निसिनाड*—संज्ञा पुं० [सं० निशिनाथ] चंद्रमा।

निसि निसि—संज्ञा स्त्री० [सं० निशि निशि] अर्द्ध रात्रि। निशीथ।
आधी रात। उ०—निसि निसि निशिथ निशाह निशि
होन लगी अधरात। कौन चलै सखि सोय रहूँ जैहों उठि
परभात।—नंददास।

निसिपति*—संज्ञा पुं० [सं० निशिपति] चंद्रमा।

निसिपाल*—संज्ञा पुं० [सं० निशिपाल] चंद्रमा।

निसिमनि*—संज्ञा पुं० [सं० निशामणि] चंद्रमा।

निसिमुख*—संज्ञा पुं० दे० “निशामुख”।

निसिवासर*—क्रि० वि० [सं० निशि + वासर] रातदिन। सदा।
सर्वदा। नित्य।

निसीठी—वि० [सं० निः + हिं० सीठी] जिसमें कुछ तत्त्व न
हो। निःसार। नीरस। थोथा। उ०—तुम बातें निसीठी कहौ
रिस में मिसरी ते मीठी हमें लागती हैं।—पद्माकर।

निसीथ*—संज्ञा पुं० दे० “निशीथ”।

निसुंधु—संज्ञा पुं० [सं०] प्रह्लाद के भाई ह्लाद के पुत्र का नाम।

निसुंभ—संज्ञा पुं० दे० “निशुंभ”।

निसु*†—संज्ञा स्त्री० दे० “निशा”।

निसूदक—वि० [सं०] हिंसा करनेवाला। हिंसक।

निसूदन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) हिंसा करना। (२) वध
करना।

निसूत—वि० दे० “निःसूत”।

निसूता—संज्ञा स्त्री० [सं०] निसोथ।

निसृष्ट—वि० [सं०] (१) छोड़ा हुआ। जो छोड़ दिया गया
हो। (२) मध्यस्थ। जो बीच में पड़कर कोई बात करे।
(३) भेजा हुआ। प्रेरित। (४) दिया हुआ। दत्त। (५)
अर्पित किया हुआ।

निसृष्टार्थ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) तीन प्रकार के दूतों में से एक
दूत। वह दूत जो दोनों पक्षों का अभिप्राय अच्छी
तरह समझ कर स्वयं ही सब प्रश्नों का उत्तर दे देता और
कार्य सिद्ध कर लेता है। (२) वह मनुष्य जो धन के
आयव्यय और कृषि तथा वाणिज्य की देखरेख के लिये
नियुक्त किया जाय। (३) वह मनुष्य जो धीर और शूर
हो, अपने मालिक का काम तत्परता से करता रहे और
अपना पौरुष प्रकट करे।

निसैनी†—संज्ञा स्त्री० [सं० निःश्रेणी] सीढ़ी। जीना। सोपान।

निसेष*—वि० दे० “निःशेष”।

निसैस*—संज्ञा पुं० [सं० निशेष] चंद्रमा।

निसैनी—संज्ञा स्त्री० दे० “निसैनी”।

निसोग*-वि० [सं० निःशोक] जिसे कोई शोक या चिंता न हो ।

निसोच्च*-वि० [सं० निःशोच] चिंता-रहित । निश्चिंत । बेफिक्र ।

निसोत्त-वि० [सं० निःसंयुक्त] जिसमें और किसी चीज का मेल न हो । शुद्ध । निरा । उ०—(क) तौ कत त्रिविध सूख निस वासर सहते विपति निसोती ।—तुलसी । (ख) रीकत राम सनेह निसोते । को जग मंद मलिन मति मोते ।—तुलसी । (ग) कृपा सुधा जल दानि मानिबो कहा सो साँच निसोते ।—तुलसी । संज्ञा स्त्री० दे० “निसोथ” ।

निसोत्तर-संज्ञा पुं० दे० “निसोत” ।

निसोथ-संज्ञा स्त्री० [सं० निसुता] एक प्रकार की लता जो प्रायः सारे भारत के जंगलों में और पहाड़ों पर ३००० फुट की ऊँचाई तक पाई जाती है । इसके परे गोल और नुकीले होते हैं और इसमें गोल फल लगते हैं । यह तीन प्रकार की होती है—सफेद, काली और लाल । सफेद निसोथ में सफेद रंग के, काली में कालापन लिए बैंगनी रंग के और लाल के फल कुछ लाल रंग के होते हैं । सफेद निसोथ के पत्ते और फल अपेक्षाकृत कुछ बड़े होते हैं और वैद्यक में वही अधिक गुणकारी भी मानी जाती है । भारत में बहुत प्राचीन काल से वैद्य लोग इसका व्यवहार करते आए हैं और इसका गुलाब सबसे अच्छा समझते हैं । औषध के काम के लिये बाजार में इसकी जड़ तथा डंठलों के कटे हुए टुकड़े मिलते हैं । वैद्यक में इसे गरम, चरपरी, रुखी, रेंचक और कफ, सूजन तथा उदर-रोगों को दूर करनेवाली माना है ।

पर्या०—त्रिवृत् । सुवहा । त्रिपुटा । त्रिमंडी । रेचनी । सरा । सहा । सरसा । रोचनी । मालविका । श्यामा । मसूरी । अर्द्धचंद्रा । विदला । सुषेणी । कालिंगिका । कालमेषी । काली । त्रिवेला । त्रिवृत्तिका । सारा । निसुता ।

निसोथु*-संज्ञा स्त्री० [हिं० सोथ या सुथ] (१) सुथ । खबर । (२) सँदेश । कहलाया हुआ समाचार ।

निसोत*-संज्ञा स्त्री० दे० “निसोथ” ।

निसुकी-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का रेशम का कीड़ा जिसे निरुरी भी कहते हैं ।

निसुकेवल-वि० [सं० निष्केवल] बेमेल । शुद्ध । निर्मल । खालिस । (बोलाचाल) । उ०—उमा जोग जप दान तप नाना व्रत मख नेम । राम कृपा नहिं करहिं तसि जसि निसुकेवल प्रेम ।—तुलसी ।

निस्तंतु-वि० [सं०] जिसके कोई संतान न हो ।

निस्तंद्र-वि० [सं०] (१) जिसमें आलस्य न हो । निरालस्य । (२) बलवान । मजबूत ।

निस्तनत्व-वि० [सं०] जिसमें कोई तन न हो । निस्तार ।

निस्तव्य-वि० [सं०] (१) जो गड़ या जम सा गया हो । जो हिजता डोळता न हो । जिसमें गति या व्यापार न हो । (२) जड़वत् । निश्चेष्ट ।

निस्तव्यता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्तब्ध होने का भाव । खामोशी । (२) जरा भी शब्द न होने का भाव । सन्नाटा । **निस्तरण**-संज्ञा पुं० [सं०] (१) निस्तार । छुटकारा । उद्धार । (२) पार जाने की क्रिया या भाव ।

निस्तरना*-क्रि० अ० [सं० निस्तार] निस्तार पाना । पार होना । मुक्त होना । छूट जाना । उ०—नाथ जीव तव माया मोहा । सो निस्तरइ तुम्हारेहि छोहा ।—तुलसी ।

निस्तरी-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का रेशम का कीड़ा जिसका रेशम बंगाल के “देशी” कीड़ों के रेशम की अपेक्षा कुछ कम मुलायम और चमकीला होता है । इसके तीन भेद होते हैं—मदरासी, सोनामुखी और कृमि ।

निस्तार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पार होने का भाव । (२) छुटकारा । मोक्ष । बचत । बचाव । उद्धार ।

निस्तारक-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० निस्तारिका] निस्तार करनेवाला । बचानेवाला । छुड़ानेवाला ।

निस्तारण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) निस्तार करना । बचाना । छुड़ाना । (२) पार करना । (३) जीतना ।

निस्तारन*-वि० दे० “निस्तारण” ।

निस्तारना*-क्रि० सं० [सं० निस्तार + ना (प्रत्य०)] छुड़ाना । मुक्त करना । उद्धार करना ।

निस्तार वीज-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार वह उपाय या काम जिससे मनुष्य की इस संसार तथा जन्म मरण आदि से मुक्ति हो जाय । जैसे, भगवान के नाम का स्मरण, कीर्तन, अर्चन, पादसेवन, वंदन, चरणोदक-पान, विष्णु के मंत्र का जप आदि ।

विशेष—पुराणों में लिखा है कि कलियुग में जब लोग तपोहीन हो जायेंगे तब इन्हीं सब कामों से उनकी मुक्ति होगी ।

निस्तारा*-संज्ञा पुं० दे० “निस्तार” ।

निस्तमिर-वि० [सं०] अंधकार से रहित या शून्य ।

निस्तोर्ण-वि० [सं०] (१) पार गया हुआ । जो सँ या पार कर चुका हो । (२) जिसका निस्तार हो चुका हो । छूटा हुआ । मुक्त ।

निस्तुष-वि० [सं०] (१) बिना भूखी का । जिसमें भूखी न हो । (२) निर्मल ।

निस्तुष रत्न-संज्ञा पुं० [सं०] स्फटिक मणि ।

निस्तुष क्षीर-संज्ञा पुं० [सं०] गेहूँ ।

निस्तैज-वि० [सं० निस्तैजस्] तेजरहित । जिसमें तेज न हो । अग्रभ । मलिन ।

निस्तैल-वि० [सं०] तैलरहित । बिना तेल का । जिसमें तेल न हो ।

निस्त्रप-वि० [सं०] निर्लज्ज । बेहया । बेशर्म ।

निस्त्रिंश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) खड्ग । (२) तंत्र के अनुसार एक प्रकार का मंत्र ।

वि० [सं०] निर्दय । जिसमें दया न हो ।

निस्त्रिंश पत्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] थूहर ।

निस्त्रुटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ी इलायची ।

निस्त्रैगुण्य-वि० [सं०] जो सत्, रज और तम इन तीनों गुणों से रहित या अलग हो ।

निस्त्रैगुण्य-संज्ञा पुं० [सं०] धतूरे का पेड़ ।

निस्नेह-वि० [सं०] (१) जिसमें प्रेम न हो । (२) जिसमें तेल न हो ।

संज्ञा पुं० [सं०] तंत्र के अनुसार एक प्रकार का मंत्र ।

निस्नेहफला-संज्ञा स्त्री० [सं०] भटकटैया । कटेरी ।

निस्पंद-वि० [सं०] जिसमें स्पंदन न हो । कंपरहित । स्थिर ।

निस्पृह-वि० [सं०] जिसे किसी प्रकार का लोभ न हो । लालच या कामना आदि से रहित ।

निस्पृहता-संज्ञा स्त्री० [सं०] निस्पृह होने का भाव । लोभ या लालसा न होने का भाव ।

निस्पृहा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अग्निशिखा या कलिहारी नामक पेड़ ।

निस्पृही-वि० दे० “निस्पृह” ।

निस्फ-वि० [अ०] अर्द्ध । आधा । दो बराबर भागों में से एक भाग ।

निस्फला-वि० दे० “निष्फल” ।

निस्फोवर्टाई-संज्ञा स्त्री० [अ० निस्फ + ई (प्रत्य०) + हिं० बँटाई] वह बँटाई जिसमें आधी उपज जमींदार और आधी असामी लेता है । अधिया ।

निस्वत-संज्ञा स्त्री० दे० “निसवत” ।

निस्त्रव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भात का माँड़ । (२) वह जो वह या झड़ कर निकला हो ।

निस्त्रव-संज्ञा पुं० [सं०] भात का माँड़ । वह जो वह या झड़कर निकले । पसेव ।

निस्त्र-वि० [सं०] दरिद्र । गरीब ।

निस्त्रन-संज्ञा पुं० [सं०] शब्द । आवाज़ ।

निस्त्रान-संज्ञा पुं० दे० “निस्त्रन” ।

निस्त्रास-संज्ञा पुं० दे० “निस्त्रास” ।

निस्त्रकोच-वि० [सं०] संकोचरहित । जिसमें संकोच या खजा न हो । बेघड़क ।

निस्त्रतान-वि० [सं०] जिसे कोई संतान न हो । संतति-रहित ।

निस्त्रदेह-क्रि० वि० [सं०] अवश्य । जरूर । बेशक । सचमुच । वि० जिसमें संदेह न हो ।

निस्त्रण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) निकलने का मार्ग या स्थान । (२) निकलने का भाव या क्रिया । निकास ।

निस्त्रार-वि० [सं०] (१) सार-रहित । जिसमें कुछ भी सार या गूदा न हो । (२) जिसमें कोई काम की वस्तु न हो । निस्तत्त्व ।

निस्त्रारित-वि० [सं०] निकाला हुआ । बाहर किया हुआ ।

निस्त्रसीम-वि० [सं०] (१) जिसकी कोई सीमा न हो । असीम । अपार । (२) बहुत अधिक ।

निस्त्रुत-संज्ञा पुं० [सं०] तलवार के ३२ हाथों में से एक । उ०—
दोड़ करत खंग प्रहार बारहिं बार बहुत प्रकार के । तिन को कहत मैं नाम जो हैं हाथ मुख्य हथ्यार के । उद्भांत भ्रांत प्रवृद्ध आकर विकर भिन्न अमानुषै । आविद्ध निर्मर्याद कुल चितवहु निस्त्रुत रिपुरन दुषै ।—रघुराज ।

निस्त्रादु-वि० [सं०] (१) जिसमें कोई स्वाद न हो । (२) जिसका स्वाद बुरा हो ।

निस्त्रार्थ-वि० [सं०] स्वार्थ से रहित । जिसमें स्वयं अपने लाभ या हित का कोई विचार न हो ।

निहंग-वि० [सं० निःसंग] (१) एकाकी । अकेला । (२) विवाह आदि न करनेवाला वा स्त्री आदि से संबंध न रखनेवाला (साधु) । (३) नंगा । (४) बेहया । बेशरम ।

संज्ञा पुं० (१) एक प्रकार के वैष्णव साधु । (२) अकेले रहनेवाला साधु ।

निहंगम-वि० दे० “निहंग” ।

निहंग-लाडला-वि० [हिं० निहंग + लाडला] जो माता पिता के दुलार के कारण बहुत ही उदंड और लापरवा हो गया हो ।

निहंता-वि० [सं० निहंत] [स्त्री० निहंत्री] (१) विनाशक । नाश करनेवाला । (२) मारनेवाला । प्राण लेनेवाला ।

निहकमी-वि० दे० “निष्कमी” ।

निहकमी-वि० दे० “निष्कमी” ।

निहकलंक-वि० दे० “निष्कलंक” ।

निहकाम-वि० दे० “निष्काम” । उ०—नर नारी सब नर कहैं जब लग देह सकाम । कहै कबीर सो राम को जो सुमिरै निहकाम ।—कबीर ।

निहकामी-वि० दे० “निष्कामी” । उ०—सहकामी सुमिरन करे पावै उत्तम धाम । निहकामी सुमिरन करै पावै अविचल राम ।—कबीर ।

निहचका-संज्ञा पुं० [सं० नेमि + चक्र] पहिए के आकार का काठ का गोल चक्र जो कूर्प की नीव में दिया जाता है ।

निवार । जमवट । जाखिम ।

निहचय-संज्ञा पुं० दे० “निश्चय” ।

निहचल-वि० दे० “निश्चल” ।

निहठा—संज्ञा स्त्री० [सं० निठा] लकड़ी का वह टुकड़ा जिसपर रखकर बढ़ई गढ़ने की चीज़ों को बँसूले से गढ़ते हैं।

निहत—वि० [सं०] (१) फेंका हुआ। (२) नष्ट। (३) मारा हुआ। जो मार डाला गया हो।

निहत्था—वि० [हिं० नि + हाथ] (१) जिसके हाथ में कोई शस्त्र न हो। शस्त्रहीन। उ०—हमारे साथ कई मनुष्य पैदल और निहत्थे थे।—शिवप्रसाद। (२) जिसके हाथ में कुछ न हो। खाली हाथ। निर्धन। गरीब।

निहनना—क्रि० सं० [सं० निहनन] मारना। मार डालना। उ०—तहाँहिं कबंध दुहुन पर धायो। ताहि निहनि सुरलोह पठायो।—पद्माकर।

निहपाप—वि० दे० “निष्पाप”।

निहफल—वि० दे० “निष्फल”।

निहला—संज्ञा पुं० [देश०] वह जमीन जो नदी के पीछे हट जाने से निकल आई हो। गंगारार। कछार।

निहलिस्ट—संज्ञा पुं० [अ०] (१) वह पुरुष जिसका यह सिद्धांत हो कि वस्तुओं का वास्तविक ज्ञान होना असंभव है क्योंकि वस्तुओं की सत्ता ही नहीं है। ऐसे लोग वस्तुओं की वास्तविक सत्ता और उन वस्तुओं के सत्तात्मक ज्ञान का निषेध करते हैं। (२) रूस देश का एक दल। यह पहले एक सामाजिक दल था जो प्रचलित वैवाहिक प्रथा तथा रीति रवाज और पैतृक शासन का विरोधी था पर पीछे एक राजनैतिक दल हो गया और सामाजिक और राजनैतिक नियंत्रित नियमों का ध्वंसक और नाशक बन गया। (३) इस दल का कोई आदमी।

निहाई—संज्ञा स्त्री० [सं० निघाति मि० फा० निहाली] सोनारों और लोहारों का एक औजार जिसपर वे धातु को रखकर हथौड़े से कूटते या पीटते हैं। यह लोहे का बना हुआ चौकोर होता है और नीचे की अपेक्षा ऊपर की ओर कुछ अधिक चौड़ा होता है। नीचे की ओर से निहाई को एक काठ के टुकड़े में जोड़ देते हैं जिससे यह कूटते या पीटते समय इधर उधर हिलती डोलती नहीं। यह छोटी बड़ी कई आकार और प्रकार की होती है।

यौ०—निहाई की थाली = वह थाली जो निहाई पर रखकर नकाशी गई हो।

निहाडा—संज्ञा पुं० [सं० निघाति] लोहे का घन। उ०—सुरज कीन्ह सांग पर बाज। परा खरग जनु परा निहाऊ।—जायसी।

निहाका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गोह नामक जंतु। (२) घड़ियाल।

निहानी—संज्ञा स्त्री० [सं० निखनित्री] (१) एक प्रकार की खानी जिसकी नाक अर्द्ध चंद्राकार होती है और जिससे बारीक खुदाई

का काम होता है। कलम। (२) एक नाकदार औजार जिससे ठप्पे की लकीरों के बीच में भरा हुआ रंग खुरच कर साफ किया जाता है।

निहायत—वि० [अ०] अत्यंत। बहुत अधिक। जैसे, निहायत उम्दा चीज, निहायत बारीक काम।

निहार—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुहरा। पाला। उ०—दंड एक रथ देखि न परा। जनु निहार मँहँ दिनमनि दुरा।—तुलसी। (२) ओस। (३) हिम। बरफ। उ०—चारु चंदन मनहु मरकत शिखर लसत निहार। रुचिर उर उपवीत राजत पदिक गजमनि हार।—तुलसी।

निहारना—क्रि० सं० [सं० निभारन = देखना] ध्यानपूर्वक देखना। देखना। ताकना। उ०—(क) भयो चकोर सो पंथ निहारे। समुंद सीप जस नैन पसारै।—जायसी। (ख) आँखडिया भाँई परी पंथ निहारि निहारि। जीभरिया बाला परयो, नाम पुकारि पुकारि।—कबीर। (ग) प्रभु सम्मुख कुछइ न पारहिं। पुनि पुनि चरन सरोज निहारहिं।—तुलसी। (घ) प्रथम पतना कंस पठाई अति सुंदर वपु धारयो। घँसि कै गरज लगाय उरोजन कपट न कोउ निहारयो।—सूर।

संयो० क्रि०—देना।—लेना।

निहारिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का आकाशस्थ पदार्थ जो देखने में धुंधले रंग के धब्बे की तरह होता है। विशेष—दे० “नीहारिका”।

निहारुआ—संज्ञा पुं० दे० “नहरुआ”।

निहाल—वि० [फा०] जो सब प्रकार से संतुष्ट और प्रसन्न हो गया हो। पूर्णकाम। उ०—(क) दास दुखी तो हरि दुखी आदि अंत तिहु काल। पलक एक में परगटै पल में कर निहाल।—कबीर। (ख) गए जो सरन आरत के लीन्हें। निरखि निहाल निमिष मँह कीन्हें।—तुलसी।

निहालचा—संज्ञा पुं० [फा०] छोटी तोशक या गद्दी जो प्रायः बच्चों के नीचे बिछाई जाती है।

निहाल लोचन—संज्ञा पुं० [फा० निहाला + सं० लोचन ?] वह घोड़ा जिसकी अयाल (कंसर) दो भागों में बटी हो, आधी दहिनी ओर आधी बाईं ओर।

निहाली—संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) गद्दा। तोशक। उ०—रेशम की नरम निहाली में सोना जो अदा से हँस हँस कर।—नजीर। (२) निहाई।

निहाव—संज्ञा पुं० [सं० निघाति] लोहे का घन।

निहिचय—संज्ञा पुं० दे० “निश्चय”।

निहिचिंत—वि० दे० “निश्चिंत”।

निहित—वि० [सं०] स्थापित। रखा हुआ।

निहीन—वि० [सं०] नीच। पामर।

निहंकना—क्रि० अ० [हिं० नि + हुकना] झुकना।

निहुड़ना—क्रि० अ० दे० “निहुरना” ।

निहुड़ना—क्रि० स० दे० “निहुराना” ।

निहुरना—क्रि० अ० [हिं० नि + होड़न] झुकना । नवना ।

उ०—(क) यक से पूजा जौन विचारा । यक से निहुरि निमाज गुजारा ।—कबीर । (ख) कुच अग्र नखच्छत नाह दियो सिर नाथ निहारति यों सजनी । ससि सेखर के सिरते सु मनें निहुरे ससि लेत कला अपनी ।—ब्रह्म ।

निहुराना—क्रि० स० [हिं० निहुरना का प्रे०] झुकाना । नवाना

उ०—भर सोली सिर निहुराए क्या बैठी है ।—इंशाअल्ला ।

निहोरा—संज्ञा पुं० दे० “निहोरा” ।

निहोरा—क्रि० स० [सं० मनोहार, हिं० मनुहार] प्रार्थना करना ।

विनय करना । उ०—(क) सुमिरि महेशहि कहइ निहोरी । विनती सुनहु सदाशिव मेरी ।—तुलसी । (ख) पुरजन परिजन सकल निहोरी । तात सुनाएहु बिनती मेरी ।—तुलसी । (ग) तापस वेष गात जपत निरंतर मोहि । देखवैं वेगि से जतन करु सखा निहोराहु तेहि ।—तुलसी । (३) मनाना । मनौती करना । उ०—(क) देवता निहोरी महा-मारिन ते कर जोरे, भोरानाथ भोरे अपनी सी कहि ठई है ।—तुलसी । (ख) ग्वालिन चली जमुना बहोरि । वाहि सब मिलि कहत आवहु कलू कहति निहोरि ।—सूर । (ग) जोरहु हुँकर भोरे से भाय निहोरत प्यारे पिथा बड़ भागी । (घ) है तो भली घर ही जो रहो तुम यों कहिके ननदी हूँ निहोरेड । (५) कृतज्ञ होना । एहसान लेना । उ०—सोइ कृपाल केवट हि निहोरे । जेहि जग किय तिहु पग ते थोरे ।—तुलसी ।

निहोरा—संज्ञा पुं० [सं० मनोहार, हिं० मनुहार] (१) अनुग्रह ।

एहसान । कृतज्ञता । उपकार । उ०—(क) क्या काशी क्या ऊसर मगहर हृदय राम वस मोरा । जो काशी तन तजै कबीरा रामहिं कौन निहोरा ?—कबीर । (ख) सो कछु देव न मोहिं निहोरा । निज पन राखेहु जन मन चोरा ।—तुलसी । (ग) कहा दाता जो द्रवै न दीनहिं देखि दुखित कलिकाळ । सूर श्याम को कहा निहोरो चलत बेद की चाल ।—सूर ।

क्रि० प्र०—मानना ।—लेना ।

(२) बिनती । प्रार्थना । उ०—(क) मैं आपनि दिसि कीन निहोरा । तिन्ह निज ओर न लाउव भोरा ।—तुलसी ।

(ख) चितै रघुनाथ वदन की ओर । रघुपति सो अब नेम हमारो विधि सों करति निहोरा ।—सूर ।

क्रि० प्र०—करना ।

(३) भरोसा । आसरा । आश्रय । आचार । उ०—(क) रात दिवस निरभय जिय मोरे । लग्यो निहोर कंत जो तोरे ।—जायसी । (ख) नाक सँवारत आयो हौं नाकहिं नाहीं पिनाकहिं नेकु निहोरे ।—तुलसी ।

क्रि० प्र०—लगाना ।

क्रि० वि० (१) निहोरे से । कारण से । बदौलत । द्वारा ।

उ०—(क) तुम बारिखे संत प्रिय मोरे । धरवैं देह नहिं आन निहोरे ।—तुलसी । (ख) तजवैं प्राण रघुनाथ निहोरे । दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरे ।—तुलसी । (२) के लिये । वास्ते । निमित्त । उ०—तुम बसीठ राजा की ओरा । साल होहु यहि भीख निहोरा ।—जायसी ।

निहव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) गोपन । छिपाव । दुराव । (२) एक प्रकार का साम । (३) अविश्वास । (४) शुद्धि । पवित्रता ।

निहृत—वि० [सं०] छिपाया हुआ ।

निहृति—संज्ञा स्त्री० [सं०] छिपाव । दुराव । गोपन ।

निहाद—संज्ञा पुं० [सं०] शब्द । ध्वनि ।

नींद—संज्ञा स्त्री० [सं० निद्रा, आ० निद्रा] जीवन की एक नित्यप्रति होनेवाली अवस्था जिसमें चेतन क्रियाएँ रुकी रहती हैं और शरीर और अंतःकरण दोनों विश्राम करते हैं । निद्रा । स्वप्न । सोने की अवस्था । विशेष—दे० “निद्रा” । उ०—(क) कीन्हैसि वरन स्वेत औ श्यामा । कीन्हैसि भूँख नींद विस-रामा ।—जायसी । (ख) जो करि कष्ट जाइ पुनि कोई । जातहि नींद जुड़ाई होई ।—तुलसी ।

क्रि० प्र०—आना ।—छूटना ।—जाना ।—लगाना ।

मुहा०—नींद उचटना=नींद का दूर होना । नींद उचटना=नींद दूर करना । सोने में बाधा डालना । नींद का दुखिया=बहुत सोनेवाला । सदा सोने का इच्छुक रहनेवाला । नींद का माता=नींद से व्याकुल । नींद से गिर गिर पड़नेवाला । नींद उचाट होना=नींद का खुलने पर फिर न आना । सोने में बाधा पड़ना । नींद टूटना=नींद का छूट जाना । जग पड़ना । नींद खराब करना=सोने का हर्ज करना । सोने में बाधा डालना । नींद खुलना=आँख खुलना । नींद टूटना । नींद खोना या नींदाना=सोने का हर्ज करना । निद्रा की दशा न रहना । नींद पड़ना=नींद आना । निद्रा की अवस्था होना । उ०—नींद न परै रैन जो आई ।—जायसी । नींद भरना=नींद पूरी करना । सोना । नींद भर सोना=जितनी इच्छा हो उतना सोना । इच्छा भर सोना । उ०—डासत ही सब बीति निसा गई कबहुँ न नाथ नींद भर सोयो ।—तुलसी । नींद मारना=सोना । नींद लेना=सोना । उ०—(क) नींद न लीन्ह रैन सब जागा । होत बिहान आय गढ़ लागा ।—जायसी । (ख) जब ते प्रीत श्याम सों कीन्हा । ता दिन ते नैननि नेकहु नींद न लीन्हा ।—सूर । नींद संचरना=नींद आना । उ०—द्वादशि में जो पारण करहीं । और शयन जो नींद संचरहीं ।—सबलसिंह । नींद हराम करना=सोना छुड़ा देना । सोने न देना । नींद हराम होना=सोना छूट जाना । सोने की नौबत न आना ।

नींदड़ी—संज्ञा स्त्री० दे० “नींद” । उ०—नैन न आवइ नींदड़ी

निस दिन तलफत जाय। दादू आतुर बिरहिनी, क्यों करि रहन बिहाय।—दादू।

नींदना-कि० सं० [सं० निकंदन] निराना।

क्रि० सं० दे० “नींदना”।

नींदरी-संज्ञा स्त्री० दे० “नींद”। उ०—हैं जँभात अलसात तात तेरी बानि जाति भै पाई। गाह गाह हलराह बोलिहों सुख नींदरी सुहाई।—तुलसी।

नीका-वि० [सं० नित्त = स्वच्छ, साफ। फा० नेक] [स्त्री० नीकी] अच्छा। सुंदर। भला। अनुकूल। उ०—(क) अब तुम कही नीक यह सोभा। पै फल सोई भँवर जेहि लोभा।—जायसी। (ख) गुन अवगुन जानत सब कोई। जो जेहि भाव नीक तेहि सोई।—तुलसी।

मुहा०—नीक लगना=(१) रचना। भाना। रचि के अनुकूल जान पड़ना। (२) सजना। सुशोभित होना।

संज्ञा पुं० अच्छाई। उत्तमता। अच्छापन। उ०—जोई फल देखी सोई फीका। ताकर काह सराहे नीका।—जायसी।

नीका-वि० [सं० नित्त = साफ, स्वच्छ। फा० नेक] [स्त्री० नीकी] अच्छा। उत्तम। बढ़िया। भला। उ०—(क) प्रभु पद प्रीति न सामुझि नीकी। तिन्हहिं कथा सुनि जागहि फीकी।—तुलसी। (ख) आज्ञा करी नाथ चतुरानन करो सृष्टि विस्तार। होरी खेलन की विधि नीकी रचना रचे अपार।—सूर।

मुहा०—नीका लगना=(१) रचना। भाना। लुहाना। अच्छा मालूम होना। (२) सुशोभित होना। सजना। सोहना।

नीकाश-वि० [सं०] तुल्य। समान।

नीके-क्रि० वि० [हि० नीक] अच्छी तरह। भली भाँति। उ०—(क) नीके निरखि नयन भरि सोभा।—तुलसी। (ख) मातहि पितहि उरिण भए नीके। गुरु ऋण रहा सोच बड़ जी के।—तुलसी। (ग) सुनि कहु वचन गयो मता पै तब इन ज्ञान दवायो। हरि की भक्ति करो सुत नीके जो चाहे सुख पाये।—सूर।

नीका-वि० दे० “नीका”।

नीग्रो संज्ञा पुं० [अ०] हबशी।

नीच-वि० [सं०] (१) जाति, गुण, कर्म या किसी और बात में घट कर वा न्यून। छुद्र। तुच्छ। अधम। हेठा। जैसे, नीच आदमी, नीच कुल।

यौ०—नीच ऊँच=छोटा बड़ा। बड़े घराने या छोटे घराने का। उ०—नीच ऊँच धन संपत्ति हेरा।—जायसी।

(२) जो बलम और मध्यम कोटि से घट कर हो। अधम। बुरा। निकृष्ट।

यौ०—नीच ऊँच=(१) अच्छा बुरा। (२) बुराई भलाई। गुण अवगुण। (३) अच्छा और बुरा परिणाम। हानि लाभ।

जैसे, नीच ऊँच समझकर काम करो। (४) संपद विपद। सुख दुःख। सफलता असफलता।

संज्ञा पुं० (१) नीच मनुष्य। छुद्र मनुष्य। ओछा आदमी। उ०—नीच निचाई रहि तजै जो पावै सतसंग। (२) चोर नामक गंधद्रव्य। (३) फलित ज्योतिष में वह स्थान जो किसी ग्रह के उच्च स्थान से सातवाँ हो। (४) भ्रमण काल में किसी ग्रह के भ्रमणवृत्त का वह स्थान जो पृथ्वी से अधिक दूर हो। (५) दशार्ण देश के एक पर्वत का नाम।

नीचकदब-संज्ञा पुं० [सं०] मुंडी।

नीच कमाई-संज्ञा स्त्री० [हि० नीच + कमाई] (१) निम्न व्यवसाय। तुच्छ काम। खोटा काम। (२) बुरे कामों से पैदा किया धन।

नीचका-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रशस्त गी। अच्छी गाय।

नीचका-संज्ञा पुं० [सं० नीचकिन्] [स्त्री० नीचकिनी] (१) उच्च। श्रेष्ठ। (२) ऊँचा। (३) जिसके पास, अच्छी गायें हों।

संज्ञा पुं० ऊपरी भाग।

नीचग-वि० [सं०] [स्त्री० नीचगा] (१) नीचे जानेवाला। (२) पामर। ओछा।

संज्ञा पुं० (१) पानी। (२) फलित ज्योतिष के अनुसार वह ग्रह जो अपने उच्च स्थान से सातवें पड़ा हो।

नीचगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नदी। (२) नीचवर्णगामिनी स्त्री। नीच के साथ गमन करनेवाली स्त्री।

नीचगामी-वि० [सं० नीचगामिन्] [स्त्री० नीचगामिनी] (१) नीचे जानेवाला। (२) ओछा।

संज्ञा पुं० जल।

नीचगृह-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जो किसी ग्रह के उच्च स्थान वा राशि से गिनती में सातवाँ पड़े।

नीचटा-वि० [सं० निश्चय] दृढ़। पक्का।

नीचता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नीच होने का भाव। (२) अधमता। खोटाई। तुच्छता। छुद्रता। कमीनापन।

नीचत्व-संज्ञा पुं० [सं०] नीचता।

नीचवज्र-संज्ञा पुं० [सं०] वैक्रांत मणि।

नीचा-वि० [सं० नीच] [स्त्री० नीची] (१) जिसके तल से उसके आस पास का तल ऊँचा हो। जो कुछ उतार या गहराई पर हो। गहरा। ऊँचा का उलटा। निम्न। जैसे, नीची जमीन, नीचा रास्ता।

यौ०—नीचा ऊँचा=कहीं गहरा और कहीं उठा हुआ। जो सम-तल न हो। नाबराबर। ऊँच खाबड़। उतार चढ़ाव।

(२) ऊँचाई में सामान्य की अपेक्षा कम। जो ऊपर की ओर दूर तक न गया हो। जैसे, नीचा पेड़, नीचा मकान, नीची टोपी। (ऊँचाई निचाई का भाव सापेक्ष होता है)। (३)

जो ऊपर से जमीन की ओर दूर तक आया हो। अधिक लटकता हुआ। जैसे, नीचा अंग, नीची धोती, नीची डाल। (४) जो ऊपर की ओर पूरा उठा न हो। झुका हुआ। नत। जैसे, सिर नीचा करना, झंडा नीचा करना, दृष्टि नीची करना, आँख नीची करना। उ०—(क) जाचक देहिं असीस सीस नीचो करि करि के।—गोपाल। (ख) रघुनाथ चितै हँसि ठाढ़ी रही पल घूँघट में दग नीचो करै।—रघुनाथ। (ग) देवर्षि ने देखा इन बातों के कहते, लाज से उसकी आँखें नीची हो गईं।—अयोध्यासिंह। (४) जो चढ़ा हुआ न हो। जो तीव्र न हो। धीमा। मध्यम। जो जोर का न हो। जैसे, नीचा सुर, नीची आवाज। (६) जो जाति, पद, गुण इत्यादि में न्यून या घट कर हो। जो उत्तम और मध्यम कोटि का न हो। छोटा या ओछा। छुद्र। बुरा।

मुहा०—नीचा ऊँचा = (१) भला बुरा। (२) भलाई बुराई। गुण अवगुण अच्छा और बुरा परिणाम। हानि लाभ। (३) संपद विपद। सुख दुःख। बढ़ती घटती। सफलता असफलता। नीचा ऊँचा दिखाना या सुनाना = दे० “ऊँचा नीचा दिखाना”। नीचा ऊँचा सुनाना = दे० “ऊँचा नीचा सुनाना”। नीचा खाना = (१) तुच्छ बनना। अपमानित होना। हेठा बनना। (२) हारना। परास्त होना। (३) लज्जित होना। भिपना। उ०—चालाकी में अच्छे खासे पट्टे, इस पंद्रह वर्ष मुंसिफ और सद्गुरु रह कहीं कुछ थोड़ा बहुत नीचा खाकर भी ...आठो गाँठ कुम्भेत हो चुके थे।—हिंदीप्रदीप। नीचा दिखाना = (१) तुच्छ बनाना। हेठा करना। अपमानित करना। (२) मानभंग करना। दर्प चूर्ण करना। शोखी झाड़ना। (३) परास्त करना। हारना। (४) भिपना। लज्जित करना। नीचा देखना = दे० “नीचा खाना”। उ०—कहीं किसी ने देख सुन लिया तो भी वही बात हुई। जग में नीचा अलग देखना पड़ता है।—अयोध्यासिंह। नीची दृष्टि करना = सिर झुकाना। सामने न ताकना। (लजा संकोच आदि से)। नीची दृष्टि से देखना = तुच्छ या छोटा समझना। मान या प्रतिष्ठा न करना। कदर न करना।

नीचाशय—वि० [सं०] तुच्छ विचार का। छुद्र। ओछा।

नीचा—वि० [हि० नि + चूना] जो चुप न। जो टपकता न हो। जिस में पानी ऊपर से वा बाहर से रखकर आता वा टपकता न हो।

†—वि० दे० “नीचा”।

नीचे—कि० वि० [हि० नीचा] (१) नीचे की ओर। अधोभाग में। ऊपर का उल्टा। उ०—पानख को जिले पानि नखै तिमि सीस नवाय के नीचेहि जावै।—मतिराम।

विशेष—‘ऊपर’ ‘यहाँ’ ‘वहाँ’ आदि शब्दों के समान इस कि०

वि० शब्द के साथ पंचमी और षष्ठी की ‘से’ ‘तक’ ‘का’ विभक्तियाँ लगती हैं। जैसे, नीचे से, नीचे का।

मुहा०—नीचे ऊपर = (१) एक के ऊपर दूसरा इस कम से। एक पर एक। तले ऊपर। जैसे, इन सब पुस्तकों को नीचे ऊपर रख दो। (२) ऊपर का नीचे, नीचे का ऊपर। उलट पलट। उथल पथल। अस्त व्यस्त। अव्यवस्थित। जैसे, इतने दिनों में पुस्तकें लगाकर रखी थीं तुमने उन्हें नीचे ऊपर कर दिया। नीचे गिरना = (१) प्रतिष्ठा खोना। मान मर्यादा गँवाना। (२) पतित होना। अवनत दशा को प्राप्त होना। (३) कुश्ती में पटका जाना। पछाड़ खाना। नीचे गिराना = (१) पतित करना। मान मर्यादा दूर करना। (२) कुश्ती में पटकना। पछाड़ना। नीचे डालना = (१) फेंकना। गिराना। (२) किसी बात में घट कर करना। पराजित करना। जीतना। नीचे खाना = गिराना। कुश्ती में पछाड़ना। ऊपर से नीचे तक = (१) सब भागों में। सर्वत्र। (२) सर्वांग में। सिर से पैर तक। जैसे, उसने मेरी ओर ऊपर से नीचे तक देखा।

(२) घटकर। कम। न्यून। जैसे, दरजे में वह सब से नीचे है। (३) अधीनता में। मातहतता में। जैसे, उनके नीचे दस मुहरिरे काम करते हैं।

नीजा—संज्ञा पुं० [सं० रज्जु ?] रस्सी।

नीजन—वि० [सं० निर्जन] निर्जन। जनशून्य। सुनसान। उ०—दौरयो दख साजि महाराज नृतुराज जानि नीजन मवास, मानिनी जन गरीब से।—देव। संज्ञा पुं० निर्जन स्थान। वह स्थान जहाँ कोई न हो। निराला। एकांत। उ०—मोहिं सढोच सखी जन को नतु नीजन है उन्हें बीजन ढोरों।—देव।

नीजा—संज्ञा स्त्री० [सं० रज्जु] रस्सी। पानी भरने की डोरी।

नीभर—संज्ञा पुं० [सं० निर्भर] निर्भर। भरना। सोता। उ०—(क) तिल सरवर के तीर सो हंसा मोती चुनइ। पीवइ नीभर नीर सोहै हंसा सो सुनइ।—दादू। (ख) सो हंसा सरनागत जाय। सुंदरि तहाँ पखोरै पाय। पीवइ असिरित नीभर नीर। बैठइ तहाँ जगत गुरु पीर।—दादू।

नीठ—कि० वि० दे० “नीटि”।

नीटि—संज्ञा स्त्री० [सं० अनिटि, प्रा० अनिटि] अरुचि। अनिच्छा।

मुहा०—नीटि नीटि करके = (१) ज्यों त्यों करके। बहुत इधर उधर करके। किसी न किसी प्रकार। उ०—नीटि नीटि करि चित्र मंदिर लौ आई बाबू चहुँ ओर चाहि कछु चेति कै भजै लगी।—बेनी। (२) कठिनता से। मुश्किल से। उ०—छूटी लट लटकति कटि तट लौं चितवति नीटि नीटि करि ठाढ़ी।—केशव।

कि० वि० (१) ज्यों त्यों करके। किसी न किसी प्रकार।

३०—आई संग आलिन के ननद पठाई नीठि सोहत सुहाई सूही ईडरी सुपट की। कहै पदमाकर गभीर जमुना के तीर लागी घट भरन नवेली नेह अटकी।—पद्माकर। (२) मुश्किल से। कठिनता से। ३०—(क) चहुँ ओर चितै सत्रास। अवलोकियो आकास। तहँ शाख बैठो नीठि। तब परयो वानर दीठि।—केशव। (ख) ऐसी सोच सीठी सीठी चीठी अति दीठी, सुनै मीठी मीठी बातन जो नीके हूँ मैं नीठि है।—केशव। (ग) करके मीठे कुसुम लौं गई विरह कुम्हिलाय। सदा समीपिन सखिन हूँ नीठि पिछानी जाय।—बिहारी। (घ) चकी जकी सी हूँ रही बूझे खोजति नीठि। कहुँ दीठि लागी लगी, कै काहू की दीठि।—बिहारी। (ङ) नैकु हँसैहीं बानि तज लख्यो परत मुख नीठि। चौका चमकनि चौध में परति चौधि सी दीठि।—बिहारी।

यौ०—नीठि नीठि = ज्यों त्यों करके। किसी न किसी प्रकार। जैसे तैसे। मुश्किल से। कठिनता से। ३०—(क) नीठि नीठि उठि बैठि हूँ पिय प्यारी परमात। होऊ नौदू भरे खरे गरे लागि गिरि जात।—बिहारी। (ख) भौह उँचै आँचर उलटि मोरि मोरि सुँह मोरि। नीठि नीठि भीतर गई दीठि दीठि सों जोरि।—बिहारी।

नीटो-वि० [सं० अनिष्ट, प्रा० अनिष्ट] अनिष्ट। अप्रिय। न सुहाने-वाला। न मानेवाला। ३०—छेक उक्ति जहँ दुर्मिज सम जक का समुझावति नीटो ? मिसरी, सूर, न भावति घर की, चोरी को गुड़ मीटो।—सूर।

नीड़-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बैठने वा ठहरने का स्थान। (२) चिड़ियों के रहने का बोंसला। (३) रथ के भीतर का वह स्थान जिसमें रथी बैठता है। रथ में बैठने का मुख्य स्थान।

नीड़क-संज्ञा पुं० [सं०] पक्षी। चिड़िया।

नीड़ज-संज्ञा पुं० [सं०] पक्षी।

नीत-वि० [सं०] (१) लाया हुआ। पहुँचाया हुआ। (२) स्थापित। (३) प्राप्त। (४) गृहीत। ग्रहण किया हुआ। ३०—क्षिप्रौ मंद गरजनि जलधर, की पग नूपुर ख नीत।—सूर।

नीति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ले जाने या ले चलने की क्रिया, भाव या ढंग। (२) व्यवहार की रीति। आचारपद्धति। जैसे, सुनीति, दुनीति। (३) व्यवहार की वह रीति जिससे अपना कल्याण हो और समाज को भी कोई बाधा न पहुँचे। वह चाल जिसे चलने से अपनी भलाई, प्रतिष्ठा, आदि हो और दूसरे की कोई बुराई न हो। जैसे, जाकी धन धरती हरी ताहि न लीजै संग। साईं तहाँ न बैठिए जहाँ कोउ देय उठाय।—गिरिधर। (४) लोक या समाज के कल्याण के लिये उचित ठहराया हुआ आचार

व्यवहार। लोकमर्यादा के अनुसार व्यवहार। सदाचार। अच्छी चाल। नथ। ३०—सुनि सुनीस कह वचन सप्रीती। कस न राम राखहु तुम नीती।—तुलसी। (५) राजा और प्रजा की रक्षा के लिये निर्धारित व्यवस्था। राज्य की रक्षा के लिये ठहराई हुई विधि। राजा का कर्त्तव्य। राजविद्या।

विशेष—महाभारत में भीष्म ने युधिष्ठिर को नीति शास्त्र की शिक्षा दी है जिसमें प्रजा के लिये कृषि वाणिज्य आदि की व्यवस्था, अपराधियों को दंड, अमात्य चर गुप्तचर सेना सेनापति इत्यादि की नियुक्ति, दुष्टों का दमन, राष्ट्र दुर्ग और कोश की रक्षा, धनिकों की देख रेख, दरिद्रों का भरण पोषण, युद्ध, शत्रुओं को वश में करने के साम, दाम, दंड, भेद ये चार उपाय, साधुओं की पूजा, विद्वानों का आदर, समाज और उत्सव, सभा, व्यवहार तथा इसी प्रकार की और बहुत सी बातें आई हैं।

नीति विषय पर कई प्राचीन पुस्तकें हैं। जैसे, उशना की शुक्र नीति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, कामंदकीय नीतिसार इत्यादि।

(६) राज्य की रक्षा के लिये काम में लाई जानेवाली युक्ति। राजाओं की चाल जो वे राज्य की प्राप्ति वा रक्षा के लिये चलते हैं। पालिसी। जैसे मुद्राराक्षस नाटक में चाणक्य और राक्षस की नीति। (७) किसी कार्य की सिद्धि के लिये चली जानेवाली चाल। युक्ति। उपाय। हिकमत।

नीतिज्ञ-वि० [सं०] नीति का जाननेवाला। नीतिकुशल।

नीतिमान्-वि० [सं० नीतिमत्] [स्त्री० नीतिमती] नीतिपरायण। सदाचारी।

नीतिशास्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह शास्त्र जिसमें देश, काल और पात्र के अनुसार बरतने के नियम हों। (२) वह शास्त्र जिसमें मनुष्य समाज के हित के लिये देश काल और पात्रानुसार आचार व्यवहार तथा प्रबंध और शासन का विधान हो।

नीदना*—क्रि० सं० [सं० निंदन] निंदा करना। ३०—सोवत सपने स्यामघन हिलि मिलि हरत वियोग। तब ही टरि कितहूँ गई नीदौ नींदन योग।—बिहारी।

नीधना*—वि० [सं० निर्वन] धनहीन। दरिद्र। ३०—दादू सब जग नीधना धनवंता नहिं कोइ। सो धनवंता जानिए जाके राम पदारथ होइ।—दादू।

नीध्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वलीक। छाजन की ओलती। (२) वन। (३) नेमि। पहिए का चक्र। (४) चंद्रमा। (५) रेवती नक्षत्र।

नीप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कदंब। (२) मूकदंब। (३) बंधूक। दुपहरिया। (४) नीलाशोक। अशोक। (५) पहाड़ का

निचला भाग । (६) एक देश का नाम । (बृहत्संहिता) ।

(७) एक राजा का नाम ।

संज्ञा पुं० [अ० निप] दो चीजों को बाँधने या गाँठ देने के लिये रस्सी का फेरा वा फंदा ।

मुहा०—नीप लेना = रस्सी में बाँधने के लिये फंदा लगाना ।

नीपर—संज्ञा पुं० [अ० निपर] (१) लंगर में बँधी हुई रस्सियों में से एक । (२) उक्त रस्सी के बाँधन को कसने के लिये लगा हुआ डंडा । (लश०)

नीपातिथि—संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक ऋषि ।

नीबू—संज्ञा पुं० दे० “नीम” ।

नीबूरा—वि० [निर्वेल] दुर्बल । कमजोर ।

नीबी—संज्ञा स्त्री० दे० “नीवी” ।

नीबू—संज्ञा पुं० [सं० निम्बूक, अ० नीमूँ] मध्यम आकार का एक पेड़ या झाड़ जिसका फल खाया जाता है और जो पृथ्वी के गरम प्रदेशों में होता है । इसकी पत्तियाँ मोटे दल की और दोनों छोरों पर नुकीली होती हैं, तथा उनके ऊपर का रंग बहुत गहरा हरा और नीचे का हलका होता है । पत्तियों की लंबाई तीन अंगुल से अधिक नहीं होती । फूल छोटे छोटे और सफेद होते हैं जिनमें बहुत से पराग-केंसर होते हैं । फल गोल या लंबोत्तरे तथा सुगंधयुक्त होते हैं । साधारण नीबू स्वाद में खट्टे होते हैं और खटाई के लिये ही खाए जाते हैं । मीठे नीबू भी कई प्रकार के होते हैं । उनमें से जिनका छिलका नरम होता है और बहुत जल्दी बतर जाता है तथा जिनके रसकोश की फाँकें अलग हो जाती हैं वे नारंगी के अंतर्गत गिने जाते हैं । साधारणतः ‘नीबू’ शब्द से खट्टे नीबू का ही बोध होता है । उत्तरीय भारत में नीबू दो बार फलता है । बरसात के अंत में, और जाड़े (अग्रहन पुस) में । अचार के लिये जाड़े का नीबू ही अच्छा समझा जाता है क्योंकि वह बहुत दिनों तक रह सकता है । खट्टे नीबू के मुख्य भेद ये हैं—कागजी (पतले चिकने छिलके का गोल और लंबोत्तरा), जंबीरी (कड़े मोटे खुरदुरे छिलके का), बिजौरा (बड़े मोटे और ढीले छिलके का), चकोतरा (बहुत बड़ा खरबूजे सा, मोटे और कड़े छिलके का) । पैचंद द्वारा इनमें से कह के मीठे भेद भी उत्पन्न किए जाते हैं जैसे, कर्वेले या संत का पैचंद खट्टे चकोतरे पर लगाने से मीठा चकोतरा होता है ।

विशेष—आजकल नीबू की अनेक जातियाँ चीन, भारत, फारस, अरब तथा योरोप और अमेरिका के दक्षिणी भागों में लगाई जाती हैं । खट्टा नीबू हिंदुस्तान में कई जगह, कमाऊँ, चटगाँव आदि, जंगली भी होता है जिससे सिद्ध होता है कि यह भारतवर्ष से पहले पहल और देशों में फैला । मीठे नीबू या नारंगी का उत्पत्तिस्थान चीन बताया जाता है । चीन

और भारत के प्राचीन ग्रंथों में नीबू का उल्लेख बराबर मिलता है । फारस और अरब के व्यापारियों द्वारा यह यूनान इटली आदि पश्चिम के देशों में गया । प्राचीन रोमन लोगों को यह फल बहुत दिनों तक बाहरी व्यापारियों से मिलता रहा और वे इसका व्यवहार सुगंध के लिये तथा कपड़ों को कीड़ों से बचाने के लिये करते थे । मीठे नीबू या नारंगियों का प्रचार तो योरोप में और भी पीछे हुआ । पहले पहल ईसा की तेरहवीं शताब्दी में रोमन नगर में नारंगी के लगाए जाने का उल्लेख मिलता है । पीछे पुर्तगाल आदि देशों में नारंगी की बहुत उन्नति हुई ।

सुश्रुत में जंबीर, नारंग, ऐरावत और दंतशठ ये चार प्रकार के नीबू आए हैं । ऐरावत और दंतशठ दोनों अम्ल कहे गए हैं । जंबीर तो खट्टा है ही । राजनिघंटु में ऐरावत नारंग का पर्याय लिखा गया है जो सुश्रुत के अनुसार ठीक नहीं जान पड़ता । शायद नारंग शब्द के कारण ऐसा हुआ है । “नारंग” का अर्थ सिंदूर न लेकर हाथी लिया और ऐरावत को नारंग का पर्याय मान लिया । तैलंग भाषा में चकोतरे को गज-निंबू कहते हैं अतः ऐरावत वही हो सकता है । भावप्रकाश में बीजपूर (बिजौरा), मधुकर्कटी (चकोतरा), जंबीर (खट्टा नीबू) और निंबूक (कागजी नीबू) ये चार प्रकार के नीबू कहे गए हैं । सुश्रुत में जंबीर और दंतशठ अलग हैं पर भाव-प्रकाश में वे एक दूसरे के पर्याय हैं । राजवल्लभ में लिंपाक और मधुकर्कटिका ये दो भेद जंबीरी के कहे गए हैं । इसी ग्रंथ में करण वा कला नीबू का भी उल्लेख है । नीचे वैद्यक में आए हुए नीबूओं के नाम दिए जाते हैं—

(१) निंबूक (कागजी नीबू) । (२) जंबीर (जंबीरी नीबू, खट्टा नीबू या गलगल)—(क) बृहज्जंबीर, (ख) लिंपाक, (ग) मधुकर्कटिका (मीठा जंबीरी या शरबती नीबू) । (३) बीजपूर (बिजौरा) । पर्याय—मातुलुंग, रुचक, फलपूरक, अम्लकेशर, बीजपूर्ण, सुकेशर, बीजक, बीजफलक, जंतुल, दतुरच्छद, पूरक, रोचनफल । (क) मधुर मातुलुंग या मीठा बिजौरा । इसे संस्कृत में मधुकर्कटिका और हिंदी में चकोतरा कहते हैं । (४) करण या कला नीबू—इसे पहाड़ी नीबू भी कहते हैं । इसे अरबी में कलंबक कहते हैं ।

निंबू या निंबूक शब्द सुश्रुत आदि प्राचीन ग्रंथों में नहीं आया है इससे विद्वानों का अनुमान है कि यह अरबी बीमू शब्द का अपभ्रंश है । ‘संतरा’ शब्द के विषय में डा० हंटर का अनुमान है कि यह ‘सिंट्रा’ शब्द से बना है जो पुर्तगाल में एक स्थान का नाम है । पर बाबर ने अपनी पुस्तक में ‘संगतरा’ का उल्लेख किया है, इससे इस विषय में कुछ ठीक नहीं कहा जा सकता ।

मुहा०—नीबू निचोड़ = थोड़ा सा कुछ देकर बहुत सी चीज में

सम्झा करनेवाला। थोड़ा सा संबंध जोड़ कर बहुत कुछ लाभ उठानेवाला।

विशेष—कहते हैं किसी सराय में एक भियाँ साहब रहते थे जो हर समय अपने पाल नीबू और चाकू रखते थे। जब सराय में उतरा हुआ कोई भला आदमी खाना खाने बैठता तब आप चट जाकर उसकी ढाल में नीबू निचाड़ देते थे जिससे वह भलमनसाहत के विचार से आपको खाने में शरीक कर लेता था।

नीम—संज्ञा पुं० [सं० निम्ब] पत्ती झाड़नेवाला एक पेड़ जिसकी उत्पत्ति द्विदलान्त्र से होती है और जिसकी पत्तियाँ डेढ़ दो चित्ते की पतली सीकें के दोनों ओर लगती हैं। ये पत्तियाँ चार पाँच अंगुल लंबी और अंगुल भर चौड़ी होती हैं। किनारे इनके आरी की तरह होते हैं। छोटे छोटे सफेद फूल गुच्छों में लगते हैं। फलियाँ भी गुच्छों में लगती हैं और निबौली कहलाती हैं। ये फलियाँ खिरनी की तरह लंबोतरी होती हैं और पकने पर चिपचिपे गूदे से भर जाती हैं। एक फली में एक बीज होता है। बीजों से तेल निकलता है जो कडुएपन के कारण केवल औषध के या जलाने के काम का होता है। नीम की तिताई या कडुवापन प्रसिद्ध है। इसका प्रत्येक भाग कडुआ होता है—क्या छाल, क्या पत्ती, क्या फूल, क्या फल। पुराने पेड़ों से कभी कभी एक प्रकार का पतला पानी रस रस कर निकलता है और महीनों बहा करता है। यह पानी कडुआ होता है और 'नीम का मद' कहलाता है। नीम की लकड़ी ललाई लिए और मजबूत होती है तथा क्वाड़, गाड़ी, नाव आदि बनाने के काम में आती है। पतली टहनियाँ, दातून के लिये बहुत तोड़ी जाती हैं। वैद्यक में नीम कडुई, शीतल तथा कफ, व्रण, कृमि, वमन, सूजन, पित्तदोष और हृदय के दाह को दूर करनेवाली मानी जाती है। दूषित रक्त को शुद्ध करने का गुण भी इसका प्रसिद्ध है।

पर्या०—निंब। नियमन। नेता। पिचुमंद। अरिष्ट। प्रभद्रक। पारिभद्रक। शुक्रप्रिय। शीर्षपर्ण। यवनेष्ट। वात्तव। छर्दन। हिंगु। निर्वास। पीतसार। रविप्रिय। मालक। यूपारि। एकमालक। कीटक। विबंध। कैटय्य। छर्दिन्न। काकफल। कीरेष्ट। सुमना। विशर्षिपर्ण। शीत। राजभद्रक।

मुहा०—नीम की टहनी हिलाना = गरमी की बीमारी लेकर बैठना। उपदंश या फिरंगरोग ग्रस्त होना (जिसमें लोग नीम की टहनी लेकर घाव पर से मक्खियाँ उड़ाया करते हैं)।

वि० [फा० । मि० सं० नेम] आघा। अर्द्ध। जैसे, नीमटर, नीमहकीम।

नीमबर—संज्ञा पुं० [फा०] कुश्ती का एक पेच जो उस समय काम देता है जब जोड़ पीछे की ओर से कमर पकड़ कर

बाईं ओर खड़ा होता है। इसमें अपना बायाँ घुटना जोड़ की दाहिनी जाँव के नीचे ले जाते हैं, फिर बायें हाथ को उसकी टाँगों में से निकाल कर उसका बायाँ घुटना पकड़ते और दाहिने हाथ से उसकी सुट्टी पकड़ कर भीतर की ओर खींचते हैं जिससे वह चित्त गिर पड़ता है।

नीमगिर्दा—संज्ञा पुं० [फा०] बड़ई का एक औजार जो हल्लानी या पेचकश की तरह का होता है। इसकी नोक सीधी न होकर अर्द्धचंद्राकार होती है। इससे बड़ई खराबने के समय सुराही आदि की गर्दन छीलते हैं।

नीमच—संज्ञा पुं० [हिं० नदी + मच्छ] एक मछली जो बंगाल, उड़ीसा, पंजाब और सिंध की नदियों में होती है। इसका मांस खाने में अच्छा होता है।

नीमज्जा—संज्ञा पुं० [फा०] खड़ा।

नीमजौ—वि० [फा०] अधमरा।

नीमटर—वि० [फा० नीम + हिं० टर] अधकचरा। जिसे पूरी विद्या या जानकारी न हो। जो किसी विषय को केवल थोड़ा बहुत जानता हो।

नीमना—वि० [सं० निर्मल] (१) अच्छा। भला। निरोग। चंगा। उ०—जानि लेहु हारि इतने ही में कहा करै नीमन को वैद।—सूर। (२) दुस्त। जो बिगड़ा हुआ न हो। जो जीर्ण न हुआ हो। (३) बढ़िया। अच्छा। सुंदर।

नीमरा—वि० [सं० निर्बल, हिं० नीबर] दुर्बल। बलहीन। शक्तिहीन।

नीम-रजा—वि० [फा०] (१) थोड़ी बहुत रजामंदी। (२) कुछ तोष या प्रसन्नता। उ०—परि पा करि दिनती घनी नीम-रजा ही कीन।—शृंग० सत०।

नीमषारण्य, नीमषारन—संज्ञा पुं० दे० 'नैमिषारण्य'।

नीमस्तीन—संज्ञा स्त्री० दे० 'नीमास्तीन'।

नीमा—संज्ञा पुं० [फा०] एक पहरावा जो जामे के नीचे पहना जाता है। यह जामे के आकार का होता है पर न तो यह जामे के इतना नीचा होता है और न इसके बंद बगल में होते हैं। यह घुटने के ऊपर तक नीचा होता है और इसके बंद सामने रहते हैं। आस्तीन इसकी पूरी नहीं होती, आधी होती है। इसके दोनों बगल सुराहियाँ होती हैं। उ०—केसरि को नीमा जामा जरी को फेंटा डुपटा जरी को तेजपुंज उमहतु है।—रघुनाथ।

नीमावत—संज्ञा पुं० [हिं० निंब] वैष्णवों का एक संप्रदाय। निंबार्काचार्य का अनुयायी वैष्णव।

नीमास्तीन—संज्ञा स्त्री० [फा० नीम + आस्तीन] एक प्रकार की फतुई या कुरती जिसकी आस्तीन आधी होती है।

नीयत—संज्ञा स्त्री० [अ०] भावना। भाव। आंतरिक लक्ष्य। इद्देश्य। आशय। संकल्प। इच्छा। मंशा। जैसे, (क)

हम किसी बुरी नीयत से नहीं कहते हैं। (ख) तुम्हारी नीयत जाने की नहीं मालूम होती।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

यौ०—बदनीयत।

मुहा०—नीयत डिगना = अच्छा वा उचित संकल्प इद न रहना। मन में विकार उत्पन्न होना। बुरा संकल्प होना। नीयत बद होना = बुरा विचार होना। बुरी इच्छा या संकल्प होना। अनुचित या बुरी बात की ओर प्रवृत्ति होना। बेईमानी सूझना। नीयत बदल जाना = (१) संकल्प या विचार और का और होना। इरादा दूसरा हो जाना। (२) बुरा विचार होना। अनुचित या बुरी बात की ओर प्रवृत्ति होना। नीयत बाँधना = संकल्प करना। मन में ठानना। इरादा करना। नीयत बिगड़ना = दे० “नीयत बद होना”। नीयत भरना = जी भरना। मन तृप्त होना। इच्छा पूरी होना। नीयत में फर्क आना = बुरा संकल्प या विचार होना। अनुचित या बुरी बात की ओर प्रवृत्ति होना। बेईमानी या बुराई सूझना। नीयत लगी रहना = ध्यान बना रहना। इच्छा बनी रहना। जी ललचाना करना।

नीर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पानी। जल।

मुहा०—नीर ढलना = मरते समय आँख से आँसू बहना। किसी का नीर ढल जाना = किसी की लज्जा जाती रहना। निर्लज्ज या बेहूया हो जाना।

(२) कोई द्रव पदार्थ या रस। (३) फफोले आदि के भीतर का चेष या रस। जैसे, शीतला का नीर। (४) सुगंधवाला।

नीरज—संज्ञा पुं० [सं०] (१) जल में उत्पन्न वस्तु। (२) कमल। (३) मोती। मुक्ता। ड०—यज्ञ पूरन कै रमापति दान देत अशेष। हीर नीरज चौर माखिक वर्षि वर्षा वेष।—केशव। (४) कुट। कूट। (५) एक प्रकार का तृण।

नीरद—संज्ञा पुं० [सं०] (१) जल देनेवाला। (२) बादल। वि० [सं० निः + रद] वे-दाँत का। अदंत।

नीरधर—संज्ञा पुं० [सं०] बादल। मेघ।

नीरधि—संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र।

नीरना—क्रि० स० [देश०] छिटकाना। छितराना। बिखेरना।

नीरनिधि—संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र।

नीरपति—संज्ञा पुं० [सं०] वरुण देवता।

नीरम—संज्ञा पुं० [?] वह बोम जो जहाज पर केवल उसकी स्थिति ठीक रखने के लिये रहता है। (लश०)

नीरस—वि० [सं०] (१) रसहीन। जिसमें रस या गीलापन न हो। (२) सूखा। शुष्क। (३) जिसमें कोई स्वाद या मजा न हो। फीका। जिसमें कोई आनंद न हो। जिससे मनोरंजन न हो। जैसे, नीरस कान्य।

नीरांजन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) दीपदान। आरती। देवता को दीपक दिखाने की विधि।

क्रि० प्र०—उतारना।—बारना।

(२) हथियारों को चमकाने या साफ करने का काम।

(३) एक त्योहार जिसमें राजा लोग हथियारों की सफाई कराते थे। यह कुआर कालिक में होता था जब यात्रा की तैयारी होती थी।

नीराजना—क्रि० अ० [सं० नीरांजन] (१) आरती करना। दीपक दिखाना। (२) हथियारों को मँजना।

नीरिंदु—संज्ञा पुं० [सं०] सिहोर का पेड़।

नीरे—क्रि० वि० दे० “नियरे”।

नीरेग—वि० [सं०] जिसे रोग न हो। स्वस्थ। चंगा। तंदुरुस्त।

नीलंगु—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का कीड़ा। (२) गीदड़। (३) भँवरा। (४) फूल।

नील—वि० [सं०] नीले रंग का। गहरे आसमानी रंग का।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) नीला रंग। गहरा आसमानी रंग।

(२) एक पौधा जिससे नीला रंग निकाला जाता है।

विशेष—यह दो तीन हाथ ऊँचा होता है। पत्तियाँ चमेली की तरह टहनी के दोनों ओर पंक्ति में लगती हैं पर छोटी छोटी होती हैं। फूल मंजरियों में लगते हैं। लंबी लंबी बबूल की तरह फलियाँ लगती हैं। नील के पौधे की ३०० के लगभग जातियाँ होती हैं। पर जिनसे यहाँ रंग निकाला जाता है वे पौधे भारतवर्ष के हैं और अरब, मिस्र तथा अमेरिका में भी बोये जाते हैं। भारतवर्ष ही नील का आदि-स्थान है और यहीं सबसे पहले रंग निकाला जाता था। ८० ईसवी में सिंध के किनारे के एक नगर से नील का बाहर भेजा जाना एक प्राचीन यूनानी लेखक ने लिखा है। पीछे के बहुत से विदेशियों ने यहाँ नील के बोये जाने का उल्लेख किया है। ईसा की पंद्रहवीं शताब्दी में जब यहाँ से नील योरप के देशों में जाने लगा तब से वहाँ के निवासियों का ध्यान नील की ओर गया। सबसे पहले हालैंड-वालों ने नील का काम शुरू किया और कुछ दिनों तक वे नील की रँगई के लिये योरप भर में निपुण समझे जाते थे। नील के कारण जब वहाँ कई वस्तुओं के वाणिज्य को धक्का पहुँचने लगा तब फ्रांस, जर्मनी आदि कानून द्वारा नील की आमद बंद करने पर विवश हुए। कुछ दिनों तक (सन् १६६० तक) इंगलैंड में भी लोग नील को विष कहते रहे जिससे इसका वहाँ जाना बंद रहा। पीछे बेल्जियम से नील का रंग बनानेवाले बुलाए गए जिन्होंने नील का काम सिखाया।

पहले पहल गुजरात और उसके आस पास के देशों में से नील योरप जाता था, बिहार बंगाल आदि से नहीं।

ईस्ट इंडिया कंपनी ने जब नील के काम की ओर ध्यान दिया तब बंगाल बिहार में नील की बहुत सी कोठियां खुल गईं और नील की खेती में बहुत उन्नति हुई।

भिन्न भिन्न स्थानों में नील की खेती भिन्न भिन्न ऋतुओं में और भिन्न भिन्न रीति से होती है। कहीं तो फसल तीन ही महीने तक खेत में रहती है और कहीं अठारह महीने तक। जहाँ पौधे बहुत दिनों तक खेत में रहते हैं वहाँ उनसे कई बार काट कर पत्तियाँ आदि ली जाती हैं। पर अब फसल को बहुत दिनों तक खेत में रखने की चाल उठती जाती है। बिहार में नील फागुन चैत के महीने में बोया जाता है। गरमी में तो फसल की बाढ़ रुकी रहती है पर पानी पड़ते ही जोर के साथ टहनियाँ पत्तियाँ निकलती और बढ़ती हैं। अतः आषाढ़ में पहला कलम हो जाता है और टहनियाँ आदि कारखाने भेज दी जाती हैं। खेत में खूँटियाँ रह जाती हैं। कलम के पीछे फिर खेत जोत दिया जाता है जिससे बरसात का पानी अच्छी तरह सोखता है और खूँटियाँ फिर बढ़कर पौधों के रूप में हो जाती हैं। दूसरी कटाई फिर कुवार में होती है।

नील से रंग दो प्रकार से निकाला जाता है—हरे पौधे से और सूखे पौधे से। कटे हुए हरे पौधों को गड़ी हुई नाँदों में दबा कर रख देते हैं और ऊपर से पानी भर देते हैं। बारह चौदह घंटे पानी में पड़े रहने से उसका रस पानी में उतर आता है और पानी का रंग धानी हो जाता है। इसके पीछे पानी दूसरी नाँद में जाता है जहाँ डेढ़ दो घंटे तक लकड़ी से हिलाया और मथा जाता है। मथने का यह काम मशीन के चक्कर से भी होता है। मथने के पीछे पानी थिराने के लिये छोड़ दिया जाता है जिससे कुछ देर में माल नीचे बैठ जाता है। फिर नीचे बैठा हुआ यह नील साफ पानी में मिला कर उबाला जाता है। उबल जाने पर वह बाँस की फट्टियों के सहारे तान कर फैलाए हुए मोटे कपड़े (या कनवस) की चाँदनी पर ढाल दिया जाता है। चाँदनी छनने का काम करती है। पानी तो निथर कर बह जाता है और साफ नील लेई के रूप में लगा रह जाता है। यह गीला नील छोटे छोटे छिद्रों से युक्त एक संदूक में, जिस में गीला कपड़ा मड़ा रहता है, रख कर खूब दबाया जाता है जिससे उसकी सात आठ अंगुल मोटी तह जम कर हो जाती है। इसके कतरे काटकर धीरे धीरे सूखने के लिये रख दिए जाते हैं। सूखने पर इन कतरों पर एक पपड़ी सी जम जाती है जिसे साफ कर देते हैं। ये ही कतरे नील के नाम से बिकते हैं। मिताचरा, विधान परिजात आदि धर्मशास्त्र के कई ग्रंथों में ब्राह्मण के लिये नील में रंगा हुआ वस्त्र पहनने का निषेध है।

मुहा०—नील का टीका लगाना = कलंक लेना। बदनामी उठाना। **ड०—**नल में तो बल को चिलास कहा वृक्षत हौ; नील से लरे ते टीको नील को न करिहैं।—हनुमान। नील का खेत = कलंक का स्थान। नील की सलाई फिरवा देना = आँखें फोड़वा डालना। अंधा कर देना। (कहते हैं कि पहले अपराधियों की आँख में नील की गरम सलाई डाल दी जाती थी जिससे वे अंधे हो जाते थे)। नील घोंटना = भगड़ा बखेड़ा मचाना। किसी बात को लेकर देर तक उलझना। नील जलाना = पानी बरसने के लिये नील जलाने का टोटका करना। नील बिगड़ना = (१) चाल चलन बिगड़ना। आचरण भ्रष्ट होना। (२) आकृति बिगड़ना। चेहरे का रंग उड़ना। (३) किसी बे-सिर पैर की बात का प्रसिद्ध होना। झूठी और असंगत बात फैलाना। (४) समझ पर पत्थर पड़ना। बुद्धि ठिकाने न रहना। (५) कुदिन आना। शमल आना। दुर्दशा होनेवाली होना। (६) भारी हानि या घाटा होना। दिवाला होना।

(३) चोट का नीले या काले रंग का दाग जो शरीर पर पड़ जाता है। जैसे, जहाँ जहाँ छड़ी बैठी है नील पड़ गया है।

क्रि० प्र०—पड़ना।

मुहा०—नील डालना = इतनी मार मारना कि शरीर पर नीले दाग पड़ जाय। गहरी मार मारना।

(४) लांछन। कलंक। (५) राम की सेना का एक बंदर। (६) इलावृत्त खंड का एक पर्वत जो रम्यक वर्ष की सीमा पर है। (भागवत)। (७) नव निधियों में से एक। (८) मंगल घोष। मंगल का शब्द। (९) वटवृक्ष। बरगद। (१०) इंद्रनील मणि। नीलम। (११) काच लवण। (१२) तालीसपत्र। (१३) विष। (१४) एक नाग का नाम। (१५) नीलनी से उत्पन्न अजर्माड़ राजा का एक पुत्र। (विष्णुपुराण)। (१६) माहिष्मती का एक राजा जिसकी कथा महाभारत में इस प्रकार आई है। नील राजा की एक अत्यंत सुंदरी कन्या थी जिस पर मोहित होकर अग्नि देवता ब्राह्मण के वेश में राजा से कन्या माँगने आए। कन्या पाकर अग्नि देवता ने राजा को वर दिया कि जो शत्रु तुम पर चढ़ाई करेगा वह भस्म हो जायगा। पांडवों के राजसूय यज्ञ के अवसर पर सहदेव ने माहिष्मती नगरी को वेर। अपनी सेना को भस्म होते देख सहदेव ने अग्नि देवता की स्तुति की। अग्नि देव ने प्रकट होकर कहा कि नील के वंश में जब तक कोई रहेगा मैं बराबर इसी प्रकार रक्षा करूँगा। अंत में अग्नि की आज्ञा से नील ने सहदेव की पूजा की और सहदेव उससे इस प्रकार अधीनता स्वीकार करा कर चले गए। (१७) नृत्य के १०८ करणों में से एक। (१८) एक

यम का नाम । (१९) एक वर्षावृत्त जिसके प्रत्येक चरण में सोलह वर्ण होते हैं—अथा, ङकनि देत अतंकनि संकनि दूरि धरैं । गोमुख तूरनि पूर चहूँ दिसि भीति भरैं । (२०) एक प्रकार का विजयसाल । (२१) मंजुश्री का एक नाम । (२२) एक संख्या जो दस हजार अरब की होती है । सौ अरब की संख्या जो इस प्रकार लिखी जाती है १००००००००००००००० ।

नीलकंठ-वि० [सं०] जिसका कंठ नीला हो ।

संज्ञा पुं० (१) मोर । मयूर । (२) एक चिड़िया जो एक बिन्दु के लगभग खंडी होती है । इसका कंठ और डेने नीले होते हैं । शेष शरीर का रंग कुछ ललाई लिए वादामी होता है । चोंच कुछ मोटी होती है । यह कीड़े मकोड़े पकड़ कर खाता है, इससे वर्षा और शरद ऋतु में उड़ता हुआ अधिक दिखाई पड़ता है । विजया दशमी के दिन इसका दर्शन बहुत शुभ माना जाता है । स्वर इसका कुछ कर्कश होता है । चाप पक्षी । (३) महादेव का एक नाम ।

विशेष—कालकूट विष पान करके कंठ में धारण करने के कारण शिव का कंठ कुछ काला पड़ गया इससे यह नाम पड़ा । महाभारत में लिखा है कि अमृत निकलने पर भी जब देवताओं ने समुद्र का मथना बंद नहीं किया तब सधूम अग्नि के समान कालकूट विष निकला जिसकी गंध से ही तीनों लोक व्याकुल हो गए । अंत में ब्रह्मा ने शिव से प्रार्थना की और उन्होंने वह कालकूट पान करके कंठ में धारण कर लिया । पुराणों में भी इसी प्रकार की कथा कुछ विस्तार के साथ है ।

(४) गौरा पक्षी । चटक । (नर के कंठ पर काला दाग होता है) । (५) मूली । (६) पियासाल ।

नीलकंठ रत्न-संज्ञा पुं० [सं०] एक रसौषध जिसके बनाने की विधि इस प्रकार है—पारा, गंधक, लोहा, विष, चीता, पद्मकाष्ठ, दारचीनी, रेणुका, बायविडंग, पिपरामूल, इलायची, नागकेसर, सोंठ, पीपल, मिर्च, हड़, आंवला, बहेड़ा और तांबा सम भाग लेकर सबके दुगने पुराने गुड़ में मिलाकर चने के बराबर गोली बनावे । इसके सेवन से कास, श्वास, प्रमेह, हिचकी, विषमज्वर, ग्रहणी, शोथ, पांडु, मूत्रकृच्छ्र इत्यादि रोग दूर होते हैं ।

नीलकंठाक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] रुद्राक्ष ।

नीलकंठी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक छोटी चिड़िया । यह हिमालय पर पाई जाती है । इसका बोलना बहुत ही मधुर और सुग्रीला होता है । (२) एक प्रकार का छोटा पौधा जो शोभा के लिये बगीचों में लगाया जाता है । इसकी पत्तियाँ बहुत कड़वी होती हैं और पुराने ज्वर में दी जाती हैं ।

नीलकंद-संज्ञा पुं० [सं०] मैसाकंद । मद्दिष्कंद । शुभालु ।

नीलक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) काच लवण । (२) वर्तलौह । बीदरी लोहा । (३) मटर । (४) भौरा । (५) पियासाल । (६) बीजगणित में अव्यक्त राशि का एक भेद ।

नीलकण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नीलम का टुकड़ा । (२) ठोड़ी पर गोदे हुए गोदने का विंदु ।

नीलकणा-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्याह जीरा । काला जीरा ।

नीलकांत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक पहाड़ी चिड़िया जो हिमालय के अंचल में होती है । मसूरी में इसे नीलकांत और नैनीताल में दिगदल कहते हैं । इसका माथा, कंठ के नीचे का भाग और छाती काली होती है, सिर पर कुछ सफेदी भी होती है । पूँछ नीली होती है । कंठ में भी कुछ नीलेपन की झलक रहती है । (२) विष्णु । (३) एक मणि । नीलम ।

नीलकेशी-संज्ञा स्त्री० [सं०] नील का पौधा ।

नीलक्रांता-संज्ञा स्त्री० [सं०] विष्णुक्रांता जता जिसमें बड़े बड़े नीले फूल लगते हैं ।

नीलक्रौंच-संज्ञा पुं० [सं०] काला बगला । वह बगला जिसका पर कुछ कालापन लिए होता है ।

नीलगाय-संज्ञा स्त्री० [हिं० नील + गाय] नीलापन लिए भूरे रंग का एक बड़ा हिरन जो गाय के बराबर होता है । इसके कान गाय के से और खींग टेढ़े और छोटे होते हैं । छोटे छोटे काले बालों का केसर (अग्राल) भी होता है । गले के नीचे बड़े बालों का एक छोटा गुच्छा सा होता है । देखने में यह जंतु गाय और हिरन दोनों से मिलता जान पड़ता है और प्रायः जंगलों में ही झुंड बांधकर रहता है । नीलगाय ऊँट की तरह चारों पैर मोड़ कर विश्राम करती है, गाय की तरह पार्व भाग भूमि पर रखकर नहीं । पालने से यह पाली जा सकती है । शिकारी चमड़े आदि के लिये इसका शिकार भी करते हैं । चमड़ा इसका बहुत मजबूत होता है । गले के चमड़े की ढालें बनती हैं । वैद्यक के अनुसार नीलगाय का मांस मधुर, बलकारक, उष्णवीर्य, स्निग्ध तथा कफ और पित्तवर्द्धक होता है ।

पर्या०—गवय । नीलांगक । रोम्भ ।

नीलगिरि-संज्ञा पुं० [सं०] दक्षिण देश का एक पर्वत ।

नीलग्रीव-संज्ञा पुं० [सं०] महादेव । शिव ।

नीलचक्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जगन्नाथजी के मंदिर के शिखर पर माना जानेवाला चक्र । (२) ३० अक्षरों का एक दंडक-वृत्त जो अशोक-पुष्प-मंजरी का एक भेद है । इसमें 'गुरु लघु' १५ बार क्रम से आते हैं । उ०—जानि कै समै भुवाल राम राज साज साजि ता समै अकाज काज कैकई लु कीन ।

नीलचर्मा-वि० [सं० नीलचर्मन्] नीले चमड़े का ।

संज्ञा पुं० फालसा ।
नीलच्छद-वि० [सं०] नीले पंख या आवरण का ।
 संज्ञा पुं० (१) गरुड़ । (२) खजूर ।
नीलज-संज्ञा पुं० [सं०] वर्त्तलौह । बीदरी लोहा ।
नीलजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] नील पर्वत से उत्पन्न वितस्ता (मेखम) नदी ।
नीलभिंटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] नीली कटसरैया ।
नीलतरा-संज्ञा स्त्री० [?] बौद्ध कथाओं के अनुसार गांधार देश की एक नदी जो उरुवेलापर्य से होकर बहती थी जहाँ जाकर बुद्ध देव ने उरुवेला काश्यप, गया काश्यप और नदी काश्यप नामक तीन भाइयों का अभिमान दूर किया था ।
नीलतरु-संज्ञा पुं० [सं०] नारियल ।
नीलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नीलापन । (२) कालापन ।
 स्याही ।
नीलताल-संज्ञा पुं० [सं०] स्यामतमाल । हिंताल ।
नीलदूर्वा-संज्ञा स्त्री० [सं०] हरी दूब ।
नीलध्वज-संज्ञा पुं० [सं०] तमाल ।
नीलनिर्यासक-संज्ञा पुं० [सं०] पियासाब का पेड़ ।
नीलपंक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) काला कीचड़ । (२) अंधकार ।
नीलपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नीलकमल । (२) गुंडतुण । गोमरा
 घास जिसकी जड़ कसेरु है । (३) अश्वमेधक वृक्ष । (४)
 विजयसाल । (५) अनार ।
नीलपत्रिका, नीलपत्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] नील ।
नीलपर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] वृंशार वृक्ष ।
नीलपिच्छ-संज्ञा पुं० [सं०] बाज पक्षी ।
नीलपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नीला फूल । (२) नीली भँग-
 रैया । (३) नीलाग्लान । काला कोराठा । (४) गठिवन ।
नीलपुष्पा-संज्ञा स्त्री० [सं०] विष्णुक्रांता जता । अपराजिता ।
नीलपुष्पिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अलसी । (२) नील
 का पौधा ।
नीलपुष्पी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) काला बौना । नीली कोयल ।
 (२) अलसी ।
नीलपृष्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि ।
नीलफला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जामुन । (२) बैंगन ।
नीलवरी-संज्ञा स्त्री० [सं० नील + वरी] कच्चे नील की बट्टी ।
नीलविरई-संज्ञा स्त्री० [हिं० नील + विरई] सनाय का पौधा ।
 सना ।
नीलभृंगराज-संज्ञा पुं० [सं०] नीला भंगरा ।
नीलम-संज्ञा पुं० [फा० । सं० नीलमणि] नीलमणि । नीले रंग
 का रत्न । इन्द्रनील ।
 विशेष—नीलम वास्तव में एक प्रकार का कुरंठ है जिसका
 नंबर कड़ाई में हीरे से दूसरा है । जो बहुत चोखा होता है

उसका मोल भी हीरे से कम नहीं होता । नीलम हलके
 नीले से लेकर गहरे नीले रंग तक के होते हैं । अब भारत-
 वर्ष में नीलम की खानें नहीं रह गई हैं । काश्मीर (बसकर)
 की खानें भी अब खाली हो चली हैं । बरमा में मानिक के
 साथ नीलम भी निकलता है । सिंहल द्वीप और श्याम से
 भी बहुत अच्छा नीलम आता है ।

रत्नपरीक्षा संबंधी पुस्तकों में मानिक के समान नीलम
 भी तीन प्रकार के कहे गए हैं । उत्तम, महानील और
 साधारण । महानील के संबंध में लिखा है कि यदि वह
 सौगुने दूध में डाल दिया जाय तो सारा दूध नीला दिखाई
 पड़ेगा । सब से श्रेष्ठ इन्द्रनील वह है जिसमें से इन्द्रधनुष की
 सी आभा निकले । पर ऐसा नीलम जल्दी मिलता नहीं ।
 नीलम में पाँच बातें देखी जाती हैं—गुरुत्व, स्निग्धत्व,
 वर्णाढ्यत्व, पार्श्ववर्त्तित्व और रंजकत्व । जिसमें स्निग्धत्व
 होता है उसमें से चिकनाई छूटती है । जिसमें वर्णाढ्यत्व होता
 है उसे प्रातःकाल सूर्य के सामने करने से उसमें नीली शिखा
 सी फूटती दिखाई पड़ती है । पार्श्ववर्त्तित्व गुण उस नीलम में
 माना जाता है जिसमें कहीं कहीं पर सोना, चाँदी, स्फटिक
 आदि दिखाई पड़े । जिसे जलपात्र आदि में रखने से सारा
 पात्र नीला दिखाई पड़ने लगे उसे रंजक समझना चाहिए ।
 रत्न संबंधी पुरानी पोथियों में भिन्न भिन्न रत्नों के धारण
 करने के भिन्न भिन्न फल लिखे हुए हैं ।

नीलमणि-संज्ञा पुं० [सं०] नीलम ।

नीलमाष-संज्ञा पुं० [सं०] काला उरद । राजमाष ।

नीलमुस्तिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुष्पकसीस । काली मिट्टी ।

नीलमोर-संज्ञा पुं० [हिं० नील + मोर] कुररी नामक पक्षी जो
 हिमालय पर पाया जाता है ।

नीललोह-संज्ञा पुं० [सं०] वर्त्तलौह । बीदरी लोहा ।

नीललोहित-वि० [सं०] नीलापन लिए लाल । बैंगनी ।

संज्ञा पुं० शिव का एक नाम (जिनका कंठ नीला और
 मस्तक लोहित वर्ण है) ।

नीललोहिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भूमि जंबू । एक प्रकार
 की छोटी जामुन । (२) पार्वती ।

नीलबल्लो-संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ाक । बाँदा । परगाछा ।

नीलवसन-संज्ञा पुं० [सं०] नीला कपड़ा ।

वि० नीला या काला वस्त्र धारण करनेवाला ।

संज्ञा पुं० (१) शनि ग्रह । (२) बलराम ।

नीलवीज-संज्ञा पुं० [सं०] पियासाब ।

नीलवृद्धा-संज्ञा स्त्री० [सं०] नीलवृद्धा । नीलाबोना नाम का पेड़ ।

नीलवृंत-संज्ञा पुं० [सं०] तूज । रुई ।

नीलवृष-संज्ञा पुं० [सं०] विशेष प्रकार का साँड़ या बकड़ा ।

विशेष—आद्य में नीलवृष एक पारिभाषिक शब्द है । जिस वृष

का रंग लाल (लोहित), पूँछ, खुर और सिर शंख वर्ण हों उसे नीलवृष कहते हैं। ऐसे वृष के उत्सर्ग का बड़ा फल है।

नीलवृषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] बैंगन।

नीलशिग्रु-संज्ञा पुं० [सं०] सहजन का पेड़। शोभांजन।

नीलसंध्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] कृष्णापराजिता।

नीलसार-संज्ञा पुं० [सं०] तेंदू का पेड़ (जिसका हीर काला आवनूस होता है)।

नीलसिर-संज्ञा पुं० [हिं० नील + सिर] एक प्रकार की वत्सल जिसका सिर नीला होता है। यह हाथ भर लंबी होती है और सिंध, पंजाब, काश्मीर आदि में पाई जाती है। अंडे यह गरमी में देती है।

नीलस्वरूप, नीलस्वरूपक-संज्ञा पुं० [सं०] एक वर्णवृत्त, जिसके प्रत्येक चरण में तीन भंग्य और दो गुरु अक्षर होते हैं। जैसे, राश्र के सम है वह बालौ। जीतति है दुतिवन्त जहाँ लौ। जो गिरि दुर्गनि माहँ बसै जू। जा भुज चंदन डार त्रैसे जू।—गुमान।

नीलांग-वि० [सं०] नीले अंग का।

~ संज्ञा पुं० सारस पक्षी।

नीलांजन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नीला सुरमा। (२) तृत्तिया। नीला योधा।

नीलांजना-संज्ञा स्त्री० [सं०] बिजली। नीलांजनी।

संज्ञा स्त्री० [सं०] काली कपास।

नीलांजसा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बिजली। (२) एक अप्सरा। (३) एक नदी।

नीलांबर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नीला वस्त्र। नीले रंग का कपड़ा (विशेषतः रेशमी)। (२) तालीशपत्र।

वि० नीले कपड़ेवाला। नील वस्त्र धारण करनेवाला।

संज्ञा पुं० (१) बलदेव। (२) शनैश्चर। (३) राक्षस।

नीलांबरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक रागिनी।

नीलांबुज-संज्ञा पुं० [सं०] नील कमल।

नीला-वि० [सं० नील] आकाश के रंग का। नील के रंग का।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

मुहा०—नीला करना = मारते मारते शरीर पर नीले दाग डालना।

बहुत मार मारना। नीला पड़ना = नीला हो जाना। नीला

पीला होना = क्रोध दिखाना। क्रुद्ध होना। बिगड़ना। नीले

हाथ पाँव हों = ठंडा हो जाय। मर जाय। (स्त्रि० शाप)।

चेहरा नीला पड़ जाना = (१) चेहरे का रंग पीका पड़ जाना। आकृति से भय, उद्विग्नता, लजा आदि प्रगट होना।

(२) आकृति बिगड़ जाना। सजीवता के लक्षण नष्ट होना।

संज्ञा पुं० (१) एक प्रकार का कबूतर (२) नीलम।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नीली मक्खी। (२) नील पुनर्नवा।

(३) नील का पौधा। (४) एक लता। (५) एक नदी। (महाभारत)। (६) मल्लार राग की एक आर्या।

नीलाक्ष-वि० [सं०] नीली आँख का।

संज्ञा पुं० राजहंस।

नीलाचल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नीलगिरि पर्वत। (२)

जगन्नाथ जी के निकट की एक छोटी पहाड़ी।

नीलाथोथा-संज्ञा पुं० [सं० नीलतुल्य] ताँबे की उपधातु। ताँबे का नीला चार या लवण। तृत्तिया।

विशेष—वैद्यक में लिखा है कि जिस धातु की जो उपधातु होती है उसमें उसी का सा गुण होता है पर बहुत हीन। ताँबे का यह नीला लवण खानों में भी मिलता है पर अधिकतर कारखानों में निकाला जाता है। ताँबे के चूर को यदि खुली हवा में रख कर तपावें या गलावें और उसमें थोड़ा सा गंधक का तेजाब डाल दें तो तेजाब का अम्लगुण नष्ट हो जायगा और उसके योग से तृत्तिया बन जायगा। नीलाथोथा रँगई और दवा के काम में आता है। वैद्यक में यह चारसंयुक्त, कटु, कसैला, वमनकारक, लघु, क्षेपण गुणयुक्त, भेदक, शीतवीर्य, नेत्रों को हितकर तथा कफ, पित्त, विष, पथरी, कुष्ठ और खाज को दूर करनेवाला माना गया है। तृत्तिया शोध कर अल्प मात्रा में दिया जाता है। इसे कई प्रकार से शोधते हैं। बिछी की विद्या में तृत्तिये को गूँध कर दशमांश सोहागा मिला कर धीमी आँच में पकावे। इसके पीछे मधु और सेंबे नमक का पुट दे। दूसरी विधि यह है कि तृत्तिये में आधा गंधक मिलाकर उसे चार दंड तक पकावे। शुद्ध होने से उसमें वमन आदि का दोष कम हो जाता है।

नीलाब्ज-संज्ञा पुं० [सं०] नील कमल।

नीलाम-संज्ञा पुं० [पुर्त० नीलाम] बिक्री का एक ढंग जिसमें माल उस आदमी को दिया जाता है जो सब से अधिक दाम बोलता है। बोली बोलकर बेचना।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

धौ०—नीलामघर।

मुहा०—नीलाम पर चढ़ना = बोली बोलकर बेचा जाना।

(माल) नीलाम पर चढ़ाना = बोली बोलकर बेचना।

नीलामघर-संज्ञा पुं० [हिं० नीलाम + घर] वह घर या स्थान जहाँ चीजें नीलाम की जाती हैं।

नीलामी-वि० [हिं० नीलाम] नीलाम में मोल लिया हुआ।

नीलाम्लान-संज्ञा पुं० [सं०] एक पौधा जिसमें सुंदर फूल लगते हैं। काला कोराडा। (मराठी)

नीलाम्ली-संज्ञा पुं० [सं०] नल्लुडुगुड।

नीलावती-संज्ञा स्त्री० [सं० नीलवती] एक प्रकार का चावल।

३०—नीलावती चाउर दिवि दुर्लभ । भात परोस्यो माता सुलभ ।—सूर ।

नीलाश्व-संज्ञा पुं० [सं०] एक देश का नाम ।

नीलासन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दियासाब का पेड़ । (२) एक रतिबंध ।

नीलाहटा-संज्ञा स्त्री० [हिं० नीला + आहट (प्रत्य०)] नीलापन ।

नीलि-संज्ञा पुं० [सं०] एक जलजंतु का नाम ।

नीलिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नीलवरी । (२) नीली निर्गुंडी ।

नील सन्हालु वृक्ष । (३) आँख का एक रोग । तिमिर रोग के अंतर्गत लिंगनाश का एक भेद । आँख तिलमिलाने का रोग ।

विशेष—जिस तिमिर रोग में कभी कभी एकबारगी कुछ न दिखाई पड़े उसे लिंगनाश कहते हैं और जिसमें आकाश में सूर्य नक्षत्र बिजली आदि की सी चमक दिखाई पड़े उसे नीलिका कहते हैं । (सुश्रुत)

(४) मुख पर का एक रोग जिसमें सरसों के बराबर छोटे छोटे कड़े काले दाने निकलते हैं । इला ।

नीलिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नील का पेड़ । (२) नीला बोना ।

नीलिमा-संज्ञा स्त्री० [सं० नीलिमन्] (१) नीलापन । (२) श्यामता । स्याही ।

विशेष—सं० में यद्यपि ुं० है पर हिंदी में स्त्री० है ।

नीलि-वि० स्त्री० [हिं० नीला] काले रंग की । नील के रंग की । काली । आसमानी ।

संज्ञा स्त्री० (१) नील का पौधा । (२) नीलिका रोग ।

नीली घोड़ी-संज्ञा स्त्री० [हिं० नीली + घोड़ी] (१) काले अथवा सवज रंग की घोड़ी । (२) जामे के साथ सिली हुई कागज की घोड़ी जिसे पहन लेने से जान पड़ता है कि आदमी घोड़े पर सवार है । डफाली इसे पहन कर गाजी मियाँ के गीत गाते हुए भीख माँगने निकलते हैं ।

नीली चकरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० नीली + चकरी] एक प्रकार का पौधा ।

नीली चाय-संज्ञा स्त्री० [हिं० नीली + चाय] अगिया घास या यज्ञकुश ।

नीलू-संज्ञा स्त्री० [हिं० नील] एक प्रकार की घास । पलवान ।

नीलोत्पल-संज्ञा पुं० [सं०] नील कमल ।

नीलोत्पली-संज्ञा पुं० [सं० नीलोत्पलिन्] (१) शिव के एक अंश । (२) बौद्ध महात्मा मंजुश्री का एक नाम ।

नीलोत्तर-संज्ञा पुं० [फा० । मि० सं० नीलोत्पल] (१) नील कमल । (२) कुई । कुसुद ।

विशेष—हकीमी नुसखों में कुसुद या कुई का ही व्यवहार यहाँ होता है ।

नीव-संज्ञा स्त्री० [सं० नेमि, प्रा० नेई] (१) घर बनाने में गहरी नाली के रूप में खुदा हुआ गड्ढा जिसके भीतर से दीवार की जोड़ाई आरंभ होती है । दीवार उठाने के लिये गहरा किया हुआ स्थान ।

क्रि० प्र०—खोदना ।

मुहा०—नीव देना = (१) गड्ढा खोद कर दीवार खड़ी करने के लिये स्थान बनाना । दीवार की जड़ जमाने के लिये भूमि खोदना । (२) घर उठाने का आरंभ करना । (किसी बात की) नीव देना = कारण या आधार खड़ा करना । जड़ खड़ी करना । आरंभ करना । उपक्रम करना । सामान करना । जैसे, ऋग्वेद की नीव देना । ३०—बाकी खाँ सो उठि छुता दुई दुंद की नीव ।—लाल । नीव भरना = दीवार के लिये खुदे हुए गड्ढे में कंकड़, पत्थर आदि पाटना ।

(२) दीवार के लिये गहरे किए हुए स्थान में ईंट, पत्थर, मिट्टी आदि की जोड़ाई या जमावट जिसके ऊपर दीवार उठते हैं । दीवार की जड़ या आधार । मूलभित्ति ।

क्रि० प्र०—घरना ।—रखना ।

मुहा०—नीव का पत्थर = वह पत्थर जो मकान बनाने के आरंभ में पहले पहल नीव में रखा जाता है । नीव जमाना या ढाखना या देना = दीवार उठाने के लिये नीव के गड्ढे में ईंट, पत्थर आदि जमा कर आधार खड़ा करना । दीवार की जड़ जमाना । (किसी बात की) नीव जमाना = (१) आधार दृढ़ करना । स्थिर करना । स्थापित करना । (२) गर्भ स्थित करना । पेट रखना । (किसी वस्तु या बात की) नीव ढाखना—देना = आधार खड़ा करना । जड़ जमाना । सूत्रपात करना । बुनियाद डालना । आरंभ करना । जैसे, क्वाइव ने अंगरेजी राज्य की नीव ढाली । नीव पड़ना = (१) घर की दीवार का आधार खड़ा होना । घर बनने का लगना लगाना । ३०—ओक की नीव परी हरि-लोक विलोकत गंग तरंग तिहारे । (२) आरंभ होना । सूत्रपात होना । जड़ खड़ी होना या जमना । जैसे, ऋग्वेद की नीव पड़ना, राज्य की नीव पड़ना । (३) जड़ । मूल । स्थिति । आधार ।

नीव-संज्ञा स्त्री० दे० “नीव” ।

नीवर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भिन्न । परिव्राजक । (२) वाणिज्य । (३) कीचड़ । (४) जल ।

नीवानास-संज्ञा पुं० [हिं० नीव + नाश] जड़ मूल से नाश । सत्तानाश । बरबादी । ध्वंस ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

वि० चौपट । नष्ट । बरबाद ।

क्रि० प्र०—करना ।—जाना ।—होना ।

नीवार-संज्ञा पुं० [सं०] पसही वा तिथी के चावल । मुख्य ।

नीवि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कमर में लपेटे हुए धोती की वह

गाँठ जिसे खियाँ पेट के नीचे सूत की डोरी से या यों ही बाँधती हैं। (२) सूत की डोरी जिससे खियाँ धोती की गाँठ बाँधती हैं। कटिवस्त्र-बंध। कुकुंदी। नारा। (३) जहाँगे में पड़ी हुई वह डोरी जिससे जहाँगा कमर में बाँधा जाता है। इजारबंद। (४) साड़ी। धोती।

नीवी-संज्ञा स्त्री० दे० “नीवि”।

नीशार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सरदी, हवा आदि से बचाव के लिये परदा। कनात। (२) मसहरी।

नीसा-संज्ञा पुं० [देश०] सफेद धतूरा।

नीसान-संज्ञा पुं० दे० “निशान”।

नीसानी-संज्ञा स्त्री० [?] तेईस मात्राओं का एक छंद जिसमें १३ वीं और १० वीं मात्रा पर विराम होता है। यह उपमान के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। ४०—भाई सूरज मल्ल से कहना यह भाई। हम तुम बंदे साहि के बुझो न बराई।

नीसू-संज्ञा पुं० [सं० निष्ठा] जमीन में गड़ा हुआ काठ का कुंदा जिस पर रख कर चारा या गन्ना काटते हैं।

नीहा-संज्ञा स्त्री० दे० “नीव”।

नीहार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुहरा। (२) पाला। हिम। तुषार। बर्फ।

नीहारिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] आकाश में धूँ या कुहरे की तरह फैला हुआ क्षीण प्रकाशपुंज जो अँधेरी रात में सफेद धब्बे की तरह कहीं कहीं दिखाई पड़ता है।

विशेष—नीहारिका के धब्बे हमारे सौर जगत् से बहुत दूर हैं। दूरबीन के द्वारा देखने से ऐसे बहुत से धब्बों का पता अब तक लग चुका है जो भिन्न भिन्न अवस्थाओं में हैं। कुछ धब्बे तो ऐसे हैं जो अच्छी से अच्छी दूरबीनों से देखने पर भी कुहरे या भाप के रूप के ही दिखाई पड़ते हैं, कुछ ऐसे हैं जिनमें स्थान स्थान पर कुहरे से आवृत कुछ धनीभूत पिंड से भी दिखाई पड़ते हैं और कुछ एक दम छोटे छोटे तारों से मिलकर बने पाए जाते हैं और वास्तव में तारकगुच्छ हैं। आकाशगंगा में इस प्रकार के तारकगुच्छ बहुत से हैं। इन तीनों में शुद्ध नीहारिका एक प्रकार के धब्बे ही हैं जो प्रारंभिक अवस्था में हैं। इनसे आती हुई किरणों की रश्मि-विश्लेषण यंत्र में परीक्षा करने से कुछ में कई प्रकार की आलोक-रेखाएँ पाई जाती हैं। इनमें से कई एक का तो निश्चय नहीं होता कि किस द्रव्य से आती हैं, तीन का पता जगता है कि वे हाइड्रोजिन (उद्जन) की रेखाएँ हैं।

ज्योतिर्विज्ञानियों का कथन है कि नीहारिका के धब्बे ग्रहनक्षत्रों के उपादान हैं। इन्हीं के क्रमशः धनीभूत होकर जमते जमते नक्षत्रों और लोकपिंडों की सृष्टि होती है। इनमें अत्यंत अधिक मात्रा का ताप होता है। हमारा यह

सूर्य अपने ग्रहों और उपग्रहों के साथ आरंभ में नीहारिका रूप में ही था।

नुकता-संज्ञा पुं० [अ० नुकतः] बिंदु। बिंदी।

संज्ञा पुं० [अ० नुकतः] (१) चुटकुला। फबती। जगती हुई उक्ति।

क्रि० प्र०—छोड़ना।

(२) ऐब। दोष।

क्रि० प्र०—निकालना।

यौ०—नुकताची। नुकताचीनी।

(३) झालर के रूप का वह परदा जो घोड़ों के माथे पर इसलिये बाँधा जाता है जिसमें आँख में मक्खियाँ न लगें। तिलहारी।

नुकताचीन-वि० [फा०] ऐब ढूँढ़नेवाला या निकालनेवाला। दोष ढूँढ़ने या निकालनेवाला। छिद्रान्वेषी।

नुकताचीनी-संज्ञा स्त्री० [फा०] छिद्रान्वेषण। दोष निकालने का काम।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

नुकती-संज्ञा स्त्री० [फा० नखुदा] एक प्रकार की मिठाई। बेसन की छोटी महीन बुंदिया।

नुकरा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) चाँदी। (२) घोड़ों का सफेद रंग। वि० सफेद रंग का (घोड़ा)।

नुकरी-संज्ञा स्त्री० [देश०] जलाशयों के पास रहनेवाली एक चिड़िया जिसके पैर सफेद और चोंच काली होती है।

नुकसान-संज्ञा पुं० [अ०] (१) कमी। घटी। हास। क्षीन। जैसे, सीढ़ में रखने से इतने कागज़ का नुकसान हो गया। (२) हानि। घाटा। फायदा का उलटा। जियान। क्षति। पास की वस्तु का जाता रहना।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

मुहा०—नुकसान उठाना=हानि सहना। पछे का खेना। क्षतिग्रस्त होना। नुकसान पहुँचना=नुकसान होना। नुकसान पहुँचाना=हानि करना। क्षतिग्रस्त करना। नुकसान भरना=हानि की पूर्ति करना। घाटा पूरा करना।

(३) बिगाड़। खराबी। दोष। अवगुण। विकार।

मुहा०—(किसीके) नुकसान करना=दोष उत्पन्न करना। अस्वस्थ करना। स्वास्थ्य के प्रतिकूल होना। जैसे, आलू हमें बहुत नुकसान करता है।

नुकाई-संज्ञा स्त्री० [देश०] खुरपी से निराने का काम।

नुकीला-वि० [हिं० नोक + ईला (प्रत्य०)] [स्त्री० नुकीली] (१) नोकदार। जिसमें नोक निकली हो। जो छोर की ओर बराबर पतला होता गया हो। (२) नोक भोंक का। बाँका तिरछा। सुंदर ढब का। सजीला। जैसे, नुकीला जवान।

नुकीली-वि० स्त्री० दे० “नुकीला”।

नुकड़-संज्ञा पुं० [हिं० नोक का अल्प] (१) नोक । पतला सिरा । (२) सिर । छोर । अंत । जैसे, गली के नुकड़ पर वह दुकान है । (३) कोना । निकला हुआ कोना ।

नुका-संज्ञा पुं० [हिं० नोक] (१) नोक ।

यौ०—नुका टोपी = पतली टोपलिया टोपी जो लखनऊ में दी जाती है ।

(२) गेड़ी के खेल में एक लकड़ी ।

मुहा०—नुका मारना या लगाना = (१) गेड़ी मारना । गेड़ी के खेल में लकड़ी मारना । (२) कील ठोकना । बाधा पहुँचाना । कष्ट पहुँचाना ।

नुकस-संज्ञा पुं० [अ०] (१) दोष । ऐब । खराबी । बुराई ।

क्रि० प्र०—निकलना ।—निकालना ।

(२) नुटि । कसर ।

नुखरना-क्रि० अ० [देश०] भालू का चित लेटना । (कलंदर)

नुखाट-संज्ञा स्त्री० [देश०] छड़ी की मार जो कलंदर भालू के मुँह पर मारते हैं । (कलंदर) ।

नुगदी-संज्ञा स्त्री० दे० “नुकती” ।

नुचना-क्रि० अ० [सं० लुचन] (१) अंश या अंग से लगी हुई किसी वस्तु का भटके से खिंच कर अलग होना । खिंचकर उखड़ना । उड़ना । जैसे, बाल नुचना । पत्ती नुचना । (२) खोंचा जाना । नाखून आदि से छिलना ।

संयो० क्रि०—जाना ।

नुचवाना-क्रि० स० [हिं० नोचना का प्रे०] नोचने का काम कराना । नोचने में प्रवृत्त करना । नोचने देना ।

संयो० क्रि०—डालना ।—देना ।

नुजट-संज्ञा पुं० [?] संगीत में २४ शोभाओं में से एक ।

नुत-वि० [सं०] स्तुत । प्रशंसित । वंदित । जिसकी स्तुति वा प्रशंसा की गई हो ।

नुति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्तुति । वंदना । (२) पूजा ।

नुत्त-वि० [सं०] (१) चलाया हुआ । चिस । (२) प्रेरित ।

नुत्फा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) वीर्य । शुक्र ।

मुहा०—नुत्फा ठहरना = गर्भ रट्टना ।

यौ०—नुत्फाहराम ।

(२) संतति । औलाद ।

नुत्फाहराम-वि० [अ०] (१) जिसकी उत्पत्ति व्यभिचार से हो । वर्णसेकर । दोगला । (२) कमीना । बदमाश । (गाली)

नुनखारा-वि० [हिं० नून + खारा] स्वाद में नमक सा खारा । नमकीन ।

नुनखारा-वि० दे० “नुनखारा” ।

नुनना-क्रि० स० [सं० लवन, लन] लुनना । खेत काटना ।

नुनाई-संज्ञा स्त्री० [हिं० ‘नून’ से नोला, नोले = छंदर] लावण्य । सुंदरता । सलोनापन ।

नुनी-संज्ञा स्त्री० [देश०] छोटी जाति का नूत जो हिमालय पर कारमीर से लेकर सिक्किम तक तथा बरमा और दक्षिण भारत के पहाड़ों पर भी होता है ।

नुनेरा-संज्ञा पुं० [हिं० नून + एरा (प्रत्यय)] (१) नानी मिट्टी आदि से नमक निकालनेवाला । नमक बनाने का रोजगार करनेवाला । (२) लोनिया । नोनिया । (इस जाति के लोग पहले नमक निकाला करते थे) ।

नुमाइश-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) दिखावट । दिखावा । प्रदर्शन । दिखाने या प्रगट करने का भाव । (२) तड़क भड़क । ठाट-वाट । सजधज । (३) नाना प्रकार की वस्तुओं का कुतूहल और परिचय के लिये एक स्थान पर दिखाया जाना ।

यौ०—नुमाइशगाह ।

(४) वह मेला जिसमें अनेक स्थानों से इकट्ठी की हुई उत्तम और अद्भुत वस्तुएँ दिखाई जाती हैं ।

नुमाइशगाह-संज्ञा स्त्री० [फा०] वह स्थान जहाँ अनेक प्रकार की उत्तम और अद्भुत वस्तुएँ इकट्ठी करके दिखाई जायें ।

नुमाइशी-वि० [फा० नुमाइश] (१) दिखाऊ । दिखावा । जो केवल दिखावट के लिये हो, किसी प्रयोजन का न हो । जो देखने में भड़कीला और सुंदर हो, पर टिकाऊ या काम का न हो । (२) जिसमें ऊपरी तड़क भड़क हो, भीतर कुछ सार न हो ।

नुसखा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) लिखा हुआ कागज । (२) कागज का वह चिट जिस पर हकीम या वैद्य रोगी के लिये औषध और सेवन विधि आदि लिखते हैं । दवा का पुरजा ।

मुहा०—नुसखा बाँधना = हकीम या वैद्य के लिखे अनुसार दवाएँ देना । पंसारी या अत्तार का काम करना । नुसखा लिखना = रोगी को देख औषध की व्यवस्था करना । दवा लिखना ।

नुहरना-क्रि० अ० दे० “निहुरना” ।

नूत-वि० [सं० नूतन] (१) नया । नूतन । उ०—अरुन नूत पछव धरे रंग भीजी ग्वालिनी ।—सूर । (२) अनोखा । अनूठा । उ०—मूले मौला कहत हैं फलै अंबिया नाव । और तरुन में नूत यह तेरो धन्य सुभाव ।

नूतन-वि० [सं०] (१) नया । नवीन । (२) हाज का । ताजा ।

(३) अनोखा । अपूर्व । विजृम्भ ।

नूतनता-संज्ञा स्त्री० [सं०] नूतन का भाव । नवीनता । नयापन ।

नूतनत्व-संज्ञा पुं० [सं०] नयापन ।

नूद-संज्ञा पुं० [सं०] शहलूत ।

नूधा-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का तंबाकू ।

नून-संज्ञा पुं० [?] (१) आल । (२) आल की जाति की एक लता जो दक्षिण भारत तथा आसाम, बरमा आदि देशों में होती है । इससे भी एक प्रकार का लाल रंग निकलता है ।

इसका व्यवहार भारतवर्ष में कम पर जावा आदि द्वीपों में बहुत होता है।

† संज्ञा पुं० [सं० लवण, हिं० लोन] नमक।

मुहा०—नून तेल = गृहस्थी का सामान।

वि० दे० “न्यून”। उ०—प्रेमहि सज्जन हिये महुँ होन देत नहिं नून।—रसनिधि।

नूनताई*—संज्ञा स्त्री० दे० “न्यूनता”।

नूनी—संज्ञा स्त्री० [सं० न्यून, हिं० नून लिंगेन्द्रिय, विशेषतः बच्चों की।

नूपुर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पैर में पहनने का स्त्रियों का एक गहना। पैजनी। घुँघरू। (२) नगण्य के पहले भेद का नाम। (३) इक्ष्वाकु-वंशीय एक राजा।

नूका—संज्ञा पुं० [?] १४ मन्त्राओं का एक छंद जो कञ्जल के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। उ०—खलभल परी दुग्ग मझार। दलबल दपट देखि अपार॥ कलबल करत नर अरु नार। छलबल कोट ओट निहार॥

नूर—संज्ञा पुं० [अ०] (१) ज्योति। प्रकाश। आभा। जैसे, खुदा का नूर।

मुहा०—नूर का तड़का = बहुत सवेरा। प्रातःकाल। नूर बरसना = प्रभा का अधिकता से प्रकट होना।

(२) श्री। कान्ति। शोभा। (३) ईश्वर का एक नाम। (स्फी)। (४) संगीत में बारह मुकामों में से एक।

नूरबाफ—संज्ञा पुं० [अ० + फा०] जुलाहा। तानी।

नूरा—संज्ञा पुं० [?] वह कुरती जो आपस में मिलकर लड़ी जाय अर्थात् जिसमें जोड़ एक दूसरे के विरोधी न हों। (पहलवान)

† वि० [अ० नूर] नूरवाला। तेजस्वी। उ०—दधिकर्दम खेलत रघुवंसी नरनारी नच नूरे।—रघुराज।

नूरी—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक चिड़िया।

नूह—संज्ञा पुं० [अ०] शामी या इब्रानी (यहूदी, ईसाई, मुसलमान) मतों के अनुसार एक पैगंबर का नाम जिनके समय में बड़ा भारी तूफान आया था। इस तूफान में सारी सृष्टि जलमग्न हो गई थी, केवल नूह का परिवार और कुछ पशु एक किरती पर बैठकर बचे थे। कहते हैं उन्होंने से फिर नए सिर से सृष्टि चली।

नृत—संज्ञा पुं० [सं०] नर। मनुष्य।

नृ-कपाल—संज्ञा पुं० [सं०] मनुष्य की खोपड़ी।

नृ-केशरी—संज्ञा पुं० [सं० नृकेशरिन्] (१) नृसिंह अवतार। (२) मनुष्यों में सिंह के समान पराक्रमी पुरुष। श्रेष्ठ पुरुष।

नृग—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक राजा जिनकी कथा महाभारत में इस प्रकार है—राजा नृश बड़े दानी थे। उन्होंने न जाने कितने गोदान आदि किए थे। एक बार उनकी गाथों के

झुंड में किसी एक ब्राह्मण की गाय आ मिली। राजा ने एक बार एक ब्राह्मण को सहस्र गोदान में दीं जिनमें वह ब्राह्मणवाली गाय भी थी। ब्राह्मण ने जब अपनी गाय को पहचाना तब दोनों ब्राह्मण राजा नृग के पास आए। राजा नृग ने जिस ब्राह्मण को गाएँ दान में दी थीं उसे गाय बदल लेने के लिये बहुत समझाया पर उसने एक न मानी। अंत में वह दूसरा ब्राह्मण उदास होकर चला गया। जब राजा का परलोकवास हुआ तब उनसे यम ने कहा कि आपका पुण्यफल बहुत है पर ब्राह्मण की गाय हरने का पाप भी आपको लगा है। चाहे पाप का फल पहले भोगिए, चाहे पुण्य का। राजा ने पाप का ही फल पहले भोगना चाहा अतः वे सहस्र वर्ष के लिये गिरगिट होकर एक कुएँ में रहने लगे। अंत में श्रीकृष्ण के हाथों से उनका उद्धार हुआ। (२) मनु के एक पुत्र का नाम। (३) यौधेय वंश का आदि-पुरुष जो नृग के गर्भ से उत्पन्न उशीनर का पुत्र था।

नृगा—संज्ञा स्त्री० [सं०] राजा उशीनर की पत्नी का नाम।

नृघ्न—वि० [सं०] नरघातक।

नृतक*—संज्ञा पुं० दे० “नर्तक”।

नृति—संज्ञा स्त्री० [सं०] नाच। नृत्य।

नृतु—संज्ञा पुं० [सं०] नाचनेवाला। नर्तक।

नृत्—संज्ञा पुं० [सं०] (१) नर्तक। (२) नरहिंसक।

नृत्तना*—क्रि० अ० [सं० नृत] नाचना। नृत्य करना।

नृत्य—संज्ञा पुं० [सं०] संगीत के ताल और गति के अनुसार हाथ पाँव हिलाने, उछलने कूदने आदि का व्यापार। नाच। नर्तन।

विशेष—इतिहास, पुराण, स्मृति इत्यादि सब में नृत्य का उल्लेख मिलता है। संगीत के ग्रंथों में नृत्य के दो भेद किए गए हैं—तांडव और लास्य। जिसमें उग्र और उद्धत चेष्टा हो उसे तांडव कहते हैं और जो सुकुमार अंगों से किया जाय तथा जिससे शृंगार आदि कोमल रसों का संचार हो उसे लास्य कहते हैं। संगीतनारायण में लिखा है कि पुरुष के नृत्य को तांडव और स्त्री के नृत्य को लास्य कहते हैं। संगीतदामोदर के मत से तांडव और लास्य भी दो दो प्रकार के होते हैं—पेलवि और बहुरूपक। अभिनय-शून्य अंग-विक्षेप को पेलवि कहते हैं। जिसमें छेद भेद तथा अनेक प्रकार के भावों के अभिनय हों उसे बहुरूपक कहते हैं। लास्य नृत्य दो प्रकार का होता है—छुरित और यौवत। अनेक प्रकार के भाव दिखाते हुए नायक नायिका एक दूसरे का चुंबन आलिंगन आदि करते हुए जो नृत्य करते हैं वह छुरित कहलाता है। जो नाच नाचनेवाली अकेले आप ही नाचे वह यौवत है। इसी प्रकार संगीत के ग्रंथों में हाथ,

पैर, मस्तक आदि की विविध गतियों के अनुसार अनेक भेद उपभेद किए गए हैं।
धर्मशास्त्रों में नृत्य से जीविका करनेवाले निम्न कहे गए हैं।

नृत्यकी^१—संज्ञा स्त्री० दे० “नर्तकी”।

नृत्यप्रिय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) महादेव (जिन्हें तांडव नृत्य प्रिय है)। (२) कार्तिकेय का एक अनुचर।

नृत्यशाला—संज्ञा स्त्री० [सं०] नाचघर।

नृदुर्ग—संज्ञा पुं० [सं०] सेना का चारों ओर का घेरा।

नृदेव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा। (२) ब्राह्मण।

नृपजय—संज्ञा पुं० [सं०] एक पुरुवंशीय राजा।

नृप—संज्ञा पुं० [सं०] नरपति। राजा।

नृपकंद—संज्ञा पुं० [सं०] लाल प्याज।

नृपता—संज्ञा स्त्री० [सं०] राजापन। राजा का गुण या भाव।

नृपति—संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा। (२) कुबेर।

नृपद्रुम—संज्ञा पुं० [सं०] (१) अमिलतास। (२) खिरनी का पेड़।

नृपद्रोही—संज्ञा पुं० [सं०] नृपद्रोहिन्। परशुराम।

नृपप्रिय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) लाल प्याज। (२) रामशर।
सरकंडा। (३) एक प्रकार का बंस। (४) जड़हन धान।
(५) आम का पेड़। (६) राजसुआ। पहाड़ी या पर्वती तोता।

नृपप्रियफला—संज्ञा स्त्री० [सं०] बैंगन।

नृपप्रिया—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) केतकी। (२) पिंड खजूर।

नृपमांगल्य—संज्ञा पुं० [सं०] तरवट का पेड़। आहुत।

नृपमान—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बाजा जो राजाओं के भोजन के समय बजाया जाता था।

नृपवल्लभ—संज्ञा पुं० [सं०] राजाप्रवृत्त।

नृपवल्लभा—संज्ञा स्त्री० [सं०] केतकी।

नृपवृक्ष—संज्ञा पुं० [सं०] सोनालु का पेड़।

नृपसुता—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) राजकन्या। राजकुमारी। (२) छलुंदर। छलुंदरी।

नृपात्मजा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) राजकन्या। (२) कडुवा घीया। कडुई देवी।

नृपाध्वर—संज्ञा पुं० [सं०] राजसूय यज्ञ।

नृपान्न—संज्ञा पुं० [सं०] राजभोग धान।

नृपाभीर—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बाजा जो राजाओं के भोजन के समय बजाया जाता था।

नृपामय—संज्ञा पुं० [सं०] राजयक्ष्मा। क्षयरोग।

नृपाल—संज्ञा पुं० [सं०] (मनुष्यों का पालन करनेवाला) राजा।

नृपावर्त्त—संज्ञा पुं० [सं०] राजावर्त्त। एक प्रकार का रत्न।

नृपासन—संज्ञा पुं० [सं०] भद्रासन। राजसिंहासन। तख्त।

नृपाह्वय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा कहलानेवाला। राजा नामधारी। (२) लाल प्याज।

नृपोचित—वि० [सं०] जो राजाओं के योग्य हो।

संज्ञा पुं० (१) राजमाष। काला बड़ा उरद। (२) लोबिया।

नृमण—संज्ञा स्त्री [सं०] प्लक्षद्वीप की एक महानदी। (भागवत)

नृमणि—संज्ञा पुं० [सं०] एक पिशाच या भूत जो बच्चों को लग कर तंग किया करता है।

नृमर—संज्ञा पुं० [सं०] (मनुष्यों को मारनेवाला) राक्षस।

नृमिथुन—संज्ञा पुं० [सं०] स्त्री-पुरुष का जोड़ा।

नृमेध—संज्ञा पुं० [सं०] नरमेध या पुरुषमेध यज्ञ।

नृयज्ञ—संज्ञा पुं० [सं०] पंचयज्ञों में से एक जिसका करना गृहस्थ के लिये कर्त्तव्य है। अतिथिपूजा। अभ्यागत का सत्कार।

नृलोक—संज्ञा पुं० [सं०] नरलोक। मनुष्यलोक। मर्त्यलोक।

नृवराह—संज्ञा पुं० [सं०] वाराहरूपधारी भगवान् विष्णु।

नृशंस—वि० [सं०] (१) लोगों को कष्ट या पीड़ा पहुँचानेवाला। क्रूर। निर्दय। (२) अनिष्टकारी। अपकारी। अत्याचारी। जालिम।

नृशंसता—संज्ञा स्त्री० [सं०] निर्दयता। क्रूरता।

नृशृंग—संज्ञा पुं० [सं०] मनुष्य की सींग के समान अनहोनी बात या वस्तु। अलीक पदार्थ।

नृसिंह—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिंहरूपी भगवान् विष्णु। विष्णु का चौथा अवतार।

विशेष—हरिवंश में लिखा है कि सत्य युग में दैत्यों के आदि पुरुष हिरण्यकशिपु ने घोर तप करके ब्रह्मा से वर माँग लिया कि न मैं देव, असुर, गंधर्व, नाग राक्षस या मनुष्य के हाथ से मारा जा सकूँ, न अश्व शस्त्र, वृक्ष, शैल तथा सूखे या गीले पदार्थ से मरूँ; और न स्वर्ग मर्त्य आदि किसी लोक में या दिन रात किसी काल में मेरी मृत्यु हो सके। इस प्रकार का वर पाकर वह दैत्य अत्यंत प्रबल हो उठा और स्वर्ग आदि छीन कर देवताओं को बहुत सताने लगा। देवता लोग विष्णु भगवान् की शरण में गए। विष्णु ने उन्हें अभय दान देकर अत्यंत भीषण नृसिंह मूर्ति धारण की जिसका आधा शरीर मनुष्य का और आधा सिंह का था। जब यह नृसिंह मूर्ति हिरण्यकशिपु के पास पहुँची तब उसके पुत्र प्रह्लाद ने कहा—कि “यह मूर्ति देवी है, इसके भीतर सारा चराचर जगत् दिखाई पड़ता है। जान पड़ता है कि अब दैत्य-कुल नष्ट होगा”। यह सुनकर हिरण्यकशिपु ने अपने दैत्यों से नृसिंह को मारने के लिये कहा। पर जितने दैत्य मारने गए सब नष्ट हुए। अंत में हिरण्यकशिपु आप उठकर युद्ध करने लगा। हिरण्यकशिपु के क्रुद्ध नेत्रों की ज्वाला से समुद्र का जल खलबला उठा, सारी पृथ्वी डोंवाडोल हुई और लोकों में हाहाकार मच गया। देवताओं का आर्त्तनाद सुन नृसिंह

भगवान् अत्यंत भीषण गर्जन करके दैत्य पर झपटे और उन्होंने उसका पेट नखों से फाड़ डाला।

भागवत और विष्णु पुराण में सब कथा तो यही है प्रह्लाद की भक्ति का प्रसंग अधिक है। भागवत में लिखा है कि हिरण्यकशिपु वर पाकर बहुत प्रबल हुआ और स्वर्ग आदि लोकों को जीत कर राज्य करने लगा। उसके चार पुत्र थे जिन में प्रह्लाद विष्णु भगवान् का बड़ा भारी भक्त था। शुक्राचार्य का पुत्र दैत्यराज के पुत्रों को पढ़ाता था। एक दिन हिरण्यकशिपु ने परीक्षा के लिये सब पुत्रों को अपने सामने बुलाया और कुछ सुनाने के लिए कहा। प्रह्लाद विष्णु भगवान् की महिमा गाने लगा। इस पर दैत्यराज बहुत बिगड़ा क्योंकि वह विष्णु का घोर द्वेषी था। पर बिगड़ने का कुछ भी फल नहीं हुआ। प्रह्लाद की भक्ति दिन पर दिन अधिक होती गई। पिता के द्वारा अनेक ताड़न और कष्ट सहकर भी प्रह्लाद भक्ति पर दृढ़ रहे। धीरे धीरे बहुत से सहपाठी बाळकों का दल प्रह्लाद का अनुयायी हो गया। इस पर दैत्यराज ने कुपित हो कर प्रह्लाद से पूछा कि 'तू किसके बल पर इतना कूदता है?' प्रह्लाद ने कहा 'भगवान् के, जिसके बल पर यह सारा संसार चल रहा है'। हिरण्यकशिपु ने पूछा 'तेरा भगवान् कहाँ है?' प्रह्लाद ने कहा 'वह सदा सर्वत्र रहता है' दैत्यराज ने दाँत पीसकर पूछा 'क्या इस खंभे में भी है?' प्रह्लाद ने कहा 'अवश्य'। हिरण्यकशिपु खज्ज लेकर बार बार खंभे की ओर देखने लगा। इतने में खंभे के भीतर से प्रलय के समान शब्द हुआ और नृसिंह ने निकल कर दैत्यराज का वध किया।

(२) श्रेष्ठ पुरुष। (३) एक रतिबंध।

नृसिंह चतुर्दशी—संज्ञा स्त्री० [सं०] वैशाख शुक्ल चतुर्दशी।

विशेष—इस तिथि को नृसिंह जी का अवतार हुआ था इससे व्रत, पूजन, उत्सव आदि किए जाते हैं।

नृसिंह पुराण—संज्ञा पुं० [सं०] एक उपपुराण।

नृसिंहपुरी—संज्ञा पुं० [सं०] एक तीर्थ जो मुजतान में कहा जाता है।

नृसिंहवन—संज्ञा पुं० [सं०] कूर्मविभाग में परिचम-उत्तर स्थित एक देश। (बृहत्संहिता)

नृसोम—संज्ञा पुं० [सं०] वह जो मनुष्यों में चंद्रमा के सदृश हो। नरश्रेष्ठ।

नृहरि—संज्ञा पुं० [सं०] नृसिंह।

नै-प्रत्य० [सं० प्रत्य० टा = एण] सकर्मक भूतकालिक क्रिया के कर्ता का चिह्न जो उसके आगे लगाया जाता है। सकर्मक भूतकालिक क्रिया के कर्ता की विभक्ति। जैसे, राम ने रावण को मारा। उसने यह काम किया।

विशेष—हिंदी की भूतकालिक क्रियाएँ सं० कृदंतों से बनी

हैं इसीसे कर्मवाच्य रूप में वाक्यों का प्रयोग आरंभ हुआ।

क्रमशः उन वाक्यों का ग्रहण कर्तृवाच्य में भी होने लगा।

नेई—संज्ञा स्त्री० दे० "नीव"।

नेउछाउरि—संज्ञा स्त्री० दे० "न्योछावर", "निछावर"।

नेउतना—क्रि० सं० दे० "नेवतना", "न्योतना"।

नेउता—संज्ञा पुं० दे० "नेवता", "न्योता"।

नेउला—संज्ञा पुं० दे० "नेवला"।

नेक—वि० [फा०] (१) अच्छा। भला। उत्तम।

यौ०—नेकचलन। नेकनाम। नेकनीयत। नेकबख्त।

(२) शिष्ट। सज्जन। जैसे, नेक आदमी।

* वि० [हिं० न + एक] थोड़ा। तनिक। जरा सा।

किंचित्। कुछ।

क्रि० वि० थोड़ा। जरा। तनिक। उ०—नेक हंसैहीं बानि तजि लखौ परत मुख नीटि।—बिहारी।

नेकचलन—वि० [फा० नेक + हिं० चलन] अच्छे चाल चलन का। सदाचारी।

नेकचलनी—संज्ञा स्त्री० [फा० नेक + हिं० चलन] सुचाब। सदाचार। भलमनसाहत।

नेकनाम—वि० [फा०] जिसका अच्छा नाम हो। जो अच्छा प्रसिद्ध हो। यशस्वी।

नेकनामी—संज्ञा स्त्री० [फा०] नामवरी। सुख्याति। कीर्ति। सुयश।

नेकनीयत—वि० [फा० नेक + अ० नीयत] (१) अच्छे संकल्प का। शुभ संकल्पवाला। जिसका आशय या उद्देश्य अच्छा हो।

उत्तम विचार का। उद्देश्यशय। भलाई का विचार रखनेवाला।

नेकनीयती—संज्ञा स्त्री० [फा० नेकनीयत] (१) नेकनीयत होने का भाव। अच्छा संकल्प। भला विचार। (२) ईमानदारी।

नेकबख्त—वि० [फा०] (१) भाग्यवान्। खुशकिस्मत। (२) अच्छे स्वभाव का। सुशील।

नेकरी—संज्ञा स्त्री० [?] समुद्र की लहर का अपेड़ा जिससे जहाज़ किसी ओर को बहता है। हाँक। (लश०)

नेकी—संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) भलाई। उत्तम व्यवहार। (२) सज्जनता। भलमनसाहत।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

यौ०—नेकी बदी = भलाई बुराई। पाप पुण्य। जसे, नेकी बदी साथ जाती है।

(३) उपकार। हित। जैसे, उसने तुम्हारे साथ बड़ी नेकी की है।

यौ०—नेकी बदी = उपकार अपकार। हित अहित।

मुहा०—नेकी और पूछ पूछ = किसी का उपकार करने में उससे पूछने की क्या आवश्यकता है?

नेकु—वि०, क्रि० वि० दे० "नेक"।

नेग-संज्ञा पुं० [सं० नैयमिक, हिं० नेवग] (१) विवाह आदि शुभ अवसरों पर संबंधियों, आश्रितों तथा कार्य्य वा कृत्य में योग देनेवाले और लोगों को कुछ दिए जाने का नियम। देने, पाने का हक या दस्तूर। जैसे, नेग में उनको बहुत कुछ मिला।

यौ०—नेगचार। नेगजोग।

मुहा०—नेग करना = शुभ मुहूर्त में आरंभ करना। साइत करना।

(२) वह वस्तु या धन जो विवाह आदि शुभ अवसरों पर संबंधियों, नौकरों चाकरों तथा नाई बारी आदि काम करनेवालों को उनकी प्रसन्नता के लिये नियमानुसार दिया जाता है। बैधा हुआ पुरस्कार। इनाम। बख्शिश।

क्र० प्र०—सुकाना।—देना।

मुहा०—नेग लगना = (१) पुरस्कार देना आवश्यक होना। रीति के अनुसार कुछ देना जरूरी होना। जैसे, यहाँ ५०० नेग लगेंगे। (२) हीले लगना। काम में आ जाना। सार्थक होना। सफल होना।

नेगचार—संज्ञा पुं० दे० “नेगजोग”।

नेगजोग—संज्ञा पुं० [हिं० नेग + जोग] (१) विवाह आदि मंगल अवसरों पर संबंधियों तथा काम करनेवालों को उनके प्रसन्नतार्थ कुछ दिए जाने का दस्तूर। देने पाने की रीति। इनाम बाँटने की रस्म। (२) वह धन जो मंगल अवसरों पर संबंधियों और नौकरों चाकरों आदि को बाँटा जाता है। इनाम।

नेगटी—संज्ञा पुं० [हिं० नेग + टी (प्रत्य०)] नेग या रीति का पालन करनेवाला। दस्तूर पर चलनेवाला। उ०—जग प्रीति कर देखी नाहिं नेगटी कोऊ। छत्रपति रंक लौं देखे प्रकृति विरुद्ध न बन्यो कोऊ॥ दिन जु गए बहुत जनमनि के ऐसे जाहु जिन कोऊ। सुनि हरिदास मीत भलो पायो विहारी ऐसो पावो सब कोऊ।—स्वामी हरिदास।

नेगी—संज्ञा पुं० [हिं० नेग] नेग पानेवाला। नेग पाने का हकदार।

नेगीजोगी—संज्ञा पुं० [हिं० नेगजोग] नेग पानेवाले। विवाह आदि मंगल अवसरों पर इनाम पाने के अधिकारी, जैसे, नातेदार, नाई, बारी, नौकर, चाकर इत्यादि। खुशी का इनाम पाने का हकदार।

नेचरिया—संज्ञा पुं० [अ० नेचर] प्रकृति के अतिरिक्त ईश्वर आदि को न माननेवाला। लोकायतिक। नास्तिक।

नेचवा—संज्ञा पुं० [देश०] पलंग का पाया।

नेछावर—संज्ञा स्त्री० दे० “निछावर”।

नेजक—संज्ञा पुं० [सं०] रजक। धोबी।

नेजा—संज्ञा पुं० [फा०] (१) भाला। बरछा। (२) साँग। निशान।

मुहा०—नेजा हिलाना = बरछा या बल्लम फिराना।

नेजाबरदार—संज्ञा पुं० [फा०] भाला या राजाओं का निशान लेकर चलनेवाला।

नेजाल—संज्ञा पुं० [फा० नेजा] भाला। बरछा।

नेटा—संज्ञा पुं० [हिं० नाक + टा] नाक से निकलनेवाला कफ या बलगम। नाक से निकलनेवाला कफ या मल।

क्रि० प्र०—बहना।

मुहा०—नेटा बहना = गंदा और मैला कुचैला रहना। चेहरा साफ सुथरा न रहना।

नेठना—क्रि० अ० दे० “नाठना”।

नेड़े—क्रि० वि० [सं० निकट, प्रा० निःशब्द] निकट। पास। नजदीक।

नेत—संज्ञा पुं० [सं० नियति = ठहराव] (१) ठहराव। निर्धारण। किसी बात का स्थिर होना। उ०—अहैं ग्यारहें भौम अस भरत कुंडली नेत।—रघुराज। (२) निश्चय। ठहराव। ठान। संकल्प। इरादा। उ०—(क) आजु न जान देहुँ, री ग्वालिन! बहुत दिनन को नेत।—सूर। (ख) चार चोर चामीकर हेतू। क्रिय मारन जयदेवहि नेतू।—रघुराज। (३) व्यवस्था। प्रबंध। आयोजन। बंदिश। ठंग। उ०—(क) हाय हाय माच्यो विश्वधाम बीच भाखैं सूर काल काहे प्रभु बाँधे प्रलय नेत है।—रघुराज। (ख) नेत करन की है गति तोरी। जामें जाय बात नहिं मोरी।—रघुराज।

संज्ञा पुं० [सं० नेत्र] मथानी की रस्सी। नेता। उ०—(क) को उठि प्रात होत ले मालन को कर नेत गहै?—सूर। (ख) नाई नेत की करो चमोटी घूँघट में डरवायो।—सूर।

संज्ञा पुं० [देश०] एक गहना। उ०—कहुँ कंकन कहुँ गिरी मुद्रिका कहुँ ताटक कहुँ नेत।—सूर।

संज्ञा स्त्री० दे० “नेती”।

संज्ञा स्त्री० दे० “नीयत”।

नेतली—संज्ञा स्त्री० [सं० नेत्र = मथानी की डोरी] एक प्रकार की पतली डोरी। (जश०)

नेता—संज्ञा पुं० [सं० नेतृ] [स्त्री० नेत्री] (१) पीछे ले चलनेवाला। अगुआ। नायक। सरदार। (२) प्रभु। स्वामी। मालिक। (३) काम को चलानेवाला। निर्वाहक। प्रवर्तक। (४) नीम का पेड़। (५) विष्णु।

संज्ञा पुं० [सं० नेतृ] मथानी की रस्सी।

नेति—[सं०] एक संस्कृत वाक्य (न इति) जिसका अर्थ है “इति नहीं” अर्थात् “अंत नहीं है”। ब्रह्म या ईश्वर के संबंध में यह वाक्य उपनिषदों में अनंतता सूचित करने के लिये आया है। उ०—नेति नेति कहि वेद पुकारा।—तुलसी।

नेती—संज्ञा स्त्री० [सं० नेतृ, हिं० नेता] वह रस्सी जो मथानी में

लपेटी जाती है और जिसे खींचने से मथानी फिरती है और दूध या दही मथा जाता है।

नेती धोती—संज्ञा स्त्री० [सं० नेत्र, हिं० नेता + सं० नीति] दृष्ट्योग की एक क्रिया जिसमें कपड़े की धुन्नी पेट में डाल कर आँतें साफ करते हैं। दे० “धौति”।

नेत्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) आँख। (२) मथानी की रस्सी। (३) एक प्रकार का वस्त्र। (४) वृक्षमूल। पेड़ की जड़। (५) रथ। (६) जटा। (७) नाड़ी। (८) वस्त्रशलाका। बस्ती की सलाई। कटीटा। (९) दे० की संख्या का सूचक शब्द।

नेत्रकनीनिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] आँख का तारा।

नेत्रज—संज्ञा पुं० [सं०] आँसू।

नेत्रजल—संज्ञा पुं० [सं०] आँसू।

नेत्रपर्यंत—संज्ञा पुं० [सं०] आँख का कोना।

नेत्रपाक—संज्ञा पुं० [सं०] आँख का एक रोग।

नेत्रपिंड—संज्ञा पुं० [सं०] (१) नेत्रगोलक। आँख का डेला। (२) बिल्ली।

नेत्रपुष्करा—संज्ञा स्त्री० [सं०] रुद्रजटा नाम की लता।

नेत्रबंध—संज्ञा पुं० [सं०] आँखमिचौली का खेल। (महाभारत)

नेत्रबाला—संज्ञा पुं० [सं०] बाला। सुगंधबाला। कचमोद। बालक। विशेष—दे० “सुगंधबाला”।

नेत्रभाव—संज्ञा पुं० [सं०] संगीत या नृत्य में एक भाव जिसमें केवल आँखों की चेष्टा से सुख दुःख आदि का बोध कराया जाता है और कोई अंग नहीं हिलते डोलते। यह भाव बहुत कठिन समझा जाता है।

नेत्रमंडल—संज्ञा पुं० [सं०] आँख का घेरा। आँख का डेला।

नेत्रमल—संज्ञा पुं० [सं०] आँख का कीचड़। गिह।

नेत्रमार्ग—संज्ञा पुं० [सं०] नेत्रगोलक से मस्तिष्क तक गया हुआ सूत्र जिसमें अंतःकरण में दृष्टिज्ञान होता है।

नेत्रमीला—संज्ञा स्त्री० [सं०] यवतिक्ता लता (जिसके सेवन से आँखें बंद रहती हैं)।

नेत्रयेनि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र (जिनके शरीर में गौतम के शाप से सहस्र योनिचिह्न हो गए थे जो पीछे नेत्र के आकार में हो गए)। (२) चंद्रमा (जो अग्नि की आँख से उत्पन्न हुए थे)।

नेत्ररंजन—संज्ञा पुं० [सं०] कज्जल। काजल।

नेत्ररोग—संज्ञा पुं० [सं०] आँख में होनेवाले रोग जो वैद्यक में ७६ माने गए हैं—इनमें से १० वायुजन्य, १३ कफजन्य, १६ रक्तजन्य, १० पित्तज, २५ सन्निपातज और २ बाहरी हैं। वायुजन्य रोगों में से हताधिमंथ, निमेषदृष्टिगत, गंभीरिका और वातहतवर्त्मन् असाध्य हैं और काचरोग, शुष्काक्षिपाक, अधिमंथ, अभिष्यंद और मासुत साध्य हैं। पित्तज रोगों में से

ह्रस्वजात, जलजात, परिम्लाथी और नीली असाध्य हैं और अम्लाध्युषित दृष्टि, शुक्तिका, विदग्ध दृष्टि, पोथकी और लगण साध्य हैं। श्लेष्मज रोगों में स्नाव रोग और काच रोग साध्य होता है। पूयस्नाव, नाकुलाध्य, अक्षिपाक और अलजी ये सब सर्वदोषज असाध्य हैं। सन्निपातज काच रोग और पक्ष्मकोपरोग साध्य हैं। ७६ नेत्र रोगों में से ६ संश्लि-
गत, २१ वर्त्मगत, ११ शुक्ल भागस्थित, ४ कृष्णभागस्थित, १७ सर्वत्रगत, १२ दृष्टिगत और २ बाह्य रोग हैं।

नेत्ररोगहा—संज्ञा पुं० [सं०] वृश्चिकाली वृक्ष।

नेत्ररोम—संज्ञा पुं० [सं० नेत्ररोमन्] आँख की बिरनी। बरौनी।

नेत्रवस्ति—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की छोटी पिचकारी।

नेत्रविष—संज्ञा पुं० [सं०] आँख का कीचड़।

नेत्रविष—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का दिव्य सर्प जिसकी आँख में विष होता है।

नेत्रसंधि—संज्ञा स्त्री० [सं०] आँख का कोना।

नेत्रस्तंभ—संज्ञा पुं० [सं०] आँख की पलकों का स्थिर हो जाना। अर्थात् उठना और गिरना बंद हो जाना।

नेत्रस्नाव—संज्ञा पुं० [सं०] आँखों से पानी बहना।

नेत्रांत—संज्ञा पुं० [सं०] आँख के कोने और कान के बीच का भाग। कनपटी।

नेत्राभिष्यंद—संज्ञा पुं० [सं०] आँख का एक रोग जो कूत से फैलता है। आँख आने का रोग।

विशेष—इस रोग में आँखें लाल हो जाती हैं और उनमें बड़ी पीड़ा होती है। यह वातज, पित्तज, रक्तज, और कफज चार प्रकार का होता है। वातज अभिष्यंद में सूई चुभने की सी पीड़ा होती है और ऐसा जान पड़ता है कि आँखों में किर-किरी पड़ी हो। इसमें ठंडा पानी बहता है और सिर दुखता है। पित्तज में आँखों में जलन होती है और बहुत पानी बहता है। ठंडी चीजें रखने से आराम मालूम होता है। कफज अभिष्यंद में आँखें भारी जान पड़ती हैं, सूजन अधिक होती है और बार बार गाढ़ा पानी बहता है। इसमें गरम चीजों से आराम मालूम होता है। रक्तज में आँखें बहुत लाल रहती हैं और सब लक्षण पित्तज अभिष्यंद के से होते हैं। अभिष्यंद रोग की चिकित्सा न होने से अधिमंथ रोग होने का डर रहता है। (भावप्रकाश)

नेत्रारि—संज्ञा पुं० [सं०] थूहर। सेहूँड़।

नेत्रिक—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की छोटी पिचकारी। (सुश्रुत)

नेत्री—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अपने पीछे ले चलनेवाली। अग्र-गामिनी। अगुआ। सरदार। (२) राह बता देनेवाली। सिखाने-वाली। रास्ते पर ले चलनेवाली। शिक्षयित्री। (३) नाड़ी। (४) लक्ष्मी। (५) नदी।

नेत्रोपम फल—संज्ञा पुं० [सं०] बादाम। (भावप्रकाश)

नेत्रोत्सव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) नेत्रों का आनंद। देखने का मजा। (२) वह वस्तु जिसे देखने से नेत्रों को आनंद मिले। दर्शनीय वस्तु।

नेत्रौषध—संज्ञा पुं० [सं०] (१) आँख की दवा। (२) पुष्पकसीस।

नेत्रौषधी—संज्ञा स्त्री० [सं०] मेढासिंगी।

नेत्र्यगण—संज्ञा पुं० [सं०] रसौल, त्रिफला, लोध, ग्वारपाठा, बनकुलथी आदि नेत्ररोगों के लिये उपकारी औषधियों का समूह।

नेदिष्ट—वि० [सं०] (१) निकट का। पास का। (२) निपुण। संज्ञा पुं० अकोट वृक्ष। ढेरे का पेड़।

नेदिष्टी—वि० [सं०] समीप का। निकटस्थ। संज्ञा पुं० सहोदर भाई।

नेनुआ, नेनुवा—संज्ञा पुं० [सं०] एक भाजी या तरकारी। घियातो-रई। चिवरा।

नेपचून—संज्ञा पुं० [फ़रासीसी] सूर्य की परिक्रमा करनेवाला एक ग्रह जिसका पता सन् १८४६ से पहले किसी को नहीं था। अब तक जितने ग्रह जाने गए हैं उनमें यह सबसे अधिक दूरी पर है। बड़ाई में यह तीसरे दर्जे के ग्रहों में है। इस ग्रह का व्यास ३७००० मील है। सूर्य से इसकी दूरी २८००००००० मील के लगभग है, इससे इसे सूर्य के चारों ओर घूमने में १६४ वर्ष लगते हैं अर्थात् नेपचून का एक वर्ष हमारे १६४ वर्षों का होता है। जिस प्रकार पृथ्वी का उपग्रह चंद्रमा है उसी प्रकार नेपचून का भी एक उपग्रह है। इसका पता भी सन् १८४६ (अक्तूबर) में ही लगा। वह नेपचून की परिक्रमा ५ दिन २१ घंटे ८ मिनट में करता है।

नेपथ्य—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वेश। भूषण। सजावट। (२) वेश-स्थान। नृत्य, अभिनय, नाटक आदि में परदे के भीतर का वह स्थान जिसमें नट नटी नाना प्रकार वेश सजते हैं। नाटक में परदे के पीछे का स्थान जिसमें नट लोग नाटक के पात्रों की नकल बनाते हैं। (३) वह स्थान जहाँ नृत्य अभिनय आदि हो। नाच-रंग की जगह। रंगशाला। रंगभूमि।

नेपाल—संज्ञा पुं० [देश०] हिंदुस्तान के उत्तर में एक रुखा पहाड़ी देश जो हिमालय के तट पर है।

विशेष—नेपाल नाम के संबंध में कई प्रकार के अनुमान हैं। कुछ लोग कहते हैं कि तिब्बत तथा उसके आस पास की अनार्य जातियाँ अपनी भाषा में उस प्रदेश को जहाँ गोरखे बसते हैं 'पाल' कहती हैं। सिकिम भूटान आदि के लोग नेपाल के पूरबी भाग को 'ने' कहते हैं। तिब्बती भाषा में पाल पशम या ऊन को भी कहते हैं। लेपचा, नेवार आदि जातियों की भाषा में 'ने' शब्द का अर्थ पहाड़ की गुफा लिया जाता है। तिब्बत और बरमा के बौद्ध 'ने' शब्द से

पवित्र गुहा वा देवता द्वारा रक्षित स्थान का भाव लेते हैं। कुछ लोगों का कथन है कि नेवार जाति ही से नेपाल नाम पड़ा। पंडित लोग शुद्ध शब्द 'नयपाल' मानकर 'न्याय का पालन करनेवाला' अर्थ करते हैं। रामायण महाभारत आदि में इस देश का नाम नहीं मिलता। पुराणों में स्कंद पुराण के रेवाखंड, नागरखंड, और लव्याद्रिखंड में, तथा गरुड पुराण में इस देश का थोड़ा बहुत उल्लेख मिलता है। बृहत्संहिता में भी नेपाल का नाम आया है। शक्तिसंगमतंत्र, बृहत्नीलतंत्र और वाराहीतंत्र आदि कई तंत्रों में नेपाल का वर्णन मिलता है। शक्तिसंगमतंत्र में जटेश्वर से लेकर योगेश्वर तक के देश को नेपाल कहा है और उसे बहुत सिद्धिदायक बतलाया है। जैनहरिवंश तथा हेमचंद्र की स्थविरावली में भी नेपाल का उल्लेख मिलता है। नेपाली बौद्धों के तंत्रों और पुराणों में नेपाल का माहात्म्य अलौकिक कथाओं के सहित पाया जाता है।

नेपालजा—संज्ञा स्त्री० [सं०] मनःशिला। मैनसिल।

नेपालनिंब—संज्ञा पुं० [सं०] नेपाल की नीम। एक प्रकार का चिरायता।

पर्याप्त—नेपाल। तुषानिंब। ज्वरांतक। नीडीतित्त। अर्ध-तित्त। निद्रारि। सन्निपातहा।

विशेष—वैद्यक में नेपाली नीम कुछ गरम, योगवाही, हलकी, कड़ुई तथा पित्त, कफ, सूजन, रुधिर रोग, प्यास और उ्वर को दूर करनेवाली मानी जाती है।

नेपालमूलक—संज्ञा पुं० [सं०] हस्तिकंद के समान एक कंद।

नेपालिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] मनःशिला। मैनसिल।

नेपाली—वि० [हिं० नेपाल] (१) नेपाल का। नेपाल में रहने या होनेवाला। (२) नेपाल संबंधी।

संज्ञा पुं० नेपाल का रहनेवाला आदमी।

संज्ञा स्त्री० (१) मनःशिला। मैनसिल। (२) नेवारी का पौधा।

नेपुर ‡ संज्ञा पुं० दे० "नूपुर"।

नेफा—संज्ञा पुं० [फा०] पायजामे या लहंगे के घेर में हज़ारबंद या नाड़ा पिरोने का स्थान।

नेत्र—* संज्ञा पुं० [फा० नायब] सहायक। कार्य में सहायता देनेवाला। मंत्रा। दीवान। उ०—(क) कद्दू बिनतहिं दीन्ह दुख तुमहिं कौसिला देव। भरत बंदिगुह सेहहिं लखनु राम के नेव।—तुलसी। (ख) ऋषि नृपसीस ठगौरी सी डारी। ऊलगुरु, सचिव, निपुन नेबनि अवरेव न समुक्ति सुधारी। सिरस सुमन सुकुमार कुँअर दोड़ सूर सरोष सुरारी। पठए बिनहिं सहाय पयादहिं केलि बान धनुधारी।—तुलसी। (ग) आप नैबनंदन के नेव। गोकुल माँझ जोग बिलारयो भली तुम्हारी जेव।—सूर।

नेवुआ-† संज्ञा पुं० दे० “नीबू” ।

नेबू-† संज्ञा पुं० दे० “नीबू” ।

नेम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) काल। समय। (२) अवधि। (३) खंड। टुकड़ा। (४) प्राकार। दीवार। (५) कैतव। छल। (५) अर्द्ध। आधा। (६) गर्त। गड्ढा। (७) अन्य। और। (८) सायंकाल। (९) मूल। जड़।
संज्ञा पुं० [सं० नियम] (१) नियम। कायदा। बंधन। (२) बँधी हुई बात। ऐसी बात जो टलती न हो, बराबर होती हो। (३) रीति। दस्तर। धर्म की दृष्टि से कुछ क्रियाओं का पालन जैसे व्रत उपवास आदि।

यौ०—नेम धरम = पूजा पाठ, व्रत उपवास आदि।

विशेष—दे० “नियम” ।

नेमि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पहिये-का घेरा वा चक्कर। चक्र-परिधि। प्रधि। नेमी। (२) कुएँ के ऊपर चारों ओर बँधा हुआ ऊँचा स्थान या चवूतरा। कुएँ की जगत। (३) भूमि-स्थित कृपपट। कुएँ की जमवट। (४) प्रांतभाग। किनारे का हिस्सा। (५) कुएँ के किनारे लकड़ी का वह ढाँचा जिस पर रस्सी रखते और जिसमें प्रायः घिरनी लगी रहती है।

संज्ञा पुं० (१) नेमिनाथ तीर्थंकर। (२) तिनिश वृक्ष। तिनास। तिनसुना। (३) एक दैत्य। (भागवत)। (४) वज्र।

नेमिचक्र-संज्ञा पुं० [सं०] परीक्षित के वंश के एक राजा जो असीमकृष्ण के पुत्र थे। इन्होंने कौशांबी में अपनी राजधानी बनाई थी। (भागवत)

नेमी-संज्ञा पुं० [सं० नेमिन्] तिनिश वृक्ष।

* संज्ञा स्त्री० दे० “नेमि” ।

वि० [सं० नियम] (१) नियम का पालन करनेवाला। (२) धर्म की दृष्टि से पूजा पाठ, व्रत उपवास आदि नियम पूर्वक करनेवाला।

यौ०—नेमी धरमी।

नेर-† क्रि० वि० दे० “नियर” ।

नेरता-† संज्ञा स्त्री० [सं० नैरत] नैरत^१ दिशा। पश्चिम दक्षिण का कोना।

नेरवाती-संज्ञा स्त्री० [देश०] नीले रंग की एक पहाड़ी भेड़ जो भोटान से लद्दाख तक पाई जाती है। इसके ऊन के कंबल आदि बनते हैं।

नेराना-† क्रि० अ०, क्रि० स० दे० “नियराना” ।

नेरुवा-† संज्ञा पुं० [सं० नल, हि० नाली, नारी] कोलहू के नीचे बनी हुई तेल बहने की नाली।

नेरे-† क्रि० वि० [हि० नियर] निकट। पास। समीप।

नेव-† संज्ञा पुं० दे० “नेव” ।

संज्ञा स्त्री० दे० “नीव” ।

नेवग-† संज्ञा पुं० [हि०] नेग।

नेवगी-संज्ञा पुं० [हि०] नेगी।

नेवछावर-† संज्ञा स्त्री० दे० “निल्लावर” ।

नेवज-संज्ञा पुं० [सं० नैवेद्य] देवता को अर्पित करने की वस्तु। खाने पीने की चीज जो देवता को चढ़ाई जाय। भोग। उ०—
(क) गावत मंगलचार महर घर। नेवज करि करि धरति श्याम डर।—सूर। (ख) बहुत भक्ति सब करे पकवानै। नेवज करि धरि साँझ बिहानै।—सूर। (ग) महारि सबै नेवज लै सैतति। श्याम लुवै कहुँ ताको डरपति।—सूर।

नेवजा-संज्ञा पुं० [फा०] चिलगोजा।

नेवजी-संज्ञा स्त्री० [?] एक फूल का नाम।

नेवता-† संज्ञा पुं० दे० “नेवता”, “न्योता” ।

नेवतना-† क्रि० स० [सं० निमंत्रण] निमंत्रित करना। नेवता भोजना। उ०—सूर गंधर्व जे नेवति बुलाए। ते सब बधू सहित स^२ आए।—सूर।

नेवतहरी-संज्ञा पुं० दे० “न्योतहरी” ।

नेवता-संज्ञा पुं० दे० “न्योता” ।

नेवर-संज्ञा पुं० [सं० नूपुर] पैर का एक गहना। नूपुर। संज्ञा स्त्री० (१) घोड़े के पैर का वह चाव जो दूसरे पैर की ठोकर वा रगड़ से हो जाता है।

क्रि० प्र०—लगना।

(२) घोड़ों के पैर से पैर की रगड़।

क्रि० प्र०—लगना।

† वि० [सं० न + वर = अच्छा] बुरा। खराब।

नेवरा-संज्ञा पुं० [देश०] लाल करड़े की सारी की खोली।

नेवल-संज्ञा पुं० दे० “नेवर” ।

नेवला-संज्ञा पुं० [सं० नकुल, प्रा० नउल] चार पैरों से जमीन पर रेंगनेवाला हाथ सवा हाथ लंबा और ४—५ अंगुल चौड़ा मांसाहारी पिंडज जंतु जो देखने में गिलहरी के आकार का पर उससे बड़ा और भूरे रंग का होता है। पूछ इसकी बहुत लंबी और रोशनी से फूली हुई होती है, मुँह इसका चूहे गिलहरी आदि की तरह आगे की ओर लुकीला होता है। दाँत इसके बहुत पैने होते हैं। टीलों, पुराने घरों, नदी के करारों आदि में बिल खोद कर प्रायः नर मादा साथ रहते हैं। वसंत ऋतु में मादा दे। या तीन बच्चे देती है जो बहुत दिनों तक उसके पीछे पीछे घूमा करते हैं। नेवला भारतवर्ष में ही पाया जाता है यद्यपि इसकी जाति के और दूसरे जंतु अफ्रीका अमेरिका आदि के गरम स्थानों में मिलते हैं।

नेवले प्रायः चूहों तथा और छोटे जंतुओं को खाकर रहते हैं। साँप को मारने में ये बहुत प्रसिद्ध हैं। बड़े से बड़े सर्प को ये अपनी फुरती से खंड खंड कर खाते

हैं। लोग इन्हें पालते भी हैं। पालने पर ये इतने परच जाते हैं कि पीछे पीछे दौड़ते हैं।

नैवा-संज्ञा पुं० [सं० नियम ?] (१) रीति। दस्तूर। रवाज। (२) कहावत। लोकोक्ति।

वि० [सं० न्याय] नाई। समान।

वि० [?] चुप। मौन।

नैवाज-वि० दे० “निवाज”।

नैवाजना-क्रि० सं० दे० “निवाजना”।

नैवाड़ा-संज्ञा पुं० दे० “निवाड़ा”।

नैवार-संज्ञा पुं० [देश०] नेपाल में बसनेवाली वहाँ की एक आदिम जाति।

संज्ञा पुं०, संज्ञा स्त्री० दे० “निवाड़”, “निवार”।

नैवारना*-क्रि० सं० दे० “निवारना”।

नैवारी-संज्ञा स्त्री० [सं० नेपाली] जूही या चमेली की जाति का एक पौधा जिसमें छोटे छोटे सफेद फूल लगते हैं। पत्तियाँ इसकी कंद या जूही की सी होती हैं। यह बरसात में अधिक फूलता है। फूलों में बड़ी अच्छी भीनी महक होती है। इसे वनमल्लिका भी कहते हैं।

नैष्टा-संज्ञा पुं० [सं० नेष्ट] (१) एक ऋत्विक्। (२) खट्टा देवता।

नैस-संज्ञा पुं० [फा० नैश = डंक] जंगली जानवरों के छंवे चुकीले दाँत जिनसे वे काटते हैं।

नैसकुन-संज्ञा पुं० [देश०] बंदरों का जोड़ा खाना। (कलंदर)

नैसुक*+वि० [हिं० नेकु, नेक] तनक। थोड़ा सा।

क्रि० वि० थोड़ा। जरा। टुक। तनक।

नैसुहा-संज्ञा पुं० [सं० निष्ठा] जमीन में गड़ा हुआ लकड़ी का कुंदा जिस पर गन्ना या चारा काटते हैं।

नैस्त-वि० [फा०] जो न हो।

यौ०-नैस्त नाबूद=नष्ट भ्रष्ट। जो जड़मूल से न रह गया हो।

नैस्ती-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) न होना। अनस्तित्व। (२) आलस्य। (३) नाश। बर्बादी।

क्रि० प्र०-फैजाना।

नेह-संज्ञा पुं० [सं० स्नेह] (१) स्नेह। प्रेम। प्रीति। प्यार।

मुहबुत। उ०-तुम चाहो न चाहो हमें चित सो हमें नेह को नातो निबाहनो है। (२) चिकना। तेज या घी।

नेही*-वि० [हिं० नेह + ई (प्रत्य०)] स्नेह करनेवाला। प्रेमी।

नै-संज्ञा स्त्री० दे० “नय”।

संज्ञा स्त्री० [सं० नदी, प्रा० नई] नदी। उ०-कितो न औगुन जग करत नै बय चढती बार।—विहारी।

संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) बाँस की नली। (२) हुक्के की निगाली। (३) बाँसुरी।

नैऋत*-वि० संज्ञा पुं० दे० नैऋत्य।

नैक, नैकु-वि० दे० “नेक”, “नेकु”।

नैकचर-वि० [सं०] जो अकेले न चलते हों, मुँड में चलते हों। जैसे सूअर, भेड़िया, हिरन इत्यादि।

नैकट्य-संज्ञा पुं० [सं०] निकटता। निकट होने का भाव।

नैकशृंग-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु का एक नाम। (विष्णुसहस्र नाम)

विशेष—भगवान् विष्णु के तीन पैर और चार सींग माने गए हैं।

नैकषेय-संज्ञा पुं० [सं०] (निकष के वंशज) राजस।

नैकृतिक-वि० [सं०] (१) दूसरे की हानि करके निष्ठुर जीविका करनेवाला। निष्ठुर। (२) कटुभाषी।

नैगम-वि० [सं०] (१) निगम संबंधी। (२) जिसमें ब्रह्म आदि का प्रतिपादन हो, जैसे, उपनिषद्।

संज्ञा पुं० (१) उपनिषद् भाग। (२) नय। नीति।

नैगमनय-संज्ञा पुं० [सं०] वह नय वा तर्क जो द्रव्य और पृथग्य दोनों को सामान्यविशेषयुक्त मानता हो और कहता हो कि सामान्य के बिना विशेष, और विशेष के बिना सामान्य नहीं रह सकता। (जैन)

नैगमेय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कार्तिकेय के एक अनुचर का नाम। (२) नैगमेष नामक बालग्रह। (सुश्रुत)

नैगमेष-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत में जो नौ बालग्रह कहे गए हैं उनमें नवाँ जिसके द्वारा पीड़ित होने से बच्चों के मुँह से फेन गिरता है, वे रोते हैं, बेचैन रहते हैं; उन्हें ज्वर होता है तथा उनकी दृष्टि ऊपर को टँगी रहती है और देह से चरबी की सी गंध आती है।

नैचा-संज्ञा पुं० [फा०] हुक्के की दोहरी नली जिसमें एक के सिरे पर चिन्नम रक्खी जाती है और दूसरे का छोर मुँह में रखकर धुआँ खींचते हैं।

यौ०-नैचाबंद।

नैचाबंद-संज्ञा पुं० [फा०] नैचा बनानेवाला।

नैचाबंदी-संज्ञा स्त्री० [फा०] नैचा बनाने का काम।

नैचिक-संज्ञा पुं० [सं०] गाय आदि चौपायों का माथा।

नैचिकी-संज्ञा स्त्री० [सं०] अच्छी गाय।

नैची-संज्ञा स्त्री० [हिं० नीचा] पुर मोट वा चरसा खींचते समय बैलों के चलने के लिये बनी हुई ढालू राह। रपट। पैड़ी।

नैचुल-वि० [सं०] निचुल संबंधी। हिज्जल वृक्ष संबंधी।

संज्ञा पुं० निचुल का फल या बीज।

नैटी-संज्ञा स्त्री० [देश०] दुद्धी नाम की घास या जड़ी। दुधिया घास।

नैतिक-वि० [सं०] नीति-संबंधी। नीतियुक्त।

नैत्य-वि० [सं०] (१) नित्य का। (२) नित्य दिया जानेवाला।

संज्ञा पुं० नित्य का कर्म।

नैदाघ-वि० [सं०] निदाघ संबंधी। ग्रीष्म का।

नैदाधिक-वि० [सं०] निदाघ संबंधी। ग्रीष्म का।

नैदाघीय-वि० [सं०] निदाघ संबंधी।

नैदानिक-वि० [सं०] रोगों का निदान जाननेवाला।

नैधन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) निधन। मरण। (२) लग्न से आठवाँ स्थान। (फलित ज्यो०)

नैधानी-संज्ञा स्त्री० [सं०] पाँच प्रकार की सीमाओं में से एक। वह सीमा जिसका चिह्न गड़ा हुआ कोयला या तुष (भूसी) हो। (स्मृति)

नैन*-संज्ञा पुं० दे० “नयन”।

संज्ञा पुं० [सं० नवनीत] मक्खन।

नैनसुख-संज्ञा पुं० [हिं० नैन + सुख] एक प्रकार का चिकना सूती कपड़ा।

नैनू-संज्ञा पुं० [हिं० नैन = आँख] (१) एक प्रकार का सूती कपड़ा जिसमें आँख की सी गोख उभरी हुई बूटियाँ बनी होती हैं। उभरे हुए बेलवूटे का सूती कपड़ा।

[संज्ञा पुं० [सं० नवनीत] मक्खन।

नैपाल-वि० [सं०] (१) नेपाल-संबंधी। (२) नेपाल का। नेपाल में होनेवाला।

• संज्ञा पुं० (१) नेपाल निंब। (२) एक प्रकार की ईख।

संज्ञा पुं० दे० “नेपाल”।

नैपालिक-संज्ञा पुं० [सं०] ताँबा।

नैपाली-वि० [हिं० नैपाल] (१) नैपाल देश का। (२) नैपाल में रहने या होनेवाला। जैसे, नैपाली सिपाही, नैपाली टाँगन।

संज्ञा पुं० नैपाल का रहनेवाला आदमी।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नचमलिका। नेवाली। (२) मनः-शिला। मैनसिल। (३) नील का पौधा। (४) शोफालिका। एक प्रकार की निर्गुंडी।

नैपुण्य-संज्ञा पुं० [सं०] निपुणता। चतुराई। होशियारी। दक्षता। कर्मा।

नैमय-संज्ञा पुं० [सं०] वषिक। व्यवसायी। रोजगारी।

नैमित्तिक-वि० [सं०] जो किसी निमित्त से किया जाय। जो निमित्त उपस्थित होने पर या किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिये हो। जैसे, नैमित्तिक कर्म, नैमित्तिक स्नान, नैमित्तिक दान।

विशेष—यज्ञ आदि कर्म जो किसी निमित्त से किए जाते हैं वे नैमित्तिक कहलाते हैं; जैसे, पुत्र-प्राप्ति के निमित्त पुत्रेष्टि यज्ञ। दे० “कर्म”। ग्रहण आदि उपस्थित होने पर जो स्नान किया जाता है वह नैमित्तिक स्नान कहलाता है। इसी प्रकार दोष या पापशान्ति के लिये जो दान दिया जाता है वह नैमित्तिक दान कहलाता है।

नैमित्तिकलय-संज्ञा पुं० [सं०] गरुड़ पुराण के अनुसार एक प्रलय जिसमें सौ वर्ष तक अनावृष्टि होती है, बारहों सूर्य

उदित होकर तीनों लोकों का शोषण करते हैं, फिर बड़े भीषण मेघ सौ वर्ष तक लगातार बरस कर सृष्टि का नाश करते हैं।

नैमिश-संज्ञा पुं० दे० “नैमिष”।

नैमिष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नैमिषारण्य तीर्थ। (२) जमुना के दक्षिण तट पर बसनेवाली एक जाति जिसका उल्लेख महाभारत और पुराणों में है।

नैमिषारण्य-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन वन जो आजकल हिंदुओं का एक तीर्थस्थान माना जाता है। यह आजकल नीमखार कहलाता है।

विशेष—यह स्थान अवध के सीतापुर जिले में है। पुराणों में इसके संबंध में दो प्रकार की कथाएँ मिलती हैं। बराह-पुराण में लिखा है कि इस स्थान पर गौरमुख नामक मुनि ने निमिष मात्र में असुरों की बड़ी भारी सेना भस्म कर दी थी इसी से इसका नाम नैमिषारण्य पड़ा। देवी-भागवत में लिखा है कि ऋषि लोग जब कलिकाल के भय से बहुत घबराए तब ब्रह्मा ने उन्हें एक मनोमय चक्र देकर कहा कि तुम लोग इस चक्र के पीछे पीछे चलो, जहाँ इसकी नेमि (घेरा, चक्र) विशीर्ण हो जाय उसे अत्यंत पवित्र स्थान समझना। वहाँ रहने से तुम्हें कलि का कोई भय नहीं रहेगा। कहते हैं कि सौति मुनि ने इस स्थान पर ऋषियों को एकत्र करके महाभारत की कथा कही थी। विष्णुपुराण में लिखा है इस क्षेत्र में गोमती में स्नान करने से सब पापों का क्षय हो जाता है।

नैमिषि-संज्ञा पुं० [सं०] नैमिषारण्यवासी।

नैमिषीय-वि० [सं०] निमिष संबंधी।

नैमिषेय-वि० [सं०] (१) नैमिष संबंधी। (२) नैमिषारण्य का।

नैमेय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विनिमय। वस्तुओं का बदला। (२) वाणिज्य।

नैयत्य-संज्ञा पुं० [सं०] नियतत्व। नियम होने का भाव।

नैया*-संज्ञा स्त्री० [हिं० नाव, नाय] नाव। किशती। उ०—

नैया मेरी तनक सी बोझी पाथर भार।—गिरिधर।

नैयाधिक-वि० [सं०] न्यायशास्त्र का जाननेवाला। न्यायवेत्ता।

नैरंजना-संज्ञा स्त्री० [सं०] गया के पास बहनेवाली फल्गु नदी का प्राचीन नाम।

विशेष—फल्गु की पच्छिम की ओर बहनेवाली शाखा को जो मोहानी नदी में जाकर मिल जाती है अब भी लीलांजन कहते हैं।

नैरंतर्य-संज्ञा पुं० [सं०] निरंतरत्व। निरंतर का भाव। अविच्छेद।

नैर*-संज्ञा पुं० [सं० नगर] शहर। देश। जनपद। उ०—मेरे कहे मेर कह, सिवाजी से बँर, करि गैर करि नैर निज नाहक बजारे तैं।—भूषण।

नैरयिक-वि० [सं०] नरक में रहनेवाला ।

नैरर्थ्य-संज्ञा पुं० [सं०] निरर्थकता ।

नैराश्य-संज्ञा पुं० [सं०] निराशा का भाव । नाउम्मेदी ।

नैरास्य-संज्ञा पुं० [सं०] वाण्य छोड़ने का एक मंत्र ।

नैरुक्त-वि० [सं०] निरुक्त संबंधी ।

संज्ञा पुं० (१) निरुक्त संबंधी ग्रंथ । (२) निरुक्त का जानने या अध्ययन करनेवाला ।

नैरुक्तिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) निरुक्तवेत्ता ।

नैर्ऋत-वि० [सं०] निरुक्ति संबंधी ।

संज्ञा पुं० (१) निरुक्ति का पुत्र । राक्षस । (२) पश्चिम-दक्षिण कोण का स्वामी ।

विशेष—ज्योतिष के मत से इस दिशा का स्वामी राहु है ।

(३) मूल नक्षत्र ।

नैर्ऋती-संज्ञा स्त्री० [सं०] दक्षिण-पश्चिम के मध्य की दिशा । दक्खिन और पश्चिम के बीच का कोन ।

नैर्ऋतैय-संज्ञा पुं० [सं०] निरुक्ति का वंशज ।

नैर्ऋत्य-वि० [सं०] निरुक्ति देवता का (पशु आदि) ।

नैर्गुण्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) निर्गुणता । अच्छी सिफत का न होना । (२) कला-कौशल आदि का अभाव । (३) सत्व, रज, तम इन तीनों गुणों का न होना । त्रिगुणशून्यता । (नैर्गुण्य होने से ब्रह्म की प्राप्ति कही गई है) ।

नैर्मल्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) निर्मलता । (२) विषयों से वैराग्य ।

नैर्लज्ज-संज्ञा पुं० [सं०] निर्लज्जता ।

नैर्वाहिक-वि० [सं०] निर्वाहयोग्य । जो निर्वाह के लिये हो ।

नैवासी-संज्ञा पुं० [सं०] (१) निवास-साधु । (२) वृक्ष पर रहनेवाला देवता ।

नैविड्य-संज्ञा पुं० [सं०] निविड्यता । घनत्व ।

नैवेद्य-संज्ञा पुं० [सं०] देवता के निवेदन के लिये भोज्य द्रव्य । वह भोजन की सामग्री जो देवता को चढ़ाई जाय । देव-बलि । भोग ।

विशेष—धी चीनी, श्वेताक्ष, दधि, फल इत्यादि नैवेद्य द्रव्य कहे गए हैं । नैवेद्य देवता के दक्षिण भाग में रखना चाहिए आगे या पीछे नहीं । कुछ ग्रंथों का मत है कि पक्व नैवेद्य देवता के बाएँ और कच्चा दहिने रखना चाहिए । देवता को भोग लगा हुआ प्रसाद खाने का बड़ा फल लिखा है । पर शिव को चढ़ा हुआ निर्माल्य खाने का निषेध है । चढ़ाए जाने के उपरांत नैवेद्य द्रव्य निर्माल्य कहलाता है ।

नैशिक-वि० [सं०] निशा-संबंधी । रात का ।

नैषदिक-वि० [सं०] (१) उपवेशनकारी । बैठनेवाला । (२) निषध-देश संबंधी । निषध का ।

नैषध-वि० [सं०] (१) निषध-देश संबंधी । निषध देश का ।

(२) नल जो निषध-देश के राजा थे । (३) श्रीहर्ष-रचित एक संस्कृत काव्य जिसमें राजा नल की कथा का वर्णन है ।

नैषध्य-संज्ञा पुं० [सं०] राजा नल का पुत्र या वंशज ।

नैषिकान्य-संज्ञा पुं० [सं०] निष्किंचनता । दरिद्रता ।

नैषिक-वि० [सं०] (१) निष्क-संबंधी । (२) निष्क द्वारा मोल लिया हुआ ।

संज्ञा पुं० टकशाला का अध्यक्ष । टकसाल घर का अफसर ।

नैष्कृतिक-वि० [सं०] परवृत्ति-छेदन में तत्पर । दूसरे की हानि करके अपना प्रयोजन निकालनेवाला । स्वार्थी ।

नैष्ठिक-वि० [सं०] [स्त्री० नैष्ठिकी] (१) निष्ठावान् । निष्ठा-युक्त । (२) मरण-काल में कर्त्तव्य (कर्म) ।

संज्ञा पुं० ब्रह्मचारियों का एक भेद । वह ब्रह्मचारी जो उपनयन-काल से लेकर मरण-काल तक ब्रह्मचर्य-पूर्वक गुरु के आश्रम पर ही रहे ।

विशेष—याज्ञवल्क्य-स्मृति में लिखा है कि नैष्ठिक ब्रह्मचारी को यावज्जीवन गुरु के पास रहना चाहिए । गुरु यदि न हों तो उनके पुत्र के पास, और आचार्य-पुत्र भी न हो तो आचार्यपत्नी की सेवा में, आचार्यपत्नी के अभाव में अग्निहोत्र की अग्नि के पास उसे जीवन बिताना चाहिए । इस प्रकार का जितेंद्रिय ब्रह्मचारी अंत में मुक्ति पाता है ।

नैष्ठर्य-संज्ञा पुं० [सं०] निष्ठुराई । क्रूरता ।

नैसर्गिक-वि० [सं०] स्वाभाविक । प्राकृतिक । स्वभावसिद्ध । कुदरती ।

नैसर्गिकी-वि० स्त्री० [सं०] प्राकृतिक ।

नैसर्गिकी दशा-संज्ञा स्त्री० [सं०] ज्योतिष में एक दशा ।

नैसा*—वि० [सं० अनिष्ट] अनैसा । बुरा । खराब । ड०—(क) सुदास प्रभु के गुण ऐसे । भक्तन भल, दुष्टन को नैसे ।—सूर । (ख) कहु राधा हरि कैसे हैं । तेरे मन भाये की नाहीं, की सुंदर की नैसे हैं ?—सूर ।

नैहर-संज्ञा पुं० [सं० ज्ञाति, प्रा० ज्ञाति, णइ = पिता + हि० घर] स्त्री के पिता का घर । माँ-बाप का घर । मायका । पीहर ।

नोआर्—संज्ञा पुं० [हि० नोवना] [स्त्री० अल्प० नोई] दूध दुहते समय गाय के पैर बाँधने की रस्सी । बंधी ।

नोइनी—संज्ञा स्त्री० दे० “नोई” ।

नोई—संज्ञा स्त्री० [हि० नोवना] दूध दुहते समय गाय के पैर बाँधने की रस्सी । बंधी ।

नोक-संज्ञा स्त्री० [फा०] [वि० नुकीला] (१) इस ओर का सिरा जिस ओर कोई वस्तु बराबर पतली पड़ती गई हो । सूक्ष्म अग्रभाग । शंकु के आकार की वस्तु का महीन वा पतला छोर । अनी । जैसे, सूई की नोक, काँटे की नोक, भाले की नोक, खँटे की नोक, जूते की नोक ।

यौ०—नोक भोंक ।

मुहा०—नोक की लेना = बढ़ बढ़ कर बातें करना। डोंग हाँकना। तपाक की बातें कहना। गर्व दिखाना। नोक दुम भागना = जी छोड़कर भागना। बेतहाशा भागना। नोक रह जाना = (१) आन की बात रह जाना। टेक या प्रतिज्ञा का निर्वाह हो जाना। बात रह जाना। मर्यादा रह जाना। प्रतिष्ठा बनी रह जाना। नोक बनाना = बनाव सिंगार करना। रूप सँवारना। (२) किसी वस्तु के निकले हुए भाग का पतला सिरा। किसी ओर को बढ़ा हुआ पतला अग्रभाग। जैसे, जमीन की एक नोक पानी के भीतर तक गई है। (३) कोण बनानेवाली दो रेखाओं का संगमस्थान या बिंदु। निकला हुआ कोना। जैसे, दीवार की नोक।

नोक झोंक—संज्ञा स्त्री० [फा० नोक + हिं० झोंक] (१) बनाव सिंगार। ठाटबाट। सजावट। जैसे, कल तो वे बड़ी नोक झोंक से थिप्टर देखने निकले थे। (२) तपाक। तेज। आतंक। दर्प। जैसे, कल तो वे बड़ी नोक झोंक से बातें करते थे। उ०—शरद घटान की छटान सी सुगंधधार धारये है जटान काम कीन्हों नोक झोंक के।—रघुराज। (३) चुभनेवाली बात। व्यंग्य। ताना। आवाजा। जैसे, उनकी नोक झोंक अब नहीं सुनी जाती। (४) छेड़छाड़। परस्पर की चोट। जैसे, आजकल उन दोनों में खूब नोक झोंक चल रही है।

क्रि० प्र०—चलना।

नोकना—कि० स० [?] ललचना ? उ०—चित्तै रही राधा हरि के मुख। उत ही श्याम एकटक प्यारी छवि अँग अँग अवलोकत। रीकित रहे उत हरि इत राधा अरस परस दोउ नोकत। सखिन कह्यो वृषभानु-सुता सों देखे कुँवर कन्हाई। सूर श्याम एई हैं ब्रज में जिनकी होति बड़ाई।—सूर।

नोकदार—वि० [फा०] (१) जिस में नोक हो। (२) चुभनेवाला। पैना। (३) चित्त में चुभनेवाला। दिल में असर करनेवाला। (३) शानदार। तड़क भड़क का। ठसक का।

नोकपलक—संज्ञा स्त्री० [हिं० नोक + पलक] आँख नाक आदि की गढ़न। चेहरे की बनावट।

मुहा०—नोकपलक से ठीक = चारों ओर से सुडौल। नख से सिल तक सुंदर।

नोकपान—संज्ञा पुं० [फा० नोक + हिं० पान] जूते की नोक और एड़ी पर लगा हुआ कीमुल्ली चमड़ा जो पान के आकार का होता है। जूते की काट छुट, सुंदरता और मजबूती। (जूतेवाले)। जैसे, जरा इस जूते का नोकपान देखिए।

नोका झोंकी—संज्ञा स्त्री० [हिं० नोकझोंक] (१) छेड़छाड़। परस्पर व्यंग्य आदि द्वारा आक्रमण। ताना। आवाजा। (२) परस्पर की चोट। विवाद। झगड़ा।

क्रि० प्र०—चलना।

नोकीला—वि० दे० “नुकीला”।

नोखा—वि० [हिं० अनोखा] [स्त्री० अनोखी] अद्भुत। विचित्र। विलक्षण। अनूठा। अपूर्व।

नोच—संज्ञा स्त्री० [हिं० नोचना] (१) नोचने की क्रिया या भाव। (२) छीनने या लेने की क्रिया। कई ओर से कई आदमियों का झपाटे के साथ छीनना या लेना। लूट।

यौ०—नोच खसोट। नोच खसोटी। नोचानाची।

(३) कई ओर से कई आदमियों का माँगना। चारों ओर की माँग। बहुत से लोगों का तकाजा। जैसे, चारों ओर से नोच है किसका किसका रुपया दें।

क्रि० प्र०—मचना।—होना।

नोच खसोट—संज्ञा स्त्री० [हिं० नोचना खसोटना] झपाटे के साथ लेना या छीनना। जबरदस्ती खींच खींच कर के लेना। छीनाझपटी। लूट।

क्रि० प्र०—करना।—मचाना।—होना।

नोचना—कि० स० [सं० लुंचन] (१) किसी जमी या लगी हुई वस्तु को झटके से खींचकर अलग करना। उखाड़ना। जैसे, बाल नोचना, ढाढ़ी नोचना, पत्ती नोचना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।—लेना।

(२) किसी वस्तु में दाँत नख या पंजा धँसाकर उसका कुछ अंश खींच लेना। नख आदि से विदीर्ण करना। जैसे, चीता शिकारी का मांस नोचता हुआ निकल गया।

संयो० क्रि०—लेना।

यौ०—नोचना खसोटना = खींच खींचकर लेना। झपाटे से छीनना। लूटना।

(३) शरीर पर इस प्रकार हाथ या पंजा लगाना कि नाखून धँस जायँ। खरोंचना। खरोंच डालना।

संयो० क्रि०—लेना।

(४) बार बार तंग करके लेना। दुखी और हैरान करके लेना। पीछे पड़कर किसी की इच्छा के विरुद्ध उससे लेना। जैसे, तीर्थों में पंडे और कचहरियों में अमले नोच डालते हैं।

संयो० क्रि०—डालना।

(५) बार बार तंग करके माँगना। ऐसा तकाजा करना कि नाक में दम हो जाय। जैसे, उसे चारों ओर से महाजन नोच रहे हैं किसका किसका देगा ?

नोचानाची—संज्ञा स्त्री० दे० “नोच खसोट”।

नोचू—संज्ञा पुं० [हिं० नोचना] (१) नोचनेवाला। (२) छीना-झपटी करके लेनेवाला। नोचने खसोटनेवाला। (३) तंग करके लेनेवाला। धेरकर या पीछे पड़कर जहाँ तक मिल सके लेनेवाला। (४) बार बार माँगकर तंग करनेवाला। तकाजों के मारे नाकों दम करनेवाला।

नोट-संज्ञा पुं० [अ०] (१) टाँकने या लिखने का काम। ध्यान रहने के लिये लिख लेने का काम।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(२) लिखा हुआ परचा। पत्र। चिट्ठी।

यौ०—नोट-पेपर।

(३) टिप्पणी। आशय या अर्थ प्रकट करनेवाला लेख।

(४) सरकार की ओर से जारी किया हुआ वह कागज जिस पर कुछ रुपयों की संख्या रहती है और यह लिखा रहता है कि सरकार से उतना रुपया मिल जायगा। सरकारी हुंडी। विशेष—हिंदुस्तान में नोट दो प्रकार का होता है एक करेंसी, दूसरा प्रामिसरी। करेंसी नोट बराबर सिक्कों के स्थान पर चलता है और उसका रुपया जब चाहें तब मिल सकता है। प्रामिसरी नोट पर केवल सूद मिलता रहता है। सरकार माँगने पर उसका रुपया देने के लिये बाध्य नहीं है। प्रामिसरी नोट का भाव घटता बढ़ता है।

नोट-पेपर-संज्ञा पुं० [अ०] चिट्ठी लिखने का कागज।

नोट-बुक-संज्ञा स्त्री० [अ०] वह कापी या बही जिस पर कोई बात याद रखने के लिये लिखी जाय।

नोटिस-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) विज्ञप्ति। सूचना। (२) विज्ञापन। इशतिहार।

विशेष—इस शब्द को कुछ लोग पुंलिंग भी बोलते हैं।

नोदन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रेरणा। चलाने या हाँकने का काम।

(२) बैलों को हाँकने की छड़ी या कोड़ा। प्रतोद। पैना। औगी। उ०—मीनरथ सारथी के नोदन नवीने हैं।—केशव। (३) खंडन।

नोन-† संज्ञा पुं० [सं० लवण, हिं० लोन] नमक।

नोनचा-संज्ञा पुं० [हिं० नोन + फा० अचार] (१) नमकीन अचार।

(२) नमक में डाली हुई आम की फाकों की खटाई।

संज्ञा पुं० [हिं० नोन + छार] वह भूमि जहाँ लोनी बहुत हो। लोनी जमीन।

नोनछी-संज्ञा स्त्री० [हिं० नोन + छार] लोनी मिट्टी।

नोनहरा-संज्ञा पुं० [?] पैसा। (गंधर्वों की बोली)

नोना-संज्ञा पुं० [सं० लवण, हिं० नोन] [स्त्री० नोनी] (१) नमक का अंश जो पुरानी दीवारों तथा सीड़ की जमीन में लगा मिलता है। (२) लोनी मिट्टी। † (३) शरीफा। सीताफल। आत। (४) एक कीड़ा जो नाव या जहाज के पेंदे में लग कर उसे कमजोर कर देता है। उधई कीड़ा।

† वि० [स्त्री० नोनी] (१) नमक मिला। खारा। जैसे, नोना पानी, नोनी मिट्टी। (२) लावण्यमय। सलोना। सुंदर। (३) अच्छा। बढ़िया।

क्रि० सं० दे० “नोवना”।

नोना चमारी-संज्ञा स्त्री० एक प्रसिद्ध जादूगरनी जिसकी दोहाई

अब तक मंत्रों में दी जाती है। ऐसा माना जाता है कि यह कामरूप देश की थी।

नोनिया-संज्ञा पुं० [हिं० नोन] लोनी मिट्टी से नमक निकालने वाली एक जाति।

† संज्ञा स्त्री० [हिं० नोन] एक भाजी। लोनिया। अमलोनी।

नोनी-† संज्ञा स्त्री० [सं० लवण] (१) लोनी मिट्टी। (२) लोनिया। अमलोनी का पौधा।

वि० स्त्री० [हिं० नोन] (१) सुंदर। रूपवती। (२) अच्छी। बढ़िया।

नोनो-† * वि० [हिं० लोन, लोना] [स्त्री० नोनी] (१) सलोना। सुंदर। (२) अच्छा। भला। बढ़िया।

नोर-† वि० [सं० नवल] नवीन। नया। उ०—सित सरोज फूले इतै इत हंदीवर नोर। शशिमंडल वहि ओर जनु विष-मंडल यहि ओर।—गुमान।

नोल-† वि० दे० “नवल”।

संज्ञा स्त्री० [देश०] चिट्ठिया की वेंच।

नोवना-† क्रि० सं० [सं० नव, हिं० नटना, नहना] दुहते समय रस्ती से गाय का पैर बाँधना। उ०—बछरा छोरि खोरि को दीने आप कान्ह तन सुध बिसराई। नोवत वृषभ निकसि गैया गई हँसत सखा कहा दुहत कन्हाई।—सूर।

नोहर-† वि० [सं० नोपलभ्य, प्रा० नोळह, या मनोहर] (१) अलभ्य। दुर्लभ। जल्दी न मिलनेवाला। (२) अनोखा। अद्भुत। उ०—अति सुकुमार सरीर मनोहर नोहर नैन बिसाला।—रघुराज।

नौधरई, नौधरई, नौधरी-† संज्ञा स्त्री० दे० “नामधरई”।

नौ-वि० [सं० नव] जो गिनती में आठ और एक हो। एक कम दस।

मुहा०—नौ दो ग्यारह होना = देखते देखते भाग जाना। चलता होना। चल देना। भाग जाना। नौ तेरह बाइस बताना = हीला हुवाली करना। टाल मटोल करना। इधर उधर की बातें करके टाल देना। जैसे, जब मैं रुपया माँगने जाता हूँ तब वे नौ तेरह बाइस बताते हैं।

नौकड़ा-संज्ञा पुं० [हिं० नौ + कौड़ी] एक प्रकार का जूआ जो तीन आदमी तीन तीन कौड़ियाँ लेकर खेलते हैं।

नौकर-संज्ञा पुं० [फा०] [स्त्री० नौकरानी] (१) सेवा करने के लिये वेतन आदि पर नियुक्त मनुष्य। टहल या काम-धंधा करने के लिये तनखाह पर रखा हुआ आदमी। भृत्य। चाकर। टहलुवा। खिदमतगार।

क्रि० प्र०—रखना।—लगाना।

यौ०—नौकर-चाकर।

(२) कोई काम करने के लिये वेतन आदि पर नियुक्त किया

हुआ मनुष्य। वैतनिक कर्मचारी। जैसे तहसीलदार एक सरकारी नौकर है।

मुहा०—(किसी को) नौकर रखना = कार्य पर वेतन देकर नियुक्त करना। काम पर लगाना।

नौकरानी-संज्ञा स्त्री० [फा० नौकर + आनी (प्रत्य०)] दासी। घर का काम-धंधा करनेवाली स्त्री।

नौकरी-संज्ञा स्त्री० [फा० नौकर + ई (प्रत्य०)] (१) नौकर का काम। सेवा। टहल। खिदमत।

क्रि० प्र०—करना।

मुहा०—नौकरी देना या बजाना = नौकरी के काम में लगाना। सेवा में तत्पर होना। नौकरी से लगना = नौकर होना। काम पाना। नौकरी पाना।

(२) कोई काम जिसके लिये तनखाह मिलती हो। जैसे, सरकारी नौकरी।

नौकरीपेशा-संज्ञा पुं० [फा०] वह जिसका काम नौकरी करना हो। वह जिसकी जीविका नौकरी से चलती हो।

नौकर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] कार्तिकेय की अनुचरी एक मातृका।

नौका-संज्ञा स्त्री० [सं०] नाव। जहाज।

नौग्रही-संज्ञा स्त्री० [सं० नवग्रह] हाथ में पहनने का एक गहना जिसमें नौ कंगूरेदार दाने पाट में गुंथे रहते हैं।

नौची-संज्ञा स्त्री० [फा० नौशी = नववधू] वेश्या की पाली हुई लड़की जिसे वह अपना व्यवसाय सिखाती हो।

नौछावर-संज्ञा स्त्री० दे० “निछावर”।

नौज-अव्य० [सं० नवज, प्रा० नवज्ज] (१) ऐसा न हो। ईश्वर न करे। (अनिच्छा-सूचक)। उ०—नगर कोट घर धाहर सूना। नौज होय घर पुरुष बिहूना।—जायसी। (२) न हो। न सही। (बेपरवाही) (स्त्रि०)

नौजवान-वि० [फा०] नवयुवक। उठती जवानी का।

नौजवानी-संज्ञा स्त्री० [फा०] उठती युवावस्था।

नौजा-संज्ञा पुं० [फा० लौज] (१) बादाम। (२) चिड़गोज़ा। उ०—नौजा नरियर नेतरवाला। नीम निसोत निर्विंसी आला।—सूदन।

नौजी-संज्ञा स्त्री० [?] लीची।

नौतन-वि० दे० “नूतन”।

नौतम-वि० [सं० नवतम] (१) अत्यंत नवीन। बिल्कुल नया। (२) ताजा।

संज्ञा पुं० [सं० नव्रता] नव्रता। विनय।

नौता-संज्ञा पुं० दे० “न्यौता”।

नौतेरही-संज्ञा स्त्री० [हिं० नौ + तेरह] (१) ककई हूँट। छोटी हूँट। नौ जों चौड़ी और तेरह जों लंबी हूँट जो पुरानी चाल के मकानों में लगती थी। (२) एक प्रकार का जूआ जो पालों से खेला जाता है।

नौतोड़-वि० [हिं० नव + तोड़ना] नया तोड़ा हुआ। जो पहले पहल जोता गया हो। जैसे, नौतोड़ खेत या जमीन। संज्ञा स्त्री० वह भूमि जो पहली बार जोती गई हो।

नौदसी-संज्ञा स्त्री० [हिं० नौ + दस] एक रीति जिसके अनुसार किसान अपने जमींदार से रुपया उधार लेते हैं और साल भर में १० रु० के १० देते हैं।

नौध-संज्ञा पुं० [सं० नय = नया + पौधा] नया पौधा। अंखुवा।

नौधा-संज्ञा पुं० [सं० नव + हिं० पौधा] (१) नील की वह फसल जो वर्षारंभ ही में बोई गई हो। (२) नए फलदार पौधों का बगीचा। नया लगा हुआ बगीचा।

* वि० दे० “नवधा”।

नौनगा-संज्ञा पुं० [हिं० नौ + नग] बाहु पर पहनने का एक गहना जिसमें नौ नग जड़े होते हैं। इसमें नौ दाने होते हैं और प्रत्येक दाने में भिन्न भिन्न रंग के नग जड़े जाते हैं। इसे “नौरत्न” भी कहते हैं।

नौना-क्रि० अ० [सं० नमक] (१) नवना। झुकना। (२) झुक कर टेढ़ा होना।

नौसार-संज्ञा स्त्री० [हिं० नोन + सार। सं० लवणशाला] वह स्थान जहाँ नोनिया लोग लोनी मिट्टी से नमक बनाते हैं।

नौबट-वि० [सं० नव + हिं० बढ़ना] हाल में बढ़ा हुआ। उच्च। जिसे छुट्र वा हीन दशा से अच्छी दशा में आए थोड़े ही दिन हुए हों। उ०—लखौ लखन कौतुक धरि धीरा। काह करत बड़ि नौबट बीरा।—रघुराज।

नौबढ़िया, † नौबदुवा-वि० दे० “नौबट”।

नौबत-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) बारी। पारी। जैसे, नौबत का बुखार। (२) गति। दशा। हालत। जैसे, घर चखो देखो तुम्हारी क्या नौबत होनी है।

क्रि० प्र०—करना।—हे

मुहा०—नौबत को पहुँच = दशा को प्राप्त होना। हालत में होना।

(३) स्थिति में कोई परिवर्तन करनेवाली बातों का घटना। उपस्थित दशा। संयोग। जैसे, ऐसा काम न करो जिससे भागने की नौबत आवे।

क्रि० प्र०—आना।—पहुँचना।

(४) वैभव, उत्सव या मंगलसूचक वाद्य जो पहर पहर भर देवमंदिरों, राजप्रासादों या बड़े आदमियों के द्वार पर बजता है। समय समय पर बजनेवाला बाजा।

विशेष—नौबत में प्रायः शहनाई और नगाड़े बजाते हैं।

क्रि० प्र०—बजना।—बजाना।

यौ०—नौबतखाना।

मुहा०—नौबत रुड़ना = नौबत बजना। नौबत बजना = (१) आनंद, उत्सव होना। (२) प्रताप या ऐश्वर्य की घोषणा होना।

नौबत बजाना = (१) आनंद उत्सव करना। खुशी मनाना। (२) प्रताप या ऐश्वर्य की घोषणा करना। दबदबा दिखाना। आतंक प्रकट करना। नौबत बजाकर = डंके की चोट। खुले आम। नौबत की टकोर = (१) डंके की चोट। (२) डंके या नगाड़े की आवाज।

नौबतखाना-संज्ञा पुं० [फा०] फाटक के ऊपर बना हुआ वह स्थान जहाँ बैठकर नौबत बजाई जाती है। नक्कारखाना।

नौबती-संज्ञा पुं० [फा० नौबत + ई० (प्रत्य०)] (१) नौबत बजाने-वाला। नक्कारची। (२) फाटक पर पहरा देनेवाला। पहरेदार। (३) कोतल घोड़ा। बिना सवार का सजा हुआ घोड़ा। (४) बड़ा खेमा या तंबू।

नौबतीदार-संज्ञा पुं० [फा० नौबतदार] (१) खेमे पर पहरा देने-वाला। संतरी। (२) दरबान। द्वारपाल।

नाबरार-संज्ञा पुं० [फा०] वह भूमि जो किसी नदी के हट जाने से निकल आती है।

नौमासा-संज्ञा पुं० [सं० नवमास] (१) गर्भ का नवमास। (२) वह रीति रस्म जो गर्भ नौ महीने का हो जाने पर की जाती है और जिसमें पंजीरी मिठाई आदि बाँटी जाती है।

नौमि-क्रि० सं० [सं० नमामि का अपभ्रंश] एक वाक्य जिसका अर्थ है मैं नमस्कार करता हूँ। उ०—नौमि निरंतर श्री रघुवीरं।—तुलसी।

नौमी-संज्ञा स्त्री० [सं० नवमी] पक्ष की नवीं तिथि।

नौरंग-संज्ञा पुं० [सं० नव + रंग] एक प्रकार की चिड़िया।

नौरंग संज्ञा पुं० औरंग (औरंगज़ेब) का रूपांतर।

नौरंगी-संज्ञा स्त्री० दे० “नारंगी”।

नौरतन-संज्ञा पुं० दे० “नवरत्न”।

संज्ञा पुं० [सं० नवरत्न] नौनगा नाम का गहना।

संज्ञा स्त्री० एक प्रकार की चटनी जिसमें ये नौ चीज़ें पड़ती हैं—खटाई, गुड़, मिर्च, शीतलचीनी, केसर, इलायची, जावित्री, सौंफ और जीरा।

नौरस-वि० [सं० नव = नया + रस] (१) (फल) जिसका रस नया अर्थात् ताजा हो। नया पका हुआ (फल)। ताजा (फल)। (२) नवयुवक।

नौरातर-संज्ञा पुं० दे० “नवरात्र”।

नौरूप-संज्ञा पुं० [हिं० नव + रोपना] नील की फसल की पहली कटाई। दे० “नील”।

नारोज-संज्ञा पुं० [फा०] (१) पारसियों में नए वर्ष का पहला दिन। इस दिन बहुत आनंद उत्सव मनाया जाता था। (२) त्योहार का दिन। (३) खुशी का दिन। कोई शुभ दिन।

नौल-वि० दे० “नवल”।

संज्ञा पुं० [देश०] जहाज़ पर माल लादने का भाड़ा।

नौलखा-वि० दे० “नौलखा”।

न लखा-वि० [हिं० नौ + लाख] नौ लाख का। जिसका मूल्य नौ लाख हो। जहाज़ और बहुमूल्य। जैसे, नौलखा हार।

नौलखी-संज्ञा स्त्री० [?] ताने को ढ़ाने के लिये एक लकड़ी जिसमें इधर उधर वजनी पत्थर बंधे रहते हैं। (जुलाहे)

नौला-संज्ञा पुं० दे० “नेवला”।

नौलासी-वि० [?] नर्म। मुलायम। कोमल।

नौलाब-संज्ञा पुं० दे० “नवाब”।

नौलाबी-संज्ञा स्त्री० दे० “नवाबी”।

नौशा-संज्ञा पुं० [फा०] [स्त्री० नौशी] दूल्हा। वर।

नौशी-संज्ञा स्त्री० [फा०] नवबधू। दुल्हन।

नौशेरवा-संज्ञा पुं० [फा०] फारस का एक परम प्रसिद्ध न्यायी और प्रतापी बादशाह जो सन् २३१ ई० में अपने पिता कुबाद के मरने पर सिंहासन पर बैठा। रोमन लोगों को इसने युद्ध में कई बार परास्त किया। मुसलमान लेखकों ने तो लिखा है कि इसने रोम के बादशाह को कैद किया था। रोम का सम्राट उस समय जस्टिनियन था। नौशेरवा की अटियोकस पर विजय, शामदेश तथा भूमध्यसागर के अनेक स्थानों पर अधिकार तथा साइबेरिया यूकसाइन आदि प्रदेशों पर आक्रमण रोम के इतिहास में भी प्रसिद्ध है। रोम का बादशाह जस्टिनियन पारस्य साम्राज्य के अधीन होकर प्रतिवर्ष तीस हजार अशरफिया कर देता था। ८० वर्ष की वृद्धावस्था में नौशेरवा ने रोम राज्य के विरुद्ध चढ़ाई की थी और दारा तथा शाम आदि देशों को अधिकृत किया था। ४८ वर्ष राज्य करके यह परम प्रतापी और न्यायी बादशाह परलोक सिंधारा।

फारसी किताबों में नौशेरवा के न्याय की बहुत सी कथाएँ हैं। ध्यान रखना चाहिए कि इसी बादशाह के समय में मुसलमानों के पैगंबर मुहम्मद साहब का जन्म हुआ जिनके मत के प्रभाव से आगे चलकर पारस की प्राचीन आर्य सभ्यता का लोप हुआ।

नौसत-संज्ञा [हिं० नौ + सात] सोलहो शृंगार। सिंगार।

उ०—(क) नवसत साजि चली सब बारी।—जायसी।

(ख) नौसत साजे चली गोपिका गिरवर पूजा हेत।—सूर।

नौसरा-संज्ञा पुं० [हिं० नौ + सर] नौ लड़ी की मात्रा। नौलरा हार वा गजरा।

नौसादर-संज्ञा पुं० [सं० नर + सादर। फा० नौसादर] एक तीक्ष्ण भालदार चार या नमक जो दो वायव्य द्रव्यों के योग से बनता है।

विशेष—यह चार वायव्य रूप में हवा में अल्प मात्रा में मिला

रहता है और जंतुओं के शरीर के सड़ने गड़ने से इकट्ठा होता है। सींग, खुर, हड्डी बाज आदि का भस्म में अर्क खींचकर यह अकसर निकाला जाता है। गैस के कारखानों में पत्थर के कोयले को भस्म के पर चढ़ाने से जो एक प्रकार का पानी सा पदार्थ छूटता है आजकल बहुत सा नौसादर उसी से निकाला जाता है। पहले लोग ईंट के पजावों से भी जिनमें मिट्टी के साथ कुछ जंतुओं के अंग भी मिलकर जलते थे, यह चार निकालते थे। नौसादर औषध तथा कच्चा कौशल के व्यवहार में आता है।

वैद्यक में नौसादर दो प्रकार का कहा गया है। एक कृत्रिम जो और चारों से बनाया जाता है, दूसरा अकृत्रिम जो जंतुओं के मूत्र पुरीष आदि के चार से निकाला जाता है। आयुर्वेद के अनुसार नौसादर शोथनाशक, शीतल तथा यकृत, प्लीहा, ज्वर, अर्बुद, सिरदुर्द, खाँसी इत्यादि में उपकारी है।

पर्यायः—नरसार। सादर। वज्रचार। विदारण। अमृतचार। चूल्जिका लवण। चारश्रेष्ठ।

नौसिख-वि० दे० “नौसिखिया”।

नौसिखिया-वि० [सं० नवशिक्षित, प्रा० नवसिखित] जिसने नया नया सीखा हो। जिसने कोई काम हाल में सीखा हो। जो सीखकर पक्का न हुआ हो। जो दूध या कुशल न हुआ हो।

नौसिखुवा-वि० दे० “नौसिखिया”।

नौहँड़-संज्ञा पुं० [सं० नव = नया + भाँड़, हिं० हाँड़ी] मिट्टी की नई हाँड़ी। कोरी हँड़िया।

नौहँड़ा-संज्ञा पुं० [सं० नव + भाँड़] पितृपक्ष। कनागत (जिसमें मिट्टी के पुराने बरतन फेंक दिए जाते हैं और नए रखे जाते हैं)।

न्यक-संज्ञा पुं० [सं०] रथ का एक अंग।

न्यकु-वि० [सं०] नितांत गमनशील। बहुत दौड़नेवाला।

संज्ञा पुं० मृगभेद। एक प्रकार का हिरन। बारहसिंगा।

न्यकुभूरुह-संज्ञा पुं० [सं०] शयानाक वृक्ष। सोनापाठा।

न्यकुसारिणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वैदिक छंद जिसके पहले और दूसरे चरण में १२, १२ अक्षर और तीसरे और चौथे चरण में ८, ८ अक्षर होते हैं।

न्यंचित-वि० [सं०] अधःचित। नीचे फेंका या डाला हुआ।

न्यंजलिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] नीचे की ओर की हुई अंजली या हथेली।

न्यग्रोध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वट वृक्ष। वरगद। (२) शमीवृक्ष।

(३) बाहु। (४) लंबाई की एक नाप। इतनी लंबाई जितनी दोनों हाथों के फैलाने से होती है। व्याम परिमाण। पुरसा।

(५) विष्णु। (६) मोहनौषधि। (७) महादेव। (८)

ब्रह्मसेन के एक पुत्र का नाम (हरिवंश)। (९) मूसाकानी। मूषिकपर्णी।

न्यग्रोधपरिमंडल-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसकी लंबाई चौड़ाई

एक व्याम या पुरसा हो। ऐसे पुरुष त्रेता में राज्य करते थे। (मत्स्यपुराण)

न्यग्रोधपरिमंडला-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्त्रियों का एक भेद। वह स्त्री जिसके स्तन कठोर, नितंब विशाल और कटि क्षीण हो।

न्यग्रोधा-संज्ञा स्त्री [सं०] न्यग्रोधी।

न्यग्रोधादिगण-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में वृक्षों का एक गण या वर्ग जिसके अंतर्गत ये वृक्ष माने जाते हैं—वरगद, पोपल, गुलर, पाकर, महुआ, अर्जुन, आम, कुसुम, आमड़ा, जामुन, चिरौजी, मांसरोहिणी, कदम, बेर, तेंदू, सजई, तेजपत्ता, लोध, साबर, भिजावाँ, पलाश, तुन, घुँघची या मुलेठी।

न्यग्रोधिक-वि० [सं०] (स्थान) जहाँ बहुत से वट वृक्ष हों।

न्यग्रोधिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मूसाकानी लता।

न्यग्रोधी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मूसाकानी।

न्यच्छु-संज्ञा पुं० [सं०] एक चर्मरोग जिसमें शरीर पर काबे चकत्ते पड़ जाते हैं।

न्यबुद-वि० [सं०] दश अर्बुद। दस अरब (संख्या)।

न्यबुदि-संज्ञा पुं० [सं०] एक रुद्र का नाम। (अथर्व०)

न्यस्त-वि० [सं०] (१) रखा हुआ। धरा हुआ। (२) स्थापित। बैठाया या जमाया हुआ। (३) चुनकर सजाया हुआ। (४) विस। डाला हुआ। फेंका हुआ। (५) त्यक्त। छोड़ा हुआ।

संज्ञा पुं० धरोहर रखा हुआ। अमानत रखा हुआ।

न्यस्तशस्त्र-वि० [सं०] जिसने हथियार रख दिए हों।

संज्ञा पुं० पितृलोक।

न्यह-संज्ञा पुं० [सं०] अमावास्या का सायंकाल।

न्याकव-संज्ञा पुं० [सं०] न्यंकु का मृगचर्म। बारहसिंगे का चमड़ा।

न्याडा-संज्ञा पुं० दे० “न्याय”।

न्याडा-संज्ञा पुं० दे० “न्याय”।

न्याति*-संज्ञा स्त्री० [सं० ज्ञाति, प्रा० याति] जाति। इ०—मधुकर कहा कारे की न्याति ? ज्यों जलमीन कमल मधुपन को छिन नहिं प्रीति खटाति।—सूर।

न्याद-संज्ञा पुं० [सं०] आहार।

न्याय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उचित बात। नियम के अनुकूल बात। हक बात। नीति। इंसफ। जैसे, (क) न्याय तो यही है कि तुम उसका रुपया फेर दो। (ख) अपराध कोई करे और दंड कोई पावे यह कहीं का न्याय है ? (२) सद-सद्विवेक। दो पक्षों के बीच निर्णय। प्रमाणपूर्वक निश्चय। विवाद या व्यवहार में उचित अनुचित का निश्चय। किसी मामले मुकदमे में दोषी और निर्दोष, अधिकारी और अनधिकारी आदि का निर्धारण। जैसे, (क) राजा अच्छा न्याय करता है। (ख) इस अदालत में ठीक न्याय नहीं होता।

यौ०—न्याय-सभा । न्यायालय ।

(३) वह शास्त्र जिसमें किसी वस्तु के यथार्थ ज्ञान के लिये विचारों की उचित योजना का निरूपण होता है। विवेचन-पद्धति । प्रमाण, दृष्टांत, तर्क आदि युक्त वाक्य ।

विशेष—न्याय छ दार्शनिकों में है। इसके प्रवर्तक गौतम ऋषि मिथिला के निवासी कहे जाते हैं। गौतम के न्यायसूत्र अब तक प्रसिद्ध हैं। इन सूत्रों पर वात्स्यायन मुनि का भाष्य है। इस भाष्य पर उद्योतकर ने वार्तिक लिखा है। वार्तिक की व्याख्या वाचस्पति मिश्र ने “न्यायवार्तिकतात्पर्य टीका” के नाम से लिखी है। इस टीका की भी टीका हृदयनाचार्य कृत “तात्पर्यपरिशुद्धि” है। इस परिशुद्धि पर वर्द्धमान उपाध्याय कृत “प्रकाश” है।

गौतम का न्याय केवल प्रमाण तर्क आदि के नियम निश्चित करनेवाला शास्त्र नहीं है बल्कि आत्मा, इंद्रिय, पुनर्जन्म, दुःख, अपवर्ग आदि विशिष्ट प्रमेयों का विचार करनेवाला दर्शन है। गौतम ने सोलह पदार्थों का विचार किया है और इनके सम्यक् ज्ञान द्वारा अपवर्ग या मोक्ष की प्राप्ति कही है। सोलह पदार्थ या विषय ये हैं—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, उत्पत्ति, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान। इन विषयों पर विचार किसी मध्यस्थ के सामने वादी प्रतिवादी के कथोपकथन के रूप में कराया गया है। किसी विषय में विवाद उपस्थित होने पर पहले इसका निर्णय आवश्यक होता है कि दोनों वादियों के कौन कौन प्रमाण माने जायेंगे। इससे पहले प्रमाण लिया गया है। इसके उपरांत विवाद का विषय अर्थात् प्रमेय का विचार हुआ है। विषय सूचित हो जाने पर मध्यस्थ के चित्त में संदेह उत्पन्न होगा कि उसका यथार्थ स्वरूप क्या है। उसी का विचार संदेह पदार्थ के नाम से हुआ है। संदेह के उपरांत मध्यस्थ के चित्त में यह विचार हो सकता है कि इस विषय के विचार से क्या मतलब। यही प्रयोजन हुआ। वादी संदिग्ध विषय पर अपना पक्ष दृष्टांत दिखाकर बतलाता है वही दृष्टांत पदार्थ है। जिस पक्ष को वादी पुष्ट करके बतलाता है वह उसका सिद्धांत हुआ। वादी का पक्ष सूचित होने पर पक्षसाधन की जो जो युक्तियाँ कही गई हैं प्रतिवादी उनके खंड खंड करके उनके खंडन में प्रवृत्त होता है। युक्तियों के ये ही खंड अवयव कहलाते हैं। अपनी युक्तियों को खंडित देख वादी फिर से और युक्तियाँ देता है जिनसे प्रतिवादी की युक्तियों का उत्तर हो जाता है। यही तर्क कहा गया है। तर्क द्वारा वादी जो अपना पक्ष स्थिर करता है वही निर्णय है। प्रतिवादी के हटने से संतुष्ट न होने पर दोनों पक्षों द्वारा पंचावयवयुक्त युक्तियों का कथन ‘वाद’ कहा गया है।

वाद या शास्त्रार्थ द्वारा स्थिर सत्य पक्ष को न मान कर यदि प्रतिवादी जीत की इच्छा से अपनी चतुराई के बल से व्यर्थ उत्तर प्रत्युत्तर करता चला जाता है तो वह जल्प कहलाता है। इस प्रकार प्रतिवादी कुछ काल तक तो कुछ अच्छी युक्तियाँ देता जायगा फिर ऊटपटांग बकने लगेगा जिसे वितंडा कहते हैं। इस वितंडा में जितने हेतु दिए जायेंगे वे ठीक न होंगे, वे हेत्वाभास मात्र होंगे। उन हेतुओं और युक्तियों के अतिरिक्त जान बूझ कर वादी को घबराने के लिये उसके वाक्यों का ऊटपटांग अर्थ करके यदि वादी गड़बड़ डालना चाहता है तो यह उसका छल कहलाता है, और यदि व्याप्तिनिरपेक्ष साधर्म्य वैधर्म्य आदि के सहारे अपना पक्ष स्थापित करने लगता है तो वह जाति में आ जाता है। इस प्रकार होते-होते जब शास्त्रार्थ में यह अवस्था आ जाती है कि अब प्रतिवादी को रोक कर शास्त्रार्थ बंद किया जाय तब ‘निग्रहस्थान’ कहा जाता है। (विवरण प्रत्येक शब्द के अंतर्गत देखो)।

न्याय का मुख्य विषय है प्रमाण। ‘प्रमा’ नाम है यथार्थ ज्ञान का। यथार्थ ज्ञान का जो करण हो अर्थात् जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान हो उसे, प्रमाण कहते हैं। गौतम ने चार प्रमाण माने हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। इनमें से आत्मा, मन और इंद्रिय का संयोग रूप जो ज्ञान का करण वा प्रमाण है वही प्रत्यक्ष है। वस्तु के साथ इंद्रिय संयोग होने से जो उसका ज्ञान होता है उसी को प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष को लेकर जो ज्ञान होता है वह अनुमान है। भाष्यकार ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है कि लिंग लिंगी के प्रत्यक्ष ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान (तथा ज्ञान के कारण) को अनुमान कहते हैं। जैसे, हमने बराबर देखा है कि जहाँ धूँ आ रही है वहाँ आग रहती है। इसी को नैयायिक व्याप्ति ज्ञान कहते हैं जो अनुमान की पहली सीढ़ी है। हमने कहीं धूँ देखा जो आग का लिंग या चिह्न है और हमारे मन में यह ध्यान हुआ कि “जिस धूँ के साथ सदा हमने आग देखी है वह यहाँ है”। इसी को परामर्श ज्ञान या व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता कहते हैं। इसके अनंतर हमें यह ज्ञान या अनुमान उत्पन्न हुआ कि “यहाँ आग है”। अपने समझने के लिये तो उपर्युक्त तीन खंड काफी हैं पर नैयायिकों का कार्य है दूसरे के मन में ज्ञान कराना, इससे वे अनुमान के पाँच खंड करते हैं जो ‘अवयव’ कहलाते हैं।

(१) प्रतिज्ञा—साध्य का निर्देश करनेवाला अर्थात् अनुमान से जो बात सिद्ध करना है उसका वर्णन करनेवाला वाक्य, जैसे, “यहाँ पर आग है”।

(२) हेतु—जिस लक्षण या चिह्न से बात प्रमाणित की जाती है, जैसे, “क्योंकि यहाँ धूँ है”।

(३) उदाहरण—सिद्ध की जानेवाली वस्तु बतलाए हुए चिह्न के साथ जहाँ देखी गई है उसे बतानेवाला वाक्य। जैसे, जहाँ जहाँ धूँआँ रहता है वहाँ वहाँ आग रहती है, जैसे 'रसोई घर में'।

(४) उपनय—जो वाक्य बतलाए हुए चिह्न या लिंग का होना प्रकट करे, जैसे, "यहाँ पर धूँआँ है"।

(५) निगमन—सिद्ध की जानेवाली बात सिद्ध हो गई यह कथन।

अतः अनुमान का पूरा रूप यों हुआ—

यहाँ पर आग है (प्रतिज्ञा)।

क्योंकि यहाँ धूँआँ है (हेतु)।

जहाँ जहाँ धूँआँ रहता है वहाँ वहाँ आग रहती है (जैसे रसोई घर में) (उदाहरण)।

यहाँ पर धूँआँ है (उपनय)।

इसलिये यहाँ पर आग है (निगमन)।

साधारणतः इन पाँच अवयवों से युक्त वाक्य को न्याय कहते हैं। नवीन नैयायिक इन पाँचों अवयवों का मानना आवश्यक नहीं समझते। वे प्रमाण के लिये प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टांत इन्हीं तीनों को काफी समझते हैं। मीमांसक और वेदांती भी इन्हीं तीनों को मानते हैं। बौद्ध नैयायिक दो ही मानते हैं, प्रतिज्ञा और हेतु।

दुष्ट हेतु को हेत्वाभास कहते हैं पर इसका वर्णन गौतम ने प्रमाण के अंतर्गत न करके इसे अलग पदार्थ (विषय) मानकर किया है। इसी प्रकार छल, जाति, निग्रहस्थान इत्यादि भी वास्तव में हेतुदोष ही कहे जा सकते हैं। केवल हेतु का अच्छी तरह विचार करने से अनुमान के सब दोष पकड़े जा सकते हैं और यह मालूम हो सकता है कि अनुमान ठीक है या नहीं।

गौतम का तीसरा प्रमाण 'उपमान' है। किसी जानी हुई वस्तु के सदृश्य से न जानी हुई वस्तु का ज्ञान जिस प्रमाण से होता है वही उपमान है। जैसे नीलगाय गाय के सदृश होती है। किसी के मुँह से यह सुनकर जब हम जंगल में नीलगाय देखते हैं तब चट हमें ज्ञान हो जाता है कि "यह नीलगाय है"। इससे प्रतीत हुआ कि किसी वस्तु का उसके नाम के साथ संबंध ही उपमिति ज्ञान का विषय है। वैशेषिक और बौद्ध नैयायिक उपमान को अलग प्रमाण नहीं मानते, प्रत्यक्ष और शब्द प्रमाण के ही अंतर्गत मानते हैं। वे कहते हैं कि "गो के सदृश गवय होता है" यह शब्द या आगम ज्ञान है क्योंकि यह आस या विश्वासपात्र मनुष्य के कहे हुए शब्द द्वारा हुआ। फिर इसके उपरान्त यह ज्ञान कि "यह जंतु जो हम देखते हैं गो के सदृश है" यह प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ। इसका उत्तर नैयायिक यह देते हैं

कि यहाँ तक का ज्ञान तो शब्द और प्रत्यक्ष ही हुआ पर इसके अनंतर जो यह ज्ञान होता है कि "इसी जंतु का नाम गवय है" वह न प्रत्यक्ष है, न अनुमान, न शब्द, वह उपमान ही है। उपमान को कई नए दार्शनिकों ने इस प्रकार अनुमान के अंतर्गत किया है। वे कहते हैं कि 'इस जंतु का नाम गवय है', 'क्योंकि यह गो के सदृश है' 'जो जो जंतु गो के सदृश होते हैं उनका नाम गवय होता है'। पर इसका उत्तर यह है कि जो जो जंतु गो के सदृश होते हैं वे गवय हैं यह बात मन में नहीं आती, मन में केवल इतना ही आता है कि "मैंने अच्छे आदमी के मुँह से सुना है कि गवय गाय के सदृश होता है?"

चौथा प्रमाण है शब्द। सूत्र में लिखा है कि आसोपदेश अर्थात् आस पुरुष का वाक्य शब्द-प्रमाण है। भाष्यकार ने आस पुरुष का लक्षण यह बतलाया है कि जो साक्षात्कृतधर्मा हो, जैसा देखा सुना (अनुभव किया) हो ठीक ठीक वैसा ही कहनेवाला हो वही आस है, चाहे वह आर्थ हो या स्नेच्छ। गौतम ने आसोपदेश के दो भेद किए हैं दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ। प्रत्यक्ष जानी हुई बातों को बतानेवाला दृष्टार्थ और केवल अनुमान से जानी जानेवाली बातों (जैसे स्वर्ग अपवर्ग, पुनर्जन्म इत्यादि) को बतानेवाला अदृष्टार्थ कहलाता है। इस पर भाष्य करते हुए वात्स्यायन ने कहा है कि इस प्रकार लौकिक और ऋषिवाक्य (वैदिक) का विभाग हो जाता है अर्थात् अदृष्टार्थ में केवल वेदवाक्य ही प्रमाण-कोटि में माना जा सकता है। नैयायिकों के मत से वेद ईश्वर कृत है इससे उसके वाक्य सदा सत्य और विश्वसनीय हैं पर लौकिक वाक्य तभी सत्य माने जा सकते हैं जब कि उनका कहनेवाला प्रामाणिक माना जाय। सूत्रों में वेद के प्रामाण्य के विषय में कई शंकाएँ उठाकर उनका समाधान किया गया है। मीमांसक ईश्वर नहीं मानते पर वे भी वेद को अपौरुषेय और नित्य मानते हैं। नित्य तो मीमांसक शब्द मात्र को मानते हैं और शब्द और अर्थ का नित्य संबंध बतलाते हैं। पर नैयायिक शब्द का अर्थ के साथ कोई नित्य संबंध नहीं मानते।

वाक्य का अर्थ क्या है इस विषय में बहुत मतभेद है। मीमांसकों के मत से नियोग या प्रेरणा ही वाक्यार्थ है—अर्थात् 'ऐसा करो', 'ऐसा न करो' यही बात सब वाक्यों से कही जाती है चाहे साफ साफ चाहे ऐसे अर्थवाले दूसरे वाक्यों से संबंध द्वारा। पर नैयायिकों के मत से कई पदों के संबंध से निकलनेवाला अर्थ ही वाक्यार्थ है। परंतु वाक्य में जो पद होते हैं वाक्यार्थ के मूल कारण वे ही हैं। न्याय-मंजरी में पदों में दो प्रकार की शक्ति मानी गई है—अभिधात्री शक्ति जिससे एक एक पद अपने अपने अर्थ का बोध

कराता है और दूसरी तात्पर्य शक्ति जिससे कई पदों के संबंध का अर्थ सूचित होता है। शक्ति के अतिरिक्त लक्षणा भी नैयायिकों ने मानी है। आलंकारिकों ने तीसरी वृत्ति व्यंजना भी मानी है पर नैयायिक उसे पृथक् वृत्ति नहीं मानते। सूत्र के अनुसार जिन कई अक्षरों के अंत में विभक्ति हो वे ही पद हैं और विभक्तिर्था दो प्रकार की होती हैं—नाम-विभक्ति और आख्यात-विभक्ति। इस प्रकार नैयायिक नाम और आख्यात दो ही प्रकार के पद मानते हैं। अव्यय पद को भाष्यकार ने नाम के ही अंतर्गत सिद्ध किया है।

न्याय में ऊपर लिखे चार ही प्रमाण माने गए हैं। मीमांसक और वेदांती अर्थापत्ति, ऐतिह्य, संभव और अभाव ये चार और प्रमाण कहते हैं। नैयायिक इन चारों को अपने चार प्रमाणों के अंतर्गत मानते हैं। ऊपर के विवरण से स्पष्ट हो गया होगा कि प्रमाण ही न्यायशास्त्र का मुख्य विषय है। इसीसे 'प्रमाण-प्रवीण' 'प्रमाण-कुशल' आदि शब्दों का व्यवहार नैयायिक या तार्किक के लिये होता है।

प्रमाण अर्थात् किसी बात को सिद्ध करने के विधान का ऊपर उल्लेख हो चुका। अब उक्त विधान के अनुसार किन किन वस्तुओं का विचार और निर्णय न्याय में हुआ है इसका संक्षेप में कुछ विवरण दिया जाता है।

ऐसे विषय न्याय में प्रमेय (जो प्रमाणित किया जाय) पदार्थ के अंतर्गत हैं और बारह गिनाए गए हैं—

(१) आत्मा—सब वस्तुओं का देखनेवाला, भोग करने-वाला, जाननेवाला और अनुभव करनेवाला। (२) शरीर—भोगों का आयतन या आधार। (३) इंद्रियाँ—भोगों के साधन। (४) अर्थ—वस्तु जिनका भोग होता है। (५) बुद्धि—भोग। (६) मन—अंतःकरण अर्थात् वह भीतरी इंद्रिय जिसके द्वारा सब वस्तुओं का ज्ञान होता है। (७) प्रवृत्ति—वचन, मन और शरीर का व्यापार। (८) दोष—जिसके कारण अच्छे या बुरे कामों में प्रवृत्ति होती है। (९) प्रेत्यभाव—पुनर्जन्म। (१०) फल—सुख-दुःख का संवेदन या अनुभव। (११) दुःख—पीड़ा, क्लेश। (१२) अपवर्ग—दुःख से अत्यंत निवृत्ति या मुक्ति।

इस सूची से यह न समझना चाहिए इन वस्तुओं के अतिरिक्त और प्रमाण के विषय या प्रमेय हो ही नहीं सकते। प्रमाण के द्वारा बहुत सी बातें सिद्ध की जाती हैं। पर गौतम ने अपने सूत्रों में उन्हीं बातों पर विचार किया है जिनके ज्ञान से अपवर्ग या मोक्ष की प्राप्ति हो। न्याय में इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख दुःख और ज्ञान ये आत्मा के लिंग (अनुमान के साधन चिह्न या हेतु) कहे गए हैं, यद्यपि शरीर, इंद्रिय और मन से आत्मा पृथक् मानी गई है। वैशेषिक में भी इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख आदि को आत्मा का लिंग कहा है।

शरीर, इंद्रिय और मन से आत्मा के पृथक् होने के हेतु गौतम ने दिए हैं। वेदांतियों के समान नैयायिक एक ही आत्मा नहीं मानते, अनेक मानते हैं। सांख्यवाले भी अनेक पुरुष मानते हैं पर वे पुरुष को अकर्त्ता और अभोक्ता, साक्षी वा द्रष्टा मात्र मानते हैं। नैयायिक आत्मा को कर्त्ता, भोक्ता आदि मानते हैं। संसार को रचनेवाली आत्मा ही ईश्वर है। न्याय में आत्मा के समान ही ईश्वर में भी संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, इच्छा, बुद्धि, प्रयत्न ये गुण माने गए हैं पर नित्य करके। न्यायमंजरी में लिखा है कि दुःख, द्वेष और संस्कार को छोड़ और सब आत्मा के गुण ईश्वर में हैं। बहुत से लोग शरीर को पाँचों भूतों से बना मानते हैं पर न्याय में शरीर केवल पृथ्वी के परमाणुओं से घटित माना गया है। चेष्टा, इंद्रिय और अर्थ के आश्रय को शरीर कहते हैं। जिस पदार्थ से सुख हो उसके पाने और जिससे दुःख हो उसे दूर करने का व्यापार चेष्टा है। अतः शरीर का जो लक्षण किया गया है उसके अंतर्गत वृत्तों का शरीर भी आ जाता है। पर वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि यह लक्षण वृत्त-शरीर में नहीं बैठता, इससे केवल मनुष्य-शरीर का ही अभिप्राय समझना चाहिए। शंकर मिश्र ने वैशेषिक सूत्रोपस्कार में कहा है कि वृत्तों का शरीर है पर उसमें चेष्टा और इंद्रियाँ स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ती इससे उसे शरीर नहीं कह सकते। पूर्वजन्म के किए कर्मों के अनुसार शरीर उत्पन्न होता है। पाँच भूतों से पाँचों इंद्रियों की उत्पत्ति कही गई है। प्राणेंद्रिय से गंध का ग्रहण होता है इससे वह पृथ्वी से बनी है। रसना जल से बनी है क्योंकि रस जल का ही गुण है। चक्षु तेज से बना है क्योंकि रूप तेज का ही गुण है। त्वक् वायु से बना है क्योंकि स्पर्श वायु का गुण है। श्रोत्र आकाश से बना है क्योंकि शब्द आकाश का गुण है।

बौद्धों के मत से शरीर में इंद्रियों के जो प्रत्यक्ष गोलक देखे जाते हैं उन्हीं को इंद्रियाँ कहते हैं (जैसे, आँख की पुतली, जीभ इत्यादि) पर नैयायिकों के मत से जो अंग दिखाई पड़ते हैं वे इंद्रियों के अधिष्ठान मात्र हैं, इंद्रियाँ नहीं हैं। इंद्रियों का ज्ञान इंद्रियों के द्वारा नहीं हो सकता। कुछ लोग एक ही त्वक् इंद्रिय मानते हैं। न्याय में उनके मत का खंडन करके इंद्रियों का नानात्व स्थापित किया गया है। सांख्य में पाँच कर्मेंद्रियाँ और मन लेकर ग्यारह इंद्रियाँ मानी गई हैं। न्याय में कर्मेंद्रियाँ नहीं मानी गई हैं पर मन एक करण और अणु-रूप माना गया है। यदि मन सूक्ष्म न होकर व्यापक होता तो युगपद् ज्ञान संभव होता, अर्थात् अनेक इंद्रियों का एक क्षण में एक साथ संयोग होने से उन सब के विषयों का एक साथ ज्ञान होता।

पर नैयायिक ऐसा नहीं मानते। गंध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये पाँचों भूतों के गुण और इंद्रियों के अर्थ वा विषय हैं। न्याय में बुद्धि को ज्ञान वा उपलब्धि का ही दूसरा नाम कहा है। सांख्य में बुद्धि नित्य कही गई है पर न्याय में अनित्य।

वैशेषिक के समान न्याय भी परमाणुवादी है अर्थात् परमाणुओं के योग से सृष्टि मानता है। प्रमेयों के संबंध में न्याय और वैशेषिक के मत प्रायः एक ही हैं इससे दर्शन में दोनों के मत न्याय-मत कहे जाते हैं। वात्स्यायन ने भी भाष्य में कह दिया है कि जिन बातों को विस्तार-भय से गौतम ने सूत्रों में नहीं कहा है उन्हें वैशेषिक से ग्रहण करना चाहिए।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे प्रकट हो गया होगा कि गौतम का न्याय केवल विचार वा तर्क के नियम निर्धारित करनेवाला शास्त्र नहीं है बल्कि प्रमेयों का विचार करनेवाला दर्शन है। पार्श्वात्य लाजिक (तर्कशास्त्र) से यही इसमें भेद है। लाजिक दर्शन के अंतर्गत नहीं लिया जाता पर न्याय दर्शन है। यह अवश्य है कि न्याय में प्रमाण वा तर्क की परीक्षा विशेष रूप से हुई है।

न्यायशास्त्र का भारतवर्ष में कब प्रादुर्भाव हुआ ठीक नहीं कहा जा सकता। नैयायिकों में जो प्रवाद प्रचलित हैं उनके अनुसार गौतम वेदव्यास के समकालीन ठहरते हैं; पर इसका कोई प्रमाण नहीं है। 'आन्वीक्षिकी,' 'तर्कविद्या' 'हेतुवाद' का निंदापूर्वक उल्लेख रामायण और महाभारत में मिलता है। रामायण में तो नैयायिक शब्द भी अयोध्याकांड में आया है। पाणिनि ने न्याय से नैयायिक शब्द बनने का निर्देश किया है। न्याय के प्रादुर्भाव के संबंध में साधारणतः दो प्रकार के मत पाए जाते हैं। कुछ पार्श्वात्य विद्वानों की धारणा है कि बौद्ध धर्म का प्रचार होने पर उसके खंडन के लिये ही इस शास्त्र का अभ्युदय हुआ। पर कुछ एतद्देशीय विद्वानों का मत है कि वैदिक वाक्यों के परस्पर समन्वय और समाधान के लिये जैमिनि ने पूर्वमीमांसा में जिन युक्तियों और तर्कों का व्यवहार किया वे ही पहले न्याय के नाम से कहे जाते थे। आपस्तंब धर्मसूत्र में जो 'न्याय' शब्द आया है उसका पूर्वमीमांसा से ही अभिप्राय समझना चाहिए। माधवाचार्य ने पूर्वमीमांसा का जो सार-संग्रह लिखा उसका नाम न्यायमालाविस्तार रखा। वाचस्पति मिश्र ने भी 'न्यायकणिका' के नाम से मीमांसा पर एक ग्रंथ लिखा है। पर न्याय के प्राचीनत्व से वंग देश का गौरव समझनेवाले कुछ बंगाली पंडितों का कथन है कि न्याय ही सब दर्शनों में प्राचीन है क्योंकि और सब दर्शनसूत्रों में दूसरे दर्शनों का उल्लेख मिलता

है पर न्यायसूत्रों में कहीं किसी दूसरे दर्शन का नाम नहीं आया है। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि न्याय सब दर्शनों में प्राचीन है, पर इतना अवश्य कह सकते हैं कि तर्क के नियम बौद्ध धर्म के प्रचार से बहुत पूर्व प्रचलित थे, चाहे वे मीमांसा के रहे हों या स्वतंत्र। हेमचंद्र ने न्यायसूत्रों पर भाष्य रचनेवाले वात्स्यायन और चाणक्य को एक ही व्यक्ति माना है। यदि यह ठीक हो तो भाष्य ही बौद्ध धर्मप्रचार के पूर्व का ठहरता है क्योंकि बौद्धधर्म का प्रचार अशोक के समय से और बौद्ध न्याय का आविर्भाव अशोक के भी पीछे महायान-शास्त्रा स्थापित होने पर हुआ। पर वात्स्यायन और चाणक्य का एक होना हेमचंद्र के श्लोक (जिसमें चाणक्य के आठ नाम गिनाए गए हैं) के आधार पर ही ठीक नहीं माना जा सकता। कुछ विद्वानों का कथन है कि वात्स्यायन ईसा की पाँचवीं शताब्दी में हुए। ईसा की छठी शताब्दी में वासवदत्ताचार्य सुबंधु ने मल्लनाग, न्यायस्थिति, धर्मकीर्ति और उद्योतकर इन चार नैयायिकों का उल्लेख किया है। इनमें धर्मकीर्ति प्रसिद्ध बौद्ध नैयायिक थे। उद्योतकराचार्य ने प्रसिद्ध बौद्ध नैयायिक दिङ्नागाचार्य के 'प्रमाणसमुच्चय' नामक ग्रंथ का खंडन करके वात्स्यायन का मत स्थापित किया। 'प्रमाणसमुच्चय' में दिङ्नाग ने वात्स्यायन के मत का खंडन किया था। इससे यह निश्चित है कि वात्स्यायन दिङ्नाग के पूर्व हुए। मल्लिनाथ ने दिङ्नाग को काळिदास का समकालीन बतलाया है पर कुछ लोग इसे ठीक नहीं मानते और दिङ्नाग का काल ईसा की तीसरी शताब्दी कहते हैं। सुबंधु के उल्लेख से दिङ्नागाचार्य का ही काल छठी शताब्दी के पूर्व ठहरता है अतः वात्स्यायन को जो उनसे भी पूर्व हुए पाँचवीं शताब्दी में मानना ठीक नहीं। वे उससे पहले हुए होंगे। वात्स्यायन ने दशावयव-वादी नैयायिकों का उल्लेख किया है, इससे सिद्ध है कि उनके पहले से भाष्य-कार नैयायिकों की परंपरा चली आती थी। अस्तु, सूत्रों की रचना का काल बौद्धधर्म प्रचार के पूर्व मानना पड़ता है।

वैदिक, बौद्ध और जैन नैयायिकों के बीच विवाद ईसा की पाँचवीं शताब्दी से लेकर १३ वीं शताब्दी तक बराबर चलता रहा। इससे खंडन-मंडन के बहुत से ग्रंथ बने। १४ वीं शताब्दी में गंगेशोपाध्याय हुए जिन्होंने 'नव्यन्याय' की नींव डाली। प्राचीन न्याय में प्रमेय आदि जो सोलह पदार्थ थे उनमें से और सब को किनारे करके केवल 'प्रमाण' को लेकर ही भारी शब्दाडंबर खड़ा किया गया। इस नव्य न्याय का आविर्भाव मिथिला में हुआ। मिथिला से नदिया में जाकर नव्यन्याय ने और भी भयंकर रूप धारण किया। न इसमें तत्त्वनिर्णय रहा, न तत्त्वनिर्णय की सामर्थ्य।

(४) दृष्टांत-वाक्य जिसका व्यवहार लोक में कोई प्रसंग आ पड़ने पर होता है। कोई विवक्षित घटना सूचित करने-वाली उक्ति जो उपस्थित बात पर घटती हो। कहावत। ऐसे न्याय या दृष्टांत-वाक्य बहुत से प्रचलित चले आते हैं जिनमें से कुछ अकारादि क्रम से दिए जाते हैं—

(१) अजाकृपाणीय न्याय—कहीं तलवार लटकती थी, नीचे से बकरा गया और वह संयोग से उसकी गर्दन पर गिर पड़ी। जहाँ देवसंयोग से कोई विपत्ति आ पड़ती है वहाँ इसका व्यवहार होता है।

(२) अजातपुत्रनामोत्कीर्त्तन न्याय—अर्थात् पुत्र न होने पर भी नामकरण होने का न्याय। जहाँ कोई बात न होने पर भी आशा के सहारे लोग अनेक प्रकार के आयोजन बाँधने लगते हैं वहाँ यह कहा जाता है।

(३) अध्यारोप न्याय—जो वस्तु जैसी न हो उसमें वैसे होने का (जैसे रज्जु में सर्प होने का) आरोप। वेदांत की पुस्तकों में इसका व्यवहार मिलता है।

(४) अंधकूपपतन न्याय—किसी भले आदमी ने अंधे को रास्ता बतला दिया और वह चला, पर जाते जाते एक कूप में गिर पड़ा। जब किसी अनधिकारी को कोई उपदेश दिया जाता है और वह उस पर चलकर अपने अज्ञान आदि के कारण चूक जाता है या अपनी हानि कर बैठता है तब यह कहा जाता है।

(५) अंधगज न्याय—कई जन्मांधों ने हाथी कैसा होता है यह देखने के लिये हाथी टोला। जिसने जो अंग टोला पाया उसने हाथी का आकार उसी अंग का सा समझा। जिसने पूँछ टोली उसने रस्सी के आकार का, जिसने पैर टोला उसने खंभे के आकार का समझा। किसी विषय के पूर्ण अंग का ज्ञान न होने पर उसके संबंध में जब अपनी अपनी समझ के अनुसार भिन्न भिन्न बातें कही जाती हैं तब इस उक्ति का प्रयोग करते हैं।

(६) अंधगोलंगूल न्याय—एक अंधा अपने घर के रास्ते से भटक गया था। किसी ने उसके हाथ में गाय की पूँछ पकड़ाकर कह दिया कि यह तुम्हें तुम्हारे स्थान पर पहुँचा देगी। गाय के हथर उधर दौड़ने से अंधा अपने घर तो पहुँचा नहीं, कष्ट उसने भले ही पाया। किसी दुष्ट या मूर्ख के उपदेश पर काम करके जब कोई कष्ट या दुःख उठाता है तब यह कहा जाता है।

(७) अंधचटक न्याय—अंधे के हाथ बटेर।

(८) अंधपरंपरा न्याय—जब कोई पुरुष किसी को कोई काम करते देख कर आप भी वही काम लगे तब वहाँ यह कहा जाता है।

(९) अंधपंगु न्याय—एक ही स्थान पर जानेवाला एक

अंधा और एक लंगड़ा यदि मिल जायँ तो एक दूसरे की सहायता से दोनों वहाँ पहुँच सकते हैं। सांख्य में जब प्रकृति और चेतन पुरुष के संयोग से सृष्टि होने के दृष्टांत में यह उक्ति कही गई है।

(१०) अपवाद न्याय—जिस प्रकार किसी वस्तु के संबंध में ज्ञान हो जाने से भ्रम नहीं रह जाता उसी प्रकार। (वेदांत)

(११) अपराह्णच्छाया न्याय—जिस प्रकार दोपहर की छाया बराबर बढ़ती जाती है उसी प्रकार सज्जनों की प्रीति आदि के संबंध में कहा जाता है।

(१२) अपसारिताग्निभूतल न्याय—जमीन पर से आग हटा लेने पर भी जिस प्रकार कुछ देर तक जमीन गरम रहती है उसी प्रकार धनी धन के न रह जाने पर भी कुछ दिनों तक अपनी अकड़ रखता है।

(१३) अरयरोदन न्याय—जंगल में रोने के समान बात। जहाँ कहने पर कोई ध्यान देनेवाला न हो वहाँ इसका प्रयोग होता है।

(१४) अर्कमधु न्याय—यदि मदार से ही मधु मिल जाय तो उसके लिये अधिक परिश्रम व्यर्थ है। जो कार्य सहज में हो उसके लिये इधर उधर बहुत भ्रम करने की आवश्यकता नहीं।

(१५) अर्द्धजरतीय न्याय—एक ब्राह्मण देवता अर्ध-कष्ट से दुखी हो नित्य अपनी गाय ले कर बाजार में बेचने जाते पर वह न बिकती। बात यह थी कि अवस्था पूछने पर वे उसकी बहुत अवस्था बतलाते थे। एक दिन एक आदमी ने उनसे न बिकने का कारण पूछा। ब्राह्मण ने कहा मैंने समझा जिस प्रकार आदमी की अवस्था अधिक होने पर उसकी कदर बढ़ जाती है उसी प्रकार मैंने गाय के संबंध में भी समझा था। उसने आगे ऐसा न कहने की सलाह दी। ब्राह्मण ने सोचा कि “एक बार गाय को बुड्डी कहकर अब फिर जवान कैसे कहूँ”। अंत में उन्होंने स्थिर किया कि आत्मा तो बुड्डी होती नहीं देह बुड्डी होती है। अतः इसे मैं आधी बुड्डी आधी जवान कहूँगा। जब किसी की कोई बात इस पक्ष में भी और उस पक्ष में भी हो तब यह उक्ति कही जाती है।

(१६) अशोकवनिका न्याय—अशोक वन में जाने के समान (जहाँ छाया सौरभ आदि सब कुछ प्राप्त हो) जब किसी एक ही स्थान पर सब कुछ प्राप्त हो जाय और कहीं जाने की आवश्यकता न हो तब यह कहा जाता है।

(१७) अश्मलोष्ट न्याय—अर्थात् तराजू पर रखने के लिये पथर तो टेले से भी भारी है। यह विषमता सूचित करने के अश्वसर पर ही कहा जाता है। जहाँ दो वस्तुओं में सापेक्षिकता सूचित करनी होती है वहाँ पाषाणोष्णिक न्याय कहा जाता है।

(१८) अग्नेहदीप न्याय—बिना तेल के दीये की सी बात। थोड़े ही काल रहनेवाली बात देखकर यह कहा जाता है।

(१९) अहिंकंडल न्याय—सर्प के कुंडल मारकर बैठने के समान। किसी स्वाभाविक बात पर।

(२०) अहि-नकुल न्याय—साँप नेवले के समान। स्वाभाविक विरोध या वैर सूचित करने के लिये।

(२१) आकाशापरिच्छिन्नत्व न्याय—आकाश के समान अपरिच्छिन्न।

(२२) आध्माणक न्याय—लोकप्रवाद के समान।

(२३) आम्रवण न्याय—जिस प्रकार किसी वन में यदि आम के पेड़ अधिक होते हैं तो इसे 'आम का वन' ही कहते हैं, यद्यपि और भी पेड़ उस वन में रहते हैं, उसी प्रकार जहाँ औरों को छोड़ प्रधान वस्तु का ही उल्लेख किया जाता है वहाँ यह उक्ति कही जाती है।

(२४) उत्पाटितदंननाग न्याय—दाँत तोड़े हुए साँप के समान। कुछ करने धरने या हानि पहुँचाने में असमर्थ हुए मनुष्य के संबंध में।

(२५) उदकनिमज्जन न्याय—कोई दोषी है या निर्दोष इसकी एक दिव्य परीक्षा प्राचीन काल में प्रचलित थी। दोषी को पानी में खड़ा करके किसी ओर बाण छोड़ते थे और बाण छोड़ने के साथ ही अभियुक्त को तब तक डूबे रहने के लिये कहते थे जब तक वह छोड़ा हुआ बाण वहाँ से फिर छूटने पर लौट न आवे। यदि इतने बीच में डूबनेवाले का कोई अंग बाहर न दिखाई पड़ा तो उसे निर्दोष समझते थे। जहाँ सत्यासत्य की बात आती है वहाँ यह न्याय कहा जाता है।

(२६) उभयतः पाशरज्जु न्याय—जहाँ दोनों ओर विपत्ति हो अर्थात् दो कर्त्तव्य पक्षों में से प्रत्येक में दुःख हो वहाँ इसका व्यवहार होता है। "साँप-छूँदर की गति"।

(२७) ऊपरवृष्टि न्याय—किसी बात का जहाँ कोई फल न हो वहाँ कहा जाता है।

(२८) उष्ट्रकंटकभक्षण न्याय—जिस प्रकार थोड़े से सुख के लिये ऊँट कंटि खाने का कष्ट उठाता है उसी प्रकार जहाँ थोड़े से सुख के लिये अधिक कष्ट उठाया जाता है वहाँ यह कहावत कही जाती है।

(२९) कंठचामीकर न्याय—गले में सोने का हार हो और उसे इधर उधर हँदता फिरे। आनंद स्वरूप ब्रह्म अपने में रहते भी अज्ञानवश सुख के लिये अनेक प्रकार के दुःख भोगने के दृष्टांत में वेदांती कहते हैं।

(३०) कदंबगोलक न्याय—जिस प्रकार कदंब के गोले में सब फूल एक साथ हो जाते हैं, उसी प्रकार जहाँ कई

बातें एक साथ हो जाती हैं वहाँ इसे कहते हैं। कुछ नैयायिक शब्दोपपत्ति में कई वर्थों के उच्चारण एक साथ मानकर उसके दृष्टांत में यह कहते हैं।

(३१) कदलीफल न्याय—केला काटने ही पर फलता है इसी प्रकार नीच सीधे कहने से नहीं सुनते।

(३२) कफोनिगुड न्याय—सूत न कपास जुलाहों से मटकौवल।

(३३) करकंकण न्याय—'कंकण' कहने से ही हाथ के गहने का बोध हो जाता है, 'कर' कहने की आवश्यकता नहीं। पर कर-कंकण कहते हैं जिसका अर्थ होता है 'हाथ में पड़ा हुआ कड़ा'। इस प्रकार का जहाँ अभिप्राय होता है वहाँ यह न्याय कहा जाता है।

(३४) काकतालीय न्याय—किसी ताड़ के पेड़ के नीचे कोई पथिक लेटा था और ऊपर एक कौवा बैठा था। कौवा किसी ओर को उड़ा और उसके उड़ने के साथ ही ताड़ का एक पका हुआ फल नीचे गिरा। यद्यपि फल पककर आपसे आप गिरा था पर पथिक दोनों बातों को साथ होते देख यही समझा कि कौवे के उड़ने से ही तालफल गिरा। जहाँ दो बातें संयोग से इस प्रकार एक साथ हो जाती हैं वहाँ उनमें परस्पर कोई संबंध न होते हुए भी लोग संबंध समझ लेते हैं। ऐसा संयोग होने पर यह कहावत कही जाती है।

(३५) काकदध्युपघातक न्याय—"कौवे से दही बचाना" कहने से जिस प्रकार "कुत्ते बिछी आदि सब जंतुओं से बचाना" समझ लिया जाता है उसी प्रकार जहाँ किसी वाक्य का अभिप्राय होता है वहाँ यह उक्ति कही जाती है।

(३६) काकदंतगवेषणा न्याय—कौवे का दाँत हँदना निष्फल है अतः निष्फल प्रयत्न के संबंध में यह न्याय कहा जाता है।

(३७) काकाक्षिगोलक न्याय—कहते हैं कौवे के एक ही पुतली होती है जो प्रयोजन के अनुसार कभी इस आँख में कभी उस आँख में जाती है। जहाँ एक ही वस्तु दो स्थानों में कार्य करे वहाँ के लिये यह कहावत है।

(३८) कारणगुणप्रक्रम न्याय—कारण का गुण कार्य में भी पाया जाता है। जैसे सूत का रूप आदि उससे बुने कपड़े में।

(३९) कुशकाशावलंबन न्याय—जैसे डबता हुआ आदमी कुश-काँस जो कुछ पाता है उसी को सहारे के लिये पकड़ता है, उसी प्रकार जहाँ कोई दृढ़ आधार न मिलने पर लोग इधर उधर की बातों का सहारा लेते हैं वहाँ के लिये यह कहावत है। डूबते को तिनके का सहारा बोलते भी हैं।

(४०) कूपखानक न्याय—जैसे कुआँ खोदनेवाले की देह में लगा हुआ कीचड़ उसी कुएँ के जल से साफ हो जाता है उसी प्रकार राम, कृष्ण आदि को भिन्न भिन्न रूपों में समझने से ईश्वर में भेदबुद्धि का जो दोष लगता है वह उन्हीं की उपासना द्वारा ही अद्वैतबुद्धि हो जाने पर मिट जाता है।

(४१) कूपमंडूक न्याय—समुद्र का मेढक किसी कुएँ में जा पड़ा। कुएँ के मेढक ने पूछा “भाई! तुम्हारा समुद्र कितना बड़ा है?” उसने कहा “बहुत बड़ा”। कुएँ के मेढक ने पूछा “इस कुएँ के इतना बड़ा समुद्र के मेढक ने कहा ‘कहाँ कुआँ, कहाँ समुद्र’ समुद्र से बड़ी कोई वस्तु पृथ्वी पर नहीं।’ इस पर कुएँ का मेढक जो कुएँ से बड़ी और कोई वस्तु जानता ही न था बिगड़ कर बोला ‘तुम झूठे हो, कुएँ से बड़ी कोई वस्तु हो नहीं सकती’। जहाँ परिमित ज्ञान के कारण कोई अपनी जानकारी के ऊपर कोई दूसरी बात मानता ही नहीं वहाँ के लिये यह उक्ति है।

(४२) कूर्मीग न्याय—जिस प्रकार कछुवा जब चाहता है तब अपने सब अंग भीतर समेट लेता है और जब चाहता है बाहर करता है उसी प्रकार ईश्वर सृष्टि और लय करता है।

(४३) कैमुतिक न्याय—जिसने बड़े बड़े काम किए उसे कोई छोटा काम करते क्या लगता है। उसीके दृष्टांत के लिये यह उक्ति कही जाती है।

(४४) कौडिन्य न्याय—यह अच्छा है पर ऐसा होता तो और भी अच्छा होता।

(४५) गजभुक्तकपिरथ न्याय—हाथी के खाए हुए कैथ के समान ऊपर से देखने में ठीक पर भीतर भीतर निःसार और शून्य।

(४६) गड्डलिका-प्रवाह न्याय—भेड़ियाधसान।

(४७) गणपति न्याय—एक बार देवताओं में विवाद चला कि सब में पूज्य कौन है। ब्रह्मा ने कहा जो पृथ्वी की प्रदक्षिणा पहले कर आवे वही श्रेष्ठ समझा जाय। सब देवता अपने अपने वाहनों पर चले। गणेश जी चूहे पर सवार सबके पीछे रहे। इतने में मिले नारद। उन्होंने गणेश जी को युक्ति बताई कि राम-नाम लिख कर उसी की प्रदक्षिणा करके चटपट ब्रह्मा के पास पहुँच जाओ। गणपति ने ऐसा ही किया और देवताओं में वे प्रथम पूज्य हुए। इसी से जहाँ थोड़ी सी युक्ति से बड़ी भारी बात हो जाय वहाँ इसका प्रयोग करते हैं।

(४८) गतानुगतिक न्याय—कुछ ब्राह्मण एक घाट पर तर्पण किया करते थे। वे अपना अपना कुश एक ही स्थान पर रख देते थे जिससे एक का कुश दूसरा ले लेता था। एक दिन पहचान के लिये एक ने अपने कुश को ईंट से

दबा दिया। उसकी देखा देखी दूसरे दिन सबने अपने कुश पर ईंट रखी। जहाँ एक की देखादेखी लोग कोई काम करने लगते हैं वहाँ यह न्याय कहा जाता है।

(४९) गुडजिहिका न्याय—जिस प्रकार बच्चे को कड़वी औषध खिलाने के लिये उसे पहले गुड़ देकर फुसलाते हैं उसी प्रकार जहाँ अरुचिकर या कठिन काम कराने के लिये पहले कुछ प्रलोभन दिया जाता है वहाँ इस उक्ति का प्रयोग होता है।

(५०) गौवलीवर्द न्याय—‘वलीवर्द’ शब्द का अर्थ है बैल। जहाँ यह शब्द गो के साथ हो वहाँ अर्थ और भी जल्दी खुल जाता है। ऐसे शब्द जहाँ एक साथ होते हैं वहाँ के लिये यह कहावत है।

(५१) घटकुटीप्राभात न्याय—एक बनिया घाट के महसूल से बचने के लिये ठीक रास्ता छोड़ ऊमड़खाबड़ स्थानों में रातभर भटकता रहा पर सबेरा होते होते फिर उसी महसूल की छावनी पर पहुँचा और उसे महसूल देना पड़ा। जहाँ एक कठिनाई से बचने के लिये अनेक उपाय निष्फल हों और अंत में उसी कठिनाई में फँसना पड़े वहाँ यह न्याय कहा जाता है।

(५२) घटप्रदीप न्याय—घड़ा अपने भीतर रखे हुए दीप का प्रकाश बाहर नहीं जाने देता। जहाँ कोई अपना ही भला चाहता है दूसरे का उपकार नहीं करता वहाँ यह प्रयुक्त होता है।

(५३) घुणाक्षर न्याय—घुनें के चालने से लकड़ी में अक्षरों के से आकार बन जाते हैं, यद्यपि घुन इस उद्देश्य से नहीं काटते कि अक्षर बनें। इसी प्रकार जहाँ एक काम करने में कोई दूसरी बात अनायास हो जाय वहाँ यह कहा जाता है।

(५४) चंपकपटवास न्याय—जिस कपड़े में चंपे का फूल रखा हो उसमें फूलों के न रहने पर भी बहुत देर तक महक बनी रहती है। इसी प्रकार विषय भोग का संस्कार भी बहुत काल तक बना रहता है।

(५५) जलतरंग न्याय—अलग नाम रहने पर भी तरंग जल से भिन्न गुण की नहीं होती। ऐसा ही अभेद सूचित करने के लिये इस उक्ति का व्यवहार होता है।

(५६) जलतुंविका न्याय—(क) तूँबी पानी में नहीं डूबती, डूबाने से ऊपर आ जाती है। जहाँ कोई बात छिपाने से छिपनेवाली नहीं होती वहाँ कहते हैं। (ख) तूँबी के ऊपर मिट्टी कीचड़ आदि लपेट कर उसे पानी में डालें तो वह डूब जाती है पर कीचड़ धोकर यदि पानी में डालें तो नहीं डूबती। इसी प्रकार जीव देहादि के मलों से युक्त रहने पर संसार सागर में निमग्न हो जाता है, और मल आदि छूटने पर पार हो जाता है।

(५७) जलानयन न्याय—पानी 'लाओ' कहने से उसके साथ बरतन का लाना भी समझ लिया जाता है क्योंकि बरतन के बिना पानी कावेगा किसमें।

(५८) तिलतंडुल न्याय—चावल और तिल की तरह मिली रहने पर भी अलग अलग दिखाई देनेवाली वस्तुओं के संबंध में।

(५९) तृणजलौका न्याय—दे० "तृणजलौका"।

(६०) दंडचक्र न्याय—जैसे घड़ा बनने में दंड, चक्र आदि कई कारण हैं वैसे ही जहाँ कोई बात अनेक कारणों से होती है वहाँ यह उक्ति कही जाती है।

(६१) दंडापूप न्याय—कई दंडों में बँधे हुए मालपूप छोड़कर कहीं गया। आने पर उसने देखा कि दंडों का बहुत सा भाग चूहे खा गए हैं। उसने सोचा कि जब चूहे दंडों तक खा गए तब मालपूप को उन्होंने कब छोड़ा होगा। जब कोई दुष्टकर और कष्टसाध्य कार्य हो जाता है तब उसके साथ ही लगा हुआ सुखद और सहज कार्य अवश्य ही हुआ होगा यही सूचित करने के लिये यह कहावत कहते हैं।

(६२) दशम न्याय—दस आदमी एक साथ कोई नदी तैरकर पार गए। पार जाकर वे यह देखने के लिये सब को गिनने लगे कि कोई छूटा या बह तो नहीं गया। पर जो गिनता वह अपने को छोड़ देता इससे गिनने में नौ ही ठहरते। अंत में उस एक खोए हुए के लिये सब ने रोना शुरू किया। एक चतुर पथिक ने आकर उनसे फिर से गिनने के लिये कहा। जब एक उठकर नौ तक गिन गया तब पथिक ने कहा "दसवें तुम"। इस पर सब प्रसन्न हो गए। वेदांती इस न्याय का प्रयोग यह दिखाने के लिये करते हैं कि गुरु के 'तत्त्वमसि' आदि उपदेश सुनने पर अज्ञान और तज्जनित दुःख दूर हो जाता है।

(६३) देहलीदीपक न्याय—देहली पर दीपक रखने से भीतर और बाहर दोनों ओर उजाला रहता है। जहाँ एक ही आयोजन से दो काम सधे या एक शब्द या बात दोनों ओर लगे वहाँ इस न्याय का प्रयोग होता है।

(६४) नष्टाश्वदग्धरथ न्याय—एक आदमी रथ पर बने में जाता था। वन में आग लगी और उसका घोड़ा मर गया। वह बहुत व्याकुल घूमता था कि इतने में एक दूसरा आदमी मिला जिसका रथ जल गया था और घोड़ा बचा था। दोनों ने मिलकर काम चला लिया। इस प्रकार जहाँ दो आदमी मिलकर एक दूसरे की त्रुटि की पूर्ति करके काम चलाते हैं वहाँ इसे कहते हैं।

(६५) नारिकेलफलाम्बु न्याय—नारिकेल के फल में जिस प्रकार न जाने कहाँ से कैसे जल आ जाता है उसी प्रकार लक्ष्मी किस प्रकार आती है नहीं जान पड़ता।

(६६) निम्नगाप्रवाह न्याय। नदी का प्रवाह जिस ओर को जाता है उधर रुक नहीं सकता। इसी प्रकार के अनिवार्य क्रम के दृष्टांत में यह कहावत है।

(६७) नृपनापितपुत्र न्याय—किसी राजा के यहाँ एक नाई नौकर था। एक दिन राजा ने उससे कहा कहीं से सब से सुंदर बालक लाकर मुझे दिखाओ। नाई को अपने पुत्र से बढ़कर और कोई सुंदर बालक कहीं न दिखाई पड़ा और वह उसी को लेकर राजा के सामने आया। राजा उस काले कलटे बालक को देख बहुत क्रुद्ध हुआ, पर पीछे उसने सोचा कि प्रेम या राग के वश इसे अपने लड़के सा सुंदर और कोई दिखाई ही न पड़ा। राग के वश जहाँ मनुष्य ग्रंथा हो जाता है और उसे अच्छे बुरे की पहचान नहीं रह जाती वहाँ इस न्याय का प्रयोग होता है।

(६८) पंकप्रक्षालन न्याय—कीचड़ लग जायगा तो धो डालेंगे इसकी अपेक्षा यही विचार अच्छा है कि कीचड़ लगने ही न पावे।

(६९) पंजरचालन न्याय—दस पत्नी यदि किसी पिंजड़े में बंद कर दिए जायँ और वे सब एक साथ यत्न करें तो पिंजड़े को इधर उधर चला सकते हैं। दस ज्ञानेंद्रियाँ और दस कर्मेंद्रियाँ प्राणरूप किया उत्पन्न करके देह को चलाती हैं इसी के दृष्टांत में सांख्यवाले उक्त न्याय कहते हैं।

(७०) पषाणेषुक न्याय। ईंट भारी होती है पर उससे भी भारी पत्थर हाता है।

(७१) पिष्टपेषण न्याय—पीसे को पीसना निरर्थक है। किए हुए काम को व्यर्थ जहाँ कोई फिर करता है वहाँ के लिये यह उक्ति है।

(७२) प्रदीप न्याय—जिस प्रकार तेल, बत्ती और आग इन भिन्न वस्तुओं के मेल से दीपक जलता है उसी प्रकार सत्त्व रज और तम इन परस्पर भिन्न गुणों के सहयोग से देह धारण का व्यापार होता है। (सांख्य)

(७३) प्रापाणक न्याय—जिस प्रकार घी चीनी आदि कई वस्तुओं का एकत्र करने से बढ़िया मिठाई बनती है उसी प्रकार अनेक उपादानों के योग से सुंदर वस्तु तैयार होने के दृष्टांत में यह उक्ति कही जाती है। साहित्यवाले विभाव, अनुभाव आदि द्वारा रस का परिपाक सूचित करने के लिये इसका प्रयोग प्रायः करते हैं।

(७४) प्रासादवासि न्याय—महल में रहनेवाला यद्यपि कामकाज के लिये नीचे उतरकर बाहर इधर उधर भी जाता है पर उसे प्रासादवासी ही कहते हैं। इसी प्रकार जहाँ जिस विषय की प्रधानता होती है वहाँ उसी का उल्लेख होता है।

(७५) फलवत्सहकार न्याय—आम के पेड़ के नीचे पथिक छाया के लिये ही जाता है पर उसे फल भी मिल जाता है।

इसी प्रकार जहाँ एक लाभ होने से दूसरा लाभ ही हो वहाँ यह न्याय कहा जाता है ।

(७६) बहुवृत्ताकृष्ट न्याय—एक हिरन को यदि बहुत से भेड़िए लगे तो उसके अंग एक स्थान पर नहीं रह सकते । जहाँ किसी वस्तु के लिये बहुत से लोग खींचा खींची करते हैं वहाँ वह यथास्थान वा समूची नहीं रह सकती ।

(७७) विलवतिगोधा न्याय—जिस प्रकार बिल में स्थित गोह का विभाग आदि नहीं हो सकता उसी प्रकार जो वस्तु अज्ञात है उसके संबंध में भला बुरा कुछ नहीं कहा जा सकता ।

(७८) ब्राह्मणग्राम न्याय—जिस गाँव में ब्राह्मणों की बस्ती अधिक होती है उसे ब्राह्मणों का गाँव कहते हैं यद्यपि उसमें कुछ और लोग भी बसते हैं । औरों को छोड़ प्रधान वस्तु का ही नाम लिया जाता है यही सूचित करने के लिये यह कहावत है ।

(७९) ब्राह्मणश्रमण न्याय—ब्राह्मण यदि अपना धर्म छोड़ श्रमण (बौद्ध भिक्षुक) भी हो जाता है तब भी उसे ब्राह्मण श्रमण कहते हैं । एक वृत्ति को छोड़ जब कोई दूसरी वृत्ति ग्रहण करता है तब भी लोग उसकी पूर्व वृत्ति का निर्देश करते हैं ।

(८०) मञ्जुनाम्नजन न्याय—तैरना न जाननेवाला जिस प्रकार जल में पड़कर डूबता उतराता है उसी प्रकार मूर्ख या दुष्ट वादी प्रमाण आदि ठीक न दे सकने के कारण झूठ और व्याकुल होता है ।

(८१) डूकतोलन न्याय—एक धूर्त बनिया तराजू पर सौदे के साथ मेढक रखकर तौला करता था । एक दिन मेढक कूद कर भागा और वह पकड़ा गया । छिपाकर की हुई बुराई का भंडा एक दिन फूटता है ।

(८२) रज्जुसर्प न्याय—जब तक दृष्टि ठीक नहीं पड़ती तब तक मनुष्य रस्सी को साँप समझता है इसी प्रकार जब तक ब्रह्मज्ञान नहीं होता तब तक मनुष्य दृश्य जगत् को सत्य समझता है, पीछे ब्रह्मज्ञान होने पर उसका भ्रम दूर होता है और वह समझता है कि ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । (वेदांती)

(८३) राजपुत्रव्याध न्याय—कोई राजपुत्र बचपन में एक व्याध के घर पड़ गया और वहीं पलकर अपने को व्याधपुत्र ही समझने लगा । पीछे जब लोगों ने उसे उसका कुल बताया तब उसे अपना ठीक ठीक ज्ञान हुआ । इसी प्रकार जब तक ब्रह्मज्ञान नहीं होता तब तक मनुष्य अपने को न जाने क्या समझा करता है । ब्रह्मज्ञान हो जाने पर वह समझता है कि “मैं ब्रह्म हूँ” । (वेदांती)

(८४) राजपुरप्रवेश न्याय—राजा के द्वार पर जिस

प्रकार बहुत से लोगों की भीड़ रहती है पर सब लोग बिना किसी प्रकार का गड़बड़ या हल्ला किए चुपचाप कायदे से खड़े रहते हैं उसी प्रकार जहाँ सुव्यवस्थापूर्वक कार्य होता है वहाँ यह न्याय कहा जाता है ।

(८५) रात्रिदिवसन्याय—रात दिन का फर्क । भारी फर्क ।

(८६) लूतातंतु न्याय—जिस प्रकार मकड़ी अपने शरीर से ही सूत निकालकर जाला बनाती है और फिर आप ही उसका संहार करती है इसी प्रकार ब्रह्म अपने से ही सृष्टि करता है और अपने में उसे लय करता है ।

(८७) लोष्टूलगुड न्याय—ढेला तोड़ने के लिये जैसे डंडा होता है उसी प्रकार जहाँ एक का दमन करनेवाला दूसरा होता है वहाँ यह कहावत कही जाती है ।

(८८) लोहचुंबक न्याय—लोहा गतिहीन और निष्क्रिय होने पर भी चुंबक के आकर्षण से उसके पास जाता है उसी प्रकार पुरुष निष्क्रिय होने पर भी प्रकृति के साहचर्य से क्रिया में तत्पर होता है । (सांख्य)

(८९) वरगोष्ठी न्याय—जिस प्रकार वरपक्ष और कन्यापक्ष के लोग मिलकर विवाह रूप एक ऐसे कार्य का साधन करते हैं जिससे दोनों का अभीष्ट सिद्ध होता है उसी प्रकार जहाँ कई लोग मिलकर सबके हित का कोई काम करते हैं वहाँ यह न्याय कहा जाता है ।

(९०) वह्निधूम न्याय—धूमरूप कार्य देखकर जिस प्रकार कारणरूप अग्नि का ज्ञान होता है उसी प्रकार कार्य द्वारा कारण अनुमान के संबंध में यह उक्ति है । (नैयायिक)

(९१) विल्वखल्लाट न्याय—धूप से व्याकुल गंजा छाया के लिये बेल के पेड़ के नीचे गया । वहाँ उसके सिर पर एक बेल टूट कर गिरा । जहाँ दृष्टसाधन के प्रयत्न में अनिष्ट होता है वहाँ यह उक्ति कही जाती है ।

(९२) विषवृक्ष न्याय—विष का पेड़ लगाकर भी कोई उसे अपने हाथ से नहीं काटता । अपनी पाखी पोसी वस्तु का कोई अपने हाथ से नाश नहीं करता ।

(९३) वीचित्ररंग न्याय—एक के उपरांत दूसरी, इस क्रम से बराबर आनेवाली तरंगों के समान । नैयायिक ककारादि वर्णों की उत्पत्ति वीचित्ररंग न्याय से मानते हैं ।

(९४) बीजांकुर न्याय—बीज से अंकुर है या अंकुर से बीज है यह ठीक नहीं कहा जा सकता । न बीज के बिना अंकुर हो सकता है न अंकुर के बिना बीज । बीज और अंकुर का प्रवाह अनादि काल से चला आता है । दो संबद्ध वस्तुओं के नित्य प्रवाह के दृष्टांत में वेदांती इस न्याय को कहते हैं ।

(९५) वृक्षप्रकंपन न्याय—एक आदमी पेड़ पर चढ़ा। नीचे से एक ने कहा कि यह डाल हिलाओ, दूसरे ने कहा वह डाल हिलाओ। पेड़ पर चढ़ा हुआ आदमी कुछ स्थिर न कर सका कि किस डाल को हिलाऊँ। इतने में एक आदमी ने पेड़ का धड़ ही पकड़ कर हिला डाला जिससे सब डालें हिल गईं। जहाँ कोई एक बात सब के अनुकूल हो जाती है वहाँ इसका प्रयोग होता है।

(९६) वृद्धकुमारिका न्याय—वा वृद्धकुमारी-वाक्य न्याय—कोई कुमारी तप करती करती बुढ़ी हो गई। इंद्र ने उससे कोई एक वर माँगने के लिये कहा। उसने वर माँगा कि “मेरे बहुत से पुत्र सोने के बरतनों में खूब घी दूध और अन्न खाँयें”। इस प्रकार उसने एक ही वाक्य में पति पुत्र गो धन धान्य सब कुछ माँग लिया। जहाँ एक की प्राप्ति से सब कुछ प्राप्त हो वहाँ यह कहावत कही जाती है।

(९७) शतपत्रभेद न्याय—सौ पत्ते एक साथ रखकर छेदने से जान पड़ता है कि सब एक साथ एक काल में ही छिड़ गए पर वास्तव में एक एक पत्ता भिन्न भिन्न समय में छिड़ा। कालांतर की सूक्ष्मता के कारण इसका ज्ञान नहीं हुआ। इस प्रकार जहाँ बहुत से कार्य भिन्न भिन्न समयों में होते हुए भी एक ही समय में हुए जान पड़ते हैं वहाँ यह दृष्टांतवाक्य कहा जाता है। (सांख्य)

(९८) श्यामरक्त न्याय। जिस प्रकार कच्चा काला चढ़ा पकने पर अपना श्याम गुण छोड़कर रक्तगुण धारण करता है उसी प्रकार पूर्व गुण का नाश और अपर गुण का धारण सूचित करने के लिये यह उक्ति कही जाती है।

(९९) श्यालकशुनक न्याय—किसी ने एक कुत्ता पाला था और उसका नाम अपने साले का नाम रखा था। जब वह कुत्ते को नाम लेकर गालियाँ देता तब उसकी स्त्री अपने भाई का अपमान समझकर बहुत चिढ़ती। जिस उद्देश्य से कोई बात नहीं की जाती वह यदि उससे हो जाती है तो यह कहावत कही जाती है।

(१००) संदंशपतित न्याय—सँडसी जिस प्रकार अपने बीच में आई हुई वस्तु को पकड़ती है उसी प्रकार जहाँ पूर्व और उत्तर पदार्थ द्वारा मध्यस्थित पदार्थ का ग्रहण होता है वहाँ इस न्याय का व्यवहार होता है।

(१०१) समुद्रवृष्टि न्याय—समुद्र में पानी बरसने से जैसे कोई उपकार नहीं होता उसी प्रकार जहाँ जिस बात की कोई आवश्यकता या फल नहीं वहाँ यदि वह की जाती है तो यह वक्ति चरितार्थ की जाती है।

(१०२) सर्वापेक्षा न्याय—बहुत से लोगों का जहाँ निमंत्रण होता है वहाँ यदि कोई सबके पहले पहुँचता है तो उसे सबकी प्रतीक्षा करनी होती है। इस प्रकार जहाँ

किसी काम के लिये सबका आसरा देखना होता है वहाँ यह उक्ति कही जाती है।

(१०३) सिंहावलोकन न्याय—सिंह शिकार मारकर जब आगे बढ़ता है तब पीछे फिर फिरकर देखता जाता है। इसी प्रकार जहाँ अगली और पिछली सब बातों की एक साथ आलोचना होती है वहाँ इस उक्ति का व्यवहार होता है।

(१०४) सूचीकटाह न्याय—सूई बनाकर कड़ाह बनाने के समान। किसी लोहार से एक आदमी ने आकर कड़ाह बनाने को कहा। थोड़ी देर में एक दूसरा आया, उसने सूई बनाने के लिये कहा। लोहार ने पहले सूई बनाई तब कड़ाह। सहज काम पहले करना तब कठिन काम में हाथ लगाना इसीके दृष्टांत में यह कहा जाता है।

(१०५) सुंदोपसुंद न्याय—सुंद और उपसुंद दोनों भाई बड़े बली दैत्य थे। एक स्त्री पर दोनों मोहित हुए। स्त्री ने कहा दोनों में जो अधिक बलवान् होगा उसी के साथ मैं विवाह करूँगी। परिणाम यह हुआ कि दोनों लड़ मरे। परस्पर की फूट से बलवान् से बलवान् मनुष्य नष्ट हो जाते हैं यही सूचित करने के लिये यह कहावत है।

(१०६) सोपानारोहण न्याय—जिस प्रकार प्रासाद पर जाने के लिये एक एक सीढ़ी क्रम से चढ़ना होता है उसी प्रकार किसी बड़े काम के करने में क्रम क्रम से चलना पड़ता है।

(१०७) सोपानावरोहण न्याय—सीढ़ियाँ जिस क्रम से चढ़ते हैं उसी के उल्टे क्रम से उतरते हैं। इसी प्रकार जहाँ किसी क्रम से चलकर फिर उसी के उल्टे क्रम से चलना होता है (जैसे, एक बार एक से सौ तक गिनती गिनकर फिर सौ से निम्नानवे, अष्टानवे इस उल्टे क्रम से गिनना) वहाँ यह न्याय कहा जाता है।

(१०८) स्थविरलगुड न्याय—बुढ़े के हाथ से फेंकी हुई लाठी जिस प्रकार ठीक निशाने पर नहीं पहुँचती उसी प्रकार किसी बात के लक्ष्य तक न पहुँचने पर यह उक्ति कही जाती है।

(१०९) स्थूलानिखनन न्याय—जिस प्रकार घर के छप्पर में चाँद देने के लिये खंभा गाड़ने में उसे मिट्टी आदि ढालकर दृढ़ करना होता है उसी प्रकार युक्ति उदाहरण द्वारा अपना पक्ष दृढ़ करना पड़ता है।

(११०) स्थूलारुधती न्याय—विवाह हो जाने पर वर और कन्या को अरुंधती तारा दिखाया जाता है जो दूर होने के कारण बहुत सूक्ष्म है और जल्दी दिखाई नहीं देता। अरुंधती दिखाने में जिस प्रकार पहले सप्तर्षि को दिखाते हैं जो बहुत जल्दी दिखाई पड़ता है और फिर उँगली से बताते हैं कि बसों के पास वह अरुंधती है देखो, इसी

प्रकार किसी सूक्ष्म तत्त्व का परिज्ञान कराने के लिये पहले स्थूल दृष्टांत आदि देकर क्रमशः उस तत्त्व तक ले जाते हैं।

(१११) स्वामिभृत्य न्याय—जिस प्रकार मालिक का काम करके नौकर भी स्वामी की प्रसन्नता से अपने को कृतकार्य समझता है उसी प्रकार जहाँ दूसरे का काम हो जाने से अपना भी काम या प्रसन्नता हो जाय वहाँ के लिये यह उक्ति है।

ऊपर जो न्याय दिए गए हैं उनका व्यवहार प्रायः होता है। और बहुत से न्याय संस्कृत में आते हैं जो विस्तारभय से नहीं दिए गए।

न्यायकर्त्ता—संज्ञा पुं० [सं०] न्याय करनेवाला। दो पक्षों के विवाद का निर्णय करनेवाला। ईसाफ करनेवाला। मुकद्दमे का फैसला करनेवाला हाकिम।

न्यायतः—क्रि० वि० [सं०] (१) न्याय से। धर्म और नीति के अनुसार। ईमान से। (२) ठीक ठीक।

न्यायता—संज्ञा स्त्री० [सं०] न्याय का भाव। औचित्य।

न्यायपथ—संज्ञा पुं० [सं०] आचरण का न्यायसम्मत मार्ग। उचित रीति।

न्यायपरता—संज्ञा स्त्री० [सं०] न्यायशीलता। न्यायी होने का भाव।

न्यायवान्—संज्ञा पुं० [सं० न्यायवत्] [स्त्री० न्यायवती] न्याय पर चलनेवाला। विवेकी। न्यायी।

न्यायसभा—संज्ञा स्त्री० [सं०] वह सभा जहाँ विवादों का निर्णय हो। कचहरी। अदालत।

न्यायाधीश—संज्ञा पुं० [सं०] न्यायकर्त्ता। व्यवहार वा विवाद का निर्णय करनेवाला अधिकारी। मुकद्दमे का फैसला करनेवाला अधिकारी। जज।

न्यायालय—संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जहाँ न्याय अर्थात् व्यवहार वा विवाद का निर्णय हो। वह जगह जहाँ मुकद्दमों का फैसला हो। अदालत। कचहरी।

न्यायी—संज्ञा पुं० [सं० न्यायिन्] न्याय पर चलनेवाला। नीति-सम्मत आचरण करनेवाला। उचित पक्ष ग्रहण करनेवाला।

न्याय्य—वि० [सं०] नाययुक्त। न्यायसंगत।

न्यार—वि० दे० “न्यारा”।

संज्ञा पुं० [हिं० निवार] पसही धान। मुन्यज्ञ।

न्यारा—वि० [सं० निर्मिकट, प्रा० नित्रिअड, नित्रियर, पू० हिं० निन्यार] [स्त्री० न्यारी] (१) जो पास न हो। दूर। (२) जो मिला या लगा न हो। अलग। पृथक्। जुदा।

क्रि० प्र०—करना।—रहना।—होना।

(३) और ही। अन्य। भिन्न। जैसे, यह बात न्यारी है।

(४) निराशा। अनोखा। विचक्षण। जैसे, मथुरा तीन लोक से न्यारी।

न्यारिया—संज्ञा पुं० [हिं० न्यारा] सुनारों के न्यार (राख इत्यादि) को धोकर सोना चाँदी एकत्र करनेवाला।

न्यारे—क्रि० वि० [हिं० न्यारा] (१) पास नहीं। दूर। जैसे, उससे न्यारे रहे। (२) अलग। पृथक्। साथ में नहीं। जैसे, वह हमसे न्यारे हो गया।

न्याव—संज्ञा पुं० [सं० न्याव] (१) नियम-नीति। आचरण-पद्धति। उ०—ऊधो, ताको न्याव है जाहि न सूझै नैन।—सूर। (२) उचित पक्ष। वाजिब बात। कर्त्तव्य का ठीक निर्धारण। (३) विवेक। उचित अनुचित की बुद्धि। ईसाफ। जैसे, जो तुम्हारे न्याव में आवे वही करो। (४) दो पक्षों के बीच निर्णय। विवाद वा झगड़े का निबटेरा। व्यवहार या मुकद्दमे का फैसला। जैसे, राजा करे सो न्याव।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

मुहा०—न्याव चुकाना = झगड़ा निबटाना। विवाद का निर्णय करना। फैसला करना।

न्यास—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० न्यस्त] (१) स्थापन। रखना। (२) यथास्थान स्थापन। जगह पर रखना। ठीक जगह क्रम से लगाना या सजाना। (३) स्थाय्य द्रव्य। किसी की वस्तु जो दूसरे के यहाँ इस विश्वास पर रखी हो कि वह उसकी रक्षा करेगा और मार्गने पर लौटा देगा। धरोहर। धाती। (४) अर्पण। त्याग। (५) संन्यास। (६) पूजा की तांत्रिक पद्धति के अनुसार देवता के भिन्न भिन्न अंगों का ध्यान करते हुए मंत्र पढ़कर उनपर विशेष वशों का स्थापन। यौ०—अंगन्यास। कर्त्तव्यन्यास।

(७) किसी रोग या बाधा की शांति के लिये रोगी या बाधाग्रस्त मनुष्य के एक एक अंग पर हाथ ले जा कर मंत्र पढ़ने का विधान।

न्यासस्वर—संज्ञा पुं० [सं०] वह स्वर जिससे कोई राग समाप्त किया जाय।

न्यासिक—वि० [सं०] धरोहर रखनेवाला। जो किसी की धाती रखे।

न्युञ्ज—वि० [सं०] (१) अधोमुख। औंधा। (२) कुचड़ा। (३) रोग से जिसकी कमर टेढ़ी हो गई हो।

संज्ञा पुं० (१) कुश। (२) माला। (३) एक यज्ञपात्र। (४) कर्मरंग फल। कमरल।

न्यून—वि० [सं०] (१) कम। थोड़ा। अल्प। (२) घटकर। नीचा। (३) नीच। छुद्र।

न्यूनता—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कमी। (२) हीनता।

न्योछावर—संज्ञा स्त्री० दे० “निछावर”।

न्योतना—क्रि० सं० [हिं० न्योता + ना (प्रत्य०)] (१) किसी रीति रस्म या आनंद उत्सव आदि में सम्मिलित होने के लिये इष्ट भिन्न, बंधु-बांधव आदि को बुलाना। निमंत्रित करना।

संयो०—देना ।

(२) दूसरे को अपने यहाँ भोजन करने के लिये बुलाना ।

जैसे, उसने सौ ब्राह्मण न्योते हैं ।

न्योतनी—संज्ञा स्त्री० [हि० न्योतना] वह खाना पीना जो विवाह आदि मंगल अवसरों पर होता है ।

न्योतहरी—संज्ञा पुं० [हि० न्योता] निमंत्रित मनुष्य । न्योते में आया हुआ आदमी ।

न्योता—संज्ञा पुं० [सं० निमंत्रण] (१) किसी रीति रस्म, आनंद उत्सव आदि में सम्मिलित होने के लिये इष्ट, मित्र वंशु-बांधव आदि का आह्वान । बुलावा । निमंत्रण ।

क्रि० प्र०—देना ।

(२) अपने स्थान पर भोजन के लिये बुलावा । भोजन स्वीकार करने की प्रार्थना । जैसे, उन्होंने दस ब्राह्मणों को न्योता दिया है ।

क्रि० प्र०—आना ।—जाना ।—देना ।

(३) वह भोजन जो दूसरे को अपने यहाँ कराया जाय या दूसरे के यहाँ (उसकी प्रार्थना पर) किया जाय । दावत । जैसे, (क) वह न्योता खाने गया है । (ख) हमें न्योता खिलाओ ।

क्रि० प्र०—खाना ।—खिलाना ।

(४) वह भेट या धन जो अपने इष्ट मित्र संबंधी इत्यादि के यहाँ से किसी शुभ या अशुभ कार्य में सम्मिलित होने का न्योता पाकर उसके यहाँ भेजा जाता है । जैसे, उसकी कन्या के विवाह में मैंने १०० न्योता भेजा था ।

न्यौरा—संज्ञा पुं० दे० “नेवला”

संज्ञा पुं० [सं० नूपुर] बड़े दानों का घुंवरू । नेवर ।

न्योला—संज्ञा पुं० दे० “नेवला” ।

न्योली—संज्ञा स्त्री० [सं० नली] नेती, धोती, आदि के समान हठ-योग की एक क्रिया जिसमें पेट के नलों को पानी से साफ करते हैं ।

नहाना*—क्रि० अ० दे० “नहाना” ।

प

प-हिंदी वर्णमाला में स्पर्श व्यंजनों के अंतिम वर्ग का पहला वर्ण ।
इसका उच्चारण ओठ से होता है इसलिये शिवा में इसे ओष्ठ्य
वर्ण कहा गया है । इसके उच्चारण में दोनों ओठ मिलते हैं
इसलिये यह स्पर्श वर्ण है । इसके उच्चारण में शिवा के अनुसार
विवार, श्वास, घोष और अल्पप्राण नामक प्रयत्न लगते हैं ।

पंक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कीचड़ । कीच ।

यौ०—पंकज । पंकरुह ।

(२) पानी के साथ मिठा हुआ पोतने योग्य पदार्थ । लेप ।

उ०—श्याम अंग चंदन की आभा नागरि केसरि अंग ।

मलयज पंक कुमकुमा मिलि कै जल जमुना इक रंग ।—सूर ।

पंककीर-संज्ञा पुं० [सं०] टिटिहरी नाम की चिड़िया ।

पंकक्रीड-वि० [सं०] कीचड़ में खेलनेवाला ।

संज्ञा पुं० सूअर ।

पंकगडुक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की छोटी मछली ।

पंकग्राह-संज्ञा पुं० [सं०] मगर ।

पंकज-वि० [सं०] कीचड़ में उत्पन्न होनेवाला ।

संज्ञा पुं० कमल ।

पंकजन्मा-संज्ञा पुं० [सं० पंकजन्मन्] कमल ।

पंकजराग-संज्ञा पुं० [सं०] पद्मराग मणि । उ०—परिजन सहित
राय रानिन कियो मज्जन प्रेम प्रयाग । तुलसी फल चार
को ताके मनि मरकत पंकजराग ।—तुलसी ।

पंकजवाटिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] तेरह अक्षरों का एक वर्णवृत्त
जिसके प्रत्येक चरण में एक भगण, एक नगण, दो जगण और
अंत में एक लघु होता है । इसे एकावली और कंजावली भी
कहते हैं । उ०—श्री रघुवर तुम हो जगनायक । देखहु
दशरथ को सुखदायक । सोदर सहित पिता पदपावन । वंदन
किय तब ही मनभावन ।—केशव ।

पंकजात-संज्ञा पुं० [सं०] कमल ।

पंकजासन-संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मा ।

पंकजित्-संज्ञा पुं० [सं०] गरुड़ के एक पुत्र का नाम ।

पंकजिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पद्माकर । कमलाकर । (२)
कमलिनी । कमलवृत्त ।

पंकदिग्धशरीर-संज्ञा पुं० [सं०] एक दानव का नाम ।

पंकदिग्धांग-संज्ञा पुं० [सं०] कार्तिकेय के एक अनुचर का नाम ।

पंकधूम-संज्ञा पुं० [सं०] जैतियों के एक नरक का नाम ।

पंकपर्पटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] सौराष्ट्रमृत्तिका । गोपी चंदन ।

पंकप्रभा-संज्ञा पुं० [सं०] कीचड़ से भरे हुए एक नरक का नाम ।

पंकमंडूक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) घोंघा । (२) छोटी सीप । सुतही ।

पंकरुह-संज्ञा पुं० [सं०] कमल ।

पंकवारि-संज्ञा स्त्री० [सं०] काँजी ।

पंकवास-संज्ञा पुं० [सं०] केकड़ा ।

पंकशुक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ताल में होनेवाली सीप ।
सुतही । (२) घोंघा ।

पंकार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक पेड़ जो गड़हों के कीचड़ों में
होता है । इस पौधे में स्त्री और पुरुष दो अलग जातियाँ
होती हैं । (२) जलकुञ्जक । (३) सिंघाड़ा । (४) सेवार ।
(५) पुल । (६) बाँध । सेतु । (७) सीढ़ी ।

पंकिल-वि० [सं०] जिसमें कीचड़ हो । कीचड़वाला ।

पंकेज-संज्ञा पुं० दे० “पंकज” ।

पंकेरुह-संज्ञा पुं० [सं०] पंकरुह । कमल ।

पंकेश्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] जोंक ।

पंक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ऐसा समूह जिसमें बहुत सी
(विशेषतः एक ही या एक ही प्रकार की) वस्तुएँ एक
दूसरे के उपरान्त एक सीध में हों । श्रेणी । पंक्ति । कतार ।
लाइन । (२) चालीस अक्षरों का एक वैदिक छंद जिसका
वर्ण नील, गोत्र भार्गव, देवता वरुण और स्वर पंचम है ।
(३) एक वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में पाँच पाँच अक्षर
अर्थात् एक भगण और अंत में दो गुरु होते हैं । उ०—
भाग गुनै को । नारि नरा को । नाहि लखंती । अक्षर पंक्ती ।
(४) दस की संख्या । (५) सेना में दस दस योद्धाओं की
श्रेणी । (६) कुलीन ब्राह्मणों की श्रेणी ।

यौ०—पंक्तिच्युत । पंक्तिपावन ।

(७) भोज में एक साथ बैठकर खानेवालों की श्रेणी ।
जैसे, उनके साथ हम एक पंक्ति में नहीं खा सकते ।

यौ०—पंक्तिभेद ।

विशेष—हिंदू आचार के अनुसार पतित आदि के साथ एक
पंक्ति में बैठकर भोजन करने का निषेध है ।

पंक्तिकंडक-वि० [सं०] पंक्तिदूषक ।

पंक्तिकृत-वि० [सं०] श्रेणीबद्ध ।

पंक्तिग्रीव-संज्ञा पुं० [सं०] रावण ।

पंक्तिचर-संज्ञा पुं० [सं०] कुरर पक्षी ।

पंक्तिच्युत-वि० [सं०] किसी कलंक, दोष आदि के कारण जाति
की श्रेणी से बाहर किया हुआ । बिरादरी से निकाला हुआ ।

पंक्तिदूषक-वि० [सं०] पंगत को दूषित करनेवाला । नीच । कुजाति ।
जिसके साथ एक पंक्ति में बैठ कर भोजन नहीं कर सकते ।

संज्ञा पुं० मनु आदि के मत से ऐसे ब्राह्मण जिनको आहु
में भोजन कराना वा दानादि देना निषिद्ध माना गया है ।
इनकी गणना मनुस्मृति अध्याय ३ में दी गई है ।

पंक्तिपावन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह ब्राह्मण जिसको यज्ञादि
में बुलाना, भोजन कराना और दान देना श्रेष्ठ माना गया

है। मनु आदि स्मृतियों में ऐसे ब्राह्मणों की गणना दी गई है। शास्त्रों का कथन है कि ऐसा ब्राह्मण यदि एक भी मिले तो वह ब्राह्मणों की पंक्ति को पवित्र कर देता है। (२) वह गृहस्थ जो पंचाग्नियुक्त हो।

पंक्तिबद्ध—वि० [सं०] श्रेणीबद्ध। पंक्ति में लगा हुआ। कतार में बैधा हुआ।

पंक्तिरथ—संज्ञा पुं० [सं०] राजा दशरथ।

पंक्तिवाह्य—वि० [सं०] पंगति से निकाला हुआ। जातिच्युत।

पंक्तिवीज—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बबूल। (२) उरगा। (३) कर्णिकार।

पंख—संज्ञा पुं० [सं० पक्ष, प्रा० पख] पर। डैना। वह अल्पवय जिससे चिड़िया, फतिंगे आदि हवा में उड़ते हैं। उ०—(क) पंख छता परबस परा सूआ के बुधि नाहि।—कबीर। (ख) काटेसि पंख परा खग धरनी।—तुलसी।

मुहा०—पंख जमना = (१) न रहने का लक्षण उत्पन्न होना। भागने या चले जाने का लक्षण देख पड़ना। जैसे, इस नौकर को भी अब पंख जमे, अब यह न रहेगा। (२) हथर उधर घूमने की इच्छा देख पड़ना। वहकने या घुरे रास्ते पर जाने का रंग दंग दिखाई पड़ना। जैसे, इस लड़के को भी अब पंख जम रहे हैं। (३) प्राण खाने का लक्षण दिखाई देना। श्वाभत आना। (बरसात में चोंटों चोंटियों तथा और कीड़ों को पर निकलते हैं और वे उड़ उड़ कर मर जाते हैं इससे यह मुहा० बना।) पंख लगाना = पक्षी के समान वेगवान् होना।

पंखड़ी—संज्ञा स्त्री० दे० 'पखड़ी'।

पंखा—संज्ञा पुं० [हिं० पंख] [स्त्री० अल्प० पंखी] वह वस्तु जिसे हिला कर हवा का झोंका किसी ओर ले जाते हैं। बिजना। बेना।

विशेष—यह भिन्न भिन्न वस्तुओं का तथा भिन्न भिन्न आकार और आकृति का बनाया जाता है और इसके हिलाने से वायु चलकर शरीर में लगती है। छोटे छोटे बेनों से लेकर जिस लोग अपने हाथों से लेकर हिलाते हैं, बड़े बड़े पंखों तक के लिये जिसे दूसरे हाथ में पकड़ कर हिलाते हैं या जो छत में लटकाए जाते हैं और ढोरी के सहारे से खींच जाते हैं वा जिन्हें चरखी से चलाकर वा बिजली आदि से हिलाकर वायु में गति उत्पन्न की जाती है सब के लिये केवल 'पंखा' शब्द से काम चल सकता है। इसे पंख के आकार का होने के कारण अथवा पहले पंख से बनाए जाने के कारण पंखा कहते हैं। उ०—अवनि सेज पंखा पवन अब न कछु परवाह।—पद्माकर।

क्रि० प्र०—चलाना।—खींचना।—मलना।—हिलाना।—हुलाना।

मुहा०—पंखा करना = पंखा हिला या हुलाकर वायु संचारित करना।

पंखाकुली—संज्ञा पुं० [हिं० पंखा + कुली] वह कुली जो पंखा खींचने के लिये नियत किया गया हो।

पंखाज—संज्ञा पुं० दे० 'पखाऊज'।

पंखापोश—संज्ञा पुं० [हिं० पंखा + फा० पोश] पंख के ऊपर का गिलाफ। उ०—पिहित पराई बात इंगित सेों बोध करै पी को देखि श्रमित उतारयो पंखापोश है।—दूबह।

पँखियाँ—संज्ञा स्त्री० [हिं० पंख] (१) भूसे वा भूसी के महीन टुकड़े। पाँकी। (२) पखड़ी।

पंखी—संज्ञा पुं० [सं० पक्षा, पा० पखी] (१) पक्षी। चिड़िया। उ०—पगै पगै भुईँ चंपत आवा। पंखिन देखि सबन डर खावा।—जायसी। (२) कबूतर के पंख से बँधी हुई सूत की बत्ती जिसे ढरकी के छेदों में अँटकाते हैं (जुलाहे)। (३) पाँखी। फतिंगा। (४) एक प्रकार का ऊनी कपड़ा जो भेड़ के बाल से पहाड़ों में बुना जाता है। (५) वह पतली पतली हलकी पत्तियाँ जो साखू के फल के सिरे पर होती हैं। (६) पखड़ी।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पंखा] छोटा पंखा।

पँखुड़ा—संज्ञा पुं० [सं० पक्ष, हिं० पंख] मनुष्य के शरीर में कंधे के पास का वह भाग जहाँ हाथ जुड़ा रहता है। पखोरा। कंधे और बाँह का जोड़।

पँखुड़ी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पंख] फूल का दल। पखड़ी। उ०—(क) कमल सूख पखुड़ी भई रानी। गलि गलि कं मिलि छार झुनानी।—जायसी। (ख) बालता मध्ये में बसे हीरा बरन सरूप। सान पंखुरी सुत की किंचित वस्तु अनूप।—कबीर। (ग) मैं बरजी कै बार तू इत कित केति करौट। पंखुरी गढ़ै गुलाब की परिहै गात खगौट।—बिहारी।

पँखुरा—संज्ञा पुं० दे० 'पँखुड़ा'।

पँखेरू—संज्ञा पुं० दे० 'पखेरू'।

पंग—वि० [सं० पंगु] (१) लँगड़ा। (२) रुकथ। बेकाम। उ०—नख सिख रूप देखि हरिजू के होत नयन-गति पंग।—सूर। संज्ञा पुं० [देश०] एक पेड़ जो आसाम की ओर सिलहट कछार आदि में होता है। इसकी लकड़ी बहुत मजबूत होती है और मकानों में लगती है। इसका कांयला भी बहुत अच्छा होता है। लकड़ी से एक प्रकार का रंग भी निकलता है। संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का नमक जो खिवरपूज से आता है।

पंगत, पंगति—संज्ञा स्त्री० [सं० पंक्ति, पा० पंती] (१) पंक्ति। उ०—वरदंत की पंगति कुंद कली अधराधर पल्लव खोजन की। चपला चमकै घन बीच जगै छवि मोतिन माल अमोलन की। घुघुगीली लटै लटकै मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की। निवछावर प्रान करै तुलसी बलि जाउँ लला इन बोलन की।—तुलसी।

क्रि० प्र०—जोड़ना।

(२) भोज के समय भोजन करनेवालों की पंक्ति।

क्रि० प्र०—बैठना।—उठना।—लगाना।

(२) भोज ।

क्रि० प्र०—करना ।—लगाना ।—होना ।—देना ।

(२) समाज । सभा । (२) जुलाहों के करवे का एक औजार जो दो सरकंडों से बनाया जाता है ।

विशेष—इन्हें कैंची की तरह स्थान स्थान पर गाड़ देते हैं । इनके ऊपरी छेदों पर ताने के किनारे के सूत इस लिये फँसा दिए जाते हैं जिसमें ताना फैला रहे ।

पँगला—वि० [सं० पंगु + ल (प्रत्य०)] [स्त्री० पंगला] पंगु । लँगड़ा ।

पंगा—वि० [सं० पंगु] [स्त्री० पंगा] (१) लँगड़ा । (२) स्तब्ध । बेकाम । उ०—नागरी सकल संकेत आकारिनी गन्त गुन-गनन मति होत पंगी ।—नागरीदास ।

पंगायत—संज्ञा पुं० [हिं० पग] पायताना । गोडवारी ।

पंगात—संज्ञा पुं० [?] एक प्रकार की मछली ।

पंगी—संज्ञा स्त्री० [सं० पंक, हिं० पांक] धान के खेत में लगनेवाला एक कीड़ा ।

पंगु—वि० [सं०] जो पैर से चल न सकता हो । लँगड़ा । उ०—
(क) मूक होहिं वाचाल पंगु चढहिं गिरिवर गहन । जासु कृपा सु दयाल द्रवौ सकल कलिमल दहन ।—तुलसी । (ख) मति मारति पंगु भई जो निहारि विचारि फिरी उपमा न पवै ।—तुलसी ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) शनैश्चर । (२) एक रोग । यह मनुष्य के पैरों में जँघों में होता है । यह बात रोग का भेद है । वैद्यक का मत है कि कपूर में रहनेवाली वायु जँघों की नसों को पकड़ कर सिकोड़ देती है जिससे रोगी के पैर सिकुड़ जाते हैं और बढ़ चल फिर नहीं सकता । (३) एक प्रकार का साधु जो भिक्षा वा मलमूत्रोत्सर्ग के अतिरिक्त अपने स्थान से उठ किसी और काम के लिये दिन भर में एक योजन से बाहर नहीं जाता ।

पंगुगति—संज्ञा स्त्री० [सं०] वर्णिक छंदों का एक दोष । जब किसी वर्णिक छंद में लघु के स्थान में गुरु वा गुरु के स्थान में लघु आ जाता है तब यह दोष माना जाता है । जैसे, “फूटि गए श्रुति ज्ञान के केशव आँखि अनेक विवेक की फूटी ।” इसमें ज्ञान के साथ ‘के’ और विवेक के साथ ‘की’ गुरु हैं । यहाँ नियमानुसार लघु होना चाहिए था ।

पंगुग्राह—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मगर । (२) मकर राशि ।

पंगुल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंडी का पेड़ । (२) सफेद घोड़ा जो सफेद कान के रंग का हो । (२) सफेद रंग का घोड़ा ।

वि० [सं० पंगु] पंगु । लँगड़ा ।

पंगुल्यहारिणी—संज्ञा स्त्री० [सं०] चंगोनी ।

पंगो—संज्ञा स्त्री० [हिं० पांक] मिट्टी जो नदी अपने किनारे बरसात वीत जाने पर ढाँकती है ।

पंच—वि० [सं०] पाँच । जो संख्या में चार से एक अधिक हो ।

यौ०—पंचपात्र । पंचनख । पंचानन । पंचासृत । पंचशर । पंचेन्द्रिय ।

संज्ञा पुं० (१) पाँच की संख्या वा अंक । (२) पाँच वा अधिक मनुष्यों का समुदाय । समाज । जनसाधारण । सर्व-साधारण । जनता । लोक । जैसे, पंच की आज्ञा सिर पर है । उ०—(क) पंच कहैं शिव सती विवाही । पुनि अबडेरि मरायनि ताही ।—तुलसी । (ख) साँई तेजी तिलन सों कियो नेह निर्वाह । छूटि फटकि ऊजर करी दई बड़ाई ताहि । दई बड़ाई ताहि पंच महँ सिंगरे जानी । दै कोरहू में पेरि करी एकत्तर घनी ।—गिरिधर ।

मुहा०—पंच की भीख = दस आदमियों का अनुग्रह । सर्वसाधारण की कृपा । सब का आशीर्वाद । उ०—और ग्वाल सब गृह आए गोपालहि बेर भई ।.... राज करें वे धेनु तुम्हारी नंदहि कहति सुनाई । पंच की भीख सूर बलि मोहन कहति जसोदा माई ।—सूर । पंच की दुहाई = सब लोगों से अन्याय दूर करने वा सहायता करने की पुकार । पंच परमेश्वर = दस आदमियों का कहना ईश्वर वाक्य के तुल्य है ।

(३) पाँच वा अधिक आदमियों का समाज जो किसी झगड़े या मामले को निबटाने के लिये एकत्र हो । न्याय करने-वाली सभा ।

क्रि० प्र०—बुलाना ।

यौ०—सरपंच । पंचनामा ।

मुहा०—(किसी को) पंच मानना या बदना = झगड़ा निबटाने के लिये किसी को नियत करना । झगड़ा निबटानेवाला स्वीकार करना । उ०—दोनों ने मुझे पंच माना ।—शिवप्रसाद ।

(४) वह जो फौजदारी के दौरे के मुकदमे में दौरा जज की अदालत में मुकदमे के फैसले में जज की सहायता के लिये नियत हो । (५) दलाल । (दलाल)

पंचक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाँच का समूह । पाँच का संग्रह । जैसे, इंद्रिय पंचक, पद्यपंचक । (२) वह जिसके पाँच अवयव या भाग हों । (३) पाँच सैकड़ों का व्याज । (४) धनिष्ठा आदि पाँच नक्षत्र जिनमें किसी नए कार्य का आरंभ निषिद्ध है । (फलित) । पचला । (५) शकुनशास्त्र । (६) पाशुपत दर्शन में गिनाई हुई ८ वस्तुएँ जिनमें से प्रत्येक के पाँच पाँच भेद किए गए हैं । वे आठ वस्तुएँ ये हैं—लाभ, मल, उपाय, देश, अवस्था, विशुद्धि, दीक्षा, कारिक और बल ।

पंचकन्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार पाँच स्त्रियाँ जो सदा कन्या ही रहें अर्थात् विवाह आदि करने पर भी जिनका कन्यात्व नष्ट नहीं हुआ । अहल्या, द्रौपदी, कुंती, तारा और मंदोदरी ये पाँच कन्याएँ कही गई हैं ।

पंचकपाल—संज्ञा पुं० [सं०] वह पुरोडाश जो पाँच कपालों में पृथक् पृथक् पकाया जाय।

पंचकर्पूर—संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक देश जो पश्चिम ओर था और जिसे नकुल ने राजसूय यज्ञ के समय जीता था।

पंचकर्म—संज्ञा पुं० [सं०] (१) चिकित्सा की पाँच क्रियाएँ—वमन, विरेचन, नस्य, निरुहवस्ति और अनुवासन। कुछ लोग निरुहवस्ति और अनुवस्ति के स्थान में स्नेहन और वस्तिकरण मानते हैं। (२) वैशेषिक के अनुसार पाँच प्रकार के कर्म—उत्तेपण, अवत्तेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन।

पंचकल्याण—संज्ञा पुं० [सं०] वह घोड़ा जिसका सिर (माथा) और चारों पैर सफेद हों और शेष शरीर लाल, काला या किसी रंग का हो। ऐसा घोड़ा शुभ फल देनेवाला माना जाता है।

पंचकवल—संज्ञा पुं० [सं०] पाँच प्रास अन्न जो स्मृति के अनुसार खाने के पूर्व कुत्ते, पतित, कोढ़ी, रोगी, कौप आदि के लिये अलग निकाल दिया जाता है। यह कृत्य बलिवैश्वदेव का अंग माना जाता है। अग्राशन। अग्रासन। उ०—पंचकवल करि जेवन लागे। गारि गान करि अति अनुरागे।—तुलसी।

पंचकषाय—संज्ञा पुं० [सं०] तंत्र के अनुसार इन पाँच वृत्तों का कषाय—जामुन, सेमर, खिरौटी, मौलसिरी और बेर।

विशेष—यह कषाय छाल को पानी में भिगोकर निकाला जाता है और दुर्गा के पूजन में काम आता है।

पंचकाम—संज्ञा पुं० [सं०] तंत्रसार के अनुसार पाँच कामदेव जिन के नाम ये हैं—काम, मन्मथ, कंदर्प, मकरध्वज और मीनकेतु।

पंचकारण—संज्ञा पुं० [सं०] जैन शास्त्र के अनुसार पाँच कारण जिनसे किसी कार्य की उत्पत्ति होती है। वे ये हैं—काल, स्वभाव, नियति, पुरुष और कर्म।

पंचकुर—[संज्ञा स्त्री० [हिं० पाँच + कुर] एक प्रकार की बँटाई जिसमें खेत की उपज के पाँच भागों में से एक भाग जमींदार लेता है।

पंचकृत्य—संज्ञा पुं० [सं०] (१) ईश्वर या महादेव के ये पाँच प्रकार के कर्म—सृष्टि, स्थिति, ध्वंस, विधान और अनुग्रह। (सर्वदर्शन०)। (२) पक्षपौड़ वृक्ष। पखौड़े का पेड़।

पंचकृष्ण—संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक कीट का नाम।

पंचकोण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाँच कोने। (२) कुंडली में लग्न से पाँचवाँ और नवाँ स्थान।

वि० जिसमें पाँच कोने हों। पँचकोना।

पंचकोल—संज्ञा पुं० [सं०] पीपल, पिपरामूल, चन्य, चित्रकमूल और सोंठ। वैद्यक में इन्हें पाचन, रुचिकर तथा गुल्म और झीड़ा रोगनाशक माना है।

पंचकोश—संज्ञा पुं० [सं०] उपनिषद् और वेदांत के अनुसार शरीर संघटित करनेवाले पाँच कोश (स्तर) जिनके नाम ये हैं—अन्नमयकोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश, विज्ञानमयकोश और आनंदमयकोश। इनमें स्थूल शरीर को अन्नमयकोश, पाँचों कर्माद्रियों सहित प्राण को प्राणमयकोश, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के सहित मन को मनोमयकोश, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के सहित बुद्धि को विज्ञानमय कोश तथा अहंकारात्मक वा अविद्यात्मक को आनंदमय कोश कहते हैं। पहले को स्थूल शरीर, दूसरे को सूक्ष्म शरीर और तीसरे चौथे और पाँचवें को कारण शरीर कहते हैं।

पंचकोष—संज्ञा पुं० दे० “पंचकोश”।

पंचकोस—संज्ञा पुं० [सं० पंचकोश] [संज्ञा पंचकोसी] पाँच कोस की लंबाई और चौड़ाई के बीच बसी हुई काशी की पवित्र भूमि। काशी। उ०—पंचकोस पुन्य को सुआरथ परमारथ को जानि आप अपने सुपास बास दियो है।—तुलसी।

पंचकोसी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पंचकोस] काशी की परिक्रमा।

पंचक्रोश—संज्ञा पुं० [सं०] पंचकोस। काशी। उ०—स्वारथ परमारथ परिपूरन पंचक्रोश महिमा सी।—तुलसी।

पंचकलेश—संज्ञा पुं० [सं०] योगशास्त्रानुसार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक पाँच प्रकार के क्लेश।

पंचक्षारगण—संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार पाँच मुख्य क्षार या लवण—काचलवण, सैधव, सामुद्र, विट् और सौवर्चल।

पंचगंगा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पाँच नदियों का समूह—गंगा, यमुना, सरस्वती, किरणा और धृतपापा। इसे पंचनद भी कहते हैं। (२) काशी का एक प्रसिद्ध स्थान जहाँ गंगा के साथ किरणा और धृतपापा नदियाँ मिली थीं। ये दोनों नदियाँ अब पटकर लुप्त हो गई हैं।

पंचगण—संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक शास्त्रानुसार इन पाँच ओषधियों का गण—विदारीगंधा, बृहती, पृश्निपर्णी, निदिग्धिका और भृक्ष्मांड।

पंचगत—संज्ञा पुं० [सं०] बीजगणित के अनुसार वह राशि जिसमें पाँच वर्ण हों।

पंचगव्य—संज्ञा पुं० [सं०] गाय से प्राप्त होनेवाले पाँच द्रव्य, दूध, दही, घी, गोबर और गोमूत्र—जो बहुत पवित्र माने जाते हैं और पापों के प्रायश्चित्त आदि में खिलाए जाते हैं।

विशेष—पंचगव्य में प्रत्येक द्रव्य का परिमाण इस प्रकार कहा गया है—घी, दूध, गोमूत्र एक एक पल, दही एक प्रसृति (पसर) और गोबर तीन तोले।

पंचगव्यधृत—संज्ञा पुं० [सं०] आयुर्वेद के अनुसार बनाया हुआ एक घृत जो अपस्मार (मिरगी) और उन्माद में दिया जाता है।

विशेष—गाय का दूध, घी, दही, गोबर का रस और गोमूत्र

चार चार सेर और पानी सोलह सेर सबको एक साथ एक दिन पकाने पर यह बनता है।

पंचगीत—संज्ञा पुं० [सं०] श्रीमद्भागवत के दशमस्कंध के अंतर्गत पाँच प्रसिद्ध प्रकरण जिनके नाम ये हैं, वेणुगीत, गोपीगीत, युगलगीत, अमरगीत और महिषीगीत।

पंचगुप्त—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कछुवा। (२) चार्वाक दर्शन जिसमें पंचेंद्रिय का गोपन प्रधान माना गया है।

पंचगुप्ति रक्षा—संज्ञा स्त्री० [सं०] असुरवर्ग। स्पृक्का।

पंचगौड़—संज्ञा पुं० [सं०] देशानुसार विंध्य के उत्तर बसनेवाले ब्राह्मणों के पाँच भेद—सारस्वत, कान्यकुब्ज, गौड़, मैथिल और उत्कल।

विशेष—यह विभाग स्कंदपुराण के सह्याद्रि खंड में मिलता है, और किसी प्राचीन ग्रंथ में नहीं मिलता। दे० “गौड़”।

पंचचक्र—संज्ञा पुं० [सं०] तंत्रशास्त्रानुसार पाँच प्रकार के चक्र जिनके नाम ये हैं—राजचक्र, महाचक्र, देवचक्र, वीरचक्र, और पशुचक्र।

पंचचत्वारिंश—वि० [सं०] पैंतालीसवाँ।

पंचचत्वारिंशत्—संज्ञा स्त्री० [सं०] पैंतालीस।

पंचचामर—संज्ञा पुं० [सं०] एक छंद का नाम। इसके प्रत्येक चरण में जगण रगण, जगण, रगण, गगण और अंत में गुरु होते हैं। इसे नाराच और गिरिराज भी कहते हैं। दे० “नाराच”।

पंचचूड़ा—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अप्सरा। (रामायण)

पंचजन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाँच वा पाँच प्रकार के जनों का समूह। (२) गंधर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस। (३) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद। (४) मनुष्य। जनसमुदाय। (५) पुरुष। (६) मनुष्य जीव और शरीर से संबंध रखनेवाले प्राण आदि। (७) एक प्रजापति का नाम। (८) एक असुर जो पाताल में रहता था। यह कृष्णचंद्र के गुरु संदीपनाचार्य के पुत्र को चुरा ले गया था। कृष्णचंद्र इसे मार कर गुरु के पुत्र को छुड़ा लाए थे। इसी असुर की हड्डी से पंचजन्य शंख बना था जिसे भगवान् कृष्णचंद्र बजाया करते थे। (९) राजा सगर के पुत्र का नाम।

पंचजनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] पाँच मनुष्यों की मंडली। पंचायत।

पंचजनीन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) भाँड़। नकल करनेवाला। (२) नट। स्वांग बनानेवाला। अभिनेता।

पंचजन्य—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रसिद्ध शंख जिसे कृष्णचंद्र बजाया करते थे। यह एक राक्षस की हड्डी का था जिसका नाम पंचजन था।

पंचतंत्री—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की वीणा जिसमें पाँच तार लगते हैं।

वि० [सं० पंचतंत्रिन्] जिसमें पाँच तार हों। पाँच तार का बना हुआ।

पंचतत्त्व—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पंचभूत। पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश। (२) वाम मार्ग के अनुसार मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन। इन्हें पाँच प्रकार भी कहते हैं। (३) तंत्र के अनुसार गुरुतत्त्व, मंत्रतत्त्व, मनस्तत्त्व, देवतत्त्व और ध्यानतत्त्व।

पंचतन्मात्र—संज्ञा पुं० [सं०] सांख्य में पाँच स्थूल महाभूतों के कारण-रूप सूक्ष्म महाभूत जो अतींद्रिय माने गए हैं। इनके नाम हैं शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध। तन्मात्र ये इस कारण कहलाते हैं कि ये विशुद्ध रूप में रहते हैं अर्थात् एक में किसी दूसरे का मेल नहीं रहता। स्थूल भूत विशुद्ध नहीं होते। एक भूत में दूसरे भूत भी सूक्ष्म रूप में मिले रहते हैं। विशेष—दे० “तन्मात्र”।

पंचतपा—संज्ञा पुं० [सं० पंचतपस्] पंचाग्नि तापनेवाला। तपस्वी। चारों ओर आग जलाकर धूप में बैठकर तप करनेवाला।

पंचतरु—संज्ञा पुं० [सं०] पाँच वृक्ष—मंदार, पारिजात, संतान, कल्पवृक्ष और हरिचंदन।

पंचता—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पाँच का भाव। (२) शरीर घटित करनेवाले पाँचों भूतों का अलग अलग अवस्थान। मृत्यु। विनाश।

पंचताल—संज्ञा पुं० [सं०] अष्टताल का एक भेद। इस भेद में पहले युगल, फिर एक, फिर युगल और अंत में शून्य होता है।

पंचतालेश्वर—संज्ञा पुं० [सं०] शुद्ध जाति का एक राग।

पंचतित्त—संज्ञा पुं० [सं०] आयुर्वेद में इन पाँच कड़ुई ओषधियों का समूह—गिलोय (गुरुच), कंटकारि (भटकटैया), सोंठ, कुट और चिरायता (चक्रदत्त)। पंचतित्त का काढ़ा उवर में दिया जाता है। भावप्रकाश में पंचतित्त ये हैं—नीम की जड़ की छाल, परवल की जड़, अहूसा, कंटकारि (कटैया) और गिलोय। यह पंचतित्त उवर के अतिरिक्त विसर्प और कुछ आदि रक्तदोष के रोगों पर भी चलाता है।

पंचतुण—संज्ञा पुं० [सं०] इन पाँच तृणों का समूह—कुश, काँस, शर, (सरकंडा) दुर्भ (डाभ) और ईख। भावप्रकाश के मत से—शालि (धान) ईख, कुश, काश और शर।

पंचतोलिया—संज्ञा पुं० [?] एक प्रकार का भीना महीन कपड़ा। उ०—(क) सहज सेत पंचतोरिया पहिरे अति छवि देत।—बिहारी। (ख) सेत जरतारी की उज्यारी कंचुकी को कसि अनियारी डीठि प्यारी पैन्हौ पंचतोरिया।—देव।

पंचत्रिंश—वि० [सं०] पैंतीसवाँ।

पंचत्रिंशत्—वि० [सं०] पैंतीस।

पंचत्व—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाँच का भाव। (२) शरीर

संघटित करनेवाले पाँचों भूतों का अलग अलग अवस्थान ।
मृत्यु । विनाश ।

क्रि० प्र०—होना ।

मुहा०—पंचत्व प्राप्त होना = मरना ।

पंचथु—संज्ञा पुं० [सं०] कोयल ।

पंचदश—वि० [सं०] पंद्रह ।

संज्ञा पुं० पंद्रह की संख्या ।

पंचदशी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पूर्णमासी । (२) अमावास्या ।
(३) वेदांत का एक प्रसिद्ध ग्रंथ ।

पंचदेव—संज्ञा पुं० [सं०] पाँच प्रधान देवता जिनकी उपासना आजकल हिंदुओं में प्रचलित है—आदित्य, रुद्र, विष्णु, गणेश और देवी ।

विशेष—इन देवताओं में यद्यपि जैन वैदिक हैं पर सब का ध्यान और सब की पूजा पौराणिक और तांत्रिक पद्धति के अनुसार होती है । इन देवताओं में प्रत्येक के अनेक विग्रह हैं जिनके अनुसार अनेक नाम रूपों से उपासना होती है । कुछ लोग तो पाँचों देवताओं की उपासना समान भाव से करते हैं और कुछ लोग किसी विशेष संप्रदाय के अंतर्गत होकर किसी विशेष देवता की उपासना करते हैं । विष्णु के उपासक वैष्णव, शिव के उपासक शैव, सूर्य के उपासक सौर और गणपति के उपासक गणपत्य कहलाते हैं ।

पंचद्रविड—संज्ञा पुं० [सं०] उन ब्राह्मणों के पाँच भेद जो विंध्या-चल के दक्षिण बसते हैं—महाराष्ट्र, तैलंग, कर्णाट, गुजरा और द्रविड ।

पंचनख—संज्ञा पुं० [सं०] वह पशु जिसके हाथ और पैरों में पाँच पाँच नख होते हैं । जैसे, बंदर ।

विशेष—सृष्टियों में इनके मांस खाने का निषेध है ।

पंचनद—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाँच नदियों का समाहार । पंजाब की वे पाँच प्रधान नदियाँ जो सिंधु में मिलती हैं—सतलज, व्यास, रावी, चनाब और झेलम । (२) पंजाब प्रदेश जहाँ उक्त पाँच नदियाँ बहती हैं । (३) काशी के अंतर्गत एक तीर्थ जिसे पंचगंगा कहते हैं ।

पंचनवत—वि० [सं०] पंचानवेवाँ ।

पंचनवति—संज्ञा स्त्री० [सं०] पंचानवे की संख्या ।

पंचनाथ—संज्ञा पुं० [सं० पंच + नाथ] बदरीनाथ, द्वारकानाथ, जगन्नाथ, रंगनाथ और श्रीनाथ । इ०—पंचनाथ कलिपावन जोई । निरखे नर नारायण होई ।—गोपाल ।

पंचनामा—संज्ञा पुं० [हिं० पंच + नाम] वह कागज जिस पर पंच लोगों ने अपना निर्णय या फैसला लिखा हो ।

पंचनिंब—संज्ञा पुं० [सं०] नीम के पाँच अवयव—पत्ता, छाल, फूल, फल और मूल ।

पंचपक्षी—संज्ञा पुं० [सं० पंचपक्षिन्] एक प्रकार का शकुन शास्त्र

जिसमें अ, इ, उ, ए और ओ इन पाँच वर्णों को पक्षी कल्पना करके शुभाशुभ विचार किया जाता है ।

पंचपत्र—संज्ञा पुं० [सं०] एक पेड़ । चंडालकंद ।

पंचपनड़ी—संज्ञा स्त्री० दे० “पचौली” ।

पंचपर्णिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] गोरक्षी नाम का पौधा ।

पंचपल्लव—संज्ञा पुं० [सं०] इन पाँच वृक्षों के पल्लव—आम, जामुन, कैथ, बिजौरा (बीजपूरक) और बेल । कोई कोई आम वट और मौलसिरी के पल्लवों को पंचपल्लव में लेते हैं । पूजा में घट के ऊपर रखने के लिये पंचपल्लव का प्रयोजन पड़ता है ।

पंचपात—संज्ञा पुं० [सं० पंचपत्र] पंचौली नाम का पौधा । पंचपनड़ी ।

पंचपात्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) गिलास के आकार का चौड़े मुँह का एक बरतन जो पूजा में जल रखने के काम में आता है । इसके मुँह का घेरा पेंदे के घेरे के बराबर ही होती है । (२) पार्वण आद्य ।

पंचपिता, पंचपितृ—संज्ञा पुं० [सं०] पिता, आचार्य, स्वसुर, अन्नदाता और भय से रक्षक ।

पंचपित्त—संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक शास्त्र के अनुसार वराह, छाग, महिष, मत्स्य और मयूर का पित्त ।

पंचपीरिया—संज्ञा पुं० [हिं० पाँच + पीर] मुसलमानों के पाँचों पीरों की पूजा करनेवाला ।

पंचपुष्प—संज्ञा पुं० [सं०] देवी पुराणानुसार ये पाँच फूल जो देवताओं को प्रिय हैं—चंद्रा, आम, शमी, कमल और कनेर ।

पंचप्राण—संज्ञा पुं० [सं०] पाँच प्राण वा वायु—प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान ।

पंचवटी—संज्ञा स्त्री० दे० “पंचवटी” ।

पंचवला—संज्ञा स्त्री० [सं०] वैद्यक में बला, अतिबला, नागबला, राजबला और महाबला नामक ओषधियों का समूह ।

पंचवाण—संज्ञा पुं० दे० “पंचवाण” ।

पंचभद्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वैद्यक में एक ओषधिगण जिसमें गिलोय, पित्तपापड़ा, मोथा चिरायता और सोंठ हैं । (२) पंचकल्याण घोड़ा ।

पंचभर्तारी—संज्ञा स्त्री० [सं० पंच + भर्तार] द्रौपदी ।

पंचभूत—संज्ञा पुं० [सं०] पाँच प्रधान तत्व जिनसे संसार की सृष्टि हुई है—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी । विशेष—दे० “भूत” ।

पंचम—वि० [सं०] [स्त्री० पंचमी] (१) पाँचवाँ । (२) रुचिर । सुंदर । (३) दक्ष । निपुण ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) सात स्वरों में पाँचवाँ स्वर । यह स्वर पिक वा कोकिल के स्वर के अनुरूप माना गया है । संगीत शास्त्र में इस स्वर का वर्ण ब्राह्मण, रंग श्याम, देवता महादेव, रूप इंद्र के समान और स्थान क्रींच द्वीप लिखा है ।

यमली, निर्मली और कोमली नाम की इसकी तीन मूर्छनाएँ मानी गई हैं। भरत के अनुसार इसके उच्चारण में वायु नाभि, उर, हृदय कंठ और मूर्धा नामक पाँच स्थानों में लगती है, इसलिये इसे पंचम कहते हैं। संगीत दामोदर का मत है कि इसमें प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान एक साथ लगते हैं इसलिये यह पंचम कहलाता है। स्वरप्राप्त में इसका संकेत 'प' होता है। (२) एक राग जो छः प्रधान रागों में तीसरा है। कोई इसे हिंडोल राग का पुत्र और कोई भैरव का पुत्र बतलाते हैं। कुछ लोग इसे ललित और वसंत के योग से बना हुआ मानते हैं और कुछ लोग हिंडोल गांधार और मनोहर के मेल से। सोमेश्वर के मत से इसके गाने का समय शरद ऋतु और प्रातःकाल है और विभाषा, भूपाली, कर्णाटी, वडहंसिका, मालश्री, पटमंजरी नाम की इसकी छः रागिनियाँ हैं, पर कलिनाथ त्रिवेणी, स्तंभतीर्था, आभीरी, ककुभ, वरारी, और सावीरी को इसकी रागिनियाँ बतलाते हैं। कुछ लोग इसे ओडव जाति का राग मानते हैं और ऋषभ कोमल पंचम और गांधार स्वरों को इसमें वर्जित बताते हैं। (३) मैथुन।

पंचमकार—संज्ञा पुं० [सं०] वाममार्ग के अनुसार मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन।

पंचमहापातक—संज्ञा पुं० [सं०] मनुस्मृति के अनुसार ये पाँच महापातक हैं—ब्रह्महत्या, सुरापान, चोरी, गुरु की स्त्री से व्यवहार और इन पातकों के करनेवालों के साथ संसर्ग।

पंचमहायज्ञ—संज्ञा पुं० [सं०] स्मृतियों और गृह्य सूत्रों के अनुसार पाँच कृत्य जिनका नित्य करना गृहस्थों के लिये आवश्यक है। गृहस्थों के गृहकार्य में पाँच प्रकार से हिंसा होती है जिसे धर्मशास्त्रों में पंचसूना कहते हैं। इन्हीं हिंसाओं के पाप से निवृत्ति के लिये धर्मशास्त्रों में इन कृत्यों का विधान है। कृत्य ये हैं—

(१) अध्यापन जिसे ब्रह्मयज्ञ कहते हैं। संध्यावंदन इसी अध्यापन के अंतर्गत है।

(२) पितृपूजा जिसे पितृयज्ञ कहते हैं।

(३) होम जिसका नाम देवयज्ञ है।

(४) बलि वैश्वदेव वा भूतयज्ञ।

(५) अतिथिपूजन—नृयज्ञ वा मनुष्ययज्ञ।

पंचमहाव्याधि—संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक शास्त्र के अनुसार ये पाँच बड़े रोग—अर्श, यक्ष्मा, कुष्ठ, प्रमेह और उन्माद।

पंचमहाव्रत—संज्ञा पुं० [सं०] योगशास्त्र के अनुसार ये पाँच आचरण—अहिंसा, सत्यता, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिमह। इन्हें पतंजलि जी ने 'यम' माना है। जैन यतियों के लिये इनका ग्रहण जैन शास्त्र में आवश्यक बतलाया गया है।

पंचमहाशब्द—संज्ञा पुं० [सं०] पाँच प्रकार के बाजे जिन्हें एक

साथ बजवाने का अधिकार प्राचीन काल में राजाओं महा-राजाओं को ही प्राप्त था। इसमें ये पाँच बाजे माने गए हैं—शृंग (सोंग), तम्मत (खँजड़ी ?), शंख, भेरी और जयघंटा।

पंचमहिष—संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार भैंस से प्राप्त पाँच पदार्थ—मूत्र, गोबर, दही, दूध और घी।

पंचास्य—वि० [सं०] पाँच महीने का।

संज्ञा पुं० कोकिल।

पंचमी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शुक्ल वा कृष्ण पक्ष की पाँचवीं तिथि। व्रत आदि के लिये चतुर्थीयुक्ता पंचमी तिथि ग्राह्य मानी गई है। (२) द्रौपदी। (३) एक रागिनी। (४) व्याकरण में अपादान कारक। (५) एक प्रकार की ईंट जो एक पुरुष की लंबाई के पाँचवें भाग के बराबर होती थी और यज्ञों में वेदी बनाने में काम आती थी। (६) तंत्र में एक मंत्रविधि।

पंचमुख—संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। (२) सिंह। (३) एक प्रकार का रुद्राक्ष जिसमें पाँच लकीरें होती हैं।

पंचमुखी—वि० [सं० पंचमुखिन्] पाँच मुखवाला।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वासा। अदुसा। (२) जवा। गुड़हल का फूल। (३) सिंदी। (४) पार्वती।

पंचमुद्रा—संज्ञा पुं० [सं०] तंत्र के अनुसार पूजनविधि में पाँच प्रकार की मुद्राएँ—आवाहनी, स्थापनी, सन्निधापनी, संबोधिनी और सम्मुखीकरणी।

पंचमुष्टिक—संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक औषध जो सन्निपात में दी जाती है।

विशेष—जौ, बेर का फल, कुलधी, मूँग और काष्ठामलक, एक एक मुट्ठी लेकर अठगुने पानी में पकाने से यह बनती है।

पंचमूल—संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक पाचन औषध जो औषधियों की जड़ लेकर बनती है।

विशेष—औषधि भेद से पंचमूल कई हैं—जैसे, वृहत्, स्वरूप, तृण, शतावर्त, जीवन, वला, गोचुर इत्यादि।

वृहत्पंचमूल—बेल, सोनापाठ (श्योनाक), गँभारी, पॉडर, और गनियारी।

स्वरूपपंचमूल—शालपर्णी, पृथिनपर्णी (पिठवन), बड़ी भटकटैया, छोटी भटकटैया, गोखरू।

तृणपंचमूल—कुश, काश, शर, इचु और दर्भ।

पंचमूली—संज्ञा स्त्री० [सं०] स्वरूपपंचमूल।

पंचमेल—वि० [हि० पाँच + मेल वा मिलाना] (१) जिसमें पाँच प्रकार की चीजें मिली हों। जैसे, पंचमेल मिठाई। (२) जिस में सब प्रकार की चीजें मिली हों। मिला जुला ढेर। (३) साधारण।

पंचमेश-संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष के अनुसार पाँचवें घर का स्वामी ।

पंचयज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] पंचमहायज्ञ ।

पंचयाम-संज्ञा पुं० [सं०] दिन ।

विशेष—शास्त्रों में दिन के पाँच पहर और रात के तीन पहर माने गए हैं । रात के पहले चार ढंढ और पिछले चार ढंढ दिन में लिए गए हैं ।

पंचरंग, पंचरंगा-वि० [हिं० पाँच + रंग] (१) पाँच रंग का ।

३०—पंचरंग सारी मँगवो । बंधु जन सब पहरावो ।—सूर ।

(२) अनेक रंगों का । रंग विरंग का ।

पंचरक्षक-संज्ञा पुं० [सं०] पखौड़ा वृक्ष ।

पंचरत्न-संज्ञा पुं० [सं०] पाँच प्रकार के रत्न । कुछ लोग सोना, हीरा, नीलम, लाल और मोती को पंचरत्न मानते हैं और कुछ लोग मोती, मूँगा, वैक्रांत, हीरा और पद्मा को ।

पंचरसा-संज्ञा स्त्री० [सं०] आमला ।

पंचरात्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाँच रातों का समूह । (२)

एक यज्ञ जो पाँच दिन में होता था । (३) वैष्णव धर्म का एक प्रसिद्ध ग्रंथ ।

पंचराशिक-संज्ञा पुं० [सं०] गणित में एक प्रकार का हिसाब जिसमें चार ज्ञात राशियों के द्वारा पाँचवीं अज्ञात राशि का पता लगाया जाता है ।

पंचरीक-संज्ञा पुं० [सं०] संगीत शास्त्र के अनुसार एक ताल ।

पंचल-संज्ञा पुं० [सं०] शकरकंद ।

पंचलक्षण-संज्ञा पुं० [सं०] पुराण के पाँच चिह्न या लक्षण जो ये हैं—सृष्टि की उत्पत्ति, प्रलय, देवताओं की उत्पत्ति और वंशपरंपरा, मन्वंतर, मनु के वंश का विस्तार ।

पंचलड़ा-वि० [हिं० पाँच + लड़] पाँच लड़ों का । जैसे, पंचलड़ा हार ।

पंचलड़ी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पाँच + लड़] गले में पहनने की पाँच लड़ों की माला ।

पंचलरी-संज्ञा स्त्री० दे० “पंचलड़ी” ।

पंचलवण-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक शास्त्रानुसार पाँच प्रकार के लवण—काँच, सेंधा, सामुद्र, विट और सोंचर ।

पंचलोह, पंचलोहक-संज्ञा पुं० दे० “पंचलौह” ।

पंचलौह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाँच धातुएँ—सोना, चाँदी, ताँबा, सीसा, और रॉगा । (२) पाँच प्रकार का लोहा—वज्रलौह, कांतलौह, पिंडलौह और क्रौंचलौह ।

पंचवटी-संज्ञा पुं० [सं०] रामायण के अनुसार दंडकारण्य के अंतर्गत एक स्थान जहाँ रामचंद्र जी वनवास में रहे थे । यह स्थान गोदावरी के किनारे पर नासिक के पास है । सीताहरण यहीं हुआ था ।

पंचवदन-संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

पंचवर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] पाँच वस्तुओं का समूह । जैसे, पाँच प्रकार के चर, पाँच इंद्रियाँ ।

पंचवर्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रणव के पाँच वर्ष अर्थात् अ, उ, म, नाद और विंदु । (२) एक वन का नाम । (३) एक पर्वत का नाम ।

पंचवल्कल-संज्ञा पुं० [सं०] बट, गूलर, पीपल, पाकर और बेत वा सिरिस की छाज ।

पंचवाँसा-संज्ञा पुं० [हिं० पाँच + मास] एक रीति जो गर्भ रहने से पाँचवें महीने में की जाती है । गर्भाधान से पंचम मास का कृत्य ।

पंचवाण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कामदेव के पाँच बाण जिनके नाम ये हैं—द्रवण, शोषण, तापन, मोहन और उन्मादन । कामदेव के पाँच पुष्पबाणों के नाम ये हैं, कमल, अशोक, आम्र, नवमल्लिका और नीलोत्पल । (२) कामदेव ।

पंचवाद्य-संज्ञा पुं० [सं०] तंत्र, आनंद, सुशिर, धन और वीरों का गर्जन ।

पंचशब्द-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाँच मंगलसूचक बाजे जो मंगल कार्यों में बजाए जाते हैं—तंत्री, ताल, म्हाँफ, नगारा और तुरही । “दे० पंचमहाशब्द” । ३०—पंच सबद धुनि मंगल गाना । पट पाँवड़े परहिं विधि नाना ।—तुलसी । (२) व्याकरण के अनुसार सूत्र, वार्त्तिक, भाष्य, कोष और महाकवियों के प्रयोग । (३) पाँच प्रकार की ध्वनि—वेदध्वनि, वंदीध्वनि, जयध्वनि, शंखध्वनि, और निशानध्वनि ।

पंचशर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कामदेव के पाँच बाण । (२) कामदेव ।

पंचशास्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हाथ । (२) पनसाखा ।

पंचशाखा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पनसाखा ।

पंचशिख-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिंघाबाजा । (२) एक मुनि जो महाभारत के अनुसार महर्षि कपिल के पुत्र थे । सांख्य शास्त्र के ये एक प्रधान आचार्य्य थे । सांख्य सूत्रों में इनके मत का उल्लेख मिलता है । इनको लोग द्वितीय कपिल कहते हैं । ये कपिल की शिष्यपरंपरा में आसुरि के शिष्य थे ।

पंचशैरीषक-संज्ञा पुं० [सं०] सिरिस वृक्ष के पाँच अंग जो औषध के काम में आते हैं—जड़, छाज, पत्ते, फूल और फल ।

पंचशूरण-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में पाँच विशेष कंद—अत्य-स्वर्णी, कांडवेल, मालाकंद, सूरन, सफेद सूरन ।

पंचषष्टि-संज्ञा स्त्री० [सं०] पैंसठ की संख्या ।

वि० पैंसठ ।

पंचसंधि—संज्ञा स्त्री० [सं०] व्याकरण में संधि के पांच भेद—स्वरसंधि, व्यंजनसंधि, विसर्गसंधि, स्वादिसंधि और प्रकृतिभाव ।

पंचसप्तति—संज्ञा स्त्री० [सं०] पचहत्तर की संख्या ।

वि० पचहत्तर ।

पंचसिद्धौषधि—संज्ञा स्त्री० [सं०] वैद्यक में ये पांच औषधियाँ—सालिब मिर्ची, बराहीकंद, रोहंती, सर्पांजी और सरहटी ।

पंचसुगंधक—संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में ये पांच सुगंध औषधियाँ—लौंग, शीतलचीनी, अणार, जायफल, कपूर अथवा कर्पूर, शीतलचीनी, लौंग, सुपारी और जायफल ।

पंचसूना—संज्ञा स्त्री० [सं०] मनु के अनुसार पांच प्रकार की हिंसा जो गृहस्थों से गृहकार्य करने में होती है । वे पांच काम जिनके करने में छोटे छोटे जीवों की हिंसा होती है । ये हैं—चूल्हा जलाना, आटा आदि पीसना, फाड़ देना, फूटना और पानी का घड़ा रखना । इन्हें मनु ने चुछी, पेघणी, उपस्कर, कुहनी और उदकुंभ लिखा है । इन्हीं पांच प्रकार की हिंसाओं के दोषों की निवृत्ति के लिये पंचमहायज्ञों का विधान किया गया है ।

पंचस्कंध—संज्ञा पुं० [सं०] बौद्ध दर्शन में गुणों की समष्टि को स्कंध कहते हैं । स्कंध पांच हैं—रूपस्कंध, वेदनास्कंध, संज्ञास्कंध, संस्कारस्कंध, और विज्ञानस्कंध । रूपस्कंध का दूसरा नाम वस्तुतन्मात्रा है । इस स्कंध के अंतर्गत ४ महाभूत, ५ ज्ञानेंद्रिय, ५ तन्मात्राएँ, २ लिंग (स्त्री और पुरुष), २ स्थिति (चेतना, जीवितेंद्रिय और आकार), चेष्टा, स्थिति, चित्तप्रसादन, स्थितिस्थापन, समता, समष्टि, स्थायित्व, अयत्न और परिवर्तनशीलता नामक २८ गुण माने जाते हैं । रूपस्कंध से ही वेदनास्कंध की उत्पत्ति होती है । यह वेदनास्कंध पांच ज्ञानेंद्रियों और मन के भेद से छ प्रकार का होता है जिनमें प्रत्येक के रुचि अरुचि स्पृहशून्यता ये तीन तीन भेद होते हैं । संज्ञास्कंध को अनुमिति तन्मात्रा भी कहते हैं । इन्द्रिय और अंतःकरण के अनुसार इसके छ भेद हैं । वेदना माने पर ही संज्ञा होती है । चौथा संस्कारस्कंध है जिसमें ५२ भेद हैं—स्पर्श, वेदना, संज्ञा, चेतना, मनसिकार, चित्ति, जीवितेंद्रिय, एकाग्रता, वितर्क, विकार, वीर्य, अधिमेधा, प्रीति, चंड, मध्यस्थता, निद्रा, तंद्रा, मोह, प्रज्ञा, लोभ, अलोभ, उताप, अनुताप, ही, अही, दोष, अदोष, विचिकित्सा, अज्ञा, दृष्टि, द्विविध प्रसिद्धि (शारीर और मानस), लघुता, मृदुता, कर्मज्ञता, प्राज्ञता, उद्योतना, साम्य, कण्ठा, मुदिता, ईर्ष्या, मात्सर्य, कार्कश्य, औदत्य और मान । पाँचवाँ विज्ञानस्कंध है । हिंदूशास्त्रों में कहे हुए चित्त आत्मा और विज्ञान इसके अंतर्भूत हैं । इस स्कंध के चेतना के धर्माधर्म भेद से ४६

२६५

भेद किए गए हैं । बौद्ध दर्शनों के अनुसार विज्ञानस्कंध के चय होने से ही निर्वाण होता है ।

पंचस्नेह—संज्ञा पुं० [सं०] घी, तेल, चरबी, मज्जा और मांस ।

पंचस्रोतस्—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक तीर्थ । (२) एक यज्ञ ।

पंचस्वेद—संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार लोष्टस्वेद, बालुकास्वेद, वाष्पस्वेद, घटस्वेद और ज्वालास्वेद ।

पंचहजारी—संज्ञा पुं० [फा० पंचहजारी] (१) पाँच हजार की सेना का अधिपति । (२) एक पदवी जो मुगल साम्राज्य में बड़े बड़े लोगों को मिलती थी ।

पंचांग—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाँच अंग या पाँच अंगों से युक्त वस्तु । (२) वृत्त के पाँच अंग—जड़, छाया, पत्ती, फूल, और फल (वैद्यक) । (३) तंत्र के अनुसार ये पाँच कर्म—जप, होम, तर्पण, अभिषेक और विप्रशोचन जो पुरश्चरण में किए जाते हैं । (४) ज्योतिष के अनुसार वह तिथिपत्र जिसमें किसी संवत् के वार, तिथि, नक्षत्र, योग और करण व्योरेवार दिए गए हों । पत्रा । (५) राजनीति शास्त्र के अंतर्गत सहाय, साधन, उपाय, देश-काल-भेद और विपद्-प्रतीकार । (६) प्रणाम का एक भेद जिसमें घुटना, हाथ, और माथा पृथ्वी पर टेककर आँख देवता की ओर करके मुँह से प्रणामसूचक शब्द कहा जाता है । (७) सांख्यिक उपासना में किसी इष्टदेव का कवच, स्तोत्र, पद्धति, पटल और सहस्रनाम । (८) वह घोड़ा जिसके चारों पैर टाप के पास सफेद हों और माथे पर सफेद टीका हो । पंचभद्र । पंचकल्याण । (९) कच्छप । कलुषा ।

पंचांगुल—वि० [सं०] जो परिणाम में पाँच अंगुल का हो या जिसमें पाँच उगलियाँ हों ।

संज्ञा पुं० (१) एरंड । अंडी । रेंड । (२) तेजपत्ता ।

पंचांतरीय—संज्ञा पुं० [सं०] बौद्ध मत के अनुसार पाँच प्रकार के पातक—माता, पिता, अर्हंत और बुद्ध का घात और याजकों के साथ विवाद ।

पंचाइट—संज्ञा स्त्री० दे “पंचायत” ।

पंचाक्षर—वि० [सं०] जिसमें पाँच अक्षर हों । जैसे, पंचाक्षर मंत्र, पंचाक्षर शब्द, पंचाक्षर वृत्ति ।

संज्ञा पुं० (१) प्रतिष्ठा नामक वृत्ति जिसमें पाँच अक्षर होते हैं । (२) शिव का एक मंत्र जिसमें पाँच अक्षर हैं—ॐ नमः शिवाय ।

पंचाग्नि—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अन्वाहार्य, पचन, गार्हपत्य, आहवनीय, आवास्य और सव्य नाम की पाँच अग्निर्वा । (२) आदोग्य उपनिषद् के अनुसार सूर्य, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष और योषित् । (३) एक प्रकार का तप जिसमें तप करनेवाला अपने चारों ओर अग्नि जला कर दिन में धूप में बैठा रहता है । यह तप प्रायः ग्रीष्म ऋतु में किया जाता

है। (४) आयुर्वेद के अनुसार चीता, चिचड़ी, भिलावाँ, गंधक और मदार नामक औषधियाँ जो बहुत गरम मानी जाती हैं। वि० (१) पंचाग्नि की उपासना करनेवाला। (२) पंचाग्नि विद्या जाननेवाला। (३) पंचाग्नि तापनेवाला।

पंचातप—संज्ञा पुं० [सं०] चारों ओर आग जला कर ग्रीष्मऋतु में धूप में बैठ कर तप करना। पंचाग्नि।

पंचात्मा—संज्ञा स्त्री० [सं०] पंचप्राण।

पंचानन—वि० [सं०] जिसके पाँच मुँह हों। पंचमुखी।

संज्ञा पुं० (१) शिव। (२) सिंह।

विशेष—सिंह को पंचानन कहने का कारण लोग दो प्रकार से बतलाते हैं। कुछ लोग तो पंच शब्द का अर्थ 'विस्तृत' करके पंचानन का अर्थ "चौड़े मुँहवाला" करते हैं। कुछ लोग चारों पंजों को जोड़ कर पाँच मुँह गिना देते हैं।

(३) संगीत में स्वरसाधन की एक प्रणाली—

सा रे ग म प। रे ग म प ध। ग म प ध नि। म प ध नि सा।

अवरोही—सा नि ध प म। नि ध प म ग। ध प म ग रे। प म ग रे सा।

पंचाननी—संज्ञा स्त्री० [सं०] शिव की पत्नी, दुर्गा।

पंचानन—[सं० पंचनवति, पा० पंचनवइ] नव्वे और पाँच। पाँच कम सौ।

संज्ञा पुं० नव्वे से पाँच अधिक की संख्या या अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—६२।

पंचाप्सर—संज्ञा पुं० [सं० पंचाप्सरस] रामायण और पुराणों के अनुसार दक्षिण में पंपा नामक तालाब जहाँ शातकर्ण मुनि तप करते थे। इनके तप से भय खाकर इंद्र ने इनको तप से व्युत्त करने के लिये पाँच अप्सराएँ भेजी थीं। रामायण में शातकर्ण को मांडकर्ण लिखा है। पंचाप्सर।

पंचामरा—संज्ञा स्त्री० [सं०] वैद्यक में दुर्वा, विजया, त्रिलोचन, निर्गुंडी और काली तुलसी।

पंचामृत—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का स्वादिष्ट पेय द्रव्य जो दूध, दही, घी, चीनी और मधु मिला कर बनाया जाता है। पुराण तंत्रादि के अनुसार यह देवताओं को स्नान कराने और चढ़ाने के काम में आता है। (२) वैद्यक में पाँच गुणकारी औषधियाँ—गिलोय, गोखरू, मुसली, गोरखमुंडी और शतावरी।

पंचामल—संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में ये पाँच अम्ल या खट्टे पदार्थ—अमलवेद, इमली, जैभीरी नीबू, कागजी नीबू और बिजौरा। मत्तंतर से—बेर, अनार, विपावलि, अमलवेद और बिजौरा नीबू।

पंचायत—संज्ञा स्त्री० [सं० पंचायतन] (१) किसी विवाद, झगड़े या और किसी मामले पर विचार करने के अधिकारियों या

चुने हुए लोगों का समाज। पंचों की बैठक या सभा। कमेटी। जैसे, (क) विरादरी की पंचायत। (ख) उन्होंने अदालत में न जाकर पंचायत से निबटेरा कराना ही ठीक समझा।

क्रि० प्र०—बैठना।—बैठाना।—बठोरना।

(२) बहुत से लोगों का एकत्र होकर किसी मामले या झगड़े पर विचार। पंचों का वाद-विवाद।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(३) एक साथ बहुत से लोगों की बकवाद।

पंचायतन—संज्ञा [सं०] पाँच देवताओं की मूर्तियों का समूह, जैसे, शिव पंचायतन, राम पंचायतन इत्यादि।

पंचायती—वि० [हिं० पंचायत] (१) पंचायत का किया हुआ। पंचायत का। (२) पंचायत संबंधी। (३) बहुत से लोगों का मिला जुला। सारके का। जिस पर किसी एक आदमी का अधिकार न हो। जो कई लोगों का हो। जैसे, पंचायती अखाड़ा। (४) सब पंचों का। सर्वसाधारण का।

पंचाल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक देश का प्राचीन नाम जो ब्राह्मण और इपनिषद् ग्रंथों से लेकर पुराणों तक में पाया जाता है। इस देश की सीमा भिन्न भिन्न कालों में भिन्न भिन्न रही है। यह देश हिमालय और चंबल के बीच गंगा नदी के दोनों ओर माना जाता था। गंगा के उत्तर प्रदेश को उत्तर पंचाल और दक्षिण प्रदेश को दक्षिण पंचाल कहते थे। इस देश को देवपंचाल से भिन्न समझना चाहिए जो सौराष्ट्र देश का एक भाग था।

इस देश का पंचाल नाम पड़ने के संबंध में पुराणों में यह कथा है। महाराज हर्यश्च अपने भाई से लड़कर अपनी सुसराल मधुपुरी चले गए और अपने ससुर मधु की सहायता से उन्होंने अयोध्या के पश्चिम के देशों पर अधिकार कर लिया। जब लोगों ने आकर उनसे अयोध्या के राजा के आक्रमण की बात कही तब उन्होंने पाँच पुत्रों (सुदग्ध, सृजय, वृहदिपु, प्रवीर और कापिल्य) की ओर देख कर कहा कि ये पाँचों हमारे राज्य की रक्षा के लिये अलम् (पंचालम्) हैं। तभी से उनके अधिकृत देश का नाम पंचाल पड़ा।

हरिवंश में लिखा है कि हर्यश्च ने सौराष्ट्र देश में आनर्त्तपुर नामक नगर बसाया था। इसी आधार पर कुछ लोग देवपंचाल को ही पंचाल कहते हैं। पर महाभारत में हिमालय के अंचल से लेकर चंबल तक फैले हुए गंगा के उभय पारवर्त्य देश का ही वर्णन पंचाल के अंतर्गत आया है। पांडवों के समय में इस देश का राजा दुपद था जिससे द्रोणाचार्य ने उत्तरपंचाल छीन लिया था। महाभारत में उत्तरपंचाल की राजधानी अहिच्छत्रपुर और दक्षिण की

कंपिल लिखी है। द्रौपदी यहीं के राजा की कन्या होने के कारण पंचाली कही गई है।

(२) [स्त्री० पंचाली] पंचाल देशवासी। (३) पंचाल देश का राजा। (४) एक ऋषि जो वाञ्छव्य गोत्र के थे। (५) महादेव। शिव। (६) एक छंद जिसके प्रत्येक चरण में एक तगण (551) होता है। (७) दक्षिण देश की एक जाति। इस जाति के लोग बड़ई और लोहार का काम करते हैं और अपने को विश्वकर्मा के वंश का बतलाते हैं। ये जनेऊ बहनेते हैं। (८) एक सर्प का नाम। (९) एक विषैला कीड़ा।

पंचालिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] पुतली। गुड़िया।

पंचालिस—वि० दे० 'पैंतालीस'।

पंचाली—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पुतली। गुड़िया। (२) पंचाली। द्रौपदी। (३) एक गीत। पंचाली। (४) चौसर की बिसात।

पंचावी—संज्ञा स्त्री० [सं०] वह गाय जिसके तले ढाई वर्ष का बच्चा हो।

पंचाश—वि० [सं०] पचासवाँ।

पंचाशत्—वि० [सं०] पचास।

पंचाशिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] वह पुस्तक जिसमें पचास श्लोक वा कवित्त आदि हों।

पंचाशीत—वि० [सं०] पचासीवाँ।

पंचाशीति—संज्ञा स्त्री० [सं०] पचासी की संख्या।

पंचास्य—वि० [सं०] पाँच मुँहवाला।

संज्ञा पुं० (१) सिंह। विशेष—दे० 'पंचानन'। (२) शिव।

पंचाह—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक यज्ञ का नाम जो पाँच दिन में होता था। (२) सोम याग के अंतर्गत वह कृत्य जो सुत्या के पाँच दिनों में किया जाता है।

पंचिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] पाँच अध्यायों वा खंडों का समूह।

पंचीकरण—संज्ञा पुं० [सं०] वेदांत में पंचभूतों का विभाग विशेष।

विशेष—वेदांतसार के अनुसार प्रत्येक स्थूल भूत में शेष चार भूतों के अंश भी वर्तमान रहते हैं। भूतों की यह स्थूल स्थिति पंचीकरण द्वारा होती है जो इस प्रकार होता है। पाँचों भूतों को पहले दो बराबर बराबर भागों में विभक्त किया, फिर प्रत्येक के प्रथमार्द्ध को चार चार भागों में बाँटा। फिर इन सब बीसों भागों को लेकर अलग रक्खा। अंत में एक एक भूत के द्वितीयार्द्ध में इन बीस भागों में से चार चार भाग फिर से इस प्रकार रखे कि जिस भूत का द्वितीयार्द्ध हो उसके अतिरिक्त शेष चार भूतों का एक एक भाग उसमें आ जाय।

पंचीकृत—वि० [सं०] (भूत) जिसका पंचीकरण हुआ हो।

पंचूरा—संज्ञा पुं० [हिं० पानी + चूना] लड़कों के खेलने का मिट्टी का एक बरतन या खिलौना जिसके पेंदे में बहुत से छेद होते हैं। पानी भरने से वह छेदों में से होकर टपकने लगता है।

पंचेंद्रिय—संज्ञा स्त्री० [सं०] पाँच ज्ञानेंद्रियाँ जिनके द्वारा प्राणियों को बाह्य जगत् का ज्ञान होता है। दे० 'इंद्रिय'।

पंचेपु—संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव (जिसके पाँच इपु वा शर हैं)।

पंचो—संज्ञा पुं० [देश०] गुल्ली दंडे के खेल में दंडे से गुल्ली को मार कर दूर फेंकने का एक ढंग। इसमें गुल्ली को बाएँ हाथ से उछाल कर दहने हाथ से मारते हैं।

पंचोपग—संज्ञा पुं० [सं०] पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, मिर्च और चित्रक नामक पाँच औषधियाँ।

पंचोष्मा—संज्ञा पुं० [सं० पंचोष्मन्] शरीर के भीतर भोजन पचाने वाली पाँच प्रकार की अग्नि।

पंचौदन—संज्ञा पुं० [सं०] एक यज्ञ का नाम।

पंचौली—संज्ञा स्त्री० [सं० पंच + आवलि] एक पौधा जो पश्चिम भारत, मध्य प्रदेश, बंबई और बरार में मिलता है। इसकी पत्तियों और डंठलों से एक प्रकार का सुगंधित तेल निकलता है जिसका व्यवहार युरोप के देशों में होता है। इसकी खेती पान के भीड़ों में की जाती है। पौधे दो दो फुट की दूरी पर लगाए जाते हैं। एक बार के लगाए हुए पौधों से दो बार छ छ महीने पर फसल काटी जाती है। दूसरी फसल कट जाने पर पौधे खोदकर फेंक दिए जाते हैं। डंठल सूख जाने पर बड़े बड़े गट्टों में बाँधकर बिक्री के लिये भेज दिए जाते हैं। डंठलों से भवके द्वारा तेल निकाला जाता है। ६६ सेर लकड़ी से लगभग बारह से पंद्रह सेर तक तेल निकलता है। युरोप में इस तेल का व्यवहार सुगंध द्रव्य की भाँति होता है। इसे पंचपात और पंचपानड़ी भी कहते हैं।

संज्ञा पुं० [सं० पंचकुल, पंचकुली] वंशपरंपरा से चली आती हुई एक उपाधि।

विशेष—प्राचीन समय में किसी नगर या गाँव में व्यवस्था रखने और छोटे मोटे झगड़ों को निबटाने के लिये पाँच प्रतिष्ठित कुल के लोग चुन लिए जाते थे जो पंच कहलाते थे।

पंछा—संज्ञा पुं० [हिं० पानी + छाल] (१) पानी की तरह का एक स्त्राव जो प्राणियों के शरीर से या पेड़ पौधों के अंगों से चोट लगने पर या यों ही निकलता है। (२) छाले, फफोले, चेचक आदि के भीतर भरा हुआ पानी।

पंछाला—संज्ञा पुं० [हिं० पानी + छाला] (१) फफोला। (२) फफोले का पानी। उ०—केतकी ने कहा काँटा अड़ा तो

अड़ा और जाला पड़ा तो पड़ा पर निगोड़ी तू क्यों पंझाला हुई।—इनशा०

पंछी-संज्ञा पुं० [सं० पंक्षी] चिड़िया । पक्षी । उ०—भई यह सारू सबन सुखदाई । मानिक गोलक सम दिनमणि मनु सेपुट दियो छिपाई । अलसानी दग मूँदि मूँदि कै कमल लता मन भाई । पंछी निज निज चले बसेरन गावल काम बधाई ।—हरिश्चंद्र ।

पंजड़ी-संज्ञा स्त्री० [सं० पंच, फा० पंज] चौसर के एक दाँव का नाम ।

पंजना-क्रि० अ० [सं० पंज = हड़ होना, रुकना] धातु के बरतन में टाँके आदि द्वारा जोड़ लगाना । मलनना । माल लगाना ।

पंजर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शरीर का वह कड़ा भाग जो अणु-जीवों तथा बिना रीढ़ के और बुद्ध जीवों में कोश या आवरण आदि के रूप में ऊपर होता है और रीढ़वाले जीवों में कड़ी हड्डियों के टाँके के रूप में भीतर होता है । हड्डियों का ठहर या ढाँचा जो शरीर के कोमल भागों को अपने ऊपर ठहराए रहता है अथवा बंद या रक्षित रखता है । ठट्टी । अस्थिसमुच्चय । कंकाल । (२) पसलियों से बना हुआ परदा । ऊपरी धड़ (छाती) का हड्डियों का घेरा । पार्श्व, वक्षस्थल आदि की अस्थिपंक्ति । उ०—जान जान कीने जो तै नेहिन ऊपर वार । भरे जो नैन कटाच्छ के खंजर पंजर फार ।—रसनिधि । (३) शरीर । देह । (४) पिंजड़ा । (५) गाय का एक संस्कार । (६) कलियुग । (७) कोल कंद ।

पंजरक-संज्ञा पुं० [सं०] खींचा । मारा । बँत या लचीले डंडकों आदि का बुना हुआ बड़ा टेकरा ।

पंजरना-क्रि० अ० दे० “पंजरना”

पंजरी-संज्ञा स्त्री० [सं० पंजर = ठट्टी] अर्थी । टिकठी ।

पंजहजारी-संज्ञा पुं० [फा०] एक उपाधि जो मुसलमान राजाओं के समय में सरदारों और दरबारियों को मिलती थी । ऐसे लोग या तो पाँच हजार सेना रख सकते थे अथवा पाँच हजार सेना के नायक बनाए जाते थे ।

पंजा-संज्ञा पुं० [फा० । नि० सं० पंचक] (१) पाँच का समूह । गाही । जैसे, चार पंजे आम । (२) हाथ या पैर की पाँचों उँगलियों का समूह, साधारणतः हथेली के सहित हाथ की, और तलवे के अगले भाग के सहित पैर की पाँचों उँगलियाँ । जैसे हाथ या पैर का पंजा, बिछी या शेर का पंजा ।

मुहा०—पंजा फेरना या मोड़ना—पंजा लड़ाने में दूसरे का पंजा भरोड़ देना । पंजे की लड़ाई में जीतना । पंजा फैलाना या बढ़ाना = लेने या अधिकार में करने के लिये हाथ बढ़ाना । हथियाने का ढोल करना । लेने का उद्योग करना । पंजा मारना = लेने के लिये हाथ लपकाना । म्पाटा मारना । पंजे

झाड़ कर पीछे पड़ना या चिमटना = हाथ धोकर पीछे पड़ना । जी जान से लगना या तत्पर होना । सिर हो जाना । पंजे में = (१) पकड़ में । मुट्ठी में । ग्रहण में । जैसे, पंजे में आया हुआ शिकार । (२) अधिकार में । कब्जे में । वश में । ऐसी स्थिति में जिसमें जो चाहे किया जा सके । जैसे, अब तो तुम हमारे पंजे में फँस गए (या आ गए) हो ; अब कहाँ जाते हो ? पंजे से = पकड़ से । मुट्ठी से । अधिकार से । कब्जे से । जैसे, पंजे से हटना, पंजे से निकलना । पंजा लड़ाना = एक प्रकार की कसरत या बलपरीक्षा जिसमें दो आदमी एक दूसरे की उँगलियों में उँगलियाँ फँसाकर भरोड़ने का प्रयत्न करते हैं । पंजा लेना = पंजा लड़ाना । पंजों के बल चलना = बहुत ऊँचा होकर चलना । इतराना । गर्व करना । जमीन पर पैर न रखना ।

(३) पंजा लड़ाने की कसरत या बलपरीक्षा ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

मुहा०—पंजा ले जाना = पंजा लड़ाने में जीत जाना । दूसरे का पंजा भरोड़ देना ।

(४) उँगलियों के सहित हथेली का संपुट । चुंगल । जैसे, पंजा भर आया । (५) जूते का अगला भाग जिसमें उँगलियाँ रहती हैं । जैसे, इस जूते का पंजा दबाता है । (६) बैल या भैंस की पसली की चौड़ी हड्डी जिससे भंगी मैला उठाते हैं । (७) पंजे के आकार का बना हुआ पीठ खुजलाने का एक औजार । (८) मनुष्य के पंजे के आकार का कटा हुआ टील या और किसी धातु की चहर का टुकड़ा जिसे लंबे बाँस आदि में बाँध कर भंडे या निशान की तरह ताजिये के साथ ले कर चलते हैं । (९) पुट्टे के ऊपर का माँस । (चिक या कसाई) । (१०) ताश का वह पत्ता जिसमें पाँच चिह्न या बूटियाँ हों । जैसे हूँट का पंजा । (११) जुए का दाँव जिसे नकी भी कहते हैं ।

मुहा०—झकापंजा = दाँव पेच । चालबाजी । उ०—नीकी चाक काहू की सिखाई जो न मानै औ न जानै भली भाँति चखिबे को व्यवहार है । झका पंजा बंद कामादिक कै न चूकै सौ न जीवन के रंग बदरंग को प्रचार है ।—चर्या-चंद्रिका ।

पंजातोड़ बैठक-संज्ञा स्त्री० [हिं० पंजा + तोड़ना + बैठक] कुस्ती का एक पेच जिसमें सलामी का हाथ मिलाते हुए जोड़ के पंजे को तिरछा लेते हैं, फिर अपनी कुहनी उसके पेट के नीचे रख पकड़े हुए हाथ को अपनी गर्दन या कंधे पर से खोजकर बगल में दबाते हैं और झटके के साथ खींच कर जोड़ को चित गिराते हैं ।

पंजाब-संज्ञा पुं० [फा०] [वि० पंजाबी] भारत के उत्तर पश्चिम का प्रदेश जहाँ सतलज, व्यास, रावी, चनाब और सतलज

नाम की पाँच नदियाँ बहती हैं। प्राचीन ग्रंथों में इसका नाम पंचनद आया है। विद्वानों की धारणा है कि ऋग्वेद में जिस सप्तसिंधु का उल्लेख है वह यही प्रदेश है। उसमें अंशुमती, अंजली, अनितभा, अशमन्वती, असिनी, ककुभा, (काबुल नदी) क्रमु, शुतुद्रि, वितस्ता, शिफा, शर्यावाती, सरस्वती, सुवास्तु (स्वत) इत्यादि जिन बहुत सी नदियों का उल्लेख है वे प्रायः सब पंजाब की ही हैं। सरस्वती के किनारे का सारस्वत प्रदेश वैदिक काल में बहुत पुनीत माना जाता था और वहाँ अनेक बड़े बड़े यज्ञ हुए हैं। मनु-संहिता का ब्रह्मर्षि देश भी पंजाब के ही अंतर्गत था। महाभारत में आए हुए मद्र, आरह, सिंधु, गांधार आदि देश पंजाब में ही पड़ते थे। महाभारत में मद्रदेश वासियों का आचार व्यवहार निंदित कहा गया है।

पंजाबल-संज्ञा पुं० [हिं० पंजा + बल] पालकी के कहारों की बोली, यह सूचित करने के लिये कि आगे की भूमि ऊँची है। यह वाक्य अगले कहार पिछले कहारों की सूचना के लिये बोलते हैं।

पंजाबी-वि० [फा०] पंजाब संबंधी। पंजाब का। जैसे, पंजाबी घोड़ा, पंजाबी भाषा, पंजाबी जूता।

संज्ञा पुं० [स्त्री० पंजाबिन] पंजाब का रहनेवाला। पंजाब निवासी।

पंजारा-संज्ञा पुं० [सं० पंजिकार] (१) रुई से सूत कातनेवाला। (२) रुई धुनेवाला। धुनिया।

पंजिका-संज्ञा स्त्री [सं०] पंचांग।

पंजीरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पाँच + जीरा] एक प्रकार की मिठाई जो आटे के चूर्ण को घी में भून कर उसमें धनिया, सोंठ, जीरा आदि मिला कर बनाई जाती है। इसका व्यवहार विशेषतः नैवेद्य में होता है। जन्माष्टमी के उत्सव तथा सत्यनारायण की कथा में पंजीरी का प्रसाद वंरता है। पंजीरी प्रसूता स्त्री के लिये भी बनती है और पठावे में भी भेजी जाती है।

संज्ञा स्त्री० [देश०] दक्षिण का एक पौधा जो मलावार, मैसूर तथा उत्तरी सरकार में होता है और औषध के काम में आता है। यह उत्तेजक स्वेदकारक और कफनाशक होता है। जुकाम या सर्दी में इसकी पत्तियों और डंठलों का काटा दिया जाता है। संस्कृत में इसे इंदुपर्णी और अजपाद कहते हैं।

पंजेरा-संज्ञा पुं० [हिं० पंजना] बरतन झाड़ने का काम करनेवाला। बरतन में टाँके आदि देकर जोड़ लगानेवाला।

पंड, पंडक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नपुंसक। हिजड़ा। (२) वह (पेड़) जिसमें फल न लगे।

पंडग-संज्ञा पुं० [सं०] खोजा। नपुंसक।

पंडरा-संज्ञा पुं० [हिं० पानी + दरना (दर)] परवाला। पनावा। नावदान।

पँडरा-संज्ञा पुं० दे० "पँडवा"।

पँडरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पडना] वह भूमि जो ईख बोने के लिये रखी गई हो। उखाँव। पँडवा।

क्रि० प्र०—रखना।—छोड़ना।

पँडरा-संज्ञा पुं० दे० "पँडवा"।

पंडल-वि० [सं० पांडुर] पांडु वर्ण का। पीला। उ०—लोने मुख मंडल पै मंडल प्रकाश देव, जैसे चंद्र मंडल पै चंदन चढाहयतु।—देव।

संज्ञा पुं० [सं० पिंड] पिंड। शरीर। उ०—(क) आत्मा एकहि नाम की जुग जुग, पुरवै आस। ज्यों पंडल कोरो रहै बसे जो चंदन पास।—कबीर। (ख) पंडल पिंजर मन भँवर अरथ अनूपम वास। एक नाम सोंवा असी फल लागा विश्वास।—कबीर।

पंडव, पंडवा-संज्ञा पुं० दे० "पांडव"।

पंडवा-संज्ञा पुं० [?] भैंस का बच्चा।

पंडा-संज्ञा पुं० [सं० पंडित] [स्त्री० पंडाइन] (१) किसी तीर्थ वा मंदिर का पुजारी। घाटिया। पुजारी। उ०—माया महा उगिन हम जानी। तिर्गुन फांस लिये कर डोलै बोलै मथुरी बानी। केशव के कमला हैं बैठी शिव के भई भवानी। पंडा के भूरति हैं बैठी तीरथ में भई पानी।—कबीर। (२) रोटी बनानेवाला ब्राह्मण। रसोइया।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विवेकात्मिका बुद्धि। विवेक। ज्ञान। बुद्धि। (२) शास्त्रज्ञान।

पंडापूर्व-संज्ञा पुं० [सं०] मीमांसा शास्त्रानुसार वह धर्माधर्मात्मक अदृष्ट जो अपने कर्म का फल देने में अयोग्य हो। मीमांसा का मत है कि प्रत्येक कर्म के करते ही चाहे वह अधर्म हो वा धर्म एक अदृष्ट उत्पन्न होता है। इस अदृष्ट में अपने कर्म के शुभाशुभ फल देने की योग्यता होती है। पर कितने कर्मों के शुभाशुभ फल तो मिलते हैं और उनके फलों के मिलने का वर्णन अर्थवाद वाक्यों में है पर कितने ऐसे भी कर्म हैं जिनका फल नहीं मिलता। ऐसे कर्मों की विधि तो शास्त्रों में है पर उनका अर्थवाद नहीं है। इस प्रकार के कर्मों के करने से जो अदृष्ट उत्पन्न होता है उसे पंडापूर्व कहते हैं। मीमांसकों का मत है ऐसे अदृष्टों में स्पष्ट फल देने की योग्यता नहीं होती पर वे पाप वा पुण्य का तथ्य करते हैं। नैयायिक इस प्रकार के अदृष्ट को नहीं मानते।

पंडित-वि० [सं०] [स्त्री० पंडिता, पंडिताइन, पंडितानी] (१) विद्वान्। शास्त्रज्ञ। ज्ञानी।

विशेष—लोक में 'पंडित' शब्द का प्रयोग पढ़े लिखे ब्राह्मणों

ही के लिये होता है। शिष्टाचार में ब्राह्मणों के नाम के पहले यह शब्द रखा जाता है।

(२) कुशल। प्रवीण। चतुर। (३) संस्कृत भाषा का विद्वान्।

संज्ञा पुं० (१) पढ़ा-लिखा शास्त्रज्ञ ब्राह्मण। (२) ब्राह्मण।

पंडितक—संज्ञा पुं० [सं०] घृतराष्ट्र के एक पुत्र का नाम।

पंडितम्मन्य—वि० [सं०] अपने को विद्वान् माननेवाला।

पांडित्याभिमानि। मूर्ख।

पंडिता—वि० स्त्री० [सं०] विदुषी।

पंडिताइन—संज्ञा स्त्री० दे० “पंडितानी”।

पंडिताई—संज्ञा स्त्री० [हिं० पंडित + आई (प्रत्य०)] विद्वत्ता।
पांडित्य।

पंडिताऊ—वि० [हिं० पंडित] पंडितों के ढंग का। जैसे, पंडिताऊ हिंदी।

पंडितानी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पंडित] (१) पंडित की स्त्री। (२) ब्राह्मणी।

पंडु—वि० [सं०] (१) पीलापन लिए हुए मटमैला। (२) रवेत। सफेद। (३) पीला।

पंडुक—संज्ञा पुं० [सं० पांडु] [स्त्री० पंडुकी] कपोत या कबूतर की जाति का एक पक्षी जो ललाई लिए भूरे रंग का होता है। यह प्रायः जंगल झाड़ियों और उजाड़ स्थानों में होता है। नर की बोली कड़ी होती है और उसके गले में कंठा सा होता है जो नीचे की ओर अधिक स्पष्ट दिखाई पड़ता है पर ऊपर साफ नहीं मालूम होता। पंडुक दो प्रकार का होता है, एक बड़ा, दूसरा छोटा। बड़े का रंग भूरा भूरा और लुब्धता होता है। छोटे का रंग मटमैला लिए ईंट सा लाल होता है। कबूतर की तरह पंडुक जल्दी पालन नहीं होता। पंडुक और सफेद कबूतर के जोड़ से कुमरी पैदा होती है।

पर्या०—पिंडुक। पेंडुकी। फास्ता।

पंडोहा—संज्ञा पुं० [हिं० पानी + दह] नावदान। परनाला। पनाला।

पंथ—संज्ञा पुं० [सं० पथ] (१) मार्ग। रास्ता। राह। उ०—(क) जो न होत अस पुरुष उँजारा। सूक्ति न परत पंथ अधियारा।—जायसी। (ख) बिरहिन ऊभी पंथ सिर पंथी पूछे धाय। एक शब्द कहे पीव का कब रे मिलेंगे आय।—कबीर। (ग) खोजत पंथ मिलै नहिं धूरी।—तुलसी। (२) आचार पद्धति। व्यवहार का क्रम। चाल। रीति। व्यवस्था।

पौ०—कुपंथ। सुपंथ।

मुहा०—पंथ गहना=(१) रास्ता पकड़ना। चलने के लिये रास्ते पर होना। चलना। उ०—बिछुरत प्रान पयान करेंगे रहौ

आहु पुनि पंथ गहौ।—सूर। (२) चाल पकड़ना। ढंग पर चलना। विशेष प्रकार के कर्म में प्रवृत्त होना। आचरण ग्रहण करना। पंथ दिखाना=(१) रास्ता बताना। (२) धर्म या आचार की रीति बताना। उपदेश देना। उ०—गुरु सेवा जेह पंथ दिखावा। बिनु गुरु जगत को निगुन पावा?—जायसी। पंथ देखना या निहारना=रास्ता देखना। बाट जोहना। प्रतीक्षा करना। इंतजार करना। उ०—(क) तुमरो पंथ निहारौं स्वामी। कबहिं मिलौंगे अंतर्धामी।—सूर। (ख) मालन लाव लाव मेरे आई। खेत आज अवार लगाई।.....मैं बैठी तुव पंथ निहारौं। आवो तुम पै तन मन वारौं।—सूर। पंथ में या पंथ पर पाँव देना=(१) चलना। चलने के लिये पैर उठाना या बढ़ाना। (२) रीति या ढंग पर चलना। विशेष प्रकार के कर्मों में प्रवृत्त होना। आचरण ग्रहण करना। जैसे, भूल कर भी बुरे पंथ में पाँव न देना। उ०—रघुवसिन कर सहज सुभाज। मन कुपंथ पग धरै न काज।—तुलसी।

पंथ पर लगना=(१) रास्ते पर होना। (२) चाल ग्रहण करना। किसी के पंथ लगना=(१) किसी के पीछे होना। अनुसरण करना। अनुयायी होना। (२) किसी के पीछे पड़ना। बराबर तंग करना। लगातार कष्ट देना। उ०—किन्नर, सिद्ध, मनुज, सुर नागा। हठि सब ही के पंथहि जागा।—तुलसी। पंथ पर जाना या लगाना=(१) ठीक रास्ते पर करना। (२) अच्छी चाल पर ले चलना। उत्तम आचरण सिखाना। धर्मोपदेश करना। उ०—अगुआ भयड सेख बुरहानू। पंथ लाय मोहिं दीन्ह गियानू।—जायसी। पंथ सेना=राह देखना। बाट जोहना। आसरा देखना। उ०—हारिब भई पंथ में सेवा। अब तोहि पढवों कौन परेवा।—जायसी।

(३) धर्ममार्ग। संप्रदाय। मत। जैसे, कबीरपंथ, नानक-पंथ, दादूपंथ। उ०—सैयद अशरफ पीर पियारा। जिन मोहिं पंथ दीन उजियारा।—जायसी।

†—संज्ञा पुं० [सं० पथ] वह हलका भोजन जो रोगी को लंघन या उपवास के पाछे शरीर कुछ स्वस्थ होने पर दिया जाता है। जैसे, मूँग की दाब।

पंथान—संज्ञा पुं० [सं० पंथ वा पथ] मार्ग। उ०—एहि महँ रुचिर सस सोपाना। रघुपति भगति करे पंथाना।—तुलसी।

पंथकी—संज्ञा पुं० [सं० पथिक] राही। पथिक। राह चलता मुसाफिर। उ०—(क) मंदिरन्ह जगत दीप परगसी। पंथकि चलत बसेरन बसी।—जायसी। (ख) कौन हो? किततें चले? कित जात हो? केहि काम? जू। कौन की दुहिता, वहु, कहि कौन की यह वाम, जू। एक गाँव रहै कि साजन

मित्र बंधु बलानिप । देश के ? परदेश के ? किधों पंथकी ?
पहिचानिप । —केशव ।

पंथिकी—संज्ञा पुं० दे० “पंथिक” ।

पंथी—संज्ञा पुं० [सं० पथिन्] (१) राही । बटोही । पथिक ।
उ०—(क) करहिं पथान भोर उठि नितहिं कोस दस जाहिं ।
पंथी पंथा जो चलहिं ते कित रहैं ओटाहिं ।—जायसी ।
(ख) बड़ा हुआ तो क्या हुआ जैसे छाँह खजूर । पंथी
छाँह न बैठहिं फल लगा तो दूर ।—कबीर । (२) किसी
संप्रदाय का अनुयायी । जैसे, कबीरपंथी, दादूपंथी इत्यादि ।

पंद—संज्ञा स्त्री० [फा०] शिजा । सीख । उपदेश । उ०—
नफस नाँव सों मारिये गोसमाल दे पंद । दूई है सौ दूरि
करि तब घर में आनंद ।—दादू ।

पंदरह—वि० [सं० पंचदश, पा० पण्यरस, प्रा० पण्यरह] जो संख्या
में दस और पाँच हो ।

संज्ञा पुं० दस और पाँच की संख्या या अंक जो इस प्रकार
लिखा जाता है—१५ ।

पंदरहवाँ—वि० [हिं० पंदरह] [स्त्री० पंदरहवीं] जो पंदरह के
स्थान पर हो । जिसका स्थान चौदह और पदाथों के
पीछे हो ।

पँथलाना—क्रि० सं० [देश०] फुसलाना । बहलाना ।

पंप—संज्ञा पुं० [अ०] (१) वह नल जिसके द्वारा पानी ऊपर
लीँचा या चढ़ाया जाता है अथवा एक ओर से दूसरी ओर
पहुँचाया जाता है । (२) पिचकारी ।

क्रि० प्र०—करना ।

(३) एक प्रकार का हलका अँगरेजी जूता जिसमें पंजे से
इधर का ही भाग ढका रहता है ।

पंपा—संज्ञा स्त्री० [सं०] दक्षिण देश की एक नदी और उसी से
लगा हुआ एक ताल और नगर जिनका उल्लेख रामायण
और महाभारत में है ।

विशेष—रामायण में लिखा है कि पंपा नदी से लगा हुआ
ऋष्यमूक पर्वत है । ये दोनों कहाँ हैं इसका ठीक ठीक निश्चय
नहीं हुआ है । विल्सन साहब ने लिखा है कि पंपा नदी
ऋष्यमूक पर्वत से निकल कर तुंगभद्रा नदी में मिल गई
है । रामायण से इतना पता तो और लगता है कि मलय
और ऋष्यमूक दोनों पर्वत पास ही पास थे । हनुमान् ने
ऋष्यमूक से मलय गिरि पर जाकर राम से मिलने का
वृत्तांत सुग्रीव से कहा था । आज कल त्रावणकोर राज्य में एक
नदी का नाम पंपे है । यह पश्चिम घाट से निकलती है जिसे
वहाँ वाले ‘अनमलय’ कहते हैं । अस्तु यही नदी पंपा
नदी जान पड़ती है और ऋष्यमूक पर्वत भी वही हो
सकता है जिससे यह नदी निकली है ।

पंपासर—संज्ञा पुं० दे० “पंपा”

पँवा—संज्ञा पुं० [फा० पुंवा = कपास] एक प्रकार का पीला रंग जो
उन रंगने में काम आता है ।

विशेष—४ छटांक मोखा हलदी की बुकनी १५ छटांक गंधक के
तेजाब में मिलाई जाती है । हल हो जाने पर उसे १ सेर उबलते
हुए पानी में मिला देते हैं । इस जल में थुला हुआ
उन एक घंटे तक छाया में सुखाया जाता है । यह रंग
कच्चा होता है पर यदि हलदी की जगह अकलबीर मिलाया
जाय तो रंग पक्का होता है ।

पँवर—संज्ञा स्त्री० दे० “पँवरी” ।

पँवरना—क्रि० अ० [सं० पवन] (१) तैरना । (२) थाह
लेना । पता लगाना । उ०—सूकर खान सियार सिंह
सप रहहिं घट माँहि । कुंजर कीरी जीव सब पँवरहिं
जानहि नाहि ।—कबीर ।

पँवरि—संज्ञा स्त्री० [सं० पुर = घर, वा पुरस = आगे] प्रवेशद्वार
या गृह । वह फाटक या घर जिससे होकर किसी मकान में
जाय । ड्योढ़ी । उ०—(क) पँवरि पँवरि गढ़ लाग केवारा ।
औ राजा सों भई पुकारा ।—जायसी । (ख) उवरी पँवरि
चला सुलतान ।—जायसी । (ग) पँवरिहि पँवरि सिंह
लिखि काटे ।—जायसी ।

पँवरिया—संज्ञा पुं० [हिं० पँवरी, पँवरि] (१) द्वारपाल । दरवान ।
ड्योढ़ीदार । (२) पुत्र होने पर या किसी और मंगल
अवसर पर द्वार पर बैठकर मंगल गीत गानेवाला याचक ।

पँवरी—संज्ञा स्त्री० दे० “पँवरि” ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पँव] खड़ाऊँ । पादत्राय । पाँवरी ।
उ०—पायन पहिरि लेहु सब पँवरी । काँट न खुभे गढ़ै
अँकरी ।—जायसी ।

पँवाड़ा—संज्ञा पुं० [सं० प्रवाद] (१) लंबी चौड़ी कथा जिसे
सुनते सुनते जी ऊँचे । कल्पित आख्यान । कहानी ।
दास्तान । (२) बड़ाई हुई बात । व्यर्थ विस्तार के साथ
कही हुई बात । बात का बतकड़ । (३) एक प्रकार का
गीत ।

पँवार—संज्ञा पुं० [सं० परमार] राजपूतों की एक जाति । दे०
“परमार” ।

पँवारना—क्रि० सं० [सं० प्रवारण = रोकना] हटाना । दूर करना ।
फेंकना । उ०—(क) सावज न होइ भाई सावज न होइ ।
बाकी मांसु भलै सब कोई । सावज एक सकल संसारा
अविगति वाकी बाता । पेट फारि जो देखिए रे भाई आहि
करेज न आता । ऐसी वाकी मांसु रे भाई पल पल मांसु
बिकाई । हाड़ गोड़ लै पूर पँवारे आगि धुवाँ नहिं खाई ।
—कबीर । (ख) देखि दशा सुकुमारि की युवती सब भाई ।
तह तमाल वृक्षत फिर कहि कहि मुरभाई । नंदनंदन देखे
कहूँ मुरली करधारी । कुंडल मुकुट विराजै तसु कुंडल

भारी। लोचन चारु विलास हैं नासा अति लोनी। अरुन
अधर दशनावली छवि बरनै कौनी। बिंब पैवारे लाजहिं
दामिनि दुति थोरी। ऐसे हरि हम को कहे कहुं देखे हैरी।

—सूर। (ग) सुआ सुनाक कठोर पैवारी। वह कोमल
तिल कुसुम सँवारी।—जायसी। दे० “पवारना”।

पैवारी—संज्ञा स्त्री० [देश०] जोहारों का एक औजार जिससे
लोहे में छेद किया जाता है।

पैसरहट्टा—संज्ञा पुं० [हिं० पंसारि + हट्ट, हाट] वह बाजार जहाँ
पंसारियों की दुकानें हों।

पंसारि—संज्ञा पुं० [सं० पण्यशाला] हलदी, धनिया, आदि मसाले
तथा दवा के लिये जड़ी बूटी बेचनेवाला बनिया।

पंसासार—संज्ञा पुं० [सं० पाशक, हिं० पासा + सं० सारि = गोटी]
पासे का खेल। उ०—(क) कौड खेलत कहु पंसासारी।
खेलत कौतुक की बलभारी।—सबलसिंह। (ख) अनिरुद्ध
जी और राजकन्या निद्रा से चौंक पंसासार खेलने लगे।

—लल्लू।

पैसियाना—क्रि० सं० [हिं० पासा] पासे से मारना।

पैसुरी—संज्ञा स्त्री० दे० “पसुली”।

पैसुली—संज्ञा स्त्री० दे० “पसली”।

पंसेरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पाँच + सेर] पाँच सेर की तोल।

पइग—संज्ञा पुं० दे० “पैग” “पग”।

पइज—संज्ञा स्त्री० दे० “पैज”।

पइठ—संज्ञा स्त्री० दे० “पैठ”।

पइठना—क्रि० अ० दे० “पैठना”।

पइता—संज्ञा पुं० [?] एक छद्म जिसे पाईता भी
कहते हैं। इसमें एक भगण, एक भगण और सगण होता
है। जैसे—ताके दोनों कुल गनिये। औ दोनो लोचन मनिये ॥
जेते नारी गुण गनियो। सो है जागे श्रुति सुनियो ॥

पइना—संज्ञा पुं० दे० “पैना”।

पइला—संज्ञा पुं० [देश०] अनाज मापने का एक बरतन जिसमें
५ सेर अनाज आता है।

पइसना—क्रि० अ० दे० “पैठना”।

पइसार—संज्ञा पुं० [हिं० पइसना] पैठ। प्रवेश। उ०—अति
बहु रूप धरौ निसि नगर करउँ पइसार।—तुलसी।

पउँरि, पउँरी—संज्ञा स्त्री० दे० “पौरि”।

पउनार—संज्ञा स्त्री० दे० “पौनार”।

पउला—संज्ञा पुं० [हिं० पाँच + ला (प्रत्य०)] भड़े प्रकार की
खड़ाई जिसमें खूँटी के स्थान पर उगलियाँ फँसाने के लिये
रस्सी लगी रहती है।

पकड़—संज्ञा स्त्री० [सं० प्रकृष्ट, प्रा० पक्कड़] (१) पकड़ने की
क्रिया या भाव। धरने का काम। ग्रहण। जैसे, तुम उसकी
पकड़ से नहीं छूट सकते।

यौ०—धर पकड़।

मुहा०—पकड़ में आना = (१) पकड़ा जाना। गृहीत होना।
मिलना। हाथ लगना। (२) दाँव पर चढ़ना। घात में आना।
वश में होना।

(२) पकड़ने का ढंग। (३) लड़ाई में एक एक बार
आकर परस्पर गुथना। भिड़ंत। हाथापाई। जैसे, (क)
हमारी तुम्हारी एक पकड़ हो जाय। (ख) वह कई पकड़
लड़ा। (४) दोष, भूल आदि ढूँढ़ निकालने की क्रिया या
भाव। जैसे, उसकी पकड़ बड़ी जबरदस्त है, उसने कई जगह
भूलें दिखाईं।

पकड़ धकड़—संज्ञा स्त्री० दे० “धर पकड़”।

पकड़ना—क्रि० सं० [सं० प्रकृष्ट, प्रा० पक्कड़] (१) किसी वस्तु
को इस प्रकार दृढ़ता से स्पर्श करना या हाथ में लेना कि
वह जल्दी छूट न सके अथवा ध्वर उधर जा वा हिल
डोल न सके। धरना। थामना। गहना। ग्रहण करना।
जैसे, (क) छड़ी पकड़ना। (ख) उसका हाथ पकड़े रहो,
नहीं तो वह गिर पड़ेगा। (ग) किसी वस्तु को उठाने के
लिये चिमटी से पकड़ना।

संयो० क्रि०—देना।—लेना।

(२) छिपे हुए या भागते हुए को पाना और अधिकार
में करना। काबू में करना। गिरफ्तार करना। जैसे, चोर
पकड़ना। (३) गति या व्यापार न करने देना। कुछ करने
से रोक रखना। स्थिर करना। ठहराना। जैसे, बोलते हुए
की ज़बान पकड़ना, मारते हुए का हाथ पकड़ना।

संयो० क्रि०—लेना।

(४) ढूँढ़ निकालना। पता लगाना। जैसे, गलती पक-
ड़ना, चोरी पकड़ना। (५) कुछ करते हुए को कोई विशेष
बात आने पर रोकना। टोकना। जैसे, जहाँ वह भूल करे
वहाँ उसे पकड़ना। (६) दौड़ने, चलने या और किसी
बात में बढ़े हुए के बराबर हो जाना। जैसे, (क) दौड़ में
पहले तो दूसरा आगे बढ़ा था पर पीछे इसने पकड़ लिया।
(ख) यदि तुम परिश्रम से पढ़ोगे तो दो महीने में उसे
पकड़ लोगे। (७) किसी फैलनेवाली वस्तु में जग कर
उसका अपने में संचार करना। जैसे, फूल का आग को
पकड़ना, कपड़े का रंग पकड़ना। (८) जग कर फैलना
या मिलना। संचार करना। जैसे, आग का फूस को पक-
ड़ना। (९) अपने स्वभाव या वृत्ति के अंतर्गत करना।
धारण करना। जैसे, चाल पकड़ना, ढंग पकड़ना। (१०)
आक्रांत करना। असना। छेपना। घेरना। जैसे, रोग
पकड़ना, गठिया पकड़ना।

पकड़वाना—क्रि० सं० [हिं० पकड़ना का प्रे०] पकड़ने का काम

दूसरे से कराना । ग्रहण कराना । जैसे, चोर को सिपाही से पकड़वाना ।

संयो० क्रि०—देना ।

पकड़ाना—क्रि० सं० [हि० पकड़ना का प्रे०] (१) किसी के हाथ में देना या रखना । थमाना । जैसे, यह किताब उन्हें पकड़ा दो । (२) पकड़ने का काम कराना । ग्रहण कराना । जैसे, चोर पकड़ाना ।

संयो० क्रि०—देना ।

पकना—क्रि० अ० [सं० पक्व, हि० पक्का, पका + ना (प्रत्य०)] (१) पक्कावस्था को पहुँच जाना । कच्चा न रहना । अनाज, फल आदि का पुष्ट होकर काटने या खाने के योग्य होना । ऐसी अवस्था को पहुँचना जिसमें स्वाद, पूर्णता आदि आ जाती है । जैसे, आम पकना, खेत में अनाज पकना ।

संयो० क्रि०—जाना ।

मुद्दा—बाल पकना = (बुढ़ापे के कारण) बाल सफेद होना ।

(२) आँच या गरमी खाकर गलना या तैयार होना । सिद्ध होना । सीकना । रीँधना । चुरना । जैसे, दाल पकना, रोटी पकना, रसोई पकना ।

मुद्दा—(मिट्टी का) बरतन पकना = आवि में आँच खा कर कड़ा होना । आवि में तैयार होना । कलेजा पकना = जी जलना । संताप होना ।

(३) फोड़े, फुंसी याव आदि का इस अवस्था में पहुँचना कि उनमें मवाद आ जाय । पीब से भरना । (४) चौसर में गोठियों का सब चरों को पार करके अपने घर में आ जाना । (५) कीमत ठहराना । सौदा पटना । मामला तै होना ।

पकरना*—क्रि० सं० दे० “पकड़ना” ।

पकरिया—संज्ञा स्त्री० दे० “पाकर” ।

पकला—संज्ञा पुं० [हि० पकला] फोड़ा ।

पकवान—संज्ञा पुं० [सं० पकात्र] धी में तलकर बनाई हुई खाने की वस्तु । जैसे, पूरी, कचौरी ।

पकवाना—क्रि० सं० [हि० पकाना का प्रे०] (१) पकाने का काम कराना । पकाने में प्रवृत्त करना । (२) आँच पर तैयार कराना । जैसे, रसोई पकवाना ।

पकसालू—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बाँस जो पूर्व और उत्तर बंगाल, आसाम, चटगाँव तथा बरमा में होता है । पानी भरने के लिये इसके चोंगे बनते हैं । छाता बनाने के काम में भी यह आता है । इसकी पतली फट्टियों से टोकरे भी बनते हैं ।

पकाई—संज्ञा स्त्री० [हि० पकाना] (१) पकाने की क्रिया या भाव । (२) पकाने की मजदूरी ।

पकाना—क्रि० सं० [हि० पकना] (१) फल आदि को पुष्ट और तैयार करना । जैसे, पाल में आम पकाना ।

संयो० क्रि०—डालना ।—देना ।—लेना ।

(२) आँच या गरमी के द्वारा गलाना या तैयार करना । रीँधना । सिक्कना । जैसे, खाना पकाना, रोटी पकाना ।

मुद्दा—(मिट्टी का) बरतन पकाना = आवि में आँच के द्वारा कड़ा और पुष्ट करना । कलेजा पकाना = जी जलाना । संताप पहुँचाना ।

(३) फोड़े, फुंसी याव आदि को इस अवस्था में पहुँचना कि उसमें पीब या मवाद आ जाय । (४) मात्रा पूरी करना । सौदा पूरा करना । लगाना । जैसे, चाह रूपए का गुड़ पका दो । (बनिये)

पकार—संज्ञा पुं० [प + कार] ‘प’ अक्षर ।

पकाव—संज्ञा पुं० [हि० पकना] (१) पकने का भाव । (२) पीब । मवाद ।

पकौड़ा—संज्ञा पुं० [हि० पका + बरी, बड़ी] [स्त्री० अल्प० पकौँदी] धी या तेल में पकाकर फुलाई हुई बेसन या पीठी की बड़ी बड़ी ।

पकौड़ी—संज्ञा स्त्री० दे० “पकौड़ा” ।

पक्करस—संज्ञा पुं० [सं०] मदिरा ।

पक्कारि—संज्ञा पुं० [सं०] काँजी ।

पक्का—वि० [सं० पक्व] [स्त्री० पक्की] (१) अनाज या फल जो पुष्ट होकर खाने के योग्य हो गया हो । जो कच्चा न हो । पका हुआ । जैसे, पक्का आम । (२) जिसमें पूर्णता आ गई हो । जिसमें कसर न हो । पूरा । जैसे, पक्का चोर, पक्का धूर्त । (३) जो अपनी पूरी बाढ़ या प्रौढ़ता को पहुँच गया हो । पुष्ट । जैसे, पक्की लकड़ी ।

मुद्दा—पक्का पान = वह पान जो कुछ दिन रखने से सफेद और खाने में स्वादिष्ट हो गया हो ।

(४) जिसके संस्कार वा संशोधन की प्रक्रिया पूरी हो गई हो । साफ और दुरुस्त । तैयार । जैसे, पक्की चीनी, पक्का शोरा । (५) जो आँच पर कड़ा या मजबूत हो गया हो । जैसे, मिट्टी का पक्का बरतन । (६) जिसे अभ्यास हो । जो मँज गया हो । जो किसी काम को करते करते जमा या बैठा हो । पुस्ता । जैसे, पक्का हाथ । (७) जिसका पूरा अभ्यास हो । जो अभ्यस्त वा निपुण व्यक्ति के द्वारा बना हो । जैसे, पक्का खत, पक्के अक्षर । (८) अनुभवप्राप्त । तजस्वेकार । निपुण । दक्ष । होशियार । जैसे, हिसाब में अब वह पक्का हो गया । (९) आँच पर गलाया या तैयार किया हुआ । आँच पर पका हुआ ।

मुद्दा—पक्का खाना या पक्की रसोई = धी में पका हुआ भोजन । जैसे, पूरी कचौरी मालपूआ । पक्का पानी = (१) औटया हुआ पानी । (२) स्वास्थ्यकर जल । नीरोग और पुष्ट जल ।

(१०) दड़। मजबूत। टिकाऊ। जैसे, इस मंदिर का काम बहुत पका है, वह जल्दी गिर नहीं सकता।

मुहा०—पका काम = असली चाँदी सेने के तार के बने बेल बूटे का काम। असली कारचोबी का काम। जैसे, इस टोपी पर पका काम है। पका घर या मकान = सुखी चूने के मसाले और ईंटों से बना हुआ घर। पका रंग = न छूटनेवाला रंग। बना रहनेवाला रंग।

(११) स्थिर। दड़। न ढलनेवाला। निश्चित। जैसे, पकी बात, पका ह्वादा, विवाह पका करना।

(१२) प्रमाणों से पुष्ट। प्रामाणिक। जिसे भूल या कसर के कारण बदलना न पड़े या जो अन्यथा न हो सके। ठीक जैसा हुआ। नपा तुला। जैसे, (क) वह बहुत पक्की सलाह देता है। (ख) पक्की दलील।

मुहा०—पका कागज = वह कागज जिस पर लिखी हुई बात कानून से दृढ़ समझी जाती है। स्टांप का कागज। पकी बही या खाता = वह वही जिस पर ठीक जैसा हुआ या तै किया हुआ हिसाब उतारा जाता है। पका चिट्ठा = ठीक जैसा चिट्ठा।

(१३) जिसका मान प्रामाणिक हो। टकसाली। जैसे, पका मन, पक्की तोल, पका बीबा।

पकाइत—संज्ञा स्त्री० [हि० पका] दड़ता। मजबूती। निश्चय। पोढ़ाई।

पक्खर*—संज्ञा स्त्री० दे० “पाखर”।

वि० [सं० पक्] पका। पुराता। उ०—लख में पक्खर तिवखन तेज जे सूर समाज सें गाज गने हैं।—तुलसी।

पक्खा—संज्ञा पुं० दे० “पाखा”।

पक्कपौड—संज्ञा पुं० [सं०] पक्खोड़ा नाम का एक पेड़।

पक्क—वि० [सं०] (१) पका हुआ। (२) पका। (३) परिपुष्ट। दड़।

पक्ककृत—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पकानेवाले। (२) (फोड़े आदि को पकानेवाली) नीम।

पकता—संज्ञा स्त्री० [सं०] पक्क होने का भाव। पकापन।

पकश—संज्ञा पुं० [सं०] एक अस्थि नीच जाति।

पकातीसार—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का अतीसार। आम्रातीसार का उलटा।

विशेष—आम्रातीसार में मज के साथ आंव गिरती है, पक्वातीसार में नहीं।

पकान्न—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पका हुआ अन्न। (२) बी, पानी आदि के साथ आग पर पका कर बनाई हुई खाने की चीज।

पकाशय—संज्ञा पुं० [सं०] पेट में वह स्थान जहाँ आमाशय में ढीला होकर अन्न जाता है और यकृत और क्लोम ग्रंथियों से आए हुए रस से मिलता है। यह वास्तव में अन्न का ही एक भाग है।

विशेष—यूक के साथ मिल कर खाया हुआ भोजन अन्न की नली से होकर नीचे उतरता है और आमाशय में जाता है जो मशक के आकार की थैली सा होता है। इस थैली में आकर भोजन इकट्ठा होता है और आमाशय के अम्लरस से मिल कर तथा मांस के आकुंचन प्रसारण द्वारा मया जाकर ढीला और पतला होता है। जब भोजन अम्लरस से मिल कर ढीला हो जाता है तब पक्वाशय का द्वार खुल जाता है और आमाशय बड़े वेग से उसे उस ओर ढकेलता है। पक्वाशय यथार्थ में छोटी आंत के ही प्रारंभ का बारह अंगुल तक का भाग है जिसके तंतुओं में एक विशेष प्रकार की कोष्ठाकार ग्रंथियाँ होती हैं। इसमें यकृत से आकर पित्त रस और क्लोम से आकर क्लोम रस भोजन के साथ मिलता है। क्लोम रस में तीन विशेष पाचक पदार्थ होते हैं जो आमाशय से कुछ विश्लेषित होकर आए हुए (अधपचे) द्रव्य का और सूक्ष्म अणुओं में विरले-पण करता है जिससे वह युक्त कर रूग्णमयी कलाओं से होकर रक्त में पहुँचने के योग्य हो जाता है। पित्त रस के साथ मिलने से क्लोम रस में तीव्रता आती है और वसा या चिकनाई पचती है।

पक्ष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी स्थान वा पदार्थ के वे दोनों ओर या किनारे जो अगले और पिछले से भिन्न हों। किसी विशेष स्थिति से दहने और बाएँ पड़नेवाले भाग। ओर। पार्श्व। तरफ। जैसे, सेना के दोनों पक्ष।

विशेष—‘ओर’ ‘तरफ’ आदि से ‘पक्ष’ शब्द में यह विशेषता है कि यह वस्तु के ही दो अंगों को सूचित करता है, वस्तु से पृथक् दिक् मात्र को नहीं।

(२) किसी विषय के दो या अधिक परस्पर भिन्न अंगों में से एक। किसी प्रसंग के संबंध में विचार करने की अलग अलग बातों में से कोई एक। पहलू। जैसे, (क) सब पक्षों पर विचार कर काम करना चाहिए। (ख) उत्तम पक्ष तो यही है कि तुम खुद जाओ। (३) किसी विषय पर दो या अधिक परस्पर भिन्न मतों में से एक। वह बात जिसे कोई सिद्ध करना चाहता हो और जो किसी दूसरे की बात के विरुद्ध हो। जैसे, (क) तुम्हारा पक्ष क्या है? (ख) तुम शास्त्रार्थ में एक पक्ष पर स्थिर नहीं रहते।

पौ०—उत्तर पक्ष। पूर्व पक्ष। पक्षखंडन। पक्षमंडन। पक्ष-समर्थन।

मुहा०—पक्ष गिरना = मत का युक्तियों द्वारा सिद्ध न हो सकना। शास्त्रार्थ या विवाद में हार होना। पक्ष निर्बल पड़ना = मत का युक्तियों द्वारा पुष्ट न हो सकना। पक्ष प्रबल पड़ना = मत का युक्तियों द्वारा पुष्ट होना। दलील मजबूत होना। पक्ष सँभालना = किसी मत या बात का खंडन होने से बचना। पक्ष

में = मत या बात के प्रमाण में। कोई बात सिद्ध करने के लिये।

(४) दो या अधिक बातों में से किसी एक के संबंध में (किसी की) ऐसी स्थिति जिससे उसके होने की इच्छा, प्रयत्न आदि सूचित हो। अनुकूल मत या प्रवृत्ति। जैसे, तुम देने के पक्ष में हो कि न देने के ?

मुद्दा०—किसी बात के पक्ष में होना = किसी बात का होना ठीक या अच्छा समझना।

(५) ऐसी स्थिति जिससे एक दूसरे के विरुद्ध प्रयत्न करनेवालों में से किसी एक की कार्यसिद्धि की इच्छा या प्रयत्न सूचित हो। झगड़ा या विवाद करनेवालों में से किसी के अनुकूल स्थिति। जैसे, इस मामले में वह हमारे पक्ष में है।

मुद्दा०—(किसी का) पक्ष करना = दे० “पक्षपात करना”। पक्ष ग्रहण करना = पक्ष लेना। (किसी का) पक्ष लेना = (१) (झगड़े में) किसी की ओर होना। किसी की सहायता में खड़ा होना। सहायक होना। (२) पक्षपात करना। तरफदारी करना।

(६) निमित्त। लगाव। संबंध। जैसे, ऐसा करना तुम्हारे पक्ष में अच्छा न होगा। (७) वह वस्तु जिसमें साध्य की प्रतिज्ञा करते हैं। जैसे, “पर्वत वह्निमान् है”। यहाँ पर्वत पक्ष है जिसमें साध्य वह्निमान् की प्रतिज्ञा की गई है। (न्याय)। (८) किसी की ओर से लड़नेवालों का दल। फौज। सेना। बल। (९) सहायकों या सवगों का दल। साथ रहनेवाला समूह। उ०—अंग पक्ष जाने बिना करिय न बैर विरोध।

यो०—केशपक्ष = बालों का समूह।

(१०) सहायक। सखा। साथी। (११) किसी विषय पर भिन्न भिन्न मत रखनेवालों के अलग अलग दल। विवाद या झगड़ा करनेवालों की अलग अलग मंडलियाँ। वादियों प्रतिवादियों के अलग अलग समूह। जैसे, (क) दोनों पक्षों को सावधान कर दो कि झगड़ा न करें। (ख) तुम कभी इस पक्ष में मिलते हो कभी उस पक्ष में। (१२) चिड़ियों का डेना। पंख। पर। (१३) शरपक्ष। तीर में लगा हुआ पर। (१४) एक महीने के दो भागों में से कोई एक। चांद्रमास के पंद्रह पंद्रह दिनों के दो विभाग। पंद्रह दिन का समय। पाख। विशेष—पक्ष दो होते हैं—कृष्ण और शुक्ल। कृष्ण प्रतिपदा से लेकर अमावास्या तक कृष्ण पक्ष कहलाता है क्योंकि इसमें चंद्रमा की कला प्रति दिन घटती जाती है जिससे रात अँधेरी होती है। शुक्ल प्रतिपदा से लेकर पूर्णिमा तक शुक्ल पक्ष कहलाता है क्योंकि उसमें चंद्रमा की कला प्रति दिन बढ़ती जाती है जिससे रात उजली होती है। कृष्णपक्ष में सूर्यास्त से और शुक्ल पक्ष में सूर्योदय से तिथि की जाती है।

(१५) गृह। घर। (१६) चूल्हे का छेद। (१७) राजा का हाथी। (१८) पक्षी। चिड़िया। (१९) हाथ में पहनने का कड़ा। (२०) महाकाल शिव।

पक्षधर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पक्ष का आदमी। तरफदारी। (२) पक्षी। चिड़िया।

पक्षपात—संज्ञा पुं० [सं०] बिना उचित अनुचित के विचार के किसी के अनुकूल प्रवृत्ति या स्थिति। तरफदारी।

पक्षपाती—संज्ञा पुं० [सं०] तरफदार। बिना उचित अनुचित के विचार के किसी के अनुकूल प्रवृत्ति होनेवाला।

पक्षमूल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) डेना। पर। (२) प्रतिपदा तिथि।

पक्ष्यालि—संज्ञा पुं० [सं०] खिड़की।

पक्षरचना—संज्ञा स्त्री० [सं०] किसी का पक्ष साधन के लिये रचा हुआ आशोजन। बह्यंत्र। चक्र।

पक्षरूप—संज्ञा पुं० [सं०] महादेव।

पक्षवर्दिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] वह द्वादशी तिथि जो सूर्योदय से लेकर सूर्योदय तक रहे।

पक्षवान्—वि० [सं० पक्षवत्] [स्त्री० पक्षवती] (१) पक्षवाला। परवाला। (२) उच्च कुल में उत्पन्न।

संज्ञा पुं० पर्वत। (पुराणों में कथा है कि पहले पर्वतों को पंख होते थे और वे उड़ते थे। पीछे इंद्र ने उनके पर काट लिए।)

पक्षविंदु—संज्ञा पुं० [सं०] कंकपक्षी।

पक्षसुंदर—संज्ञा पुं० [सं०] लोभ।

पक्षाघात—संज्ञा पुं० [सं०] अर्द्धांग रोग जिसमें शरीर के दहने या बाएँ किसी पार्श्व के सब अंग (जैसे, हाथ, पैर, कंधा इत्यादि) क्रियाहीन हो जाते हैं। आधे अंग का लकवा। फाल्जिज।

विशेष—वैद्यक के अनुसार इस रोग में कुपित वायु शरीर के अर्द्धांग में भर कर और उसकी शिराओं और स्नायुओं का शोषण करके संधिबंधनों और मस्तिष्क को शिथिल कर देती है जिससे उस पार्श्व के सब अंग निष्क्रिय और निश्चेष्ट हो जाते हैं। डाक्टरों के अनुसार पक्षाघात दो प्रकार का होता है, एक तो वह जिसमें अंगों की गति मारी जाती है, दूसरा वह जिसमें संवेदना नष्ट हो जाती है और अंग सुख हो जाते हैं।

पक्षाभास—संज्ञा पुं० [सं०] सिद्धांताभास।

पक्षालिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] कुमार की अनुचरी मातृका।

पक्षालु—संज्ञा पुं० [सं०] पक्षी।

पक्षावसर—संज्ञा पुं० [सं०] पूर्णिमा।

पक्षिणी—वि० [सं०] पक्षवाली।

संज्ञा स्त्री० (१) चिड़िया। मादा चिड़िया। (२) पूर्णिमा।

(३) दो दिन और एक रात का समय। (स्मृति)

पक्षित्तीर्थ—संज्ञा पुं० [सं०] दक्षिण का एक तीर्थ जो प्राचीन काल में हिंदुओं और बौद्धों के बीच प्रसिद्ध था। यह मद्रास से १६-१७ कोस दक्षिण पड़ता है। आज कल इसका नाम तिरुकडुकुनरम् है।

पक्षिराज—संज्ञा पुं० [सं०] पक्षियों का राजा, गरुड़।

पक्षिलस्वामी—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन आचार्य। हेमचंद्र के मत से वास्तव्यन ही का नाम पक्षिल-स्वामी है।

पक्षी—संज्ञा पुं० [सं०] (१) चिड़िया। (२) तरफदार।

पक्षेष्टि—वि० [सं०] एक पक्ष में होनेवाला। पक्षिक।

संज्ञा पुं० [सं०] पक्षिक याग। वह यज्ञ जो प्रति पक्ष किया जाय।

पक्ष्म—संज्ञा पुं० [सं० पक्ष्मन्] आँख की बिरनी। बरौनी।

पक्ष्मकोप—संज्ञा पुं० [सं०] आँख की बिरनी या पक्षकों का एक रोग।

पखंड—संज्ञा पुं० दे० “पाखंड”।

पखंडी—वि० दे० “पाखंडी”।

पख—संज्ञा स्त्री० [सं० पक्ष, प्रा० पक्ख] (१) वह बात जो किसी बात के साथ जोड़ दी जाय और जिसके कारण व्यर्थ कुछ और श्रम या कष्ट उठाना पड़े। ऊपर से व्यर्थ बढ़ाई हुई बात। तुरा। जैसे, (क) मैं आऊँगा अवश्य, पर साथ में कुछ लाने की पख न लगाइए। (ख) मैं कागज लिखने को तैयार हूँ पर वे गवाह की पख लगाते हैं।

क्रि० प्र०—लगाना।—लगाना।

(२) ऊपर से बढ़ाई हुई शर्त। बाधक नियम। अड़ंगा। जैसे, इम्तहान की पख न होती तो ये उस जगह पर हो जाते। (३) झगड़ा। बखेड़ा। झगड़। हैरान करनेवाली बात। जैसे, तुमने मेरे पीछे अच्छी पख लगा दी है, वह रूपों के लिये बराबर मुझे घेरा करता है।

क्रि० प्र०—करना।—फँसाना।—मचाना।

(४) दोष। त्रुटि। तुक्क। जैसे, वे इस हिसाब में यह पख निकालेंगे कि इसमें अलग अलग व्योरा नहीं है।

पखड़ी—संज्ञा स्त्री० [सं० पक्ष्म] फूलों का रंगीन पटल जो खिलने के पहले आवरण के रूप में गर्भ या परागकेसर को चारों ओर से बंद किए रहता है और खिलने पर फैला रहता है। पुष्पदल। जैसे, गुलाब की पखड़ी, कमल की पखड़ी।

पखनारी—संज्ञा स्त्री० [सं० पक्ष + नाल] चिड़ियों के पंखों की उंठी जिसे ढरकी के छेद में तिली रोकने के लिये लगाते हैं। (जुलाहे)

पखपान—संज्ञा पुं० [हिं० पग + पान] पैर में पहनने का एक गहना जिसे पाँवपोश भी कहते हैं।

पखराना—क्रि० सं० [हिं० पखराना का प्रे०] धुलवाना। पखारने का काम कराना।

पखरी—संज्ञा स्त्री० (१) दे० “पाखर”। (२) दे० “पँखड़ी”।

पखरैत—संज्ञा पुं० [हिं० पाखर + ऐत (प्रत्य०)] वह छोड़ा, बैल या हाथी जिसपर लोहे की पाखर पड़ी हो।

पखरौटा—संज्ञा पुं० [हिं० पखड़ी + औटा (प्रत्य०)] सोने या चाँदी के वर्क से लपेटा हुआ पान का बीड़ा।

पखवाड़ा—संज्ञा पुं० दे० “पखवारा”।

पखवारा—संज्ञा पुं० [सं० पक्ष + वार] (१) चांद्रमास का पूर्वार्द्ध वा उत्तरार्द्ध। महीने के पंद्रह पंद्रह दिन के दो विभागों में से कोई एक। (२) पंद्रह दिन का काल। उ०—परखेहु मोहि एक पखवारा। नहि आँवों तो जानेहु मारा।

—तुलसी।

पखाउजा—संज्ञा पुं० दे० “पखावज”।

पखाटा—संज्ञा पुं० [देश०] धनुष का कोना।

पखान*—संज्ञा पुं० दे० “पाषाण”।

पखाना—संज्ञा पुं० [सं० उपाख्यान] कहावत। कहनूत। कथा। मसल। उ०—बालापन ते निकट रहत ही सुन्यो न एक पखानो।—सूर।

संज्ञा पुं० दे० “पाखाना”।

पखारना—क्रि० सं० [सं० प्रखालन, प्रा० पक्खाइन] पानी से मैल आदि साफ करना। धोकर साफ करना। धोना। जैसे, पैर पखारना। उ०—(क) पाँव पखारि निकट बैठारे समाचार सब बूझे।—सूर। (ख) जो प्रभु अवसि पार गा चहहू। तौ पद पदुम पखारन कहहू।—तुलसी।

पखाल—संज्ञा स्त्री० [सं० पख = पानी + हिं० खाल] (१) बैल के चमड़े की बनी हुई बड़ी मशक जिसमें पानी भरा जाता है। (२) धौकनी।

पखालपेटिया—संज्ञा पुं० [हिं० पखाल + पेट] (१) वह जिसका पेट पखाल की तरह बड़ा हो। बड़े पेटवाला। (२) बहुत खानेवाला आदमी। पेटू।

पखाली—संज्ञा पुं० [हिं० पखाल] पखाल या मशक में पानी भरनेवाला। भिरती।

पखावज—संज्ञा स्त्री० [सं० पक्ष + वाज] एक वाजा जो मृदंग से कुछ छोटा होता है।

पखावजी—संज्ञा पुं० [हिं० पखावज + ई] पखावज बजानेवाला।

पखिया—संज्ञा पुं० [हिं० पख] झगड़ालू। बखेड़ा मचानेवाला।

पखी*—संज्ञा पुं० दे० “पक्षी”।

पखीरी*—संज्ञा पुं० दे० “पक्षी”।

पखुड़ी, पखुरी—संज्ञा स्त्री० दे० “पखड़ी”।

पखुवा—संज्ञा पुं० [सं० पक्ष, हिं० पक्ख] बाँह का वह भाग जो किनारे या बगल में पड़ता है। पखुरा। भुजमूल का पार्श्व। पार्श्व। बगल।

मुहा०—पखुवे से लगकर बैठना = बगल में सटकर बैठना।

पखेरवा—संज्ञा पुं० दे० “पखेरु” ।

पखेरु—संज्ञा पुं० [सं० पत्तालु, प्रा० पक्खाडु] पत्ती । चिड़िया ।

उ०—मधुवन तुम कत रहत हरे । विरह विधेय श्याम
सुंदर के ठाढ़े क्यों न जरे ? ...ससा स्यार औ बन के पखेरु
धिक धिक खवन करे ।—सूर ।

पखेर—संज्ञा पुं० [देश०] वह खाना जो भैंस या गाय को, बच्चा
जनने पर, छः दिन तक दिया जाता है । इसमें लोंठ, गुड़,
हलदी, मँगरूँला और उर्द का आटा होता है ।

पखौड़ा—संज्ञा पुं० [सं०] पक्कपौड़ वृक्ष । एक पेड़ का नाम ।

पखौआ—संज्ञा पुं० [सं० पत्त] पंख । पर ।

पखौटा—संज्ञा पुं० [हिं० पंख] (१) डैना । पर । (२) मछली
का पर ।

पखौड़ा—संज्ञा पुं० दे० “पखौरा” ।

पखौरा—संज्ञा पुं० [सं० पत्त + और (प्रत्य०)] कंधे और भुजवृंड
की संधि । कंधे पर की हड्डी ।

पग—संज्ञा पुं० [सं० पदक, प्रा० पञ्जक, पक] (१) पैर । पाँव । (२)
चलने में एक स्थान से दूसरे स्थान पर पैर रखने की क्रिया
की समाप्ति । डग । फाल । (३) चलने में जिस स्थान से
पैर उठाया जाय और जिस स्थान पर रखा जाय दोनों के बीच
की दूरी । डग । फाल ।

पगडंडी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पग + डंडा] जंगल या मैदान में वह
पतला रास्ता जो लोगों के चलते चलते बन गया हो ।

पगड़ी—संज्ञा स्त्री० [सं० पटक, हिं० पाग + डी (प्रत्य०)] वह लंबा
कपड़ा जो सिर पर लपेट कर बाँधा जाता है । पाग । चिरा ।
साफा । उष्णीष ।

क्रि० प्र०—बाँधना ।—बाँधना ।

मुहा०—(किसी से) पगड़ी अटकना = बराबरी होना ।
मुकाबला होना । पगड़ी उछलना = दुर्गति होना । बुरी नौबत
आना । पगड़ी उछालना = (१) बेइज्जती करना । दुर्दशा
करना । (२) उपहास करना । हँसी उड़ाना । पगड़ी उतरना =
मान या प्रतिष्ठा भंग होना । बेइज्जती होना । पगड़ी उतारना =
(१) मान या प्रतिष्ठा भंग करना । बेइज्जती करना । (२)
वस्त्रमोचन करना । ठगना । छटना । धनसंपत्ति हारण करना ।
(किसी को) पगड़ी बाँधना = (१) उत्तराधिकार मिलना ।
वरासत मिलना । (२) उच्च पद या स्थान प्राप्त होना । सरदारी
मिलना । अधिकार प्राप्त होना । (३) प्रतिष्ठा मिलना । सम्मान
प्राप्त होना । (किसी को) पगड़ी बाँधना = (१) उत्तराधिकार
देना । गद्दी देना । (२) उच्च पद या अधिकार देना । सरदार
बनाना । (किसी के साथ) पगड़ी बदलना = भाईचारे का
नाता जोड़ना । मैत्री करना । (किसी को) पगड़ी रखना =
मानरक्षा करना । इज्जत बचाना । (किसी के आगे) पगड़ी

रखना = बहुत नम्रता करना । विनती करना । गिड़गिड़ाना । हा
हा खाना ।

पगतरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पग + तल] जूता ।

पगदासी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पग + दासी] (१) जूता (२) खड़ाऊँ ।

पगना—क्रि० अ० [सं० पाक] (१) शरबत या शीरे में इस प्रकार
पकना कि शरबत या शीरा चारों ओर लिपट और घुस
जाय । रस के साथ परिपक्व होकर मिलना । जैसे, पेठे का
चीनी में पगना । (२) किसी लसबसे पदार्थ के साथ इस
प्रकार मिलना कि वह उसमें भर जाय । खनना । रस आदि
के साथ ओतप्रोत होना । (२) बहुत अधिक अनुरक्त होना ।
किसी के प्रेम में डूबना । मग्न होना । उ०—कहै पदमाकर
पगी यों पतिप्रेम ही में, पदमिनी तोसी तिया तोही
पेखियत है ।—पद्माकर ।

संयो० क्रि०—जाना ।

पगनिर्याँ—संज्ञा स्त्री० [सं० पग + निर्याँ (प्रत्य०)] जूती । उ०—
तनिर्याँ न तिलक सुथनिर्याँ पगनिर्याँ न धामै घुमरात छेड़ि
सेजिया सुखन की ।—भूषण ।

पगपान—संज्ञा पुं० [हिं० पग + पान] पैर में पहनने का एक मूषण
जिसे पलानी या गोड़संकर भी कहते हैं ।

पगरना—संज्ञा पुं० [देश०] सोने चाँदी के नक्काशों का एक औजार
जो नक्काशी करते समय छोटा गड्ढा बनाने के काम में
आता है ।

पगरा—संज्ञा पुं० [हिं० पग + रा (प्रत्य०)] पग । डग । कदम ।
उ०—सूर सनेह खारि मन अटको कूँड़िहु दिये परत नहिं
पगरो । परम मगन है रही चितै मुख सबहि ते भाग याहि
को अग्ररो ।—सूर ।

संज्ञा पुं० [फा० पगाह = संवेरा] यात्रा आरंभ करने का समय ।
प्रभात । चलने का समय । सबेरा । तड़का । उ०—(क) पी
फाटी पगरा हुआ जागे जीवा जून । सब काहू को देत है
चोंच समाना चून ।—कबीर । (ख) कबिरा पगरा दूर है,
बीच परी है राति । ना जानौ क्या होयगा जगता परभात ।—
कबीर ।

पगरी—संज्ञा स्त्री० दे० “पगड़ी” ।

पगला—वि० पुं० [स्त्री० पगली] दे० “पागल” ।

पगहा—संज्ञा पुं० [सं० प्रग्रह, प्रा० पग्गह] [स्त्री० पगही] वह
रस्सी जिससे पशु बाँधा जाता है । गिराँव । पवा ।

पगा—संज्ञा पुं० [हिं० पाग] पटका । दुपट्टा । उ०—मैगा पगा
अरु पाग पिछौरी ढाढ़िन को पहिराए ।—सूर ।

संज्ञा पुं० दे० “पघा” । उ०—तृण दशनन लै मिलु दसकंधर
कठहि मेलि पगा ।—सूर ।

संज्ञा पुं० दे० “पगरा” ।

पगाना—क्रि० स० [सं० पक वा पाक] (१) पागने का काम कराना

(२) अनुरक्त करना। मग्न करना। उ०—का कियो योग अजामिन् जू गनिका कबही मति प्रेम पगाई।—तुलसी।

पगार*—संज्ञा पुं० [सं० प्रकार] गढ़, प्रासाद या बाग बगीचे के स्तूप बनी हुई चहारदीवारी। रखवाली के लिये बनी हुई दीवार। ओट की दीवार। उ०—(क) नावली पगारन नगारन की बमकै।—भूषण। (ख) बीथिका बजार प्रति अटनि अगार प्रति पैवरि पगार प्रति बानर बिलोकिये।—तुलसी। संज्ञा पुं० [हिं० पग + गारना] (१) पैरों से कुचली हुई मिट्टी, कीचड़ वा गारा। (२) ऐसी वस्तु जिसे पैरों से कुचल सके। (३) वह पानी वा नदी जिसे पैदल चल कर पार कर सके। पायाव। उ०—गिरि ते ऊँचे रसिक मन बड़े जहाँ हजार। वहाँ सदा पसु नरन को प्रेम पयोधि पगार। संज्ञा पुं० वेतन। तनखाह।

पगाह—संज्ञा स्त्री० [पा०] यात्रा आरंभ करने का समय। प्रभात। मोर। तड़का। विशेष—दे० “पगारा”।

पगिआना*—क्रि० स० दे० “पगाना”।

पगिया*—संज्ञा स्त्री० दे० “पगड़ी”।

पगियाना*—क्रि० स० दे० “पगाना”।

पगु*—संज्ञा पुं० दे० “पग”।

पगुराना—क्रि० अ० [हिं० पागुर] (१) पागुर करना। जुगाली करना। (२) हजम कर जाना। डकार जाना। ले लेना।

पगना—संज्ञा पुं० [हिं० पागना या पकाना] पीतल वा ताँबा गलाने की धरिया। पागा।

पधा—संज्ञा पुं० [सं० प्रगृह] वह रस्सा जो गायों, बैलों आदि चौपायों के गले में बाँधा जाता है। ढोरों को बाँधने की मोटी रस्सी।

पधाल—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बहुत कड़ा लोहा।

✓ **पधिलना**—क्रि० अ० दे० “पिघलना”।

पधिलाना—क्रि० स० दे० “पिघलाना”।

पधैया—संज्ञा पुं० [हिं० पग = पैर, पैदल + इया (प्रत्य०)] गाँवों आदि में धूम धूम कर माल बेचनेवाला व्यापारी।

पचकना—क्रि० अ० दे० “पिचकना”।

पचकल्याण—संज्ञा पुं० दे० “पंचकल्याण”।

पचखना—वि० [हिं० पाँच + खंड] पाँच खंडोंवाला या पँच मंजिला (मकान आदि)।

क्रि० अ० दे० “पचकना”।

पचखा—संज्ञा पुं० दे० “पंचक”।

पचगुना—वि० [सं० पंचगुण] पाँच बार अधिक। पाँच गुना।

पचग्रह—संज्ञा पुं० [सं० पंचग्रह] मंगल, बुध, गुरु, शुक और शनि का समूह।

पचड़ा—संज्ञा पुं० [हिं० पाँच (प्रपंच) + डा (प्रत्य०)] (१) संकट। बखेड़ा। पैलाड़ा। प्रपंच।

क्रि० प्र०—निकाबना।—फैलाना।

(२) एक प्रकार का गीत जिसे प्रायः ओझा लोग देवी आदि के सामने गाते हैं। (३) लावनी या खयाल के ठंग का एक प्रकार का गीत जिसमें पाँच पाँच चरणों के टुकड़े होते हैं। ऐसे गीतों में प्रायः कोई कथा या आख्यान हुआ करता है।

पचतूरा—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बाजा।

पचतोलिया—संज्ञा पुं० [हिं० पाँच + तोला + इया (प्रत्य०)] पाँच तोले का बाट।

संज्ञा पुं० दे० “तौलिया”।

पचन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पकाने की क्रिया या भाव। पाक। (२) पकने की क्रिया या भाव। (३) अग्नि। (४) वह जो पकाता हो। पकानेवाला।

पचना—क्रि० अ० [सं० पचन] (१) खाई हुई वस्तु का जठराग्नि की सहायता से रसादि में परिणत होना। भुक्त पदार्थों का रसादि में परिणत होकर शरीर में लगने योग्य होना। हजम होना। जैसे, (क) रात का भोजन अभी तक नहीं पचा। (ख) जरा सा चूरण खा लो, भोजन पच जायगा। (२) चय होना। समाप्त या नष्ट होना। जैसे, बाई पचना, शेखी पचना, मोटाई पचना। (३) किसी चीज का मालिक के हाथ से निकलकर अनुचित रूप से किसी दूसरे के हाथ में इस प्रकार चला जाना कि फिर कोई उससे ले न सके। पराया माल इस प्रकार अपने हाथ में आ जाना कि फिर वापस न हो सके। हजम हो जाना। जैसे, उनके यहाँ अमानत में हजारों रुपए के जेवर रखे थे, सब पच गए। (४) अनुचित उपाय से प्राप्त किए हुए धन या पदार्थ का काम में आना। जैसे, उन्होंने लावारसी माल ले तो लिया, पर पचा न सके, सब चोर चुरा ले गए। (५) बहुत अधिक परिश्रम के कारण शरीर मस्तिष्क आदि का गलना, सूखना या क्षीण होना। ऐसा परिश्रम होना जिससे शरीर क्षीण हो। बहुत हैरान होना। दुःख सहना। ब०—ऊँचे नीचे करम धरम अधरम करि पेट ही को पचत बेचत बेटा बेटकी।—तुलसी।

संयो० क्रि०—जाना।

मुहा०—पच मरना = किसी काम के लिये बहुत अधिक परिश्रम करना। जीतोड़ मिहनत करना। हैरान होना।

(६) एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ में पूर्ण रूप से लीन होना। खपना। जैसे, जरा से चावल में सारा घी पच गया।

पचनागार—संज्ञा पुं० [सं०] पाकशाला। रसोईघर। बावरची-खाना।

पचनाश—संज्ञा पुं० [सं०] जठराश। पेट की आग जिससे खाया हुआ पदार्थ पचता है।

पचनिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] कड़ाही।

पचनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] बिहारी नीबू।

पचनीय—संज्ञा पुं० [सं०] पचने योग्य। जो पच सकता हो।

पचपच—संज्ञा स्त्री० [अनु०] (१) पचपच शब्द होने की क्रिया या भाव। (२) कीचड़।

पचपचा—वि० [हिं० पचपच] वह अथवा भोजन जिसका पानी ठीक तरह से सूखा या जला न हो।

पचपचाना—[हिं० पचपच] (१) किसी पदार्थ का आवश्यकता से अधिक गीला होना। (२) कीचड़ होना। (कच०)

पचपन—वि० [सं० पचपचाश, पा० पचपणसा] पचास और पाँच। पाँच कम साठ।

संज्ञा पुं० पचास और पाँच की संख्या या अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—५५।

पचपनवाँ—वि० [हिं० पचपन + वाँ (प्रत्य०)] क्रम में पचपन के स्थान पर पड़नेवाला। जो गिनने में चौवन के बाद पचपन की जगह पड़े।

पचपल्लव—संज्ञा पुं० दे० “पंचपल्लव”।

पचमेल—वि० [हिं० पाँच + मेल] जिसमें कई या सब प्रकार (के पदार्थ आदि) हों। जिसमें कई या सब मेल (की चीजें) हों। जैसे, पचमेल मिठाई।

पचरंग—संज्ञा पुं० [हिं० पाँच + रंग] चौक पुरने की सामग्री। मेंहदी का चूरा, अशीर, बुक्का, हल्दी और सुरवाली के बीज। विशेष—इस सामग्री में सर्वत्र येही ५ चीजें नहीं होतीं। इनमें से कुछ चीजों के स्थान पर दूसरी चीजें भी काम में लाई जाती हैं।

वि० दे० “पचरंगा”।

पचरंगा—वि० [हिं० पाँच + रंग] [स्त्री० पंचरंगी] (१) जिसमें भिन्न भिन्न पाँच रंग हों। पाँच रंग का या पाँच रंगोंवाला। (२) (कपड़ा) जो पाँच रंगों से रंगा या पाँच रंगों के सूतों से बुना हुआ हो। (३) जिसमें कई या बहुत से रंग हों। कई रंगों से रंजित।

संज्ञा पुं० नवग्रह आदि की पूजा के निमित्त पूरा जानेवाला चौक जिसके खाने या कोठे पचरंग के पाँच रंगों से भरे जाते हैं।

पचरा—संज्ञा पुं० दे० “पचड़ा”।

पचलड़ी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पाँच + लड़ी] माला की तरह का एक आभूषण जिसमें पाँच लड़ियाँ होती हैं। यह गले में पहना जाता है और इसकी अंतिम लड़ी प्रायः नाभि तक पहुँचती है। कभी कभी प्रत्येक लड़ी के और कभी कभी केवल अंतिम के बीचों बीच एक जुगनु लगा रहता है। इसके दाने सोने, मोती अथवा किसी अन्य रत्न के होते हैं।

पचलोना—संज्ञा पुं० [हिं० पाँच + लोन (सवण)] (१) जिसमें पाँच प्रकार के नमक मिले हों। (२) दे० “पंचलवण”।

पचवाई—संज्ञा स्त्री० दे० “पचवाई”।

पचवाई—संज्ञा स्त्री० [हिं० पाँच + वाई] एक प्रकार की देशी शराब जो चावल, जौ, ज्वार आदि से बुआई जाती है।

पचहत्तर—वि० [सं० पचसप्तति, प्रा० पंचहत्तरि] सत्तर और पाँच। सत्तर से ५ अधिक।

संज्ञा पुं० सत्तर और पाँच के जोड़ने से बननेवाली संख्या या अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—७२।

पचहत्तरवाँ—वि० [हिं० पचहत्तर + वाँ (प्रत्य०)] गिनने में पचहत्तर के स्थान पर पड़नेवाला। क्रम में जिसका स्थान पचहत्तर पर हो।

पचहरा—वि० [हिं० पाँच + हर] (१) पाँच परतों या तहोंवाला। पाँच बार मोड़ा या लपेटा हुआ। पाँच आवृत्तियोंवाला। (२) पाँच बार किया हुआ। (अप्रयुक्त)

पचानक—संज्ञा पुं० [देश] एक पत्नी जिसका शरीर एक बालिरत लंबा होता है। इसके डैने और गर्दन काली होती है। दक्षिण भारत और बंगाल इसके स्थायी आवासस्थान हैं पर अफगानिस्तान और बलूचिस्तान में भी यह पाया जाता है।

पचाना—कि० सं० [हिं० पचना] (१) पचना का सकर्मक रूप। पकाना। आँच पर गलाना। (२) खाई हुई वस्तु को जठराग्नि की सहायता से रसादि में परिणत कर शरीर में लगने योग्य बनाना। जीर्ण करना। हजम करना। जैसे, तुम चार चपातियाँ भी नहीं पचा सकते।

सं० क्रि०—जाना।—ढालना।—लेना।

(२) समाप्त या नष्ट कर देना। चय करना। जैसे, बाई पचाना, शेखी पचाना, मोटाई पचाना आदि।

संयो० क्रि०—ढालना।—देना।

(३) किसी की कोई वस्तु अनुचित या अवैध उपाय से हस्तगत कर सदा अपने अधिकार में रखना। पराप्त माल को अपना कर लेना। हजम कर जाना। उगलने का उल्टा। जैसे, किसी का माल चुराना सहज है पर पचाना सहज नहीं है।

संयो० क्रि०—जाना।—ढालना।—लेना।

(४) अवैध उपाय से हस्तगत वस्तु को अपने काम में लाकर लाभ उठाना। जैसे, ब्राह्मण का धन है, ले तो लिया पर तुम पचा न सकोगे। (५) अवैधिक परिश्रम लेकर या क्लेश देकर शरीर मस्तिष्क आदि को गलाना, सुखाना या चय करना। जैसे, (क) तपस्या करके देह पचा डाली। (ख) बेवकूफ से बहस करके कौन सत्य माथा पचावे ?

संयो० क्रि०—ढालना।—देना।

(६) एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ को अपने आप में पच

रूप से लीन कर लेना । खपाना । जैसे, यह चावल बहुत धी पचाता है ।

पंचार + संज्ञा० पुं० [हिं० पंचर] बाँस या लकड़ी का वह छोटा टंडा जो जूए में बाँड़े और होता है और सीढ़ी के डंडे की तरह उसके ढाँचे में दोनों ओर ठुका रहता है ।

पंचारना + क्रि० सं० [सं० पंचारण] किसी काम के करने के पहले इन लोगों के बीच उसकी घोषणा करना जिनके विरुद्ध वह किया जानेवाला हो । ललकारना । जैसे, हाँक पंचार कर कोई काम करना ।

पंचावाँ—संज्ञा० पुं० [हिं० पचना + आव (प्रत्य०)] पचने की क्रिया या भाव ।

पचास—वि० [सं० पंचाशत्, प्रा० पचासा] चालीस और दस । चालीस से दस अधिक । साठ से दस कम ।

संज्ञा पुं० वह संख्या या अंक जो चालीस और दस के जोड़ से बने । चालीस और दस की संख्या या अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—५० ।

पचासवाँ—वि० [हिं० पचास + वाँ (प्रत्य०)] गणना में पचास के स्थान पर पड़नेवाला ।

पचासा—संज्ञा पुं० [हिं० पचास] एक ही प्रकार की पचास वस्तुओं का समूह । जैसे, पजनेस पचासा (पचास पखों का संग्रह) ।

पचासी—वि० [सं० पंचाशीति प्रा० पंचासाइं, पचासी] अस्सी और पाँच । अस्सी से पाँच अधिक । पाँच ऊपर अस्सी । संज्ञा पुं० वह संख्या या अंक जो अस्सी और पाँच के जोड़ से बने । अस्सी और पाँच के योग की फलरूप संख्या या अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—८५ ।

पचासीवाँ—वि० [हिं० पचासी + वाँ (प्रत्य०)] गणना में पचासी के स्थान पर पड़नेवाला । जो क्रम में पचासी के स्थान पर हो ।

पचि—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पकाने की क्रिया या भाव । पाचन । (२) अग्नि । आग ।

पचित—वि० [सं० पचित = पचा हुआ, अच्छी तरह चुला मिला हुआ] पकी किया हुआ । जड़ा हुआ । बैठाया हुआ । (क्व) । इ०—हरी लाल प्रवाल पिरोजा पंगति बहुमणि पचित पचा-बने ।—सूर ।

पची—संज्ञा स्त्री० दे० “पच्ची” ।

पचीस—वि० [सं० पञ्चाविंशति, प्रा० पंचवीसति, अपभ्रंश प्रा० पचीस] पाँच और बीस । बीस से पाँच अधिक । पाँच ऊपर बीस । संज्ञा पुं० वह संख्या या अंक जो पाँच और बीस के जोड़ने से प्रकट हो । ५ और २० के योगफलरूप संख्या या अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—२५ ।

पचीसवाँ—वि० [हिं० पचीस + वाँ (प्रत्य०)] गणना में पचीस

के स्थान पर पड़नेवाला । जो क्रम में पचीस के स्थान पर हो ।

पचीसी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पचीस] (१) एक ही प्रकार की २५ वस्तुओं का समूह । जैसे, बैतालपचीसी (पचीस कहानियों का संग्रह) । (२) किसी की आयु के पहले २५ वर्ष । जैसे, अभी तो उन्होंने पचीसी भी नहीं पार की । (३) एक विशेष गणना जिसका सैकड़ा पचीस ग्राहियों अर्थात् १२५ का माना जाता है । आम अमरुद आदि सस्ते फलों की खरीद बिक्री में इसी का व्यवहार किया जाता है । (४) एक प्रकार का खेल जो चौसर की बिसात पर खेला जाता है । गोदियाँ भी उसी की सी होती हैं और उसी तरह चली जाती हैं । अंतर केवल यह है कि इसमें पासे की जगह ७ कौड़ियाँ होती हैं जो खड़खड़ा कर फेंकी जाती हैं । चित और पट कौड़ियों की संख्या के अनुसार दाँव का निश्चय होता है ।

पचुका + संज्ञा पुं० [हिं० पच से अनु०] पिचकारी ।

पचोतर—वि० [सं० पञ्चोत्तर] (किसी संख्या से) पाँच अधिक । पाँच ऊपर । जैसे, पचोतर सो ।

पचोतर सो—संज्ञा पुं० [सं० पञ्चोत्तर शत] सो और पाँच की संख्या या अंक । एक सौ पाँच । यह अंकों में इस प्रकार लिखा जाता है—१०५ ।

पचोतरा—संज्ञा पुं० [सं० पञ्चोत्तर] कन्या पच के पुरोहित का एक नेग जिसमें उसे दायज में, विशेष कर तिलक के समय, वर-पच को मिलनेवाले रूपों आदि में से सैकड़े पीछे पाँच मिलता है ।

पचैआ—संज्ञा पुं० [देश०] किसी कपड़े पर छोट छप चुकने के पीछे ८ या १२ दिन तक उसे धूप में खुला रखना । ऐसा करने से छापते समय सारे स्थान पर जो धब्बे आ जाते हैं वे छूट जाते हैं ।

पचैनी—संज्ञा स्त्री० [सं० पाचन] पाचन । पाचक ।

पचैरा—संज्ञा पुं० [हिं० पंच या पचौली] गाँव का मुखिया । सरदार । सरगना । उ०—पहुँचे जाइ पचैरा प्रवीन । छत्रसाज सो मुजरा कीन ।—लाल ।

पचौली—संज्ञा पुं० [हिं० पंच + कुली] गाँव का मुखिया । सरदार । पंच ।

संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का पौधा जो मध्य भारत तथा बंबई में अधिकता से होता है । इसकी पत्तियों से एक प्रकार का तेल निकाला जाता है जो चिलायती सुगंधियों (एसेंस आदि) में पड़ता है ।

पचौवर—वि० [हिं० पंच + सं० आवर्त] जिसकी पाँच तहें की गई हों । पाँच परत का । पाँच तह या परत किया हुआ । पचहरा । उ०—चौवर पचौवर के चादर निचोरे है ।

पचड—संज्ञा पुं० दे० “पचर” ।

पञ्चर—संज्ञा स्त्री० [सं० पञ्चित वा पञ्ची] काठ का पैवंद । लकड़ी या बाँस की वह फट्टी या गुल्ली जिसे चारपाई, चौखट आदि लकड़ी की बनी चीजों में साल या जोड़ को कसने के लिये उस में छूटे हुए दरार या रंध्र में ठोकते हैं । छेद या खाली जगह भरने के लिये इसके एक सिरे को दूसरे से कुछ पतला कर लेते हैं । परंतु जब इससे दो लकड़ियों को जोड़ने का काम लेना होता है तब इसे उत्तार चढ़ाव नहीं बनाते; एक फट्टी या गुल्ली बना लेते हैं ।

क्रि० प्र०—ठोकना ।—देना ।—करना ।

मुहा०—पञ्चर अड़ाना = बाधक होना । बाधा खड़ी करना । रुकावट डालना । अड़ंगा लगाना । जैसे, तुम नाहक इस काम में क्यों पञ्चर अड़ाने हो ? **पञ्चर ठोकना** = किसी को कष्ट पहुँचाने या पीड़ित करने के लिये कोई उपाय करना । ऐसा काम करना जिससे किसी को बहुत कष्ट पहुँचे या वह खूब तंग और परेशान हो । खूँटा ठोकना । जैसे, धबढ़ाते क्यों हो, ऐसी पञ्चर ठोकूँगा कि सारी आई बाई पच जायगी । **पञ्चर मारना** = होते काम को रोकना । बनती हुई बात को बिगाड़ देना । माँजी मारना । जैसे, अगर तुम पञ्चर न मारते तो यह संबंध अवश्य बैठ जाता ।

पञ्ची—संज्ञा स्त्री० [सं० पञ्चित] (१) ऐसा जड़ाव या जमावट जिसमें जड़ी या जमाई जानेवाली वस्तु उस वस्तु के बिल्कुल सम-तल हो जाय जिसमें वह जड़ी या जमाई जाय । किसी वस्तु के फैले हुए तल पर दूसरी वस्तु के टुकड़े इस प्रकार खोद कर बैठाना कि वे उस वस्तु के तल (सतह) के मेल में हो जाय और देखने या छूने में उभरे या गड़े हुए न मालूम हों तथा दरज या सीम न दिखाई पड़ने के कारण आधार वस्तु के ही अंग जान पड़ें । जैसे, संगमरमर पर रंग विरंग के पत्थर के टुकड़ों को जड़ना । (२) किसी धातु-निर्मित पदार्थ पर किसी अन्य धातु के पत्तर का जड़ाव । जैसे, किसी फर्शी या जरते की किसी चीज पर चाँदी के पत्तों का जड़ाव ।

मुहा०—(किसी में) पञ्ची हो जाना = बिल्कुल मिल जाना या वही हो जाना । लीन हो जाना । हल हो जाना । जैसे, यह कबूतर जब जब उड़ता है तब तब आसमान में पञ्ची हो जाता है ।

पञ्चीकारी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पञ्ची + फा० कारी = करना] पञ्ची करने की क्रिया या भाव । जड़ने जोड़ने की क्रिया या भाव ।

पच्छा—संज्ञा पुं० दे० “पच” ।

पच्छकट—संज्ञा पुं० [देश०] आल की मझोली जड़ जो रेंगाई के काम में आती है ।

पच्छघात—संज्ञा पुं० दे० “पक्षाघात” ।

२६७

पच्छिम—संज्ञा पुं० दे० “पश्चिम” ।

पच्छिा—संज्ञा पुं० दे० “पञ्ची” ।

पच्छिम—संज्ञा पुं० दे० “पश्चिम” ।

वि० [सं० पश्चिम] पिछला । पीछे का । (हिं०)

पच्छिर्वा—संज्ञा पुं० दे० “पश्चिम” ।

पच्छो—संज्ञा पुं० दे० “पञ्ची” ।

पछटी—संज्ञा स्त्री० [देश०] तलवार । (हिं०)

पछड़ना—क्रि० अ० [हिं० पछा] (१) लड़ने में पटका जाना ।

पछाड़ा जाना । (२) दे० “पिछड़ना” ।

पछताना—क्रि० अ० [हिं० पछताव] किसी किए हुए अनुचित कार्य के संबंध में पीछे से दुखी होना । किसी की हुई बात पर पीछे से खिन्न होना या खेद प्रकट करना । पश्चात्ताप करना । पछतावा करना ।

पछतानि—संज्ञा स्त्री० [सं० पश्चात्ताप] पछताने का भाव । पछतावा । पश्चात्ताप ।

पछतावा—संज्ञा पुं० दे० “पछतावा” ।

पछतावना—क्रि० अ० दे० “पछताना” ।

पछतावा—संज्ञा पुं० [सं० पश्चात्ताप, पा० पच्छताव] वह संताप या दुःख जो किसी की की हुई बात पर पीछे से हो । अपने किए को बुरा समझने से होनेवाला रंज । पश्चात्ताप । अनुत्ताप ।

पछवत—संज्ञा स्त्री० [हिं० पीछे + वत] वह चीज जो फसिल के अंत में बोई जाय ।

पछुर्वा—वि० [सं० पश्चिम] पच्छिम की । पश्चिम दिशा की । पच्छिमी । पश्चिम दिशा संबंधी ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पीछा] अँगिशा का वह हिस्सा जो पीठ की तरफ मोड़े के पीछे रहता है ।

वि० दे० “पछुर्वा” ।

पछाँह—संज्ञा पुं० [सं० पश्चात्, प्रा० पच्छा] पश्चिम पड़नेवाला प्रदेश । पच्छिम की ओर का देश ।

पछाँहिया—वि० [हिं० पछाँह + ह्या (प्रत्य०)] पछाँह का । पश्चिम प्रदेश का ।

पछाड़—संज्ञा स्त्री० [हिं० पछा] बहुत अधिक शोक आदि के कारण खड़े खड़े बेसुध होकर गिर पड़ना । अचेत होकर गिरना । मूर्छित होकर गिरना ।

मुहा०—पछाड़ खाना = खड़े खड़े अचानक बेसुध होकर गिर पड़ना । उ०—परति पछाड़ खाइ छिन ही छिन अति आतुर हे दीन । मानहु सूर काड़ि है लीनी वारि मध्य ते मीन ।—सूर ।

पछाड़ना—क्रि० स० [हिं० पछाड़ी] कुशती या लड़ाई में पटकना । गिराना ।

संयो० क्रि०—डालना ।—देना ।

क्रि० सं० [सं० प्रक्षालन] धोने के लिये कपड़े को जोर जोर से पटकना ।

संयो० क्रि०—डालना ।—देना ।

पछाड़ी—संज्ञा स्त्री० दे० “पिछाड़ी” ।

पछानना*—क्रि० सं० दे० “पहचानना” ।

पछाया—संज्ञा पुं० [हिं० पाछा] किसी वस्तु के पीछे का भाग ।
पिछाड़ी । जैसे, अँगिया का पछाया ।

पछार—संज्ञा स्त्री० दे० “पछाड़” ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पछारना] पछारने की क्रिया या भाव ।

पछारना—क्रि० सं० [सं० प्रक्षालन, प्रा० पच्छादन] कपड़े को पानी से साफ करना । धोना ।

* क्रि० सं० दे० “पछाड़ना” ।

पछावरि—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का पकवान । उ०—
पुनि आरि से द्वै विधि स्वाद बने । विधि दोह पछावरि सात
पने ।—केशव ।

पछाहीं—वि० [हिं० पछाहँ] पछाहँ का । पश्चिम प्रदेश का । जैसे,
पछाहीं पान, पछाहीं आदमी ।

पछिआना—क्रि० सं० [हिं० पछे + आना] पीछे हो लेना । पीछे
पीछे चलना । पीछा करना । उ०—लीने व्यासदेव पछि-
आई । बारहि बार पुकारत जाई ।—रघुराज ।

पछिताना—क्रि० अ० दे० “पछताना” ।

पछिताव—संज्ञा पुं० दे० “पछतावा” । उ०—सुनि सीतापति
सील सुभाव ।सिद्धा साप संताप विगत भइ परसत
पावन पाव । दई सुगति से न हेरि हरख हिय चरन छुप को
पछिताव ।—तुलसी ।

पछिनावा—संज्ञा पुं० [देश०] पशुओं का एक रोग ।

पछियाना—क्रि० सं० दे० “पछिआना” ।

पछियाव—संज्ञा पुं० [हिं० पच्छिड़ + वाउ] पच्छिम की हवा ।

पछिलना—क्रि० अ० दे० “पिछड़ना” ।

पछिला—वि० दे० “पिछला” ।

पछिवाँ—वि० [हिं० पच्छिम] पच्छिम की (हवा) ।

संज्ञा स्त्री० पच्छिम की हवा ।

पछोत—संज्ञा स्त्री० [सं० पश्चात्, प्रा० पच्छा] (१) घर का पिछ-
वाड़ा । मकान के पीछे का भाग । (२) घर के पीछे की
दीवार ।

पछुवाँ—वि० [हिं० पच्छिम] पच्छिम की (हवा) ।

संज्ञा स्त्री० पच्छिम की हवा ।

पछुवा—संज्ञा पुं० [हिं० पाछा] कड़े के आकार का पैर में पहनने
का एक गहना ।

पछुड़ा—संज्ञा पुं० [हिं० पाछा] पीछा ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

पछेलना—क्रि० सं० [हिं० पाछ + एलना (प्रत्य०)] पीछे डालना ।
पीछे छोड़ना । आगे बढ़ जाना ।

पछेला—संज्ञा पुं० [हिं० पाछ + एला (प्रत्य०)] [स्त्री० अत्प०
पछेली] (१) हाथ में एक साथ पहने जानेवाले बहुत से चिपटे
कड़ों में से पिछला जो अगलों से बड़ा होता है । पीछे की
मठिया । (२) हाथ में पहनने का स्त्रियों का एक प्रकार का
कड़ा जिसमें उभरे हुए दानों की पंक्ति होती है ।
वि० पीछे का । पिछला ।

पछेलिया—संज्ञा स्त्री० दे० “पछेली” ।

पछेली—संज्ञा स्त्री० दे० “पछेला” ।

पछोड़ना—क्रि० सं० [सं० प्रक्षालन, प्रा० पच्छादन] सूप आदि में
रखकर (अन्न आदि के दानों को) साफ करना । फटकना ।
उ०—कहो कौन पै कढ़ै कनूका भुस की रासि पछोरे ।
—सूर ।

संयो० क्रि०—डालना ।—देना ।

मुहा०—फटकना पछोड़ना—उलट पलट कर परीक्षा करना । खूब
देखना भालना । उ०—सूर जहाँ लौं स्याम गात हैं देखे फटकि
पछोरी ।—सूर ।

पछोरना—क्रि० सं० दे० “पछोड़ना” ।

पछोरा—संज्ञा पुं० दे० “पिछौरा” ।

पछावर—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का सिखरन या
शरबत । उ०—भूतल के सब भूपन को मद भोजन तो बहु
भांति कियोई । मोद सों तारकनंद को मेद पछावरि पान
सिरायो हियोई ।—केशव ।

पजर—संज्ञा पुं० [सं० प्रक्षरण] (१) चूने या टपकने की क्रिया ।
(२) भरना ।

पजरना*—क्रि० अ० [सं० प्रज्वलन] जलना । दहकना । सुल-
गना । उ०—(क) पजरि पजरि तनु अधिक दहत है सुनत
तिहारे बैन ।—सूर । (ख) याके डर औरै कछू लगी विरह
की जाय । पजरै नीर गुलाब के पिय की बात सिराय ।
—बिहारी ।

पजहर—संज्ञा पुं० [फा०] एक प्रकार का पत्थर जो पीलापन या
हरापन लिए सफेद होता है और जिसपर नक्काशी होती है ।

पजामा—संज्ञा पुं० दे० “पायजामा” ।

पजारना*—क्रि० सं० [हिं० पजरना] जलाना । दहकाना । सुलगाना ।

पजावा—संज्ञा पुं० [फा० पजावा] आर्वा । ईंट पकाने का भट्टा ।

पजूसण—संज्ञा पुं० [देश०] जैन मत का एक व्रत ।

पजोखा—संज्ञा पुं० [?] किसी के मरने पर उसके संबंध-
धियों से शोक प्रकाश । मातमपुरस्ती ।

पजोड़ा—संज्ञा पुं० [हिं० पाजी + ओड़ा (प्रत्य०)] पाजी । दुष्ट ।

पज*—संज्ञा पुं० [सं० पथ] शूद्र ।

पजर—संज्ञा पुं० दे० “पजिर” ।

पञ्चमटिका-संज्ञा पुं० [सं० पञ्चमटिका] एक छंद जिसके प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ इस नियम से होती हैं कि = वीं और छठी मात्रा पर एक एक गुरु होता है। इसमें जगण का निषेध है।
पटंबर-† संज्ञा पुं० [सं० पाट + अंबर] रेशमी कपड़ा। कौपेय।
पट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बख। कपड़ा। (२) पर्दा। चिक।
कोई आड़ करनेवाली वस्तु।

क्रि० प्र०—उठाना।—खोलना।—हटाना।

(३) लकड़ी, धातु आदि का वह चिकना चिपटा टुकड़ा या पट्टी जिसपर कोई चित्र या लेख खुदा हुआ हो। जैसे, ताम्रपट। (४) कागज का वह टुकड़ा जिसपर चित्र खींचा या उतारा जाय। चित्रपट। (५) वह चित्र जो जगन्नाथ, बदरिकाश्रम आदि मंदिरों से दर्शनप्राप्त यात्रियों को मिलता है। (६) छप्पर। छान। (७) सरकंडे आदि का बना हुआ वह छप्पर जो नाव या बहली के ऊपर ढाल दिया जाता है। (८) चिरौंजी का पेड़। पियार। (९) कपास। (१०) गंध-नृण। शरवान।

संज्ञा पुं० [सं० पट] (१) साधारण दरवाजों के किवाड़।

क्रि० प्र०—उघड़ना।—खुलना।—खोलना।—देना।—बंद करना।—भिड़ाना।—भेड़ना।

मुहा०—पट उघड़ना = मंदिर का दरवाजा इसलिये खुलना कि लोग मूर्ति के दर्शन पा सकें। दर्शन का समय आरंभ होना।
पट खुलना = दे० “पट उघड़ना”। पट बंद होना = मंदिर का दरवाजा बंद हो जाना। दर्शन का समय बीत जाना।

(२) पालकी के दरवाजे के किवाड़ जो सरकाने से खुलते और बंद होते हैं।

यौ०—पटदार = वह पालकी जिसमें पट हों।

क्रि० प्र०—खुलना।—खोलना।—देना।—बंद करना।—सरकाना।

मुहा०—पट मारना = किवाड़ बंद कर देना।

(३) सिंहासन।

यौ०—पटरानी।

(४) किसी वस्तु का तलप्रदेश जो चिपटा और चौरस हो। चिपटी और चौरस तलभूमि।

† संज्ञा पुं० [देश०] (१) टांग।

मुहा०—पट लेना = पट नामक पेच करने के लिये जोड़ की टांगें अपनी ओर खींचना।

(२) कुश्ती का एक पेच जिसमें पहलवान अपने दोनों हाथ जोड़ की आंखों की तरफ इसलिये बढ़ाता है कि वह समझे कि मेरी आंखों पर थपड़ मारा जायगा और फिर फुरती से मुक कर उसके दोनों पैर अपने सिर की ओर खींच कर उसे उठा लेता और गिराकर चित कर देता है। यह पेच और भी कई प्रकार से किया जाता है।

वि० ऐसी स्थिति जिसमें पेट भूमि की ओर हो और पीठ आकाश की ओर। चित का उलटा। औंधा।

मुहा०—पट पड़ना = (१) औंधा पड़ना। (२) कुश्ती में नीचे के पहलवान का पेट के बल पड़ कर मिट्टी घामना। (३) मंद पड़ना। धीमा पड़ना। न चलना। जैसे, रोजगार पट पड़ना, पासा पट पड़ना आदि। तलवार पट पड़ना = तलवार का औंधी गिरना। उस ओर से न पड़ना जिधर धार हो।

क्रि० वि० चट का अनुकरण। तुरत। फौरन। जैसे, चट मँगनी पट व्याह।

[अनु०] किसी हलकी छोटी वस्तु के गिरने से होनेवाली आवाज। टप। जैसे, पट पट बूँदें पड़ने लग्यीं।

विशेष—खट, पट, धम धम आदि अन्य अनुकरण शब्दों के समान इसका प्रयोग भी ‘से’ विभक्ति के साथ क्रियाविशेषण-वत् ही होता है। संज्ञा की भाँति प्रयोग न होने के कारण इस का कोई लिंग नहीं माना जा सकता।

पटइन-† संज्ञा स्त्री० [हिं० पटवा] पटवा जाति की स्त्री। पटहार जाति की स्त्री।

पटक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूती कपड़ा। (२) शिविर। तंबू। खेमा।
पटकन-# संज्ञा स्त्री० [हिं० पटकना] (१) पटकने की क्रिया या भाव। (२) चपत। तमाचा।

क्रि० प्र०—देना।

(३) छोटा डंडा। छड़ी।

क्रि० प्र०—खाना।—मारना।

पटकना-क्रि० सं० [सं० पटन + करण] (१) किसी वस्तु को उठा कर या हाथ से लेकर भूमि पर जोर से डालना या गिराना। जोर के साथ उँचाई से भूमि की ओर भोंक देना। किसी चीज को भोंके के साथ नीचे की ओर गिराना। जैसे, हाथ का जोटा पटक देना, मेज़ पर हाथ पटकना। (२) किसी खड़े या बैठे व्यक्ति को उठा कर जोर से नीचे गिराना। दे मारना। उ०—पुनि नल नीलहिं अवनि पछारेसि। जहँ तहँ पटकि पटकि भट मारेसि।—तुलसी।

संयो० क्रि०—देना।

विशेष—‘पटकना’ में ऊपर से नीचे की ओर भोंका देने या जोर करने का भाव प्रधान है। जहाँ बगल से भोंका देकर किसी खड़ी या ऊपर रखी चीज़ को गिरावें वहाँ टकेलना या गिराना कहेंगे।

मुहा०—(किसी पर, किसी के ऊपर या किसी के सिर) पटकना = कोई ऐसा काम किसी के सुपुर्दे करना जिसे करने की उसकी इच्छा न हो। किसी के बार बार इनकार करने पर भी कोई काम उसके गले मढ़ देना। जैसे, भाई तुम यह काम मेरे ही सिर क्यों पटकते हो, किसी और को क्यों नहीं हँद लेते।

(२) कुश्ती में प्रतिद्वंद्वी को पड़ाइना, गिरा देना या दे मारना । जैसे, मैं उन्हें तीन बार पटक चुका ।

† क्रि० अ० (१) सृजन बैठना या पचकना । वरम या आमास का कम होना । (२) गेहूँ, दाने, धान आदि का सील या जल से भीग कर फिर सूख कर सिकुड़ना । (ऐसी स्थिति को घास होने के पश्चात् घास में बीजत्व नहीं रह जाता । वह केवल खाने के काम में आ सकता है, बोने के नहीं) । (३) पट शब्द के साथ किसी चीज का टुकड़ा या फट जाना । जैसे, हाँड़ी पटक गई ।

पटकनिया—संज्ञा स्त्री० [हि० पटकना] (१) पटकने की क्रिया या भाव । पटकान ।

क्रि० प्र०—देना ।

(२) पटके जाने की क्रिया या भाव ।

क्रि० प्र०—खाना ।

(३) भूमि पर गिर कर लोटने या पड़ाई खाने की क्रिया या अवस्था । लोटनिया । पड़ाइ ।

क्रि० प्र०—खाना ।

पटकनी—संज्ञा स्त्री० [हि० पटकना] (१) पटकने की क्रिया या भाव । जैसे, पहली ही पटकनी में बचा को छुट्टी का दूध बाढ़ आ गया ।

क्रि० प्र०—देना ।

(२) पटके जाने की क्रिया या भाव ।

क्रि० प्र०—खाना ।

(३) भूमि पर गिरकर लोटने या पड़ाई खाने की क्रिया या अवस्था ।

क्रि० प्र०—खाना ।

पटकरी—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की बेल ।

पटका—संज्ञा पुं० [सं० पटका] (१) वह दुपट्टा या रुमाज जिससे कमर बाँधी जाय । कमरबंद । कमरपेच ।

क्रि० प्र०—बाँधना ।

मुहा०—पटका बाँधना = कमर कसना । किसी काम के लिये तैयार होना । पटका पकड़ना = किसी को कार्य विशेष के लिये उत्तरदायी या अश्वरधी मान कर रोकना । कार्य विशेष से अपना असंबंध बताकर जान बचाने का प्रयत्न करनेवाले को रोक रखना और उस काम का जिम्मेदार ठहराना । दामन पकड़ना ।

(२) दीवार में वह बंद या पट्टी जो सुंदरता के लिये जोड़ी जाती है ।

पटकान—संज्ञा स्त्री० [हि० पटकना] (१) पटकने की क्रिया या भाव । जैसे, मेरी एक ही पटकान में उसके होश ठिकाने हो गए ।

क्रि० प्र०—देना ।

(२) पटके जाने की क्रिया या अवस्था ।

क्रि० प्र०—खाना ।

(३) भूमि पर गिरकर लोटने या पड़ाइ खाने की क्रिया या अवस्था ।

क्रि० प्र०—खाना ।

पटकार—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कपड़ा बुननेवाला । जुताहा ।

(२) चित्रपट बनानेवाला । चित्रकार ।

पटकुटी—संज्ञा स्त्री० [हि० पट + कुटी] रावटी । झोलदारी । खेमा । (डि०)

पटचर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) जीर्ण वस्त्र । पुराना कपड़ा । (२) चौर । (३) महाभारत और पुराणों में वर्णित एक प्राचीन देश ।

विशेष—महाभारत के टीकाकार नीलकंठ के मत से यह देश प्राचीन चोल है । पर महाभारत समा पूर्व में सहदेव का दिग्विजय प्रकरण पढ़ने से इसका स्थान मत्स्य देश के दक्षिण चेदि के निकट कहीं पर जान पड़ता है । जैन हरिवंश के मत से यह मद्र देश का ही अंश विशेष है ।

पटड़ा—संज्ञा पुं० दे० “पटरी” ।

पटड़ी—संज्ञा स्त्री० दे० “पटरी” ।

पटतरा—संज्ञा पुं० [हि० सं० पट्ट = पटरी + तरा = पटरी के समान चौरस = बराबर] (१) समता । बराबरी । तुल्यता । समानता । (२) उपमा । सादृश्य कथन । तशबीह ।

क्रि० प्र०—देना ।—पाना ।—लहना ।

† वि० जिसकी सतह ऊँची नीची न हो । चौरस । समतल । बराबर ।

पटतरना—क्रि० अ० [हि० पटतर] बराबर ठहराना । उपमा देना । उ०—जो पटतरिष तीथ सम सीया । जग अस जुबति कहीं कभीनीया ?—तुलसी ।

पटतारना—क्रि० सं० [हि० पट + तारना = अंदाजना] खट्ट, भाले आदि को उस स्थिति में पकड़ना जिसमें उनसे चार किया जाता है । खाँड़ा, भाला आदि शस्त्रों को किसी पर चलाने के लिये पकड़ना या खींचना । सँभालना । उ०—(क) याके गर्भ अवतरैं जे सुत करिहैं प्रहारा हो । रथ ते उतरि केस गहि राजा कियो खड़ परतारा हो ।—सूर । (ख) फिर पठान सों जंग हित चल्थो सेज पटतारि ।—सूदन ।

क्रि० सं० [हि० पटतर] ऊँची नीची जमीन को चौरस करना । टीले को काट कर उसकी मिट्टी को इधर उधर इस प्रकार फैला देना कि जहाँ वह फैलाई जाय वहाँ का तल चौरस रहे । पटतारना ।

पटताल—संज्ञा पुं० [सं० पट्ट + ताल] मृदंग का एक ताल । यह ताल १ दीर्घ या २ ह्रस्व मात्राओं का होता है । इसमें एक

ताड़ और एक खाली रहता है। इसका बोझ यों हैं—धा, केटे,
+
दिंता, धा।

पटद—संज्ञा पुं० [सं०] कपास।

पटधारी—वि० पुं० [सं०] जो कपड़ा पहने हो।

संज्ञा पुं० तोशाखाने का अधिकारी। तोशाखाने का मुख्य
अफसर। उ०—बोली सचिव सेवक सखा पटधारी भंडारी।
तेहु जाहिं जोइ चाहिये सनमानि सँभारी।—तुलसी।

पटना—क्रि० अ० [हिं० पट = जमीन की सतह के बराबर] (१) किसी
गड्ढे या नीचे स्थान का भर कर आस पास की सतह के
बराबर हो जाना। समतल होना। जैसे, वह भील अब
बिलकुल पट गई है। (२) किसी स्थान में किसी वस्तु की
इतनी अधिकता होना कि उससे शून्य स्थान न दिखाई पड़े।
परिपूर्ण होना। जैसे, रणभूमि मुर्दों से पट गई। (३)
मकान, कुएँ आदि के ऊपर कच्ची या पक्की छत बनना।
(४) मकान की दूसरी मंजिल या कोठा उठाया जाना।
(५) सींचा जाना। सेराज होना। जैसे, वह खेत पट गया।
(६) दो मनुष्यों के विचार, भाव, रुचि या स्वभाव में ऐसी
समानता होना जिससे उनमें सहयोगिता या मित्रता हो सके।
मन मिलना। बनना। जैसे, हमारी उनकी कभी नहीं पट
सकती। (७) विचारों भावों या रुचियों की समानता के
कारण मित्रता होना। ऐसी मित्रता होना जिसका कारण
मनों का मिल जाना हो। जैसे, आजकल हमारी उनकी खूब
पटती है। (८) खरीद, विक्री, लेन देन आदि में उभय पक्ष
का मूल्य, सूद, शर्तों आदि पर सहमत हो जाना। तै हो
जाना। बैठ जाना। जैसे, सौदा पट गया, मामिला पट गया
आदि। (९) (कृष्ण या देना) चुकता हो जाना। (कृष्ण)
भर जाना। पाई पाई अदा हो जाना। जैसे, ऋण पट गया।

संयो० क्रि०—जाना।

संज्ञा पुं० [सं० पटन] दे० “पाटलिपुत्र”।

पटनिया, पटनिहा—वि० [हिं० पटना + इया या इहा (प्रत्य०)]

(१) वह वस्तु जो पटना नगर या प्रदेश में बनी हो। जैसे,
पटनिया एका। (२) पटना नगर या प्रदेश से संबंध
रखनेवाला।

पटनी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पाटना] वह कमरा जिसके ऊपर कोई
और कमरा हो। कोठे के नीचे का कमरा। पटौहा।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पटना = तै होना] (१) जमींदारी का वह अंश
जो निश्चित लगान पर सदा के लिये बंदोबस्त कर दिया
गया हो। वह जमीन जो किसी को इस्तमरारी पट्टे के द्वारा
मिली हो।

यो०—पटनीदार।

विशेष—यदि कार्तकार इस जमीन या इसके अंश विशेष को

वे ही अधिकार देकर जो उसे जमींदार से मिले हैं दूसरे मनुष्य
के साथ बंदोबस्त कर दे तो उसे “दरपटनी” और ऐसे ही
तीसरे बंदोबस्त के बाद उसे “सिपटनी” कहते हैं।

(२) खेत उठाने की वह पद्धति जिसमें लगान और किसान
या असामी के अधिकार सदा के लिये निश्चित कर दिए
जाते हैं। इस्तमरारी पट्टे द्वारा खेत का बंदोबस्त करने की
पद्धति। (३) दो खूंटियों के सहारे लगाई हुई पटरी जिस
पर कोई चीज रखी जाय।

पटपट—संज्ञा स्त्री० [अनु० पट] हलकी वस्तु के गिरने से उत्पन्न
शब्द की बार बार आवृत्ति। ‘पट’ शब्द अनेक बार होने की
क्रिया या भाव। पट शब्द की बार बार उत्पत्ति।

क्रि० वि० बराबर पट ध्वनि करता हुआ। ‘पट पट’ आवाज
के साथ। जैसे, पटपट वृद्ध पड़ने लगे।

पटपटाना—क्रि० अ० [हिं० पटकना] (१) भूख प्यास या सरदी
गरमी के मारे बहुत कष्ट पाना। बुरा हाल होना। (२)
किसी चीज से पटपट ध्वनि निकलना। जैसे, ये चने खूब
पटपटा रहे हैं।

क्रि० सं० (१) किसी चीज को बजा या पीट कर ‘पटपट’
शब्द उत्पन्न करना। जैसे, व्यर्थ क्या पटपटा रहे हो ? (२)
खेद करना। शोक करना।

पटपर—वि० [हिं० पट + अनु० पर] समतल। बराबर। चौरस।
हमबरा।

संज्ञा पुं० (१) नदी के आस पास की वह भूमि जो बरसात
के दिनों में प्रायः सदा डूबी रहती है। इसमें केवल रबी
की खेती की जाती है। (२) ऐसा जंगल जहाँ घास, पेड़
और पानी तक न हो। अत्यंत उजाड़ स्थान।

पटबंधक—संज्ञा पुं० [हिं० पटना + सं० बंधक] एक प्रकार का
रेहन जिसमें महाजन या रेहनदार रेहन रखी हुई संपत्ति
के लाभ में से सूद लेने के बाद जो कुछ बच जाता है उसे मूल
ऋण में मिनहा करता जाता है और इस प्रकार जब सारा
ऋण वसूल हो जाता है तब संपत्ति उसके वास्तविक स्वामी
को लौटा देता है।

क्रि० प्र०—करना।—देना।—लेना।—रखना।

पटबीजना—संज्ञा पुं० [हिं० पट = बराबर + बिज्जु = बिजली]
जुगनू। खद्योत।

पटभाक्ष—संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक यंत्र जिससे
आंख को देखने में सहायता मिलती थी।

पटमंजरी—संज्ञा पुं० [सं०] संपूर्ण जाति की एक शुद्ध रागिनी
जो हिंडोल राग की स्त्री है। हनुमत् के मत से इसका
स्वरग्राम यह है—प घ नि सा रे ग म प। इसका गान
समय ६ दंड से १० दंड तक है। एक और मत से यह

श्री राग की रागिनी है और इसका गान समय एक पहर दिन के बाद है।

विशेष—कोई कोई इसे संकर रागिनी भी मानते हैं। इनमें से कुछ के मत से यह नट और मालश्री के मिलाने से बनी है। दूसरे इसे मारु, भूलश्री, गांधारी और धनाश्री के संयोग से बनी हुई मानते हैं।

पटमंडप—संज्ञा पुं० [सं०] तंबू। खेमा।

पटम—वि० [हिं० पटपटाना] वह जिसकी आँखें भूख से पटपटा या बैठ गई हों। जो भूख के मारे अंधा हो गया हो।

पटरक—संज्ञा पुं० [सं०] पेटर। गोंदपेटर।

पटरा—संज्ञा पुं० [सं० पट्ट + हिं० रा (प्रत्य०) अथवा सं० पटल] [स्त्री० अल्प० पटरी] (१) काठ का लंबा चौकोर और चौरस चौरा हुआ टुकड़ा जो लंबाई चौड़ाई के हिसाब से बहुत कम मोटा हो। तख्ता। पल्ला।

विशेष—काठ के ऐसे भारी टुकड़े को जिसके चारों पहल बराबर या करीब करीब बराबर हों अथवा जिसका घेरा गोला हो 'कुंदा' कहेंगे। कम चौड़े पर मोटे लंबे टुकड़े को 'बल्ला' या 'बल्ली' कहेंगे। बहुत ही पतली बल्ली को छड़ कहेंगे।

मुहा०—**पटरा कर देना** = (१) किसी खड़ी चीज को गिरा कर पटरी की तरह जमीन के बराबर कर देना। (२) मनुष्य वृक्ष आदि को काट कर गिरा देना। मार काट कर फैला देना या बिछा देना। जैसे, शाम तक उसने सारे का सारा जंगल काट कर पटरा कर दिया। (२) चौपट कर देना। तबाह कर देना। सर्वनाश कर देना। जैसे, इस वर्ष के अकाल ने तो पटरा कर दिया। **पटरा होना** = मर कर गिर जाना। मर जाना। नष्ट हो जाना। स्वाहा हो जाना। जैसे, इस साल हैजे से हजारों पटरा हो गए।

(२) घोबी का पाट। (३) हेंगा। पाटा।

मुहा०—**पटरा फेरना** = किसी के घर को गिरा कर जुते हुए खेत की तरह चौरस कर देना। ध्वंस करना। तबाह कर देना।

पटरानी—संज्ञा स्त्री० [सं० पट्ट + रानी] पटरानी जो राजा के साथ सिंहासन पर बैठने की अधिकारिणी हो। किसी राजा की विवाहिता रानियों में सर्वप्रधान। राजा की सब से बड़ी रानी। राजा की मुख्य रानी। पट्टरानी। पाटमहिषी।

पटरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पटरा] (१) काठ का पतला और लंबो-तरा तख्ता।

मुहा०—**पटरी जमाना** = बुड़सवारी में जीन पर सवार का राने को इस प्रकार चिपकाना कि वेड़े के बहुत तेज चलने या शरारत करने पर भी उसका आसन स्थिर रहे। रान बैठाना या जमाना। पटरी बैठना = मन मिलना। मित्रता होना। मेल होना। पटना। जैसे, हमारी उनकी पटरी कभी न बैठेगी।

(२) लिखने की तक्ती। पटिया। (३) वह चौड़ा खपड़ा

जिसपर नरिया जमाते हैं। (४) सड़क के दोनों किनारों का वह कुछ ऊँचा और कम चौड़ा भाग जो पैदल चलने-वालों के लिये होता है। (५) नहर के दोनों किनारों पर के रास्ते। (६) बगीचे में क्यारियों के इधर उधर के पतले पतले रास्ते जिनके दोनों ओर सुंदरता के लिये घास लगा दी जाती है। रविश। (७) सुनहरे या रुपहले तारों से बना हुआ वह फीता जिसे साड़ी, लहंगे या किसी कपड़े की कोर पर लगाते हैं। (८) हाथ में पहनने की एक प्रकार की पट्टीदार चौड़ी चूड़ी जिसपर नक्काशी बनी होती है। (९) जंतर। चौकी। तावीज।

पटल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) छप्पर। छान। छत। (२) आवरण। पर्दा। आड़ करने या ढकनेवाली कोई चीज। (३) परत। तह। तबक। (४) पहल। पार्श्व। (५) आँख की बनावट की तहें। आँख के पर्दे। (६) मोतियाबिंद नामक आँख का रोग। पिटारा। (७) लकड़ी आदि का चौरस टुकड़ा। पटरा। तख्ता। (८) पुस्तक का भाग या अंश विशेष। परिच्छेद। (९) माथे पर का तिलक। टीका। (१०) समूह। ढेर। अंबार। (११) लाव-लरकर। लवाजमा। परिच्छेद।

पटलक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) आवरण। पर्दा। फिलमिली। बुरका। (२) कोई छोटा संदूक, डलिया या टोकरा। (३) समूह। राशि। ढेर। अंबार।

पटलप्रांत—संज्ञा पुं० [सं०] छप्पर का सिरा या किनारा।

पटली—संज्ञा स्त्री० [सं० पटल] छप्पर। छान। छत।

संज्ञा स्त्री० दे० "पटरी"।

पटवा—संज्ञा पुं० [सं० पाट + वाह (प्रत्य०)] [स्त्री० पटइन] रेशम या सूत में गहने गूथनेवाला। पट्टार।

[देश०] एक प्रकार का बैल जिसका रंग नारंगी का सा होता है। यह बैल मजबूत और तेज चलनेवाला होता है।

पटवाद्य—संज्ञा पुं० [सं०] शार्ङ्ग के आकार का एक प्राचीन बाजा जिससे ताल दिया जाता था।

पटवाना—क्रि० सं० [हिं० पाटना का प्रे०] (१) पाटने का काम दूसरे से कराना। (२) आच्छादित कराना। छत ढलवाना। जैसे, घर पटवाना। (३) गड्ढे आदि को भर कर आसपास की जमीन के बराबर कराना। भरवा देना। पूरा करा देना। जैसे, गड्ढा पटवा देना।

(४) † सिंचवाना। पानी से तर कराना। (५) अड़ा करा देना। चुकवा देना। दाम दाम दिलवा देना। उ०—उसने अपने मित्र से वह ऋण पटवा दिया।

क्रि० सं० [हिं० 'पटाना' का प्रे०] † (पीड़ा या कष्ट) दूर कर देना। मिटाना। बंद करना। शांत करना।

पटवारगरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पटवारी + फा० गरी] (१) पटवारी

का काम। जैसे, इन्होंने २० साल तक पटवारगरी की है।
(२) पटवारी का पद। जैसे, उस गाँव की पटवारगरी इन्हीं को मिलनी चाहिए।

पटवारी-संज्ञा पुं० [सं० पट्ट + सं० कार, हिं० वार] गाँव की ज़मीन और उसके लगान का हिसाब-किताब रखनेवाला एक छोटा सरकारी कर्मचारी।

संज्ञा स्त्री० [सं० पट + वारी (प्रत्य०)] कपड़े पहनानेवाली दासी। उ०—पानदानवारी केती पीकदानवारी चौरवारी पंखावारी पटवारी चलों धाय कै।—रघुराज।

पटवास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वस्त्रनिर्मित गृह। शिविर। तंबू। (२) वह वस्तु जिससे वस्त्र सुगंधित किया जाय। वे सुगंधियाँ जिनसे कपड़ा बसाने का काम लिया जाय। उ०—जल थल फल फूल भूरि अंबर पटवास धूरि स्वच्छ यच्छ कदम हिय देवन अभिलाषे।—केशव। (३) लहंगा।

पटवासक-संज्ञा पुं० [सं०] पटवास चूर्ण। वस्त्र बसानेवाली सुगंधियों का चूर्ण।

पटसन-संज्ञा पुं० [सं० पाट + हिं० सन या सं० शय] (१) एक प्रसिद्ध पौधा जिसके रेशे से रस्सी, बोरे, टाट और वस्त्र बनाए जाते हैं। यह गरम जल-वायुवाले प्रायः सभी देशों में उत्पन्न होता है। इसके कुल ३६ भेद हैं जिनमें से ८ भारतवर्ष में पाए जाते हैं। इन ८ में से दो मुख्य हैं और प्रायः इन्हीं की खेती की जाती है। इसके कई भेद अब भी वन्य अवस्था में मिलते हैं। दो मुख्य भेदों में से एक को नरछा और दूसरे को वनपाट कहते हैं। नरछा विशेषतः बंगाल और आसाम में बोया जाता है। वनपाट की अपेक्षा इसके रेशे अधिक उत्तम होते हैं। नरछे का पौधा वनपाट के पौधे से ऊँचा होता है और पत्ती तथा कली लंबी होती है। वनपाट की पत्तियाँ गोल, फूल नरछे से बड़े और कली की चौंच भी नरछे से कुछ अधिक लंबी होती है। पटसन की बोआई भदई जित्तों के साथ होती है और कटाई उस समय होती है जब उसमें फूल लगते हैं। इस समय न काट लेने से रेशे कड़े हो जाते हैं। बीज के लिये थोड़े से पौधे खेत में एक किनारे छोड़ दिए जाते हैं, शेष काटकर और गट्टों में बाँधकर नदी, तालाब या गड्ढे के जल में गाड़ दिए जाते हैं। तीन चार दिन बाद निकाल कर डंठल से छिलके को अलग कर लेते हैं। फिर छिलकों को पत्थर के ऊपर पछाड़ते हैं और थोड़ी थोड़ी देर के बाद पानी में धोते हैं जिससे कड़ी छाल कटकर थुल जाती है और नीचे की मुलायम छाल निकल आती है। छिलके या रेशे अलग करने के लिये यंत्र भी है, परंतु भारतीय किसान उसका उपयोग नहीं करते। यंत्र द्वारा अलग किए हुए रेशों की अपेक्षा सड़ाकर अलग किए हुए रेशे अधिक मुलायम होते हैं। लुझाए और सुखाए

जाने के अनंतर रेशे एक विशेष यंत्र में दबाए अथवा कुचले जाते हैं। जब तक यह क्रिया होती रहती है, रेशों पर जल और तेल के छूँटे देते रहते हैं जिससे उनकी रुखाई और कठोरता दूर होकर कोमलता, चिकनाई और चमक आ जाती है। आजकल पटसन के रेशों से तीन काम लिए जाते हैं—मुलायम, लचीले रेशों से कपड़े तथा टाट बनाए जाते हैं, कड़े रेशों से रस्से रस्सियाँ और जो इन दोनों कामों के अयोग्य समझे जाते हैं उनसे कागज बनाया जाता है। रेशों की उत्तमता अनुत्तमता के विचार से भी पटसन के कई भेद हैं। जैसे, उत्तरिया, देसवाल, देसी, ड्योरा या डौरा, नारायन, गंजी, सिराजगंजी आदि। इनमें उत्तरिया और देसवाल सर्वोत्तम है। पटसन के रेशे अन्य वृक्षों या पौधों के रेशों से कमजोर होते हैं, इसी से इनसे बुने हुए वस्त्र भी अपेक्षाकृत कमजोर होते हैं। रंग इसके रेशों पर चाहे जितना गहरा या हलका चढ़ाया जा सकता है। चमक, चिकनाई आदि में पटसन रेशम का मुकाबला करता है, जिस कारखाने में पटसन के सूत और कपड़े बनाए जाते हैं उनको 'जूट मिल' और जिस यंत्र में दाब पहुँचाकर रेशों को मुलायम और चमकीला बनाया जाता है उसे 'जूट प्रेस' कहते हैं। (२) पटसन के रेशे। पाट। जूट।

विशेष—(क) पटसन से रस्से रस्सियाँ टाट और टाट ही की तरह का एक मोटा कपड़ा तो बहुत दिनों से लोग बनाते रहे हैं, पर उसका बारीक रेशम-तुल्य सूत और उनसे बहुमूल्य वस्त्र तैयार करने की ओर उनका ध्यान नहीं गया था। अब उसका खूब महीन सूत भी बनने लग गया है। (ख) कुछ लोगों का यह अनुमान है कि नरछा नामक उत्तम जाति के पटसन के बीज भारत में चीन से लाए गए हैं। बंगाल और आसाम के जिन जिन भागों में नरछे की खेती सफलतापूर्वक की जा सकती है वहाँ की जलवायु में चीन की जलवायु से बहुत कुछ समानता है।

पटसाली-संज्ञा पुं० [सं० पट्टसाली] धारवाड़ प्रांत की जुलाहों की एक जाति जो रेशमी वस्त्र बुनती है।

पटहंसिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] संपूर्ण जाति की एक रागिनी जिस में सब शुद्ध स्वर लगते हैं। यह रागिनी १० दंड से २० दंड तक के बीच में गाई जाती है।

पटह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दुंदुभी। नगाड़ा। टंका। आडंबर। (२) बड़ा ढोल।

पटहार-वि० [सं० पाट + हिं० हार (प्रत्य०)] रेशम के डोरे बनानेवाला। रेशम के डोरों से गहना गूँथनेवाला।

संज्ञा पुं० [स्त्री० पटहारिन वा पटोरिन] एक जाति जो रेशम या सूत के डोरे से गहने गूँथती है। पटवा।

पटहारिन—संज्ञा स्त्री० [हि० पटहार] (१) पटहार की स्त्री । (२) पटहार जाति की स्त्री ।

पटा—संज्ञा पुं० [सं० पट] प्रायः दो हाथ लंबा किर्च के आकार की लोहे की फट्टी जिससे तलवार की काट और बचाव सीखे जाते हैं ।

संज्ञा पुं० [सं० पट] पीड़ा । पटरा ।

मुहा०—पटाफेर = विवाह की एक रस्म जिसमें वर वधू के आसन परस्पर अदल बदल दिए जाते हैं । पटा बांधना = पटरानी बनाना । उ०—चौदह सहस्र तिया में तोको पटा बाँधाऊँ आज ।—सूर ।

(३) * [सं० पट] अधिकारपत्र । सनद । पट्टा । उ०—विधि के कर को जो पटो किखि पायो ।—तुलसी ।

(४) * [हि० पटना] खेन देन । क्रयविक्रय । सौदा । उ०—मन के हटा में पुनि प्रेम को पटा भयो ।—पद्माकर । (५) चौड़ी लकीर । धारी । (६) लगाम की मुहरी । (७) चटाई । (८) दे० “पट्टा” ।

पटाई—संज्ञा स्त्री० [हि० पटना] (१) पटाने की क्रिया या भाव । सिंचाई । आबपाशी । (२) सिंचाई की मजदूरी । संज्ञा स्त्री० [हि० पाटना] (१) पाटने की क्रिया या भाव । (२) पाटने की मजदूरी ।

पटाक—[अनु०] किसी छोटी चीज के गिरने का शब्द । जैसे, वह पटाक से गिरा ।

विशेष—चटाक, धड़ाम आदि अनुकरण-शब्दों के समान इसका व्यवहार भी सदा ‘से’ विभक्ति के साथ क्रियाविशेषणवत् होता है । संज्ञा की भाँति प्रयुक्त न होने के कारण इसका कोई लिंग नहीं माना जा सकता ।

पटाका—संज्ञा पुं० [हि० पट (अनु०)] (१) पट या पटाक शब्द । (२) पट या पटाक शब्द करके छूटनेवाली एक प्रकार की आतशबाजी ।

क्रि० प्र०—छोड़ना ।

(२) पटाके की ध्वनि । कोड़े या पटाके की आवाज । (३) तमाचा । थप्पड़ । चपत ।

क्रि० प्र०—जमाना ।—देना ।—लगाना ।

संज्ञा स्त्री० युवती अथवा कम अवस्थावाली स्त्री । (बाजारू)

पटाखा—संज्ञा पुं० दे० “पटाका” ।

पटाना—क्रि० सं० [हि० पट = समतल] (१) पाटने का काम कराना । गड्ढे आदि को भर कर आसपास की ज़मीन के बराबर कराना । (२) कृत को पीट कर बराबर कराना । (३) पाटन बनवाना । कृत बनवाना । जैसे, कोठा पटाना । (४) ऋण लुका देना । ऋण कर देना । जैसे, मैंने उनका सब पावना पटा दिया । (५) बेचनेवाले को किसी मूल्य पर सौदा

देने के लिये राजी कर लेना । मूल्य तै कर लेना । जैसे, सौदा पटाना ।

क्रि० अ० शांत होकर बैठना । चुप चाप बैठना ।

पटापट—क्रि० वि० [अनु० पट] लगातार बार बार ‘पट’ ध्वनि के साथ । निरंतर पट पट शब्द करते हुए । ‘पट पट’ की ऐसी आवृत्ति जिसमें दो ध्वनियों के मध्य बहुत ही कम अवकाश हो और एक सम्मिलित ध्वनि सी जान पड़े । जैसे, पटापट मार पड़ी ।

संज्ञा स्त्री० निरंतर पटपट शब्द की आवृत्ति । ‘ऐसी पटपट’ ध्वनि जिसमें दो ध्वनियों के बीच इतना कम अवकाश हो कि अनुभव में न आ सके । जैसे, इस पटापट से तो तबी-आत परेशान हो गई ।

पटापटी—संज्ञा स्त्री० [अनु०] वह वस्तु जिसमें अनेक रंगों के फूल पत्ते कटे हों । वह वस्तु जो कई रंगों से रंगी हुई हो । चित्र विचित्र वस्तु ।

मुहा०—पटापटी का पर्दा = वह पर्दा जिसमें रंग विरंग के फूल पत्ते या समोसे आदि कटे हों । पटापटी की गोठ = वह रंग विरंगी गोठ जिसमें सिंघाड़े आदि कटे हों ।

पटार—संज्ञा स्त्री० [सं० पिटक] (१) पिटारा । पेटी । मंजूषा । (२) पिंजड़ा । (३) रेशम की रस्सी या निवार । (४) कनखजूरा । (बुंदेलखंडी)

पटालुका—संज्ञा स्त्री० [सं०] जौंक । जलौका ।

पटाव—संज्ञा पुं० [हि० पाटना] (१) पाटने की क्रिया । (२) पाटने का भाव । (३) पटा हुआ स्थान । पाट कर चौरस किया हुआ स्थान । (४) दीवारों के आधार पर पाट कर बनाया हुआ ऊँचा स्थान । पाटन । (५) लकड़ी का वह मजबूत तब्ला जिसे दरवाजे के ऊपरी भाग पर रख कर उसके ऊपर दीवार उठाते हैं । भरेठा ।

पटि—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कोई छोटा बख या बखखंड । (२) जलकुंभी ।

पटिया—संज्ञा स्त्री० दे० “पटिया” ।

पटिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] कोई छोटा बख या बखखंड ।

पटिया † संज्ञा स्त्री० [सं० पटिका] (१) पत्थर का प्रायः चौकोर और चौरस कटा हुआ टुकड़ा जिसकी मोटाई लंबाई चौड़ाई के हिसाब से बहुत कम हो । चिपटा चौरस शिखखंड । फलक । (२) काठ का छोटा तब्ला । खाट या पलंग की पट्टी । पाटी । † (३) माँग । पट्टी ।

क्रि० प्र०—काढ़ना ।—पारना ।—सँवारना ।

(४) हेंगा । पाटा । (५) कम्मल या टाट की एक पट्टी । (६) जिखने की पट्टी । तख्ती । (७) सँकरा और लंबा खेत ।

पटी—संज्ञा स्त्री० [सं० पट] (१)* कपड़े का पतला लंबा टुकड़ा ।

पटी । उ०—मीत बिरह की पीर को सके न पलटग कांध ।
रूप कपूर लगाइ कै मीति पटी सों बांध ।—रसनिधि । (२)
पटका । कमरबंद । उ०—पीत पटी लपटी कटि में अरु
साविरो सुंदर रूप सँवारे ।—देव । (३) पर्दा । (४)
नाटक का पर्दा ।

पटीमा—संज्ञा पुं० [हिं० पटी] छीपियों का वह रस्सा जिस पर
वे छापते समय कपड़े को बिछा लेते हैं ।

पटीर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का चंदन । (२) कथा ।
(३) कथे या खेर का वृत्त । (४) मूली । (५) वटवृत्त ।
उ०—जटिल पटीर कृपाल बट रक्तफला न्यग्रोध । यह
बंसीवट देखु बलि सब सुख निरुपध बोध ।—नंददास ।

पटीलना—कि० अ० [हिं० पटना] (१) किसी को उलटी
सीधी बातें समझा बुझाकर अपने अनुकूल करना । ढंग पर
लाना । हथ्ये चढ़ाना । उतारना । (२) अर्जित करना ।
कमाना । प्राप्त करना । (३) ठगना । छलना । (४) मारना ।
पीटना । ठोकना । (५) परास्त करना । नीचा दिखाना ।
(६) सफलतापूर्वक किसी काम को समाप्त करना । खतम
करना । पूर्ण करना ।

सं० कि०—डालना ।—देना ।—लेना ।

पटु—वि० [सं०] (१) प्रवीण । निपुण । कुशल । दक्ष । (२)
चतुर । चालाक । होशियार । (३) धूर्त । छलिया ।
मक्कार । फरेबी । (४) निष्ठुर । अत्यंत कठोर हृदयवाला ।
(५) रोगरहित । तंदुरुस्त । स्वस्थ । (६) तीक्ष्ण । तीखा ।
तेज । (७) उग्र । प्रचंड । (८) स्फुट । प्रकाशित । व्यक्त ।
(९) सुंदर । मनोहर । उ०—(क) रघुपति पटु पालकी
मँगवाई ।—तुलसी । (ख) पौढाये पटु पालने सिंसु निरखि
मगन मन मोद ।—तुलसी ।
संज्ञा पुं० (१) नमक । (२) पांशुलवण । पांगा नोन ।
(३) परवल । (४) परवल के पत्ते । (५) करेला । (६)
चिरचिटा नाम की जता । (७) चीनी कपूर । (८) जीरा ।
(९) बच । (१०) नकड़िकनी ।

पटुआ—संज्ञा पुं० दे० “पटुवा (१) और (२)” ।

पटुक—संज्ञा पुं० [सं०] परवल ।

पटुकल्प—वि० [सं०] कुछ कम पटु । जो पूर्ण कुशल या चालाक
न हो । कामचलाक दक्ष ।

पटुका—संज्ञा पुं० [सं० पटिका] (१) दे० “पटका” । (२)
चादर । गले में डालने का वस्त्र । (३) भारीदार चारखाना ।

पटुता—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पटु होने का भाव । प्रवीणता ।
निपुणता । होशियारी । (२) चतुराई । चालाकी ।

पटुतूलक—संज्ञा पुं० [सं०] एक घास । लवणतृण ।

पटुतृणक—संज्ञा पुं० [सं०] लवणतृण नाम की घास ।

पटुत्रय—संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक का एक पारिभाषिक शब्द जिससे

तीन नमकों का बोध होता है—बिड़ नोन, सेंधा नोन और
काला नोन ।

पटुत्व—संज्ञा पुं० [सं०] पटुता ।

पटुपत्रिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] छोटे चेंच का पौधा ।

पटुपर्णिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की कटेहरी ।

पटुपर्णी—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की कटेहरी । सत्यानाशी
कटेहरी । स्वर्णचिरी । भैंड़भाड़ ।

पटुमातृ—संज्ञा पुं० [सं०] आंध्र वंश का एक राजा । किसी किसी
पुराण में इसका नाम पटुमान् या पटुसाधि मिलता है ।

पटुली—संज्ञा स्त्री० [सं० पट्ट] (१) काठ की पटरी जो झूलने
के रस्सों पर रखी जाती है । (२) चौकी । पीढ़ी । (३) गाड़ी
या छकड़े में जड़ा हुआ लंबा चिपटा डंडा ।

पटुवा—संज्ञा पुं० [सं० पाट] (१) पटसन । जूट । (२) करेमू ।
संज्ञा पुं० [हिं० पटला] गून के सिरे पर बंधा हुआ डंडा
जिसको पकड़े हुए माँझी लोग गून खींचते हैं ।
संज्ञा पुं० [देश०] तोता । शुक्र ।

पटूका—*संज्ञा पुं० दे० “पटका” ।

पटेबाज—संज्ञा पुं० [हिं० पटा + बाज] (१) पटा खेलनेवाला ।
पटे से लड़नेवाला । पटैत । (२) एक खिलौना जो हिलाने
से पटा खेलता है । (३) छिनाल खी । कुलटा परंतु चतुरा
खी । (बाजारू) । (४) व्यभिचारी और धूर्त पुरुष ।
(बाजारू) ।

पटेर—संज्ञा स्त्री० [सं० पटेरक] पानी में होनेवाली सरकंडे की
जाति की एक प्रकार की घास जिसके पत्ते प्रायः एक इंच
चौड़े और चार पाँच फुट तक लंबे होते हैं । पत्ते बहुत मोटे
होते हैं और पत्तों में से नए पत्ते निकलते हैं । इन पत्तों से
चटाईयाँ आदि बनाई जाती हैं । इसमें बाजरे की बाख की
तरह बालें लगती हैं जिसके दानों का आटा सिंध देश के
दरिद्र निवासी खाते हैं । वैद्यक में यह कसैली, मधुर,
शीतल, रक्तपित्त-नाशक और मूत्र, शुक्र, रज तथा स्तेनो के
दूध को शुद्ध करनेवाली मानी जाती है । गोंदपटेर ।

पर्या०—गुंदा । पटेरक । रच्छ । शृंगवेशभमूलक ।

पटेरा—संज्ञा पुं० (१) दे० “पटेला” । (२) दे० “पटैला” ।

पटेला—संज्ञा पुं० [हिं० पट्टा + वाला] (१) गाँव का संबरदार
(म० प्र०) (२) गाँव का मुखिया । गाँव का चौधरी । (३)
एक प्रकार की उपाधि । (यह उपाधि धारण करनेवाले प्रायः
मध्य और दक्षिण भारत में होते हैं ।)

पटेलना—कि० सं० दे० “पटीलना” ।

पटैला—संज्ञा पुं० [हिं० पाटना] [स्त्री० अल्प० पटैली] (१) वह
नाव जिसका मध्य भाग पटा हो । बेल घोड़े आदि को ऐसी
ही नाव पर पार उतारते हैं । (२) एक घास जिसकी चटाईयाँ
बनाते हैं । दे० “पटेर” । (३) हेंगा । (४) सिल । पटिया ।

(२) कुशली का एक पैच जिससे नीचे पड़े हुए जोड़ को चित किया जाता है। बाएँ हाथ से जोड़ की गरदन पर कलाई जमाकर उसकी दाहिनी बगल पकड़ लेते और दाहिने हाथ से उसकी दाहिनी ओर का जाँघिया पकड़ कर स्वयं पीछे हटते हुए उसे अपनी ओर खींचते हैं जिससे वह चित हो जाता है।

पटेली—संज्ञा स्त्री० [हि० पटेल] छोटी पटेली नाव।

पटैत—संज्ञा पुं० [हि० पटा + ऐत (प्रत्य०)] पटा खेखने या लड़ने वाला। पटैवाज।

पटैला—संज्ञा पुं० [हि० पटल] (१) लकड़ी का बना हुआ चिपटा डंडा जो किवाड़ों को बंद करने के लिये दो किवाड़ों के मध्य आड़े बल लगाया जाता है। इसे एक ओर सरकाने से किवाड़ बंद होते और दूसरी ओर सरकाने से खुलते हैं। डंडा। ब्याँड़ा। (२) दे० 'पटोला'।

पटोर—संज्ञा पुं० [सं० पटोल] (१) पटोल। (२) कोई रेशमी कपड़ा।

पटोरी—संज्ञा स्त्री० [सं० पाट + ओरी (प्रत्य०)] (१) रेशमी साड़ी या धोती। (२) रेशमी किनारे की धोती।

पटोल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का रेशमी कपड़ा जो प्राचीन काल में गुजरात में बनता था। (२) परवल की लता। (३) परवल का फल।

पटोलक—संज्ञा पुं० [सं०] लीपी। शक्ति। सुतही।

पटोलपत्र—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की पोई।

पटोलिका, पटोली—संज्ञा स्त्री० [सं०] सफेद फूल की पुरई या तरौई।

पटौनी—संज्ञा पुं० [देश०] माँझी। मल्लाह।

पटौहाँ—संज्ञा पुं० [हि० पाटना + औहा (प्रत्य०)] (१) पटा हुआ स्थान। (२) पटाव के नीचे का स्थान। (३) वह कमरा जिसके ऊपर कोई और कमरा हो। (४) पटवंधक।

पट्ट—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीढ़ा। पाटा। (२) पट्टी। तख्ती। लिखने की पटिया। (३) लंबे आदि धातुओं की वह चिपटी पट्टी जिस पर राजकीय आज्ञा या दान आदि की खबद खोदी जाती थी। (४) किसी वस्तु का चिपटा या चौरस तब भाग। (५) शिला। पटिया। (६) घाव पर बाँधने का पतला कपड़ा। पट्टी। (७) वह भूमि संबंधी अधिकारपत्र जो भूमि स्वामी की ओर से असामी को दिया जाता है और जिसमें वे सब शर्तें लिखी होती हैं जिन पर वह अपनी जमीन उसे देता है। पट्टा। (८) ढाल। (९) पगड़ी। (१०) दुपट्टा। (११) नगर। (१२) चौराहा। चतुष्पथ। (१३) राजसिंहासन।

पट्टा—पट्टमहिषी।

(१४) रेशम। (१५) लाल रेशमी पगड़ी। (१६) पाट। पटसन।

वि० [सं०] मुख्य। प्रधान।

वि० दे० "पट"।

अनु० दे० "पट"।

पट्टक—संज्ञा पुं० [?] (१) लिखने की पट्टी या पटिया। तख्ती। (२) ताम्रपट या चित्रपट। (३) ताम्रपट पर खुदी हुई राजाज्ञा या अन्य विषय। (४) वह रेशमी वस्त्र जिसकी पगड़ी बनाई जाय। (५) घाव पर बाँधने की पट्टी। (६) पटका। कमरबंद।

पट्ट—संज्ञा पुं० [सं०] टसर का कपड़ा।

पट्टदेवी—संज्ञा पुं० [सं०] राजा की प्रधान रानी। पटरानी।

पट्टदोल—संज्ञा स्त्री० [सं०] कपड़े का बना हुआ झूल या पाजना।

पट्टन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) नगर। (२) बड़ा नगर।

पट्टमहिषी—संज्ञा स्त्री० [सं०] पटरानी। प्रधान रानी।

पट्टरंग, पट्टरंजक, पट्टरंजन, पट्टरंजनक—संज्ञा पुं० [सं०] पतंग। बकस।

पट्टराज—संज्ञा पुं० महाराष्ट्र के उन ब्राह्मणों की उपाधि जो पुजारी का काम करते हैं।

पट्टराज्ञी—संज्ञा स्त्री० [सं०] पटरानी।

पट्टशाक—संज्ञा पुं० [सं०] पटुवा।

पट्टांशुक—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का प्राचीन पहनावा।

पट्टा—संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी स्थावर संपत्ति विशेषतः भूमि के उपयोग का अधिकारपत्र जो स्वामी की ओर से असामी, किरायेदार या ठेकेदार को दिया जाय।

विशेष—मालिक अपनी जायदाद जिस काम के लिये और जिन शर्तों पर देता है और जिनके विरुद्ध आचरण करने से उसे अपनी वस्तु वापस ले लेने का अधिकार होता है वे इसमें लिख दी जाती हैं। साथ ही उसकी संपत्ति से लाभ उठाने के बदले असामी से वह वार्षिक या मासिक धन या लाभान्श उसे देने की जो प्रतिज्ञा कराता है उसका भी इसमें निर्देश कर दिया जाता है। पट्टा साधारणतः दो प्रकार का होता है—(१) मियादी या मुहती और (२) इस्तमरारी। मियादी पट्टे के द्वारा मालिक एक विशेष अवधि तक के लिये असामी को अपनी चीज से लाभ उठाने का अधिकार देता है और उस अवधि के बीत जाने पर उसे इसको (असामी को) बंदखल कर देने का अधिकार होता है। इस्तमरारी, दवामी या सर्वकालिक पट्टे से वह असामी को सदा के लिये अपनी वस्तु के उपयोग का अधिकार देता है। असामी की इच्छा होने पर वह इस अधिकार को दूसरों के हाथ कीमत लेकर बेच भी सकता है। जमींदारी का अधिकार जिस पट्टे के द्वारा एक निर्दिष्टकाल तक के लिये दूसरे को दिया जाता है उसे ठेकेदारी या मुस्ताजिरी पट्टा कहते हैं।

असामी जिस पट्टे के द्वारा असल मालिक से प्राप्त अधिकार या उसका अंशविशेष दूसरे को देता है उसे शिकमी पट्टा कहते हैं। पट्टे की शर्तों की स्वीकृतिसूचक जो कागज असामी की ओर से लिख कर मालिक या जमींदार को दिया जाता है उसे कबूलियत कहते हैं। पट्टे पर मालिक के और कबूलियत पर असामी के हस्ताक्षर या सही अवश्य होनी चाहिए।

क्रि० प्र०—लिखना।

(२) कोई अधिकारपत्र। सनद। (३) चमड़े या बानात आदि की बड़ी जो कुत्तों, बिल्लियों के गले में पहनाई जाती है।

मुहा०—पट्टा तोड़ना या तोड़ना = कुत्ते या बिल्ली का अपने पालनेवाले के यहाँ से भागकर अन्यत्र चला जाना।

(४) एक गहना जो चूड़ियों के बीच में पहना जाता है।

(५) पीड़ा। (६) कामदार जूतियों पर का वह कपड़ा जिस पर काम बना होता है। (७) घोड़े के सुई पर का वह लंबा सफेद निशान जो नथुनों से लेकर मत्थे तक होता है। (८) घोड़ों के मस्तक पर पहनाने का एक गहना। (९) पुरुषों के सिर के बाल जो पीछे की ओर गिरे और बराबर कटे होते हैं। (१०) चपरास। (११) वह वृत्ताकार पट्टी जिसमें चपरास टँकी रहती है। (१२) चमड़े का कमरबंद। पट्टी। (१३) कन्यापक्ष के नाई, धोबी, कहार आदि का वह नेग जो विवाह में वर्षपक्ष से उन्हें दिलवाया जाता है।

क्रि० प्र०—तुकाना।—तुकवाना।

विशेष—देहात के हिंदुओं में यह रीति है कि नाई, धोबी, कहार, भंगी आदि की मजदूरी में से इतना अंश नहीं देते जितना पड़ते से अविवाहिता कन्या के हिस्से पड़ता है। कन्या का विवाह हो जाने पर यह सारी रकम इकट्ठी वर के पिता से उन्हें दिलवाई जाती है।

(१४) महाराष्ट्र देश में काम में लाई जानेवाली एक प्रकार की तलवार।

पट्टाचार्य—संज्ञा पुं० [सं०] दक्षिण देश में बसनेवाले प्राचीन पंडितों की उपाधि।

पट्टार—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन देश।

पट्टारक—वि० [सं०] पट्टार में उत्पन्न।

पट्टार्हा—संज्ञा स्त्री० [सं०] पट्टरानी।

पट्टिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) छोटी तख्ती। पटिया। (२) छोटा ताम्रपत्र या चित्रपत्र। (३) कपड़े की छोटी पट्टी। (४) एक बिना लंबा कपड़ा। (५) रेशम का फीता। (६) पठानी लोथ।

पट्टिकाख्य, पट्टिकालोभ—संज्ञा पुं० [सं०] पठानी लोभ।

पट्टिल—संज्ञा पुं० [सं०] सूतिकरंज। पलंग।

पट्टिलोभ, पट्टिलोभक—संज्ञा पुं० [सं०] पठानी लोभ।

पट्टिश—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का प्राचीन शस्त्र या खांडा इसकी लंबाई की तीन पाँच थीं। उत्तम ४ हाथ, मध्यम ३॥ हाथ और अधम ३ हाथ लंबा होता था। सुटिया के ऊपर चलानेवाले की कलाई के बचाव के लिये लोहे की एक जाली बनी होती थी। धार इसमें दोनों ओर होती थी और नोक अत्यंत तीव्र होती थी। आजकल जिसे पटा कहते हैं वह इससे केवल लंबाई में कम होता है और सब बातें दोनों में समान हैं।

पट्टिशी—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पट्टिश बाँधनेवाला। (२) पट्टिश से लड़नेवाला।

पट्टिस—संज्ञा पुं० [सं०] पट्टिश। पटा।

पट्टी—संज्ञा स्त्री० [सं० पट्टिका] (१) लकड़ी की वह लंबोत्तरी चारस और चिपटी पट्टी जिसपर प्राचीन काल में विद्यार्थियों को पाठ दिया जाता था और अब आरंभिक छात्रों को लिखना सिखाया जाता है। पाटी। पटिया। तख्ती।

मुहा०—पट्टी पढ़ना = गुरु से पाठ प्राप्त करना। सबक पढ़ना। पट्टी पढ़ाना = छात्र को पट्टी पर लिखकर पाठ देना। सबक पढ़ा देना।

(२) पाठ। सबक। जैसे, मैंने यह पट्टी नहीं पढ़ी है।

क्रि० प्र०—पढ़ना।—पढ़ाना।

(३) उपदेश। शिक्षा। सिखावन। जैसे, (क) यह पट्टी तुम्हें किसने पढ़ाई थी? (ख) आजकल तुम किसकी पट्टी पढ़ते हो जी? (४) वह शिक्षा जो बुरी नीयत से दी जाय। वह उपदेश जो उपदेशक स्वार्थसाधन के लिये दे। वहकाने वाली शिक्षा। वहकाबा। भुलावा। चकमा। झूठा। दम। जैसे, तुम उनको जरा पट्टी पढ़ा देना, फिर मेरा काम बन जायगा।

क्रि० प्र०—देना।—पढ़ाना।

मुहा०—पट्टी में आना = किसी धूर्त के गुप्त अभिप्राय को न समझकर जो कुछ वह कहे उसे मान लेना। किसी के चकमे में आ जाना। किसी के दम में आ जाना।

(५) लकड़ी की वह बल्ली जो खाट के ढाँचे की लंबाई में लगाई जाती है। पाटी। (६) धातु, कागज या कपड़े की धज्जी।

क्रि० प्र०—उतारना।—काटना।—तराशना।

(७) कपड़े की वह धज्जी जो घाव या अन्य किसी स्थान में बाँधी जाय।

क्रि० प्र०—बाँधना।

(८) पत्थर का पतला, चिपटा और लंबा टुकड़ा। (९) लकड़ी की लंबी बल्ली जो छत या छान के छत में लगाई

जाती है। (१०) टाट के ओर की बलियों की पांती। (११) खन की बुनी हुई धजियाँ जिनके जोड़ने से टाट तैयार होते हैं। (१२) कपड़े की कोर या किनारी। (१३) वह तख्ता जो नाव के बीचों बीच होता है। (१४) एक प्रकार की मिठाई जिसमें चाशनी में अन्य चीजें जैसे चना तिल मिलाकर जमाते और फिर उसके चिपटे, पतले और चौकोर टुकड़े काट लिए जाते हैं। (१५) सूती या ऊनी कपड़े की धज्जी जिसे सड़ों और अकावट से बचने के लिये टांगों में बांधते हैं। यह चार पाँच अंगुल चौड़ी और प्रायः पाँच हाथ लंबी होती है। इसके एक सिरे पर मजबूत कपड़े की एक और पतली धज्जी टँकी रहती है जिससे लपेटने के बाद ऊपर की ओर कसकर बांध देते हैं। अन्य लोग इसे केवल जाड़े में बांधते हैं, पर सेना और पुलिस के सिपाहियों को इसे सभी ऋतुओं में बांधना पड़ता है। (१६) पंक्ति। पांती। कतार। (१७) मार्ग के दोनों ओर के कंधी से खूब बैठाए हुए बाज जो पट्टी से दिखाई पड़ते हैं। पाटी। पटिया। (पट्टी अच्छी तरह बैठाने के लिये कुछ किरायों वालों में भिगोया हुआ गोंद, अलसी का लुआव अथवा तेल और पानी भी लगाती हैं।)

क्रि० प्र०—बैठाना।—सँवारना।

मुहा०—पट्टी जमाना = मार्ग के दोनों ओर के वालों को गोंद या लुआव आदि की सहायता से इस प्रकार बैठाना कि वे सिर में बिलकुल चिपक जायँ और पट्टी से माकूम होने लगें। पट्टो बैठाना या सँवारना।

(१८) किसी वस्तु विशेषतः किसी संपत्ति का एक एक भाग। हिस्सा। भाग। विभाग। पत्ती। (१९) ऐसी जमींदारी का एक भाग जो एक ही मूल पुरुष के उत्तराधिकारियों या उनके द्वारा नियत किए हुए व्यक्तियों की संयुक्त संपत्ति हो। किसी जमींदारी का उतना भाग जो एक पट्टीदार के अधिकार में हो। पट्टीदारी का एक मुख्य भाग। थोक का एक भाग। हिस्सा।

यौ०—पट्टीदार। पट्टीदारी।

मुहा०—पट्टी का गाँव = पट्टीदारी गाँव। वह गाँव जिसके बहुत से मालिक हों और इस कारण उसमें सुप्रबंध का अभाव हो।

उ०—पट्टी का गाँव और पट्टी का घर अच्छा नहीं होता।

(२०)* वह अतिरिक्त कर जो जमींदार किसी विशेष प्रयोजन के लिये आवश्यक धन एकत्र करने के लिये असा-मियों पर लगाता है। नेग। अबवाब।

संज्ञा स्त्री० [सं० पट] घोड़े की वह दौड़ जिसमें वह बहुत दूर तक सीधा दौड़ता चला जाय। लंबी और सीधी सरपट। जैसे, घोड़े को पट्टी दो।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पठानी लोभ। (२) एक गहना जो

पगड़ी में लगाया जाता है। (३) तखसारक। तोवड़ा। (४) घोड़े की तंग।

पट्टीदार—संज्ञा पुं० [हिं० पट्टी + फा० दार] (१) वह व्यक्ति जिसका किसी संपत्ति में हिस्सा हो। वह जो किसी संपत्ति के अंश का स्वामी हो। हिस्सेदार। (२) पट्टीदारी के मालिकों में से एक। संयुक्त संपत्ति के अंशविशेष का स्वामी। (३) वह व्यक्ति जिसे किसी संपत्ति में हिस्सा बढ़ाने का अधिकार हो। हिस्सा बढ़ाने के लिये झगड़ा करने का अधिकार रखने-वाला। (४) वह व्यक्ति जो किसी विषय में दूसरे के बराबर अधिकार रखता हो। वह व्यक्ति जिसकी राय की उपेक्षा न की जा सकती हो। बराबर का अधिकारी। समान अधिकारयुक्त। जैसे, क्या आप कोई मेरे पट्टीदार हैं कि जो मैं करूँ वह आप भी करें?

पट्टीदारी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पट्टीदार] (१) पट्टी होने का भाव। बहुत से हिस्से होना। किसी वस्तु का अनेक की संपत्ति होना। जैसे, इस गाँव में तो ख़ासी पट्टीदारी है। (२) पट्टीदार होने का भाव। बराबर अधिकार रखने का भाव। हिस्सेदारी।

मुहा०—पट्टीदारी अटकना = ऐसा झगड़ा उपस्थित होना जिसका कारण पट्टी हो। पट्टीदारी विषयक या पट्टीदारी के कारण कोई झगड़ा खड़ा होना। पट्टीदारी के कारण विरोध होना। जैसे, मेरे आप के कोई पट्टीदारी थोड़े ही अटकी है। पट्टीदारी करना = (१) किसी के बराबर अधिकार जताना। पट्टीदार होने के कारण किसी के काम में रुकावट करना। पट्टीदारी के बल पर किसी का विरोध करना। पट्टीदारी के हक पर अड़ना। जैसे, आप तो बात बात में पट्टीदारी करते हैं। (२) बराबरी करना। जो कोई एक करे उसे आप भी करना।

(३) वह जमींदारी जो एक ही मूल पुरुष के उत्तराधिकारियों या उनके नियत किए हुए व्यक्तियों की संयुक्त संपत्ति हो। वह जमींदारी जिसके बहुत से मालिक होने पर भी जो अविभक्त संपत्ति समझी जाती हो। भाई चारा।

विशेष—पट्टीदारी जमींदारी में अनेक विभाग और उप-विभाग होते हैं। प्रधान विभाग को थोक और उसके अंतर्गत उपविभागों को पट्टी कहते हैं। प्रत्येक पट्टी का मालिक अपने हिस्से की जमीन की स्वतंत्र व्यवस्था करता और सरकारी कर देता है। पर किसी एक पट्टी में मालगुजारी बाकी रह जाने पर वह सारी जायदाद से बसूल की जा सकती है। प्रायः प्रत्येक थोक में एक एक लंबरदार होता है। जिस पट्टीदारी की सारी जमीन हिस्सेदारों में बाँट गई हो उसे मुकम्मल या पूर्ण पट्टीदारी और जिसमें कुछ जमीन तो उनमें बाँट दी गई हो, पर कुछ सरकारी कर और गाँव की व्यवस्था का खर्च देने के लिये साझे में ही अलग कर ली गई हो

उसे नासुकम्मल या अपूर्ण पट्टीदारी कहते हैं। नासुकम्मल पट्टीदारी में जब कभी अलग की हुई जमीन का मुनाफा सरकारी कर देने के लिये पूरा नहीं पड़ता तब पट्टीदारों के लिये पर अस्थायी कर लगाकर वह पूरा किया जाता है।

पट्टीवार—क्रि० वि० [हि० पट्टी + फा० वार] प्रत्येक पट्टी का अलग अलग पट्टी के भेद के अनुसार या साथ। इस प्रकार जिसमें हर पट्टी का हिसाब अलग अलग आ जाय। जैसे, मुझे एक पट्टीवार जमाबंदी तैयार कराना है।

वि० (बही) जिसमें प्रत्येक पट्टी का हाल या हिसाब अलग अलग हो। (बही या लेख) जो पट्टी के भेद को ध्यान में रखकर तैयार किया गया हो। जैसे, (क) पट्टी-वार खतौनी या जमाबंदी। (ख) पट्टीवार वासिलबाकी।

पट्ट—संज्ञा पुं० [हि० पट्टी] (१) एक ऊनी वस्त्र जो पट्टी के रूप में बना जाता है। काश्मीर, अल्मोड़ा आदि पहाड़ी प्रदेशों में यह बनता है। यह खूब गरम होता है पर ऊन इसका मोटा और कड़ा होता है। (२) एक प्रकार का चारखाना जिसमें धारियाँ होती हैं।

संज्ञा पुं० [देश०] सुवा। तोता। शुक।

पट्टेपछाड़—संज्ञा पुं० [हि० पट + पछाड़ना] कुश्ती का एक पेच जो उस समय चित करने के लिये काम में लाया जाता है जिस समय जोड़ कुहनियाँ टेक कर पट पड़ा हो और इस कारण इसे चित करने में कठिनाई पड़ती हो। इसमें उसके एक हाथ पर जोर से थाप मारी जाती है और साथ ही उसकी जाँघ को इस जोर से खींचा जाता है कि वह उलटकर चित हो जाता है। यदि छाप दाहिने हाथ पर मारी जाय तो बाईं जाँघ और यदि बाएँ हाथ पर मारी जाय तो दाहिनी जाँघ खींचनी पड़ेगी।

पट्टेबैठक—संज्ञा पुं० [हि० पट + बैठक] कुश्ती का एक पेच जिसमें जोड़ का एक हाथ अपनी जाँघों में दबाकर और अपना एक हाथ उसकी जाँघों में डालकर अपनी छाती का बल देते हुए उसे चित फेंक दिया जाता है।

पट्टेत—संज्ञा पुं० [हि० पट्टेत] (१) पट्टेत। (२) बेवकूफ।

संज्ञा पुं० [हि० पट्टा + ऐत (प्रत्य०)] वह कवृत्तर जो बिल-कुल लाल, काला या नीला हो और जिसके गले में सफेद कंठा हो।

पट्टमान—*वि० [सं० पट्टमान] पढ़ने योग्य। जिसका पढ़ना उचित हो। उ०—अपट्टमान पापग्रंथ पट्टमान वेद वै। —केशव।

पट्टा—संज्ञा पुं० [सं० पुष्ट, प्रा० पुट्ट] [स्त्री० पठिया] (१) जवान। तरुण। पाठा।

यौ०—जवान पट्टा।

(२) मनुष्य पशु आदि चर जीवों का वह बच्चा

जिसमें यौवन का आगमन हो चुका हो पर पूर्णता न आई हो। नवयुवक। उदंत। जैसे, अभी तो वह बिलकुल पट्टा है।

विशेष—चौपायों में घोड़े, पक्षियों में कवृत्तर, उल्लू और मुर्ग और सरीसृपों में साँप के बालोन्मुख बच्चे को पट्टा कहते हैं।

(३) कुश्तीबाज। लड़ाका। जैसे, इस पहलवान ने बहुत से पट्टे तैयार किए हैं। (४) ऐसा पत्ता जो लंबा, दलदार या मोटा हो। जैसे, श्रीकुमार या तंबाकू का पट्टा। (५) वे तंतु जो मांसपेशियों को परस्पर और हड्डियों के साथ बाँधे रखते हैं। मोटी नस। स्नायु।

मुहा०—पट्टा चढ़ना = किसी नस का तन जाना। नस पर नस चढ़ना। पट्टों में घुसना = गहरी दोस्ती पैदा करना। अंतरंग बनना।

(६) एक प्रकार का चौड़ा गोटा जो सुनहला और स्पहला दोनों प्रकार का होता है। (७) अत्तलस, सासनलेट आदि की पट्टी पर बेल बुनकर बनाई हुई गोटा। (८) पेड़ के नीचे कमर और जाँघ के जोड़ का वह स्थान जहाँ छूने से गिल्टियाँ मालूम होती हैं।

पट्टापछाड़—वि० [हि० पट्टा + पछाड़ना] इतनी बलवती (स्त्री) जो पुरुष को पछाड़ दे। खूब हट पुष्ट और बलवती (स्त्री)। जैसे, वह तो खासी पट्टापछाड़ औरत है।

पट्टी—संज्ञा स्त्री० दे० “पठिया”।

पठ—संज्ञा स्त्री० [हि० पाठ] वह जवान बकरी जो ब्याई न हो। पाठ।

पठक—संज्ञा पुं० [सं०] पढ़नेवाला।

पठन—संज्ञा पुं० [सं०] पढ़ने की क्रिया। पढ़ना।

यौ०—पठन-पाठन = पढ़ना पढ़ाना।

पठनीय—वि० [सं०] पढ़ने योग्य।

पठनेटा—संज्ञा पुं० [हि० पठान + टा = बेटा (प्रत्य०)] पठान का लड़का। वह जो पठान जाति में उत्पन्न हुआ हो। उ०—परे रुधिर लपेटे पठनेटे फरकत हैं।—भूषण।

पठमंजरी—संज्ञा स्त्री० [सं०] श्री राग की चौथी रागिनी। इसका गान समय एक पहर दिन के बाद है। विशेष—दे० “पठमंजरी”।

पठवाना—*क्रि० सं० [हि० पठाना का प्रे०] भेजवाना। भेजने का काम दूसरे से कराना। दूसरे को भेजने में प्रवृत्त करना।

पठान—संज्ञा पुं० [पश्तो० पुख्ताना] एक सुसलमान जाति जो अफगानिस्तान के अधिकांश और भारत के सीमांत प्रदेश पंजाब तथा रुहेलखंड आदि में बसती है। इस जाति के लोग कट्टर, क्रूर, हिंसाप्रिय और स्वाधीनताप्रिय होते हैं।

विशेष—यह जाति अनेक संप्रदायों और शाखाओं में विभक्त है जिनमें से प्रत्येक के नाम के साथ वंश या संप्रदाय का सूचक

“खेल”, “जई” आदि कोई न कोई शब्द लगा रहता है। जैसे, जका-खेल; गिलजई आदि। प्रत्येक संप्रदाय में एक सरदार होता है जिसको मलिक कहते हैं। सीमांत प्रदेश के पठानों में यही सरदार शासक होता है। सीमांत प्रदेश के पठान प्रायः असभ्य हैं। आखेट, चोरी और डकैती ही उनकी जीविका के साधन हैं। अफगानिस्तान के पठान अपेक्षाकृत सभ्य हैं। भारत के पठान उपर्युक्त दोनों ही स्थानों के पठानों से अधिक सभ्य हैं और प्रायः खेती या नौकरी करके अपनी जीविका चलाते हैं। धर्म की अपेक्षा रुढ़ि और सभ्यता की अपेक्षा स्वाधीनता पठानों को अधिक प्रिय है। नीति-प्रनीति का वे बहुत कम विचार करते हैं। पठान प्रायः लंबे चौड़े डींग डोलवाले, गोरे और क्रूरकृति होते हैं। जाति बंधन इनमें विशेष दृढ़ है। एक संप्रदाय के पठान का दूसरे में व्याह नहीं हो सकता। स्त्रियों की सतीश्वरता का इन्हें बहुत ज्यादा खयाल रहता है। इनके आपस के अधिकांश झगड़े स्त्रियों ही के लिये होते हैं। इनके उत्तराधिकार आदि के झगड़े कुरान के अनुसार नहीं बरन रुढ़ियों के अनुसार फैसल होते हैं जो भिन्न भिन्न संप्रदायों में भिन्न भिन्न हैं।

पठानों का प्राचीन इतिहास अनिश्चयात्मक है। पर इसमें कोई संदेह नहीं कि अधिकांश उन हिंदुओं के वंशज हैं जो गांधार, कांबोज, बाह्लीक आदि में रहते थे। फारस के मुसलमान होने के बाद इन स्थानों के निवासी क्रमशः मुसलमान हुए। इनमें से अधिकांश राजपूत क्षत्रिय थे। परमार आदि बहुत से राजपूत वंश अपनी कई शाखाओं को सिंध पार बसनेवाले पठानों में बतलाते हैं। पूर्वज कहां से आए और कौन थे, इस विषय में कोई कल्पना अधिक साधार नहीं है। इनकी भाषा पश्तो आर्य प्राकृत ही से निकली है। पीछे तुर्क और यहूदी जातिर्ण भी अफगानिस्तान में आकर बस गईं और पुराने पठानों से इस प्रकार हिलमिल गईं कि अब किसी पठान का वंश निश्चय करना प्रायः असंभव हो गया है। पठान शब्द की व्युत्पत्ति भी अनिश्चयात्मक है। इस विषय में अधिक ग्राह्य कल्पना यह है कि पहले पहल अफगानिस्तान के “पुख्ताना” स्थान में बसने के कारण इस जाति को “पुख्तून” और इसकी भाषा को पुख्तू कहते थे। फिर क्रमशः जाति को पठान और भाषा को पश्तो कहने लगे।

पठाना—क्रि० सं० [सं० प्रस्थान, प्रा० पठान] भेजना।

पठानिन—संज्ञा स्त्री० दे० “पठानी”

पठानी—संज्ञा स्त्री० [हि० पठान] (१) पठान जाति की स्त्री। पठान स्त्री। (२) पठान होने का भाव। (३) पठान जाति की चरित्रगत विशेषता। क्रूरता, शूरता, रक्तपात-प्रियता आदि पठानों के गुण। पठानपन।

वि० [हि० पठान] (१) पठानों का। जैसे, पठानी राज्य। (२) जिसका पठान या पठानों से संबंध हो। पठानों से संबंध रखनेवाला।

पठानी लोध—संज्ञा पुं० [सं० पटिका लोध] एक जंगली वृक्ष जिसकी लकड़ी और फूल औषध और पत्तियाँ और छाल रंग बनाने के काम में आती हैं। यह उगाया या रोपा नहीं जाता, केवल जंगली रूप में पाया जाता है। इसकी छाल को उबालने से एक प्रकार का पीला रंग निकलता है जो कपड़ा रंगने के काम में लाया जाता है। बिजनीर, कुमाऊँ और गढ़वाल के जंगलों में इसके वृक्ष बहुतायत से पाए जाते हैं। चमड़े पर रंग पक्का करने और अवीर बनाने में भी इसकी छाल का उपयोग किया जाता है। लोध के दो भेद होते हैं। एक को पठानी लोध और दूसरे को केवल लोध कहते हैं। औषध के काम में पठानी लोध ही अधिक आता है। दोनों लोधों को वैद्यक में कसैला, शीतल, दात-कफ-नाशक, नेत्रहितकारी, रुधिर और विष के विकारों का नाशक कहा है। लोध का फूल कसैला, मधुर, शीतल, कड़वा, ग्राहक और कफ-पित्त-नाशक माना गया है।

पट्याँ—पट्टिकालोभ। क्रमुक। स्थूल वल्कल। जीर्णपत्र। बृहत्पत्र। पट्टी। लाक्षाप्रसादन। पट्टिकाख्य। पट्टिलोभ। पट्टिका। पट्टिलोभक। वल्कलोभ। बृहदल। जीर्णवृक्ष। बृहद्वल्क। शीर्णपत्र। अक्षिभेषज। शायर। श्वेतलोभ। गालव। बहुलत्वच्। लाक्षाप्रसाद। वल्क।

पठार—संज्ञा पुं० [देश०] एक पहाड़ी जाति।

पठावन—संज्ञा पुं० [हि० पठाना] वह जो किसी के भेजने से कहीं जाय। वह मनुष्य जो किसी का भेजा हुआ कहीं गया या आया हो। दूत। संदेशवाहक।

पठावनि, पठावनी—संज्ञा स्त्री० [हि० पठाना] (१) किसी को कहीं भेजने का भाव। किसी को कहीं कोई वस्तु या संदेश पहुँचाने के लिये भेजना। (२) किसी के भेजने से कहीं जाने का भाव। किसी के भेजने से कहीं कुछ लेकर जाना।

पठावर—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की घास।

पठित—वि० [सं०] (१) पढ़ा हुआ (ग्रंथ)। जिसे पढ़ चुके हों। अधीत। (२) जिसने पढ़ा हो। पढ़ा-लिखा। शिक्षित। (इस अर्थ में इस शब्द का व्यवहार कुछ लोग करते हैं। जैसे, पठित समाज। परंतु वास्तव में यह ठीक नहीं है।

पठियर—संज्ञा स्त्री० [हि० पाठ] वह बहो या पठिया जो कुएँ के मुँह पर बीचोबीच या किसी एक ओर इस लिये रख दी जाती है कि पानी निकालनेवाला उसी पर पैर रख कर पानी निकाले। इस पर खड़े होकर पानी निकालने से चढ़े के कुएँ की दीवार से टकराने का भय नहीं रहता।

पठिया—संज्ञा स्त्री० [हि० पठ्ठा + इया (प्रत्य०)] यौवनप्राप्त स्त्री ।

युवती और हठ पुष्ट स्त्री । जवान और तगड़ी स्त्री ।

पठोर—संज्ञा स्त्री [हि० पठ्ठा + ओर (प्रत्य०)] (१) जवान पर बिना व्याई बकरी । (२) जवान पर बिना व्याई सुर्गी ।

पठौनी †—संज्ञा स्त्री० [हि० पठाना + औनी (प्रत्य०)] (१) किसी को कुछ देकर कहीं भेजने की क्रिया या भाव । कोई वस्तु या संदेश पहुँचाने के लिये कहीं भेजना ।

क्रि० प्र०—भेजना ।

(२) किसी की कोई चीज लेकर कहीं जाने की क्रिया या भाव । किसी के भेजने से कहीं जाना ।

क्रि० प्र०—आना ।—जाना ।

पड़छती, पड़छती—संज्ञा पुं० [सं० पटच्छति] (१) वह छोटा छप्पर या टट्टी जिसे बरसात के आरंभ में कच्ची दीवार पर इसलिये लगा देते हैं कि बौछार से वह कट न जाय । भीत की रक्षा के लिये लगाया जानेवाला छप्पर या टट्टी ।

क्रि० प्र०—बाँधना ।—लगाना ।

(२) कमरे आदि के बीच में लकड़ी के खंभों पर या दो दीवारों के बीच में तख्ते या लट्टे आदि ठहरा कर बनाई हुई पाटन जिस पर चीज असबाब रखते हैं । टाँड़ ।

पड़त—संज्ञा स्त्री० दे० “पड़ता” ।

पड़ता—संज्ञा पुं० [हि० पड़ना] (१) किसी वस्तु की खरीद या तैयारी का दाम । किसी माल को खरीदने, तैयार कराने या खाने आदि में पड़ा हुआ खर्च । लागत । खर्च की कीमत ।

मुहा०—पड़ता खाना या पड़ना = लागत और अभीष्ट लाभ मिल जाना । खर्च और मुनाफा निकल आना । जैसे, (क) आपके साथ सौदा करने में हमारा पड़ता नहीं खायागा । (ख) हस्ते पर इस वस्तु के बेचने में हमारा पड़ता नहीं जाता । **पड़ता फैलाना** = किसी चीज को तैयार करने, खरीदने और मँगाने आदि में जो खर्च पड़ा हो उसे देखते हुए उसका भाव निश्चित करना । वस्तु की संख्या और उसके प्राप्त करने में पड़े हुए खर्च की रकम देखते हुए एक एक वस्तु का मूल्य मात्क्रम करना । **पड़ता निकालना या बैठाना** = दे० “पड़ता फैलाना” ।

(२) दर । शरह । (३) भूकर की दर । लगान की शरह ।

(४) सामान्य दर । औसत । सरदर शरह । एक एक वस्तु या एक एक निश्चित काल का मूल्य या आमदनी जो सब वस्तुओं के मूल्य या पूरे काल में वस्तु की संख्या या काल-विभाग की संख्या को भाग देने से निकले । जैसे, कलकत्ते में आपकी मासिक आय का क्या पड़ता है ।

मुहा०—पड़ता रहना = औसत होना ।

पड़ताल—संज्ञा स्त्री० [सं० पठितोलन] (१) पड़तालना क्रिया का

भाव । किसी वस्तु की सूक्ष्म छान बीन । भली भाँति जाँच या देखभाल । गौर के साथ किसी चीज की जाँच । अन्वीक्षण । अनुसंधान ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

विशेष—इस अर्थ में यह शब्द प्रायः ‘जाँच’ के साथ यौगिक रूप में बोला जाता है, अकेले क्वचित् प्रयुक्त होता है । जैसे, वे हिसाब की जाँच-पड़ताल करने आए थे ।

(२) गाँव अथवा नहर के पटवारी द्वारा खेतों की एक विशेष प्रकार की जाँच । यह जाँच खरीफ, रबी और फसल जायद नामक तीनों कालों के लिये अलग अलग तीन बार होती है । खेत में कौन सी चीज बोई गई है, किसने बोई है, खेत सींचा गया है या नहीं, सींचा गया है तो कहाँ से जल लाकर सींचा गया है आदि बातें इस जाँच में लिखी जाती हैं । गाँव का पटवारी प्रत्येक पड़ताल के बाद जिसवार एक नकशा बनाता है । इस नकशे से माल के अधिकारियों को यह मालूम होता है कि इस वर्ष कौन सी चीज कितने बीघे बोई गई है; उसकी क्या अवस्था है और वह कितनी उपजोगी, आदि । (३) मार । (क्व०) । इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग बहुधा बालकों को ही मारने पीटने के संबंध में होता है ।)

पड़तालना—क्रि० सं० [हि० पड़ताल + ना (प्रत्य०)] पड़ताल करना । जाँचना । अनुसंधान करना । छान बीन करना ।

पड़ती—संज्ञा स्त्री० [हि० पड़ना] बिना जुती हुई भूमि । पड़ी हुई जमीन । भूमि जिस पर कुछ काल से खेती न की गई हो ।

विशेष—माल के कागजात में पड़ती के दो भेद किए जाते हैं—पड़ती जदीद और पड़ती कदीम । जो भूमि केवल एक साल से न जोती बोई गई हो उसको पड़ती जदीद और जो एक से अधिक सालों से न जोती बोई गई हो उसको पड़ती कदीम मानते हैं ।

क्रि० प्र०—छेड़ना ।—पड़ना ।—रखना ।

मुहा०—पड़ती उठना = (१) पड़ती का जोता जाना । पड़ती पर खेती होना । जैसे, यह पड़ती बहुत दिनों पर उठी है । (२) पड़ती के जोते जाने का प्रबंध होना । पड़ती खेत का बंदोबस्त हो जाना । जैसे, इस साल हमारी बहुत सी पड़ती उठ गई । **पड़ती उठाना** = (१) पड़ती को जोतना । पड़ती पर खेती आरंभ करना । जमींदार का इस आशा पर किसी पड़ती को खेती के योग्य बनाना और उस पर खेती आरंभ करना कि दो एक साल के बाद कोई असामी उसे ले लेगा । जैसे, इस साल मैंने अपनी बहुत सी पड़ती उठाई है । (२) पड़ती का बंदोबस्त कर देना । पड़ती को लगान पर कायदा कर देना । पड़ती छेड़ना = किसी खेत को कुछ समय तक यो ही

छोड़ना, उसे जेतना बेना नहीं, जिसमें उसकी उर्वरा शक्ति बढ़ जाय। जैसे, इस साल इस गाँव में बहुत सी जमीन पड़ती छोड़ी गई है।

पड़ना—क्रि० अ० [सं० पतन, प्रा० पडन] (१) एक स्थान से गिर कर, उलझ कर अथवा और किसी प्रकार दूसरे स्थान पर पहुँचना या स्थित होना। कहीं से चल कर कहीं, प्रायः ऊँचे स्थान से नीचे, आना। गिरना। पतित होना। जैसे, जमीन पर पानी या ओला पड़ना, सिर पर पत्थर पड़ना, चिराग पर हाथ पड़ना, साँप पर निगाह पड़ना, कान में आवाज पड़ना, कुरते पर झींटा पड़ना, बिसात पर पासा पड़ना, आदि।

संयो० क्रि०—जाना।

विशेष—“गिरना” और “पड़ना” के अर्थों में यह अंतर है कि पहली क्रिया का विशेष लक्ष्य गति-व्यापार पर और दूसरी का प्राप्ति या स्थिति पर होता है। अर्थात् पहली क्रिया वस्तु का किसी स्थान से चलना या खाना होना और दूसरी का किसी स्थान पर पहुँचना या ठहरना सूचित करती है। जैसे, पहाड़ से पत्थर गिरना और सिर पर पत्थर पड़ना।

(२) (कोई दुःखद घटना) घटित होना। अनिष्ट या अवांछनीय वस्तु या अवस्था प्राप्त होना। जैसे, डाका पड़ना, अकाल पड़ना, मुसीबत पड़ना, ईश्वरीय कोप पड़ना, इत्यादि।

मुहा०—(किसी पर) पड़ना = विपत्ति या मुसीबत आना। संकट या कठिनाई प्राप्त होना। जैसे, (क) जैसी मुक़्दर पड़ी ईश्वर वैसी किसी पर न डाले। (ख) जिसपर पड़ती है वही जानता है।

(३) बिछाया जाना। फैलाया जाना। रखा जाना। डाला जाना। जैसे, दीवार पर छप्पर पड़ना; जनवासे में बिस्तर या भोजन में पत्तल पड़ना। (४) छोड़ा या डाला जाना। पहुँचना या पहुँचाया जाना। दाखिल होना। प्रविष्ट होना। जैसे, पेट में रोटी पड़ना, दाढ़ में नमक पड़ना, कान में शब्द या आँख में तिनका पड़ना, दूध में पानी पड़ना, किसी के घर में पड़ना (डयाही जाना), फेर में पड़ना इत्यादि।

संयो० क्रि०—जाना।

(५) बीच में आना या जाना। हस्तक्षेप करना। दखल देना। जैसे, तुम चाहे जो करो, हम तुम्हारे मामले में नहीं पड़ते। (६) ठहरना। टिकना। विश्राम करने या रात बिताने के लिये अवस्थान करना। डेरा डालना। पड़ाव करना (बरात या सेना के लिये बोजते हैं)। जैसे, आज बारात कहाँ पड़ेगी?

मुहा०—पड़ा होना = (१) एक स्थान में कुछ समय तक स्थित रहना। एक ही जगह पर बने रहना। जैसे, (क) वे तीन

रोज तक तो यहीं पड़े हुए थे, आज गए हैं। (ख) वह दस रुपए महीने पर बरसों से यहाँ पड़ा है। (२) एक ही अवस्था में रहना। रखा रहना। धरा रहना। अव्यवहृत रहना। जैसे, यह किताब तुम्हारे पास एक महीने से पड़ी है, पर शायद तुमने एक पन्ना भी न उलटा होगा। (३) बाकी रहना। शेष रहना। जैसे, (क) सारी किताब पढ़ने को पड़ी है। (ख) अभी ऐसे सैकड़ों लोग पड़े होंगे जिनके कानों में यह शुभ संदेश नहीं पड़ा।

(७) विश्राम के लिये सोना या लेटना। कल लेना। आराम करना। जैसे, थोड़ी देर पड़े रहो तो तबीयत हलकी हो जायगी।

संयो० क्रि०—जाना।—रहना।

मुहा०—पड़े रहना या पड़ा रहना = बराबर लेटे रहना। बिना कुछ काम किए लेटे रहना। लेटकर बेकारी काटना। निकम्मा रहना। जैसे, दिन भर पड़े रहते हो, क्या तुम्हारी तबीयत भी नहीं खराब होती?

(८) बीमार होना। खाट पर पड़ना। जैसे, (क) अब की तुम किस बुरी साइट में पड़े कि अब तक न उठे। (ख) मैं तो आज चार रोज से पड़ा हूँ, तुमने कल बाजार में मुझे कैसे देखा?

संयो० क्रि०—जाना।—रहना।

(९) मिलना। प्राप्त होना। जैसे, तुम यह किताब लोंगे, तभी तुम्हें चैन पड़ेगा।

संयो० क्रि०—जाना।

(१०) पड़ता खाना। जैसे, (क) चार आने में नहीं पड़ता, नहीं तो बेच न देता। (ख) हमें यह आलमारी १२) में पड़ी है। (ग) इकट्ठा सौदा कुछ सस्ता पड़ता है।

संयो० क्रि०—जाना।

(११) आय, प्राप्ति आदि की औसत होना। पड़ता होना। जैसे, यहाँ मुझे एक रुपए रोज से अधिक नहीं पड़ता।

संयो० क्रि०—जाना।

(१२) रास्ते में मिलना। मार्ग में मिलना। जैसे, (क) तुम्हारे रास्ते में चार नदियाँ और पाँच पड़ाव पड़ेंगे। (ख) घर से निकलते ही काना पड़ा, देखें कुशल से पहुँचते हैं या नहीं। (१३) उत्पन्न होना। पैदा होना। जैसे, बाल में दाने पड़ना। फल में कीड़े पड़ना। (१४) स्थित होना। जैसे, (क) बगीचे में डेरा पड़ा है। (ख) इस कुंडली के सातवें घर में मंगल पड़ा है। (१५) संयोग वश होना। उपस्थित होना। प्रसंग में आना। जैसे, बात पड़ना, मौका पड़ना, साथ पड़ना, काम पड़ना, पाला पड़ना, साबिका पड़ना इत्यादि। ड०—जब कभी बात पड़ती है वे तुम्हारी तारीफ़ ही करते हैं।

विशेष—जिन जिन स्थलों में 'होना' क्रिया बोली जाती है उनमें से बहुत से स्थलों में 'पड़ना' का भी प्रयोग हो सकता है। 'पड़ना' के प्रयोग में विशेषता यही होती है कि इस से व्यापार का अधिक संयोग वश होना प्रकट होता है। "साथ हुआ" और "साथ पड़ा" में से पिछला क्रियाप्रयोग व्यापार में संयोग का भाव सूचित करता है।

(१६) जाँच या विचार करने पर उठरना । पाया जाना ।

(क) दोनों में जाल छोड़ा कुछ मजबूत पड़ता है। (ख) यह थान उससे कुछ बीस पड़ता है। (१७) (देशांतर या अवस्थांतर) होना। (पहली स्थिति या दशा त्यागकर नई स्थिति या दशा में) होना। (बदलकर) होना। जैसे, नरम पड़ना, ठंडा पड़ना, ठीका पड़ना, कमजोर पड़ना, सुस्त पड़ना, फीका पड़ना इत्यादि।

विशेष—'पड़ना' के प्रयोग से जिस दशांतर की प्राप्ति सूचित की जाती है वह प्रायः पूर्व दशा से अपेक्षाकृत हीन या निकृष्ट होती है। जहाँ पहली स्थिति से अच्छी स्थिति में जाने का भाव होता है वहाँ इसका व्यवहार कम स्थलों पर होता है।

(१८) मैथुन करना। संभोग करना। (पशुओं के लिये)। जैसे, यह घोड़ा जब जब किसी घोड़ी पर पड़ता है तब तब बीमार हो जाता है। (१९) अत्यंत हूछा होना। धुन होना। चिंता होना। जैसे, तुम्हें तो यही पड़ रही है कि किसी प्रकार इस साल बी० ए० हो जायँ।

मुहा०—क्या पड़ी है—क्या प्रयोजन है। क्या मतलब है। जैसे, तुम को क्या पड़ी है जो तुम उसके लिये इतना कष्ट उठाते हो। उ०—परी कहा तोहिं प्यारि पाप अपने जरि जाहों।—सूर।

विशेष—यह क्रिया अनेक क्रियाओं विशेषतः अकर्मक क्रियाओं से संयुक्त होती है। जब धातुरूप के साथ संयुक्त होती है तब मुख्य क्रिया के व्यापार में आकस्मिकता या संयोग सूचित करती है, जैसे, कह पड़ना, दे पड़ना, आ पड़ना, जा पड़ना आदि। और जब धातुरूप के बदले पूरी क्रिया ही से संयुक्त होती है तब उसके करने में कर्त्ता की बाध्यता, विवशता या परतंत्रता प्रकट करती है, जैसे, कहना पड़ा, देखना पड़ा, सहना पड़ा, आना पड़ा, जाना पड़ा इत्यादि। इसके अतिरिक्त कभी कभी किसी शब्द के साथ लगाकर यह क्रिया कुछ विशेष अर्थ देने लगती है। जैसे, (क) कुछ रुपया तुम्हारे नाम पड़ा है। (ख) कई दिन से तुम उनके पीछे पड़े हो। (ग) सरदी के मारे गले पड़ गए हैं। (घ) अब तो यह किताब हमारे गले पड़ी है आदि। ऐसी दशा में यह महाविरे का रूप धारण कर लेती है। ऐसे अर्थों के लिये मुख्य शब्द अथवा संज्ञाएँ देखो। जिस प्रकार व्यापार के वृत्ति होने के लगभग या सदृश व्यापार सूचित करने के

लिये क्रिया का रूप भूतकालिक करके तब उसके साथ 'जाना' लगाते हैं (जैसे, हाथ जला जाता है, पैर कटा जाता था, चीज़ हाथ से गिरी जाती है) उसी प्रकार 'पड़ना' भी लगाते हैं, जैसे, छड़ी हाथ से गिरी पड़ती है, उ०—चूनि चारु चुई सी परै चटकीली हरी अँगिया बलचावै।

पड़पड़—संज्ञा स्त्री० [अनु०] (१) निरंतर पड़पड़ शब्द होना। (२) दे० "पटपट"।

संज्ञा पुं० [हिं०] पूँजी। मूलधन।

पड़पड़ाना—क्रि० अ० [अनु०] (१) पड़पड़ शब्द होना। (२) मिर्च, सेठ आदि कड़वे पदार्थों के स्पर्श से जीभ पर जलन सी मालूम होना। अत्यंत कड़वे पदार्थ के भक्षण या स्पर्श से जीभ पर किंचित् दुःखद तीक्ष्ण अनुभूति होना। चरपराना। जैसे, तुमने ऐसी मिर्च खिलाई कि अब तक जीभ पड़पड़ा रही है।

पड़पड़ाहट—संज्ञा स्त्री० [हिं० पड़पड़ाना] पड़पड़ाने की क्रिया या भाव। चरपराहट। जैसे, ऐसी तेज मिर्च खाई कि अब तक पड़पड़ाहट नहीं मिटी।

पड़पोता—संज्ञा पुं० [सं० प्रपौत्र] [स्त्री० पड़पोती] पुत्र का पोता। पोते का पुत्र। लड़के के लड़के का लड़का। प्रपौत्र।

पड़म—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का मोटा सूती कपड़ा जो प्रायः खेमे वगैरः बनाने में काम आता है।

पड़वा—संज्ञा स्त्री० [सं० प्रतिपदा, प्रा० पड़वआ] प्रत्येक पक्ष की प्रथम तिथि।

संज्ञा पुं० दे० "पँड़वा"।

पड़वाना—क्रि० सं० [हिं० पड़ना] गिरवाना। पड़ने का काम दूसरे से कराना।

पड़वी—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की ईख जो वैसाख या जेठ में बोई जाती है।

पड़ाहल—संज्ञा स्त्री० दे० "पँड़ाहन"।

पड़ाका—संज्ञा पुं० दे० "पटाका"।

मुहा०—पड़ाके की गोठ = दे० "पटापटी" में "पटापटी की गोठ"।

पड़ाना—क्रि० सं० [हिं० पड़ना का सक०] गिराना। झुकाना। दूसरे को पड़ने में प्रवृत्त करना।

पड़ापड़—क्रि० वि० दे० "पटापट"।

संज्ञा स्त्री० दे० "पटापट"।

पड़ाव—संज्ञा पुं० [हिं० पड़ना + आव (प्रत्य०)] (१) सेना अथवा किसी यात्री दल के यात्रा के बीच में प्रायः रात बिताने के लिये कहीं ठहरने का भाव। यात्री-समूह का यात्रा के बीच में अवस्थान। जैसे, आज यहीं पड़ाव पड़ेगा।

क्रि० प्र०—डालना।—पड़ना।

(२) वह स्थान जहाँ यात्री ठहरते हैं। वह स्थान जो

यात्रियों के ठहरने के लिये निर्दिष्ट हो। चट्टी। टिकान।
जैसे, आज हम लोग अमुक पड़ाव पर विश्राम करेंगे।

मुहा०—पड़ाव मारना = (१) पड़ाव डाले हुए किसी यात्रीदल को लटना। कारवान या काफिला लटना। (२) कोई बड़ा साहसपूर्ण कार्य करना। भारी शौर्य प्रकट करना। जैसे, कौन सा पड़ाव मार आया है ?

पड़ाशी—संज्ञा स्त्री० [सं०] डाक का पेड़।

पड़िया—संज्ञा स्त्री० [हिं० पड़वा, पड़वा] भैंस का मादा बच्चा।

पड़ियाना—क्रि० अ० [हिं० पड़िया + आना (प्रत्य०)] भैंस का भैंसे से संयोग हो जाना। भैंसना।

क्रि० सं० भैंस का भैंसे से संयोग कराना। भैंस को मैथुनार्थ भैंसे के समीप पहुँचाना।

पड़िवा—क्रि० संज्ञा स्त्री० [सं० प्रतिपदा, प्रा० पड़िवआ] प्रत्येक पक्ष की प्रथम तिथि। पड़वा। प्रतिपदा।

पड़ेरू—क्रि० संज्ञा पुं० दे० “पड़रू”।

पड़ोरा—क्रि० संज्ञा पुं० दे० “परवल”।

पड़ोस—संज्ञा पुं० [सं० प्रतिवेश या प्रतिवास, प्रा० पड़िवेस, पड़िवास]
(१) किसी के घर के आस पास के घर। किसी के घर के समीप के घर। प्रतिवेश।

यौ०—पास पड़ोस = आस पास। समीपवर्ती स्थान।

मुहा०—पड़ोस करना = पड़ोस में बसना। पड़ोसी होना। जैसे, पड़ोस तो मैंने आप का किया है, माँगने किससे जाऊँ।

(२) किसी स्थान के आस पास के स्थान। किसी स्थान के समीपवर्ती स्थान। जैसे, घर के पड़ोस में चमार बसते हैं।

पड़ोसी—संज्ञा पुं० [हिं० पड़ोस + ई (प्रत्य०)] [स्त्री० पड़ोसिन] वह मनुष्य जिसका घर पड़ोस में हो। पड़ोस में रहनेवाला। जिसका घर अपने घर के पास हो। प्रतिवासी। प्रतिवेशी। हमसाया।

यौ०—अड़ोसी पड़ोसी = पड़ोसी इत्यादि।

पड़ोसी—संज्ञा पुं० दे० “पड़ोसी”।

पढ़ंत—संज्ञा स्त्री० [हिं० पढ़ना + अंत (प्रत्य०)] (१) पढ़ने की क्रिया या भाव। (२) मंत्र। जादू।

पढ़ना—क्रि० सं० [सं० पठन] (१) किसी लिखावट के अक्षरों का अभिप्राय समझना। किसी पुस्तक, लेख आदि को इस प्रकार देखना कि उसमें लिखी बात मालूम हो जाय। जैसे, इस पुस्तक को मैं तीन बार पढ़ गया।

संयो० क्रि०—जाना।—डाढ़ना।—लेना।

(२) किसी लिखावट के शब्दों का उच्चारण करना। उच्चारण-पूर्वक पाठ करना। वाँचना। किसी लेख के अक्षरों से सूचित शब्दों को मुँह से बोलना। जैसे, जरा और जोर से पढ़ो कि हम को भी सुनाई दे।

संयो० क्रि०—जाना।—देना।

(३) उच्चारण करना। मध्यम या धीमे स्वर से कहना। जैसे, तुम कौन सा मंत्र पढ़ रहे हो।

संयो० क्रि०—जाना।—देना।

(४) स्मरण रखने के लिये किसी विषय का बार बार उच्चारण करना। रटना। जैसे, पढ़ाड़ा पढ़ना।

संयो० क्रि०—जाना।—डालना।

(५) मंत्र फूँकना। जादू करना।

संयो० क्रि०—देना।

(६) तोते, मैना आदि का मनुष्यों के सिखाए हुए शब्द उच्चारण करना। जैसे, बूढ़ा तोता भला क्या पढ़ेगा। (७) विद्या पढ़ना। शिक्षा प्राप्त करना। अध्ययन करना। जैसे, इस लड़के का मन पढ़ने में खूब लगता है।

संयो० क्रि०—जाना।—लेना।

यौ०—पढ़ना लिखना = शिक्षा पाना। पढ़ना पढ़ाना। पढ़ने लिखने या पढ़ने पढ़ाने का काम। पढ़ा लिखा = शिक्षित जिसने शिक्षा प्राप्त की हो।

(८) नया पाठ प्राप्त करना। नया सबक लेना। जैसे, तुमने आज पढ़ लिया या नहीं ?

संयो० क्रि०—लेना।

संज्ञा पुं० [सं० पाठन] एक प्रकार की मछली। विशेष—दे० “पढ़िना”।

पढ़नी—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का धान।

पढ़नी-उड़नी—संज्ञा स्त्री० [पढ़नी (?) + उड़नी = उड़ान] कसरत में एक प्रकार का अभ्यास जिसमें आदमी टीला या अन्य कोई ऊँची चीज उछाल कर लाँची जाती है। इस अभ्यास के दो भेद हैं—एक में सामने की ओर और दूसरे में पीछे की ओर उछलते हैं। उछलनेवालों के अभ्यास के अनुसार टीला एक, दो या तीन हाथ तक ऊँचा होता है।

पढ़वाना—क्रि० सं० [हिं० पढ़ना तथा पढ़ाना का प्रे०] (१) किसी से पढ़ने की क्रिया कराना। किसी को पढ़ने में प्रवृत्त करना। बँचवाना। जैसे, यह पत्र तुमने किससे पढ़वाया ? (२) किसी से पढ़ाने की क्रिया कराना। किसी के द्वारा किसी को शिक्षा दिलाना। जैसे, मैंने अमुक पंडित से अपने लड़के को पढ़वाया है।

पढ़वैया—संज्ञा पुं० [हिं० पढ़ना + वैया (प्रत्य०)] पढ़नेवाला। शिक्षार्थी।

पढ़ाई—संज्ञा स्त्री० [हिं० पढ़ना + आई (प्रत्य०)] (१) पढ़ने का काम। विद्याभ्यास। अध्ययन। पठन। (२) पढ़ने का भाव। जैसे, तुम्हारी पढ़ाई हमको तो ऐसी ही वैसी मालूम होती है। (३) वह धन जो पढ़ने के बदले में दिया जाय।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पढ़ाना + आई (प्रत्य०)] (१) पढ़ाने का काम। अध्यापन। पाठन। पढ़ौनी। (२) पढ़ाने का भाव। (३)

पढ़ाने का ढंग। अध्यापनशैली। जैसे, अमुक स्कूल की पढ़ाई बहुत अच्छी है। (४) वह धन जो पढ़ाने के बदले में दिया जाय।

पढ़ाना—क्रि० सं० [हिं० पढ़ना का प्रे०] (१) शिक्षा देना।

पुस्तक की शिक्षा देना। अध्यापन करना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।

धै०—पढ़ाना लिखाना।

(२) कोई कला या हुनर सिखाना। उ०—(क) कुलिस कठोर कर्म पीठि ते कठिन अति हठि पिनाक काहू चपरि बढ़ायो है। तुलसी सो राम के सरोज पानि परसत दूखो मानों बारे ते पुरारि ही पढ़ायो है।—तुलसी। (ख) परम चतुर जिन कीन्हे मोहन अल्प वयस ही थोरी। बारे ते जेहि यहै पढ़ायो बुधि-बल-कल विधि चोरी।—सूर।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।

(३) तोते, मैना आदि पक्षियों को बोलना सिखाना। उ०—सुक सारिका जानकी ज्याए। कनक पौंजरन राखि पढ़ाए।—तुलसी।

संयो० क्रि०—देना।

(४) सिखाना। समझाना। उ०—जेहि पिनाक बिन नाक किए नृप सशहि विषाद बढ़ायो। सोइ प्रभु कर परसत दूखो जनु हुतो पुरारि पढ़ायो।—तुलसी।

पढ़िना—संज्ञा पुं० [सं० पाठन] एक प्रकार की बिना सेहरे की मछली जो तालाब और समुद्र सभी स्थानों में पाई जाती है। यह मछली प्रायः अन्य सब मछलियों से अधिक दीर्घ-जीवी और डीब डौलवाली होती है। किसी किसी पढ़िने का वजन दो मन से भी अधिक होता है। यह मांसाशी है। और मछलियों के अतिरिक्त अन्य छोटे छोटे जीव जंतुओं को ही निगल लिया करती है। इसके सारे शरीर के मांस में बारीक बारीक कांटे होते हैं जिन्हें दांत कहते हैं। वैद्यक में इसे कफ-पित्तकारक, बलदायक, निद्राजनक, कोढ़ और रक्त-दोष पैदा करनेवाला लिखा है। पाठीन। सहस्रदंष्ट्र। बोदालक। बदालक। पढ़ना। पढ़िना।

पढ़ैया +—संज्ञा पुं० [हिं० पढ़ना + ऐया (प्रत्य०)] पढ़नेवाला। पढ़वैया। पाठक।

पण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कोई खेल जिसमें हारनेवाले को कुछ परिमित धन अथवा कोई निर्दिष्ट वस्तु जीतनेवाले को देनी पड़े। कोई कार्य जिसमें बाजी बदी गई हो। जुआ। धूत। (२) प्रतिज्ञा। शर्त। मुआहिदा। कौल करार। संधि। (३) वह वस्तु जिसके देने का करार या शर्त हो। जैसे, किराया, भाड़ा, पारिश्रमिक आदि। (४) मोल। कीमत। मूल्य। (५) फीस। शुल्क। (६) धन। संपत्ति। जायदाद। (७) क्रय विक्रय की वस्तु। सौदा। (८) व्यवहार। व्यापार।

व्यवसाय। (९) स्तुति। प्रशंसा। (१०) किसी के मत से ११ और किसी के मत से २० जाये के बराबर तांबे का टुकड़ा जिसका व्यवहार सिक्के की भांति किया जाता था। (११) प्राचीन काल की एक विशेष नाप जो एक मुट्ठी अनाज के बराबर होती थी।

पणग्रंथि—संज्ञा स्त्री० [सं०] बाजार। हाट।

पणन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) खरीदने की क्रिया या भाव। (२) बेचने की क्रिया या भाव। (३) शर्त लगाने या बाजी बंदने की क्रिया या भाव। (४) व्यापार या व्यवहार करने की क्रिया या भाव।

पणनीय—वि० [सं०] (१) धन देकर जिससे काम लिया जा सके। (२) जिसे खरीदा या बेचा जा सके।

पणफर—संज्ञा पुं० [सं०] कुंडली में लग्न से २ रा, ३ रा, ५ रा, ८ रा और ११ रा वर।

पणवंध—संज्ञा पुं० [सं०] बाजी बंदना। शर्त लगाना।

पणव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) छोटा नगाड़ा। (२) छोटा ढोल। ढोलकी। (३) एक वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में एक मगण, एक नगण, एक यगण और अंत में एक गुरु होता है। प्रत्येक चरण में १६, १६ मात्राएँ होने के कारण यह चौपाई के भी अंतर्गत आता है। उ०—मानौ योग कथित तैं मोरा। जीतोने अर्जुन जी कोरा।

पणवानक—संज्ञा पुं० [सं०] नगाड़ा।

पणस—संज्ञा पुं० [सं०] क्रय विक्रय की वस्तु। सौदा।

पणसुंदरी—संज्ञा स्त्री० [सं०] बाजारी स्त्री। रंडी। वेश्या।

पणस्त्री—संज्ञा स्त्री० [सं०] रंडी। वेश्या।

पणस्थि—संज्ञा स्त्री० [सं०] कौड़ी। कपर्दक।

पणित—वि० [सं०] (१) जिसकी प्रशंसा की गई हो। प्रशंसित। स्तुत। (२) क्रीत। (३) विक्रीत। (४) बाजी। (५) जुआ।

पणितव्य—वि० [सं०] (१) खरीदने योग्य। (२) बेचने योग्य। (३) व्यवहार करने योग्य। (४) प्रशंसा करने योग्य।

पणी—संज्ञा पुं० [सं० पणिन्] क्रयविक्रय करनेवाला।

परय—वि० [सं०] (१) खरीदने योग्य। (२) बेचने योग्य। (३) व्यापार या व्यवहार करने योग्य। (४) प्रशंसा करने योग्य। संज्ञा पुं० (१) सौदा। माल। (२) व्यापार। व्यवसाय। रोजगार। (३) बाजार। हाट। (४) दुकान।

परयदासी—संज्ञा स्त्री० [सं०] धन लेकर सेवा करनेवाली स्त्री। लौंडी। मजदूरनी। बाँदी। सेविका।

परयपति—संज्ञा पुं० [सं०] (१) भारी व्यापारी। बहुत बड़ा रोजगारी। (२) बहुत बड़ा साहूकार। नगर सेठ।

परयफल—संज्ञा पुं० [सं०] व्यापार में प्राप्त लाभ। मुनाफा। नफा।

परयभूमि—संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्थान जहाँ माल या सौदा जमा किया जाता हो। कोठी। गोदाम। गोला।

पर्यायविलासिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] वेश्या । रंडी ।

पर्यायवीथी—संज्ञा स्त्री० [सं०] क्रय विक्रय का स्थान । बाजार । हाट ।

पर्यायशाला—संज्ञा स्त्री० [सं०] दुकान । वह घर जिसमें चीजें विकती हों ।

पर्यायस्त्री—संज्ञा स्त्री० [सं०] वेश्या । रंडी ।

पर्यायधा—संज्ञा स्त्री० [?] कंगली नाम का धान्य ।

पर्याय—संज्ञा स्त्री० [सं०] मालकंगनी ।

पर्यायजीव—संज्ञा पुं० [सं०] व्यापार से जीविका करनेवाला । राजगारी । व्यापारी ।

पतंग—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बगला जिसे पतोखा कहते हैं ।

पतंग—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पंखी । चिड़िया । (२) शलभ । टिड्डी । (३) परवाना । पाँखी । भुनगा । फर्तिंगा । (४) कोई परदार कीड़ा । उड़नेवाला कीड़ा । (५) सूर्य । (६) एक प्रकार का धान । जड़हन । (७) जल-महुआ । जल-मधूक वृक्ष । (८) एक प्रकार का चंदन । (९) कंदुक । गेंद । पारा । (१०) जैनों के एक देवता जो वाणव्यंतर नामक देवगण के अंतर्गत है । (११) एक गंधर्व का नाम । (१२) एक पहाड़ का नाम । (१३) शरीर । (अने०) । (१४) नौका । नाव । (अने०) । (१५) चिनगारी ।

संज्ञा पुं० [सं० पतंग] एक प्रकार का बड़ा वृक्ष जो मध्य भारत तथा कटक प्रांत में अधिकता से होता है । बैसाख जेठ में जमीन को अच्छी तरह जोत कर इसके बीज बो दिए जाते हैं । प्रायः २० वर्ष में जब इसके पेड़ चालीस फुट ऊँचे हो जाते हैं तब काट लिए जाते हैं । इसकी लकड़ी को छोटे छोटे टुकड़ों में काट कर प्रायः दो पहर तक पानी में उबालते हैं जिससे एक प्रकार का बहुत बढ़िया लाल रंग निकलता है । पहले इस रंग की खपत बहुत होती थी और यह बहुत अधिक मान में भारत से विदेशों को भेजा जाता था । परंतु जब से विलायती नकली रंग तैयार होने लगे तब से इसकी माँग बहुत घट गई है । आजकल कई प्रकार के विलायती लाल रंग भी “पतंग” के नाम से ही विकते हैं । कुछ लोग इसको “लालचंदन” ही मानते हैं, परंतु यह बात ठीक नहीं है । इसको बकम भी कहते हैं ।

वि० उड़नेवाला ।

संज्ञा पुं० [सं० पतंग = उड़ानेवाला] हवा में ऊपर उड़ाने का एक विलौना जो बाँस की तीलियों के ढाँचे पर एक और चौकोना कागज और कभी कभी बारीक कपड़ा मढ़कर बनाया जाता है । गुड़ी । कनकौवा । चंग । तुकल । तिलंगी ।

विशेष—इसका ढाँचा दो तीलियों से बनता है । एक बिलकुल सीधी रखी जाती है पर दूसरी को लचा कर मिहराबदार कर

देते हैं । सीधी तीली को ढड्डा और मिहराबदार को कर्माँच या काँप कहते हैं । ढड्डे के एक सिरे को पुछला और दूसरे को मुड्डा कहते हैं । पुछले पर एक तिकोना कागज और मड़ दिया जाता है । कर्माँच के दोनों सिरे कुब्बे कहलाते हैं । ढड्डे पर कागज की दो छोटी चौकोर लकितियाँ मढ़ी होती हैं, एक उस स्थान पर जहाँ ढड्डा और कर्माँच एक दूसरे को काटते हैं, दूसरी पुछले की ओर कुछ निश्चित अंतर पर । इन्हीं में सूराल कर के कच्चा अर्थात् वह डोरा बाँधा जाता है जिसमें चरखी या परेते की डोरी का सिरा बाँध कर पतंग उड़ाया जाता है । यद्यपि देखने में पतंग के चारों पाशवों की लंबाई बराबर जान पड़ती है, पर मुड्डे और कुब्बे का अंतर कुब्बे और पुछले के अंतर से अधिक होता है । जिस डोरी से पतंग उड़ाया जाता है वह नख, बाना, रील आदि कई प्रकार की होती है । बाँस के जिस विशेष ढाँचे पर डोरी लपेटी रहती है उसके भी दो प्रकार हैं—एक चरखी और दूसरा परेता । विस्तार भेद से पतंग कई प्रकार की होती है । बहुत बड़ी पतंग को तुकल कहते हैं । बनावट का दोष, हवा की तेजी आदि कार्यों से अक्सर पतंग हवा में चक्कर खाने लगती है । इसे रोकने के लिये पुछले में कपड़े की एक धज्जी बाँध देते हैं, इसको भी पुछला कहते हैं । भारतवर्ष में केवल मनोरंजन के लिये पतंग उड़ाया जाता है । परंतु पारसाथ्य देशों में इसका कुछ व्यावहारिक उपयोग भी किया जाने लगा है ।

क्रि० प्र०—उड़ाना ।—लड़ाना ।

यौ०—पतंगबाज ।

मुहा०—पतंग काटना = अपने पतंग की डोरी से दूसरे के पतंग की डोरी को रगड़ कर काट देना । पतंग बढ़ाना = डोरी ढीली करके पतंग को हवा में और ऊपर या आगे बढ़ाना ।

पतंगछुरी—संज्ञा स्त्री० [सं० पतंग = उड़ानेवाला अथवा चिनगारी + हिं० छुरी] पीठ पीछे घुराई करनेवाला । दो व्यक्तियों या दलों में झगड़ा करनेवाला । चुगुलखोर । पिशुन । चवाई ।

पतंगबाज—संज्ञा पुं० [हिं० पतंग + फा० बाज] (१) वह जिसको पतंग उड़ाने का व्यसन हो । वह जिसका प्रधान कार्य पतंग उड़ाना हो । वह जिसका अधिकांश समय पतंग उड़ाने में जाता हो । (२) पतंग से झीड़ा करनेवाला । पतंग उड़ाकर मनोरंजन करनेवाला । पतंग का शौकीन ।

पतंगबाजी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पतंगबाज] (१) पतंगबाज होने का भाव । पतंग उड़ाने की क्रिया या भाव । पतंग उड़ाना । (२) पतंग उड़ाने की कला । जैसे, पतंगबाजी में वह अपना जोड़ नहीं रखता ।

पतंगम—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पंखी । चिड़िया । (२) शलभ । पतंगा ।

पतंगा—संज्ञा पुं० [सं० पतंग] (१) पतंग। कोई उड़नेवाला कीड़ा मकोड़ा। फतिंगा या पाँखी आदि। (२) परदार कीड़ों की जाति का एक विशेष कीड़ा जो प्रायः वासों अथवा वृक्ष की पत्तियों पर रहता है। फतिंगा। (३) चिनगारी। स्फुलिंग। अग्निक्षण। (४) दीये की बत्ती का वह अंश जो जलकर उससे अलग हो जाता है। फूल। गुल।

पतंगिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] मधुमक्खियों का एक भेद। बड़ी मधुमक्खी। पुत्तिका।

पतंगेन्द्र—संज्ञा पुं० [सं०] पक्षिराज। गरुड़।

पतंचिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] धनुष की डोरी। कमान की ताँत। चिह्न।

पतंजलि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रसिद्ध ऋषि जिन्होंने योग शास्त्र की रचना की। (२) एक प्रसिद्ध मुनि जिन्होंने पाणिनीय सूत्रों और कात्यायन कृत उनके वार्त्तिक पर 'महाभाष्य' नामक बृहत् भाष्य की रचना की थी। इनकी माता का नाम गोणिका और जन्मस्थान गोनर्द था। बा० सर रामकृष्ण भांडारकर के मत से आधुनिक गोंडा ही प्राचीन गोनर्द है। गोणिकापुत्र, गोनर्दीय और चूर्णीकृत ये तीन नाम इनके और मिलते हैं। ऐसा प्रसिद्ध है कि ये कुछ समय तक काशी में भी रहे थे। जिस स्थान पर इनका रहना माना जाता है उसे आजकल नागकुशा कहते हैं। नागपंचमी के दिन वहाँ मेला होता है और बहुत से संस्कृत के पंडित और छात्र वहाँ एकत्र होकर व्याकरण पर शास्त्रार्थ करते हैं। ये अनंत भगवान् अथवा शेषनाग के अवतार माने जाते हैं।

विशेष—बहुत से लोग दर्शनकार पतंजलि और भाष्यकार पतंजलि को एक ही व्यक्ति मानते हैं। परंतु यह मत किसी प्रकार ठीक नहीं है। दर्शनकार पतंजलि भाष्यकार पतंजलि के कई सौ वर्ष पहले हो गए हैं। महाभाष्य के रचनाकाल से सैकड़ों वर्ष पहले कात्यायन ने पाणिनीय सूत्रों पर अपना वार्त्तिक रचा था। उसमें योगसूत्रकार पतंजलि का स्पष्ट उल्लेख है। कात्यायन के वार्त्तिक पर पतंजलि का भाष्य है। इससे स्पष्ट है कि दर्शनकार पतंजलि महाभाष्यकार पतंजलि से पहले हुए हैं। महाभाष्यकार पतंजलि का समय निश्चित हो गया है। वे शुंगवंश के संस्थापक पुष्यमित्र के समय में वर्तमान थे। मौर्य राजा को मारकर जब पुष्यमित्र राजा हुआ तब उसने पाटलिपुत्र में एक बड़ा अश्वमेध यज्ञ किया। कहते हैं इस यज्ञ में पतंजलि जी भी थे।

पतंग—संज्ञा पुं० [सं० पति] (१) पति। खसम। खाविंद। (२) मालिक। स्वामी। प्रभु।

संज्ञा स्त्री० [सं० प्रतिष्ठा ?] (१) कानि। लज्जा। आवरु।

विशेष—दे० "पति"। उ०—मुख मेरा चूमत दिन रात। होठों लागत कहत न बात ॥ जैसे मेरी जग में पत। ए सखी साजन न सखी नथ।—बुसरो। (२) प्रतिष्ठा। इज्जत।

क्रि० प्र०—खोना।—गँवाना।—जाना।—रखना।

यौ०—पतपानी = लज्जा। आवरु।

मुहा०—पत उतारना = किसी की प्रतिष्ठा नष्ट करनेवाला काम करना। दस आदमियों के बीच में किसी का अपमान करना। बेइज्जती करना। आवरु खोना। पत रखना = प्रतिष्ठा भंग न होने देना। इज्जत बनी रहने देना। इज्जत बचाना। पत लेना = दे० "पत उतारना"।

पतई—संज्ञा स्त्री० [सं० पत्र] पत्ती। पत्र।

पतउड़—संज्ञा पुं० [सं० पति + उड़] चंद्रमा। (हिं०)

पतखोवना—संज्ञा पुं० [हिं० पत + खोवना = खोनेवाला] वह जो अपने वा अन्य के मान-सम्मान की रक्षा न कर सके। वह जो प्रायः ऐसे कार्य करता फिरे जिससे अपनी या दूसरे की बेइज्जती हो।

पतग—संज्ञा पुं० [सं०] पक्षी। चिड़िया। पखेरू।

पतगेंद्र—संज्ञा पुं० [सं०] पक्षिराज। गरुड़।

पतचौली—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का पौधा।

पतभङ्ग—संज्ञा स्त्री० [हिं० पत = पता + भङ्गना] (१) वह ऋतु जिसमें पेड़ों की पत्तियाँ झड़ जाती हैं। शिशिर ऋतु। माघ और फाल्गुन के महीने। कुंभ और मीन की संक्रांतियाँ।

विशेष—इस ऋतु में हवा अत्यंत रूखी और सराटे की हो जाती है जिससे वस्तुओं के रस और स्निग्धता का शोषण होता है और वे अत्यंत रूखी हो जाती हैं। वृक्षों की पत्तियाँ रुखता के कारण सूखकर झड़ जाती हैं और वे टूट्टे हो जाते हैं। सृष्टि का सौंदर्य और शोभा इस ऋतु में बहुत घट जाती है, वह वैभवहीन हो जाती है। इसीसे कवियों को यह अप्रिय है। वैद्यक के मतानुसार इस ऋतु में कफ का संचय होता है और पाचकाग्नि प्रबल रहती है जिससे स्निग्ध और भारी आहार इस में सरलता से पचता है और पथ्य है। हल्के, वातवर्द्धक और तरल भोजनद्रव्य इसमें अपथ्य हैं।

सुश्रुत के मत से माघ और फाल्गुन ही पतभङ्ग के महीने हैं, पर अन्य अनेक वैद्यक ग्रंथों ने पूस और माघ को पतभङ्ग माना है। वैद्यक के अतिरिक्त सर्वत्र माघ और फाल्गुन ही पतभङ्ग माने गए हैं।

(२) अवततिकाल। खराबी और तबाही का समय। वैभवहीनता या कंगाली का समय।

पतभर—संज्ञा स्त्री० दे० "पतभङ्ग"।

पतभल—संज्ञा स्त्री० दे० "पतभङ्ग"।

पतभाङ्ग-संज्ञा स्त्री० दे० “पतभङ्ग” ।

पतभार-संज्ञा स्त्री० दे० “पतभङ्ग” ।

पतत्-वि० [सं०] (१) गिरता हुआ । उतरता हुआ । नीचे को जाता या आता हुआ । (२) उड़ता हुआ ।

संज्ञा पुं० पक्षी । चिड़िया ।

पतत्पतंग-संज्ञा पुं० [सं०] डूबता हुआ सूर्य । वह सूर्य जो अस्त हो रहा हो ।

पतत्प्रकर्ष-संज्ञा पुं० [सं०] काव्य में एक प्रकार का रसदोष ।

पतत्र-संज्ञा पुं० (१) पत्र । पंख । डैना । (२) पर । (३) वाहन । सवारी ।

पतत्रि-संज्ञा पुं० [सं०] पक्षी । चिड़िया ।

पतत्रिकेतन-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

पतत्री-संज्ञा पुं० [सं० पतत्रिन्] पक्षी ।

पतद्ग्रह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रतिग्राह । पीकदान । (२) वह कमंडलु जिसमें भिन्नक भिन्नान्न लेते हैं । भिन्नपात्र । काला ।

पतद्भीरु-संज्ञा पुं० [सं०] बाज पक्षी । श्येन ।

पतन्-संज्ञा पुं० [सं०] पक्षी । चिड़िया ।

पतन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गिरने या नीचे आने की क्रिया या भाव । गिरना । (२) नीचे जाने, धँसने या बैठने की क्रिया या भाव । बैठना या डूबना । (३) अवनति । अधोगति । जबाब । तवाही । जैसे, दुष्टों की संगति करने से पतन अनिवार्य हो जाता है । (४) नाश । मृत्यु । जैसे, अमुक युद्ध में कुल दो लाख सैनिकों का पतन हुआ । (५) पाप । पातक । (६) जातिच्युति । पातित्य । जाति से बहिष्कृत होना । (७) उड़ने की क्रिया या भाव । उड़ान । उड़ना । (८) किसी नक्षत्र का अष्टांश ।

वि० (१) गिरता हुआ या गिरनेवाला । (२) उड़ता हुआ या उड़नेवाला ।

पतनशील-वि० [सं०] जिसका पतन निश्चित हो । जो बिना गिरे न रह सके । गिरनेवाला ।

पतना-संज्ञा पुं० [?] योनि का तट भाग । योनि का किनारा ।

पतनारा-संज्ञा पुं० [?] पतनाबा । नाबदान । मोरी ।

पतनीय-वि० [सं०] जिसका गिरना अथवा अधोगत होना संभव हो । गिरने अथवा नष्ट, पतित या अधोगत होने के योग्य । गिरनेवाला । पतित होनेवाला ।

संज्ञा पुं० वह पाप जिसके करने से जाति से च्युत होना पड़े । पतित करनेवाला पाप ।

पतनोन्मुख-वि० [सं०] जो गिरने की ओर प्रवृत्त हो । जो गिरने के मार्ग पर लग चुका हो या बढ़ रहा हो । जिसका पतन, अधोगति या विनाश निकट आता जाता हो ।

पतपानी-संज्ञा पुं० [हिं० पत + पानी] (१) प्रतिष्ठा । मान । इज्जत । (२) लाज । आवरु ।

पतम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्र । (२) पक्षी । (३) कर्तिका ।

पतयालु-वि० [सं०] पतनशील । गिरनेवाला ।

पतरा-वि० [सं० पत्र] (१) पतला । कुश । (२) पत्ता । पर्ण ।

ड०—पेट पतर जलु चंदन लावा । कुँकुह केसर बरन सुहावा ।

—जायसी । (३) पत्तल । पनवारा ।

पतरा-संज्ञा पुं० [सं० पत्र] (१) वह पत्तल जिसे तँबोली लोग पान रखने के टोकरे या डलिया में बिछाते हैं । (२) सरसों का साग । सरसों का पत्ता ।

वि० दे० “पतला” ।

पतराई-संज्ञा स्त्री० [हिं० पतला + ई (प्रत्य०)] पतलापन । सूक्ष्मता ।

पतरिंग-संज्ञा पुं० [देश०] एक पक्षी जिसका सारा शरीर हरा और ठोर पतली तथा प्रायः दो अंगुल लंबी होती है । यह मकड़ियों को पकड़ कर खाता है । इसकी गायना गानेवाले पक्षियों में की जाती है ।

पतरी-संज्ञा स्त्री० दे० “पत्तल” ।

पतरंगा-संज्ञा पुं० [देश०] पतरिंगा पक्षी ।

पतला-वि० [सं० पात्रट, प्रा० पातट ; अथवा पत्र, हिं० पत्तर] [स्त्री० पतली] (१) जिसका घेरा, लपेट अथवा चौड़ाई कम हो । जो मोटा न हो । जैसे, पतली छड़ी, पतला बछ्छा, पतला खंभा, पतली रस्सी, पतली धाँजी, पतली गोठ, पतली गली, पतला नाजा । (बहुत पतली वस्तुओं को महीन, वारीक, या सूक्ष्म, भी कह सकते हैं, जैसे, पतला तार, पतला सूत, पतली सुई । इसी प्रकार कम चौड़ी बड़ी वस्तुओं के लिये पतला के स्थान पर ‘सँकरी’ या सँकरा भी कह सकते हैं, जैसे, सँकरी गली, सँकरा नाजा ।) (२) जिसके शरीर के इधर उधर का विस्तार कम हो । जिसकी देह का घेरा कम हो । जो स्थूल या मोटा न हो । कुश । जैसे पतला आदमी ।

यौ०—दुबला पतला = जो मोटा ताज़ा न हो । कुश शरीर का । (३) (पटरी, पत्तर या तह के आकार की वस्तु) जिसका दक्ष मोटा न हो । दबीज का उलटा । भीना । हलका । जैसे, पतला कपड़ा या कागज । (४) गाढ़े का उलटा । अधिक तरल । जिसमें जलांश अधिक हो । जैसे, पतला दूध या रसा ।

मुहा०—पतली चीज या पदार्थ = कोई तरल पदार्थ । कोई प्रवाही द्रव्य ।

(५) अशक्त । असमर्थ । कमजोर । निर्बल । हीन । जैसे, भाई सभी मनुष्य मनुष्य ही हैं, किसी को इतना पतला क्यों समझते हो ?

मुहा०—पतला पड़ना = दुर्दशाग्रस्त होना । दैन्यप्राप्त होना ।

अशक्त या निर्बल पड़ जाना । पतला हाल = दुःख और कष्ट की अवस्था । शोचनीय या दयनीय दशा । करुणाजनक स्थिति । बुरा हाल । दुर्दशा-काल । दुर्दिन ।

पतलाई †-संज्ञा स्त्री० [हिं० पतला + ई (प्रत्य०)] पतला होने का भाव । पतलापन ।

पतलापन-संज्ञा पुं० [हिं० पतला + पन (प्रत्य०)] पतला होने का भाव ।

पतली-संज्ञा स्त्री० [लश०] जुआ । छूत ।

पतलून-संज्ञा पुं० [अ० पॅटलून] वह पाजामा जिसमें मियानी नहीं लगाई जाती और पाँचों सीधा गिरता है । अंग्रेजी पाजामा ।

पतलूननुमा-संज्ञा पुं० [हिं० पतलून + फा० नुमा = दर्शक] वह पाजामा जो पतलून से मिलता जुलता होता है ।

वि० पतलून की तरह का । पतलून सा ।

पतलो-संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) सरकंडे की पताई । सरपत की पताई । (२) सरकंडा । सरपत ।

पतवर-क्रि० वि० [सं० पंक्ति, हिं० पंती + वार (प्रत्य०)] पंक्ति-वार । पंक्तिक्रम से । बराबर बराबर । उ०—“हैथोरन” की झाड़ी छाया जासु मनोहर । परी भई पीढ़िन की पंगति पतवर पतवर ।—श्रीधर ।

पतचा †-संज्ञा पुं० [हिं० पता + चा (प्रत्य०)] एक प्रकार का मचान जिस पर बैठ कर शिकार खेलते हैं । यह लकड़ी का बनाया जाता है और चार हाथ ऊँचा तथा उतना ही चौड़ा होता है । लंबा इतना होता है कि ८ आदमी रह कर निशाना मार सकें । चारों ओर पतली पतली लकड़ियों की टट्टियाँ लगी रहती हैं जिनमें निशाना मारने के लिये एक एक बिन्दा ऊँचे और चौड़े सुराख बने रहते हैं । टट्टियों के ऊपर हरी हरी पत्तियों समेत टहनियाँ रख दी जाती हैं जिसमें बाघ आदि शिकारियों को न देख सकें ।

क्रि० प्र०—बाँधना ।

पतवार-संज्ञा स्त्री० [सं० पत्रवाल, पात्रपाल, प्रा० पात्तवाड] नाव का एक विशेष और मुख्य अंग जो पीछे की ओर होता है । इसी के द्वारा नाव मोड़ी या घुमाई जाती है । यह लकड़ी का और त्रिकोणाकार होता है । प्रायः आधा भाग इसका जल के नीचे रहता है और आधा जल के ऊपर । जो भाग जल के ऊपर रहता है उसमें एक चपटा डंडा जड़ा रहता है जिस पर एक मल्लाह बैठा रहता है । पतवार को घुमाने के लिये यह डंडा मुठियों का काम देता है । यह डंडा जिस ओर घुमाया जाता है उसके विपरीत ओर नाव घूम जाती है । कन्हर । कर्ण । पतवाल । सुकान ।

पतवारी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पाता, पत्ता] जल का खेत ।

संज्ञा स्त्री० दे० “पतवार” ।

पतवाल-संज्ञा स्त्री० दे० “पतवार” ।

पतवाल-संज्ञा स्त्री० [सं० पतर = चिड़िया + वास] पक्षियों का अड्डा । चिककस ।

पतस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पत्ती । (२) कतिंशा, टिड्डी आदि । (३) चंद्रमा ।

पतस्वाहा-संज्ञा पुं० [हिं०] अग्नि ।

पता-संज्ञा पुं० [सं० प्रत्यय, प्रा० पत्तय = ख्याति] (१) किसी विशेष स्थान का ऐसा परिचय जिसके सहारे उस तक पहुँचा अथवा उसकी स्थिति जानी जा सके । किसी वस्तु या व्यक्ति के स्थान का ज्ञान करानेवाली वस्तु, नाम या लक्षण आदि । किसी का स्थान सूचित करनेवाली बात जिससे उसके पा सकें । किसी का अथवा किसी के स्थान का नाम और स्थिति-परिचय । जैसे, (क) आप अपने मकान का पता बतावें तब तो कोई वहाँ आवे । (ख) आपका वर्तमान पता क्या है ?

क्रि० प्र०—जानना ।—देना ।—बताना ।—पूछना ।

पता—पता ठिकाना = किसी वस्तु का स्थान और उसका परिचय । (२) चिट्ठी की पीठ पर लिखा हुआ वह लेख जिससे वह अभीष्ट स्थान को पहुँच जाती है । चिट्ठी की पीठ पर लिखी हुई पते की हवारत ।

क्रि० प्र०—लिखना ।

(३) खोज । अनुसंधान । सुराग । टोह । जैसे, आठ रोज से उसका लड़का गायब है, अभी तक कुछ भी पता नहीं चला ।

क्रि० प्र०—चलना ।—देना ।—मिलना ।—लगना ।—लेना ।

पता—पता निशान = (१) खोज की सामग्री । वे बातें जिनसे किसी के संबंध में कुछ जान सकें । जैसे, अभी तक हमको अपनी किताब का कुछ भी पता निशान नहीं मिला । (२) अस्तिवसूचक चिह्न । नामनिशान । जैसे, अब इस हमारत का पता निशान तक नहीं रह गया ।

(४) अभिज्ञता । जानकारी । खबर । जैसे, आप तो आठ रोज इलाहाबाद रहकर आ रहे हैं, आप को मेरे मुकदमे का अवश्य पता होगा ?

क्रि० प्र०—चलना ।—होना ।

(५) गूढ़ तत्व । रहस्य । भेद । जैसे, इस मामले का पता पाना बड़ा ही कठिन है ।

क्रि० प्र०—देना ।—पाना ।

मुहा०—पते की = भेद प्रकट करनेवाली बात । रहस्य खोलनेवाली बात । रहस्य की कुंजी । जैसे, वह बहुत पते की कहता है । पते की बात = भेद प्रकट करनेवाली बात । रहस्य खोलनेवाला कथन ।

पताई—संज्ञा स्त्री० [सं० पत्र] किसी वृक्ष या पौधे की वे पत्तियाँ जो सूख कर झड़ गई हों। झड़ी हुई पत्तियों का ढेर।
मुहा०—पताई लगाना=दृष्टकाने के लिये आग में सूखी पत्तियों मोकना। (किसी के) मुँह में पताई लगाना=(किसी का) मुँह फूँकना। (किसी के) मुँह में आग लगाना। (छियों की गाली)

पताकरा—संज्ञा पुं० [देश०] एक वृक्ष जो बंगाल आसाम और पश्चिमी घाट में होता है। इसकी लकड़ी सफेद रंग की और मजबूत होती है और गृहनिर्माण में उसका बहुत उपयोग किया जाता है। इसके फल खाए जाते हैं।

पताकांक—संज्ञा पुं० [सं०] दे० “पताका-स्थान”।

पताकांशु—संज्ञा पुं० [सं०] झंडा। झंडी। पताका।

पताका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लकड़ी आदि के डंडे के एक सिरे पर पहनाया हुआ तिकोना या चौकोना कपड़ा, जिस पर कभी कभी किसी राजा या संस्था का खास चिह्न या संकेत चित्रित रहता है। झंडा। झंडी। फरहरा। विशेष—दे० “ध्वज”।

विशेष—साधारणतः मंगल या शोभा प्रकट करने के लिये पताका का व्यवहार होता है। देवताओं के पूजन में भी लोग पताका खड़ी करते या चढ़ाते हैं। युद्ध यात्रा, मंगल यात्रा आदि में पताकाएँ साथ साथ चलती हैं। राजा लोगों के साथ उनके विशेष चिह्न से चित्रित पताकाएँ चलती हैं। कोई स्थान जीतने पर राजा लोग विजयचिह्न-स्वरूप अपनी पताका वहाँ गाड़ते हैं।

पर्या०—कंदुली। कदली। कदलिका। जयंती। चिह्न। ध्वजा। वैजयंती।

क्रि० प्र०—उड़ना। उड़ाना। फहराना।

मुहा०—(किसी स्थान में अथवा किसी स्थान पर) पताका उड़ना=(१) अधिकार होना। राज्य होना। जैसे, कोई समय था जब इस सारे देश में राजपूतों की ही पताका उड़ा करती थी। (२) समकक्षरहित होना। सर्वप्रधान होना। सब में श्रेष्ठ माना जाना। जैसे, आज व्याकरण शास्त्र में अमुक पंडित की पताका उड़ रही है। (किसी वस्तु की) पताका उड़ना=प्रसिद्धि होना। धूम होना। जैसे, (क) आपकी दानशीलता की पताका चारों ओर उड़ रही है। (ख) उनकी विद्वत्ता की सर्वत्र पताका उड़ रही है। पताका उड़ाना=अधिकार करना। विजयी होना। जैसे, घबराने की बात नहीं, आज नहीं तो कल आप अवश्य ही इस दुर्ग पर अपनी पताका उड़ावेंगे। पताका गिरना=हार होना। पराजय होना। जैसे, दिन भर शत्रुओं के नाकों चने चबवाने के पीछे अंत को सायंकाल को पराक्रमी राजपूतों

की पताका गिर गई। पताका-पतन या पताका-पात=पताका गिरना। पताका फहराना=(१) पताका उड़ाना। (२) पताका उड़ाना। विजय की पताका=विजयी पक्ष की वह पताका जो विजित पक्ष की पताका गिरा कर उसके स्थान पर उड़ाई जाय। विजयसूचक पताका।

(२) वह डंडा जिसमें पताका पहनाई हुई होती है। ध्वज। (३) सौभाग्य। (४) तीर चलाने में उँगलियों का एक विशेष न्यास वा स्थिति। (५) दश खर्व की संख्या जो अंकों में इस प्रकार लिखी जायगी—१००००००००००००। (६) नाटक में वह स्थल जहाँ किसी पात्र के चिंतागत भाव या विषय का समर्थन या पोषण आंगतुक भाव से हो। जहाँ एक पात्र एक विषय में कोई बात सोच रहा हो और दूसरा पात्र आकर दूसरे संबंध में कोई बात कहे, पर उसकी बात से प्रथम पात्र के चिंतागत विषय का मेठ या पोषण होता हो वहाँ यह स्थल माना जाता है। विशेष—दे० “नाटक”। (७) पिंगल के ६ प्रत्ययों में से ८ वाँ जिसके द्वारा किसी निश्चित गुरुखद्यु वर्ण के छंद अथवा छंदों का स्थान जाना जाय। उदाहरणार्थ प्रस्तार द्वारा यह मालूम हुआ कि ८ मात्राओं के कुल ३४ छंदभेद होते हैं और मेरु प्रत्यय द्वारा यह भी जाना गया कि इनमें से ७ छंद १ गुरु और ६ लघु वर्ण के होंगे। अब यह जानना रहा कि ये सातों छंद किस किस स्थान के होंगे। पताका की क्रिया से यह ज्ञात होगा कि १३ वें, २१ वें, २६ वें, २९ वें, ३१ वें, ३२ वें, ३३ वें स्थान के छंद १ गुरु और ६ लघु के होंगे।

पताकादंड—संज्ञा पुं० [सं०] पताका का डंडा। झंडे का डंडा। ध्वज।

पताका-स्थान—संज्ञा पुं० [सं०] नाटक में वह स्थान जहाँ पताका हो। दे० “पताका (६)”।

पताकि—संज्ञा पुं० [सं०] पताकाधारक। झंडावरदार। झंडी उठानेवाला।

पताकिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सेना। ध्वजिनी। (२) एक देवी।

पताकी—संज्ञा पुं० [सं० पताकिन्] [स्त्री० पताकिनी ?] (१) पताकाधारी। झंडी उठानेवाला। (२) रथ। (३) एक योद्धा जो महाभारत में कौरवों की ओर से लड़ा था। (४) फलित ज्योतिष में राशियों का एक विशेष वेध जिससे जातक के अरिष्टकाल की अवधि जानी जाती है।

पतामी—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की नाव।

पतार—संज्ञा पुं० [सं० पाताल] (१) दे० “पाताल”। (२) जंगल। सघन वन। इ०—निकसि ताडुका बन ते रघुपति निरख्यो दूरि पहारा। ताके निकट मेव ह्व मंडित देख्यो श्याम पतारा।—रघुराज।

पतारी—संज्ञा स्त्री० [देश०] बत्तख की जाति का एक जल-

पक्षी जो उत्तर भारत में जल्लाशयों के किनारे पाया जाता है।
ऋतु के अनुसार यह अपने रहने के स्थान में परिवर्तन करता
रहता है। इसका शिकार किया जाता है।

पताल-संज्ञा पुं० दे० “पाताल”।

पताल आबला-संज्ञा पुं० [सं० पाताल आमलकी अथवा भूम्यामलकी]
औषध के काम में आनेवाला एक पौधा (लुप)। यह
बहुत बड़ा नहीं होता। प के नीचे पतली डंडी निकलती
है। इली में फल लगते हैं। वैद्यक के अनुसार यह कडुवा,
कषैला, मधुर, शीतल, वातकारक, प्यास, खाँसी, रक्तपित्त,
कफ, पांडुरोग, चत और विष का नाशक तथा पुत्रप्रदायक है।
पर्या०—भूम्यामलकी। शिवा। ताली। चेत्रामली। तामलकी।
सूक्ष्मफला। अफला। अमला। बहुपुत्रिका। बहुवीर्या।
भूधानी आदि।

पताल कुम्हड़ा-संज्ञा पुं० [हिं० पताल + कुम्हड़ा] एक प्रकार का
जंगली पौधा जिसकी बेल शकरकंद की लता की तरह
जमीन पर फैलती है और शकरकंद ही की तरह जिसकी
गाँठों से कंद फूटते हैं। कंदों का परिमाण एक सा नहीं
होता, कोई छोटा और कोई बहुत बड़ा होता है। यह दवा
के काम में आता है।

पतालदंती-संज्ञा पुं० [सं० पातालदंती] वह हाथी जिसका दाँत
नीचे की ओर झुका हो। वह हाथी जिसके दाँत का झुकाव
भूमि की ओर हो। ऐसा हाथी ऐबी समझा जाता है।

पतावर-संज्ञा पुं० [हिं० पता] पेड़ के सूखे हुए पत्ते।

पतासी-संज्ञा स्त्री० [देश०] बड़इयों का एक औजार। छोटी
खलानी।

पतिवरा-वि० [सं०] (१) जो अपना पति स्वयं चुने। स्वेच्छा
से पति का वरण करनेवाली (स्त्री)। स्वयंवरा। (२) काला
जीरा। कृष्णजीरक।

पति-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० पती] (१) किसी वस्तु का मालिक।
स्वामी। अधिपति। प्रभु। जैसे, भूमिपति, गृहपति आदि।
(२) स्त्री विशेष का विवाहित पुरुष। किसी स्त्री के संबंध में
वह पुरुष जिसका उस स्त्री से व्याह हुआ हो। पाणि-
प्राहक। भर्ता। कांत। दूहा। शीहर। खाविंद।

विशेष—साहित्य में पति चार प्रकार के होते हैं—अनुकूल,
दक्षिण, धृष्ट और शठ। अनुकूल वह पति है जो एक ही स्त्री
पर पूर्ण रूप से अनुरक्त हो और दूसरी की आकांक्षा तक न
रखता हो। दक्षिण वह है जिसके प्रणय का आधार अनेक
स्त्रियाँ हों, पर जिसकी उन सब पर समान प्रीति हो अथवा
जो अनेक स्त्रियों का समान प्रीतिपात्र हो। धृष्ट वह है जो
तिरस्कार और अपमान सहकर भी अपना काम बनाता है,
जिसके लज्जा और मान नहीं होता। शठ वह कहलाता है
जो झूठ कपट में निपुण हो, जो वचनचातुरी से या झूठ
बोल्कर अपना काम निकाले।

इनके अतिरिक्त किसी किसी आचार्य ने “अनभिज्ञ” नाम
से पति का पाँचवाँ भेद भी माना है। यह हाव भाव आदि
शृंगार-चेष्टाओं का अर्थ समझने में असमर्थ होता है।

(३) पाशुपत दर्शन के अनुसार सृष्टि, स्थिति और संहार
का वह कारण जिसमें निरतिशय ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति
हो और ऐश्वर्य से जिसका नित्य संबंध हो। शिव या ईश्वर।
(४) मर्यादा। प्रतिष्ठा। लज्जा। हज्जत। साख। दे०
“पत”। उ०—(क) अब पति राखि लेहु भगवान।—सूर।
(ख) तुम पति राखी प्रह्लाद दीन दुख तोरा।—गणेश-
प्रसाद। (५) मूल।
संज्ञा स्त्री० दे० “पत”।

पतिआना-† क्रि० सं० [सं० प्रत्यय, प्रा० पत्य + आना (हिं०
प्रत्य०)] विश्वास करना। सच मानना। प्रतीत करना।
एतबार करना। मानना।

पतिआर-† संज्ञा पुं० [हिं० पतिआना] पतिआने का भाव।
विश्वास। साख। एतबार। मातबरी।

पतिक-संज्ञा पुं० [सं० प्रतिकः] कार्पाषण नाम का एक प्राचीन
सिका।

पतिकामा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पति की अभिलाषा करनेवाली
(स्त्री)। पतिप्राप्ति की इच्छा रखनेवाली (स्त्री)।

पतिघातिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पति की हत्या करनेवाली
स्त्री। पति को मार डालनेवाली स्त्री। (२) वह स्त्री, जिसका
ज्योतिष या सामुद्रिक के अनुसार विधवा हो जाना संभव
हो। वैधव्य योग अथवा लक्षणवाली स्त्री।

विशेष—कर्कट लग्न अथवा कर्कटस्थ चंद्रमामें मंगल के तीसवें
अंश में जन्मग्रहण करनेवाली, जिसकी हथेली पर अँगूठे के
निचले भाग से छिंगुनी के निचले भाग तक सीधी रेखा हो,
जिसकी आँखें लाल हों अथवा जिसकी नाक के सिरे पर
काला मसा हो, जिसकी छाती अधिक उभरी या फैली हुई
हो, जिसके ऊपर के ओंठ पर रोएँ हों—ऐसी सब स्त्रियाँ
पतिघातिनी कही गई हैं।

(३) वैधव्यसूचक एक विशेष हस्तरेखा। स्त्री की हथेली पर
वह रेखा जो अँगूठे की जड़ से छिंगुनी की जड़ तक
होती है।

पतिघ्न-वि० [सं०] वैधव्यसूचक लक्षण या योग।

पतिघ्नो-संज्ञा स्त्री० [सं०] पतिघ्न योग या लक्षणवाली स्त्री।

पतिजिया-संज्ञा स्त्री० [सं० पुत्रजीवा] जीयापोता नामक वृत्त।

पतित-वि० [सं०] (१) गिरा हुआ। ऊपर से नीचे आया हुआ।
(२) आचार, नीति, या धर्म से गिरा हुआ। आचारच्युत।
नीतिभ्रष्ट या धर्मत्यागी। (३) महापापी। अतिपातकी।
नरकदायक पाप का कर्ता। (४) जाति से निकाला हुआ।
समाजबहिष्कृत। जातिच्युत। जाति या समाज से खारिज।

विशेष—हिंदू धर्मशास्त्रों के अनुसार आपद् काल न होने पर भी स्वधर्म के नियमों का उल्लंघन करनेवाला पतित होता है। आग लगानेवाला, विप देनेवाला, दूसरे का अपकार करने की नीयत से फाँसी लगाकर डूब कर या जल कर मर जानेवाला, ब्रह्महत्याकारी, गुरुपत्नीगामी, नास्तिक, चोर, मद्यप, चाँडाल स्त्री से मैथुन करने अथवा चाँडाल का दान लेने या अन्न खानेवाला ब्राह्मण तथा किसी अन्य महा या अति पातक का कर्त्ता पतित माना जाता है। शुद्धित्व के अनुसार पतित का दाह, अंत्येष्टिक्रिया, अस्थिसंचय, आदि यहाँ तक कि उसके लिये आँसू बहाना तक अकर्त्तव्य है। पतित का संसर्ग, उसके साथ भोजन, शयन या बातचीत करनेवाला भी पतित होता है। पर पतित-संसर्ग के कारण पतित व्यक्ति का आदर तर्पण आदि निषिद्ध नहीं है। माता के अतिरिक्त अन्य सब व्यक्ति पतित दशा में त्याज्य हैं। गर्भधारण और पोषण के कारण माता किसी दशा में त्याज्य नहीं है। प्रायश्चित्त करने से पतित व्यक्ति की शुद्धि होती है।

(१) अत्यंत मलीन। महा अपावन। (२) अति नीच। अधम।

यौ०—पतितउधारन। पतितपावन।

पतित-उधारन—वि० [सं० पतित + हि० उधारना (सं० उद्धरण)] जो पतित का उद्धार करे। पतितों को गति देनेवाला।

संज्ञा पुं० (१) ईश्वर। (२) सगुण ईश्वर। पतित जनों के उद्धार के लिये अवतार लेनेवाला ईश्वर।

पतितता—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पतित होने का भाव। जाति या धर्म से च्युत होने का भाव। (२) अपवित्रता। (३) अधमता। नीचता।

पतितत्व—संज्ञा पुं० [सं०] पतित होने का भाव।

पतितपावन—वि० [सं०] [स्त्री० पतितपावनी] पतित को पवित्र करनेवाला। पतित को शुद्ध करनेवाला।

संज्ञा पुं० (१) ईश्वर। (२) सगुण ईश्वर।

पतितवृत्त—वि० [सं०] पतित दशा में रहनेवाला। जातिच्युत होकर जीवन बितानेवाला।

पतितव्य—वि० [सं०] पतन योग्य। गिरनेवाला।

पतित सावित्रीक—वि० [सं०] जिसका उपनयन संस्कार न हुआ हो या विधिपूर्वक न हुआ हो। सावित्रीअष्ट (चरित्रादि)।

संज्ञा पुं० प्रथम तीन प्रकार के ब्राह्मणों में से एक।

पतिव्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्वामी, प्रभु या माखिक होने का भाव। स्वामित्व। प्रभुत्व। (२) पाणिग्राहक या पति होने का भाव। पाणिग्राहकता। वरत्व।

पतिदेवता, पतिदेवा—वि० [सं०] जिस (स्त्री) के लिये केवल पति ही देवता हो। जिस (स्त्री) का आराध्य या उपास्य

एक मात्र पति हो। पतिव्रता। उ०—पतिदेवता सुतीथ मह मातु प्रथम तव रेख।—तुलसी।

पतिधर्म—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पति का धर्म। स्वामी का कर्त्तव्य। (२) पति के प्रति स्त्री का धर्म। पति के संबंध में पत्नी के कर्त्तव्य।

पतिधर्मवती—वि० [सं०] पति संबंधी कर्त्तव्यों का भक्तिपूर्वक पालन करनेवाली (स्त्री)। पति की भली भाँति सेवाशुश्रूषादि करनेवाली (स्त्री)। पतिव्रता।

पतिभ्रू—वि० [सं०] पति को न चाहनेवाली (स्त्री)।

पतिनी—संज्ञा स्त्री० दे० “पत्नी”।

पतियान—वि० [सं०] पति का पदानुसरण करनेवाली। पति की अनुगामिनी।

पतियाना—क्रि० सं० [सं० प्रत्यय + हि० आना (प्रत्य०)] विश्वास करना। सच मानना। प्रतीत करना।

पतियारा—संज्ञा पुं० [हि० पतियारा] पतियाने का भाव। विश्वास। पतवार।

पतिरिप—वि० [सं०] पति से द्वेष करनेवाली (स्त्री)। पति से वैर रखनेवाली।

पतिलोक—संज्ञा पुं० [सं०] पति को प्राप्त स्वर्ग जो पतिव्रता स्त्री को प्राप्त होता है। पतिव्रता स्त्री को मिलनेवाला वह स्वर्ग जिसमें उसका पति रहता है।

पतिवती—वि० [सं०] पतिवती। सधवा। सभर्तृका।

पतिवती—वि० [सं० पति + वती (प्रत्य०)] सधवा (स्त्री)। सौभाग्यवती।

पतिवेदन—वि० [सं०] जो पति प्राप्त करावे। पति लाभ करनेवाला।

संज्ञा पुं० महादेव। शिव।

पतिव्रत—संज्ञा पुं० [सं०] पति में (स्त्री की) अनन्य प्रीति और भक्ति। पति में निष्ठापूर्वक अनुराग। पातिव्रत्य।

पतिव्रता—वि० [सं०] पति में अनन्य अनुराग रखनेवाली और यथाविधि पतिसेवा करनेवाली (स्त्री)। जिस (स्त्री) का प्रेम-पात्र और उपास्य एक मात्र पति हो। सब प्रकार पति के अनुकूल आचरण करनेवाली (स्त्री)। सती। साध्वी। सच्चरित्रता।

विशेष—मन्वादि स्मृतियों के अनुसार पतिव्रता स्त्री को आजन्म पति की आज्ञा का अनुसरण करना चाहिए। कोई ऐसी बात न करनी चाहिए जो पति को अप्रिय हो। पति कितना ही दुर्शील, दुर्गुणी, दुराचारी और पातकी क्यों न हो, पतिव्रता को सदा सर्वदा उसे अपना देवता मानना चाहिए। जो बातें पति को अप्रिय हैं उसकी मृत्यु के पश्चात् भी वे पतिव्रता के लिये अकर्त्तव्य हैं। पति की मृत्यु के अनंतर पतिव्रता स्त्री को फल मूल आदि

खाकर पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहना चाहिए । पति के विदेश होने की दशा में उसे शृंगार, हास परिहास, क्रीड़ा, सैर तमाशे में या दूसरे के घर जाना आदि कार्य त्याग देना चाहिए । संपूर्ण व्रत, पूजा, तपस्या, और आराधना त्यागकर पतिसेवा में रत रहना ही पतिव्रता के लिये एकमात्र धर्म है । पुत्र की अपेक्षा पति को सौगुना अधिक प्यार करे । पति उसे सब पापों से छुड़ा देता है । पर पुरुष पर प्रेम कर पातिव्रत का उल्लंघन करनेवाली स्त्री शृगालयोनि में जन्म पाती है ।

पतिवर्त—संज्ञा पुं० दे० “पतिव्रत” ।

पतिवर्त्ता—वि० दे० “पतिव्रता” ।

पतिष्ठ—वि० [सं०] अत्यंत पतनशील । गिरनेवाला ।

पती—संज्ञा पुं० दे० “पति” ।

पतीजना—* क्रि० अ० [हिं० प्रतीत + ना (प्रत्य०)] पतिआना । पतवार करना । भरोसा करना । विश्वास करना । प्रतीत करना । उ०—(क) तब देवकी दीन हूँ भाव्यो नृप को नाहिं पतीजै ।—सूर । (ख) बोल्हो बिहँग बिहँसि रघुवर बलि कहैं सुभाष पतीजै ।—तुलसी ।

पतीनना—* क्रि० स० [हिं० प्रतीत + ना (प्रत्य०)] विश्वास करना । सच मानना । यकीन करना । उ०—देवै गर्भ भई है कन्या राह न बात पतीनी हो ।—सूर ।

पतीर—† संज्ञा स्त्री० [सं० पंक्ति] पंक्ति । कतार । पंक्ति ।

पतीरी—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की चटाई ।

पतील, पतीला—† वि० [हिं० पतला] दे० “पतला” ।

पतीली—संज्ञा स्त्री० [सं० पातिली = हाँडी] ताँबे या पीतल की एक प्रकार की बटलोई जिसका मुँह और पेंदी साधारण बटलोई की अपेक्षा अधिक चौड़ी और दल मोटा होता है । देगची ।

पतुकी—† संज्ञा स्त्री० [सं० पातिली] हाँडी ।

पतुरिया—संज्ञा स्त्री० [सं० पातिली = खीविशेष] (१) नाचने गाने का व्यवसाय करनेवाली स्त्री । वेश्या । रंडी । (२) व्यभिचारिणी स्त्री । छिनाल स्त्री ।

पतुली—† संज्ञा स्त्री० [देश०] कलाई में पहनने का एक आभूषण जिसको अवध प्रांत की स्त्रियाँ पहनती हैं ।

पतुही—† संज्ञा स्त्री० [हिं० पत्ता] मटर की वह फली जिसके दाने रोग, अधिदैविक बाधा या समय से पहले तोड़ लिए जाने के कारण यथेष्ट पुष्ट न हो सके हों । नन्हें नन्हें दानोंवाली छीमी ।

पतूख, पतूखी—† संज्ञा स्त्री० दे० “पतोखी” ।

पतोई—† संज्ञा स्त्री० [देश०] वह फेन जो गुड़ बनाते समय खौलते रस से उठता है ।

पतोखद—संज्ञा स्त्री० [सं० पतोषध] वह ओषधि जो किसी वृक्ष,

पौधे, या तृण का पत्ता या फूल आदि हो । घास पात की दवाई । खरबिरई ।

संज्ञा पुं० [सं० ओषधिपति] चंद्रमा । (हिं०)

पतोखदी—संज्ञा स्त्री० दे० “पतोखद (१)” ।

पतोखा—संज्ञा पुं० [हिं० पत्त] [अल्प० पतोखी] पत्ते का बना पात्र । दोना ।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बगला जो मलंग बगले से छोटा और किलचिपा से बड़ा होता है । इसका पर खूब सफेद, नरम, चिकना और चमकीला होता है । टोपियों आदि के बनाने में प्रायः इसीके पर काम में लाए जाते हैं । पतखा ।

पतोखी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पतोखा] (१) एक पत्ते का दोना ।

छोटा दोना । (२) पत्तों का बना छोटा छाता । घोवी ।

पतोरा—संज्ञा पुं० दे० “पतोरी” ।

पतोही—संज्ञा स्त्री० दे० “पतोहू” ।

पतोहू—संज्ञा स्त्री० [सं० पुत्रवधू, प्रा० पुत्तवहू] बेटे की स्त्री । पुत्रवधू ।

पतौआ—* संज्ञा पुं० [सं० पत्र, हिं० पत्ता] पत्ता । पर्ण । उ०—
एक बान बेग ही उड़ाने जातुधान जात, सूखि गए गात
हैं पतउआ भए बाय के ।—तुलसी ।

पतंग—संज्ञा पुं० [सं०] पतंग नामक लकड़ी । बकम ।

पत्ता—संज्ञा पुं० दे० “पत्र” ।

पत्तन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) नगर । शहर ।

विशेष—प्राचीन समय में नगरों के नाम के साथ इस शब्द का प्रयोग होता था । जैसे, प्रभासपत्तन । अब इसका अपभ्रंश पाटन या पट्टन अनेक नगरों के नाम के साथ संयुक्त है । जैसे भाखरापाटन, विजयापट्टन, मुसलीपट्टन आदि ।

(२) सृदंग ।

पत्तर—संज्ञा पुं० [सं० पत्र] (१) धातु का ऐसा चिपटा लंबो-तरा टुकड़ा जो पीट कर तैयार किया गया हो और पत्ते की तरह पतला होने पर भी कड़ा हो तथा जिसकी तह या परत की जा सके । धातु की चादर । जैसे, (क) मंदिर के शिखर पर सोने का पत्तर चढ़ा है । (ख) यंत्र बनाने के लिये ताँबे का एक पत्तर ले आओ । विशेष—कागज की तरह महीन पत्तर जो झट मोड़ा और तह किया जा सके वर्क कहलाता है । (२) दे० “पत्तल” ।

पत्तल—संज्ञा स्त्री० [सं० पत्र, हिं० पत्ता] (१) पत्तों को सीकों से जोड़कर बना हुआ एक पात्र जिससे थाली का काम लिया जाता है । पत्तल प्रायः बरगद, महुए, या पलास आदि के पत्तों की बनाई जाती है । इसकी बनावट गोलाकार होती है । व्यास की लंबाई एक हाथ से कुछ कम या अधिक होती है । हिंदुओं के यहाँ बड़े बड़े भोजों में इसी

पर भोजन परसा जाता है। अन्य अवसरों पर भी इसका थाली के स्थान पर उपयोग किया जाता है। जंगली मनुष्य तो सदा इसीमें खाना खाते हैं।

मुहा०—एक पत्तल के खानेवाले = परस्पर घनिष्ठ सामाजिक संबंध रखनेवाले। परस्पर रोटी बेटी का व्यवहार करनेवाले। अत्यंत सर्वांगीय या सजातीय। किसी की पत्तल में खाना = किसी के साथ खानपान आदि का संबंध करना या रखना। जैसे, बला से वह बुरा है, पर किसी की पत्तल में खाने तो नहीं जाता। जिस पत्तल में खाना उसी में छेद करना = उपकारक का अपकार करना। जिससे लाभ उठाना उसी की हानि करना। कृतघ्नता करना। जैसे, दुष्टों का यह स्वभाव ही है कि जिस पत्तल में खाएँ उसीमें छेद करें। पत्तल पड़ना = भोजन के लिये पत्तल बिछना। भोज के समय लोगों के सामने पत्तलों का रखा जाना। पत्तल परसना = (१) भोजन के सहित पत्तल सामने रखना। (२) पत्तल में भोजन की वस्तुएँ रखना। पत्तल में खाना परसना। पत्तल लगाना = दे० “पत्तल परसना”। (२) पत्तल में परसी हुई भोजन-सामग्री। जैसे, (क) उसने ऐसी बात कही कि सबके सब पत्तल छोड़ कर उठ गए। (ख) पंडितजी तो आप नहीं, उनके घर पत्तल भेज दो।

मुहा०—पत्तल खोलना = वह कार्य कर डालना जिसके करने के पहले भोजन न करने की शपथ हो। बाँधी पत्तल खोलना। पत्तल बाँधना = कोई पहिली कहकर उसके बूमने के पहले भोजन न करने की शपथ देना। (कहीं कहीं विवाह में बरातियों के सामने पत्तल परस जाने के पीछे कन्या पक्ष की कोई स्त्री एक पहिली कहती या प्रश्न करती है और जब तक बरातियों में से कोई एक उसको बूम न ले अथवा उसका उत्तर न दे दे तब तक सब को भोजन न करने की कसम देती है। इसी को पत्तल बाँधना कहते हैं।) उ०—बाँधी पत्तल जो कोई खावे। मूरख पंचन माँह कहावे।—(कहावत)। जूटी पत्तल = उच्छिष्ट। जूठा। उ०—जूटी पातर भक्षत हैं बारी वायस स्वान।—राय-प्रवीन।

(३) एक आदमी के खाने भर भोजन-सामग्री जो किसी को दी जाय या कहीं भेजी जाय। पत्तल भर दाल चावल वा पूरी जड़ू आदि। परोसा। जैसे, अमुक मंदिर से उसे प्रति दिन ४ पत्तलें मिलती हैं।

पत्ता—संज्ञा पुं० [सं० पत्र] [स्त्री० पत्ती] (१) पेड़ या पौधे के शरीर का वह हरे रंग का फैला हुआ अवयव जो काँड़ या टहनियों से निकलता है और थोड़े दिनों के पीछे बदल जाता है। पलाश। पत्रक। पर्ण। छदन। छान। वह। वहन।

विशेष—पत्ते के बीच की जो मोटी नस होती है वह पीछे की ओर टहनियों से जुड़ी होती है। यह नस आगे की ओर उत्तरोत्तर पतली होती जाती है। इस नस के दोनों ओर अनेक पतली नसे निकलती हैं। ये खड़ी और आड़ी नसे ही पत्ते का ढाँचा होती हैं। नसों नसों का यह जाल हरे आच्छादन से ढका होता है। बहुत से वृक्षों और पौधों के पत्तों का अंतिम भाग नोकदार अथवा कुछ कुछ गाबदुम होता है, पर कुछ के पत्ते बिलकुल गोल भी होते हैं। नया निकला हुआ पत्ता हरापन लिए हुए लाल होता है। इस अवस्था में उसे कोंपल कहते हैं। कुछ पेड़ों के पत्ते प्रति वर्ष पतझड़ के दिनों में झड़ जाते हैं। इस समय वे प्रायः वर्णहीन होते हैं। इन दो अवस्थाओं के अतिरिक्त अन्य सब समय पत्ता हरा ही होता है। पत्ता वृक्ष या पौधे के लिये बड़े काम का अंग है। वायु से उसे जो आहार मिलता है वह इसीके द्वारा मिलता है। निरिंद्रिय आहार का सेंद्रिय द्रव्य में परिवर्तित कर देना पत्ते ही का काम है। कुछ वृक्षों के पत्ते हाथ का भी काम देते हैं। इनके द्वारा पौधे वायु में उड़नेवाले कीड़ों को पकड़कर उनका रक्त चूसते हैं।

मुहा०—पत्ता खड़कना = किसी के पास आने की आहट मिलना। कुछ खटका या आशंका होना। आशंका की कोई बात होना। जैसे, पत्ता खड़का बंदा भड़का (कहावत)। पत्ता तोड़कर भागना = बड़े वेग से दौड़ते हुए भागना। सिर पर पैर रखकर भागना। पत्ता न हिलना = हवा में गति न होना। हवा का बिलकुल बंद होना। हल होना। जैसे, आज सारे दिन पत्ता न हिला। पत्ता लगना = पत्ते से सटे रहने के कारण फल में दाग पड़ जाना या उसका कुछ अंश सड़ जाना। पत्ता हो जाना = इतनी तेजी से दौड़कर जाना कि ज्ञान मात्र में अदृश्य हो जाना। उड़न छू हो जाना। काफूर हो जाना। उड़ जाना।

(२) कान में पहनने का एक गहना जो बालियों में लटकाया जाता है। (३) मोटे कागज का गोल या चौकोर खंड। जैसे, ताश का पत्ता, गंजीफे का पत्ता, तागो का पत्ता। (४) धातु की चादर। पत्तर।

वि० बहुत हलका।

पत्ति—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पैदल सिपाही। प्यादा। पदातिक। (२) शूर-वीर पुरुष। योद्धा। बहादुर। (३) प्राचीन काल में सेना का सब से छोटा विभाग जिसमें १ रथ, १ हाथी, ३ घोड़े और ५ पैदल होते थे। किसी किसी के मत से पैदलों की संख्या २५ होती थी।

पत्तिक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राचीन काल में सेना का एक विशेष विभाग जिसमें १० घोड़े, १० हाथी, १० रथ और १० प्यादे होते थे। (२) उपर्युक्त विभाग का अफसर।

विशेष—प्राचीन काल में दस पत्तिक की 'सेना' संज्ञा थी जिसका नायक 'सेनापति' कहा जाता था। ऐसी १० सेनाओं का नाम "बल" था। इसके अधिकारी को 'बलाध्यक्ष' कहते थे।

वि०—पैदल चलनेवाला।

पत्तिकाय—संज्ञा पुं० [सं०] पैदल सेना।

पत्तिगण—संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन सेना में एक विशेष अधिकारी जिसका कर्तव्य पैदल सैनिकों की गणना करना तथा उन्हें एकत्र करना होता था।

पत्ती—संज्ञा स्त्री० [हिं० पत्ता + ई (प्रत्य०)] (१) छोटा पत्ता। (२) भाग। हिस्सा। सामे का अंश। जैसे, इस दूकान में मेरी भी एक पत्ती है।

पौ०—पत्तीदार = सामीदार। हिस्सेदार।

(३) फूल की पंखड़ी। दल। (४) भाग। (५) पत्ती के आकार का लकड़ी, धातु, आदि का कटा हुआ कोई टुकड़ा जो प्रायः किसी स्थान में जड़ने, लगाने या लटकाने आदि के काम में आता है। पट्टी।

पत्तीदार—संज्ञा पुं० [हिं० पत्ती + फा० दार = रखनेवाला] जिसका किसी व्यवसाय में किसी के साथ साम्ता हो। सामीदार। हिस्सेदार।

पत्तूर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) शांति नामक शाक। शालिच नामक शाक। (२) जलपीपल। (३) पाकड़ का वृक्ष। (४) शमी का वृक्ष। (५) पर्तंग की लकड़ी।

पत्थ—* संज्ञा पुं० दे० "पथ्य"।

पत्थर—संज्ञा पुं० [सं० प्रस्तर, प्रा० पत्थर] [वि० पथरीला, कि० पथराना] (१) पृथ्वी के कड़े स्तर का पिंड या खंड। भूद्रव्य का कड़ा पिंड या खंड।

विशेष—भूगर्भ शास्त्र के अनुसार पृथ्वी की बनावट में अनेक स्तर या तहें हैं। इनमें से अधिक कड़ी कलेवरवाली तहों का नाम पत्थर है। पत्थरों के मुख्य दो भेद हैं—आग्नेय और जलज। आग्नेय पत्थरों की उत्पत्ति, भूगर्भस्थ ताप के उद्भेद से होती है। पृथ्वी के गर्भ से जो तरल पदार्थ अत्यंत उत्तल अवस्था में इस उद्भेद द्वारा ऊपर आता है वह कालांतर में सरदी से जमकर चट्टानों का रूप धारण करता है। इस रीति पर पत्थर बनने की क्रिया भूगर्भ के भीतर होती है। उपर्युक्त तरल पदार्थ भूगर्भ स्थित चट्टानों से टकराकर अथवा अन्य कारणों से भी अपनी गरमी खो देता और पत्थर के रूप में ठोस हो जाता है। जलज पत्थर जल के प्रवाह से बनते हैं। मार्ग में पड़ने वाले पत्थर आदि पदार्थों को चूर्ण करके जलधारा कीचड़ के रूप में उन्हें अपने प्रवाह के साथ बहा ले जाती है। जिस कीचड़ के वपादान में कड़े परमाणु अधिक होते हैं वह जमने पर

पत्थर का रूप धारण करती है। जलज पत्थरों की बनावट प्रायः तह पर तह होती है। पर आग्नेय पत्थरों की ऐसी नहीं होती। वपादान के भेद से भी पत्थरों के कई भेद होते हैं, जैसे आग्नेय में संगमरमर, शालिग्रामी या संगमूसा आदि और जलज में बलुआ, दुधिया, स्लेट का पत्थर, संगमरमर, स्फटिक आदि। आग्नेय और जलज के अतिरिक्त अस्थिज पत्थर भी होता है। घोंघे आदि सामुद्रिक जीवों की अस्थियाँ विशिष्ट होने के पश्चात् दबाव के कारण पुनः बनीभूत होकर ऐसे पत्थर की रचना करती हैं। खड़िया मिट्टी इसी प्रकार का पत्थर है। जिस प्रकार साधारण कीचड़ कठिन होकर पत्थर के रूप में परिवर्तित हो जाता है उसी प्रकार साधारण पत्थर भी दबाव की अधिकता और आस पास की वस्तुओं तथा जलवायु के विशेष प्रभाव के कारण रासायनिक अवस्थांतर प्राप्त कर स्फटिक अथवा पारदर्शी पत्थर या मणि का रूप धारण करता है।

पत्थर मानव जाति के लिये अत्यंत उपयोगी पदार्थ है। आज जो काम विविध धातुओं से लिए जाते हैं आदिम अवस्था में वे सभी केवल पत्थर से लिए जाते थे। जब तक मनुष्यों ने धातुओं की प्राप्ति का उपाय और उनका उपयोग न जाना था तब तक उनके हथियार, औजार, बरतन भाँड़े सब पत्थर के ही होते थे। आजकल पत्थर का सब से अधिक उपयोग मकान बनाने के काम में किया जाता है। इससे बरतन, मूर्तियाँ, टेबुल, कुर्सी आदि भी बनती हैं। संगमरमर आदि मुलायम और चमकीले पत्थरों से अनेक प्रकार की सजावट की वस्तुएँ और आभूषण आदि भी बनाए जाते हैं। भारतवासी बहुत प्राचीन काल से ही पत्थर पर अनेक प्रकार की कारीगरी करना सीख गए थे। बड़िया मूर्तियाँ, बारीक जालियाँ, विविध प्रकार के फूल पत्ते आदि बनाने में वे अत्यंत कुशल थे।

बौद्धों के समय में मूर्त्तितत्त्वण और मुगलों के समय में जाली, बेजबूटे आदि बनाने की कलाएँ विशेष उन्नत थीं। यद्यपि मुगलकाल के बाद से भारत के इस शिल्प का बराबर ह्रास हो रहा है, फिर भी अभी जयपुर में संगमरमर के बरतन और आगरे में अलंकार आदि बड़े साफ और सुंदर बनाए जाते हैं।

भारत के पहाड़ों में सब प्रकार के पत्थर मिलते हैं। विंध्य पर्वत इमारती पत्थरों के लिये और अरवली पर्वत संगमरमर के लिये प्रसिद्ध है। विशेष—दे० "संगमरमर"।

बोलचाल में पत्थर शब्द का प्रयोग अत्यंत कड़ी अथवा भारी, गतिशून्य अथवा अनुभूतिशून्य वस्तु, दयाकरुणाहीन, अत्यंत जड़बुद्धि अथवा परम कृपण व्यक्ति आदि के संबंध में होता है।

पर्या०—पाषाण । प्रावन । उपल । अरमन् । दपत । पादाहक काचक । शिला ।

यौ०—पत्थरकला । पत्थरचटा । पत्थरफोड़ा ।

मुहा०—पत्थर का कलेजा, दिल या हृदय = अत्यंत कठोर हृदय । वह हृदय जिसमें दया, कृपा आदि कोमल वृत्तियों का स्थान न हो । किसी के दुःख पर न पसीजनेवाला दिल या हृदय । पत्थर का छपा = (१) छपाई का वह प्रकार जिसमें ढले हुए अक्षरों से नहीं काम लिया जाता, बल्कि छापे जानेवाले लेख की एक पत्थर पर प्रतिलिपि उतारी जाती है और उठी पत्थर के ऊपर कागज रखकर छापते हैं । लीथोग्राफ । लीथो की छपाई । विशेष—दे० “प्रेस” । (२) पत्थर के छापे में छपा हुआ विषय या लेख । पत्थर के छापे का काम । पत्थर के छापे की छपाई । जैसे, (किसी पुस्तक की छपाई के विषय में) यह तो पत्थर का छपा है । पत्थर की छाती = कभी न टूटनेवाली हिम्मत अथवा कभी न हारने वाला दिल । असफलता या कष्ट से विचलित न होनेवाला हृदय । बलवान् और दृढ़ हृदय । मजबूत दिल । पक्की तबीयत । जैसे, सचमुच उस मनुष्य की पत्थर की छाती है, इतना भारी दुःख सह लिया, आह तक नहीं की । पत्थर की लकीर = सदा सर्वदा बनी रहनेवाली (वस्तु) । सर्वकालिक । अमिट । पक्का । स्थायी । जैसे, ओछों की मित्रता पानी की लकीर और सज्जनों की मित्रता पत्थर की लकीर है । (कहावत) । पत्थर को जोंक लगाना = अनहोनी या असंभव बात करना । वह कार्य करना जो औरों के लिये असाध्य हो । जैसे, अत्यंत कृपण से दान दिलाना, अत्यंत निर्दय के हृदय में दया उत्पन्न कर देना, वज्रमूर्ख को समझा देना आदि । पत्थर चटाना = पत्थर पर विसकर धार तेज करना । छुरी, कटार आदि की धार पत्थर पर रगड़ कर तेज करना । पत्थर तले हाथ आना = ऐसे संकट में फँस जाना जिससे छूटने का उपाय न दिखाई पड़ता हो । छुरी तरह फँस जाना । भारी संकट में फँस जाना । पत्थर तले हाथ दबना = दे० “पत्थर तले हाथ आना” । पत्थर तले से हाथ निकालना = संकट या मुसीबत से छूटना । पत्थर निचोड़ना = (१) जो वस्तु जिससे मिलना असंभव हो वह वस्तु उससे प्राप्त करना । किसी से उसके स्वभाव के अत्यंत विरुद्ध कार्य करना । (२) अनहोनी बात या असंभव कार्य करना । (विशेष—इस मुहावरे का प्रयोग विशेषतः कृपण के मन में दान की इच्छा या निर्दय के हृदय में दया का भाव उत्पन्न करने के अर्थ में होता है ।) पत्थर पर दूब जमना = अनहोनी बात या असंभव काम होना । ऐसी बात होना जिसके होने की आशा सर्वथा छोड़ दी गई हो । जैसे, बंध्या समझी जानेवाली के पुत्र होना आदि । पत्थर पसीजना = अनहोनी बात होना । अत्यंत कठोर चित्त में नरमी,

कृपण के मन में दानेच्छा, अत्याचारी के मन में दया उत्पन्न होना आदि । जैसे, तीन वर्ष की तपस्या से यह पत्थर पसीजा है । पत्थर पिघलना = दे० “पत्थर पसीजना” । पत्थर मारे भी न मरना = मरने के कारण या सामान होने पर भी न मरना । बेहयाई से जीना । निहायत सख्त जान होना । पत्थर ला खींच या फेंक मारना = बहुत कड़ी बात कहना या उत्तर देना । ऐसी बात कहना जो सुननेवाले को असह्य हो । लट्टमार बात कहना या उत्तर देना । पत्थर से सिर फोड़ना या मारना = असंभव बात के लिये प्रयत्न करना । व्यर्थ सिर खपाना । अत्यंत मूर्ख को समझाने में श्रम करना ।

(२) सड़क के किनारे गड़ा हुआ वह पत्थर जिसपर मील के संख्यासूचक अंक खुदे होते हैं । सड़क की नाप सूचित करनेवाला पत्थर । मील का पत्थर । जैसे, तीन घंटे से हम लोग चल रहे हैं, लेकिन सिर्फ चार पत्थर आए हैं । (३) ओला । बिनौली । इंद्रोपल ।

क्रि० प्र०—गिरना ।—पड़ना ।

मुहा०—पत्थर पड़ना = (१) चौपट हो जाना । नष्ट भ्रष्ट हो जाना । मारा जाना । जैसे, तुम्हारी बुद्धि पर पत्थर पड़ गया है । (२) कुछ न पाना । मनोरथ भंग होने का सामान मिलना । सियापा पड़ जाना या पड़ा पाना । जैसे, भाग्य की बात है कि जहाँ जहाँ जाता हूँ वहीं पत्थर पड़ जाते हैं । पत्थर पड़े = चौपट हो जाय । नष्ट हो जाय । मारा जाय । ईश्वर का कोप पड़े । (अभिशाप और अकसर तिरस्कार या निंदा के अर्थ में भी बोलते हैं । जैसे, पत्थर पड़े ऐसी ओछी समझ पर) । पत्थर पानी = महाभूतों को प्रतिकूलता अथवा प्रकोप का काल । आँधी पानी आदि का काल । दुफानी समय । जैसे, भन्ना इस पत्थर पानी में कौन जान देने जायगा ?

(४) रत्न । जवाहिर । हीरा, लाल, पद्मा आदि । (५) पत्थर का सा स्वभाव रखनेवाली वस्तु । पत्थर की तरह कठोर, भारी अथवा हटने गलने आदि के अयोग्य वस्तु । जैसे, अत्याचारी का हृदय, जड़बुद्धि का मस्तिष्क, बड़ा ऋण, दुर्जर भोज्य आदि ।

क्रि० प्र०—बनना ।—बन जाना ।—होना ।

(६) कुछ नहीं । बिलकुल नहीं । खाक । (तुच्छता या तिरस्कार के साथ अभाव सूचित करता है) । जैसे, (क) तुम इस किताब को क्या पत्थर समझोगे । (ख) वहाँ क्या पत्थर रखा है ?

पत्थरकला—संज्ञा पुं० [हिं० पत्थर + कल] पुरानी चाल की बंदूक जिसमें बारूद सुझगाने के लिये चकमक पत्थर लगा रहता था । तोड़ेदार या पलीतेदार बंदूक । चाँपदार बंदूक । विशेष—दे० “बंदूक” ।

पत्थरफूल-संज्ञा पुं० [हिं० पत्थर + फूल] छुरीला । शैलाख्य ।

पत्थरचटा-संज्ञा पुं० [हिं० पत्थर + अनु० चट चट । या हिं० चाटना] (१) एक प्रकार की घास जिसकी टहनियाँ नरम और पतली होती हैं । इसकी पत्ती को लड़के मुट्ठी के गड्ढे के मुँह पर मारते हैं तो चट चट शब्द होता है ।

(२) एक प्रकार का साँप जो पत्थर चाटता है ।

(३) एक प्रकार की मछली जो सामुद्रिक चट्टानों से चिपटी रहती है । (४) कंजूस । मक्खीचूस ।

वि०-जो घर की चारदीवारी से बाहर न निकला हो । कृपमंडक ।

पत्थरचूर-संज्ञा पुं० [हिं० पत्थर + चूर] एक प्रकार का पौधा ।

पत्थरफोड़-संज्ञा पुं० [हिं० पत्थर + फोड़ना] हुबहुद पत्ती ।

पत्थरफोड़ा-संज्ञा पुं० [हिं० पत्थर + फोड़ना] पत्थर तोड़ने का पेशा करनेवाला । संगतराश ।

पत्थरबाज-संज्ञा पुं० [हिं० पत्थर + बाज = खेलनेवाला] (१)

पत्थर फेंक कर किसी को मारनेवाला । (२) वह जो प्रायः

पत्थर या ढेला फेंका करे । (३) वह जिसे पत्थर फेंकने का अभ्यास हो । ढेलवाह ।

पत्थरबाजी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पत्थरबाज] पत्थर फेंकने की क्रिया । पत्थर फेंकाई । ढेलवाही ।

पत्थला-संज्ञा पुं० दे० “पत्थर” ।

पत्नी-संज्ञा स्त्री० [सं०] विधिपूर्वक विवाहिता स्त्री । वह स्त्री जिसके साथ किसी पुरुष का शास्त्र की रीति से विवाह हुआ हो ।

पर्या०-जाया । भार्या । दयिता । कलत्र । वधू । सहधर्मिणी ।

दारा । दार । गृहिणी । पाणिगृहीता । चेत्र । ननि । सहचरी । गृह ।

पत्निमंत्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक मंत्र ।

पत्नियूप-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ में देवपत्नियों के लिये निश्चित स्थान ।

पत्नीव्रत-संज्ञा पुं० [सं०] अपनी विवाहिता स्त्री के अतिरिक्त और किसी स्त्री से गमन न करने का संकल्प या नियम ।

पत्नीशाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] यज्ञ में वह गृह जो पत्नी के लिये बनाया जाता है । यह यज्ञशाला के पश्चिम ओर होता है ।

पत्नी संयाज, पत्नी संयाजन-संज्ञा पुं० [सं०] विवाह के पश्चात् होनेवाला एक वैदिक कर्म ।

पत्य-संज्ञा पुं० [सं०] पति होने का भाव । जैसे, सैनपत्य ।

पत्याना-संज्ञा पुं० दे० “पतिग्राना” । उ०-दरसत अति सुकुमार तन परसत मन न पत्यात ।-विहारी ।

पत्यारा-संज्ञा पुं० दे० “पतिग्रारा” । उ०-(क) नैनन ते निभुरथो परै नेह रुखाई के बैनन कौन पत्यारो ।-देव ।

(ख) पी को उठाय कछो हिय लाय कै है कहटीन को कौन पत्यारो ।-देव ।

पत्यारी-संज्ञा स्त्री० [सं० पंक्ति] पंक्ति । कतार । उ०-(क) चूनरी सी छिति मानो बिछी इमि सोहति इंदुवधू की पत्यारी ।-द्विजदेव । (ख) अवलोकति इंदुवधू की पत्यारी, विलोकति है खिन कारी घटा ।-द्विजदेव ।

पत्योरा-संज्ञा पुं० [हिं० पत्ता + और (प्रत्य०)] एक पकवान जो अच्छू को पत्तों को पीठी में लपेट कर धी या तेज में तलने से तैयार होता है । एक प्रकार का रिकवच ।

पत्रंग-संज्ञा पुं० [सं०] पत्रंग नाम की लकड़ी या पेड़ । बकम ।

पत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी वृक्ष का पत्ता । पत्ती । दल । पर्ण ।

यौ०-पत्रपुष्प ।

(२) वह वस्तु जिस पर कुछ लिखा हो । लेखाधार । लिखा हुआ कागज ।

विशेष-कागज का आविष्कार होने के पहले बहुत दिनों तक भारतवर्ष में ताड़ के पत्तों पर लेख, पुस्तकें आदि लिखी जाती थीं । इसी अभ्यासवश लेखयुक्त कागज, ताम्रपत्र आदि को भी लोग पत्र कहने लगे ।

(३) वह कागज या ताम्रपत्र आदि जिस पर किसी विशेष व्यवहार के प्रमाण-स्वरूप कुछ लिखा गया हो । वह कागज जिसपर किसी खास मामले की सनद या सबूत के लिये कुछ लिखा हो । जैसे, दानपत्र, प्रतिज्ञापत्र आदि ।

क्रि० प्र०-लिखना ।

(४) वह लेख जो किसी व्यवहार या घटना के प्रमाण या सनद के लिये लिखा गया हो । कोई बसीका, पट्टा या दस्तावेज ।

क्रि० प्र०-लिखना ।

(५) चिट्ठी । पत्री । खत ।

क्रि० प्र०-लिखना ।

(६) समाचारपत्र । खबर का कागज । अखबार

क्रि० प्र०-चलाना ।-निकालना ।

यौ०-पत्रसंपादक ।

(७) पुस्तक या लेख का एक पन्ना । पृष्ठ । सफा । पन्ना । (८) धातु की चदर । पत्तर । वरक । जैसे, स्वर्णपत्र । (९) तीर या पत्ती के पंख । पन् । (१०) तेजपात । (११) चिट्ठिया । पत्रेक । (१२) कोई वाहन या सवारी । जैसे, रथ, बहज, घोड़ा, जूट आदि ।

पत्रक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पत्ता । (२) पत्तों की लड़ी । पत्रावली । (३) शांतिशाक । (४) तेजपत्ता ।

पत्रकच्छ-संज्ञा पुं० [सं०] एक व्रत जिसमें पत्तों का काड़ा पीकर रखा जाता है ।

पत्रगुप्त-संज्ञा पुं० [सं०] तिघारा । थूहर । त्रिकंटक ।

पत्रघ्ना-संज्ञा स्त्री० [सं०] सेंहुड़ । थूहर ।

पत्रज-संज्ञा पुं० [सं०] तेजपात ।

पत्रतंडुली-संज्ञा स्त्री० [सं०] यवतिक्ता लता ।

पत्रतरु-संज्ञा पुं० [सं०] दुर्गंध खैर ।

पत्रतालक-संज्ञा पुं० [सं०] वंशपत्र हरताल ।

पत्रदुम-संज्ञा पुं० [सं०] ताड़ का पेड़ ।

पत्रनाडिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] पत्ते की नस ।

पत्रपाल-संज्ञा पुं० [सं०] लंबा छुरा या कटार ।

पत्रपाली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बाण का पिछला भाग ।

(२) कैची । कतरनी ।

पत्रपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लाल तुलसी । (२) एक विशेष प्रकार की तुलसी जिसकी पत्तियाँ छोटी छोटी होती हैं ।

(३) किसी के सत्कार या पूजा की बहुत मामूली सामग्री । लघु उपहार । छोटी भेंट । उ०—मेरा पत्रपुष्प स्वीकार कर मुझे कृतार्थ कीजिए ।

पुत्रपुष्पक-संज्ञा पुं० [सं०] भोजपत्र ।

पत्रपुष्पा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) तुलसी । (२) छोटे पत्ते की तुलसी ।

पत्रभंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वे चित्र या रेखाएँ जो सौंदर्य-वृद्धि के लिये स्त्रियाँ कस्तूरी केसर आदि के लेप अथवा सुनहले रुपहले पत्तों के टुकड़ों से भाव, कपोल, आदि पर बनाती हैं । माथे और गाल पर की जानेवाली चित्रकारी अथवा बेल बूटे । साटी । (२) पत्रभंग बनाने की क्रिया ।

पत्रभंगि, पत्रभंगी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दे० “पत्रभंग” ।

पत्रभद्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का पौधा ।

पत्रमंजरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का तिलक जो पत्रयुक्त मंजरी के आकार का होता है ।

पत्रयौवन-संज्ञा पुं० [सं०] नया पत्ता । पल्लव । कोंपल ।

पत्ररचना-संज्ञा स्त्री० [सं०] पत्रभंग ।

पत्ररथ-संज्ञा पुं० [सं०] पत्नी । चिड़िया ।

पत्ररेखा-संज्ञा स्त्री० [सं०] दे० “पत्ररचना” ।

पत्रलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह लता जिसमें प्रायः पत्ता ही पत्ता हो । (२) पत्रभंग । साटी ।

पत्रलवण-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का नमक जो पुरंद, मोरवा, अडूसा, कंज, अमिलतास और चीते के हरे पत्तों से निकाला जाता है । इन सब पत्तों को खरल में कूट कर घी या तेल के किसी बरतन में रखते और ऊपर से गोबर लीप कर आग में जलाते हैं । यह नमक वात रोगों में लाभकारक होता है ।

पत्रलेखा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पत्रभंग । साटी ।

पत्रवल्ली-संज्ञा स्त्री० [सं०] पत्रभंग । साटी ।

पत्रवल्ली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शंकरजटा । (२) पान । (३) पलाशी लता । (४) पर्ण लता ।

पत्रवाज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पत्नी । चिड़िया । (२) बाण । तीर ।

पत्रवाह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हरकारा । चिट्ठीरसा । (२) बाण । तीर । (३) पत्नी । चिड़िया ।

पत्रवाहक-संज्ञा पुं० [सं०] पत्र ले जानेवाला । चिट्ठीरसा । हरकारा ।

पत्रविशेषक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) तिलक । (२) पत्रभंग । साटी ।

पत्रविष-संज्ञा पुं० [सं०] पत्रों से निकलनेवाला विष ।

पत्रवृश्चिक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का छोटा उड़नेवाला कीड़ा जिसके काटने से बड़ी जलन होती है । पतविडिया । पनविडिया ।

पत्रवेष्ट-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) तरकी । ताटक । (२) करन-फूल नाम का कान में पहनने का गहना ।

पत्रव्यवहार-संज्ञा पुं० [सं०] चिट्ठी लिखते और उत्तर पाते रहने की क्रिया या भाव । चिट्ठी आने जाने का क्रम । लिखा-पढ़ी । खत-किताबत । जैसे, साल भर से मैं उनसे पत्रव्यवहार कर रहा हूँ ।

पत्रशवर-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल की एक अनार्य जाति ।

पत्रशाक-संज्ञा पुं० [सं०] वह पौधा जिसके पत्तों का साग बना कर खाया जाता हो । जैसे, पालक, चौलाई ।

पत्रशिरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पत्ते की नस ।

पत्रभृंगी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मूसाकानी नाम की लता ।

पत्रश्रेणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मूसाकानी । (२) पत्तों की पंक्ति । पत्रावली ।

पत्रश्रेष्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] बेल का पत्ता । विल्वपत्र ।

पत्रसूची-संज्ञा स्त्री० [सं०] काँटा । कंटक ।

पत्रांग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लाल चंदन । (२) पतंग । बकम । (३) भोजपत्र । (४) कमलगट्टा ।

पत्रा-संज्ञा पुं० [सं० पत्र] (१) तिथिपत्र । जंत्री । पंचांग । उ०—पत्रा ही तिथि पाइए वा घर के चहुँ पास ।—विहारी । (२) पत्रा । वकै । पृष्ठ । सफहा ।

पत्राख्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) तेजपात । (२) तालीश पत्र ।

पत्राढ्य-संज्ञा पुं० [सं०] (२) पीपलामूल । (१) पर्वतरुण । (३) तृणाख्य । (४) पतंग । बकम । (५) नरसल । (६) तालीश पत्र ।

पत्रान्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पतंग । (२) लाल चंदन ।

पत्रालु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कासालु । (२) इन्द्रधनु ।

पत्रावली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पत्ररचना । साटी । उ०—

रचि पत्रावलि माँग सिंदूरी । भरि मोतिन औ मानिक पूरी ।—जायसी । (२) गेरु । (३) पत्रों की पंक्ति या श्रेणी ।

पत्रिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चिट्ठी । खत । (२) कोई छोटा लेख या लिपि । जैसे, जन्मपत्रिका, लग्नपत्रिका आदि । (३) कोई सामयिक पत्र या पुस्तक । समाचारपत्र । अखबार । रिसाला ।

पत्रिकाख्य—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कपूर । पर्णकपूर । पानकपूर ।

पत्रिणी—संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ा पत्ता । पल्लव । कोपल ।

पत्री—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चिट्ठी । खत । (२) कोई छोटा लेख या लिपिपत्रिका । जैसे, जन्मपत्री, लग्नपत्री । (३) दोना । (४) धमासा । हिंनुवा । जवसा । (५) खैर का पेड़ । (६) ताड़ । (७) महा तेजपत्र । वि० [सं० पत्रिन्] जिसमें पत्ते हों । पत्रयुक्त । पत्रविशिष्ट । संज्ञा पुं० (१) बाण । तीर । (२) पक्षी । चिड़िया । (३) श्येन । बाज । (४) वृक्ष । पेड़ । (५) रथी । (६) पर्वत । पहाड़ । (७) ताड़ ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पत्तर] हाथ में पहनने का जहाँगीरी नाम का गहना ।

पत्रोपस्कर—संज्ञा पुं० [सं०] कलौदी ।

पत्रोर्ण—संज्ञा पुं० [सं०] सोनापाठा ।

पथ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मार्ग । रास्ता । राह । (२) व्यवहार या कार्य आदि की रीति । विधान । उ०—व्यास सुमन पथ अनुसरै सोई भले पहिचानिहै ।—नाभादास ।

संज्ञा पुं० [सं० पथ्य] रोग के लिये उपयुक्त हलका आहार । पथ्य । जूस । उ०—मोहन जौ दग जिहि मतन उमकाई दै जाय । ज्यौं थोरौ पथ देत हैं वैद रोगियै आय ।—रसनिधि ।

पथक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पथ जानने या बतलानेवाला । (२) प्रांत ।

पथकल्पना—संज्ञा पुं० [सं०] इंद्रजाल । जादू का खेल ।

पथगामी—संज्ञा पुं० [सं० पथगामिन्] रास्ता चलनेवाला । पथिक ।

पथचारी—संज्ञा पुं० [सं० पथचारिन्] रास्ता चलनेवाला ।

पथदर्शक—संज्ञा पुं० [सं०] राह दिखलानेवाला । रास्ता बतलानेवाला ।

पथनार—संज्ञा स्त्री० [हिं० पाथना] (१) गोबर के उपले बनाना या धापना । पाथना । (२) पीटने या मारने की क्रिया ।

पथप्रदर्शक—संज्ञा पुं० [सं०] मार्गदर्शक । रास्ता दिखानेवाला ।

पथरकला—संज्ञा पुं० [हिं० पत्थर या पथरी + कला] एक प्रकार की बंदूक या कड़ाबीन जो चकमक पत्थर के द्वारा अग्नि उत्पन्न करके चलाई जाती थी । वह बंदूक जिसकी कल बा घोड़े में

पथरी लगी रहती हो । इस प्रकार की बंदूक का व्यवहार पहले होता था ।

पथरचटा—संज्ञा पुं० [हिं० पत्थर + चाटना] (१) पाषाणभेद या पखानभेद नाम की ओषधि । (२) एक प्रकार की छोटी मछली जो भारत और लंका की नदियों में पाई जाती है । इसकी लंबाई प्रायः एक बालिशत होती है ।

पथरना—क्रि० सं० [हिं० पत्थर + ना (प्रत्य०)] औजारों को पत्थर पर रगड़ कर तेज करना ।

पथराना—क्रि० अ० [हिं० पत्थर + आना (प्रत्य०)] (१) सूख कर पत्थर की तरह कड़ा हो जाना । (२) ताज़गी न रहना । नीरस और कठोर हो जाना । (३) स्तब्ध हो जाना । जड़ हो जाना । सजीव न रहना । जैसे, आँखें पथराना ।

पथरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पत्थर + ई (प्रत्य०)] (१) कटोरे या कटोरी के आकार का पत्थर का बना हुआ कोई पात्र । (२) एक प्रकार का रोग जिसमें मूत्राशय में पत्थर के छोटे बड़े कई टुकड़े उत्पन्न हो जाते हैं । ये टुकड़े मूत्रोत्सर्ग में बाधक होते हैं जिसके कारण बहुत पीड़ा होती है और मूत्रोद्विग्न में कभी कभी घाव भी हो जाता है । मूत्राशय के अतिरिक्त यह रोग कभी कभी गले फेफड़े और गुरदे में भी होता है । (३) चकमक पत्थर जिस पर चोट पड़ने से तुरंत आग निकल आती है । (४) पत्थर का वह टुकड़ा जिस पर रगड़ कर उस्तरे आदि की धार तेज करते हैं । सिल्ली । (५) कुरंड पत्थर जिसके चूर्ण को लाख आदि में मिलाकर औजार तेज करने की सान बनाते हैं । (६) पत्थियों के पेट का वह पिछला भाग जिसमें अनाज आदि के बहुत कड़े दाने जाकर पचते हैं । पेट का यह भाग बहुत ही कड़ा होता है । (७) एक प्रकार की मछली । (८) जायफल की जाति का एक वृक्ष जो कोंकण और उसके दक्षिणी प्रांत के जंगलों में होता है । इस वृक्ष की लकड़ी साधारण कड़ी होती है और इमारत बनाने के काम में आती है । इसमें जायफल से मिलते जुलते फल लगते हैं जिन्हें उबालने या पेरने से पीले रंग का तेल निकलता है । यह तेल औषध के काम में भी आता है और जलाने के काम में भी ।

पथरीला—वि० [हिं० पत्थर + ईला (प्रत्य०)] [स्त्री० पथरीली] पत्थरों से युक्त । जिसमें पत्थर हों । जैसे, पथरीली जमीन ।

पथरौटी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पत्थर + औटी (प्रत्य०)] पत्थर की कटोरी । पथरी । कूड़ी ।

पथरौड़ा—संज्ञा पुं० दे० “पथौरा” ।

पथिक—संज्ञा पुं० [सं०] मार्ग चलनेवाला । यात्री । मुसाफिर । राहगीर ।

पथिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] मुनका ।

पथिकाश्रय—संज्ञा पुं० [सं०] पथिकों के रहने का स्थान । धर्मशाला ।

पथिचक्र-संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष में एक चक्र जिससे यात्रा का शुभ और अशुभ फल जाना जाता है।

पथिदेय-संज्ञा पुं० [सं०] वह कर जो किसी विशिष्ट पथ पर चलनेवालों से लिया जाता है।

पथिद्रुम-संज्ञा पुं० [सं०] खैर का पेड़।

पथी-संज्ञा पुं० [सं० पथिन्] रास्ता चलनेवाला। मुसाफिर। यात्री। पथिक।

पथीय-वि० [सं०] (१) पथ-संबंधी। (२) संप्रदाय-संबंधी।

पथु-* † संज्ञा पुं० [सं० पथ] पथ। मार्ग। रास्ता। राह।

३०-विधि करतव्य विपरीत वाम गति राम प्रेम पथु न्यारो।-तुजसी।

पथेरा-संज्ञा पुं० [हिं० पायना + परा (प्रत्य०)] इंटें पाथने-वाला, कुम्हार।

पथौरा-संज्ञा पुं० [हिं० पायना + औरा (प्रत्य०)] वह स्थान जहाँ उपले पाये जाते हैं। गोबर पाथने की जगह।

० [सं०] (१) चिकित्सा के कार्य अथवा रोगी के लिये हितकर वस्तु, विशेषतः आहार। वह हलका और जल्दी पचनेवाला खाना जो रोगी के लिये लाभदायक हो। उपयुक्त आहार। उचित आहार।

क्रि० प्र०-देना।-लेना।

मुहा०-पथ से रहना=संयम से रहना। परहेज से रहना।
(२) सेंधा नमक। (३) छोटी हड़ का पेड़। (४) हित। मंगल। कल्याण।

पथ्यका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मेथी।

पथ्यशाक-संज्ञा पुं० [सं०] चौई का साग।

पथ्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हरीतकी। हड़। (२) बन-ककड़ा। (३) आयुर्वा छंद का एक भेद जिसके और कई अवांतर भेद हैं। (४) सेंधनी। (५) चिर्भिता। (६) गंगा।

पथ्यादिकाथ-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का पाचक काढ़ा जो त्रिफला, गुडुच, हलदी, चिरायते और नीम आदि को उबाल कर बनाया जाता है।

पथ्यापंक्ति-संज्ञा पुं० [सं०] पाँच पदों का एक प्रकार का वैदिक छंद जिसके प्रत्येक पाद में आठ आठ वर्ण होते हैं।

पद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) व्यवसाय। काम। (२) त्राण। रक्षा। (३) योग्यता के अनुसार नियत स्थान। दर्जा। (४) चिह्न। निशान। (५) पैर। पाँव। (६) वस्तु। चीज। (७) शब्द। (८) प्रदेश। (९) पैर का निशान। (१०) श्लोक वा किसी छंद का चतुर्थीश। श्लोकपाद। (११) उपाधि। (१२) मोक्ष। निर्वाण। (१३) ईश्वर भक्ति संबंधी गीत। भजन। (१४) पुराणानुसार दान के लिये, जूते, छाते, कपड़े, अँगूठी, कमंडलु, आसन, वस्त्र और भोजन का समूह। जैसे, ५ ब्राह्मणों को पददान मिला है।

पदक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक गोत्रप्रवर्त्तक ऋषि का नाम। (२)

एक प्रकार का गहना जिसमें किसी देवता के पैरों के चिह्न अंकित होते हैं, और जो प्रायः बालकों को रक्षा के लिये पहनाया जाता है। (३) पूजन आदि के लिये किसी देवता के पैरों के बनाए हुए चिह्न। (४) वह जो वेदों का पदपाठ करने में प्रवीण हो। (५) सोने चाँदी या किसी और धातु का बना हुआ सिक्रे की तरह का गोल या चौकोर टुकड़ा जो किसी व्यक्ति अथवा जनसमूह को कोई विशेष अच्छा या अद्भुत कार्य करने के उपलक्ष में दिया जाता है। इस पर प्रायः दाता और गृहीता का नाम तथा दिए जाने का कारण और समय आदि अंकित रहता है। यह प्रशंसासूचक और योग्यता का परिचायक होता है।

पदग-संज्ञा पुं० [सं०] पैदल चलनेवाला। प्यादा।

पदचतुरर्द्ध-संज्ञा पुं० [सं०] विषम वृत्तों का एक भेद जिसके प्रथम चरण में ८, दूसरे में १२, तीसरे में १६ और चौथे में २० वर्ण होते हैं। इसमें गुरु लघु का नियम नहीं होता। इसके अपीड़ प्रत्यापीड़, मंजरी, लवली और अमृतधारा ये पाँच अवांतर भेद होते हैं।

पदचर-संज्ञा पुं० [सं०] पैदल। प्यादा।

पदचारी-वि० [सं०] पैदल चलनेवाला।

पदचिह्न-संज्ञा पुं० [सं०] वह चिह्न जो चलने के समय पैरों से जमीन पर बन जाता है।

पदच्छेद-संज्ञा पुं० [सं०] संधि और समासयुक्त किसी वाक्य के प्रत्येक पद को व्याकरण के नियमों के अनुसार अलग अलग करने की क्रिया।

पदच्युत-वि० [सं०] जो अपने पद या स्थान से हट गया हो। अपने स्थान से हटा या गिरा हुआ। जैसे, किसी राजकर्मचारी का पदच्युत होना।

पदच्युति-संज्ञा स्त्री० [सं०] अपने पद से हटने या गिरने की अवस्था।

पदज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पैर की उँगलियाँ। (२) शूद्र। वि० [सं०] जो पैर से उत्पन्न हो।

पदतल-संज्ञा पुं० [सं०] पैर का तलवा।

पदत्याग-संज्ञा पुं० [सं०] अपने पद या ओहदे को छोड़ने की क्रिया।

पदत्राण-संज्ञा पुं० [सं०] पैरों की रक्षा करनेवाला, जूता।

पदत्रान-संज्ञा पुं० दे० "पदत्राण"।

पदत्री-संज्ञा पुं० [सं०] पत्नी। चिड़िया। (अनेकार्थ)।

पददलित-वि० [सं०] (१) पैरों से रौंदा हुआ। पैरों से कुचला हुआ। (२) जो दबाकर बहुत हीन कर दिया गया हो।

पददारिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] बिवाई नाम का पैर का रोग।

पदन्यास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पैर रखना। चलना। गमन।

करना। कदम रखना। ड०—सृष्टु पदव्यास मंद मलय-
निल विगलत शीश निचोल।—सूर। (२) पैर रखने की एक
सुद्धा। (३) चलन। ढंग। (४) पद रचने का काम।
(५) गोलरु।

पदपंक्ति—संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक छंद जिसके पाँच पाद
होते हैं और प्रत्येक पाद में पाँच वर्ण होते हैं।

पदपलटी—संज्ञा स्त्री० [सं० पद + हिं० पलटना] एक प्रकार
का नाच।

पदम—संज्ञा पुं० दे० “पद्म”।

संज्ञा पुं० [सं० पद्मकाष्ठ] बादाम की जाति का एक
जंगली पेड़ जो सिंधु से आसाम तक २५०० से ७००० फुट
की ऊँचाई तक तथा खासिया की पहाड़ियों और उत्तर बरमा
में अधिकता से पाया जाता है। कहीं कहीं यह पेड़ लगाया
भी जाता है। इसमें बहुत अधिक गोंद निकलता है जो
किसी काम में नहीं लाया जाता। इसमें एक प्रकार का फल
होता है जिसमें से कड़ुए बादाम के तेल की तरह का तेल
निकलता है। इन फलों को लोग कहीं कहीं खाते और कहीं
फकीर लोग उनकी मालाएँ बनाकर गले में पहनते हैं। यह
फल शराब बनाने के लिये विज्ञायत भी भेजा जाता है। इस
वृक्ष की लकड़ी छड़ियाँ और आरायशी सामान बनाने के
काम में आती है। कहते हैं कि गर्भ न रहता हो तो इसकी
लकड़ी घिसकर पीने से गर्भ रह जाता है और यदि गर्भ
गिर जाता है तो स्थिर हो जाता है। वैद्यक के अनुसार
इसकी लकड़ी ठंडी, कड़वी, कसैली, हलकी, वादी, रक्तपित्त-
नाशक, दाह उबर कोढ़ और विस्फोटक आदि को दूर करने-
वाली और रुचिकारक मानी गई है। अमलगुच्छ। पद्माख।

पर्या०—पद्मक। मलय। पीतक। सुप्रभ। पीतक। शीतल।
हिम। शुभ। केदारज। पद्मगंधि। शीतवीर्य।

पदमकाष्ठ—संज्ञा पुं० दे० “पद्म”।

पदमचल—संज्ञा पुं० [देश०] रेवंद चीनी।

पदमण—संज्ञा स्त्री [सं० पद्मिनी] स्त्री। (हिं०)

पदमनाभ—संज्ञा पुं० [सं० पद्मनाभ] (१) विष्णु। (२) सूर्य।
(हिं०)

पदमाकर—संज्ञा पुं० [सं० पद्माकर] तालाब। (हिं०)

पदमूल—संज्ञा पुं० [सं०] पैर का तलवा।

पदमैत्री—संज्ञा स्त्री० [सं०] किसी कविता में एक ही शब्द या अक्षर
का इस प्रकार बार बार आना जिसमें उसमें एक प्रकार का
धमकार आ जाय। अनुप्रास। वर्णमैत्री। वर्णसाभ्य।
जैसे, मल्लिकान मंजुल मल्लिन्द मतवारे मिले मंद मंद
मारुत मुहीम मनसा की है।

पदरमी—संज्ञा पुं० [सं० पद्मी] हाथी। (हिं०)

पदयोजना—संज्ञा स्त्री० [सं०] कविता के लिये पदों का जोड़ना।
पद बनाने के लिये शब्दों को मिलाना।

पदर—संज्ञा पुं० [देश०] (१) एक प्रकार का पेड़। (२) ड्योढ़ी-
दारों के बैठने का स्थान। (हिं०)

पदरिपु—संज्ञा पुं० [सं० पद + रिपु] कंटक। काँटा। उ०—पदरिपु
पर अटक्यो आतुर ज्यों उलटत पलट मरी।—सूर।

पदवाद्य—संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का ढोल।

पदवाना—क्रि० सं० [हिं० पदाना का प्रे०] ‘पदाना’ का प्रेरणा-
र्थक रूप। पदाने का काम दूसरे से कराना।

पदवी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पंथ। रास्ता। (२) पद्वति।
परिपाटी। तरीका। (३) वह प्रतिष्ठा या मानसूचक पद जो
राज्य अथवा किसी संस्था आदि की ओर से किसी योग्य
व्यक्ति को मिलता है। उपाधि। खिताब। जैसे, राजा, राय
बहादुर, डाक्टर, महामहोपाध्याय आदि।

विशेष—पदवी नाम के पहले अथवा पीछे लगाई जाती है।

(४) ओहदा। दरजा।

पदस्थ—वि० [सं०] (१) जो अपने पैरों के बल खड़ा हो। (२)
जो पैरों के बल चल रहा हो। (३) जो किसी पद पर नियुक्त
हो।

पदांक—संज्ञा पुं० [सं०] पैरों का चिह्न जो प्रायः चलने के
कारण बालू या कीचड़ आदि पर बन जाता है।

पदांगी—संज्ञा स्त्री० [सं०] लाल रंग का लज्जालू।

पदात—* संज्ञा पुं० दे० “पदाति”।

पदाति—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो पैदल चलता हो। प्यादा।
(२) पैदल सिपाही। (३) नौकर। सेवक। (४) जनमेजय
के एक पुत्र का नाम।

पदातिक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो पैदल चलता है। (२)
पैदल सिपाही।

पदादिका—संज्ञा पुं० [सं० पदातिक] पैदल सेना। उ०—प्रभु-
कर सेन पदादिका बालक राजसमाज।—तुलसी।

पदाधिकारी—संज्ञा पुं० [सं०] वह जो किसी पद पर नियुक्त हो।
ओहदेदार। अफसर।

पदाध्ययन—संज्ञा पुं० [सं०] पद-पाठ के अनुसार वेद का पठन।

पदाना—क्रि० सं० [हिं० पदाना का प्रे०] (१) पदाने का काम
दूसरे से कराना। (२) बहुत अधिक दिक करना। तंग करना।
छकाना। जैसे, क्यों उसे बार बार पदाते हो।

पदानुग—संज्ञा-पुं० [सं०] वह जो किसी का अनुगमन करता
हो। अनुकरण करनेवाला। अनुयायी।

पदार—संज्ञा पुं० [सं०] पैरों की धूल। उ०—आरद होत पहा-
रद पारस पारद पुण्य पदारन हूँ मैं।—देव।

पदार्थ—संज्ञा पुं० [सं०] वह जल जो किसी अतिथि या पूज्य
को पैर धोने के लिये दिया जाय।

पदार्थ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पद का अर्थ। शब्द का विषय।

वह जिसका कोई नाम हो और जिसका ज्ञान प्राप्त किया जा सके। (२) उन विषयों में कोई विषय जिनका किसी दर्शन में प्रतिपादन हो और जिनके संबंध में यह माना जाता हो कि उनके ज्ञान द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है।

विशेष—वैशेषिक दर्शन के अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये छः पदार्थ हैं और इन्हीं छः पदार्थों का उसमें निरूपण है। कुल चीजें इन्हीं छः पदार्थों के अंतर्गत मानी गई हैं। ये छः “भाव” पदार्थ हैं और “भाव” की विद्यमानता में “अभाव” का होना भी स्वाभाविक है। अतः नवीन वैशेषिकों ने इन सब पदार्थों के विपरीत एक नया और सातवाँ पदार्थ “अभाव” भी मान लिया है। इसके अतिरिक्त कुछ और लोगों ने “तम” अथवा अंधकार को भी एक पदार्थ माना है। परंतु अंधकार वास्तव में प्रकाश का अभाव ही होता है, इसलिये स्वयं अंधकार कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं हो सकता। विशेष—दे० “वैशेषिक”। गौतम के न्यायसूत्र में सोलह पदार्थ कहे गए हैं जिनके नाम ये हैं—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान। नैयायिकों के अनुसार विचार के जितने विषय हैं वे सब इन्हीं सोलह पदार्थों के अंतर्गत हैं। विशेष—दे० “न्याय”। सांख्यदर्शन में संख्या में, पुरुष, प्रकृति और महत् आदि उसके विकारों को लेकर २५ पदार्थ हैं। दे० “सांख्य”। वेदांत दर्शन के अनुसार आत्मा और अनात्मा केवल येही दो पदार्थ हैं। दे० “वेदांत”। इसके अतिरिक्त और भी अनेक विद्वानों और सांप्रदायिकों ने अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार अलग अलग पदार्थ माने हैं। जैसे, रामानुजाचार्य के मत से चित्, अचित् और ईश्वर, शैव दर्शन के अनुसार पति, पशु और पाश (यहाँ पति का तात्पर्य शिव, पशु का जीवात्मा और पाश का मल, कर्म्म, माया और रोध शक्ति है।)। जैन दर्शनों में भी पदार्थ माने गए हैं परंतु उनकी संख्या आदि के संबंध में बहुत मतभेद हैं। कोई दो पदार्थ मानता है, कोई तीन, कोई पाँच, कोई सात और कोई नौ।

(३) पुराणानुसार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। (४) वैद्यक में भावप्रकाश के अनुसार रस, गुण, वीर्य, विपाक और शक्ति। (५) चीज़। वस्तु।

पदार्थवाद—संज्ञा पुं० [सं०] वह वाद या सिद्धांत जिसमें पदार्थ, विशेषतः भौतिक पदार्थों को ही सब कुछ माना जाता हो और आत्मा अथवा ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार न होता हो।

पदार्थवादी—संज्ञा पुं० [सं०] वह जो आत्मा या ईश्वर आदि का अस्तित्व न मानकर केवल भौतिक पदार्थों को ही सब कुछ मानता हो।

पदार्थविज्ञान—संज्ञा पुं० [सं०] वह विद्या जिसके द्वारा भौतिक पदार्थों और व्यापारों का ज्ञान हो। विज्ञानशास्त्र।

पदार्थविद्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] वह विद्या जिसमें विशिष्ट संज्ञाओं द्वारा सूचित पदार्थों का तत्त्व बतलाया गया हो। जैसे, वैशेषिक।

पदार्पण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी स्थान में पैर रखने या जाने की क्रिया। (इस शब्द का प्रयोग प्रायः प्रतिष्ठित व्यक्तियों के संबंध में ही होता है। जैसे, श्रीमान् के पदार्पण करते ही सब लोग उठ खड़े हुए)।

पदावनत—वि० [सं०] (१) जो पैरों पर झुका हो। (२) जो प्रणाम कर रहा हो। (३) नम्र। विनीत।

पदावली—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वाक्यों की श्रेणी। (२) भजनों का संग्रह।

पदाश्रित—वि० [सं०] (१) जिसने पैरों में आश्रय लिया हो। शरण में आया हुआ। (२) जो आश्रय में रहता हो।

पदास—संज्ञा स्त्री० [हिं० पदना + आस] (प्रत्य०) (१) पादने का भाव। (२) पादने की प्रवृत्ति।

पदासा—संज्ञा पुं० [हिं० पदास] जिसकी पादने की इच्छा या प्रवृत्ति हो।

पदिक—संज्ञा पुं० पैदल सेना।

* † संज्ञा पुं० [सं० पदक] (१) गले में पहनने का वह गहना जिस पर किसी देवता आदि के चरण अंकित हों। (२) जुगनू नाम का गले में पहनने का गहना। (३) हीरा। (४) रत्न।

पौ०—पदिकहार = रत्नहार। मणिमाल।

(५) दे० “पदक”।

पदी—संज्ञा पुं० [सं० पद] पैदल। पदाति। प्यादा।

पदु—संज्ञा पुं० दे० “पद”।

पदुम—संज्ञा पुं० [सं० पद्म] (१) घोड़ों का एक चिह्न या लक्षण जो मोरवों के पास होता है। भारतवासी इसे दोष नहीं मानते, पर ईरान के लोग इसे दोष मानते हैं। (२) दे० “पद्म”।

पदुमिनी—संज्ञा स्त्री० दे० “पद्मिनी”।

पदोड़ा—संज्ञा पुं० [हिं० पाद + ओड़ा (प्रत्य०)] (१) जो बहुत पादता हो। अधिक पादनेवाला। (२) कायर। डरपोक। (क्व०)

पदोदक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जल जिससे पैर धोया गया हो। (२) चरणामृत।

पदौक—संज्ञा पुं० [देश०] एक वृक्ष जो वरमा में अधिकता से होता है। इसकी जकड़ी मजबूत और कुछ जाली लिए सफेद रंग की होती है।

पद्—† संज्ञा पुं० दे० “पदोड़ा”।

पद्धटिका—संज्ञा पुं० [सं०] एक मातृक छंद जिसके प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती हैं और अंत में जगण होता है। जैसे, श्रीकृष्णचंद्र अरविंद नैन । धरि अधर बजावत मधुर बैन । (इसी को 'पद्धरि' वा 'पद्मटिका' भी कहते हैं)।

पद्धडो-संज्ञा स्त्री० दे० “पद्धटिका” ।

पद्धति—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) राह । पथ । मार्ग । सड़क । (२) पंक्ति । कतार । (३) रीति । रस्म । रिवाज । परिग्राही । चाल । (४) वह पुस्तक जिसमें किसी प्रकार की प्रथा या कार्यप्रणाली लिखी हो । कर्म या संस्कार विधि की पोथी । जैसे, विवाह पद्धती । (५) वह पुस्तक जिसमें किसी दूसरी पुस्तक का अर्थ या तात्पर्य समझा जाय । (६) ढंग । तरीका । (७) कार्यप्रणाली । विधि विधान ।

पद्धारि, पद्धरी-संज्ञा पुं० दे० “पद्धटिका” ।

पट्टी—† संज्ञा स्त्री० [देश०] खेल में किसी लड़के का, जीतने पर, दौंव जीने के लिये, हारनेवाले लड़के की पीठ पर चढ़ना ।

क्रि० प्र०—देना ।—लेना ।

पद्म-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कमल का फूल या पौधा । (२) सामुद्रिक के अनुसार पैर में का एक विशेष आकार का चिह्न जो भाग्यसूचक माना जाता है । (३) किसी स्तंभ के सातवें भाग का नाम । (वास्तुविद्या) (४) विष्णु के एक आयुध का नाम । (५) कुवेर की नौ निधियों में से एक निधि । (६) गले में पहनने का एक प्रकार का गहना । (७) शरीर पर का सफेद दाग । (८) हाथी के मस्तक या सूँड़ पर बने हुए चित्र विचित्र चिह्न । (९) पदम या पदमाक्ष वृत्त । (१०) साँप के फन पर बने हुए चित्र विचित्र चिह्न । (११) एक ही कुरसी पर बना हुआ, एक ही शिखर का आठ हाथ चौड़ा घर । (वास्तुविद्या) (१२) एक नाग का नाम । (१३) सीसा । (१४) पुष्करमूल । (१५) गणित में सोलहवें स्थान की संख्या (१०० नीज) जो इस प्रकार लिखी जाती है—१०००००००००००००० । (१६) बौद्धों के अनुसार एक नक्षत्र का नाम । (१७) पुराणानुसार एक कल्प का नाम । (१८) तंत्र के अनुसार शरीर के भीतरी भाग का एक कल्पित कमल जो सोने के रंग का और बहुत ही प्रकाशमान माना जाता है । (१९) सोलह प्रकार के रतिबंधों में से एक । (२०) बलदेव का एक नाम । (२१) पुराणानुसार एक नरक का नाम । (२२) एक प्राचीन नगर का नाम । (२३) पुराणानुसार जंबू द्वीप के दक्षिण-पश्चिम का एक देश । (२४) कार्तिकेय के एक अनुचर का नाम । (२५) जैनों के अनुसार भारत के नवें चक्रवर्ती का नाम । (२६) एक पुराण का नाम । दे० “पुराण” । (२७) एक वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में एक नगण, एक सगण और अंत में लघु-गुरु होते हैं ।

जैसे-कब पङ्क्ति सञ्चरी । लखहुँ पद पञ्चरी । (२८) दे०
 “पञ्चव्यूह” । (२९) दे० “पञ्चासन” । (३०) दे० “पञ्चा”
 (नदी) ।

पद्मक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पद्म या पद्मकाठ नाम का पेड़ ।
(२) सेना का पद्मभ्यूह । (३) सफेद कोढ़ । (४) कुट नाम की श्लोषधि ।

पद्मकंद-संज्ञा पुं० [सं०] कमल की जड़ । मुरार । भिस्सा ।
असीड ।

पद्मकाक्ष्य-संज्ञा पुं० [सं०] पद्माक्ष या पद्म नाम का वृक्ष ।

पद्मकिंजल्क-संज्ञा पुं० [सं०] कमल का केसर ।

पद्मकी-संज्ञा पुं० [सं०] भोजपत्र का पेड़ ।

पञ्चकीट-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का जहरीला कीड़ा ।

पद्मकेतन-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार गरुड़ के एक पुत्र का नाम ।

पद्मकेतु—संज्ञा पुं० [सं०] बृहत्संहिता के अनुसार एक पुच्छल तारा जो मृगशिरा के आकार का होता है। यह केतु पश्चिम की ओर एक ही रात भर दिखाई पड़ता है।

पद्मकोश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कमल का संपुट । (२) कमल के बीज का कृता जिसमें बीज होते हैं ।

पद्मलोत्र-संज्ञा पुं० [सं०] उड़ीसा प्रांत के एक तीर्थ का नाम ।

पद्मगंधि-संज्ञा पुं० [सं०] पद्माख या पदम नाम का वृक्ष ।

पद्मगर्भ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कमल का भीतरी भाग । (२) ब्रह्मा । (३) सूर्य । (४) बुद्ध । (५) एक बोधिसत्व ।

पद्मगृहा-संज्ञा स्त्री० [सं०] लक्ष्मी का एक नाम ।

पञ्चाचारिणी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गेंदा । (२) शमीवृक्ष ।
(३) हल्दी । (४) लाख ।

पञ्चज-संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मा ।

पद्मतंतु-संज्ञा पुं० [सं०] कमल की नाल ।

पञ्चदर्शन-संज्ञा पुं० [सं०] लोहवान् ।

पञ्चनाम—संज्ञा पुं० [सं०] (१) शत्रु के फेंके हुए अस्त्र को निष्फल करने का एक मंत्र या युक्ति । (२) विष्णु । (३) क्षत्रपाट्ट के एक पुत्र का नाम । (४) जैनों के अनुसार भावी उत्सर्पिणी के पहले अवर्त का नाम ।

पद्मनाभि-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

पद्मनिधि—संज्ञा स्त्री० [सं०] कुबेर की नौ निधियों में से एक निधि का नाम ।

पद्मनेत्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का पक्षी । (२) बौद्धों के अनुसार एक बुद्ध का नाम जिनका अवतार श्री होने को है ।

पद्मपत्र, पद्मपर्णी-संज्ञा पुं० [सं०] पुष्करमूल । पुष्करमूल ।

पद्मपाणि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्रह्मा । (२) बुद्ध की एक विशेष मूर्ति । (३) एक बोधिसत्त्व जो अमिताभ बुद्ध के देवपुत्र

कहे गए हैं। इनकी उपासना नेपाल, तिब्बत चीन आदि देशों में होती है। (४) सूर्य।

पद्मपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कनेर का पेड़। (२) एक प्रकार का पत्ती।

पद्मप्रभ-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों के अनुसार एक बौद्ध का नाम जिनका अवतार अभी होने को है।

पद्मबंध-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का चित्रकव्य जिसमें अक्षरों को ऐसे क्रम से लिखते हैं जिससे एक पद्म या कमल का आकार बन जाता है।

पद्मभास-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

पद्मभू-संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मा।

पद्ममाली-संज्ञा पुं० [सं० पद्ममालिन्] एक राक्षस का नाम।

पद्ममुखी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुरालभा या धमासा नाम का कटीला पौधा।

पद्ममुद्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] तंत्रिकों की पूजा में एक मुद्रा जिसमें दोनों हथेलियों को सामने करके उँगलियाँ नीचे रखते हैं और अंगूठे मिला देते हैं।

पद्मयोनि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्रह्मा। (२) बुद्ध का एक नाम।

पद्मराग-संज्ञा पुं० [सं०] मानिक या लाल नामक रत्न।

पद्मरेखा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सामुद्रिक के अनुसार हथेली की एक प्रकार की प्राकृतिक रेखा जो बहुत भाग्यवान् होने का लक्षण मानी जाती है।

पद्मलंछन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्रह्मा। (२) कुबेर। (३) सूर्य।

पद्मलंछना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सरस्वती का एक नाम। (२) तारा का एक नाम।

पद्मवर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार यदु के एक पुत्र का नाम।

पद्मवर्णक-संज्ञा पुं० [सं०] पुष्करमूल।

पद्मवीज-संज्ञा पुं० [सं०] कमलगट्टा।

पद्मवीजाम-संज्ञा पुं० [सं०] मखाना।

पद्मवृक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] पद्मकाठ। पद्म। पद्माल।

पद्मव्यूह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राचीन काल में युद्ध के समय किसी वस्तु या व्यक्ति की रक्षा के लिये सेना को रखने की एक विशेष स्थिति जिसमें सारी सेना कमल के आकार की हो जाती थी। (२) एक प्रकार की समाधि।

पद्मश्री-संज्ञा पुं० [सं०] एक बोधिसत्व का नाम।

पद्मरूपा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गंगा का एक नाम। (२) दुर्गा का एक नाम।

पद्मस्वस्तिक-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्वस्तिक चिह्न जिसमें कमल भी बना हो।

पद्महस्त-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल की लंबाई नापने की एक प्रकार की नाप।

पद्महास-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

पद्मा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कश्मी। (२) बंगाल में बहनेवाली गंगा की पूर्वी शाखा। (३) भादों सुदी एकादशी तिथि। (४) गेंदे का वृक्ष। (५) कुसुम का फूल। (६) लौंग। (७) मनसा देवी का एक नाम। (८) बृहद्रथ की कन्या का नाम जो कल्कि देव के साथ व्याही गई थी। (९) पद्मचारिणी लता।

पद्माकर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बड़ा तालाब वा झील जिसमें कमल पैदा होते हैं। (२) हिंदी के एक प्रसिद्ध कवि का नाम। विशेष-दे० "जीवनीकोश"।

पद्माक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कमलगट्टा। कमल के बीज। (२) विष्णु।

पद्माख-संज्ञा पुं० [सं० पद्मकाष्ठ] पद्मकाठ या पद्म नामक वृक्ष। विशेष-दे० "पद्म"।

पद्माचल-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक पर्वत का नाम।

पद्माट-संज्ञा पुं० [सं०] चकवैड़।

पद्माधीश-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

पद्मालय-संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मा।

पद्मालया-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लक्ष्मी। (२) लौंग।

पद्मावती-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पटना नगर का प्राचीन नाम।

(२) पद्मा नगर का प्राचीन नाम। (३) उज्जयिनी का एक प्राचीन नाम। (४) एक मात्रिक छंद का नाम जिसके प्रत्येक चरण में १०, ८ और १४ के विराम से ३२ मात्राएँ होती हैं और अंत में दो गुरु होते हैं। जैसे, यद्यपि जगकर्ता पालक इत्यादि परिपूरण वेदन गाये। अति तदपि कृपाकरि मानुष वपुधरि थल पूँछन हम सों आये।—केशव। (५) गेंदे का वृक्ष। (६) लक्ष्मी, (अतकार ऋषि की स्त्री का नाम)। (७) मनसा देवी का एक नाम। (८) पुराणानुसार स्वर्ग की एक अप्सरा का नाम। (९) पुराणानुसार राजा शृगाल की स्त्री का नाम। (१०) युधिष्ठिर की एक रानी का नाम। (११) प्राचीन काल की एक नदी का नाम। (१२) लोकप्रचलित कथा के अनुसार सिंहल की एक राजकुमारी जिसे चित्तौर के राजा रत्नसेन व्याहे थे। चित्तौर की रानी पद्मिनी का सिंहल से कोई संबंध नहीं था, और न उसके पति का नाम रत्नसेन था जैसा कि जायसी ने लिखा है।

पद्मासन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) योगसाधन का एक आसन जिसमें पालथी मारकर सीधे बैठते हैं। (२) वह जो इस आसन में बैठा हो। (३) स्त्री के साथ प्रसंग करने का एक आसन। (४) ब्रह्मा। उ०—स्वास इद्र उलसति यो मानो दुग्ध सिंधु छवि पावै। नाभि सरोज प्रकट पद्मासन इतरि नाज पछितावै। (५) शिव। (६) सूर्य।

पद्मासनडंड—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का डंड (कसरत) जो पालथी मारकर और घुटने जमीन पर टेककर किया जाता है। इससे दम सघता है और घुटने मजबूत होते हैं।

पद्माह्व—संज्ञा स्त्री० [सं०] गेँदा।

पद्मिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कमलिनी। छोटा कमल।

पद्मिनीवल्लभ—सूर्य। (“पद्मिनी” शब्द में पति-वाची शब्द लगाने से उसका अर्थ “सूर्य” होता है)।

(२) वह तालाब या जल-शय जिसमें कमल हों। (३)

कोकशास्त्र के अनुसार स्त्रियों की चार जातियों में से सर्वोत्तम जाति। कहते हैं कि इस जाति की स्त्री अत्यंत कोमलांगी, सुशीला, रूपवती और पतिव्रता होती है।

(४) मादा हाथी। हथिनी। (५) चित्तौर की इतिहास-प्रसिद्ध रानी।

पद्मिनीकंदक—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का छुद्र रोग जो कुष्ठ के अंतर्गत माना जाता है। इसमें दानेदार चकत्ते पड़ जाते हैं।

पद्मी—संज्ञा पुं० [सं० पद्मिन्] (१) पद्मयुक्त देश। (२) पद्मधारी, विष्णु। (३) पद्मलमूह। (४) बौद्धों के अनुसार एक लोक का नाम। (५) उक्त लोक में रहनेवाले एक बुद्ध का नाम जिनका अवतार अभी इस संसार में होने को है।

पद्मेशय—संज्ञा पुं० [सं०] पद्मों पर सोनेवाले, विष्णु।

पद्मोत्तर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुसुम। (२) एक बुद्ध का नाम।

पद्मोद्भव—संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मा।

पद्मोद्भवा—संज्ञा स्त्री० [सं०] मनसा देवी का एक नाम।

पद्म-वि० [सं०] (१) पद या पैर संबंधी। जिसका संबंध पैरों से हो। (२) जिसमें कविता के पद या चरण हों।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) पिंगल के नियमों के अनुसार नियमित मात्रा वा वर्ण का चार चरणोंवाला छंद। कविता। गद्य का उलटा। (२) शूद्र जिनकी उत्पत्ति ब्रह्मा के चरणों से मानी जाती है। (३) शठता।

पद्मात्मक—वि० [सं०] जो पद्ममय हो। जो छंदोबद्ध हो।

पधरना—क्रि० अ० [हिं० पधारना] किसी बड़े, प्रतिष्ठित या पूज्य का आगमन। आना। उ०—लाख भिलापन साथ लिये जसवंत तहाँ पधरे गिरधारी।—जसवंत।

पधराना—क्रि० सं० [सं० प्र + धारण] (१) आदरपूर्वक लेजाना। इज्जत से बैठाना। (२) प्रतिष्ठित करना। स्थापित करना।

पधरावनी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पधारना] (१) किसी देवता की स्थापना। (२) किसी के आदरपूर्वक लेजाकर बैठाने की क्रिया या भाव। पधाराने की क्रिया।

पधारना—क्रि० अ० [हिं० पग + धारना] (१) जाना। चलना। जाना। गमन करना। उ०—हाय ! इन कुजन से पलटि पधारै श्याम देखन न पाई वह मूरति सुधामई।—द्विजदेव।

(२) आ पहुँचना। आना। उ०—भले पधारै पाहुने हैं गुडहल के फूल।—बिहारी। (३) गमन करना। चलना। क्रि० सं० आदरपूर्वक बैठाना। पधाराना। प्रतिष्ठित करना। उ०—(क) तिल पिंढिन में हरिहि पधारै। विविध भांति पूजा अनुसारै।—रघुनाथ। (ख) एक दिन स्वप्न ही में कह्यो भगवान हम क्रूर परे हम को पधारिये निकास कै।—रघुराज।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग केवल बड़े या प्रतिष्ठित के आने अथवा जाने के संबंध में आदरार्थ होता है।

पनंग—संज्ञा पुं० [सं० पन्नग] सर्प। साँप। (डि०)

पन—संज्ञा पुं० [सं० पण वा० सं० प्रतिज्ञा, प्रा० पश्यणा] प्रतिज्ञा। संकल्प। अहद।

संज्ञा पुं० [सं० पर्वन् = विशेष अवस्था] आयु के चार भागों में से एक। (साधारणतः लोग आयु के चार भाग अथवा अवस्थाएँ मानते हैं। पहली बाल्यावस्था, दूसरी युवावस्था, तीसरी प्रौढावस्था और चौथी वृद्धावस्था)। उ०—सत्त कहहि अस नीति दशानन। चौथेपन जाइहि नृप कानन।—तुलसी।

प्रत्य० जिसे नामवाचक या गुणवाचक संज्ञाओं में लगा कर भाववाचक संज्ञा बनाते हैं। जैसे, लड़कपन, छिछोरापन।

पनकटा—संज्ञा पुं० [हिं० पानी + काटना] वह मनुष्य जो खेतों में धूर उधर पानी लेजाता या सोंचता हो।

पनकपड़ा—संज्ञा पुं० [हिं० पानी + कपड़ा] वह गीला कपड़ा जो शरीर के किसी अंग पर चोट लगने या कटने या छिलने आदि पर बाँधा जाता है।

पनकाल—संज्ञा पुं० [हिं० पानी + काल या अकाल] वह अकाल जो अतिवर्षा के कारण हो।

पनकुकीड़ी—संज्ञा स्त्री० दे० “पनकौवा”।

पनकुट्टी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पान + कूटना] वह छोटा खरल जिसमें प्रायः वृद्ध या दूटे हुए दाँतवाले लोग खाने के लिये पान कूटते हैं।

पनकौवा—संज्ञा पुं० [हिं० पानी + कौवा] एक प्रकार का जलपक्षी। जलकौवा। विशेष—दे० “जलकौवा”।

पनखट—संज्ञा पुं० [हिं० पनहा + काठ] जुलाहों की वह लचीली धुनकी जिस पर उनके सामने बुना हुआ कपड़ा फैला रहता है।

पनगाचा—संज्ञा पुं० [हिं० पानी + गाछी (बाग)] पानी से भरा या सोंचा हुआ खेत।

पनगोटी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पानी + गोटी] मोतिया शीतला।

पनघट—संज्ञा पुं० [हिं० पानी + घाट] पानी भरने का घाट। वह घाट जहाँ से लोग पानी भरते हैं। उ०—निर्दयी श्याम ने फोर दई पनघट पर मोरी गागरिया।—गीत।

पनच-संज्ञा स्त्री० [सं० पतञ्जिका] धनुष का रोदा या डोरी ।
प्रत्यंचा ।

पनचकी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पानी + चकी] पानी के जोर से चलने-
वाली चक्की या और कोई कल ।

विशेष—प्रायः लोग नदी या नहर आदि के किनारे जहाँ
पानी का वेग कुछ अधिक होता है, कोई चक्की या दूसरी
कल लगा देते हैं, और उसका संबंध एक ऐसे बड़े चक्कर
के साथ कर देते हैं जो बहते हुए जल में प्रायः आधा डूबा
रहता है । जब बहाव के कारण वह चक्कर घूमता है तब
उसके साथ संबंध करने के कारण वह चक्की या कल
चलने लगती है और इस प्रकार केवल पानी के बहाव के
द्वारा ही सब काम होता है ।

पनची-संज्ञा स्त्री० [देश०] गोड़ी के खेल में खेलने के लिये पतली
लकड़ी या गोड़ी ।

पनचोरा-संज्ञा पुं० [हिं० पानी + चोर] वह बरतन जिसका पेट
चौड़ा और मुँह बहुत छोटा हो ।

पनडुब्बा-संज्ञा पुं० [हिं० पानी + डूबना] (१) पानी में गोता
लगानेवाला । गोताखोर । (पनडुब्बे प्रायः कूएँ या तालाब
में गोता लगा कर गिरी हुई चीजें हूँदते अथवा समुद्र आदि
में गोते लगा कर सीप और मोती आदि निकालते हैं)
(२) वह पत्नी जो पानी में गोता लगा कर मछलियाँ पक-
ड़ता हो । (३) मुरगाबी । (४) एक प्रकार का कल्पित भूत
जिसका निवास जलाशयों में माना जाता है और जिसके
विषय में लोगों का यह विश्वास है कि वह नहानेवाले आद-
मियों को पकड़कर डुबा देता है ।

पनडुब्बी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पानी + डूबना] (१) वह जलपत्नी जो
पानी में डूबकी लगा कर मछलियाँ आदि पकड़ता हो । (२)
मुरगाबी । (३) एक प्रकार की नाव जो प्रायः पानी के
अंदर डूबकर चलती है । इसका आविष्कार अभी हाल में
पाश्चात्य देशों में हुआ है । सब-मेरीन ।

पनपना-क्रि० अ० [सं० पण + पण = पत्ता । वा पण्य = हरा होना]
(१) पानी पाने के कारण फिर से हरा हो जाना । पुनः
श्रुति या पल्लवित होना । (२) फिर से तंदुरुस्त होना ।
रोगमुक्त होने के उपरांत स्वस्थ तथा हृष्ट पुष्ट होना ।

पनपनाहट-संज्ञा स्त्री० [अनु०] 'पन' 'पन' होने का शब्द जो
प्रायः वाण चलने के कारण होता है ।

पनपना-क्रि० सं० [हिं० पनपना] पनपने का सकर्मक रूप । ऐसा
कार्य करना जिससे कोई पनपे ।

पनबट्टा-संज्ञा पुं० [हिं० पान + बट्टा (डिब्बा)] वह छोटा डिब्बा
जिसमें पान के लगे हुए बीड़े रखे जाते हैं ।

पनबिछिया, पनबिछी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पानी + बिछी] पानी में
रहनेवाला एक प्रकार का कीड़ा जो डंक मारता है ।

पनबुडवा-संज्ञा पुं० दे० "पनडुब्बा" ।

पनभता-संज्ञा पुं० [हिं० पानी + भात] केवल पानी में डबाये
हुए चावल । साधारण भात ।

पनमड़िया-संज्ञा स्त्री० [हिं० पानी + मँड़ी] पतली मँड़ी जो जुलाहे
लोग बुनते समय टूटे तागों को जोड़ने के काम में लाते हैं ।

पनलगवा, पनलगा-संज्ञा पुं० [हिं० पानी + लगाना] वह मनुष्य
जो खेत में पानी सोंचता या लगाता हो । पनकटा ।

पनलोहा-संज्ञा पुं० [हिं० पानी + लोहा ?] एक प्रकार का जलपत्नी
जो ऋतु के अनुसार रंग बदलता है ।

पनच-संज्ञा पुं० दे० "प्रणव" ।

पनवाँ-संज्ञा पुं० [हिं० पान + वाँ (प्रत्यय)] हमेल आदि में
बनी हुई बीचवाली चौकी जो पान के आकार की होती
है । टिकड़ा । पान ।

पनवाड़ी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पान + वाड़ी] वह खेत जिसमें पान
पैदा होता है । बरेजा ।

संज्ञा पुं० [हिं० पान + वाला] पान बेचनेवाला । तमोली ।
पनवारा-संज्ञा पुं० [हिं० पान + वार (प्रत्यय)] (१) पत्तों की
बनी हुई पत्तल जिस पर रख कर लोग भोजन करते हैं ।
उ०—अब केहि लाज कृपानिधान परसत पनवारो टारो ।—
तुलसी ।

मुहा०—पनवारा लगाना = पत्तल पर खाना सजाना ।

(२) एक पत्तल भर भोजन जो एक मनुष्य के खाने भर
को हो । (३) एक प्रकार का साँप ।

पनवारी-संज्ञा स्त्री० दे० "पनवाड़ी" ।

संज्ञा पुं० दे० "पनवाड़ी" ।

पनस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कटहल का वृक्ष । (२) कटहल का
फल । (३) रामदल का एक बंदर । (४) विभीषण के चार
मंत्रीयों में से एक ।

पनसखिया-संज्ञा स्त्री० [हिं० पौंच + शाखा] (१) एक प्रकार
का फूल । (२) इस फूल का वृक्ष ।

पनसतालिका-संज्ञा पुं० [सं०] कटहल ।

पनसनालका-संज्ञा पुं० [सं०] कटहल ।

पनसला-संज्ञा स्त्री० [हिं० पानी + शला] वह स्थान जहाँ पर
राह-चलतों को पानी पिलाया जाता हो । पौसरा ।
पनसाल । प्याज ।

पनसाखा-संज्ञा पुं० [हिं० पौंच + शाखा] एक प्रकार की मशाल
जिसमें तीन या पाँच बत्तियाँ साथ जलती हैं ।

विशेष—इसमें बाँस के एक लंबे डंडे पर लोहे का एक
पंजा बँधा रहता है जिसकी पाँचों शाखाओं को
कपड़ा बाँधकर और तेल से चुपड़ कर मशाल की भाँति
जलाते हैं ।

पनसार-संज्ञा पुं० [हिं० पानी + सं० आसार = धार बँधकर पानी

गिराना] पानी से किसी स्थान को सराबोर करने की क्रिया या भाव । भरपूर सिंचाई ।

पनसारी—संज्ञा पुं० दे० “पंसारी” ।

पनसाल—संज्ञा स्त्री० [हिं० पानी + साला] वह स्थान जहाँ सर्व-साधारण को पानी पिजाया जाता है । पौसरा ।

देश० (१) पानी की गहराई नापने का उपकरण । वह लकड़ी जिसमें ईंच फुट आदि के सूचक अंक खुदे होते हैं और जिसको गाड़कर पानी की गहराई अथवा उसका चढ़ाव उतार देखते हैं । (२) पानी की गहराई नापने की क्रिया या भाव ।

पनसिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] कान में होनेवाली एक प्रकार की फुंसी जो कटहल के कांटे की तरह नोकदार होती है ।

पनसी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कटहल का फल । (२) पनसिका ।

पनसुइया—संज्ञा स्त्री० [हिं० पानी + सूई] एक प्रकार की छोटी नाव जिस पर एक ही खेनेवाला दो डाँड़ चला सकता है ।

पनसू—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बाजा ।

पनसेरी—संज्ञा स्त्री० दे० “पंसेरी” ।

पनसोई—संज्ञा स्त्री० दे० “पनसुइया” ।

पनस्यु—वि० [सं०] प्रशंसा या तारीफ सुनने का इच्छुक । जिसे प्रशंसित होने की इच्छा हो ।

पनहड़ा—संज्ञा पुं० [हिं० पान + हँड़ी] वह हाँड़ी जिसमें तंबोली पान अथवा हाथ धोने के लिये पानी रखते हैं ।

पनहरा—संज्ञा पुं० [हिं० पानी + हारा (प्रत्य०)] [स्त्री० पनहारन, पनहारिन, पनहारी] वह जो पानी भरने पर नौकर हो या पानी भरने का काम करता हो । पनभरा ।

[हिं० पानी + हरा (प्रत्य०)] वह अथरी जिसमें सोनार गहने धोने आदि के लिये पानी रखते हैं ।

पनहा—संज्ञा पुं० [सं० परिणाह = विस्तार, चौड़ाई] (१) कपड़े या दीवार आदि की चौड़ाई । (२) गूढ़ आशय या तात्पर्य । मर्म । भेद । जैसे, तुम्हारी बात का पनहा मिले तब तो कोई जवाब दें ।

संज्ञा पुं० [सं० पण = रुपया पैसा + हार] (१) चोरी का पता लगानेवाला । उ०—सीस चढ़े पनहा प्रकट कहैं पुकारे नैन ।—बिहारी । (२) वह पुरस्कार जो चुराई हुई वस्तु लौटा या दिला देने के लिये दिया जाय ।

पनहारा—संज्ञा पुं० [हिं० पानी + हारा (प्रत्य०)] [स्त्री० पनहारन, पनहारिन, पनहारी] वह जो पानी भरने पर नौकर हो । पानी भरनेवाला । पनभरा ।

पनहिया—संज्ञा स्त्री० दे० “पनही” ।

पनहियाभद्र—संज्ञा पुं० [हिं० पनही + भद्र = सुंदन] सिर पर

२७२

इतने जूते प्रड़ना कि बाल उड़ जायँ । जूतों की वर्षा । ग्रथेट उपानह—प्रहार ।

पनही—संज्ञा स्त्री० [सं० उपानह] जूता ।

पना—संज्ञा पुं० [सं० प्रपानक या पानाय] आम इमली आदि के रस से बनाया जानेवाला एक प्रकार का शरबत । प्रपानक । पन्ना ।

विशेष—पना कच्चे और पक्के दोनों प्रकार के फलों से तैयार किया जाता है । पक्के फल का रस या गूदा यों ही अलग कर लिया जाता है और कच्चे का गूदा अलग करने के पहले उसे भूना या उबाला जाता है । फिर उसको खूब मसलकर मीठा मिला देते हैं । लौंग, कपूर और कभी कभी नमक तथा लालमिर्च भी पन्ने में मिलाई जाती है और होंग, जीरे आदि का बंधार दिया जाता है । वैद्यक के अनुसार पना रुचिकारक, तत्काज, बलवर्द्धक और इंद्रियों को तृप्ति देनेवाला है ।

पनाती—संज्ञा पुं० [सं० प्रनप्ति] [स्त्री० पनातिन] पुत्र अथवा कन्या का नाती । पोते अथवा नाती का पुत्र ।

पनारा—संज्ञा पुं० दे० “परनाला” ।

पनाला—संज्ञा पुं० दे० “परनाला” ।

पनासना—क्रि० सं० [सं० पानाशन] पोषण करना । पोसना । परवरिश करना । उ०—कन्व जी इसके पिता इसलिये कहाते हैं कि पड़ी हुई को उठा लाए थे और उन्होंने पाकी पनासी है ।

पनाह—संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) शत्रु, संकट या कष्ट से बचाव या रक्षा पाने की क्रिया या भाव । त्राण । बचाव ।

क्रि० प्र०—पाना ।—माँगना ।

मुहा०—(किसी से) पनाह माँगना = किसी बहुत ही अप्रिय या अनिष्ट वस्तु अथवा व्यक्ति से दूर रहने की कामना करना । किसी से बहुत बचने की इच्छा करना । जैसे, आप दूर रहिए, मैं आपसे पनाह माँगता हूँ ।

(२) रक्षा पाने का स्थान । बचाव का ठिकाना । शरण । आड़ ।

क्रि० प्र०—ढूँढ़ना ।—देना ।—पाना ।—माँगना ।

मुहा०—पनाह लेना = विपत्ति से बचने के लिये रक्षित स्थान में पहुँचना । शरण लेना ।

पनिक—संज्ञा पुं० [देश०] जोलाहों का एक कैचीनुमा औजार जिस पर ताना फैलाकर पाई करते हैं । कंडाल । विशेष—दे० “कंडाल” ।

पनिख—संज्ञा पुं० दे० “पनिक” ।

पनिगर—वि० दे० “पानीदार” ।

पनिघट—संज्ञा पुं० दे० “पनघट” ।

पनिङ्गी—संज्ञा स्त्री० [सं० पंडरीक] पुंडरिया । पंडरीक वृक्ष ।

पनियाँ—संज्ञा पुं० [हिं० पीना + इया (प्रत्य०)] (१) पानी के संबंध का। (२) पानी में उत्पन्न। (३) जिसमें पानी मिला हो। (४) पानी में रहनेवाला। (५) दे० “पनिहा”।

पनियाना—† संज्ञा पुं० [हिं० पानी + आना (प्रत्य०)] (१) पानी से सींचना या तर करना। (२) तंग करना। परेशान करना। दिक करना। (बाजारू)।

पनियारा—† संज्ञा पुं० [हिं० पानी + यार (प्रत्य०)] (१) वह स्थान जहाँ पानी ठहरता हो। (२) वह दिशा जिसकी ओर पानी बहता हो।

पनियारा—† संज्ञा पुं० [हिं० पानी] बाढ़।

पनियाला—संज्ञा पुं० [हिं० पानी + इयाल (प्रत्य०)] एक प्रकार का फल।

पनिया सोत—† वि० [हिं० पानी + सोत] (तालाब खाई आदि) जिसमें पानी का सोता निकला हो। अत्यंत गहरा जैसे, पनियासोत खाई।

पनिवा—संज्ञा पुं० दे० “पनुआ”।

पनिसिगा—संज्ञा पुं० [हिं०] “जलपीपल”।

पनिहा—वि० [हिं० पानी + हा (प्रत्य०)] (१) पानी में रहनेवाला। जैसे, पनिहा साँप। (२) जिसमें पानी मिला हो। पनमेल। जैसे पनिहा दूध। (३) पानी संबंधी।

संज्ञा पुं० दे० “पनुआ”।

पनिहार—संज्ञा पुं० दे० “पनहरा”।

पनी—† संज्ञा पुं० [सं० पण] ग्रण करनेवाला। प्रतिज्ञा करनेवाला। उ०—बाह पगार उदार सिरोमनि नतपाजक पावन पनी। सुमन बरषि रघुपति गुन गावत हरषि देव दुंदुभि हनी।—तुलसी।

पनीर—संज्ञा पुं० [फा०] (१) फाड़कर जमाया हुआ दूध। छेना। इसे बनाने के लिये पहले दूध को फाड़ लेते हैं। फिर छेने में नमक और मिर्च मिलाकर साँचे में भर देते हैं जिससे उसकी चकतियाँ बन जाती हैं।

मुहा०—पनीर चढाना = काम निकालने के लिये किसी की खुशामद करना। हृत्प्रे चढाने के लिये किसी को परचाना। पनीर जमाना = (१) ऐसी बात करना जिससे आगे चलकर बहुत से काम निकलें। (२) किसी वस्तु पर अधिकार करने या पाने के लिये कोई आरंभिक कार्य करना।

(२) वह दही जिसका पानी निचोड़ लिया गया हो।

पनीरी—संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) फूल पत्तों के वे छोटे पौधे जो दूसरी जगह से जाकर रोपने के लिये उगाए गए हों। फूल पत्तों के बेहन।

क्रि० प्र०—जमाना।

(२) वह क्यारी जिसमें पनीरी जमाई गई हो। बेहन की क्यारी। (३) गलगल नीबू की फाँकों के ऊपर का गूदा।

पनीला—वि० [हिं० पानी + इला (प्रत्य०)] जिसमें पानी हो। पानी मिला हुआ। जलयुक्त।

पनुआ—संज्ञा पुं० [हिं० पानी + उआ (प्रत्य०)] वह शरबत जो गुड़ के कड़ाहे से पाग निकाल लेने के पीछे उसे धोकर तैयार किया जाता है। गुड़ के कड़ाहे की धोवन का शरबत।

पनियाँ।

विशेष—पाग निकाल लेने के पश्चात् कड़ाहे में तीन तीन बड़े पानी छोड़ देते हैं। फिर कड़ाहे को उससे अच्छी तरह धोकर थोड़ी देर तक उसे गरमाते हैं। उबलना आरंभ होने पर प्रायः शरबत तैयार समझा जाता है।

पनेथी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पानी + पोथी] पानी लगाकर पोई हुई रोटी। मोटी रोटी।

पनेरी—संज्ञा स्त्री० दे० “पनीरी”।

संज्ञा पुं० [हिं० पान + एरी (प्रत्य०)] पान बेचनेवाला। तंबोली।

पनेहड़ी—संज्ञा स्त्री० दे० “पनहड़ा”।

पनेहरा—संज्ञा पुं० दे० “पनहरा”।

पनैला—संज्ञा पुं० [हिं० मनीला = एक प्रकार का सन] एक प्रकार का गाढा चिकना और चमकीला कपड़ा जो प्रायः गरम कपड़ों के नीचे अस्तर देने के काम आता है।

विशेष—जिस पौधे के रेशे से यह कपड़ा बुना जाता है वह फिलिपाइन द्वीपसमूह में होता है। मनीला इस द्वीपसमूह की राजधानी है। संभवतः वहाँ से खालान किये जाने के कारण पहले रेशे ने और फिर उससे बुने जानेवाले कपड़े ने मनीला नाम पाया है।

पनौआ—संज्ञा पुं० [हिं० पान + ओआ (प्रत्य०)] एक पकवान जो पान के पत्ते को बेघन या चौरीठे में लपेट कर घी या तेल में तलने से बनता है।

पनौटी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पान + औटी (प्रत्य०)] पान रखने की पिटारी। बाँस की फट्टियों का बुना हुआ पानदान। बेलहरा।

पन्न—वि० [सं०] (१) गिरा हुआ। पड़ा हुआ। जैसे, शरणापन्न। (२) नष्ट। गत।

संज्ञा पुं० रँगना। सरकते हुए चलना।

यौ०—पन्नग।

पन्नई—वि० [हिं० पन्ना + ई (प्रत्य०)] पन्ने के रंग का। जिसका रंग पन्ने का सा हो। पन्ने की तरह हरा।

पन्नग—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० पन्नगी] (१) सर्प। साँप। (२) पन्नाख। (३) एक बूटी।

* [हिं० पन्ना] पन्ना। सरकत।

पन्नगकेशर—संज्ञा पुं० [सं०] नागकेशर।

पन्नगारि—संज्ञा पुं० [सं०] गरुड़।

पञ्चगी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नागिन । सर्पिणी । साँपिन । (२) एक बूटी । सर्पिणी ।

पञ्चा—संज्ञा पुं० [सं० पञ्च ?] पिरोजे की जाति का हरे रंग का एक रत्न जो प्रायः स्लेट और ग्रेनाइट की खानों से निकलता है । मरकत । जसुरंद ।

विशेष—क्रोमियम नामक एक रंगवर्द्धक तत्त्व के कारण अन्य सजातीय रत्नों की अपेक्षा इसका रंग अधिक गहरा और नेत्रकर्षक होता है । जो पञ्चा जिसना ही गहरा हरा और आभायुक्त होता है वह उतना ही मूल्यवान् समझा जाता है । भूरे अथवा पीलापन या श्यामता लिए हुए टुकड़े अल्प मूल्य के समझे जाते हैं । सर्वोत्तम पञ्चा दक्षिण अमेरिका की कोलंबिया रियासत की खानों से निकलता है । भारत की पञ्चा रियासत की खानों से भी प्राचीन काल से पञ्चा निकलता है । भारतवासी बहुत प्राचीन काल से इसका व्यवहार करते आते हैं । अत्यंत प्राचीन पुस्तकों में मरकत शब्द और उसके पर्याय पाए जाते हैं । फलित ज्योतिष के अनुसार इसके अधिष्ठाता देवता बुध हैं । इसके धारण करने से उनकी कोपशान्ति होती है ।

वैद्यक में पञ्चा शीतल मधुररसयुक्त, रुचिकारक, पुष्टिकर, वीर्यवर्द्धक और प्रेतवाधा, अम्लपित्त, ज्वर, वमन, श्वास, मंदाग्नि, बवासीर, पांडुरोग और विशेष रूप से विष का नाश करनेवाला माना गया है ।

पर्या०—मरकत । मरक्त । गारुत्मक । गारुत्मत । गरुडाश्व । गरुडांकित । राजनील । अश्मगर्भ । हरित्मणि । रौहिर्ण्य । सौपर्ण । गरुडोद्गीर्ण । बुधरत्न । अश्मगर्भज । गरुडारि । वापबोल । गरुड । गरुड । गारुडोत्तीर्ण । वाप्रबोल । [हिं० पान] (१) पुस्तक आदि का पृष्ठ । वरक । पत्रा । (२) भेड़ों के कान का वह चौड़ा भाग जहाँ का ऊन काटा जाता है । (३) देशी जूते के एक ऊपरी भाग का नाम जिसे पान भी कहते हैं ।

पन्निक—संज्ञा पुं० दे० “पनिक” ।

पन्नी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पन्ना = पत्ता] (१) रांगे या पीतल के कागज की तरह पतले पत्तर जिन्हें सौंदर्य और शोभा के लिये छोटे छोटे टुकड़ों में काट कर अन्य वस्तुओं पर चिपकाते हैं ।

पौ०—पन्नीसाज । पन्नीसाजी ।

(२) वह कागज या चमड़ा जिसपर सोने या चाँदी का लेप किया हुआ रहता है । सोने या चाँदी के पानी में रंगा हुआ कागज या चमड़ा । सुनहला या रुपहला कागज । संज्ञा स्त्री० [हिं० पना] एक भोज्य पदार्थ । उ०—पन्नी पूष पटकरी पापर पाक पिराक पनारी जी ।—रघुनाथ ।

संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) बारुद की एक तौल जो आध सेर

के बराबर होती है । उ०—तफन तोप खाने पुनि भूपा । गए लेख युग तोय अनूपा । रहैं अठौर पन्नी केरी । तिनहि सराहत भो नृप देरी ।—रघुराज । (२) एक लंबी घास जिसे प्रायः छप्पर छाने के काम में लाते हैं ।

संज्ञा पुं० [देश०] पठानों की एक जाति ।

पन्नीसाज—संज्ञा पुं० [हिं० पन्नी + फा० साज = बनानेवाला] वह मनुष्य जिसका व्यवसाय पन्नी बनाना हो । पन्नी बनानेवाला । पन्नी बनाने का काम करनेवाला ।

पन्नीसाजी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पन्नी + साज] पन्नी बनाने का काम । पन्नी बनाने का धंधा या पेशा ।

पन्नी—संज्ञा पुं० [देश०] एक फूल का पौधा । एक पुष्पवृक्ष ।

पन्थारी—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक जंगली वृक्ष जो मझोले कद का होता है और सदा हरा रहता है । मध्य प्रदेश में यह अधिकता से पाया जाता है । इसकी लकड़ी टिकाऊ और चमकदार होती है । उससे गाड़ियाँ, कुर्सियाँ और नावें बनती हैं ।

पन्हाना—क्रि० अ० दे० “पिन्हाना” ।

क्रि० सं० (१) दे० “पिन्हाना” । (२) दे० “पहनाना” ।

पन्हारा—संज्ञा पुं० [हिं० पान + हारा] एक तृणधान्य जो गेहूँ के खेतों में आपसे आप होता है । अँकरा ।

पन्हैयाँ—संज्ञा स्त्री० दे० “पनही” ।

पपड़ा—संज्ञा पुं० [देश०] (१) दे० “पपड़ा” । (२) छिपकली ।

पपड़ा—संज्ञा पुं० [सं० पपट] [स्त्री० अल्प० पपड़ी] । (१) लकड़ी का रुखा करकरा और पतला छिलका । चिप्पड़ ।

क्रि० प्र०—छुड़ाना ।

(२) रोटी का छिलका ।

क्रि० प्र०—छुड़ाना ।

पपड़िया—वि० [हिं० पपड़ी + इया (प्रत्य०)] पपड़ी संबंधी । जिसमें पपड़ी हो । पपड़ीदार । पपड़ीवाला । जैसे, पपड़िया कत्था ।

पपड़िया कत्था—संज्ञा० पुं० [हिं० पपड़ी + कत्था] सफेद कत्था । श्वेतसार ।

विशेष—यह कत्था साधारण कत्थे से अच्छा समझा जाता है और खाने में अधिक स्वादु होता है । वैद्यक में इसको कड़वा, कपैला, और चरपरा तथा व्रण, कफ, रुधिरदोष, मुखरोग, खुजली, विष, कुमि, कोढ़ और ग्रह तथा भूत की बाधा में लाभदायक लिखा है ।

पपड़ियाना—क्रि० अ० [हिं० पपड़ी + ना (प्रत्य०)] (१)

किसी चीज की परत का सूख कर सिकुड़ जाना । (२) अत्यंत सूख जाना । इतना सूख जाना कि ऊपर पपड़ी की तरह तह जम जाय । तरी न रह जाना । जैसे, क्यारियाँ पपड़िया गईं । ओठ पपड़िया गए ।

पपड़ी—संज्ञा स्त्री० [हि० पपडा का अल्प०] (१) किसी वस्तु की ऊपरी परत जो तरी या चिकनाई के अभाव के कारण कड़ी और सिक्कड़ कर जगह जगह से चिटक गई हो और नीचे की सरस और स्निग्ध तह से अलग मालूम होती हो। ऊपर की सूखी और सिक्कड़ी हुई परत। (वृक्ष की छाल के अतिरिक्त मिट्टी या कीचड़ की परत और ओठ के लिये अधिकतर बोलते हैं।)

क्रि० प्र०—पड़ना।

यौ०—पपड़ीदार।

मुहा०—पपड़ी छोड़ना = (१) मिट्टी की तह का सूख और सिक्कड़ कर चिटक जाना। पपड़ी पड़ना। (२) विलकुल सूख जाना। तरी न रह जाना। रस का अभाव हो जाना। जैसे, चार दिन से पानी नहीं पड़ा है, इतने ही में क्या रियों ने पपड़ी छोड़ दी।

(२) घाव के ऊपर मवाद के सूख जाने से बना हुआ आवरण या परत। खुरंड।

क्रि० प्र०—छोड़ना।—पड़ना।

(३) सोहन पपड़ी या अन्य कोई मिठाई जिसकी तह जमाई गई हो। (४) छोटा पापड़। (यौ०)। (५) वृक्ष की छाल की ऊपरी परत जिसमें सूखने और चिटकने के कारण जगह जगह दरारें सी पड़ी हैं। बनाया घड़ा। त्वचा।

पपड़ीला—वि० [हि० पपड़ी + ईला (प्रत्य०)] जिसमें पपड़ी हो। पपड़ीदार।

पपनी—संज्ञा स्त्री० [देश०] बरौनी। पलक के बाल।

पपरिया कथा—संज्ञा स्त्री० दे० “पपड़िया कथा”।

पपरी—संज्ञा स्त्री० [सं० पपट] (१) एक पौधा जिसकी जड़ दवा के काम में आती है। (२) दे० “पपड़ी”।

पपहा—संज्ञा पुं० [देश०] (१) एक कीड़ा जो धान की फसल को हानि पहुँचाता है। (२) एक प्रकार का घुन जो जौ, गेहूँ आदि में घुस कर उनका सार खा जाता है और केवल ऊपर का छिलका ज्यों का त्यों रहने देता है।

पपिहा—संज्ञा पुं० दे० “पपीहा”।

पपीहरा—संज्ञा पुं० दे० “पपीहा”।

पपीहा—संज्ञा पुं० [देश०] (१) कीड़े खानेवाला एक पक्षी जो वसंत और वर्षा में प्रायः आम के पेड़ों पर बैठ कर बड़ी सुरीली ध्वनि में बोलता है। चातक।

विशेष—देश भेद से यह पक्षी कई रंग, रूप और आकार का पाया जाता है। उत्तर भारत में इसका डील प्रायः श्यामा पक्षी के बराबर और रंग हलका काला या मटमैला होता है। दक्षिण भारत का पपीहा डील में इससे कुछ बड़ा और रंग में चित्रविचित्र होता है। अन्यान्य स्थानों में और भी कई प्रकार के पपीहे मिलते हैं, जो कदाचित् उत्तर

और दक्षिण के पपीहे की संकर संतानें हैं। मादा का रंगरूप प्रायः सर्वत्र एक ही सा होता है। पपीहा पेड़ से नीचे प्रायः बहुत कम उतरता है और उसपर भी इस प्रकार छिपकर बैठा रहता है कि मनुष्य की दृष्टि कदाचित् ही उसपर पड़ती है। इसकी बोली बहुत ही रसमय होती है और उसमें कई स्वरों का समावेश होता है। किसी किसी के मत से इसकी बोली में कोयल की बोली से भी अधिक मिठास है। हिंदी कवियों ने मान रखा है कि यह अपनी बोली में “पी कहाँ ?” “पी कहाँ ?” अर्थात् “प्रिय-तम कहाँ है ?” बोलता है। वास्तव में ध्यान देने से इसकी रागमय बोली से इस वाक्य के उच्चारण के समान ही ध्वनि निकलती जान पड़ती है। यह भी प्रवाद है कि यह केवल वर्षा की बूँद का ही जल पीता है, प्यास से मर जाने पर भी नदी तालाब आदि के जल में चोंच नहीं डुबोता। जब आकाश में मेघ छा रहे हों, उस समय यह माना जाता है कि यह इस आशा से कि कदाचित् कोई बूँद मेरे मुँह में पड़ जाय बराबर चोंच खोले उनकी ओर टक लगाए रहता है। बहुतों ने तो यहां तक मान रखा है कि यह केवल स्वाती नक्षत्र में होनेवाली वर्षा का ही जल पीता है, और यदि यह नक्षत्र न बरसे तो साल भर प्यासा रह जाता है। इसकी बोली कामोद्दीपक मानी गई है। इसके अटल नियम, मेघ पर अनन्य प्रेम और इसकी बोली की कामोद्दीपकता को लेकर संस्कृत और भाषा के कवियों ने कितनी ही अच्छी अच्छी उक्तियाँ की हैं। यद्यपि इसकी बोली चैत से भादों तक बराबर सुनाई पड़ती रहती है; परंतु कवियों ने इसका वर्णन केवल वर्षा के उद्दीपनों में ही किया है।

वैद्यक में इसके मांस को मधुर, कषाय, लघु, शीतल, कफ, पित्त और रक्त का नाश तथा अग्नि की वृद्धि करनेवाला लिखा है।

पर्या०—चातक। नोकक। मेघजीवन। शारंग। सारंग। स्रोतक।

(२) सितार के छ तारों में से एक जो लोहे का होता है।

(३) आल्हा के बाप का घोड़ा जिसे माँड़ा के राजा ने हर लिया था। (४) दे० “पपैया”।

पपीता—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रसिद्ध वृक्ष जो बहुधा बगीचों में लगाया जाता है। पपैया। अंडसरबूजा। वातकुंभ। पुरंडचिमिट। नलिकादल। मधुकर्कटी।

विशेष—इसका वृक्ष ताड़ की तरह सीधा बढ़ता है और प्रायः बिना डालियों का होता है। उँचाई २० फुट के लगभग होती है। पत्तियाँ इसकी अंड़ी की पत्तियों की तरह कटावदार होती हैं। छाल का रंग सफेद होता है। इसका फल

अधिकतर लंबोतरा और कोई कोई गोल भी होता है। फल के ऊपर मोटा हरा छिलका होता है। गूदा कच्चा होने की दशा में सफेद और पक जाने पर पीला होता है। बीचों बीच में काले काले बीज होते हैं। बीज और गूदे के बीच एक बहुत पतली झिल्ली होती है, जो बीजकोष या बीजाधार का काम देती है। कच्चा और पका दोनों तरह का फल खाया जाता है। कच्चे फल की प्रायः तरकारी पकाते हैं। पका फल मीठा होता है और खरबूजे की तरह थोड़ी ही या शकर आदि के साथ खाया जाता है। इसके गूदे, छाल, फल और पत्ते में से भी एक प्रकार का लसदार दूध निकलता है जिसमें भोज्य द्रव्यों विशेषतः मांस के गलाने का गुण माना जाता है। इसी कारण इसको मांस के साथ प्रायः पकाते हैं। यहाँ तक माना जाता है कि यदि मांस थोड़ी देर तक इसके पत्ते में लपेटा रखा रहे तो भी बहुत कुड़ गल जाता है। इसके अध-पके फल से दूध एकत्र कर 'पपेन' नाम की एक औषध भी बनाई गई है, जो मंदारिण में उपकारक होती है। फल भी पाचन गुण विशिष्ट समझा जाता है और अधिकतर इसी गुण के लिये उसे खाते हैं।

पपीते का देश दक्षिण अमेरिका है। अन्यान्य देशों में वहाँ से गया है। भारत में यह पुर्तगालियों के संसर्ग से आया और कुछ ही बरसों में भारत के अधिकांश में फैल कर चीन पहुँच गया। इस समय विषुवत रेखा के समीपस्थ सभी देशों में इसके वृद्ध अधिकता से पाए जाते हैं। भारत में इसके दो भेद दिखाई पड़ते हैं। एक का फल अधिक बड़ा और मीठा होता है, दूसरे का छोटा और कम मीठा। पहले प्रकार का पपीता प्रायः आसाम के गोहाटी और छोटा नागपुर विभाग के हजारीबाग स्थानों में होता है। वैद्यक में इसको मधुर, स्निग्ध, वातनाशक, वीर्य और कफ का बढ़ानेवाला, हृदय को हितकर और उन्माद तथा वर्ध्म रोगों का नाशक लिखा है।

पपैया—† संज्ञा पुं० [अनु०] (१) सीटी। (२) वह सीटी जिसे लड़के आम की अंकुरित गुठली को घिसकर बनाते हैं।
(३) आम का नया पौधा। अमोला।

पपोटन—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक पौधा जिसके पत्ते बाँधने से फोड़ा पकता है। इसका फल मकोष की तरह होता है।

पपोटा—संज्ञा पुं० [सं० प्र + पट] आँख के ऊपर का चमड़े का वह पर्दा जो डेलों को ढके रहता है और जिसके गिरने से आँख बंद होती है और उठने से खुलती है। पलक। दगंचल।

पपोरना—† कि० सं० [देश०] अपनी बाँहें ऐँटना और उनका भराव या पुष्टता देखना। (इस क्रिया से बलाभिमान

सूचित होता है।) उ०—कंस त्राज भय गर्वजुत चत्थो पपोरत बाँह।—व्यास।

पपोलना—कि० अ० [हि० पोपला] पोपले का चुभलाना; चबाना या मुँह चलाना। बिना दाँत का चुभलाना या मुँह चलाना।

पपता—संज्ञा स्त्री० [देश०] बाम मछली। गुंगवहरी।

पबई—संज्ञा स्त्री० [देश०] मैना की जाति का एक पत्नी जिसकी बोली बहुत मीठी होती है।

पबलिक—संज्ञा स्त्री० [अ०] सर्वसाधारण। जनता। आम लोग। जैसे, अब पबलिक को यह बात अच्छी तरह मालूम हो गई है।

वि०—सर्वसाधारण संबंधी। सार्वजनिक। जैसे, कल टाउन-हाल में एक पबलिक मीटिंग होनेवाली है।

पबलिक वर्क्स—संज्ञा पुं० [अ०] (१) निर्माण संबंधी वे कार्य जो सर्वसाधारण के लाभ के लिये सरकार की ओर से किए जायें। पुल, नहर आदि बनाने का कार्य। (२) इंजीनियरी का मुहकमा।

पवारना—† कि० सं० [?] फेंकना।

पवि—संज्ञा पुं० [सं०] दे० "पवि"।

पव्वय—* संज्ञा पुं० [सं० पवंत] (१) पहाड़। (२) पत्थर।
संज्ञा पुं० [देश०] एक चिड़िया का नाम।

पमरा—संज्ञा स्त्री० [देश०] शलुकी नामक सुगंधित पदार्थ।

पमार—संज्ञा पुं० [सं० प्रमार] अश्लकुल के जूत्रियों की एक शाखा। प्रमार। पवार। दे० "परमार"।

संज्ञा पुं० [सं० पामारि] चक्रबँड। चक्रमर्दक। चकौड़ा।

पम्मन—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का गेहूँ जो बड़ा और बढ़िया होता है। कठिया गेहूँ।

पयःकंदा—संज्ञा स्त्री० [सं०] क्षीरविदारी। भूकुम्हड़ा।

पयःपयोष्णी—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी का नाम।

पयःपुर—संज्ञा पुं० [सं०] पुष्करिणी। छोटा तालाब।

पयःपेटी—संज्ञा स्त्री० [सं०] नारियल।

पयःफेनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] दुग्धफेनी।

पय—संज्ञा पुं० [सं० पयस्] (१) दूध। (२) जल। पानी।
(३) अन्न।

पयज—† संज्ञा स्त्री० दे० "पैज"।

पयद—* संज्ञा पुं० दे० "पयोद"।

पयधि—* संज्ञा पुं० दे० "पयोधि"।

पयना—† वि० दे० "पैना"।

संज्ञा पुं० दे० "पैना"।

पयनिधि—* संज्ञा पुं० दे० "पयोनिधि"।

पयस्य—वि० [सं०] दूध से निकला या बना हुआ—।

संज्ञा पुं० दूध से निकली या प्राप्त वस्तु, दुग्ध विकार। जैसे, घी, मट्ठा, दही आदि।

पयस्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुग्धिका। दुधिया घास। (२) क्षीरकाकोली। अर्कपुष्पी।

पयस्वती-संज्ञा स्त्री० [सं०] नदी।

पयस्वल-वि० [सं०] (१) जलयुक्त। (२) जिसमें दूध हो।

पयस्वान-वि० [सं० पयस्वत्] [स्त्री० पयस्वती] पानीवाला।

पयस्विनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गाय। दूध देती हुई गाय।

(२) बकरी। (३) नदी। (४) चित्रकूट की एक नदी।

(५) क्षीरकाकोली। (६) दूधफेनी। (७) दूधबिदारी।

(८) जीवन्ती।

पयस्वी-वि० [सं० पयस्विन्] [स्त्री० पयस्विनी] पानीवाला। जिसमें जल हो।

पयहारी-संज्ञा पुं० [सं० पयस् + आहारी] दूध पीकर रह जानेवाला तपस्वी या साधु।

पयादा-संज्ञा पुं० दे० "प्यादा"।
वि० दे० "प्यादा"।

पयान-संज्ञा पुं० [सं० प्रयाण] गमन। जाना। यात्रा। रवानगी।
क्रि० प्र०-करना।-होना।

पयार-संज्ञा पुं० दे० "पयाल"। उ०-धान के गाँव पयार से जानौ ज्ञानविषय रस ओरे।-सूर।

पयाल-संज्ञा पुं० [सं० पलाल] धान, कोदों आदि के सूखे डंठल जिनके दाने झाड़ लिए गए हों। पुराल।

मुहा०-पयाल गाहना या झाड़ना = (१) ऐसा श्रम करना जिसका कुछ फल न हो। व्यर्थ मिहनत करना। उ०-फिरि फिरि कहा पयारहि गाहे।-सूर। (२) ऐसे की सेवा करना या ऐसे को घेरना जिससे कुछ मिलने की आशा न हो।

पयोगड़-संज्ञा पुं० दे० "पयोगल"।

पयोगल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ओला। (२) द्वीप।

पयोग्रह-संज्ञा पुं० [सं०] एक यज्ञपात्र।

पयोगन-संज्ञा पुं० [सं०] ओला।

पयोज-संज्ञा पुं० [सं०] कमल।

पयोजन्मा-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेघ। बादल। (२) मोथा।

पयोद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बादल। मेघ। (२) मोथा।

मुस्तक। (३) एक यदुवंशी राजा।

पयोदन-संज्ञा पुं० [सं० पयस् + ओदन] दूधभात।

पयोदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कुमार की अनुचरी एक मानुका।

पयोदेव-संज्ञा पुं० [सं०] वरुण।

पयोधर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्तन। (२) बादल। (३) नागरमोथा। (४) कसेरू। (५) तालाब। तड़ाग। (६) गाय का आयन। (७) नारियल। (८) मदार। अकौवा। (९) एक प्रकार की जल। (१०) पर्वत। पहाड़। (११) कोई दुग्धवृक्ष। (१२) दोहा छंद का ११ वाँ भेद। (१३) समुद्र। (डि०)। (१४) छप्पय छंद का २७ वाँ भेद।

पयोधा-संज्ञा पुं० [सं० पयोधस्] (१) जलाधार। (२) समुद्र।

पयोधि-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र।

पयोधिक-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्रफेन।

पयोनिधि-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र।

पयोमुख-वि० [सं०] दूधपीता। दुधमुँहा (बच्चा)।

पयोमुच-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बादल। (२) मोथा।

पयोर-संज्ञा पुं० [सं०] खैर का पेड़।

पयोलाता-संज्ञा स्त्री० [सं०] दूधबिदारी कंद।

पयोवाह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेघ। बादल। (२) मोथा।

पयोव्रत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मत्स्यपुराण के अनुसार एक व्रत जिसमें एक दिन रात या तीन रात केवल जल पीकर रहना पड़ता है। (२) भागवत के अनुसार कृष्ण का एक व्रत जिसमें बारह दिन दूध पीकर रहना और कृष्ण का स्मरण और पूजन करना होता है।

पयोष्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] विंध्याचल से निकल कर दक्षिण की ओर को बहनेवाली एक नदी।

पयोष्णीजाता-संज्ञा स्त्री० [सं०] सरस्वती नदी।

परंच-अव्य० [सं०] (१) और भी। (२) तो भी। परंतु। लेकिन।

परंज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) तेल पेरने का कोरहू। (२) छूरी का फल। (३) फेन।

परंजन-संज्ञा पुं० [सं०] (पश्चिम दिशा के स्वामी) वरुण।

परंजय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शत्रु को जीतनेवाला। (२) वरुण।

परंतप-वि० [सं०] (१) शत्रुओं को ताप देनेवाला। वैरियों को दुःख देनेवाला। (२) जितेंद्रिय।

संज्ञा पुं० (१) चिंतामणि। (२) तामस मनु के एक पुत्र।

परंतु-अव्य० [सं० परं + तु] एक शब्द जो किसी वाक्य के साथ उससे कुछ अन्यथा स्थिति सूचित करनेवाला दूसरा वाक्य कहने के पहले लगाया जाता है। पर। तो भी। किंतु। लेकिन। मगर। जैसे, (क) वह इतना कहा जाता है परंतु नहीं मानता। (ख) जी तो नहीं चाहता है परंतु जाना पड़ेगा।

परंदा-संज्ञा पुं० [फा० परंद = चिड़िया] (१) चिड़िया। पत्ती। (२) एक प्रकार की हवादार नाव जो कश्मीर की झीलों में चलती है।

परंपर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक के पीछे दूसरा ऐसा क्रम। अनुक्रम। चला आता हुआ सिलसिला। (२) पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि। बेटा, पोता, परपोता आदि। वंश। संतति। (३) मृगमद। कस्तूरी।

परंपरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक के पीछे दूसरा ऐसा क्रम (विशेषतः कालक्रम)। अनुक्रम। पूर्वापर क्रम। चला आता हुआ सिलसिला। जैसे, परंपरा से ऐसा होता आ रहा है।

यौ०—वंशपरंपरा। शिष्यपरंपरा।

(२) वंशपरंपरा। संतति। औलाद। (३) बराबर चली आती हुई रीति। प्रथा। परिपाटी। जैसे, हमारे यहाँ इसकी परंपरा नहीं है। (४) हिंसा। बध।

परंपराक—संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञार्थ पशुहवन। यज्ञ के लिये पशुओं का बध।

परंपरागत—वि० [सं०] परंपरा से चला आता हुआ। जो सब दिन से होता आता हो। जिसे एक के पीछे दूसरा बराबर करता आया हो। जैसे, परंपरागत नियम।

पर—वि० [सं०] (१) दूसरा। अन्य। और। अपने को छोड़ शेष। स्वातिरिक्त। गैर। परलोक। उ०—पर उपदेश कुलल बहुतेरे।—तुलसी।

यौ०—परपीड़न। परोपकार।

(२) पराया। दूसरे का। जो अपना न हो। जैसे, पर द्रव्य, पर पुरुष, पर पीड़ा। (३) भिन्न। जुदा। अतिरिक्त। (४) पीछे का। उत्तर। बाद का। जैसे पूर्व और पर। (५) जो परे हो। दूर। अलग। तटस्थ। जो सीमा के बाहर हो।

यौ०—परब्रह्म।

(६) आगे बढ़ा हुआ। सब के ऊपर। श्रेष्ठ। (७) प्रवृत्त। लीन। तत्पर। जैसे, स्वार्थपर (केवल समास में) प्रत्य० [सं० उपरि] सप्तमी या अधिकरण का चिह्न। जैसे, (क) वह घर पर नहीं है। (ख) कुरसी पर बैठे। संज्ञा पुं० (१) शत्रु। वैरी। दुश्मन।

यौ०—परतप।

(२) शिव। (३) ब्रह्म। (४) ब्रह्मा। (५) मोक्ष। (६) न्याय में जाति या सामान्य के दो भेदों में से एक। द्रव्य, गुण और कर्म की वृत्ति या सत्ता।

अव्य० [सं० परम्] (१) पश्चात्। पीछे। जैसे, इस पर वे उठ कर चले गए। (२) एक शब्द जो किसी वाक्य के साथ उस से अन्यथा स्थिति सूचित करनेवाला वाक्य कहने के पहले लाया जाता है। परंतु। किंतु। लेकिन। तो भी। जैसे, (क) मैंने उसे बहुत समझाया पर वह नहीं मानता। (ख) तभीयत तो नहीं अच्छी है पर जायेंगे।

संज्ञा पुं० [फा०] चिड़ियों का डैना और उस पर के छुए या रोएँ। पंख। पक्ष।

मुहा०—पर कट जाना = शक्ति या बल का आधार न रह जाना। अशक्त हो जाना। कुछ करने धरने लायक न रह जाना। पर काट देना = अशक्त कर देना। कुछ करने धरने लायक न रखना। पर कैच करना = पंख कटाना। (कवृत्तराज)। पर जमना = (१) पर निकलना। (२) जो पहले सीधा सादा रहा हो उसे शरारत सूझना। धूर्तता, चालाकी, वृष्टता आदि

पहले पहल आना। (कहीं जाते हुए) पर जलना = (१) हिम्मत न होना। ताव न होना। साहस न होना। (२) गति न होना। पहुँच न होना। जैसे, वहाँ जाते बड़े बड़ों के पर जलते हैं, तुम्हारी क्या गिनती है? पर झाड़ना = (१) पुराने पों को गिराना। (२) पंख फटफटाना। डैनों को हिलाना। पर टूटना = दे० “पर जलना”। पर टूट जाना = दे० “पर कट जाना”। पर न मारना = पैर न रख सकना। जान सकना। फटक न सकना। चिड़िया पर नहीं मार सकती = कोई जान नहीं सकता। किसी की पहुँच नहीं हो सकती। पर निकाखना = (१) पंखों से युक्त होना। उड़ने योग्य होना। (२) बढ़कर चलना। इतराना। अपने को कुछ प्रकट करना। पर और बाल निकालना = (१) सीधा सादा न रहना। बहुत सी बातों को समझने वृम्हने लगना। कुछ कुछ चालाक होना। (२) उपद्रव करना। ऊधम मचाना।

परई—संज्ञा स्त्री० [सं० पार = कटोरा, प्याला] दीए के आकार का पर उससे बड़ा मिट्टी का एक बरतन। पारा। सराव।

परकटा—वि० [फा० पर + हिं० कटना] जिसके पर या पंख कटे हों। जैसे, परकटा कवृत्तर।

परकना—क्रि० अ० [हिं० परचना] (१) परचना। हिलाना मिलाना। (२) जो बात दो एक बार अपने अनुकूल हो गई हो या जिस बात को कई बार बे रोक टोक करने पाए हों उसकी ओर प्रवृत्त होना। धड़क खोलना। अभ्यास पड़ना। चक्का लगना। उ०—माखन चोरी सों श्री, परकि रहयो नंदलाल। चोरन लान्यो अब लखौ नेहिन को मन माल।—रसनिधि।

परकसना—क्रि० अ० [हिं० परकासना] (१) प्रकाशित होना। जगमगाना। (२) प्रकट होना।

परकाजी—वि० [हिं० पर + काज] दूसरे का कार्य साधन करनेवाला। परोपकारी।

परकान—संज्ञा पुं० [हिं० पर + कान] तोप का कान या मूठ। तोप का वह स्थान जहाँ रंजक रखी जाती है या बत्ती दी जाती है। (लश०)

परकाना—क्रि० स० [हिं० परकना] (१) परचाना। हिलाना मिलाना। (२) (किसी को) कोई लाभ पहुँचा कर या कोई बात बे रोक टोक करने देकर उसकी ओर प्रवृत्त करना। धड़क खोलना। अभ्यास डालना। चक्का लगाना।

परकायप्रवेश—संज्ञा पुं० [सं०] अपनी आत्मा को दूसरे के शरीर में डालने की क्रिया जो योग की एक सिद्धि समझी जाती है।

परकार—संज्ञा पुं० [फा०] वृत्त या गोलाई खींचने का औजार जो पिछले सिंगे पर परस्पर जुड़ी हुई दो शलाकाओं के रूप का होता है।

* † संज्ञा पुं० दे० “प्रकार” ।

परकाल-संज्ञा पुं० दे० “प्रकार” ।

परकाला-संज्ञा पुं० [सं० प्राकार या प्रकोष्ठ] (१) सीढ़ी । ज़िन ।

(२) चौखट । देहली । दहलीज ।

संज्ञा पुं० [फा० परगालः] (१) टुकड़ा । खंड । (२) शीशे का टुकड़ा । (३) चिनगारी । अग्निस्थ ।

मुहा०—आफत का परकाला = ग़ज़ब करनेवाला । अद्भुत शक्तिवाला । प्रचंड या भयंकर मनुष्य ।

परकास-संज्ञा पुं० दे० “प्रकाश” ।

परकासना-क्रि० सं० [सं० प्रकाशन] (१) प्रकाशित करना ।

(२) प्रकट करना ।

परकृति-† संज्ञा स्त्री० दे० “प्रकृति” ।

परकीय-वि० [सं०] पराया । दूसरे का । बेगाना ।

परकीया-संज्ञा स्त्री० [सं०] पति को छोड़ दूसरे पुरुष से प्रीति संबंध रखनेवाली स्त्री । नायिकाओं के दो प्रधान भेदों में से एक ।

विशेष—परकीया दो प्रकार की कही गई हैं । अनूठा (अविवाहित) और ऊठा (विवाहित) । स्वेच्छापूर्वक परपुरुष से प्रेम करनेवाली परकीया को उद्धुद्धा और परपुरुष की चतुराई या प्रयत्न से उसके प्रेम में फँसनेवाली को उद्धोधिता कहते हैं । परकीया के छ और भेद किए गए हैं—गुला, विदग्धा, लज्जिता, कुलटा, अनुशयाना और मुदिता । (विवरण प्रत्येक शब्द के अंतर्गत देखो ।)

परकीरति-† संज्ञा स्त्री० दे० “प्रकृति” ।

परकृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दूसरे की कृति । दूसरे का किया हुआ काम । (२) दूसरे की कृति का वर्णन । (३) कर्मकांड में दो परस्पर विरुद्ध वाक्यों की स्थिति ।

परकोटा-संज्ञा पुं० [सं० परिकोट] (१) किसी गढ़ या स्थान की रक्षा के लिये चारों ओर उठाई हुई दीवार ।

आदि की दीवार । (२) पानी आदि की रोक के लिये खड़ा किया हुआ घुस । बांध । चह ।

परक्षेत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पराया खेत । (२) दूसरे का शरीर । (३) पराई स्त्री । दूसरे की भाय्या ।

परख-संज्ञा स्त्री० [सं० परीक्षा, प्रा० परीख] (१) गुण दोष स्थिर करने के लिये अच्छी तरह देख भाज । जाँच । परीक्षा । जैसे, अभी उस सोने की परख हो रही है । (२) गुण दोष का ठीक ठीक पता लगानेवाली दृष्टि । गुण दोष विवेचन करनेवाली अंतःकरण वृत्ति । कोई वस्तु भली है या बुरी यह ज्ञान लेने की शक्ति । पहचान । जैसे, (क) तुम्हें सोने की परख नहीं है । (ख) उसे आदमी की परख नहीं है ।

क्रि० प्र०—होना ।

परखना-क्रि० सं० [सं० परीक्षण, प्रा० परीखण] (१) गुण दोष

स्थिर करने के लिये अच्छी तरह देखना भाजना । परीक्षा करना । जाँच करना । जैसे, रत्न परखना, सोना परखना ।

संयो० कि०—देना ।—लेना ।

(२) अच्छी तरह देख भाज कर गुण दोष का पता लगाना । भला और बुरा पहचानना । कौन वस्तु कैसी है यह ताड़ना । जैसे, मैं देखते ही परख लेता हूँ कि कौन कैसा है ।

क्रि० सं० [सं० पर + ईक्षण = परेक्षण, हिं० परेखना] प्रतीक्षा करना । इंतज़ार करना । आसरा देखना ।

परखवाना-क्रि० सं० दे० “परखाना” ।

परखवैया-संज्ञा पुं० [हिं० परख + वैया (प्रत्य०)] परखनेवाला । जाँचनेवाला । पहचाननेवाला ।

परखाई-संज्ञा स्त्री० [हिं० परख] (१) परखने का काम । (२) परखने की मजदूरी ।

परखाना-क्रि० सं० [हिं० ‘परखना’ का प्रे०] (१) परखने का काम दूसरे से कराना । परीक्षा कराना । जाँचवाना । (२) कोई वस्तु देते या सौंपते समय उसे गिन कर या उलट पलट कर दिखा देना । सहेजवाना । सँभलवाना ।

परखुरी-† संज्ञा स्त्री० दे० “परखड़ी” ।

परखैया-संज्ञा पुं० [सं०] परखनेवाला ।

परग-संज्ञा पुं० [सं० पदक] पग । डग । कदम ।

परगटना-† क्रि० अ० [हिं० प्रगट] प्रगट होना । खुलना । जाहिर होना ।

क्रि० सं० प्रकट करना । जाहिर करना ।

परगन-† संज्ञा पुं० दे० “परगना” । उ०—ब्रज परगन सरदार महरि तू ताकी करत नन्हाई ।—सूर ।

परगना-संज्ञा पुं० [फा० । मि० सं० परिगण = घर] एक भूभाग जिसके अंतर्गत बहुत से ग्राम हों । जमीन का वह हिस्सा जिसमें कई गाँव हों ।

विशेष—आज कल एक तहसील के अंतर्गत कई परगने होते हैं । बड़े परगने कई तपों या टपों में बँटे होते हैं ।

परगनी-संज्ञा स्त्री० दे० “परगहनी” ।

परगसना-† क्रि० अ० [सं० प्रकाशन] प्रकाशित होना । प्रकट होना ।

परगहनी-संज्ञा स्त्री० [सं० प्रग्रहण] नली के आकार का सुनारों का एक औज़ार जिसमें करछी की सी डाँड़ी लगी होती है । इस नली में तेल देकर उसमें चाँदी या सोने की गुलियाँ ढालते हैं । परगनी ।

परगाछा-संज्ञा पुं० [हिं० पर = दूसरा + गाछ = पेड़] एक प्रकार के पौधे जो प्रायः गरम देशों में दूसरे पेड़ों पर उगते हैं । इनकी पत्तियाँ लंबी और खड़ी नसों की होती हैं । फूल सुंदर तथा अद्भुत वर्ण और आकृति के होते हैं । एक ही फूल में

गर्भकोश और परागकेसर दोनों होते हैं। परगाछे की जाति के बहुत से पौधे जमीन पर भी होते हैं और फूलों की सुन्दरता के लिये बगीचों में प्रायः लगाए जाते हैं। ऐसे पौधे दूसरे पेड़ों की डालियों आदि पर उगते अवश्य हैं पर सब परपुष्ट (दूसरे पेड़ों के रस धातु से पलनेवाले) नहीं होते। परगाछे की कोई टहनियाँ या गाँठ भी बीज का काम देती है, उससे भी नया पौधा अंकुर फोड़ कर (गन्ने की तरह) निकल आता है। परगाछे को संस्कृत में बदाक और हिंदी में बाँदा भी कहते हैं।

परगाछी—संज्ञा स्त्री० [हिं० परगाछा] अमरबेल । आकाशवौर ।

परगाढ़*—वि० दे० “प्रगाढ़” ।

परगास*—संज्ञा पुं० दे० “प्रकाश” ।

परगासना—† कि० अ० [सं० प्रकाशन] प्रकाशित होना ।

कि० सं० प्रकाशित करना ।

परघट*†—वि० दे० “प्रघट”, “प्रकट” ।

परघनी—संज्ञा स्त्री० दे० “परगहनी” ।

परचंड*—वि० दे० “प्रचंड” ।

परचइ*—संज्ञा स्त्री० दे० “परचै” ।

परचत*—संज्ञा स्त्री० [सं० परिचित] जान पहचान । जानकारी ।

उ०—कब लगी फिरि है दीन भयो । सुरत सरित अम भँवर
परथो तन मन परचत न लह्यो ।—सूर ।

परचना—कि० अ० [सं० परिचयन] (१) किसी को इतना अधिक जान बूझ लेना कि उससे व्यवहार करने में कोई संकोच या खटका न रहे। हिलाना मिलाना। वनिष्ठता प्राप्त करना। जैसे, (क) बच्चा जब परच जायगा तब तुम्हारे पास रहने लगेगा। (ख) परच जाने पर यह तुम्हारे साथ साथ फिरेगा। (२) जो बात दो एक बार अपने अनुकूल हो गई हो या जिस बात को दो एक बार बे रोक ठोक मनमाना करने पाए हों उसकी ओर प्रवृत्त रहना। चसका लगाना। धड़क बुझना। टेव पड़ना। जैसे, इसे कुछ न दो, परच जायगा तो नित्य आया करेगा।

संयो० कि०—जाना ।

परचर—संज्ञा पुं० [देश०] बैलों की एक जाति जो अवध के खीरी जिले के आस पास पाई जाती है।

परचा—संज्ञा पुं० [फा०] (१) कागज का टुकड़ा। चिट। कागज। पत्र। (२) पुरजा। खत। रुक्का। चिट्ठी। (३) परीचा में आनेवाला प्रश्नपत्र। जैसे, इम्तहान में हिसाब का परचा बिगड़ गया।

संज्ञा पुं० [सं० परिचय] (१) परिचय। जानकारी ।

मुहा०—परचा देना = ऐसा लक्षणा या चिह्न बताना जिससे लोग जान जायँ। नाम ग्राम बताना।

(२) परख। परीक्षा। जाँच।

(३) प्रमाण। सबूत।

मुहा०—परचा माँगना = (१) प्रमाण देने के लिये कहना।

(२) किसी देवी देवता से अपनी शक्ति दिखाने को कहना।

(आस्था)।

संज्ञा पुं० [देश०] जगन्नाथ जी के मंदिर का वह प्रधान पुजारी जो मंदिर की आमदनी और खर्च का प्रबंध करता और पूजा सेवा आदि की देख रेख रखता है।

परचाना—कि० सं० [हिं० परचना] (१) किसी से इतना अधिक लगाव पैदा करना कि उससे व्यवहार करने में कोई संकोच या खटका न रहे। हिलाना मिलाना। आकर्षित करना। जैसे, बच्चे को परचाना, कुत्ता परचाना।

संयो० कि०—लेना ।

(२) दो एक बार किसी के अनुकूल कोई बात करके या होने देकर उसको इस बात की ओर प्रवृत्त करना। धड़क खोलना। चसका लगाना। टेव डालना। जैसे, इन्हें कुछ देकर परचाओ मत, नहीं तो बराबर तंग करते रहेंगे।

संयो० कि०—देना ।

परचार—संज्ञा पुं० दे० “प्रचार” ।

परचारना*—कि० सं० दे० “प्रचारना” ।

परचित्तपर्यायज्ञान—संज्ञा पुं० [सं०] अपने चित्त में दूसरे के चित्त का भाव जानना। (बौद्ध)

परचून—संज्ञा पुं० [सं० पर = अन्य, और × चूर्ण = आटा] आटा, चावल, दाल, नमक, मसाला आदि भोजन का फुटकर समान। जैसे, परचून की दुकान।

परचूनी—संज्ञा पुं० [हिं० परचून] परचूनवाला। आटा, दाल, नमक आदि बेचनेवाला बगिया। मोदी।

संज्ञा स्त्री० परचून या परचूनी का काम या भाव।

परचै*—संज्ञा पुं० दे० “परिचय” ।

परचै—संज्ञा पुं० दे० “परिचय”, “परचा” ।

परचछुंद—वि० [सं०] पराधीन।

परछुत्ती—संज्ञा स्त्री० [सं० परि = अधिक, ऊपर + छत = पटाव] (१)

वर या कोठरी के भीतर दीवार से जगा कर कुछ दूर तक बनाई हुई पाटन जिस पर सामान रखते हैं। टांड। पाटा।

(२) हलका छप्पर जो दीवारों पर रख दिया जाता है। फूस आदि की छाजन।

परछुन—संज्ञा स्त्री० [सं० परि + अर्चन] विवाह की एक रीति जिसमें बरात द्वार पर आने पर कन्यापक्ष की स्त्रियाँ वर के पास जाती हैं और उसे दही, अर्घ्य का टीका लगातीं, उसकी आरती करतीं तथा उसके ऊपर से मूसल बट्टा आदि सुमाती हैं।

परछुना—कि० सं० [हिं० परछुन] द्वार पर बरात लगने पर कन्यापक्ष की स्त्रियों का वर की आरती आदि करना। परछुन

परछा

करना । उ०—निगम नीति कुल रीति अथ पाँवड़े देत ।
बधुन सहित सुत परछि सब चलीं लिवाइ निकेत ।—
तुलसी ।

परछा—संज्ञा पुं० [सं० प्रच्छिच्छद] (१) वह कपड़ा जिससे तेजी कोल्हू के बैल की आँखों में अँधोटी बाँधते हैं । (२) जुलाहों की नली जिस पर वे सूत लपेटते हैं सूत की फिरकी ।
घिरनी ।
संज्ञा पुं० [?] [स्त्री० अल्प० परछी] (१) बड़ी बटलोई ।
बड़ा देग । (२) कड़ाई । कड़ाई । (३) मिट्टी का मझोला बरतन ।
संज्ञा पुं० [सं० परिच्छेद] (१) बहुत सी वस्तुओं के घने समूह में से कुछ के निकल जाने से पड़ा हुआ अवकाश ।
विरलता । झीड़ । (२) घनेपन या भीड़ की कमी । भीड़ का छँटाव ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।
(३) समासि । निबटेरा । चुकाव । फैसला ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

परछाई—संज्ञा स्त्री० [सं० प्रतिच्छाया] (१) प्रकाश के मार्ग में पड़नेवाले किसी पिंड का आकार जो प्रकाश से भिन्न दिशा की ओर छाया या अधकार के रूप में पड़ता है । किसी वस्तु की आकृति के अनुरूप छाया जो प्रकाश के अवरोध के कारण पड़ती है । छायाकृति । जैसे, लड़का दीवार पर अपनी परछाईं देख कर डर गया ।

क्रि० प्र०—पड़ना ।

मुहा०—परछाईं से डरना या भागना = (१) बहुत डरना ।
अत्यंत भयभीत होना । (२) पास तक आने से डरना । (३)
दूर रहने की इच्छा करना । कोई लगाव रखना न चाहना ।
(घृणा या आशंका से) ।

(२) जल, दर्पण आदि पर पड़ा हुआ किसी पदार्थ का पूरा प्रतिरूप । प्रतिबिम्ब । अवस ।

क्रि० प्र०—पड़ना ।

परज—संज्ञा स्त्री० [सं० पराजिका] एक रागिनी जो गांधार, धनाश्री और मारु के मेल से बनी हुई मानी जाती है । रात ११ बजे से लेकर १२ बजे तक इसके गाने का समय है । स्वर इसमें ऋषभ और धैवत कोमल, तथा मध्यम तीव्र लगता है । यह हिंदोल राग की सहचरी मानी जाती है ।

वि० [सं०] परजात । दूसरे से उत्पन्न ।

संज्ञा पुं० कोकिल ।

परजन—संज्ञा पुं० दे० “परिजन” ।

परजरना—क्रि० अ० [सं० प्रज्वलन] (१) जलना । दहकना ।
सुलगना । (२) क्रुद्ध होना । कुढ़ना । उ०—सुनत वचन
रावन परजरा । जस्त महानज जनु घृत परा ।—तुलसी ।
(३) ईर्ष्या द्वेष से संतप्त होना । डाह करना ।

परजवट—संज्ञा पुं० दे० “परजौट” ।

परजन्य—संज्ञा पुं० दे० “परजन्य” ।

परजा—संज्ञा स्त्री० [सं० प्रजा] (१) प्रजा । रैयत । (२) आश्रित जन । काम धंधा करनेवाला । जैसे, नाई, बारी, धोबी हत्यादि । (३) जमींदार की जमीन पर बसनेवाला या खेती आदि करनेवाला । असामी ।

परजात—वि० [सं०] दूसरे से उत्पन्न ।

संज्ञा पुं० (१) कोकिल । कोयल । (२) दूसरी जाति का मनुष्य ।
दूसरी विरादरी का आदमी । जैसे, परजात को न्योता देने का क्या काम ?

परजाता—संज्ञा पुं० [सं० पारिजात] मझोले आकार का एक पेड़ जो भारतवर्ष में प्रायः सर्वत्र होता है । इसकी पत्तियाँ पाँच छ अंगुल लंबी और चार अंगुल चौड़ी होती हैं । ये आगे की ओर बहुत नुकीली होती हैं और इनके किनारे नीम की पत्ती के किनारों की तरह कुछ कुछ कटावदार होते हैं । यह पेड़ फूलों के लिये लगाया जाता है जो गुच्छों में लगते हैं । फूल छोटे छोटे और डाँड़ीदार होते हैं । डाँड़ी का रंग लाल या नारंगी और दलों का रंग सफेद होता है । सुखी हुई डाँड़ियों को उबाल कर पीला रंग निकाला जाता है । परजाता शरद ऋतु में फूलता है । फूल बराबर झड़ते रहते हैं; पेड़ में कम ठहरते हैं । पत्तियाँ दवा के काम आती हैं और बहुत गरम होती हैं । ज्वर में प्रायः लोग परजाते की पत्ती देते हैं । इसे हरलिंगार भी कहते हैं ।

परजाति—संज्ञा स्त्री० [सं०] दूसरी जाति ।

परजाय—संज्ञा पुं० दे० “पर्याय” ।

परजौट—संज्ञा पुं० [हिं० परजा + और या औत (प्रत्य०)] (१) घर बनाने के लिये सालाना किसान पर जमीन खेने देने का नियम । जैसे, यह जमीन मैंने परजौट पर ली है । (२) वह सालाना जो मकान बनाने के लिये ली हुई जमीन पर लगे ।

परणना—क्रि० सं० [सं० परिणयन] व्याहना । विवाह करना ।

परतंगण—संज्ञा पुं० [सं०] एक देश का प्राचीन नाम । (महा-भारत)

परतंचा—संज्ञा स्त्री० दे० “पतंचिका” ।

परतंत्र—वि० [सं०] पराधीन । परवश ।

संज्ञा पुं० (१) उत्तम शास्त्र । (२) उत्तम वक्त्र ।

परतः—अव्य० [सं० परतस्] (१) दूसरे से । अन्य से । (२) पश्चात् । पीछे । (३) परे । आगे ।

परतःप्रमाण—संज्ञा पुं० [सं०] जो स्वतः प्रमाण न हो । जिसे दूसरे प्रमाणों की अपेक्षा हो । जो दूसरे प्रमाणों के अनुकूल होने पर ही सबूत में कहा जा सके ।

परत—संज्ञा स्त्री० [सं० पत्र, हिं० पत्र वा सं० पत्र] (१) मोटाई का फैलाव जो किसी सतह के ऊपर हो । स्तर । तह । जैसे,

(क) इस पर गीली मिट्टी की एक परत चढ़ा दो। (ख) बालू की परत पर परत जमने से ये चट्टानें बनी हैं।— शिवप्रसाद। (२) लपेटी जा सकनेवाली फैलाव की वस्तुओं (जैसे, कागज, कपड़ा, चमड़ा, इत्यादि) का इस प्रकार का मोड़ जिससे उनके भिन्न भिन्न भाग ऊपर नीचे हो जायें। तब। जैसे, इस कपड़े को परत लगाकर रख दो।

क्रि० प्र०—लगाना।

(३) कपड़े, कागज आदि के भिन्न भिन्न भाग जो जोड़ने से नीचे ऊपर हो गए हों। तब।

परतच्छ—* वि० दे० “प्रत्यक्ष”।

परतल—संज्ञा पुं० [सं० पट = वस्त्र + तल = नीचे] लादनेवाले घोड़ों की पीठ पर रखने का बोरा या गून।

यौ०—परतल का टट्टू = लट्टू घोड़ा।

परतला—संज्ञा पुं० [सं० परितन = चारों ओर खींचा हुआ] चमड़े या मोटे कपड़े की चौड़ी पट्टी जो कंधे से लेकर कमर तक छाती और पीठ पर से तिरछी होती हुई आती है और जिसमें तलवार लटकाई जाती है।

परता—संज्ञा पुं० दे० “पड़ता”।

परताजना—संज्ञा पुं० [देश०] सेनारों का एक औजार जिससे वे गहनों पर मछली के सेहरे का आकार बनाते हैं।

परताप—* संज्ञा पुं० दे० “प्रताप”।

परताल—संज्ञा स्त्री० दे० “पड़ताल”।

परतिंचा—* संज्ञा स्त्री० दे० “पतंचिका”।

परतिज्ञा—* संज्ञा स्त्री० दे० “प्रतिज्ञा”।

परती—संज्ञा स्त्री० [हिं० परना = पड़ना] (१) वह खेत या जमीन जो बिना जोती हुई छोड़ दी गई हो।

क्रि० प्र०—छोड़ना।—डालना।—पड़ना।

(२) वह चदर जिससे हवा करके भूसा उड़ाते हैं।

मुहा०—परती लेना = चदर से हवा करके भूसा उड़ाना। बरसाना। ओसाना।

परतीत—* संज्ञा स्त्री० दे० “प्रतीति”।

परतेजना—* क्रि० सं० [सं० परित्यजन] परित्याग करना। छोड़ना।

उ०—जैसे उन मोकों परते जी कबहुँ फिर न निहारत हैं।—सूर।

परतेला—वि० [हिं० पड़ना] वह रंग जो तैयार होने के लिये कुछ समय तक धोख या डबालकर रखा जाय। (रंगरेज़)

परतोली—संज्ञा स्त्री० [सं० प्रतोली] गली। (हिं०)

परत्र—क्रि० वि० [सं०] (१) और जगह। (२) पर काल में। परलोक में।

परबमीर—वि० [सं०] जिसे परलोक का भय हो। धार्मिक।

परत्व—संज्ञा पुं० [सं०] पर होने का भाव। पहले या पूर्व होने का भाव।

य०—परत्व अपरत्व = पहले पीछे का भाव।

विशेष—वैशेषिक में द्रव्य के जो २४ गुण माने गए हैं उनमें ‘परत्व’ ‘अपरत्व’ भी हैं। ‘परत्व’ ‘अपरत्व’ देश और काल के भेद से दो प्रकार के होते हैं—कालिक और देशिक। जैसे, ‘इसका जन्म तुमसे पहले का है’ यह कालसंबंधी ‘परत्व’ हुआ। ‘इसका घर पहले पड़ता है’ यह देश-संबंधी परत्व हुआ। देशसंबंधी परत्व अपरत्व का विपर्यय हो सकता है, पर कालसंबंधी परत्व अपरत्व का नहीं।

परथन—† संज्ञा पुं० दे० “पलेथन”।

परदच्छिना—† * संज्ञा स्त्री० दे० “प्रदक्षिणा”।

परदा—संज्ञा पुं० [फा०] (१) वह कपड़ा, टट्टी आदि जिसके सामने पड़ने से कोई स्थान या वस्तु लोगों की दृष्टि से छिपी रहे। आड़ करने के काम में आनेवाला कपड़ा, टाट, चिक आदि। पट। जैसे, खिड़की में जो परदा लटक रहा है उस पर बहुत अच्छा काम है।

क्रि० प्र०—उठाना।—खड़ा करना।—गिराना।—डालना।—पड़ना।

मुहा०—परदा उठाना = दे० “परदा खोलना”। परदा खोलना = छिपी बात प्रकट करना। भेद का उद्घाटन करना। परदा डालना = छिपाना। प्रकट न होने देना। जैसे, किसी के ऐबों पर परदा डालना। आखि पर परदा पड़ना = सुमाई न देना। बुद्धि पर परदा पड़ना = बुद्धि मंद होना। समझ में न आना। ढँका परदा = (१) छिपा हुआ दोष या कलंक। (२) बनी हुई प्रतिष्ठा या मर्यादा। जैसे, ढँका परदा रह जाय तो अच्छी बात है। (किसी का) परदा रखना = किसी की बुराई आदि लोगों पर प्रकट न होने देना। किसी की प्रतिष्ठा बनी रहने देना। उ०—मथुरा जाहि कहो सुन मेरो। पीत वसन तन श्याम जानि कै राखत परदा तेरो।—सूर। (२) आड़ करनेवाली कोई वस्तु। बीच में इस प्रकार पड़नेवाली वस्तु कि उसके इस पार से उस पार तक आना जाना देखना आदि न हो सके। दृष्टि या गति का अवरोध करनेवाली वस्तु। व्यवधान। (३) शोक जिससे सामने की वस्तु कोई देख न सके या उसके पास तक पहुँच न सके। आड़। ओट। ओझल। (४) लोगों की दृष्टि के सामने न होने की स्थिति। आड़। ओट। छिपाव।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

यौ०—परदानशील।

मुहा०—परदा रखना = (१) परदे के भीतर रहना। सामने न होना। जैसे, स्त्रियाँ मरदों से परदा रखती हैं। (२) छिपाव रखना। दुराव रखना। (किसी को) परदा लगाना = परदे में रहने की स्थिति प्राप्त होना। किसी के सामने न होने का नियम होना। जैसे, (क) पहले तो मारी मारी फिरती

थी अब इसे परदा लगा है। (ख) सामने आकर क्यों नहीं कहते, क्या तुम्हें परदा लगा है ? परदा होना = (१) परदा रखे जाने का नियम होना। स्त्रियों को सामने न होने देने का नियम होना। जैसे, तुम बेघड़क भीतर चले आओ तुम्हारे लिये यहाँ परदा नहीं है। (२) छिपाव होना। दुराव होना। जैसे, तुमसे क्या परदा है तुम तो सब हाल जानते ही हो। परदे बिठाना = (स्त्री को) परदे के भीतर रखना। परदे में रखना = (१) स्त्रियों को घर के भीतर रखना, बाहर लोगों के सामने न होने देना। (२) छिपा रखना। प्रकट न होने देना। परदे में रहना = (१) स्त्रियों का घर के भीतर ही रहना, लोगों के सामने न होना। अंतःपुर में रहना। जनान-खाने में रहना। (२) छिपा रहना। प्रकट न होना। परदे परदे = छिपे छिपे। चुपचाप। गुप्त रूप से। परदे में छेद होना = परदे के भीतर भीतर व्यभिचार होना।

(१) स्त्रियों को घर के भीतर रखने का नियम। स्त्रियों को बाहर निकल कर लोगों के सामने न होने देने की चाल। जैसे, हिंदुस्तान में जब तक परदा नहीं उठेगा स्त्रीशिक्षा का प्रचार अच्छी तरह नहीं हो सकता। (६) वह दीवार जो विभाग करने या ओट करने के लिये उठाई जाय। (७) तह। परत। तल। जैसे, जमीन का परदा, दुनिया का परदा। (८) वह फिली चमड़ा आदि जो कहीं पर आड़ या व्यवधान के रूप में हो, जैसे, आँख का परदा, कान का परदा। (९) अँगरेजों का वह भाग जो छाती के ऊपर रहता है। (१०) फारसी के बारह रागों में से प्रत्येक। (११) सितार, हारमोनियम आदि बाजों में वह स्थान जहाँ से स्वर निकाला जाता है। (१२) नाच की पतवार।

परदादा-संज्ञा पुं० [सं० प्र + हिं० दादा] [स्त्री० परदादी] प्रपिता-मह। दादा का बाप। पड़दादा।

परदानशीन-वि० [फा०] परदे में रहनेवाली। अंतःपुरवासिनी। जैसे, परदानशीन औरत।

परदुम्भ-संज्ञा पुं० दे० “प्रद्युम्न”। उ०—तुम परदुम्भ और अनरुध दोऊ। तुम अभिमन्यु बोल सब कोऊ।—जायसी।

परदेश-संज्ञा पुं० [सं०] विदेश। दूसरा देश। पराया शहर।

मुहा०—परदेश छाना = दूसरे देश में निवास करना। घर पर न रहना। (गीत)

परदेशी-वि० [सं०] विदेशी। दूसरे देश का। अन्य देशनिवासी।

परदेस-संज्ञा पुं० दे० “प्रदोष”।

परधान-वि० दे० “प्रधान”।

संज्ञा पुं० दे० “परिधान”। उ०—मथि मृगमद मलय कपूर सबनि के तिलक किए। उर मणिमाला पहिराय सब विचित्र ठर। दान मान परधान पूरण काम किए।—सूर।

परधाम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बैकुण्ठ धाम। परलोक। (२) ईश्वर। विष्णु। उ०—अज सच्चिदानंद परधामा।—तुलसी।

परन-संज्ञा पुं० [?] मृदंग, आदि बाजों के बजाते समय मुख्य बोलों के बीच बीच में बजाए जानेवाले बोलों के खंड। संज्ञा पुं० [सं० प्रतिज्ञा, प्रा० पडिण्णा, अथवा सं० पण = बाजी, शर्त] प्रतिज्ञा। टेक।

क्रि० प्र०—करना।—बाँधना।—होना।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पडना, पडन] पड़ी हुई बान। आदत। उ०—राखों हटकि उतै को धावै उनकी वैसिय परन परी री!—सूर।

संज्ञा पुं० दे० “पर्य”।

परना-क्रि० अ० दे० “पड़ना”।

परनाना-संज्ञा पुं० [सं० पर + हिं० नाना] [स्त्री० परनानी] नाना का बाप।

परनानी-संज्ञा स्त्री० [हिं० परनाना] नानी की माँ।

परनाम-संज्ञा पुं० दे० “प्रणाम”।

परनाला-संज्ञा पुं० [सं० प्रणाली] [स्त्री० अल्प० परनाली] वह मार्ग जिससे घर में का मल या पानी बह कर बाहर निकलता है। पनाला। नाबदान। मोरी।

परनाली-संज्ञा स्त्री० [सं० प्रणाली] (१) छोटा परनाला। मोरी। (२) अच्छे घोड़ों की पीठ का (पुट्टों और कंधों की अपेक्षा) नीचापन जो उनकी तेजी प्रकट करता है।

क्रि० प्र०—पड़ना।

परनि-संज्ञा स्त्री० [हिं० पडना, पडन] पड़ी हुई बान। आदत। टेव। उ०—(क) सूरदास तैसहि ये लोचन का धौ परनि परी।—सूर। (ख) ऐसी परनि परी, री! जाको लाज कहा ह्वै है तिनको!—सूर। (ग) राखों हटकि उतै को धावै उनकी वैसिय परनि परी री।—सूर।

परनी-संज्ञा स्त्री० [सं० पर्य, हिं० परन] रांगे का महीन पत्तर जिसमें सुनहली या रुपहली चमक होती है और जिसे सजावट के लिये चिपकाते हैं। पन्नी।

परनौत-संज्ञा स्त्री० [हिं० परनवना] प्रणति। प्रणाम। नमस्कार। उ०—ताते तुम को करत दंडौत। अरु सब नरहूँ को परनौत।—सूर।

परपंच-† संज्ञा पुं० दे० “प्रपंच”।

परपंचक-संज्ञा पुं० [सं० प्रपंचक] बखेड़िया। फसादी। जालिया। मायावी।

परपंची-संज्ञा पुं० [सं० प्रपंची] (१) बखेड़िया। फसादी। (२) भूत। मायावी। उ०—सब दल होहु हुस्यार चलहु अब घेरहिं जाई। परपंची है काहू कलू मति करै दिठाई।—सूर।

परपक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विरुद्ध पक्ष। विरोधियों का

दल । (२) विपत्ती की बात । मत का विरोध करनेवाले की बात ।

परपट-संज्ञा पुं० [हिं० पर + सं० पट = चादर] चारस मैदान । समतल भूमि ।

परपटी-संज्ञा स्त्री० दे० “परपटी” ।

परपराना-क्रि० अ० [देश०] मिर्च आदि कड़ई चीजों का जीभ या शरीर के और किसी भाग में एक विशेष प्रकार का उग्र संवेदन उत्पन्न करना । तीक्ष्ण लगाना । चुनचुनाना ।

परपराहट-संज्ञा स्त्री० [हिं० परपराना + आहट (प्रत्य०)] परपराने का भाव । चुनचुनाहट ।

परपाकनिवृत्त-वि० [सं०] जो दूसरे के उद्देश्य से भोजन न निकाले । पंचयज्ञ न करनेवाला (गृहस्थ) ।

विशेष—ऐसे मनुष्य का अन्न भोजन करनेवाले ब्राह्मण को प्रायश्चित्त करना चाहिए । (मिताक्षरा)

परपाकरत-वि० [सं०] जो स्वयं पंचयज्ञ करके दूसरे का दिया अन्न भोजन करके रहे ।

विशेष—ऐसे का अन्न भोजन करनेवाले ब्राह्मण को प्रायश्चित्त करना चाहिए । (मिताक्षरा)

परपाजा-संज्ञा पुं० [सं० पर + पर + हिं० आज्ञा] [स्त्री० परपाजी] आज्ञा या दादा का बाप । पितामह का पिता । प्रपितामह ।

परपार-संज्ञा पुं० [सं०] उस ओर का तट । दूसरी तरफ का किनारा । उ०—सील सुधा के अगार सुखमा के पारावार पावत न परपार पैरि पैरि थाके हैं ।—तुलसी ।

परपिंडाद-संज्ञा पुं० [सं०] पराबोपजीवी । दूसरे का अन्न खाकर जीनेवाला ।

परपीडक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दूसरे को पीड़ा या दुःख पहुँचानेवाला । (२) पराई पीड़ा को समझनेवाला । दूसरे के दुःख की ओर ध्यान देनेवाला । उ०—मागध हति राजा सब छोरे ऐसे प्रभु परपीरक ।—सूर ।

परपुरुष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पति के अतिरिक्त अन्य पुरुष । (२) परम पुरुष । विष्णु ।

परपुष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] (जिसका दूसरे ने पोषण किया हो) कोकिल । कोयल ।

विशेष—कहते हैं कि कोयल के बच्चे को कौआ अपना बच्चा समझ पावता है ।

परपुष्टमहोत्सव-संज्ञा पुं० [सं०] आम का पेड़ (जिससे कोयल को बड़ा आनंद होता है) ।

परपुष्टा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पराश्रया । वेश्या । (२) परगाछा । बौंदा ।

परपूठा-वि० [सं० परिपुष्ट, प्रा० परिपुठ] पक्का । उ०—कबिरा तहाँ न जाइए जहाँ कपट को चित्त । परपूठा अवगुन घना मुँहड़े ऊपर मित्त ।—कबीर ।

परपूर्वा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्त्री जो अपने पहले पति को छोड़ दूसरा पति करे ।

विशेष—क्षता और अक्षता दो प्रकार की परपूर्वा कही गई हैं । नारद ने सात भेद बतलाए हैं—तीन प्रकार की पुनर्भू और चार प्रकार की स्वैरिणी ।

परपैठ-संज्ञा स्त्री० [हिं० पर = दूसरा + पैठ = बाजार] हुंडी की तीसरी नकल । हुंडी की तीसरी प्रतिलिपि ।

परपोता-संज्ञा पुं० [सं० प्रपौत्र] पोते का बेटा । पुत्र के पुत्र का पुत्र ।

परपौत्र-संज्ञा पुं० [सं०] प्रपौत्र का पुत्र । पोते के बेटे का बेटा ।

परफुल्ल* वि० दे० “प्रफुल्ल” ।

परफुल्लित-वि० दे० “प्रफुल्ल” ।

परबंध-संज्ञा पुं० [सं० पदबंध] नाच की एक गत जिसमें दोनों पैर इस प्रकार खड़े रखते हैं कि कमर पर दोनों कुहनियाँ सटी रहती हैं ।

परबंध*—संज्ञा पुं० दे० “प्रबंध” ।

परब-संज्ञा पुं० दे० “पर्व” ।

संज्ञा स्त्री० [सं० पर्व = पोर, खंड] किसी रत्न वा जवाहिर का छोटा टुकड़ा ।

परबत-संज्ञा पुं० दे० “पर्वत” ।

परबत्ता-संज्ञा पुं० [सं० पर्वत] पहाड़ी तोता या सुग्गा जो देशी तोते से बड़ा होता है और जिसके दोनों डैनों पर लाल दाग होते हैं । करमेल ।

परबल*—वि० दे० “प्रबल” ।

परबल-संज्ञा पुं० । वि० दे० “प्रबल” ।

परबलताई*—संज्ञा स्त्री० [सं० परवश्यता + ई (प्रत्य०)] पराधीनता । परतंत्रता । उ०—हरि विरंचि हर हेरि राम प्रेम परबलताई । सुख समाज रघुराज के बरनत विसुद मनः सुरनि सुमन करि लाई ।—तुलसी ।

परबाल-संज्ञा पुं० [हिं० पर = दूसरा + बाल = रोयाँ] आँख की पलक पर वह फालतू निकला हुआ बाल या बिरनी जिसके कारण बहुत पीड़ा होती है ।

*संज्ञा पुं० दे० “प्रवाल” ।

परवी-संज्ञा स्त्री० [सं० पर्व] पर्व का दिन । उत्सव का दिन । पुण्यकाल ।

परवीन*—वि० दे० “प्रवीण” ।

परवेस*—संज्ञा पुं० दे० “प्रवेश” ।

परबोध-संज्ञा पुं० दे० “प्रबोध” ।

परबोधना*—क्रि० सं० [सं० प्रबोधन] (१) जगाना । (२) ज्ञानोपदेश करना । (३) प्रबोध देना । दिलासा देना । तसल्ली देना । ढाढस बँधाना । समझाना । उ०—पुनि यह कहा मोहि परबोधत धरनि गिरी सुरमैया ।—सूर ।

परब्रह्म—संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्म जो जगत् से परे है। निर्गुण निरुपाधि ब्रह्म।

परभव—संज्ञा पुं० [सं०] जन्मांतर। दूसरा जन्म।

परभा*—संज्ञा स्त्री० दे० “प्रभा”।

परभाइ*—संज्ञा पुं० दे० “प्रभाव”।

परभाग—संज्ञा पुं० [सं०] (१) दूसरी ओर का भाग। (२) पश्चिम भाग। (३) शेष भाग। ब्रचा हुआ भाग। (४) गुणोत्कर्ष। अच्छापन। (५) सुसंपदा।

परमान्योपजीवी—वि० [सं०] दूसरे की कमाई खाकर रहनेवाला।

परभात*—संज्ञा पुं० दे० “प्रभात”

परभाती—संज्ञा स्त्री० दे० “प्रभाती”

परभाव*—संज्ञा पुं० दे० “प्रभाव”। उ०—यह सब कलियुग को परभाव। जो नृप के मन भयो कुठाव।—सूर।

परभुक्ता—वि० स्त्री० [सं०] दूसरे की भोगी हुई। (स्त्री) जिसके साथ पहले दूसरा समागम कर चुका हो।

परभृत—संज्ञा स्त्री० [सं०] कोयल। कोकिल। (जो कौए के द्वारा पाली जाती है)।

परम—वि० [सं०] (१) सब से बड़ा चढ़ा। अत्यंत। हृद से ज्यादा। (२) जो बड़ चढ़ कर हो। उत्कृष्ट। (३) प्रधान। मुख्य। (४) आद्य। आदिम।

संज्ञा पुं० (१) शिव। (२) विष्णु।

परमगति—संज्ञा स्त्री० [सं०] उत्तम गति। मोक्ष। मुक्ति।

परमजा—संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रकृति।

परमज्या—संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र।

परमट—संज्ञा पुं० [देश०] संगीत में एक ताल।

परम तत्त्व—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मूल तत्त्व जिससे संपूर्ण विश्व का विकास है। मूल सत्ता। (२) ब्रह्म। ईश्वर।

परमद—संज्ञा पुं० [सं०] अत्यंत मद्य पीने से होनेवाला एक रोग जिसमें शरीर भारी रहता है, मुँह का स्वाद बिगड़ा रहता है; प्यास अधिक लगती है, माथे और शरीर के जोड़ों में दर्द होता है।

परम धाम—संज्ञा पुं० [सं०] वैकुण्ठ।

परमन्यु—संज्ञा पुं० [सं०] यदुवंशी कचेयु के एक पुत्र का नाम।

परम पद—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सब से श्रेष्ठ पद वा स्थान। (२) मोक्ष। मुक्ति।

परम पिता—संज्ञा पुं० [सं०] परमेश्वर।

परम पुरुष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) परमात्मा। (२) विष्णु।

परम फल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सब से उत्तम फल या परिणाम। (२) मोक्ष। मुक्ति।

परम ब्रह्म—संज्ञा पुं० [सं०] (१) परब्रह्म। (२) ईश्वर।

परम ब्रह्मचारिणी—संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

परमभट्टारक—संज्ञा पुं० [सं०] एकछत्र राजाओं की एक प्राचीन उपाधि।

परमभट्टारिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] रानियों की एक सम्मानसूचक उपाधि।

परममहत्—वि० [सं०] सब से बड़ा और व्यापक।

विशेष—काल, आत्मा, आकाश और दिक् ये सर्वगत होने के कारण परम महत् कहलाते हैं।

परम रस—संज्ञा पुं० [सं०] पानी मिला हुआ मट्ठा। जलमिश्रित तक्र।

परमर्हिदेव—संज्ञा पुं० [सं०] महोबे के एक चंदेलवंशी राजा जो आल्हा में राजा परमाज के नाम से प्रसिद्ध हैं। पृथ्वीराज ने इन पर चढ़ाई करके इन्हें अधीन किया था।

परमल—संज्ञा पुं० [सं०] परिमल = कूटा हुआ, मला हुआ ? उवार या गेहूँ का एक प्रकार का भुना हुआ दाना या चबेना। (उवार को भिगो कर कूटते हैं और फिर भाड़ में भून लेते हैं) संज्ञा पुं० दे० “परिमल”।

परमहंस—संज्ञा पुं० [सं०] (१) संन्यासियों का एक भेद। वह संन्यासी जो ज्ञान की परमावस्था को पहुँच गया हो अर्थात् सच्चिदानंद ब्रह्म में ही हूँ इसका पूर्ण रूप से अनुभव जिसे हो गया हो।

विशेष—कुटीचक्र, बहुदक, हंस और परमहंस जो चार प्रकार के अवधूत कहे गए हैं उनमें परमहंस सब से श्रेष्ठ है। जिस प्रकार संन्यासी होने पर शिखा सूत्र का त्याग कर दंड ग्रहण करते हैं उसी प्रकार परमहंस अवस्था को प्राप्त करने पर दंड की भी आवश्यकता नहीं रह जाती। निर्यय सिंधु में लिखा है कि जो परमहंस विद्वान् न हों उन्हें एक दंड धारण करना चाहिए पर जो विद्वान् हों उन्हें दंड की कोई आवश्यकता नहीं। परमहंस आश्रम में प्रवेश करने पर मनुष्य सब प्रकार के बंधनों से मुक्त समझा जाता है, उसके लिये आद्य, संध्या, तर्पण आदि आवश्यक नहीं। देवाचन आदि भी उसके लिये नहीं हैं, किसी को नमस्कार आदि करने से उसे कोई प्रयोजन नहीं। उसे अध्यात्मनिष्ठ होकर निर्द्वंद्व और निराग्रह भाव से ब्रह्म में स्थित रहना चाहिए। पर आज कल कुछ परमहंस देवमूर्तियों का पूजन आदि करते हैं, पर नमस्कार नहीं करते।

(२) परमात्मा। इ०—परमहंस तुम सबके ईस। वचन तुम्हारे श्रुति जगदीस।—सूर।

परमा—संज्ञा स्त्री० [सं०] चण्ड।

संज्ञा स्त्री० शोभा। कृति। खूबसूरती। उ०—बानी मधुरी बास बत परमा परम विसाज।—दीनदयाल।

विशेष—यह प्रयोग अमरकोश के ‘सुषमा परमा शोभा’ में ‘परमा’ विशेषण को पर्याय समझने के कारण चल पड़ा है।

† संज्ञा पुं० [सं० प्रमेह] प्रमेह रोग ।

परमाटा—संज्ञा पुं० [देश०] संगीत में एक ताल ।

संज्ञा पुं० [अ० परमटा] एक प्रकार का चिकना, चमकीला और दबीज कपड़ा ।

विशेष—परमाटा आस्ट्रेलिया में एक स्थान है। वहाँ से जो ऊन आता था उससे एक प्रकार का कपड़ा बनता था जिसका ताना सूत का और बाना ऊन का होता था। उसी को परमाटा कहते थे। पर अब परमाटा सूत का ही बनता है ।

परमाणु—संज्ञा पुं० [सं०] अत्यंत सूक्ष्म अणु । पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार भूतों का वह छोटे से छोटा भाग जिसके फिर विभाग नहीं हो सकते ।

विशेष—वैशेषिक में चार भूतों के चार तरह के परमाणु माने हैं—पृथ्वी परमाणु, जल परमाणु, तेज परमाणु और वायु परमाणु। पाँचवाँ भूत आकाश विभु है। इससे उसके टुकड़े नहीं हो सकते। परमाणु इसलिये मानने पड़े हैं कि जितने पदार्थ देखने में आते हैं सब छोटे छोटे टुकड़ों से बने हैं। इन टुकड़ों में से किसी एक को लेकर हम बराबर टुकड़े करते जायें तो अंत में ऐसे टुकड़े होंगे जो हमें दिखाई न पड़ेंगे। किसी छेद से आती हुई सूर्य की किरणों में जो छोटे छोटे कण दिखाई पड़ते हैं उनके टुकड़े करने से अणु होंगे। ये अणु भी जिन सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणों से मिल कर बने होंगे उन्हीं का नाम परमाणु रक्खा गया है। न्याय और वैशेषिक के मत से इन्हीं परमाणुओं के संयोग से पृथ्वी आदि द्रव्यों की उत्पत्ति हुई है जिसका क्रम प्रशस्त-पाद भाष्य में इस प्रकार लिखा गया है ।

जब जीवों के कर्मफल के भोग का समय आता है तब महेश्वर की उस भोग के अनुकूल सृष्टि करने की इच्छा होती है। इस इच्छा के अनुसार जीवों के अदृष्ट के बल से वायु-परमाणुओं में चलन उत्पन्न होता है। इस चलन से उन परमाणुओं में परस्पर संयोग होता है। दो दो परमाणुओं के मिलने से द्व्यणुक उत्पन्न होते हैं। तीन द्व्यणुक मिलने से त्रसरेणु, चार द्व्यणुक मिलने से चतुरणुक इत्यादि उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार एक महान् वायु उत्पन्न होता है। उसी वायु में जल-परमाणुओं के परस्पर संयोग से जलद्व्यणुक जलत्रसरेणु आदि की योजना होते होते महान् जलनिधि उत्पन्न होता है। इस जलनिधि में पृथ्वी परमाणुओं के संयोग से द्व्यणुकादि क्रम से महापृथ्वी उत्पन्न होती है। उसी जलनिधि में तेजस परमाणुओं के परस्पर संयोग से महान् तेजोराशि की उत्पत्ति होती है। इसी क्रम से चारों महाभूत उत्पन्न होते हैं। यही संक्षेप में वैशेषिकों का परमाणुवाद है ।

परमाणु अत्यंत सूक्ष्म और केवल अनुमेय है। अतः तर्कामृत नाम के एक नवीन ग्रंथ में जो यह लिखा गया है कि सूर्य की आती हुई किरणों के बीच जो धूल के कण दिखाई पड़ते हैं उनके छोटें भाग को परमाणु कहते हैं वह प्रामाणिक नहीं है। वैशेषिकों का सिद्धांत है कि कारणगुण-पूर्वक ही कार्य के गुण होते हैं, अतः जैसे गुण परमाणु में होंगे वैसे ही गुण उनसे बनी हुई वस्तुओं में होंगे। जैसे, गंध गुरुत्व आदि जिस प्रकार पृथ्वीपरमाणु में रहते हैं उसी प्रकार सब पार्थिव वस्तुओं में होते हैं ।

आधुनिक रसायन और भूत विज्ञान द्वारा प्राचीनों के मूल भूत और परमाणुसंबंधी धारणा का बहुत कुछ निराकरण हो गया है। प्राचीन लोग पंचमहाभूत मानते थे जिनमें से आकाश को छोड़ शेष चार भूतों के अनुसार चार प्रकार के परमाणु भी उन्हें मानने पड़े थे। पर इन चार भूतों में से अब तीन तो कई मूल भूतों के योग से बने पाए गए। जैसे, जल दो गैसों (वायु से भी सूक्ष्म भूत) के योग से बना सिद्ध हुआ। इसी प्रकार वायु में भी भिन्न भिन्न गैसों का संयोग विश्लेषण द्वारा पाया गया। रहा तेज उसे विज्ञान भूत नहीं मानता केवल भूत की शक्ति (गति शक्ति) का एक रूप मानता है। ताप से परिमाण की वृद्धि नहीं होती। ठंडे लोहे का जो वजन रहेगा वही उसे तपाने पर भी रहेगा। अस्तु आधुनिक रसायन शास्त्र में ७५ मूल भूत माने गए हैं, जिनमें से कुछ तो धातुएँ हैं, जैसे ताँबा, सोना, लोहा, सीसा, चाँदी, रौंदा जस्ता; कुछ और खनिज हैं जैसे, गंधक, फासफर, पोटाश, अंजन, पारा, हड़ताल तथा कुछ गैस, हैं जैसे आक्सीजन, नाइट्रोजन हाइड्रोजन आदि। इन्हीं पचहत्तर मूल भूतों के अनुसार पचहत्तर प्रकार के परमाणु आधुनिक रसायन में माने जाते हैं ।

परमाणुवाद—संज्ञा पुं० [सं०] न्याय और वैशेषिक का यह सिद्धांत कि परमाणुओं से जगत् की सृष्टि हुई है ।

विशेष—वैशेषिक और न्याय दोनों पृथ्वी आदि चार महाभूतों की उत्पत्ति चार प्रकार के परमाणुओं के योग से मानते हैं (दे० परमाणु)। जिस परमाणु में जो गुण होते हैं वे उससे बने हुए पदार्थों में भी होते हैं। पृथ्वी, वायु इत्यादि के परमाणुओं के योग से बने हुए पदार्थ जो नाना रूप रंग और आकृति के होते हैं, वह इस कारण कि भिन्न भिन्न भूतों द्व्यणुकों या त्रसरेणुकों का सन्निवेश और संघटन तरह तरह का होता है। दूसरी बात यह है कि तेज के संबंध से वस्तुओं के गुणों में फेरफार हो जाता है। जैसे कच्चा घड़ा पकाए जाने पर लाल हो जाता है। इसके संबंध में वैशेषिकों की यह धारणा है कि अग्नि में जाकर अग्नि

के प्रभाव से घड़े के टुकड़े टुकड़े हो जाते हैं अर्थात् उसके परमाणु अलग अलग हो जाते हैं। अलग होने पर प्रत्येक परमाणु तेज के योग से रंग बदल कर लाल हो जाता है। फिर जब सब अणु जुड़ कर फिर घड़े के रूप में हो जाते हैं तब घड़े का रंग लाल निकल आता है। वैशेषिक कहते हैं कि अग्नि में जाकर घड़े का एक बार नष्ट होकर फिर बन जाना इतने सूक्ष्म काल में होता है कि हम लोग देख नहीं सकते। इसी विलक्षण मत को 'पीलुपाकमत' कहते हैं। नैयायिकों का मत इस विषय में ऐसा नहीं है। वे कहते हैं कि इस प्रकार अदृश्य नाश और उत्पत्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि सब वस्तुओं में परमाणुओं या द्रवणुओं का संयोग इस प्रकार का रहता है कि उनके बीच बीच में कुछ अवकाश रह जाता है। इसी अवकाश में भर कर अग्नि का तेज अणुओं का रंग बदलता है। वेदांत में नैयायिकों और वैशेषिकों के परमाणुवाद का खंडन किया गया है।

परमाणुवादी—संज्ञा पुं० [सं० परमाणुवादिन्] परमाणुओं के योग से सृष्टि की उत्पत्ति माननेवाला। सृष्टि की उत्पत्ति के संबंध में न्याय और वैशेषिक का मत माननेवाला।

परमात्मा—संज्ञा पुं० [सं० परमात्मन्] ब्रह्म। परब्रह्म। ईश्वर।

परमाद्वैत—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सर्वभेदरहित परमात्मा। (२) विष्णु।

परमानंद—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहुत बड़ा सुख। (२) ब्रह्म के अनुभव का सुख। ब्रह्मानंद। (३) आनंद स्वरूप ब्रह्म।

परमान—† संज्ञा पुं० [सं० प्रमाण] (१) प्रमाण। सबूत। (२) यथार्थ बात। सत्य बात। (३) सीमा। मिति। अवधि। इह। उ०—तप बल तेहि करि आहु समाना। रखिहैं इहाँ वरष परमाना।—तुलसी।

विशेष—इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग प्रायः अव्ययवत् रहता है।

परमानना—क्रि० सं० [सं० प्रमाण] (१) प्रमाण मानना। ठीक समझना। (२) स्वीकार करना। सकारना।

परमान्न—संज्ञा पुं० [सं०] खीर। पायस।

विशेष—देवताओं को अधिक प्रिय होने के कारण यह नाम पड़ा।

परमायु—संज्ञा स्त्री० [सं० परमायुस्] अधिक से अधिक आयु। जीवित काल की सीमा।

विशेष—मनुष्य की परमायु १२० वर्ष की मानी जाती है। फलित ज्योतिष में मनुष्य की परमायु चार प्रकार से निकाली जाती है जिसे क्रमशः अंशायु, पिंडायु, निसर्गायु और जीवायु कहते हैं। लग्न बलवान हों तो निसर्गायु और यदि तीनों दुर्बल हों तो जीवायु निकालनी चाहिए।

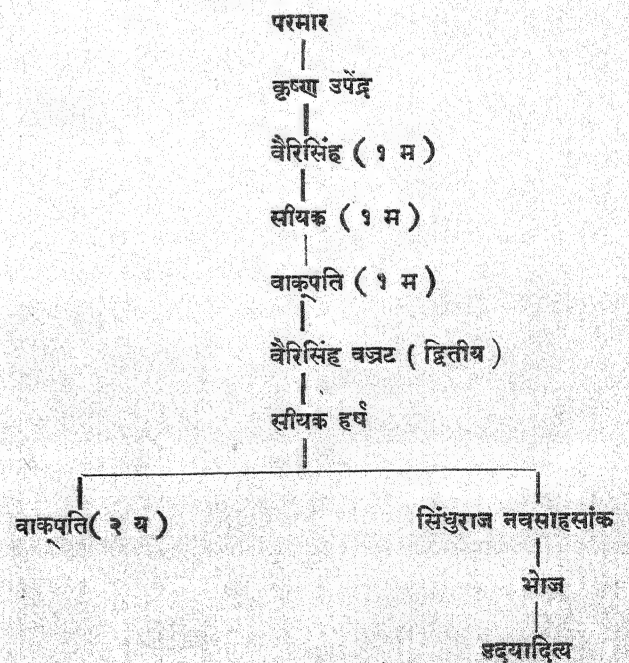
परमायुष—संज्ञा पुं० [सं०] विजयसाल का पेड़।

परमार—संज्ञा पुं० [सं० पर = शत्रु + हिं० मारना] राजपूतों का एक कुल जो अग्निकुल के अंतर्गत है। पँवार।

विशेष—परमारों की उत्पत्ति शिलालेखों तथा नवसाहसांक-चरित में इस प्रकार मिलती है। महर्षि वसिष्ठ अर्जुनगिरि (आबू पहाड़) पर निवास करते थे। विश्वामित्र उनकी गाय वहाँ से छीन ले गए। वसिष्ठ ने यज्ञ किया और अग्निकुंड से एक वीर पुरुष उत्पन्न हुआ जिसने बात की बात में विश्वामित्र की सारी सेना नष्ट करके गाय लाकर वसिष्ठ के आश्रम पर बाँध दी। वसिष्ठ ने प्रसन्न होकर कहा 'तुम परमार (शत्रुओं को मारनेवाले) हो और तुम्हारा राज्य चलेगा।' इसी परमार के वंश के लोग परमार कहलाए।

डाड साहब ने परमारों की अनेक शाखाएँ गिनाई हैं, जैसे, मोरी (जो गहलोतों के पहले चित्तौर के राजा थे), सोड़ा, संकल, खैर, उमरा सुमरा (आज कल सुसलमान हैं) विहिल, महीपावत, बलहार, कावा, ओमता इत्यादि। इनके अतिरिक्त चावड़, खेजर, सगरा, बरकोटा, संपाल, भीवा, कोहिला, घंद, देवा, बरहर, निकुंभ, टीका इत्यादि और भी कुल हैं जिनमें से कुछ सिंध पार रहते हैं और पठान सुसलमान हो गए हैं।

परमारों का राज्य मालवा में था यह तो प्रसिद्ध ही है कि अनेक स्थानों पर मिले हुए शिलालेखों तथा पद्मगुप्त के नवसाहसांकचरित से मालवा के परमार राजाओं की वंशावली इस प्रकार निकलती है—



ईसा की आठवीं शताब्दी में कृष्ण उर्पेद्र ने मालवा का राज्य प्राप्त किया। स्तीयक (द्वितीय) या श्रीहर्ष देव के संबंध में पद्मगुप्त ने लिखा है कि उसने एक हूण राजा को पराजित किया। उदयपुर की प्रशस्ति से यह भी जाना जाता है कि उसने राष्ट्रकूट वंशीय मान्यखेट (मानखेड़ा) के राजा खेट्टिगदेव का राज्य ले लिया। पाहल्लच्छी नाममाला नाम का धनपाल का लिखा एक प्राकृत कोश है जिसमें लिखा है कि “विक्रम संवत् १०२६ में मालवा के राजा ने मान्यखेट पर चढ़ाई की और इसे लूटा। उसी समय में यह ग्रंथ लिखा गया।” श्रीहर्षदेव या स्तीयक (द्वितीय) के पुत्र वाक्पतिराज (द्वितीय) का पहला ताम्रपत्र १०३१ वि० संवत् का मिलता है। ताम्रपत्रों शिलालेखों और नवसाह-सांकचरित में वाक्पतिराज के कई नाम मिलते हैं, जैसे, मुंज, उत्पलराज, अमोघवर्ष, पृथिवीवल्लभ, श्रीवल्लभ। यह बड़ा विद्वान् और कवि था। मुंज वाक्पतिराज के अनेक श्लोक प्रबंधचिंतामणि, भोजप्रबंध, तथा अलंकारग्रंथों में मिलते हैं। इसकी समा में कवि धनंजय, पिंगल टीकाकार हल्लायुध, कोशकार धनपाल, और पद्मगुप्त आदि अनेक पंडित थे। इसने दक्षिण के कर्णाट, लाट, केरल, चोल, आदि अनेक देशों को जय किया। प्रबंधचिंतामणि में लिखा है कि वाक्पतिराज ने चालुक्यराज द्वितीय तैलव को सोलह बार हराया, पर अंत में एक चढ़ाई में उसके यहाँ बंदी हो गया और वहीं उसकी मृत्यु हुई। चालुक्य राजाओं के शिलालेखों में भी इस बात का उल्लेख मिलता है।

मुंज के उपरांत उसका छोटा भाई सिंधुराज या सिंधुल गद्दी पर बैठा। इसकी एक उपाधि नवसाहसांक भी थी। नवसाहसांकचरित में पद्मगुप्त ने इसी का वृत्तांत लिखा है। सिंधुराज का पुत्र महाप्रतापी विद्वान् और दानी भोज हुआ जिसका नाम भारत में घर घर प्रसिद्ध है। उदयपुर प्रशस्ति में लिखा है कि भोज ने गुर्जर, लाट, कर्णाट लुरुक आदि अनेक देशों पर चढ़ाई की। भोज ने कल्याण के चालुक्य राजा तृतीय जयसिंह पर भी चढ़ाई की थी। पर जान पड़ता है कि इसमें उसे सफलता नहीं हुई। विल्हण के विक्रमांकदेवचरित में लिखा है कि जयसिंह के उत्तराधिकारी चालुक्यराज सोमेश्वर (द्वितीय) ने भोज की राजधानी धारा नगरी पर चढ़ाई की और भोज को भागना पड़ा। प्रबंधचिंतामणि तथा नागपुर की प्रशस्ति में भी लिखा है कि चेदिराज कर्ण और गुर्जरराज चालुक्य भीम ने मिलकर भोज पर चढ़ाई की जिससे भोज का अधःपतन हुआ। भोज की कब मृत्यु हुई यह ठीक नहीं मालूम। पर इतना अवश्य पता चलता है कि १६४ शक (सन् १०४२—४३ ई०) तक वह विद्यमान था। राजतरंगिणी में लिखा है कि

काश्मीरपति कलस और मालवाधिप भोज दोनों कवि थे और एक ही समय में वर्तमान थे। इससे जान पड़ता है कि सन् १०६२ ई० के कुछ काल पीछे ही इसकी मृत्यु हुई होगी। भोज के पीछे उदयादित्य का नाम मिलता है जिसने धारा नगरी को शत्रुओं के हाथ से निकाला और धरणी-वराह के मंदिर की मरम्मत कराई। इससे अधिक और कुछ ज्ञात नहीं।

भूपाल में प्राप्त उदयवर्म के ताम्रपत्र तथा पिपलिया के ताम्रपत्र में ये नाम और मिलते हैं—भोजवंशीय महाराज यशोवर्मदेव, इसका पुत्र जयधर्मदेव, उसके पीछे महाकुमार लक्ष्मीवर्मदेव, उसके पीछे हरिश्चंद्र का पुत्र उदयवर्मदेव। पिछले दोनों कुमार भोजवंशीय थे या नहीं, नहीं कहा जा सकता। जान पड़ता है कि ये सामंत राजा थे जो जयधर्मदेव के बहुत पीछे हुए।

अवध में भुक्सा नाम के कुछ क्षत्रिय हैं जो अपने को भोजवंशी बतलाते हैं। उनका कहना है कि भोज के पीछे उदयादित्य निर्विघ्न राज नहीं कर पाया। उसके भाई जगत्-राज ने उसे निकाल दिया और वह कुछ अनुचरों और पुरोहितों के साथ वनवास नाम के गाँव में आ बसा। उसी के वंश के ये भुक्सा क्षत्रिय हैं।

परमारथ—संज्ञा पुं० दे० “परमार्थ”।

परमार्थ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) उत्कृष्ट पदार्थ। सब से बड़ कर वस्तु। (२) सार वस्तु। वास्तव सत्ता। नाम रूपादि से परे यथार्थ तत्त्व। (३) मोक्ष। (४) दुःख का सर्वथा अभावरूप सुख (न्याय)।

परमार्थता—संज्ञा स्त्री० [सं०] सत्य भाव। यथार्थ।

परमार्थवादी—संज्ञा पुं० [सं० परमार्थवादिन्] ज्ञानी। वेदांती। तत्त्वज्ञ।

परमार्थी—वि० [सं० परमार्थीन्] (१) यथार्थ तत्त्व को ढूँढने वाला। तत्त्वजिज्ञासु। उ०—परमार्थी प्रपंच वियोगी। —तुलसी। (२) मोक्ष चाहनेवाला। मुमुक्षु।

परमाह—संज्ञा पुं० [सं०] शुभ दिन। अठ्ठा दिन।

परमीकरणमुद्रा—संज्ञा स्त्री० [सं०] तंत्र के अनुसार देवताओं के आह्वान की एक मुद्रा जिसमें हाथ के दोनों अँगूठों को एक में गाँठ कर उँगलियों को फैलाते हैं। इसे महामुद्रा भी कहते हैं।

परमुख—वि० [सं० पराङ्मुख] (१) विमुख। पीछे फिरा हुआ। (२) जो ध्यान न दे। जो प्रतिकूल आचरण करे।

परमृत्यु—संज्ञा पुं० [सं०] काक। कौधा। (प्रवाद है कि कौए आप से आप नहीं मरते।)

परमेश—संज्ञा पुं० [सं०] परमेश्वर।

परमेश्वर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) संसार का कर्त्ता और परिचा-
जक सगुण ब्रह्म । (२) विष्णु । (३) शिव ।

परमेश्वरी—संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा या देवी का नाम ।

परमेष्ठ—संज्ञा पुं० [सं०] चतुर्मुख ब्रह्म । प्रजापति । (शुक्ल
यजु०) ।

परमेष्ठिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) परमेष्ठी की शक्ति । देवी ।
(२) श्री । (३) वाग्देवी । (४) ब्राह्मी जड़ी ।

परमेष्ठी—संज्ञा पुं० [सं० परमेष्ठि] (१) ब्रह्मा अग्नि आदि
देवता । (२) विष्णु । (३) शिव । (४) एक जिन
का नाम । (५) शालिग्राम का एक विशेष भेद । (६)
विराट् पुरुष । (७) चातुर्व मनु । (८) गरुड़ ।

परमेसर, परमेसुर—* संज्ञा पुं० दे० “परमेश्वर” ।

परमोद—* संज्ञा पुं० दे० “प्रमोद” ।

परयंक—* संज्ञा पुं० दे० “पर्यंक” ।

पर्यस्तापहनुति—संज्ञा स्त्री० दे० “पर्यस्तापहनुति” ।

पररु—संज्ञा पुं० [सं०] नील भृंगराज । नीली भंगरैया ।

परतल—संज्ञा पुं० [देश०] एक जंगली पेड़ जिसकी जड़ और छाल
बवा के काम में आती हैं और लकड़ी इमारतों में लगती है ।

परलउ—* संज्ञा पुं० दे० “प्रलय” ।

परलय—* संज्ञा स्त्री० [सं० प्रलय] प्रलय । सृष्टि का नाश वा
अंत । उ०—पल में परलय होगी बहुरि करोगे कब ?—
कबीर ।

परला—वि० [सं० पर = उपर का, दूसरा + ला (प्रलय०)] [स्त्री०
परली] उस ओर का । दूसरी तरफ का । उरला का उलटा ।

मुहा०—परले दरजे का = दे० “परले सिरे का” । परले सिरे
का = हद दरजे का । अत्यंत । बहुत अधिक । परले पार होना =
(१) अंत तक पहुँचना । बहुत दूर तक जाना । (२) समाप्त
होना ।

परलै—* संज्ञा स्त्री० दे० “प्रलय” ।

परलोक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) दूसरा लोक । वह स्थान जो
शरीर छोड़ने पर आत्मा को प्राप्त होता है । जैसे स्वर्ग, वैकुण्ठ
आदि ।

यौ०—परलोकवासी = मृत । मरा हुआ । (आदरार्थ)

मुहा०—परलोकगामी होना = मरना । परलोक सिधारना =
मरना ।

(२) मृत्यु के उपरांत आत्मा की दूसरी स्थिति की प्राप्ति ।
जैसे, जो ईश्वर और परलोक में विश्वास नहीं करते वे
नास्तिक कहलाते हैं ।

परलोकगमन—संज्ञा पुं० [सं०] मृत्यु ।

परलोकप्राप्ति—संज्ञा पुं० [सं०] मृत्यु ।

परवर—* संज्ञा पुं० [सं० पटोल] परवल ।

संज्ञा पुं० [?] आँख का एक रोग ।

संज्ञा पुं० दे० “प्रवर” ।

परवरदिगार—संज्ञा पुं० [फा०] (१) पालन करनेवाला ।
(२) ईश्वर ।

परवरिश—संज्ञा स्त्री० [फा०] पालन पोषण ।

परवल—संज्ञा पुं० [सं० पटोल] (१) एक लता जो टट्टियों पर
चढ़ाई जाती और जिसके फलों की तरकारी होती है । यह
सारे उत्तरीय भारत में पंजाब से लेकर बंगाल आसाम तक
होती है । पूरब में पान के भीटों पर परवल की बेलें
चढ़ाई जाती हैं । फल चार पाँच अंगुल लंबे और दोनों सिरों
की ओर पतले या नुकीले होते हैं । फलों के भीतर गूदे के
बीच गोख बीजों की कई पंक्तियाँ होती हैं । परवल की तर-
कारी पथ्य मानी जाती है और उबर के रोगियों को दी जाती
है । वैद्यक में परवल के फल कटु, तिक्त, पाचन, दीपक,
हृद्य, वृष्य, उष्ण, सारक तथा कफ, पित्त, उवर, दाह को
हटानेवाले माने जाते हैं । जड़ विरेचक और पत्ते तिक्त और
पित्तनाशक कहे गए हैं ।

पर्या०—कुलक । तिक्तक । पटु । कर्कशफल । फुलज । वाजि-
मान । लताफल । राजफल । वरतिक्त । अमृताफल । कटु-
फल । राजनामा । बीजगर्भ । नागफल । कुष्ठारि । कास-
मर्दन । ज्योत्स्नी । कच्छुघ्नी ।

(२) चिचड़ा जिसके फलों की तरकारी होती है ।

परवश—वि० [सं०] जो दूसरे के वश में हो । पराधीन ।

परवश्य—वि० [सं०] जो दूसरे के वश में हो । पराधीन ।

परवश्यता—संज्ञा स्त्री० [सं०] पराधीनता ।

परवस्ती—* संज्ञा स्त्री० दे० “परवरिश” ।

परवा—संज्ञा पुं० [सं० पुट, वा पूर, हिं० पुर, पुरवा] [स्त्री० अरप०
परई] मिट्टी का बना हुआ कटोरे के आकार का बरतन ।
कोला ।

संज्ञा स्त्री० [सं० प्रतिपदा, प्रा० पडिवा] पत्त की पहली स्थिति ।
पड़वा । परिवा ।

संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) चिंता । व्यग्रता । खटका । आशंका ।
जैसे, (क) उसकी धमकी की मुझे परवा नहीं है । (ख) तुम
मेरा साथ न दोगे तो कुछ परवा नहीं । (२) ध्यान ।
व्याख । किसी बात की ओर दृष्टि होने का भाव । जैसे,
(क) तुम उस लड़के की पढ़ाई लिखाई की कुछ परवा नहीं
रखते । (ख) उसे इतना लोग समझाते हैं पर वह कुछ
परवा नहीं करता । (३) आसरा । भरोसा । जैसे, जिसके
घर में सब कुछ है उसे दूसरे की क्या परवा ? उ०—दे०
“परवाह” ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की घास ।

परवाई—* संज्ञा स्त्री० दे० “परवा” या “परवाह” ।

परवाच्य—वि० [सं०] जिसे दूसरे बुरा कहते हैं। निंदित।

परवाज—संज्ञा स्त्री० [फा०] उड़ान।

परवाणि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) धर्माध्यक्ष। (२) कत्तर।
(३) क्रांति केय का वाहन, मयूर।

परवान—संज्ञा पुं० [सं० प्रमाण] (१) प्रमाण। सबूत।
(२) यथार्थ बात। सत्य बात। (३) सीमा। मिति।
अवधि। हद। उ०—तपबल तेहि करि आपु समाना।
रखिहौं इहाँ बरष परवाना।—तुलसी।

विशेष—इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग प्रायः अन्यत्र
रहता है।

मुहा—परवान चढ़ना=(१) पूरी आयु तक पहुँचना। सब
सुखों का पूरा भोग करना। जैसे, फले फूले परवान चढ़े (स्त्रि०
आशीर्वाद) (२) विवाहित होना। व्याहने जाना। (स्त्रि०)।

परवानगी—संज्ञा स्त्री० [फा०] इजाजत। आज्ञा। अनुमति।

परवाना—संज्ञा पुं० [फा०] (१) आज्ञापत्र।

यौ०—परवाने नवीस = परवाना लेखक।

(२) कतिंगा। पंखी। पतंग।

परवाया—संज्ञा पुं० [हि० पैर + पाया] चारपाई के पायों के नीचे
रखने की चीज।

परवाल—* संज्ञा पुं० दे० “प्रवाल”।

परवासिका, परवासिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] बाँदा। बंदाक।
परगाछा।

परवाह—संज्ञा स्त्री० [फा० परवा] (१) चिंता। व्यग्रता। खटका।
आशंका। उ०—चित्र के से लिखे दूज ठाढ़ रहे कासीराम;
नाहीं परवाह लोग लाख करो जरिबो।—काशीराम। (२)
ध्यान। खयाल। किसी बात की ओर चित्त देना। (३)
आसरा। भरोसा। उ०—जग में गति जाहि जगत्पति की
परवाह सो ताहि कहा नर की।—तुलसी।

संज्ञा पुं० [सं० प्रवाह] बहने का भाव।

मुहा०—परवाह करना = बहाना। धारा में छोड़ना। जैसे, इस
मुद्दे को परवाह कर दो।

परवीन—वि० दे० “प्रवीण”।

परवेख—संज्ञा पुं० [सं० परिवेष] बहुत हलकी बदली के बीच
दिखाई पड़नेवाला चंद्रमा के चारों ओर पड़ा हुआ घेरा।
मंडल। चाँद की अथाई। उ०—सारी सहित किनारी मुख
झुवि देख। मनहुँ शरद निशि चहुँ दिशि दुति परवेख।—
रहीम।

परवेश—संज्ञा पुं० दे० “प्रवेश”।

परवेश्म—संज्ञा पुं० [सं०] स्वर्ग।

परव्रत—संज्ञा पुं० [सं०] धृतराष्ट्र।

परश—संज्ञा पुं० [सं०] स्पर्शमणि। पारस पत्थर।

संज्ञा पुं० [सं० स्पर्श] स्पर्श। छूना।

परशाला—संज्ञा पुं० [सं०] परगाछा। बाँदा।

परशु—संज्ञा पुं० [सं०] एक अस्त्र जिसमें एक डंठे के सिरे पर
एक अर्द्धचंद्राकार लोहे का फल लगा रहता है। एक प्रकार
की कुल्हाड़ी जो पहले लड़ाई में काम आती थी। तबल।
भलुवा।

परशुधर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) परशु धारण करनेवाला। (२)
परशुराम।

परशुराम—संज्ञा पुं० [सं०] जमदग्नि ऋषि के एक पुत्र जिन्होंने
२१ बार वृत्रियों का नाश किया था। ये ईश्वर के लड़के अर्ध-
तार माने जाते हैं। ‘परशु’ इनका मुख्य शस्त्र था इसी से यह
नाम पड़ा।

विशेष—महाभारत के शांति पर्व में इनकी उत्पत्ति के संबंध में
यह कथा लिखी है। कुशिक पर प्रसन्न होकर इंद्र उनके
यहाँ गांधी नाम से उत्पन्न हुए। गांधी को सत्यवती नाम
की एक कन्या हुई जिसे उन्होंने भृगु के पुत्र ऋचीक को
व्याहा। ऋचीक ने एक बार प्रसन्न होकर अपनी स्त्री और
सास के लिये दो चर प्रस्तुत किए और सत्यवती से कहा
“इस चर को तुम खाना। इससे तुम्हें परम शांत और
तेजस्वी पुत्र उत्पन्न होगा। इस दूसरे चर को अपनी माता
को देना। इससे उन्हें अत्यंत वीर और प्रबल पुत्र उत्पन्न
होगा जो सब राजाओं को जीतेगा। पर भूल से सत्यवती ने
अपनी मातावाला चर खा लिया और गांधी की स्त्री सत्य-
वती की माता ने सत्यवती का चर खाया। जब ऋचीक को
यह पता चला तब उन्होंने सत्यवती से कहा “यह तो उलटा
हो गया। तुम्हारे गर्भ से अब जो बालक उत्पन्न होगा वह
बड़ा क्रूर, प्रचंड हान्न तेज से युक्त होगा और तुम्हारी माता
के गर्भ से जो पुत्र होगा वह परम शांत तपस्वी और ब्राह्मण
के गुणों से युक्त होगा”। सत्यवती ने बहुत चिन्तनी की कि
मेरा पुत्र ऐसा न हो, मेरा पौत्र हो तो हो। वन पर्व में यही
कथा कुछ दूसरे प्रकार से है।

कुछ दिनों में सत्यवती के गर्भ से जमदग्नि की उत्पत्ति हुई
जो तप और स्वाध्याय में अद्वितीय हुए और जिन्होंने समस्त वेद
वेदांग का तथा धनुर्वेद का अध्ययन किया। प्रलेनजित राजा की
कन्या रेणुका से उनका विवाह हुआ। रेणुका के गर्भ से
पाँच पुत्र हुए—समन्वान, सुषेण, वसु, विश्वावसु और राम
या परशुराम। इसके आगे वनपर्व में कथा इस प्रकार है।

एक दिन रेणुका स्नान करने के लिये नदी में गई थी।
वहाँ उसने राजा चित्ररथ को अपनी स्त्री के साथ जलक्रीड़ा
करते देखा और कामवासना से उद्विग्न होकर घर आई।
जमदग्नि उसकी यह दशा देख बहुत कुपित हुए और उन्होंने
अपने चार पुत्रों को एक एक करके रेणुका के वध की आज्ञा
दी। पर स्नेहवश किसी से ऐसा न हो सका। इतने में परशु-

राम आए। परशुराम ने आज्ञा पाते ही माता का सिर काट डाला। इस पर जमदग्नि ने प्रसन्न होकर वर माँगने के लिये कहा। परशुराम बोले “पहले तो मेरी माता को जिता दीजिए और फिर यह वर दीजिए कि मैं परमायु प्राप्त करूँ और युद्ध में मेरे सामने कोई न ठहर सके।” जमदग्नि ने ऐसा ही किया। एक दिन राजा कार्तवीर्य सहस्रार्जुन जमदग्नि के आश्रम पर आया। आश्रम पर रेणुका को छोड़ और कोई न था। कार्तवीर्य आश्रम के पेड़ पौधों को उजाड़ होमधेनु का बछड़ा लेकर चला गया। परशुराम ने आकर जब यह सुना तब वे तुरंत दौड़े और जाकर कार्तवीर्य की सहस्र भुजाओं को भाले से काट डाला। सहस्रार्जुन के कुटुंबियों और साथियों ने एक दिन आकर जमदग्नि से बदला लिया और उन्हें बाणों से मार डाला। परशुराम ने आश्रम पर आकर जब यह देखा तब पहले तो बहुत विलाप किया, फिर संपूर्ण क्षत्रियों के नाश की प्रतिज्ञा की। उन्होंने शस्त्र लेकर सहस्रार्जुन के पुत्र पौत्रादि का वध करके क्रमशः सारे क्षत्रियों का नाश किया। परशुराम की इस क्रूरता पर ब्राह्मण समाज में उनकी निंदा होने लगी और परशुराम दया से खिन्न हो वन में चले गए। एक दिन विश्वामित्र के पौत्र परावसु ने परशुराम से कहा “अभी जो यज्ञ हुआ था उसमें न जाने कितने प्रतापी राजा आए थे, आपने पृथ्वी को जो क्षत्रिय विहीन करने की प्रतिज्ञा की थी वह सब व्यर्थ थी।” परशुराम इस पर क्रुद्ध होकर फिर निकले और जो क्षत्रिय बचे थे उन सब का बाल बच्चों के सहित संहार किया। गर्भवती स्त्रियों ने बड़ी कठिनता से इधर उधर छिप कर अपनी रक्षा की। क्षत्रियों का नाश करके परशुराम ने अश्वमेध यज्ञ किया और उसमें सारी पृथ्वी कश्यप को दान दे दी। पृथ्वी क्षत्रियों से सर्वथा रहित न हो जाय इस अभिप्राय से कश्यप ने परशुराम से कहा “अब यह पृथ्वी हमारी हो चुकी अब तुम दक्षिण समुद्र की ओर चले जाओ।” परशुराम ने ऐसा ही किया।

वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि जब रामचंद्र शिव का धनुस् तोड़ सीता को व्याह कर लौट रहे थे तब परशुराम ने उनका रास्ता रोका और वैष्णव धनु उनके हाथ में देकर कहा “शैव धनुस् तो तुमने तोड़ा अब इस वैष्णव धनुस् को चढ़ाओ। यदि इस पर बाण चढ़ा सकोगे तो मैं तुम्हारे साथ युद्ध करूँगा।” राम धनुस् पर बाण चढ़ा बोले “बोले अब इस बाण से मैं तुम्हारी गति का अवरोध करूँ या तप से अर्जित तुम्हारे लोकों का हरण करूँ।” परशुराम ने हत-तेज और चकित होकर कहा “मैंने सारी पृथ्वी कश्यप को दान में दे दी है इससे मैं रात को पृथ्वी पर नहीं सोता। मेरी गति का अवरोध न करो, लोकों का हरण कर लो।”

परशुवन—संज्ञा पुं० [सं०] एक नरक का नाम जिसके पेड़ों के पत्ते परशु की सी तीखी धार के हैं।

परश्वध—संज्ञा पुं० [सं०] परशु। तबुर। कुठार। कुल्हाड़ी।

परसंग—संज्ञा पुं० दे० “प्रसंग”।

परसंसा—संज्ञा स्त्री० दे० “प्रसंसा”।

परस—संज्ञा पुं० [सं० स्पर्श] छूना। छूने की क्रिया या भाव। स्पर्श। उ०—दरस परस संजन अरु पाना। हरै पाप कह बेद पुरावा।—तुलसी।

संज्ञा पुं० [सं० परश] पारस पत्थर। स्पर्शमणि। उ०—रूपवत धनवत सभागै। परस पखान पर्वरि तिन लागे।—जायसी।

परसन—संज्ञा पुं० [सं० स्पर्शन] (१) छूना। छूने का काम। (२) छूने का भाव।

वि० [सं० प्रसन्न] प्रसन्न। खुश। आनंदित। उ०—तबहिं असील दई परसन ह्वै सफल होहु तुव कामा।—सूर।

परसना—क्रि० सं० [सं० स्पर्शन] (१) छूना। स्पर्श करना। (२) छुलाना। स्पर्श कराना। उ०—साधन हीन दीन निज अब बस शिला भई मुनि नारी। गृह ते गवनि परसि पद पावन घोर साप तैं तारी।—तुलसी।

क्रि० सं० [सं० परिवेषण] भोज्य पदार्थ किसी के सामने रखना। परसना। (इस क्रिया का प्रयोग भोजन और भोजन करनेवाले दोनों के लिये होता है। जैसे, खाना परसना; किसी को परसना)।

संयो० क्रि०—देना।—लेना।

परसन्न—वि० दे० “प्रसन्न”।

परसन्नता—संज्ञा स्त्री० दे० “प्रसन्नता”।

परसवर्ण—संज्ञा पुं० [सं०] पर या उत्तरवर्ती वर्ण के समान वर्ण।

परसा—संज्ञा पुं० [सं० परशु] फरसा। परशु। तबुर। कुल्हाड़ी। कुठार।

संज्ञा पुं० [हिं० परसना] एक मनुष्य के खाने भर का भोजन जो पात्र में रखकर दिया जाय। पत्तल।

परसादी—संज्ञा पुं० दे० “प्रसाद”।

परसादी—संज्ञा स्त्री० दे० “प्रसाद”।

परसना—क्रि० सं० [हिं० परसना] छुलाना। स्पर्श कराना। उ०—सुरसरि जब भुव ऊपर आवै। उनको अपने जल परसावै।—सूर।

क्रि० सं० [हिं० परसना] भोजन बँटवाना। भोजन सामने रखवाना। उ०—भहर गोप सब ही मिल बैठे पनवारे परसाये।—सूर।

परसामान्य—संज्ञा पुं० [सं०] गुण कर्म समवेत सत्ता (जैन-दर्शन)।

परसाल—अव्य० [सं० पर + फा० साल] (१) गत वर्ष ।

पिछले साल । (२) आगामी वर्ष । अगले साल ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पानी + सार] एक प्रकार की घास जो पानी में पैदा होती है । इसे 'पसलारी' की कहते हैं ।

परसिद्ध—वि० दे० "प्रसिद्ध" ।

परसिया—संज्ञा स्त्री० [सं० परशु, हिं० परसा] हँसिया ।

परसी—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की छोटी मछली जो नदियों में होती है ।

परसीया—संज्ञा पुं० [देश०] एक पेड़ जिसकी लकड़ी से सेज, कुर्सी इत्यादि बनाई जाती हैं और जो मद्रास और गुजरात में बहुतायत से होता है । इसकी लकड़ी स्याह, सख्त और मजबूत होती है ।

परसु—संज्ञा पुं० दे० "परशु" ।

परसूक्ष्म—संज्ञा पुं० [सं०] एक सूक्ष्म परिमाण जो आठ परमाणुओं के बराबर माना गया है ।

परसूत—वि०, संज्ञा पुं० दे० "प्रसूत" ।

परसेद—संज्ञा पुं० दे० "प्रसेद" ।

परसों—अव्य० [सं० परस्यः] (१) गत दिन से पहले दिन । बीते हुए कल से एक दिन पहले । जैसे, मैं परसों वहाँ गया था । (२) आगामी दिन से आगे के दिन । आने वाले कल से एक दिन आगे । जैसे, वह परसों जायगा ।

परसोत्तम—संज्ञा पुं० दे० "पुरुषोत्तम" ।

परसोर—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का धान जो अगहन में तैयार होता है ।

परस्त्रीगमन—संज्ञा पुं० [सं०] पराई स्त्री के साथ संयोग ।

परस्पर—क्रि० वि० [सं०] एक दूसरे के साथ । आपस में । जैसे, (क) उनमें परस्पर बड़ी प्रीति है । (ख) वह तो परस्पर का व्यवहार है ।

परस्पोपमा—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अर्थालंकार जिसमें उपमान की उपमा उपमेय को और उपमेय की उपमा उपमान को दी जाती है । इसे "उपमेयोपमा" भी कहते हैं ।

परहार—संज्ञा पुं० (१) दे० "प्रहार" । (२) दे० "परिहार" ।

परहारी—संज्ञा पुं० [सं० प्रहरी] जगन्नाथ जी के मंदिर के पुजारी जो मंदिर ही में रहते हैं ।

परहेज—संज्ञा पुं० [फा०] (१) स्वास्थ्य को हानि पहुँचानेवाली बातों से बचना । रोग उत्पन्न करनेवाली या बढ़ानेवाली वस्तुओं का त्याग । खाने पीने आदि का संयम । जैसे, वह परहेज नहीं करता; दवा क्या फायदा करे ? (२) बुरी बातों से बचने का नियम । दोषों और बुराइयों से दूर रहना ।

क्रि० प्र०—करना ।—से रहना ।—होना ।

परहेजगार—संज्ञा पुं० [फा०] (१) परहेज करनेवाला । संयमी ।

कुपय्य न करनेवाला । (२) बुराइयों से बचनेवाला । दोषों से दूर रहनेवाला ।

परहेजगारी—संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) परहेज करने का काम । संयम । (२) दोषों और बुराइयों का त्याग ।

परहेलना—क्रि० सं० [सं० प्रहेलन] निशाने करना । तिरकार करना । उ०—मैं पिउ प्रीति भरोसे गरब कीन्ह जिय माँह । तेहि रिस हैं परहेली रुसेउ नागर नाह !—जायसी ।

परांगद—संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

परांगव—संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र ।

परांचा—संज्ञा पुं० [फा० प्रांच] (१) तल्ला । पट्टी । (२) तल्लों की पाटन जो आस पास के तल से ऊँचाई पर हो और जिस पर चढ़ बैठ सकते हों । पाटन । (३) वेड़ा ।

परांज, परांजन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) तेज निकालने का यंत्र । कोरहू । (२) केन । (३) हुरी का फल ।

पराँठा—संज्ञा पुं० [हिं० पलटना] धी लपकाकर तबे पर सेंकी हुई चपाती ।

परा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चार प्रकार की बाणियों में पड़ली बाणी जो नादस्वरूपा और मूलाधार से निकली हुई मानी जाती है । (२) वह विद्या जो ऐसी वस्तु का ज्ञान कराती है जो सब गोचर पदार्थों से परे हो । ब्रह्मविद्या । उपनिषद् विद्या । (३) एक प्रकार का सामगान । (४) एक नदी का नाम । (५) गंगा । (६) बालक कोड़ा । बंध्या कर्कोटकी । वि० स्त्री० [सं०] (१) जो सब से परे हो । (२) श्रेष्ठ । उत्तम ।

संज्ञा पुं० [हिं० पारना] रेशम खोजनेवालों का लकड़ी का बारह चौदह अंगुल लंबा एक औजार ।

संज्ञा पुं० [?] पंक्ति । कतार । दे० "परी" । उ०—राजकुमार कला दूरसावत पावत परम प्रसेसा । सखा प्रमेदित परा मिलावत जहँ रघुकुल अवतंसा ।—शुभाज ।

पराक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मनु आदि स्मृतियों के अनुसार एक प्रकार का कृच्छ्र व्रत जो यथात्मा और प्रमाद रहित होकर और चार दिनों तक निराहार रहकर किया जाता था । इसका विधान धर्मशास्त्रों में प्राथश्रित्त के प्रकरण में है । (२) खड्ग । (३) एक रोग का नाम । (४) एक छद्म जंतु ।

पराकाश—संज्ञा पुं० [सं०] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार दूरदर्शिता ।

पराकाष्ठा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चरम सीमा । सीमांत । हद । श्रंत । (२) गायत्री का एक भेद । (३) ब्रह्मा की आधी आयु ।

पराकोटि—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पराकाष्ठा । (२) ब्रह्मा की आधी आयु ।

पराकपुष्पी—संज्ञा स्त्री० [सं०] अपामार्ग । चिचड़ी । चिरचिटा ।

पराक्रम—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० पराक्रमी] (१) बल । शक्ति । सामर्थ्य । (२) पुरुषार्थ । पौरुष । उद्योग ।

मुहा०—पराक्रम चलना = पुरुषार्थ या उद्योग हो सकना ।

पराक्रमी—वि० [सं० पराक्रमिन्] (१) बलवान् । वल्लिष्ट । (२) वीर । बहादुर । (३) पुरुषार्थी । उद्योगी । उद्यमी ।

पराग—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह रज वा धूलि जो फूलों के बीच लंबे केसरो पर जमा रहती है । पुष्परज ।

विशेष—इसी पराग के फूलों के बीच के गर्भकोशों में पड़ने से गर्भाधान होता और बीज पड़ते हैं ।

(२) धूलि । रज । (३) एक प्रकार का सुगंधित चूर्ण जिसे लगाकर स्नान किया जाता है । (४) चंदन । (५) उपराग । (६) कर्पूर रज । कर्पूर की धूल वा चूर्ण । (७) विख्याति । (८) एक पर्वत । (९) स्वच्छंद गति वा गमन ।

पराग केसर—संज्ञा पुं० [सं०] फूलों के बीच में वे पतले लंबे सूत जिनकी नोक पर पराग लगा रहता है । इन्हें पौधों की पुं० जननेन्द्रिय समझना चाहिए ।

परागति—संज्ञा स्त्री० [सं०] गायत्री ।

परागना—क्रि० अ० [सं० उपराग] अनुरक्त होना । उ०—ऊधे तुम हौ अति बड़ भागी । अपरस रहत सनेह तगाते नाहिन मन अनुरागी । पुरइ न पात रहत जल भीतर ता रस देह न दागी । ज्यों जल माहँ तेज की गागरि बूँद न ताको जागी । प्रीति नदी महुँ पाँव न बेरायो दृष्टि न रूप परागी । सूरदास अबला हम भोरी गुर चींटी ज्यों पागी ।—सूर ।

पराङ्मुख—वि० [सं०] (१) मुँह फेरे हुए । विमुख । (२) जो ध्यान न दे । उदासीन । (३) विरुद्ध ।

पराच्—वि० [सं०] (१) प्रसिद्धोगामी । उलटा चलनेवाला । (२) उद्धोगामी । (३) अप्रत्यक्षगम्य । परोक्षगम्य । (४) बाह्योन्मुख ।

पराजय—संज्ञा स्त्री० [सं०] विजय का उलटा । हार । शिकस्त ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

पराजिका—संज्ञा स्त्री० [उपराजिका वा हिं० परज] परज नाम की रागिनी ।

पराजित—वि० [सं०] परास्त । पराभूत । हारा हुआ ।

परात—संज्ञा स्त्री० [सं० पात । सि० पुर्त० प्राट] धाली के आकार का एक बड़ा बरतन जिसका किनारा थाली के किनारे से ऊँचा होता है । यह आटा गूँधने, हाथ पैर धोने आदि के काम आता है । उ०—कोउ परात कोउ लोटा लाई । शाह सभा सब हाथ धोवाई ।—जायसी ।

परात्पर—वि० [सं०] जिसके परे कोई दूसरा न हो । सर्वश्रेष्ठ ।

संज्ञा पुं० (१) परमात्मा । (२) विष्णु ।

परात्प्रिय—संज्ञा पुं० [सं०] उलपत्तुण । एक वास जो कुश की

तरह की होती है और जिसमें जौ या गेहूँ के से दाने पड़ते हैं । इसकी वालों में दूँड़ नहीं होते ।

परात्मा—संज्ञा पुं० [सं० परात्मन्] परमात्मा । परब्रह्म ।

परादन—संज्ञा पुं० [सं०] फारस का घोड़ा ।

पराधीन—वि० [सं०] परवश । जो दूसरे के अधीन हो । जो दूसरे के ताबे हो । उ०—पराधीन सुख सपनेहु नाहीं ।—हरिचंद्र ।

पर्या०—परतंत्र । परवश ।

पराधीनता—संज्ञा स्त्री० [सं०] परतंत्रता । दूसरे की अधीनता ।

परान—संज्ञा पुं० दे० “प्राण” ।

पराना—क्रि० अ० [सं० परायन] भागना । उ०—(क) आज जो तरवर चल भल नाहीं । आवहु यहि वन छाँड़ि पराहीं ।—जायसी । (ख) भाई रे गैया एक विरंचि दियो है भार अमर भो भाई । नौ नारी को पानी पियत है नृपा तऊ न बुझाई । छोटा बहत्तरि औ लौ लाये वज्र केवार लगाई । खूँटा गाड़ि डोर दड़ बाँधो तउ वह तोरि पराई ।—कबीर । (ग) देखि विकट भद्र अति विकटाई । जच्छ जीव लह गयउ पराई ।—तुलसी । (घ) नयनन मिलात लई कर गहि के फाल्गुन चले पराय । सुनि बलदेव क्रोध अति बाढेउ कृष्ण शांत कियो आय ।—सूर । (ङ) जासु देस नृप लीन्ह छोड़ाई । समर सेन तजि गयउ पराई ।—तुलसी ।

परान्न—संज्ञा पुं० [सं०] पराया धान्य । दूसरे का दिया हुआ भोजन ।

परापर—संज्ञा पुं० [सं०] फालसा ।

पराभव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पराजय । हार ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

(२) तिरस्कार । मानध्वंस । (३) विनाश । (४) वैश्य युग के अंतर्गत पाँचवाँ वर्ष । बृहत्संहिता के अनुसार इस वर्ष अग्नि शस्त्रपीड़ा रोग आदि होते हैं और गो ब्राह्मण को विशेष भय होता है ।

पराभिन्न—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार के वानप्रस्थ जो गृहस्थों के घर से थोड़ी भिन्ना लेकर वन में अपना कालक्षेप करते हैं ।

पराभूत—वि० [सं०] (१) पराजित । हारा हुआ । (२) ध्वस्त । नष्ट ।

परामर्श—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पकड़ना । खींचना । जैसे, केश परामर्श । (२) विवेचन । विचार । (३) निर्णय । (४) अनुमान । (५) स्मृति । याद । (६) युक्ति । (७) सलाह । मंत्रणा । उ०—तुम्हारा चित्त कुछ और ही परामर्श देता है ।—अयोध्या ।

क्रि० प्र०—करना ।—देना ।—लेना ।—मिलना ।—होना ।

परालब्ध इ-संज्ञा पुं० दे० "प्राग्भ" ।

पराशर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक गोत्रकार ऋषि जो पुराणा-नुसार वसिष्ठ और शक्ति के पुत्र थे। इनके पिता का देहांत इनके जन्म के पूर्व हो चुका था अतः इनका पालन पोषण इनके पितामह वसिष्ठजी ने किया था। यही व्यास कृष्ण द्वैपा-यन के पिता थे। (२) चरक संहिता के अनुसार आयुर्वेद के एक आचार्य का नाम। (३) एक प्रसिद्ध स्मृतिकार। इनकी स्मृति पराशर स्मृति के नाम से प्रख्यात है और कलियुग के लिये प्रमाणभूत मानी जाती है। (४) एक नाग का नाम। (५) ज्योतिष शास्त्र के एक आचार्य जिनकी रची पराशरी संहिता है।

पराश्रय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दूसरे का सहारा । पराया भरोसा । दूसरे का अवलंब । (२) पराधीनता ।

पराश्रया-संज्ञा स्त्री० [सं०] बाँदा । बंदाक । परगाछा ।

पराश्रित-वि० [सं०] (१) जिसे दूसरे का ही आसरा हो । जिसका काम दूसरे से चलता हो । (२) दूसरे का अधीन ।

परास्त-संज्ञा पुं० [सं०] किसी स्थान से उतनी दूरी जितनी दूरी पर उस स्थान से फेंकी हुई वस्तु गिरे ।

* संज्ञा पुं० दे० "पलाश" ।

परासी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक रागिनी का नाम । दे० "पलाशी" ।

परासु-वि० [सं०] जिसका प्राण निकल गया हो । मरा हुआ । मृत ।

परास्त-वि० [सं०] (१) पराजित । हारा हुआ । (२) विजित । ध्वस्त । (३) प्रभावहीन । दबा हुआ । जैसे, ज्ञान अज्ञान से परास्त हो गया ।

पराहत-वि० [सं०] (१) आक्रांत । ध्वस्त । मिटाया हुआ । दूर किया हुआ । (२) निराकृत । खंडित । (३) जोता हुआ ।

पराह-वि० [सं०] अपराह । दोपहर के बाद का समय । तीसरा पहर ।

परि-उप० [सं०] एक संस्कृत उपसर्ग जिसके लगने से शब्द में इन अर्थों वृद्धि की होती है—

(१) चारों ओर—जैसे परिक्रमण, परिवेष्टन, परिभ्रमण, परिधि ।

(२) सर्वतोभावे, अच्छी तरह—जैसे, परिकल्पन, परिपूर्ण ।

(३) अतिशय—जैसे परिवर्द्धन ।

(४) पूर्णता । जैसे, परित्याग, परिताप ।

(५) दोषाख्यान—जैसे, परिहास, परिवाद ।

(६) नियम, क्रम—जैसे, परिच्छेद ।

परिक-संज्ञा स्त्री० [देश०] खराब चाँदी । खोटी चाँदी । (सुनार)

परिकथा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक कहानी के अंतर्गत उसी के संबंध की दूसरी कहानी ।

परिकर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पर्यंक । पलंग । (२) परिवार । (३) वृंद । समूह । (४) घेरेवालों का समूह । अनुयायियों का दल । अनुचर वर्ग । लवाजमा । (५) समारंभ । तैयारी । (६) कसरबंद । पटुका । (७) विवेक । (८) एक अर्थालंकार जिसमें अभिप्राय भरे हुए विशेषणों के साथ विशेष्य आता है । उ०—हिमकर बदनी तिय निरखि पिय दग शीतल होत ।

परिकरमा-संज्ञा स्त्री० दे० "परिक्रमा" ।

परिकरांकुर-संज्ञा पुं० [सं०] एक अर्थालंकार जिसमें किसी विशेष्य या शब्द का प्रयोग विशेष अभिप्राय लिए हो । उ०—बामा, बामा, कामिनी, कहि बोले प्राणेश । प्यारी कहत लजात नहिं पावस चलत विदेश ।

यहाँ बामा (जो बाम हो) आदि शब्द विशेष अभिप्राय लिए हुए हैं । नायिका कहती है कि जब आप मुझे छोड़ विदेश जा रहे हैं तब इन्हीं बामों से पुकारिए, प्यारी कह कर न पुकारिए ।

परिकर्म-संज्ञा पुं० [सं०] देह में चंदन, केसर उबटन आदि लगाना । शरीरसंस्कार ।

परिकर्मा-संज्ञा पुं० [सं० परिकर्मन्] परिचारक । सेवक ।

परिकल्पन-संज्ञा पुं० [सं०] प्रवचना । दगाबाजी ।

परिकल्पन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिकल्पित] (१) मनन । चिंतन (२) बनावट । रचना ।

परिकल्पित-वि० [सं०] (१) कल्पना किया हुआ । सोचा हुआ । (२) मन में गढ़ा हुआ । मनगढ़ंत । (३) निश्चित । ठहराया हुआ । (४) मन में सोचकर बनाया हुआ । रचित ।

परिकीर्ण-वि० [सं०] (१) व्याप्त । विस्तृत । फैला हुआ । (२) समर्पित ।

परिकीर्त्तन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऊँचे स्वर से कीर्त्तन । खूब गाना । (२) गुणों का विस्तृत वर्णन । अधिक प्रशंसा ।

परिकूट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नगर या दुर्ग के फाटक पर की खाई । (२) एक नागराज ।

परिक्रम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दहलना । (२) फेरी देना । चारों ओर घूमना । परिक्रमा ।

परिक्रमण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दहलना । मन बहलाने के लिये घूमना । (२) चारों ओर घूमना । फेरी देना ।

परिक्रमा-संज्ञा स्त्री० [सं० परिक्रम] (१) चारों ओर घूमना । फेरी । चक्र ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

विशेष—किसी तीर्थस्थान या मंदिर के चारों ओर जो घूमते हैं उसे परिक्रमा कहते हैं ।

(२) किसी तीर्थ या मंदिर के चारों ओर घूमने के लिये बना हुआ मार्ग ।

परिक्रय-संज्ञा स्त्री० [सं०] मोल । खरीद ।

परिक्रिया-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) खाई आदि से घेरने की क्रिया । (२) एक प्रकार का एकाह यज्ञ जो स्वर्ग की कामना से किया जाता है ।

परिकिलष्ट-वि० [सं०] (१) नष्ट । अष्ट । परिक्षत । (२) क्षति विलष्ट ।

परिकवणन-संज्ञा पुं० [सं०] मेघ । बादल ।

परिक्षत-वि० [सं०] नष्ट । अष्ट ।

परिक्षव-संज्ञा पुं० [सं०] झींक ।

परिक्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कीचड़ ।

संज्ञा स्त्री० दे० "परीक्षा" ।

परिक्षित—संज्ञा पुं० [सं०] एक राजा । दे० “परीक्षित” ।

परिक्षित—वि० [सं०] खाई आदि से घेरा हुआ ।

परिक्षीण—वि० [सं०] निर्धन ।

परिखना† क्रि० सं० [सं० परीक्षा] पहचानना । जाँचना ।

परीक्षा करना । इम्तहान करना ।

[सं० प्रतीक्षा] इंतजार करना । राह देखना । मार्ग प्रतीक्षा करना । आसरा देखना । उ०—परिखेसि मोहिं एक पख-
वारा । नहिं आवउँ सब जानेसि माया ।—तुलसी ।

परिखा—संज्ञा स्त्री० [सं०] वह गहरा गड्ढा जो किसी नगर या दुर्ग के चारों ओर इसलिये खोदा जाता था कि शत्रु उसमें सहज में न घुस सकें । किसी नगर या दुर्ग को घेरनेवाली खाई । खंदक । खाई ।

परिखान—संज्ञा स्त्री० [सं० परिखात] गाड़ी के पहिये की लीक ।

परिख्यात—वि० [सं०] विख्यात । प्रसिद्ध । मशहूर ।

परिगणन—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिगणित, परिगणनीय, परिगण्य]
(१) भली भाँति गिनना । सम्यक् रीति से गिनना । (२)

गिनना । गणना करना । शुमार करना ।

परिगणना—संज्ञा स्त्री० [सं०] परिगणन ।

परिगणित—वि० [सं०] गिना हुआ । जिसकी गिनती हो चुकी हो ।

परिगत—वि० [सं०] (१) गत । बीता हुआ । गया गुजरा ।
(२) मरा हुआ । मृत । (३) विस्मृत । जिसे भूल गए हैं । (४) ज्ञात । जाना हुआ । (५) प्राप्त । मिला हुआ ।
(६) वेष्टित । घेरा हुआ ।

परिगर्भिक—संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार बालकों का एक रोग जो गर्भिणी माता का दूध पीने से होता है । इसमें बालक को खाँसी, कै, अरुचि और तंद्रा होती है, उसका शरीर दुबला हो जाता है, भोजन नहीं पचता, और पेट बड़ जाता है । वैद्यक में इस रोग में अग्निदीपक औषधों के सेवन का विधान है ।

परिगर्भित—वि० [सं०] बहुत गर्भवत्वाला । भारी घमंडी ।

परिगह—संज्ञा पुं० [सं० परिग्रह] कुटुंबी । संगी साथी या आश्रित जन । उ०—राजपाट दर परिगह तुमहीं सँ उँजियार । बड़ि भोग रस मानहु कइ न चलहु अँधियार ।—जायसी ।

परिगुंडित—वि० [सं०] झिपाया हुआ । ढका हुआ ।

परिगुंडित—वि० [सं०] धूल से झिपा हुआ । गर्द से ढका हुआ ।

परिगृहीत—वि० [सं०] (१) स्वीकृत । मंजूर किया हुआ ।
(२) मिला हुआ । शामिल ।

परिगृहया—संज्ञा स्त्री० [सं०] विवाहिता स्त्री । धर्मपत्नी ।

परिग्रह—संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रतिग्रह । ग्रहण लेना । दान

लेना । (२) पाना । (३) धनादि का संग्रह । (४) स्वीकार । अंगीकार । आदरपूर्वक कोई वस्तु लेना । (५) स्त्री को अंगीकार करना । विवाह । (६) पत्नी । स्त्री । भार्या । (७) सेना का पिछला भाग । (८) परिजन । परिवार । स्त्री पुत्र आदि । (९) राहुग्रस्त सूर्य । (१०) मूल । कंद । (११) शाप । (१२) शपथ । कसम । (१३) विष्णु । (१४) अनुग्रह । मिहरबानी । (१५) जैन शास्त्रों के अनुसार तीन प्रकार के गतिनिबंधन कर्म—द्रव्यपरिग्रह, भाव-परिग्रह, द्रव्यभाव-परिग्रह । (१६) कुछ विशिष्ट वस्तुएँ संग्रह न करने का व्रत ।

परिग्रहण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सब प्रकार से ग्रहण । पूर्ण रूप से ग्रहण करना । (२) कपड़े पहनना ।

परिग्राम—संज्ञा पुं० [सं०] गाँव के सामने का भाग ।

परिग्राह—संज्ञा पुं० [सं०] एक विशेष प्रकार की यज्ञवेदी ।

परिग्राह्य—वि० [सं०] ग्रहण करने योग्य । जो ग्रहण किया जा सके ।

परिघ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) लोहानी । गँड़ासा । (२) २७ योगों के अंतर्गत १६ वर्ग योग ।

विशेष—इस योग को आधा छोड़कर शुभ कर्म करने चाहिए । जन्मकाल में यह योग पड़ने से मनुष्य वंशकुटार असत्यसाक्षी, चमाहीन, स्वल्पानुभोक्ता और शत्रुदल को जीतनेवाला होता है ।

(३) अर्गला । अगड़ी । (४) सुदगर । (५) शूल । भाला । बर्छी । (६) कलस । घोड़ा । (७) घड़ा । (८) गोपुर । फाटक । (९) घर । (१०) स्वामिकार्तिक का एक अनुचर । (११) तीर । (१२) पर्वत । (१३) वज्र । (१४) शेषनाग । (१५) लज्जा । (१६) चंद्र । (१७) सूर्य । (१८) नदी । (१९) स्थल । (२०) आनंद और सुख की निवारक अविद्या । (२१) बाधा । प्रतिबंध । (२२) महाभारत के अनुसार एक चांडाल का नाम । (२३) सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का मूढगर्भ । (२४) वे बादल जो सूर्य के उदय वा अस्त होने के समय उसके सामने आ जायें ।

परिघमूढगर्भ—संज्ञा पुं० [सं०] वह बालक जो प्रसव के समय योनि के द्वार पर आकर अगड़ी की तरह अटक जाय ।

परिघर्म्य—संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ में काम आनेवाला एक विशेष पात्र ।

परिघात—संज्ञा पुं० [सं०] (१) हत्या । हनन । मार डालना । (२) वह अस्त्र जिससे किसी की हत्या की जा सकती हो ।

परिघाती—वि० [सं० परिघातिन्] परिघात करनेवाला । हत्याकारी । मार डालनेवाला ।

परिघोष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेघगर्जन । बादल का गरजन । (२) शब्द । आवाज ।

परिचक्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन नगरी का नाम।

परिचक्रा-क्रि० अ० दे० “परचक्रा”।

परिचपल-वि० [सं०] अति चंचल। जो किसी समय स्थिर न रहे। जो हर समय हिलता डुलता या घूमता फिरता रहे।

परिचय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी विषय या वस्तु के संबंध की प्राप्ति की हुई अथवा मिली हुई जानकारी। ज्ञान। अभिज्ञता। विशेष जानकारी। जैसे, थोड़े दिनों से मुझे भी उनके स्वभाव का परिचय हो गया है। (२) प्रमाण। लक्षण। जैसे, उस पद पर थोड़े ही दिनों तक रहकर उन्होंने अपनी योग्यता का अच्छा परिचय दिया था। (३) किसी व्यक्ति के नाम-धाम या गुणकर्म आदि के संबंध की जानकारी। जैसे, मुझे आपका परिचय नहीं मिला।

क्रि० प्र०—कराना।—देना।—दिलाना।—पाना।—मिलना।—होना।

(४) जान पहचान। जैसे, यहाँ तो बहुत से आदमियों के साथ आपका परिचय है। (५) अभ्यास। मशक। (६) हठयोग में नाद की चार अवस्थाओं में से तीसरी अवस्था।

परिचर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सेवक। खिदमतगार। टहलुआ। (२) रोगी की सेवा करनेवाला। शुश्रूषाकारी। (३) वह सैनिक जो रथ पर शत्रु के प्रहार से उसकी रक्षा करने के लिये बैठाया जाता था। (४) दंडनायक। सेनापति। परिधिस्थ।

परिचरजा*-संज्ञा स्त्री० दे० “परिचर्या”।

परिचरण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिचरणीय, परिचरितव्य] सेवा करना या सेवा। परिचर्या। खिदमत। टहल।

परिचरत-संज्ञा स्त्री० [वि०] प्रलय। कथामत।

परिचरिता-संज्ञा पुं० [सं० परिचरित] सेवक। सेवा करनेवाला। शुश्रूषाकारी।

परिचरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दासी। सेविका। लौंडी।

परिचर्जा-संज्ञा स्त्री० दे० “परिचर्या”।

परिचर्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सेवा। टहल। खिदमत। (२) रोगी की सेवा शुश्रूषा।

परिचायक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) परिचय करानेवाला। जान पहचान करानेवाला। (२) सूचित करनेवाला। जतानेवाला।

परिचाय्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यज्ञ की अग्नि। (२) यज्ञकुंड।

परिचार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सेवा। टहल। खिदमत। (२) वह स्थान जो टहलने या घूमने फिरने के लिये निर्दिष्ट हो।

परिचारक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सेवक। नौकर। भूत्य। टहलू। (२) वह जो किसी रोगी की सेवा करने पर नियुक्त हो। शुश्रूषाकारी। (३) वह जो देवमंदिर आदि का कार्य अथवा प्रबंध करता हो।

परिचारण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिचारी, परिचार्य] (१)

सेवा करना। टहल या खिदमत करना। सेवकाई। खिदमतगारी। (२) सहवास करना। संग करना या रहना।

परिचारना*-क्रि० स० [सं० परिचारण] सेवा करना। खिदमत करना।

परिचारिक-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० परिचारिका] सेवक। खिदमतगार।

परिचारिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] दासी। सेविका। मजदूरनी।

परिचारी-वि० [सं० परिचारि] (१) टहलनेवाला। वह जो भ्रमण करता हो। (२) सेवा करनेवाला। टहलू। चाकर।

परिचार्य-वि० [सं०] सेव्य। सेवा करने योग्य। जिसकी सेवा करना उचित हो।

परिचालक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चलानेवाला। चलने के लिये प्रेरित करनेवाला। (२) किसी काम को जारी रखने तथा आगे बढ़ानेवाला। संचालक। (३) गति देनेवाला। हिलानेवाला।

परिचालकता-संज्ञा स्त्री० [सं०] परिचालन करने की क्रिया, भाव अथवा शक्ति।

परिचालन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिचालित] (१) चलाना। चलने के लिये प्रेरित करना। चलने में लगाना। (२) कार्य का निर्वाह करना। कार्यक्रम को जारी रखना।

जैसे, इस पत्र का परिचालन उन्होंने बड़ी ही उत्तमता के साथ किया। (२) हिलाना। गति देना। हरकत देना।

परिचालित-वि० [सं०] (१) चलाया हुआ। चलने में लगाया हुआ। (२) निर्वाह किया हुआ। बराबर जारी रखा हुआ। (३) हिलाया हुआ। जिसे गति दी गई हो।

परिचित-वि० [सं०] (१) जिसका परिचय हो चुका हो। जाना हुआ। ज्ञात। मालूम। जैसे, इस पुस्तक का विषय मेरा परिचित नहीं है। (२) जिसको परिचय हो चुका हो। वह जो किसी को जान चुका हो। अभिज्ञ। वाकिफ़। जैसे, मैं उनके स्वभाव से बिलकुल परिचित नहीं हूँ। (३) जान पहचान रखनेवाला। मिलने जुलनेवाला। मुलाकाती। जैसे, मेरी परिचित मंडली अब इतनी बड़ी हो गई है कि मिलने जुलने में ही प्रायः मेरा सारा समय लग जाता है। (४) जैनदर्शन के अनुसार वह स्वर्गीय आत्मा जो दो बार किसी चक्र में आ चुकी हो। (५) इकट्ठा किया हुआ। ढेर लगा हुआ। संचित।

परिचिति-संज्ञा स्त्री० [सं०] परिचय। ज्ञान। अभिज्ञता। जानकारी।

परिचुंबन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिचुंबित] प्रेमपूर्वक चुंबन। भर-पूर प्रेम या स्नेह से चुंबन करना।

परिचयेय-वि० [सं०] (१) परिचय योग्य। जान पहचान करने योग्य। साहब सजामत या राहो रस रखने योग्य।

(२) एकत्र करने योग्य। ढेर लगाने के योग्य। संचय करने योग्य।

परिचो-संज्ञा स्त्री० [सं० परिचय] परिचय। ज्ञान। उ०—
करतल निरखि कहत सब गुन गन बहुतनि परिचो पायो।—
तुलसी।

परिच्छेद-संज्ञा पुं० [सं०] वस्त्र। पहनावा। पोशाक।

परिच्छेद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कपड़ा जो किसी वस्तु को ढक या छिपा सके। आच्छादन। ढाकनेवाली वस्तु। पट। जैसे लिहाफ, खोल, झूल आदि। (२) वस्त्र। पहनावा। पोशाक। (३) राजचिह्न। (४) राजा आदि के सब समय साथ रहनेवाले नौकर। अनुचर। (५) परिजन। परिवार। कुटुंब। (६) असबाब। सामान।

परिच्छन्न-वि० [सं०] (१) ढका हुआ। छिपा हुआ। (२) जो कपड़े पहने हो। वस्त्रयुक्त। वस्त्रादि से सज्जित। (३) जो साफ किया हुआ हो।

परिच्छिन्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सीमा। अवधि। इयत्ता। हृद। (२) दो पदार्थों को बिलकुल अलग अलग कर देना। सीमा द्वारा दो वस्तुओं को एक दूसरी से बिलकुल जुदा कर देना। (३) विभाग। बाँट।

परिच्छिन्न-वि० [सं०] (१) परिच्छेदविशिष्ट। सीमायुक्त। परिमित। मर्यादित। (२) विभक्त। विभाजित। अलग अलग किया हुआ।

परिच्छेद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) काटकर विभक्त करने का भाव। खंड या टुकड़े करना। विभाजन। (२) ग्रंथ या पुस्तक का ऐसा विभाग या खंड जिसमें प्रधान विषय के अंगभूत पर स्वतंत्र विषय का वर्णन या विवेचन होता है। ग्रंथ का कोई स्वतंत्र विभाग। ग्रंथविच्छेद। ग्रंथसंधि। अध्याय। प्रकरण। जैसे, अमुक पुस्तक में कुल १० परिच्छेद हैं।

विशेष—ग्रंथ के विषय के अनुसार उसके विभागों के नाम भी भिन्न भिन्न होते हैं। काव्य में प्रत्येक विभाग को सर्ग; कोष में वर्ग, अलंकार में परिच्छेद तथा उच्छ्वास, कथा में उद्वात, पुराण और संहिता आदि में अध्याय, नाटक में अंक, तंत्र में पटल, ब्राह्मण में कांड, संगीत में प्रकरण और भाष्य में आह्निक कहते हैं। इसके अतिरिक्त पाद, तरंग, स्तवक, प्रपाठक, स्कंध, मंजरी, जहरी, शाखा आदि भी परिच्छेद के स्थानापन्न हुआ करते हैं। परिच्छेद का नाम विषय के अनुसार नहीं किंतु संख्या के अनुसार होता है। जैसे, नवा परिच्छेद, दसवा परिच्छेद।

(३) सीमा। इयत्ता। अवधि। हृद। (४) दो वस्तुओं को स्पष्ट रूप से अलग अलग कर देना। सीमानिर्धारण द्वारा दो वस्तुओं को बिलगाना। परिभाषा द्वारा दो वस्तुओं

या भावों का अंतर स्पष्ट कर देना। जैसे, सत्यासत्य का परिच्छेद, धर्माधर्म का परिच्छेद। (५) निर्णय। निश्चय। फैसला। (६) विभाग। बाँटवारा।

परिच्छेदक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सीमा या इयत्ता निर्धारित करनेवाला। हृद सुकरर करनेवाला। (२) बिलगानेवाला पृथक् करनेवाला। (३) सीमा। हृद। (४) परिमाण गिनती, नाप या तोल।

परिच्छेदकर-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की समाधि।

परिच्छेद्य-वि० [सं०] (१) गिनने, नापने या तोलने योग्य परिमेय। (२) अलग करने योग्य। बिलगाने योग्य। (३) बाँटने योग्य। विभाज्य।

परिच्युत-वि० [सं०] (१) सब भाँति गिरा हुआ। सर्वथा अष्ट या पतित। (२) जाति या पंक्ति से बहिष्कृत। विरादरी से निकाला हुआ।

परिच्युति-संज्ञा स्त्री० [सं०] गिरना। पतन। स्खलन। अंश।

परिछन्न-संज्ञा पुं० दे० “परछन्न”।

परिछाहीं-संज्ञा स्त्री० दे० “परछाई”। उ०—मन थिर करहु देव डर नाहीं। भरतहिं जान राम परिछाहीं।—तुलसी।

परिछिन्न-वि० दे० “परिच्छिन्न”।

परिजंक*-संज्ञा पुं० दे० “पर्यंक”।

परिजटन*-संज्ञा पुं० दे० “पर्यटन”।

परिजन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) परिवार। आश्रित या पोष्य वर्ग। वे लोग जो अपने भरण पोषण के लिये किसी एक व्यक्ति पर अवलंबित हैं। जैसे, स्त्री, पुत्र, सेवक आदि। (२) सदा साथ रहनेवाले सेवक। अनुचरवर्ग।

परिजनता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) परिजन होने का भाव। (२) अधीनता।

परिजन्मा-संज्ञा पुं० [सं० परिजन्मन्] (१) चंद्रमा। (२) अग्नि।

परिजत्त-वि० [सं०] सुस्थ। मोहित।

परिजय-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो चारों ओर जय करने में समर्थ हो। सब ओर जीत सकनेवाला।

परिजलिपत-संज्ञा पुं० [सं०] चित्रजल्प का दूसरा भेद। दे० “चित्रजल्प”।

परिजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] आदि जन्मभूमि। उद्गम। निकास।

परिजात-वि० [सं०] उत्पन्न। जन्मा हुआ।

परिज्ञप्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बातचीत। कथोपकथन। (२) पहचान या पहचानना।

परिज्ञा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ज्ञान। (२) सूक्ष्म ज्ञान। निश्चायक ज्ञान। संशयरहित ज्ञान।

परिज्ञात-वि० [सं०] (१) जाना हुआ। विशेष या सम्यक् रूप से जाना हुआ। (२) निश्चित रूप से जाना हुआ।

परिज्ञान—संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी वस्तु का भली भाँति ज्ञान । पूर्ण ज्ञान । सम्यक् ज्ञान । (२) निश्चयात्मक ज्ञान । ऐसा ज्ञान जिस पर पूरा भरोसा हो । (३) सूक्ष्म ज्ञान । भेद अथवा अंतर का ज्ञान । किसी वस्तु के सूक्ष्म से सूक्ष्म गुण दोनों का ज्ञान ।

परिज्वा—संज्ञा पुं० [सं० परिज्वन्] (१) चंद्रमा । (२) अग्नि । (३) सेवक । (४) यज्ञ करनेवाला । (५) इंद्र ।

परिडीन—संज्ञा पुं० [सं०] किसी पक्षी की वृत्ताकार गति में उड़ान । किसी पक्षी का चकर काटते हुए उड़ना ।

परिणत—वि० [सं०] [संज्ञा परिणति] (१) बिल्कुल या बहुत झुका हुआ । अति नम्र या नत । (२) जिसका परिणाम हुआ हो । जो बदल कर और का और हो गया हो । बदला हुआ । विकारयुक्त । रूपांतरित । अवस्थांतरित । जैसे, दूध का दही के रूप में परिणत होना । (३) पका हुआ । पका । जैसे, परिणत फल । (४) पचा हुआ । रसादि में परिवर्तित (भोजन) । (५) प्रौढ़ । पुष्ट । बढ़ा हुआ । पका । कच्चा का उलटा (बुद्धि या वय) ।

परिणति—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) झुकाना । नीचे की ओर झुकना । अवनति । (२) बदलना । रूपांतर होना । अवस्थांतर-प्राप्ति । परिणयन । विकृति । (३) पकना या पचना । परिपाक । (४) प्रौढ़ावस्था । प्रौढ़ता । पक्वता । पुष्टि । पुस्तगी । (५) वृद्धता । बुढ़ाई । (६) अंत । अवसान ।

परिणद्ध—वि० [सं०] (१) लपेटा हुआ । मटा हुआ । आवृत । (२) बाँधा हुआ । जकड़ा हुआ । (३) विस्तीर्ण । चौड़ा । विशाल ।

परिणय—संज्ञा पुं० [सं०] व्याह । विवाह । उद्वाह । दार-परिग्रह । शादी ।

परिणयन—संज्ञा पुं० [सं०] व्याहना । विवाह करने की क्रिया । दारपरिग्रह ।

परिणाह—संज्ञा पुं० [सं०] (१) चारों ओर से बाँधने का भाव । (२) लपेटने या आवृत करने का भाव ।

परिणाम—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बदलने का भाव या कार्य । बदलना । एक रूप या अवस्था को छोड़ कर दूसरे रूप या अवस्था को प्राप्त होना । रूपांतर-प्राप्ति । (२) प्राकृतिक नियमानुसार वस्तुओं का रूपांतरित या अवस्थांतरित होना । स्वाभाविक रीति से रूप परिवर्तन या अवस्थांतर प्राप्ति । मूल प्रकृति का उलटा । विकृति । विकारप्राप्ति । (सांख्य)

विशेष—सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति का स्वभाव ही परिणाम अर्थात् एक रूप या अवस्था से च्युत होकर

दूसरे रूप या अवस्था को प्राप्त होते रहना है और उसका यह स्वभाव ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और नाश का कारण है । जिस परिणाम के कारण जगत् की रचना होती है उसे विरूप अथवा विसदृश परिणाम और जिसके कारण उसका अभाव या प्रलय होता है उसे स्वरूप अथवा सदृश परिणाम कहते हैं । सत्व, रज, तम की साध्यावस्था भंग होकर उनके परस्पर विषम परिणाम में संयुक्त होने से क्रमशः असंख्य कार्यों अथवा जगत के पदार्थों का उत्पन्न होना विरूप परिणाम है और फिर इसी कार्यशृंखला का अपने अपने कारण में लीन होते हुए व्यक्त जगत का अभाव प्रस्तुत करना स्वरूप परिणाम है । विरूप परिणाम से त्रिगुणों की साध्यावस्था विनष्ट होती है और वे स्वरूप से च्युत होते हैं और स्वरूप परिणाम से उन्हें पुनः साध्यावस्था तथा स्वरूप स्थिति प्राप्त होती है । पुरुष अथवा आत्मा के अतिरिक्त संसार में और जो कुछ है सब परिणामी है अर्थात् रूपांतरित होता रहता है । तथापि कुछ पदार्थों का परिणाम शीघ्र दिखाई पड़ जाता है । कुछ का बहुत समय में भी दृष्टिगोचर नहीं होता । जो परिणाम शीघ्र उपलब्ध होता है उसे तीव्र परिणाम और जिसकी उपलब्धि बहुत देर में होती है उसे मृदु परिणाम कहते हैं । सदृश अथवा विसदृश परिणाम में से जब एक की मृदुता चरम अवस्था को पहुँच जाती है, तब दूसरा परिणाम आरंभ होता है ।

(३) प्रथम या प्रकृत रूप या अवस्था से च्युत होने के उपरान्त प्राप्त हुआ दूसरा रूप या अवस्था । किसी वस्तु का कार्यरूप या कार्यवस्था । विकृति । विकार । रूपांतर । अवस्थांतर । जैसे, दूध का परिणाम दही, लकड़ी का राख आदि । (४) किसी वस्तु के एक धर्म के निवृत्त होने पर दूसरे धर्म की प्राप्ति । एक धर्म या संस्कार समुदाय का तिरोभाव या क्षय होकर दूसरे धर्म या संस्कारों का प्रादुर्भाव या उदय । एक स्थिति से दूसरी स्थिति में प्राप्ति । (योग) ।

विशेष—पातंजल दर्शन में चित्त के निरोध, समाधि और एकाग्रता नाम से तीन विशेष परिणाम माने हैं । व्युत्थान अर्थात् राजस भूमियों के संस्कारों का प्रतिक्षण अधिकाधिक अभिभूत, लुप्त या निरुद्ध अथवा 'परवैराग्य' अर्थात् शुद्ध सात्विक संस्कारों का उदित और वर्द्धित होते जाना चित्त का निरोध परिणाम है । चित्त की सर्वार्थता या विचेप रूप धर्म का क्षय और एकाग्रतारूप धर्म का उदय होना अर्थात् उसकी वंचलता का सर्वश में लोप होकर एकाग्रता धर्म का पूर्ण रूप से प्रकाश होना समाधि परिणाम है । एक ही विषय में चित्त के शांत और उदित दोनों धर्म अर्थात् भूत

और वर्तमान दोनों वृत्तियाँ एकाग्रता परिणाम हैं। समाधि परिणाम में चित्त का विक्षेप धर्म शान्त हो जाता है अर्थात् अपना व्यापार समाप्त करके भूत काल में प्रविष्ट हो जाता है और केवल एकाग्रता-धर्म उदित रहता है अर्थात् व्यापार करनेवाले धर्म की अवस्था में रहता है। परंतु एकाग्रता परिणाम की अवस्था में चित्त एक ही विषय में इन दोनों प्रकार के धर्मों या वृत्तियों से संबंध रखता हुआ स्थित होता है। चित्त के परिणामों की तरह स्थूल सूक्ष्म भूतों तथा इंद्रियों के भी उक्त दर्शन में तीन परिणाम बताए गए हैं—धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणाम। द्रव्य अथवा धर्मों का एक धर्म को छोड़कर दूसरा धर्म स्वीकार करना धर्म-परिणाम है जैसे, मृत्तिका रूप धर्मों का पिंड-रूप-धर्म को छोड़ कर घट-रूप-धर्म को स्वीकार करना। एक काल या सोपान में स्थिति धर्म का दूसरे काल या सोपान में आना लक्षण-परिणाम है। जैसे, पिंड रूप में रहने के समय मृत्तिका का घट रूप धर्म भविष्यत् या अनागत सोपान में था, परंतु उसके घटाकार हो जाने पर वह तो वर्तमान सोपान में आ गया और उसका पिंडताधर्म भूत सोपान में स्थित हो गया। किसी धर्म का नवीन प्राचीन होना अवस्था परिणाम है। जैसे, बड़े का नया या पुराना होना। इसी प्रकार दृष्टि श्रवण आदि इंद्रियों का एक रूप या शब्द का ग्रहण छोड़कर दूसरे रूप या शब्द का ग्रहण करना उसका धर्म-परिणाम है। दर्शन श्रवण आदि धर्म का वर्तमान भूत आदि होकर स्थित होना लक्षण-परिणाम है और उनमें अस्पष्टता स्पष्टता होना अवस्था-परिणाम है।

(५) एक अर्थालंकार जिसमें उपमेय के कार्य का उपमान द्वारा किया जाना अथवा अप्रकृत (उपमान) का प्रकृत (उपमेय) से एक रूप होकर कोई कार्य करना कहा जाता है। जैसे, “कर कमलन धनु शायक फेरत” अथवा हरे हरे पद कमल ते फूलन बीनति बाल”। इन उदाहरणों में “धनुशायक फेरना” और “फूल चुनना” वस्तुतः कर के कार्य हैं, पर कवि ने उसके उपमान कमल द्वारा इनका किया जाना कहा है।

विशेष—रूपक अलंकार से इसमें यह भेद है कि इसके उपमान से कोई विशेष कार्य करा कर अर्थ में चमत्कार पैदा किया जाता है परंतु रूपक के उपमान से कोई कार्य कराने की ओर लक्ष्य ही नहीं होता। केवल उपमेय पर उसका आरोप भर कर दिया जाता है। “कर कमलन धनुशायक फेरत” “अपने करकंज लिखी यह पाती”, “मुख शशि हरत अंधार” आदि परिणाम के उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है।
(६) पकने या पचने का भाव। पाक। (७) बाढ़। विकास। वृद्धि। परिपुष्टि। (८) वृद्ध होना। बृद्ध होना।

(६) बीतना। समाप्त होना। अवसान। (१०) नतीजा। फल।

परिणामदर्शी—वि० [सं० परिणामदर्शिन] जिसे काम करने के पहले उसका नतीजा मालूम हो जाय। फल को सोच कर कार्य करनेवाला। सोच समझ कर काम करनेवाला। भविष्य या होनहार को जान सकनेवाला। सूक्ष्मदर्शी। दूरदर्शी।

परिणामदृष्टि—संज्ञा स्त्री० [सं०] किसी कार्य के परिणाम को जान लेने की शक्ति। आगामी फल की ओर दृष्टि।

परिणामन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) परिणत करना। पूर्ण पुष्ट तथा वर्द्धित करना। (२) जाति या संव का उद्दिष्ट वस्तु को अपने काम में लाना। (बौद्ध)

परिणामवाद—संज्ञा पुं० [सं०] वह सिद्धांत जिसमें जगत् की उत्पत्ति नाश आदि नित्यपरिणाम के रूप में माने जाते हैं। सांख्य मत।

परिणामशूल—संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें भोजन पचने के समय पेट में पीड़ा होती है।

परिणामित्व—संज्ञा पुं० [सं०] बदलने का स्वभाव या धर्म। परिवर्तनशीलता।

परिणामिनित्य—वि० [सं०] जो नित्य हो, पर बदलता रहे। जो परिणामशील होकर नित्य या अविनाशी हो। जिसकी सत्ता स्थिर रहे पर रूप आकार आदि बदलता रहे। जो एक रस न होकर भी अविनाशी हो।

विशेष—सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति परिणामिनित्य है और पुरुष अथवा आत्मा अपरिणामिनित्य।

परिणामी—वि० [सं० परिणामिन्] [स्त्री० परिणामिनी] (१) जो बराबर बदलता रहे। जिसका बदलने का स्वभाव हो। रूपांतरित होने वा रहनेवाला। परिवर्तनधर्मी। (२) जो परिवर्तन स्वीकार करे। बदलनेवाला।

परिणाय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी वस्तु को जिस दिशा में चाहे चलाना। सब ओर चलाना। (२) चौसर, शतरंज आदि के गोठों को चलाना। (३) विवाह। व्याह।

परिणायक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) नेता। चलानेवाला। पुण्यप्रद-शंक। (२) सेनापति। (३) स्वामी। पति। भर्ता।

परिणायकरत्न—संज्ञा पुं० [सं०] बौद्ध चक्रवर्ती राजाओं के सस-धन अथवा सात कौषों में से एक।

परिणह—संज्ञा पुं० [सं०] (१) विस्तार। फैलाव। विशालता। चौड़ाई। (२) लंबी साँस। दीर्घ श्वास।

परिणहवान—वि० [सं० परिणहवत्] विस्तार युक्त। फैला हुआ। प्रशस्त।

परिणाही-वि० [सं० परिणाहिन्] विस्तारयुक्त । फैला हुआ ।
विस्तृत ।

परिणिंसक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चूमनेवाला । चुंबनकारी ।
(२) खानेवाला । भक्षणकारी ।

परिणिंसा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चूमना । चुंबन । (२) खाना ।
भक्षण ।

परिणीत-वि० [सं०] (१) विवाहित । जिसका व्याह हो चुका
हो । (२) समाप्त । सम्पन्न-कृत । पूर्ण ।

परिणीतरत्न-संज्ञा पुं० [सं०] परिणीतकरत्न ।

परिणेत-संज्ञा पुं० [सं० परिणेतृ] स्वामी । पति । भर्ता ।

परिणेत्या-वि० [सं०] ब्याहने योग्य (स्त्री) । पति या भार्या बनाने
के उपयुक्त ।

परितः-अव्य० [सं० परितम्] (१) सब ओर । चारों ओर ।
(२) सब प्रकार । संपूर्ण रूप से । सर्वतोभाव से ।

परितच्छ-संज्ञा पुं० दे० “प्रत्यक्ष” ।

परितलु-वि० [सं०] सब कहीं फैला हुआ । सर्वत्र व्याप्त । सर्वतो
व्याप्त [अथर्ववेद]

परितप्त-वि० [सं०] (१) तपा हुआ । अत्यंत गरम । जलता
हुआ । (२) क्लेश का अनुभव करता हुआ । दुःखित । संतप्त ।

परितप्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) तपन । जलन । दाह । गरमी ।
(२) दुःख । क्लेश । व्यथा । मनस्ताप ।

परिताप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अत्यंत जलन । गरमी । आँच ।
ताप । (२) दुःख । क्लेश । पीड़ा । व्यथा । दर्द ।
तकलीफ । (३) मानसिक दुःख या क्लेश । संताप ।
मनस्ताप । क्षोभ । उद्वेग । रंज । (४) परचात्ताप ।
पछतावा । (५) भय । डर । (६) कंप । कंपकंपी ।
(७) एक विशेष नरक का नाम ।

परितापी-वि० [सं० परितापिन्] (१) जिसको परिताप हो ।
परितापयुक्त । दुःखित या व्यथित । (२) परितापकर्ता ।
पीड़ा देनेवाला । सतानेवाला ।
संज्ञा पुं० [सं०] परितापकर्ता । पीड़ा देनेवाला । उत्पीड़क ।
सतानेवाला ।

परितित्-वि० [सं०] अत्यंत तीता । बहुत तित्त ।
संज्ञा पुं० नीम । निंब ।

परितुष्ट-वि० [सं०] (१) खूब संतुष्ट । जिसका पूर्ण रीति से
संतोष हो गया हो । (२) प्रसन्न । खुश ।

परितुष्टि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) परितुष्ट होने का भाव ।
संतुष्टता । संतोष । परितोष । (२) प्रसन्नता । खुशी ।

परितुप्त-वि० [सं०] अवाया हुआ । संतुष्ट । तृप्त ।

परितुप्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] अवाया । संतुष्टि । तृप्ति ।

परितोष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) संतोष । तृप्ति । (२)

प्रसन्नता, खुशी । वह प्रसन्नता जो किसी विशेष अभिलाषा
या इच्छा के पूर्ण होने से उत्पन्न हो ।

परितोषक-संज्ञा पुं० [सं०] परितोष करनेवाला । संतुष्ट
करनेवाला । प्रसन्न या खुश करनेवाला ।

परितोषण-संज्ञा पुं० [सं०] परितुष्टि । संतोष ।

परितोषवान्-वि० [सं० परितोषवत्] परितोषयुक्त । संतुष्ट ।
परितुष्ट ।

परितोषी-वि० [सं० परितोषिन्] संतोषशील । संतोषी ।

परितोस*-संज्ञा पुं० दे० “परितोष” ।

परित्यक्त-वि० [सं०] जो त्याग दिया गया हो । छोड़ा, फेंका,
निकाला या दूर किया हुआ ।

परित्यक्ता-संज्ञा पुं० [सं० परित्यक्तृ] परित्याग करनेवाला । त्यागने
छोड़ने या फेंकनेवाला ।

वि० स्त्री० त्यागी हुई । छोड़ी हुई ।

परित्यजन-संज्ञा पुं० [सं०] परित्याग की क्रिया । त्यागना ।
छोड़ना । फेंकना । निकालना ।

परित्यज्य-वि० [सं०] परित्याग-योग्य । फेंकने, छोड़ने या
निकालने योग्य ।

परित्याग-संज्ञा पुं० [सं०] त्यागने का भाव । त्याग ।
निकालना । अलग कर देना । छोड़ना ।

परित्यागी-वि० [सं० परित्यागिन्] परित्यागशील । त्याग करने-
वाला । छोड़नेवाला ।

परित्याजन-संज्ञा पुं० [सं०] परित्याग की क्रिया । छोड़ना ।
निकालना ।

परित्याज्य-वि० [सं०] परित्याग-योग्य । त्यागने या छोड़ देने के
योग्य । स्वारिज करने के काबिल ।

परित्राण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी की रक्षा करना,
विशेषतः ऐसे समय में जब कोई उसे मार डालने को उद्यत
हो । बचाव । हिंसाजत । रक्षा । (२) आत्मारक्षण । अपनी
रक्षा । (३) शरीर के बाल । रोंगटे ।

परित्रात-वि० [सं०] जिसकी रक्षा की गई हो । रक्षाप्राप्त ।

परित्राता-संज्ञा पुं० [सं० परित्रातृ] परित्राणकर्ता । रक्षा
करनेवाला । बचानेवाला ।

परित्रापक-संज्ञा पुं० [सं०] परित्राता । रक्षक । रक्षा करनेवाला ।

परिदर्शित-वि० [सं०] बकर से भली भाँति ढँका हुआ ।
जिरहपेश ।

परिदर-संज्ञा पुं० [सं०] दाँतों का एक रोग जिसमें मसूड़े
दाँतों से अलग हो जाते हैं और थूक के साथ रक्त निकलता
है । वैद्यक के अनुसार यह रोग पित्त, रुधिर और कफ के
प्रकोप से होता है ।

परिदर्शन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सम्यक् रूप से अवलोकन । भली
भाँति देखना । (२) दर्शन । अवलोकन । देखना ।

परिदष्ट—वि० [सं०] (१) जो काट कर टुकड़े टुकड़े कर दिया गया हो । (२) काटा हुआ । दंशित ।

परिदान—संज्ञा पुं० [सं०] लौटा देना । वापस कर देना । फिर दे देना । फेर देना ।

परिदाप—संज्ञा पुं० [सं०] सुगंधि । परिमोद । सुशब्द ।

परिदायी—संज्ञा पुं० [सं० परिदायिन्] वह व्यक्ति जो ऐसे व्यक्ति को अपनी कन्या दान करे जिसका बड़ा भाई अविवाहित हो । परिवेत्ता का ससुर ।

परिदाह—संज्ञा पुं० [सं०] (१) अत्यंत दाह या जलन । (२) मानसिक पीड़ा या व्यथा । शोक । संताप ।

परिदीन—वि० [सं०] जिसको अतिशय मानसिक दुःख हो । अत्यंत खिन्न चित्त ।

परिदेव—संज्ञा पुं० [सं०] विलाप । रोना-धोना ।

परिदेवन—संज्ञा पुं० [सं०] विलाप करना । कलपना । शोक आंतरिक दुःख जताना । अनुशोचन । अनुतापन ।

परिदृष्ट—संज्ञा पुं० [सं० परिदृष्टि] परिदर्शनकारी । दर्शन करने-वाला । देखनेवाला । अवलोकन करनेवाला ।

परिद्वीप—संज्ञा पुं० [सं०] गरुड़ का एक पुत्र ।

परिध—संज्ञा पुं० दे० “परिधि” ।

परिधन—संज्ञा पुं० [सं० परिधान] नीचे पहनने का कपड़ा । धोती आदि । इ०—(क) कुंड-हुंदु-दर-गौर सरीरा । भुज प्रलंब, परिधन मुनि चीरा ।—तुलसी । (ख) सीस जटा सरसीरुह लोचन, बने परिधन मुनि चीर ।—तुलसी ।

परिधान—संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी वस्तु से अपने शरीर को चारों ओर से ढिपाना । कपड़े लपेटना । (२) कपड़ा पहनना । (३) वह जो पहना जाय । वस्त्र । कपड़ा । पोशाक । पहनावा । (४) धोती आदि नीचे पहनने के वस्त्र । (५) स्तुति, प्रार्थना, गायन आदि का समास करना ।

परिधानीय—वि० [सं०] [स्त्री० परिधानीय] (१) परिधान योग्य । पहनने योग्य । (२) जो पहना जाय । वस्त्र । परिधेय ।

परिधाय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पहनावा । परिधेय । वस्त्र । (२) जलस्थान ।

परिधायक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) ढकने, लपेटने या चारों ओर से घेरनेवाला । (२) घेरा । बाड़ा । रुधान । (३) चहारदीवारी ।

परिधारण—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिधार्य, परिधृत] (१) उठाना । सहारना । धारण करना । (२) बचा रखना । रक्षा करना ।

परिधावन—संज्ञा पुं० [सं०] पहनने की प्रेरणा करना । पहनवाना ।

परिधावी—वि० [सं० परिधाविन्] ढाँढ़नेवाला ।

संज्ञा पुं० बृहस्पति के ६० वर्ष के युगचक्र या फेरे में से ४६ वाँ या २० वाँ वर्ष ।

परिधि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह रेखा जो किसी गोळ पदार्थ के चारों ओर खींचने से बने । गोळ वस्तु की चौहद्दी बनाने वाली रेखा । गोळ पदार्थ का विस्तार नियमित करनेवाली रेखा । घेरा । (२) रेखा गणित में वह रेखा जो किसी वृत्त के चारों ओर खींची हुई हो । वृत्त की चतुस्सीमा प्रस्तुत करनेवाली रेखा । दायरे की शकल या चौहद्दी बनानेवाली रेखा । घेरा । (३) सूर्य चंद्र आदि के आस पास देख पड़नेवाला घेरा । परिवेश । मंडल । (४) किसी प्रकार का विशेषतः किसी वस्तु की रक्षा के लिये बनाया हुआ घेरा । बाड़ा, रूधान या चहारदीवारी । (५) यज्ञकुंड के आस पास गाड़े जानेवाले तीन खूँटे ।

विशेष—इन खूँटों के नाम दक्षिण, उत्तर और मध्यम होते थे । (६) कक्षा । नियत या नियमित मार्ग । (७) परिधेय । कपड़ा । वस्त्र । पोशाक ।

परिधिस्थ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) परिचारक । परिचर । सेवक । खिदमतगार । (२) वे सैनिक जो रथ के चारों ओर इसलिये खड़े कराए जाते थे कि शत्रु के प्रहार से रथ और रथी की रक्षा करते रहें । रथ और रथी की रक्षक सेना ।

परिधीर—वि० [सं०] अतिशय धीर । गंभीर ।

परिधूमन—संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार तुष्या रोग का एक उपद्रव जिसमें एक विशेष प्रकार की कै आती है ।

परिधूमायन—संज्ञा पुं० [सं०] परिधूमन ।

परिधेय—वि० [सं०] पहनने के योग्य । परिधान के उपयुक्त । संज्ञा पुं० वस्त्र । पोशाक । कपड़ा ।

परिध्वंस—संज्ञा पुं० [सं०] (१) अत्यंत नाश । बिलकुल मिट जाना । (२) नाश । मिटना ।

परिनय—संज्ञा पुं० दे० “परिणय” ।

परिनाय—संज्ञा पुं० दे० “परिणाय” ।

परिनामी—वि० दे० “परिणामी” ।

परिनिर्वाण—संज्ञा पुं० [सं०] अति निर्वाण । पूर्ण निर्वाण । पूर्ण मोक्ष ।

परिनिर्वाति—संज्ञा स्त्री० [सं०] निर्वाण-मुक्ति । निर्वाण-वाति ।

परिनिर्वृत—वि० [सं०] जिसको परिनिर्वाण प्राप्त हुआ हो । परिमुक्त । मुक्त ।

परिनिर्वृति—संज्ञा स्त्री० [सं०] परिमुक्ति । मोक्ष । मुक्ति ।

परिनिष्ठा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चरम सीमा या अवस्था । अंतिम सीमा । पराकाष्ठा । (२) पूर्णता । (३) अभ्यास अथवा ज्ञान की पूर्णता ।

परिनिष्ठित—वि० [सं०] (१) पूर्ण । संपन्न । समाप्त । (२) पूर्ण अभ्यस्त । पूर्ण कुशल ।

परिनैष्ठिक-वि० [सं०] सर्वश्रेष्ठ । सर्वोच्च । सर्वोत्कृष्ट ।

परिन्यास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) काव्य में वह स्थल जहाँ कोई विशेष अर्थ पूरा हो । (२) नाटक में आख्यान बीज अर्थात् मुख्य कथा की मूलभूत घटना की संकेत से सूचना करना ।

परिपंच-संज्ञा पुं० दे० "प्रपंच" ।

परिपंथ-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो रास्ता रोके हुए हो ।

परिपंथक, **परिपंथिक**-संज्ञा पुं० [सं०] शत्रु । दुश्मन ।

परिपंथी-संज्ञा पुं० [सं० परिपंथिन्] (१) शत्रु । दुश्मन । (२) विरुद्ध कार्य करनेवाला । प्रतिकूल आचरण करनेवाला । (वैदिक)

परिपक्व-वि० [सं०] (१) अच्छी तरह पका हुआ । पूर्णपक्व । सम्यक् रीति से पक्व । खूब पका हुआ । जैसे ईंट, फल अन्न आदि । (२) अच्छी तरह पचा हुआ । सम्यक् रीति से जीर्ण । जो बिलकुल हजम हो गया हो । (३) पूर्ण विकसित । परिणत । प्रौढ़ । पका । पुख्ता । जैसे, परिपक्व बुद्धि या ज्ञान । (४) जो बहुत कुछ देख सुन चुका हो । बहुदर्शी । तजुर्बेकार । (५) निपुण । कुशल । प्रवीण । उस्ताद । पूरा ।

परिपक्वता-संज्ञा स्त्री० [सं०] परिपक्व होने की क्रिया या भाव ।

परिपण-संज्ञा पुं० [सं०] मूल धन । पूँजी ।

परिपति-संज्ञा पुं० [सं०] सर्वव्यापी । वह जो हर स्थान में उपस्थित हो ।

परिपांडु-वि० [सं०] (१) बहुत हलका पीला । सफेदी लिए हुए पीला । (२) दुर्बल । कृश । क्षीण ।

परिपाक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पकने का भाव । पकना या पकाया जाना । (२) पचने का भाव । पचना । पचाया जाना । (३) प्रौढ़ता । पूर्णता । परिणति (बुद्धि, अनुभव आदि के लिये) । (४) बहुदर्शिता । तजुर्बेकारी । (५) कुशलता । निपुणता । प्रवीणता । उस्तादी । (६) कर्मफल । विपाक । परिणाम । फल । नतीजा ।

परिपाकिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] निषोद्य ।

परिपाचन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अच्छी तरह पचना । भली भाँति पचना । (२) वह जो पूरी तरह से पच जाय ।

परिपाचना-संज्ञा स्त्री० [सं०] किसी पदार्थ को पूर्ण पक्व अवस्था में लाना ।

परिपाटल-वि० [सं०] जिसका रंग पीलापन लिए लाल हो । जर्दी लिए हुए लाल रंग का ।

परिपाटलित-वि० [सं०] पीले और लाल रंग में रंगा हुआ । जो पीला और लाल रंग मिलाकर रंगा गया हो ।

परिपाटी-संज्ञा स्त्री० दे० "परिपाटी" ।

परिपाटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कम । श्रेणी । सिलसिला ।

(२) प्रणाली । रीति । शैली । तरीका । चाल । ढंग ।

(३) अंकगणित । (४) पद्धति । रीति । चाल । नियम । संप्रदाय । उ०—जेतिक हरि अवतार सबै पूरण करि जाने ।

परिपाटी ध्वज विजय सदश भागवत बखाने ।—नाभाजी ।

परिपार्श्व-संज्ञा पुं० [सं०] पार्श्व । बगल ।

परिपालन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रक्षा करना । बचाना ।

(२) रक्षा । बचाव ।

परिपाल्य-वि० [सं०] जो रक्षा या पालन करने के योग्य हो ।

परिपिंजर-वि० [सं०] हजके लाल रंग का । पिंगलवर्ण ।

परिपिच्छ-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक आभूषण जो मोर की पूँछ के पंखों से बनता था ।

परिपिष्टक-संज्ञा पुं० [सं०] सीसा ।

परिपीडन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिपीडित] (१) अत्यंत पीड़ा पहुँचाना या देना । (२) पीसना । (३) अनिष्ट करना ।

परिपीवर-वि० [सं०] अति मोटा । बहुत मोटा या तगड़ा ।

परिपुष्करा-संज्ञा स्त्री० [सं०] गोडुंबककड़ी । गोंडुवा ।

परिपुष्ट-वि० [सं०] (१) जिसका पोषण भली भाँति किया गया हो । सम्यक् रीति से पोषित । (२) जिसकी वृद्धि पूर्ण रीति से हुई हो । खूब हट पुष्ट । पूर्ण पुष्ट ।

परिपूजन-संज्ञा पुं० [सं०] सम्यक् प्रकार से पूजन या उपासना ।

परिपूत-वि० [सं०] अति पवित्र ।

संज्ञा पुं० ऐसा अन्न जिसकी भूसी या झिलका अलग कर लिया गया हो । छँटा हुआ अन्न ।

परिपूरक-वि० [सं०] (१) परिपूर्ण कर देनेवाला । भर देनेवाला । लवालब कर देनेवाला । (२) समृद्धिकर्ता । धनधान्य से भरनेवाला । (३) संपूर्ण ।

परिपूरन-वि० दे० "परिपूर्ण" ।

परिपूरित-वि० [सं०] (१) परिपूर्ण । खूब भरा हुआ । लवालब । (२) संपूर्ण । समाप्त किया हुआ । पूरा किया हुआ ।

परिपूर्ण-वि० [सं०] (१) खूब भरा हुआ । सम्यक् रीति से व्याप्त । (२) पूर्ण तृप्त । अवाधा हुआ । (३) समाप्त किया हुआ । संपूर्ण । पूरा किया हुआ ।

परिपूर्णचंद्रविमलप्रभ-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की समाधि जिसका वर्णन बौद्ध शास्त्रों में मिलता है ।

परिपूर्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] परिपूर्ण होने की क्रिया या भाव । परिपूर्णता ।

परिपृच्छक-संज्ञा पुं० [सं०] पूछनेवाला । जिज्ञासा करनेवाला । वि० पूछनेवाला । जिज्ञासा करनेवाला ।

परिपृच्छनिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह बात जिसको लेकर वाद-विवाद किया जाय । वाद का विषय ।

परिपृच्छा-संज्ञा स्त्री० [सं०] जिज्ञासा । पृच्छना । प्रश्न करना ।

परिपेल-संज्ञा पुं० [सं०] केवटी मोथा । कैवर्त्त मुस्तक ।

परिपेलव-वि० [सं०] अति सुकुमार या कोमल ।

संज्ञा पुं० केवटी मोथा ।

परिपोट, परिपोटक-संज्ञा पुं० [सं०] कान का एक रोग जिसमें लौक का चमड़ा सूजकर स्याही लिए हुए लाल रंग का हो जाता है और उसमें पीड़ा होती है । प्रायः कान में भारी बाली आदि पहनने से यह रोग होता है ।

परिपोटन-संज्ञा पुं० [सं०] परिपोटक ।

परिपोटिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] परिपोटक ।

परिपोष-संज्ञा पुं० [सं०] पूर्ण पुष्टि या वृद्धि ।

परिपोषण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पालन । परवरिश करना । (२) पुष्ट या वर्धित करना ।

परिप्राप्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्राप्ति । मिलना ।

परिप्रेषण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिप्रेषित, परिप्रेष्य] (१) चारों ओर भेजना । जिधर इच्छा हो उधर भेजना । दूत या हरकारा बनाकर भेजना । (२) निर्वासन । किसी विशेष स्थान या देश से निकाल देना । (३) त्याग देना । परित्याग करना ।

परिप्रेषित-वि० [सं०] (१) भेजा हुआ । प्रेरित । (२) निर्वासित । निकाला हुआ । (३) त्यागा हुआ । परित्यक्त ।

परिप्रेष्य-वि० [सं०] भेजने योग्य । प्रेरणा करने योग्य ।

संज्ञा पुं० नौकर । दास । टहलुआ । अनुचर ।

परिप्लव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) तैरना । (२) बाढ़ । ग्रावन । (३) अत्याचार । जुल्म । (४) नौका । नाव । जहाज़ । (५) पुराणानुसार एक राजकुमार का नाम जो सुखीनल राजा का लड़का था ।

वि० [सं०] (१) हिलता हुआ । कांपता हुआ । चंचल । अस्थिर । (२) बहता हुआ । चलता हुआ । गतियुक्त ।

परिप्लवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] यज्ञ में काम आनेवाली एक प्रकार की करछी या चिमचा । एक प्रकार की दर्वी ।

परिप्लुत-वि० [सं०] (१) जिसके चारों ओर जल ही जल हो । प्लावित । डूबा हुआ । (२) गीला । भीगा हुआ । तराबोर । आर्द्र । स्नात । (३) कांपता हुआ । कंपित । संज्ञा पुं० फलांग । छलांग ।

परिप्लुता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मदिरा । शराब । (२) वह योनि जिसमें मैथुन या मासिक रजःस्राव के समय पीड़ा हो ।

परिप्लुष्ट-वि० [सं०] जला हुआ । भुना हुआ ।

परिप्लोष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जलन । दाह । (२) जलना । भुनना । सपना । (३) शरीर के भीतर की गरमी ।

परिफुल-वि० [सं०] (१) अच्छी तरह खिला हुआ । सम्यक् विकसित । खूब खिला हुआ । (२) खूब खुला हुआ । अच्छी तरह खुला हुआ । जैसे, परिफुलनेत्र । (३) जिसके रोंगटे खड़े हों । रोमांचयुक्त ।

परिवंधन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिवन्ध] चारों ओर से बांधना । अच्छी तरह बांधना । जकड़कर बांधना ।

परिवर्ह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजाओं के हाथी घोड़ों पर डाली जानेवाली झूल । (२) राजा के छत्र, चँवर आदि । राजचिह्न या राजा का साज सामान । (३) नित्य के व्यवहार की वस्तुएँ । घर में नित्य काम आनेवाली चीजें । वे चीजें जिनकी गृहस्थी में अत्यावश्यकता हो । (४) संपत्ति । दौलत । माल असबाब ।

परिवर्हण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पूजा । उपासना । (२) बढ़ती । समृद्धि । परिवृद्धि ।

परिबाधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पीड़ा । कष्ट । बाधा । (२) श्रम । श्रान्ति । मिहनत ।

परिवृंहण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिवृंहित] (१) समृद्धि । उन्नति । बढ़ती । (२) वह ग्रंथ अथवा शास्त्र जो किसी अन्य ग्रंथ या शास्त्र के विषय की पूर्ति या पुष्टि करता हो । किसी ग्रंथ के अंगस्वरूप अन्य ग्रंथ । जैसे, ब्राह्मण आदि ग्रंथ वेद के परिवृंहण हैं ।

परिवृंहित-वि० [सं०] (१) समृद्ध । उन्नत । (२) किसी से जुड़ा या मिला हुआ । युक्त । अंगीभूत ।

परिवोध-संज्ञा पुं० [सं०] ज्ञान ।

परिवोधन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिवोधनीय] (१) दंड की धमकी देकर या कुफल भोग का भय दिखाकर कोई विरोध कार्य करने से रोकना । चिंताना । (२) ऐसी धमकी या भयप्रदर्शन । चिंतावनी ।

परिवोधना-संज्ञा स्त्री० [सं०] परिवोधन ।

परिभक्ष-वि० [सं०] दूसरों का माल खानेवाला ।

परिभक्षण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिभक्षित] बिस्कुल खा डालना । खूब खा जाना । लफाचट कर देना ।

परिभक्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] आपस्तम्ब सूत्र के अनुसार एक विशेष विधान ।

परिभव-संज्ञा पुं० [सं०] अनादर । तिरस्कार । अपमान । हतक ।

परिभवन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिभवनीय] अनादर या तिरस्कार करना । अपमान करना । हतक या तौहीन करना ।

परिभवी-वि० [सं० परिभविन्] अपमानकारी । तिरस्कार करनेवाला ।

परिभाव-संज्ञा पुं० [सं०] परिभव । अनादर । तिरस्कार । अपमान ।

परिभाषन—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिभाषित] (१) मित्राप ।

मिलन । संयोग । (२) चिन्ता । फिक्र ।

परिभाषी—वि० [सं० परिभाषिन्] परिभाषकारी । तिरस्कार या अपमान करनेवाला ।

संज्ञा पुं० तिरस्कार या अपमान करनेवाला ।

परिभाषक—संज्ञा पुं० [सं०] निन्दक । बदगोई करनेवाला । निंदा द्वारा किसी का अपमान करनेवाला ।

परिभाषना—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चिन्ता । सोच । फिक्र । (२) साहित्य में वह वाक्य या पद जिससे कुतूहल या अतिशय उत्सुकता सूचित अथवा उत्पन्न हो ।

विशेष—नाटक में ऐसे वाक्य जितने अधिक हों उतना ही अच्छा समझा जाता है ।

परिभाषण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) निंदा करते हुए उलाहना देना । निंदा के सहित उपालंभ देना । किसी को दोष देते या लानत मलामत करते हुए उसके कार्य पर असंतोष प्रकट करना । (२) ऐसा उलाहना जिसके साथ निंदा भी हो । निंदा सहित उपालंभ । लानत मलामत । फटकार ।

विशेष—मनुस्मृति के अनुसार गर्भिणी, आपद्ग्रस्त, वृद्ध और बालक को और किसी प्रकार का दंड न देकर केवल परिभाषण का दंड देना चाहिए ।

(३) बोलना चालना या बात चीत करना । भाषण । आलाप ।

(४) नियम । दस्तर । कायदा ।

परिभाषा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) परिष्कृत भाषण । स्पष्ट कथन । संशयरहित कथन या बात । (२) पदार्थ विवेचना युक्त अर्थ-कथन । किसी शब्द का इस प्रकार अर्थ करना जिसमें उसकी विशेषता और व्याप्ति पूर्ण रीति से निश्चित हो जाय । ऐसा अर्थ निरूपण जिसमें किसी ग्रंथकार या वक्ता द्वारा प्रयुक्त किसी विशेष शब्द या वाक्य का ठीक ठीक लक्ष्य प्रकट हो जाय । किसी शब्द के वाच्य का इस रीति से वर्णन जिसमें उसके समझने में किसी प्रकार का भ्रम या संदेह न हो सके । लक्षण । तारीफ़ । जैसे, तुम उदारता उदारता तो बीस बार कह गए, पर जब तक तुम अपनी उदारता की परिभाषा न कर दो, मैं उससे कुछ भी नहीं समझ सकता ।

विशेष—परिभाषा संक्षिप्त और अतिव्याप्ति, अन्याप्ति रहित होनी चाहिए । जिस शब्द की परिभाषा हो वह उसमें न आना चाहिए । जिस परिभाषा में ये दोष हों वह शुद्ध परिभाषा नहीं होगी बल्कि दुष्ट परिभाषा कहलावेगी ।

क्रि० प्र०—कहना ।—करना ।

(३) किसी शास्त्र, ग्रंथ, व्यवहार आदि की विशिष्ट संज्ञा । ऐसा शब्द जो शास्त्र विशेष में किसी निर्दिष्ट अर्थ या भाव का संकेत मान लिया गया हो । ऐसा शब्द जो स्थान विशेष में ऐसे अर्थ में प्रयुक्त हुआ या होता हो जो उसके अन्वयों

या व्युत्पत्ति से भली भाँति न निकलता हो । पदार्थ विवेचकों या शास्त्रकारों की बनाई हुई संज्ञा । जैसे, गणित की परिभाषा, वैद्यक की परिभाषा, जुलाहों की परिभाषा । (४) ऐसे शब्द का अर्थ निर्देश करनेवाला वाक्य या रूप । (५) ऐसी बोल चाल जिसमें वक्ता अपना आशय परिभाषिक शब्दों में प्रकट करे । ऐसी बोल चाल जिसमें शास्त्र या व्यवसाय की विशेष संज्ञाएँ काम में लाई गई हों । जैसे, यदि यही बात विज्ञान की परिभाषा में कही जाय तो इस प्रकार होगी । (६) सूत्र के लक्षणों में से एक । (७) निंदा । परिवाद । शिकायत । बदनामी ।

परिभाषित—वि० [सं०] (१) जो अच्छी तरह कहा गया हो । जिसका स्पष्टीकरण किया गया हो । (२) (वह शब्द) जिसकी परिभाषा की गई हो । जिसका अर्थ किसी विशेष सूत्र या नियम द्वारा निर्दिष्ट तथा परिमित कर दिया गया हो ।

परिभाषी—वि० [सं० परिभाषिन्] बोलनेवाला । भाषणकारी ।

संज्ञा पुं० बोलनेवाला । भाषणकारी ।

परिभाष्य—वि० [सं०] कहने योग्य । बताने योग्य ।

परिभुक्त—वि० [सं०] जिसका भोग किया जा चुका हो । जो काम में आ चुका हो । उपभुक्त ।

परिभू—वि० [सं०] (१) जो चारों ओर से घेरे या आच्छादित किए हो । (२) नियामक । (३) परिचालक ।

विशेष—यह शब्द हैश्वर का विशेषण है ।

परिभूत—वि० [सं०] (१) हारा या हराया हुआ । पराजित । (२) जिसका अनादर या अपमान किया गया हो । तिरस्कृत । अपमानित ।

परिभूति—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) निरादर । तिरस्कार । अपमान । (२) श्रेष्ठता ।

परिभूषण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सजाने की क्रिया या भाव । सजावट या सजाना । बनावट सँवार या बनाना सँवारना । (२) वह शान्ति जो किसी विशेष प्रदेश या भूखंड का राजस्व किसी को देकर स्थापित की जाय । वह संधि जो किसी विशेष प्रांत या प्रदेश की सारी मालगुजारी किसी शत्रु राजा आदि को देकर की जाय । (कामंदकीय नीति) (३) ऐसी शान्ति या संधि की स्थापना । पूर्वोक्त प्रकार की शान्ति या संधि स्थापित करने का कार्य ।

परिभूषित—संज्ञा पुं० [सं०] सजाया हुआ । बनावट या सँवारा हुआ । शृंगार रहित ।

परिभेद—संज्ञा पुं० [सं०] शस्त्रादि का आघात । तलवार तीर आदि का घाव । जखम ।

परिभेदक—संज्ञा पुं० [सं०] फाड़ने या हेदेवेवाला व्यक्ति या शस्त्र । खूब गहरा घाव करनेवाला मनुष्य या हथियार ।

वि० काटने फाड़ने या छेदनेवाला। आघातकारी।

परिभोग—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिभोग्य] (१) भोग। उपभोग। (२) मैथुन। स्त्री-प्रसंग।

परिभोक्ता—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह मनुष्य जो दूसरे के धन का उपभोग करे। (२) वह मनुष्य जो गुरु के धन का उपभोग करे।

परिभ्रंश—संज्ञा पुं० [सं०] (१) गिराव या गिराना। पतन। च्युति। स्खलन। (२) भगदड़। भागना। पलायन।

परिभ्रम—संज्ञा पुं० [सं०] (१) इधर उधर टहलना। घूमना। भटकना। पर्यटन। भ्रमण। (२) घुमा फिरा कर कहना। सीधे सीधे न कहकर और प्रकार से कहना। किसी वस्तु के प्रसिद्ध नाम को छिपाकर उपयोग, गुण, संबंध आदि से इसका संकेत करना, जैसे, पन्न (चिट्ठी) को “बकरी का भोज्य” या “माता” को “पिता की पत्नी” कहना। (३) भ्रम। भ्रांति। प्रमाद।

परिभ्रमण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) घूमना। (पहिये आदि का) चक्कर खाना। (२) परिधि। घेरा। (३) इधर उधर टहलना। घूमना फिरना। मटरगश्ती करना। भटकना।

परिभ्रष्ट—वि० [सं०] (१) गिरा हुआ। पतित। च्युत। स्खलित। (२) भागा हुआ। पलायित।

परिभ्रामी—वि० [सं०] परिभ्रमण करनेवाला। भटकनेवाला। टहलने या घूमनेवाला।

परिमंडल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) चक्कर। घेरा। दायरा। परिधि। (२) एक प्रकार का विपैला मच्छर। वि० (१) गोल। वर्तुलाकार। (२) जिसका मान परमाणु के बराबर हो।

परिमंडलकुष्ठ—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का महाकुष्ठ। मंडल कुष्ठ।

विशेष—दे० “मंडल”।

परिमंडलता—संज्ञा स्त्री० [सं०] गोलाई।

परिमंडलित—वि० [सं०] जो गोल किया गया हो। वर्तुलाकार बनाया हुआ। मंडलीकृत।

परिमंथर—वि० [सं०] अत्यंत मंद, धीरा या धीमा। जैसे, परिमंथर गति।

परिमंद—वि० [सं०] (१) अत्यंत श्रान्त या थकित। (२) अत्यंत शिथिल या सुस्त। अत्यंत क्लांत।

परिमन्यु—वि० [सं०] क्रोध से भरा हुआ। अत्यंत कोपयुक्त।

परिमल—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिमलित] (१) सुवास। उत्तम गंध। खुशबू। (२) वह सुगंध जो कुमकुम आदि सुगंधित पदार्थों के मले जाने से उत्पन्न हो। (३) मलने का कार्य। मलना।

उबटना। (४) कुमकुम आदि का मलना या उबटना। (५) मैथुन। सहवास। संभोग। (६) पंडितों का समुदाय।

परिमलज—वि० [सं०] (सुख) जो मैथुन से प्राप्त हो। संभोग-जनित (सुख)।

परिमर—संज्ञा पुं० [सं०] हवा। वायु।

परिमर्श—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिमृष्ट] (१) छू जाना। लग जाना। लगाव होना। (२) अच्छी तरह विचार करना। किसी बात के सब पक्षों पर विचार करना।

परिमर्ष—संज्ञा पुं० [सं०] ईर्ष्या। कुढ़न। चिढ़।

परिमाण—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिमित, परिमेय] (१) वह मान जो नाप या तोल के द्वारा जाना जाय। वह विस्तार, भार या मात्रा जो नापने या तोलने से जानी जाय।

विशेष—वैशेषिक के अनुसार मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों प्रकार के द्रव्यों के संबंधादि पाँच गुणों में से परिमाण भी एक है। (२) घेरा। चारों ओर का विस्तार।

परिमाणवान्—वि० [सं० परिमाणवत्] परिमाणयुक्त। परिमाण-विशिष्ट।

परिमाणी—वि० [सं० परिमाणित] परिमाणयुक्त। परिमाणविशिष्ट।

परिमाता—संज्ञा पुं० [सं० परिमात्] नापनेवाला। नापने का काम करनेवाला। पैमाइश करनेवाला।

परिमान—संज्ञा पुं० दे० “परिमाण”।

परिमार्गन—संज्ञा पुं० [सं०] खोजने या ढूँढ़ने का कार्य। खोजना या ढूँढ़ना। अन्वेषण। अनुसंधान।

परिमार्गी—वि० [सं०] खोजने या खोज में किसी के पीछे जाने-वाला। अनुसंधानकारी। अनुसरणकर्ता।

परिमार्जक—संज्ञा पुं० [सं०] धोने या मॉजनेवाला। परिशोधक, या परिष्कारक।

परिमार्जन—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिमार्जित, परिमृज्य, परिमृष्ट] (१) धोने या मॉजने का कार्य। अच्छी तरह धोना। मॉजना। परिशोधन। परिष्करण। (२) एक विशेष मिठाई जो घी मिश्रित हुए शहद के शीरे में डुबाई हुई होती है।

परिमार्जित—वि० [सं०] (१) धोया या मॉजा हुआ। (२) साफ किया हुआ। परिष्कृत।

परिमित—वि० [सं०] (१) जिसका परिमाण हो या ज्ञात हो। जिसकी नाप तोल की गई हो या मात्स हो। सीमा, संख्या आदि से बद्ध। नपा तुला हुआ। (२) न अधिक न कम। जितने की आवश्यकता हो उतना ही। हिसाब या अंदाज से। उचित मात्रा या परिमाण में। जैसे, वे सदा परिमित भोजन करते हैं। (३) कम। थोड़ा। अल्प। जैसे, उनका वैद्यक-ज्ञान बहुत ही परिमित है।

परिमितकथा-वि० [सं०] (१) जो उचित से अधिक न बोलता हो। नपे तुल्ये शब्द बोलकर काम चलानेवाला। (२) कम बोलनेवाला। अल्पभाषी।

परिमिति-संज्ञा स्त्री० [सं०] नाप, तोल, सीमा आदि।
[सं० परिमिति = सीमा, अंत] मर्यादा। इउन्नत। उ०-परिमित गण लाज तुमही को हंसिनि व्याहि काग लै जाइ।—सूर।

परिमुक्त-वि० [सं०] पूर्ण रूप से स्वाधीन। सम्यक् रूप से मुक्त।

परिमृदु-वि० [सं०] (१) व्याकुल। (२) विचलित। मथित। (३) क्षोभित।

परिमृष्ट-वि० [सं०] (१) धोया या साफ किया हुआ। परिमार्जित। (२) जिसको छुआ गया हो। स्पृष्ट। (३) पकड़ा हुआ। अधिकृत। (४) जिससे परामर्श किया गया हो।

परिमृष्टाष्ट-संज्ञा स्त्री [सं०] धोना। मंजना। परिष्करण। परिमार्जन।

परिमेय-वि० [सं०] (१) जो नापा या तोला जा सके। नापने या तोलने के योग्य। (२) थोड़ा। ससीम। संकुचित। (३) जिसके नापने या तोलने का प्रयोजन हो। जिसे नापना या तोलना हो।

परिमोक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पूर्ण मोक्ष। सम्यग्मुक्ति। निर्वाण। (२) परित्याग। छोड़ना। (३) मलपरित्याग। हगना। (४) विष्णु।

परिमोक्षण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुक्त करना या होना। (२) परित्याग करना या किया जाना। (३) मल त्याग करना। (४) धौति क्रिया द्वारा अंतर्द्वियों को धोकर साफ करना।

परिमोष-संज्ञा पुं० [सं०] चोरी। स्तेय।

परिमोषक-संज्ञा पुं० [सं०] चोर।

परिमोषी-वि० [सं० परिमोषिन्] जिसकी स्वभाव से चोरी करने की प्रवृत्ति हो।

परिमोहन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिमोहित] किसी की बुद्धि या मन को पूर्ण रूप से अपने अधिकार में कर लेना। सम्यक् वशीकरण।

परिम्लान-वि० [सं०] मुरझाया हुआ। उदास। कुम्हलाया हुआ। मलिन। निस्तेज। हतप्रभ।

परिम्लायी-वि० [सं० परिम्लायिन्] मलिनतायुक्त। उदास। कुम्हलाया या मुरझाया हुआ।

संज्ञा पुं० तिमिर रोग का एक भेद। इसका कारण रुधिर में मूर्च्छित पित्त होता है। इसमें रोगी को सभी दिशाएं पीली या प्रज्वलित दिखाई पड़ती हैं।

परियज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] वह बड़ा यज्ञ या विधान जिसको

अकेले करने की विधि न हो, किंतु जो किसी अन्य यज्ञ के साथ उसके पहले या पीछे किया जाय।

परियंक-संज्ञा पुं० दे० “पर्यंक”।

परियंत-अव्य० दे० “पर्यंत”।

परियत्त-वि० [सं०] चारों ओर से घिरा हुआ। परिवेष्टित।

परियष्टा-संज्ञा पुं० [सं० परियष्टि] वह मनुष्य जो अपने बड़े भाई से पहले सोम याग करे।

परिया-संज्ञा पुं० [तमिल परैयान] दक्षिण भारत की एक प्राचीन जाति जो अस्पृश्य मानी जाती है। इस जाति के लोग अधिकतर चौकीदारी, भंगी या मेहतर का काम अथवा शूद्र किसान के खेत में मजदूरी करते हैं। स्वभाव से ये शांत, नम्र और परिश्रमी होते हैं। ये देवी के उपासक होते हैं और अधिकतर पार्वती या काली की मूर्तियों की पूजा करते हैं। सामाजिक संबंध में ये बड़े रक्षणीय हैं; अपने से उच्च भिन्न जाति से भी किसी प्रकार का सामाजिक संबंध नहीं रखना चाहते। कई दक्षिणी राज्यों में इनको ब्राह्मणों के सामने से निकलने तक का निषेध है। कहते हैं कि इनका सामना हो जाने से ब्राह्मण अपवित्र हो जाता है और उसे स्नान करना पड़ता है। जिस गाँव में ब्राह्मणों की बस्ती हो उसमें जाना भी परिया के लिये निषिद्ध है।

विशेष—परिया लोगों का कहना है कि हमारी उत्पत्ति ब्राह्मणों के गर्भ से है और हम ब्राह्मणों के बड़े भाई होते हैं। वैकटाचार्य ने कुलशंकरमाला में लिखा है कि उर्वशी के पुत्र वशिष्ठ ने अरुंधती नाम की एक चांडाली से विवाह किया था। इस चांडाली के गर्भ से १०० पुत्र जन्मे। इनमें से पिता का आदेश मान लेनेवाले ४ पुत्र तो चार वर्णों के मूल पुरुष हुए और पिता की आज्ञा की अवज्ञा करनेवाले ९६ पुत्रों को पंचमवर्ण या परिया की संज्ञा मिली।

संज्ञा स्त्री० [देश०] ताना तानने की लकड़ियाँ। (जुलाहा)

परियाण-संज्ञा पुं० [सं०] घुमाई फिराई। अमण। पर्यटन।

परियाणिक-संज्ञा पुं० [सं०] चलती हुई गाड़ी।

परियात-वि० [सं०] (१) जो अमण या पर्यटन कर चुका हो।

(२) आया हुआ। कहीं से लौटा हुआ।

परियार-संज्ञा पुं० [देश०] (१) विहार शाकद्वीपीय ब्राह्मणों का एक उपभेद। (२) मद्रास में बसनेवाली एक नीच जाति।

परियोग्य-संज्ञा पुं० [सं०] वेद की एक शाखा।

परिरंभ, **परिरंभण**-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिरंभित, परिरंभी] गले से गला या छाती से छाती लगाकर मिलना। आलिंगन।

परिरंभना-क्रि० सं० [सं० परिरंभ + ना (प्रत्य०)] परिरंभण करना। आलिंगन करना। गले लगाना। उ०—तुव तन परिमल

परसि जब गवनत धीर समीर । ताकहँ बहु सनमान करि
परिभत बलवीर ।—नंददास ।

परिरक्षण—संज्ञा पुं० [सं०] सब प्रकार या सब ओर से रक्षा करना ।

परिरथ्य—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रथ का एक अंग ।

परिरथ्या—संज्ञा पुं० [सं०] चौड़ा रास्ता । सड़क ।

परिरोध—संज्ञा पुं० [सं०] रुकावट । अड़ंगा । अवरोध ।

परिलंघ, परिलंघन—संज्ञा पुं० [सं०] फलांग या झुलंग मारना । कूद या उछलकर लाँघ जाना ।

परिलंबन—संज्ञा पुं० [सं०] भाचक का २७° विपुवद्रेखा से एक ओर हिंडोले की तरह जाकर फिर लौट आना और इसी प्रकार दूसरी ओर २७° तक की पेंग लेकर पुनः अपने स्थान पर चला आना । इसे अँगरेजी में लाइब्रेशन (Libration) कहते हैं ।

परिलघु—वि० [सं०] (१) अत्यंत छोटा । (२) अत्यंत शीघ्र पचने के कारण अति लघु पाक ।

परिलिखन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) रगड़ या विस कर किसी चीज का खुरदरापन दूर करना । (२) चिकना और चमकदार करना । पालिश करना ।

परिलिखित—वि० [सं०] रेखा से घिरा हुआ । जो किसी घेरे या दायरे के बीच में हो । रेखा से परिवेष्टित ।

परिलुप्त—वि० [सं०] (१) नाशप्राप्त । नष्ट । विनष्ट । (२) जिसकी छति या अपकार किया गया हो । छतिग्रस्त । अपकृत ।

परिलेख—संज्ञा पुं० [सं०] (१) चित्र का स्थूल रूप जिसमें केवल रेखाएँ हों, रंग न भरा गया हो । ढाँचा । खाका । (२) चित्र । तस्वीर । (३) कूँची या कलम जिससे रेखा या चित्र खींचा जाय । (४) उल्लेख । वर्णन । (हिंदी में) । उ०—तेरे प्रेम को परिलेख तो प्रेम की टकसाल हो गयो और उत्तम प्रेमिन को छोड़ि और काहू की समझ ही में न आवैगो ।—हरिश्चंद्र ।

परिलेखन—संज्ञा पुं० [सं०] किसी वस्तु के चारों ओर रेखाएँ बनाना ।

परिलेखना—क्रि० सं० [सं० परिलेख + ना (प्रत्य०)] समझना । मानना । खयाल करना । उ०—औ जेइ समुद प्रेम कर देखा । तेइ यह समुद बुंद परिलेखा ।—जायसी ।

परिलेही—संज्ञा पुं० [सं० परिलेहिन्] कान का एक रोग जिसमें कफ और रुधिर के प्रकोप से कान की लालक पर छोटी छोटी फुंसियाँ निकल आती हैं और उनमें जलन होती है ।

परिलोप—संज्ञा पुं० [सं०] (१) क्षति । हानि । (२) विलोप । नाश ।

परिवंश—संज्ञा पुं० [सं०] धोखा । झूठ । प्रतारण ।

परिवक्ता—संज्ञा स्त्री० [सं०] गोलाकार वेदी ।

परिवत्सर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) ज्योतिष के पाँच विशेष संवत्सरों में से एक । इसका अधिपति सूर्य होता है । (२) एक समस्त वर्ष । एक पूरा साल ।

परिवत्सरीण, परिवत्सरीय—वि० [सं०] जिसका संबंध सारे वर्ष से हो । जो पूरे वर्ष भर रहे । समस्त वर्षव्यापी । समस्त वर्ष संबंधी ।

परिवदन—संज्ञा पुं० [सं०] किसी के दोष का वर्णन या कथन । निंदा । बदगोई ।

परिवर्जन, परिवर्जन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) परित्याग करना । त्यागना । छोड़ना । तजना । (२) मारण । मार डालना । हत्या करना ।

परिवर्जनीय—वि० [सं०] त्यागने योग्य । परित्याज्य ।

परिवर्जित—वि० [सं०] त्यागा हुआ । परित्यक्त ।

परिवर्त—संज्ञा पुं० [सं०] (१) फिराव । फेरा । घुमाव । चक्कर ।

विवर्तन । आवृत्ति । (२) अदल बदल । बदला । विनिमय ।

(३) जो बदले में लिया या दिया जाय । बदल । (४) किसी काल या युग का अंत । किसी काल या युग का बीत जाना ।

(५) (ग्रंथ का) परिच्छेद । अध्याय । बयान । (६) पुराणा-नुसार मृत्यु के पुत्र दुस्सह के पुत्रों में से एक ।

विशेष—मार्कंडेय पुराण में लिखा है कि मृत्यु के दुस्सह नाम का एक पुत्र था जिसका विवाह कलि की कन्या निर्माष्टि के साथ हुआ था । निर्माष्टि के गर्भ से अनेक पुत्र जन्मे, परिवर्त इनमें तीसरा था । यह एक स्त्री के गर्भ को दूसरी स्त्री के गर्भ से बदल दिया करता था ; किसी वाक्य का भी वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध या भिन्न अर्थ कर दिया करता था । इसी से इसे परिवर्त कहने लगे । इसके उपद्रव से गर्भ की रक्षा करने के लिये सफेद सरसों और रत्नोन्न मंत्र से इसकी शांति की जाती है । इसके पुत्र विरूप और विकृत भी उपद्रव करके गर्भपात कराते हैं । इनके रहने के स्थान ढालियों के सिरे, चहारदीवारी, खाई और समुद्र हैं । जब गर्भिणी स्त्री इनमें से किसी के पास पहुँचती है तब ये उसके गर्भ में घुस जाते हैं और फिर बराबर एक से दूसरे गर्भ में जाया करते हैं । इनके बार बार जाने आने से गर्भ गिर जाता है । इसी कारण गर्भावस्था में स्त्री को वृद्ध, पर्वत, प्राचीर, खाई और समुद्र आदि के पास घूमने फिरने का निषेध है ।

(७) स्वरसाधन की एक प्रणाली जो इस प्रकार है—

आरोही—सा ग म रे, रे म प ग, ग प ध म, म ध नि प, प नि सा ध, ध सा रे नि, नि रे ग सा । अवरोही—सा ध प नि, नि प सा ध, ध म ग प, प ग रे म, म रे सा ग, ग सा नि रे, रे नि ध सा ।

परिवर्तक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) घूमनेवाला । फिरनेवाला । चक्कर खानेवाला । (२) घुमानेवाला । फिरानेवाला । चक्कर देनेवाला ।

उलटने पलटनेवाला। (३) बदलनेवाला। विनिमय करने वाला। (४) जो बदला जा सके। परिवर्तन योग्य। (५) युग का अंत करनेवाला। (६) मृत्यु के पुत्र दुस्सह का एक पुत्र।

परिवर्तन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिवर्तनीय, परिवर्तित, परिवर्ती]

(१) घुमाव। फेरा। चक्कर। आवर्तन। (२) दो वस्तुओं का परस्पर अदल बदल। अदला बदली। हेर फेर। विनिमय। तबादला। (३) जो किसी वस्तु के बदले में लिया या दिया जाय। बदल। (४) बदलने या बदल जाने की क्रिया या भाव। दशांतर। स्थित्यंतर। रूपांतर। तबदीली। (५) किसी काल या युग की समाप्ति।

परिवर्तनीय-वि० [सं०] घूमने, बदलने या बदले जाने के योग्य। परिवर्तन योग्य।

परिवर्तिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक छद्म रोग जिसमें अधिक खुजलाने इवाने या चोट लगने के कारण लिंगवर्मा उलटकर सूज आता है। कभी कभी यह सूजन गाँठ की तरह हो जाती है और पक जाती है। यह रोग वायु के कोप से होता है। कफ अथवा पित्त का भी संबंध होने से त्वचा में क्रम से अधिक खुजली या जलन होती है।

परिवर्तित-वि० [सं०] (१) जिसका आकार या रूप बदल गया हो। बदला हुआ। रूपांतरित। (२) जो बदले में मिला हुआ हो।

परिवर्तिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] भादों शुक्ल पक्ष की एकादशी।

परिवर्ती-वि० [सं० परिवर्तिनी] (१) परिवर्तन स्वभाववाला। परिवर्तनशील। बार बार बदलनेवाला। (२) किसी चीज का बदलनेवाला, विनिमय करनेवाला। (३) जिसका घूमने का स्वभाव। जो बराबर घूमता रहता हो।

परिवर्तुल-वि० [सं०] खूब गोल। पूर्ण गोलाकार।

परिवर्तमन-वि० [सं०] जो किसी वस्तु के चारों ओर घूम रहा हो। प्रदक्षिणा करता हुआ।

परिवर्द्धन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिवर्धित] संख्या, गुण आदि में किसी वस्तु की खूब बढ़ती होना। सम्यक् प्रकार से वृद्धि। खूब या खाली बढ़ती। परिवृद्धि।

परिवर्द्धित-वि० [सं०] (१) बढ़ा हुआ। (२) बढ़ाया हुआ।

परिवर्म्म-वि० [सं० परिवर्म्मन्] वर्म से ढका हुआ। बक्तर से ढका हुआ। जिरहपोश।

परिवर्ह-संज्ञा पुं० [सं०] चँवर, छत्र आदि राजत्व की सूचक वस्तुएँ। राजचिह्न। शाही लवाजमा।

परिवसथ-संज्ञा पुं० [सं०] ग्राम। गाँव।

परिवह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सात पवनों में से छठा पवन। कहते हैं कि यह सुबह पवन के ऊपर रहता है और आकाशगंगा

को बहाता तथा शुक्र तारे को घुमाता है। (२) अग्नि की सात जीभों में से एक।

परिवा-संज्ञा स्त्री० [सं० प्रतिपदा, प्रा० पडिविवा] किसी पक्ष की पहली तिथि। द्वितीया के पहले पड़नेवाली तिथि। अमावस्या या पूर्णिमा के दूसरे दिन की तिथि। पड़िवा।

परिवाद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) निंदा। दोषकथन। अपवाद। बुराई करना। (२) मनुस्मृति के अनुसार ऐसी निंदा जिसकी आधारभूत घटना या तथ्य सत्य न हो। झूठी निंदा। (३) लोहे के तारों का वह छल्ला जिससे वीणा या सितार बजाया जाता है। मिजराब।

परिवादक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) परिवाद करनेवाला मनुष्य। निंदा करनेवाला व्यक्ति। (२) बीनकार। बीन बजानेवाला। वि० परिवाद करनेवाला। निंदक।

परिवादिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह बीन जिसमें सात तार होते हैं।

परिवादी-वि० [सं०] निंदा करनेवाला। परिवाद करनेवाला।

संज्ञा पुं० निंदक व्यक्ति। अपवाद या परिवाद करनेवाला।

परिवार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कोई ढकनेवाली चीज। परिच्छद।

आवरण। (२) स्थान। नियाम। कोष। तलवार की खोली।

(३) वे लोग जो किसी राजा या रईस की सवारी में उसके पीछे उसे घेरे हुए चलते हैं। परिवद। (४) वे लोग जो अपने भरण पोषण के लिये किसी विशेष व्यक्ति के आश्रित हों। आश्रित वर्ग। पोष्य जन। (५) एक ही कुल में उत्पन्न और

परस्पर घनिष्ठ संबंध रखनेवाले मनुष्यों का समुदाय। भाई, बेटे आदि और सगे संबंधियों का समुदाय। स्वजनों या

आत्मीयों का समुदाय। परिजन समूह। कुटुंब। कुनवा।

खानदान। (६) एक स्वभाव या धर्म की वस्तुओं का समूह। कुल। उ०—अमिय मूरिमय चूरन चारु। समन

सकल भवरुज परिवारु।—तुलसी।

परिवारण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिवारित] (१) ढकने या छिपाने की क्रिया। आवरण। आच्छादन। (२) कोष। खोल।

स्थान।

परिवारवान-वि० [सं० परिवारवत] जिसके परिवार हो। परिवार-

वाला। जिसके बहुत से परिवद, कुटुंबी या आश्रित हों।

परिवास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उहरना। टिकना। टिकाव।

अवस्थान। (२) घर। गृह। मकान। (३) सुवास।

सुगंध। (४) बौद्ध संघ में से किसी अपराधी भिक्षु का बाहर

किया जाना या बहिष्करण।

परिवासन-संज्ञा पुं० [सं०] खंड। टुकड़ा।

परिवाह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऐसा प्रवाह या बहाव जिसके

कारण पानी ताल तालाब आदि की समाई से अधिक

हो जाता हो। उतरा कर बहना। बाँध, मैड या दीवार के

ऊपर से छलक कर बहना। (२) [वि० परिवाहित] वह

नाली या प्रवाह-मार्ग जिससे किसी स्थान का आवश्यकता से अधिक जल निकाला जाय। फालतू पानी निकालने का मार्ग। अतिरिक्त पानी का निकास।

परिवाही-वि० [सं० परिवाहिन्] [स्त्री० परिवाहिनी] उतरा कर बहानेवाला। बाँध, मेड़ आदि से छलक कर बहने वाला। उबल या उफन कर बहनेवाला।

परिविदक-संज्ञा पुं० [सं०] वह व्यक्ति जो जेठे भाई से पहले अपना विवाह कर ले। परिवेत्ता।

परिविदन्-संज्ञा पुं० [सं०] परिवेत्ता। परिविदक।

परिवितर्क-संज्ञा पुं० [सं०] प्रश्न। जिज्ञासा। परीक्षा।

परिवित्त-संज्ञा पुं० [सं०] वह मनुष्य जिसका छोटा भाई, उससे पहले अपना विवाह कर ले।

परिवित्ति-संज्ञा पुं० [सं०] परिवित्त।

परिविद्ध-वि० [सं०] भली भाँति या सम्यक् रीति से विद्व। सब और या सब प्रकार से विधा हुआ।

संज्ञा पुं० कुबेर। (देवता)

परिविविदान-संज्ञा पुं० [सं०] बड़े भाई से पहले विवाह करने वाला छोटा भाई। परिवेत्ता।

परिविष्ट-वि० [सं०] (१) घेरा हुआ। परिवेष्टित। (२) परोसा हुआ (भोजन)।

परिविष्टि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सेवा। टहल। परिचर्या। (२) घेरा। वेष्टन।

परिवीक्षण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) घिरा हुआ लपेटा हुआ (२) ढका हुआ। छिपाया हुआ। आच्छादित। आवृत।

परिवीत-वि० [सं०] (१) घिरा हुआ। लपेटा हुआ। (२) ढका हुआ। छिपाया हुआ। आच्छादित। आवृत।

परिवृत-वि० [सं०] ढका, छिपाया या घिरा हुआ। वेष्टित। आवृत।

परिवृत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] ढकने, घेरने या छिपानेवाली वस्तु। वेष्टन।

परिवृत्त-वि० [सं०] (१) घुमाया हुआ। उलटा पलटा हुआ। (२) घेरा हुआ। वेष्टित। (३) समाप्त।

परिवृत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) घुमाव। चक्र। गति। (२) घेरा। वेष्टन। (३) अदृष्टा बदला। विनिमय। तबादला। (४) समाप्ति। अंत। (५) एक शब्द या पद को दूसरे ऐसे शब्द या पद से बदलना जिससे अर्थ वही बना रहे। ऐसा शब्द-परिवर्तन जिसमें अर्थ में कोई अंतर न आने पावे। जैसे, 'कमललोचन' के 'कमल' अथवा 'लोचन' को 'पद्म' या 'नयन' से बदलना (व्याकरण)।

संज्ञा पुं० एक अर्थालंकार जिसमें एक वस्तु को देकर दूसरी के लेने अर्थात् लेन देन या अदृष्ट बदल का कथन होता है। इस अलंकार के दो प्रधान भेद हैं—एक सम परिवृत्ति, दूसरा

विषम परिवृत्ति। पहले में समान गुण या मूल्य की और दूसरे में असमान गुण या मूल्य की वस्तुओं के अदृष्ट बदल का वर्णन होता है। इन दोनों के दो दो अर्थांतर भेद होते हैं। सम के अंतर्गत एक उत्तम वस्तु का उत्तम से विनिमय; दूसरा न्यून वस्तु का न्यून से विनिमय है। इसी प्रकार विषय के अंतर्गत उत्तम वस्तु का न्यून से और न्यून का उत्तम से विनिमय होता है। उ०—(क) मन मानिक दीन्हों तुम्हें लीन्हों विरह बलाय। (वि० परि०—उत्तम का न्यून से विनिमय)। (ख) तीन मूढ़ी भरि आज देकर अनाज आपु लीन्हों जहुपति जू सों राज तीनों लोक को। (वि० परि० न्यून का उत्तम से विनिमय)

विशेष—हिंदी कविता में प्रायः विषम परिवृत्ति के ही उदाहरण मिलते हैं। कई आचार्यों ने इसी कारण न्यून या थोड़ा देकर उत्तम या अधिक लेने के कथन को ही इस अलंकार का लक्षण माना है, सम का सम के साथ विनिमय के कथन को नहीं। परंतु अन्य कई आचार्यों तथा विशेषतः साहित्यदर्पण आदि के साहित्य ग्रंथों ने देन लेन या अदृष्ट बदल के कथन मात्र को इस अलंकार का लक्षण प्रतिपादित किया है।

परिवृद्ध-वि० [सं०] खूब बढ़ा हुआ। सब प्रकार वर्द्धित। परिवर्द्धित।

परिवृद्धि-संज्ञा स्त्री० [सं०] सब प्रकार से वृद्धि। परिवर्द्धन। खूब बढ़ती या वृद्धि।

परिवेत्ता-संज्ञा पुं० [सं० परिवेत्] वह व्यक्ति जो बड़े भाई से पहले अपना विवाह कर ले या अग्निहोत्र ले ले।

विशेष—बड़े भाई के अविवाहित रहते छोटे का विवाह होना धर्मशास्त्रों से निषिद्ध और निंदित है। परंतु नीचे लिखी हुई अवस्थाएँ अपवाद हैं। इनमें बड़े भाई से पहले विवाह करने वाले छोटे भाई को दोष नहीं लगता। बड़ा भाई देशांतर या परदेश में हो, (शास्त्रों ने देशांतर उस देश को माना है जहाँ कोई और भाषा बोली जाती हो, जहाँ जाने के लिये नदी या पहाड़ लाँघना पड़े, जहाँ का संवाद दस दिन के पहले न सुन सकें अथवा जो साठ, चालीस या तीस योजन दूर हो), नपुंसक हो, एक ही अंडकोष रखता हो, वेश्यासक्त हो, (शास्त्र-परिभाषा के अनुसार) शूद्र तुल्य या पतित हो, अति रोगी हो, जड़, गूँगा, अंधा, बहरा, कुबड़ा, बौना या कोढ़ी हो, अति वृद्ध हो गया हो, उसने ऐसी स्त्री से संबंध कर लिया हो जो शास्त्रनिषिद्ध हो, जो शास्त्र की विधियों को न मानता हो, अपने पिता का औरस पुत्र न हो, चोर हो या विवाह करना ही न चाहता हो और छोटे भाई को विवाह करने की उसने अनुमति दे दी हो। बड़े भाई के देशांतरस्थ होने की दशा

में तीन वर्ष अथवा विशेष अवस्थाओं में कुछ अधिक वर्षों तक प्रतीक्षा करने की शास्त्रों की आज्ञा है, पर कोढ़ी, पतित, आदि होने की दशा में नहीं।

परिवेद—संज्ञा पुं० [सं०] पूरा ज्ञान। सम्यक् ज्ञान। परिज्ञान।

परिवेदन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पूरा ज्ञान। सम्यक् ज्ञान। परिज्ञान (२) विचरण। (३) लाभ। प्राप्ति। (४) विद्यमानता। मौजूदगी। (५) वादविवाद। बहस। (६) भारी दुःख या कष्ट। (७) बड़े भाई के पहले छोटे भाई का व्याह होना। (८) अग्निहोत्र के लिये अग्नि की स्थापना। अग्न्याधान।

परिवेदना—संज्ञा स्त्री० [सं०] तीव्रबुद्धिता। विचक्षणता। विदग्धता। चतुराई।

परिवेदिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] उस मनुष्य की स्त्री जिसने बड़े भाई से पहले अपना व्याह कर लिया हो। परिवेत्ता की स्त्री।

परिवेश—संज्ञा पुं० [सं०] वेष्टन। परिधि। घेरा।

परिवेष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) परसना या परोसना। परिवेषण। (२) घेरा। परिधि। (३) हलकी। सफेद बदली का वह घेरा जो कभी चंद्रमा या सूर्य के हृद् गिर्द बन जाता है। मंडल। (४) कोई ऐसी वस्तु जो चारों ओर से घेरकर किसी वस्तु की रक्षा करती हो। (५) शहरपनाह की दीवार। परकोटा। कोट।

परिवेषक—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० परिवेषिका] परसनेवाला। परिवेषण करनेवाला।

परिवेषण—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिवेष्टव्य, परिवेष्य] (१) (खाना) परसना। परोसना। (२) घेरा। परिधि। वेष्टन। (३) सूर्य या चंद्र आदि के चारों ओर का मंडल।

परिवेष्टन—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिवेष्टित] (१) चारों ओर से घेरना या वेष्टन करना। (२) छिपाने, ढकने या लपेटने वाली चीज। आच्छादन। आवरण (३) परिधि। घेरा। दाघरा।

परिवेष्टा—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिवेष्ट] परसनेवाला। परिवेषक। **परिवेष्टक**—वि० [सं०] खूब स्पष्ट या प्रकट। सम्यक् रूप से प्रकाशित।

परिव्याध—संज्ञा पुं० [सं०] (१) चारों ओर से बेधने या छेदने वाला। (२) जलबैल। (३) कनेर। दुमोत्पल। (४) एक ऋषि का नाम।

परिव्रज्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हृथर उथर भ्रमण। (२) तपस्या। (३) भिक्षुक की भाँति जीवन बिताना। जोड़े की चूड़ी आदि धारण करना और सदा भ्रमण करते रहना। भिक्षुक वृत्ति से जीवननिर्वाह।

परिव्राज, **परिव्राजक**—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह संन्यासी जो सदा भ्रमण करता रहे। (२) संन्यासी। यती। परमहंस।

परिव्राजी—संज्ञा स्त्री० [सं०] गोरखमुंडी। मुंडी।

परिव्राट्—संज्ञा पुं० [सं०] (१) परिव्राज। परिव्राजक।

परिशिष्ट—वि० [सं०] बचा हुआ। छूटा हुआ। अवशिष्ट।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी पुस्तक या लेख का वह भाग जिसमें वे बातें दी गई हों जो किसी कारण यथास्थान नहीं जा सकी हों और जिनके पुस्तक में न आने से वह अपूर्ण रह जाती हो। पुस्तक या लेख का वह अंश जिसमें ऐसी बातें लिखी गई हों जो यथास्थान देने से छूट गई हों और जिनके देने से पुस्तक के विषय की पूर्ति होती हो, जैसे छांदोग्यपरिशिष्ट, गृह्यपरिशिष्ट आदि।

(२) किसी पुस्तक के अंत में जोड़ा हुआ वह लेख जिसमें ऐसे अंक, व्याख्याएँ, कथाएँ, हवाले, अथवा अन्य कोई बात दी गई हो जिससे पुस्तक का विषय समझने में सहायता मिलती हो। किसी पुस्तक का वह अतिरिक्त अंश जिसमें कुछ ऐसी बातें दी गई हों जिनसे इसकी उपयोगिता या महत्त्व बढ़ता हो। जमीमा।

परिशीलन—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिशीलित] (१) विषय को खूब सोचते हुए पढ़ना। सब बातों या अंगों को सोच समझ कर पढ़ना। मननपूर्वक अध्ययन। (२) स्पष्ट। लग जाना या छू जाना।

परिशुद्धि—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पूर्ण शुद्धि। सम्यक् शुद्धि। (२) छुटकारा। रिहाई।

परिशुष्क—वि० [सं०] बिलकुल सूखा हुआ। अत्यंत रसहीन। संज्ञा पुं० तला हुआ मांस।

परिशेष—वि० [सं०] बाकी बचा हुआ। अवशिष्ट।

संज्ञा पुं० (१) जो कुछ बच रहा हो। बच रहनेवाला। (२) परिशिष्ट। (३) समाप्ति। अंत।

परिशेषण—संज्ञा पुं० [सं०] वह जो बाकी बच रहा हो।

परिशोध—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पूर्ण शुद्धि। पूरी सफाई। (२) ऋण की बेबाकी। चुकता। ऋणशुद्धि।

परिशोधन—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिशुद्ध, परिशोधनीय, परिशोधित] (१) पूरी तरह साफ या शुद्ध करना। पूर्ण रीति से शुद्धि करना। अंग प्रत्यंग की सफाई करना। सर्वतोभावे से शोधन। (२) ऋण का दाम दाम दे डालना। कर्ज की बेबाकी। चुकता।

परिश्रम—संज्ञा पुं० [सं०] (१) उद्यम। आयास। श्रम। क्लेश। मेहनत। मशकत। (२) थकावट। श्रान्ति। सँदगी।

परिश्रमी—वि० [सं०] परिश्रमिन् जो बहुत श्रम करे। उद्यमी। श्रमशील। मेहनती।

परिश्रय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) आश्रय । रक्ष-स्थान । पनाइ की जगह । (२) सभा । परिषद् ।
परिश्रांत—वि० [सं०] थका हुआ । श्रमित । क्लान्तियुक्त । थका मांदा ।
परिश्रांति—संज्ञा स्त्री० [सं०] थकावट । क्लान्ति । मांदगी ।
परिश्रित—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कपड़े की दीवार या चिऊ आदि का घेरा । कनात । (२) यज्ञ में काम आनेवाला पत्थर का एक विशिष्ट टुकड़ा ।
परिश्रुत—वि० [सं०] जिसके विषय में यथेष्ट सुना या जाना जा चुका हो । विश्रुत । विख्यात । प्रसिद्ध । मशहूर ।
परिश्लेष—संज्ञा पुं० [सं०] आलिंगन । गले मिलना ।
परिषत्—संज्ञा स्त्री० दे० “परिषद्” ।
परिषत्त्व—संज्ञा पुं० [सं०] परिषद् का भाव या धर्म ।
परिषद्—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्राचीनकाल की विद्वान् ब्राह्मणों की वह सभा जिसे राजा समय समय पर राजनीति, धर्म-शास्त्र आदि के किसी विषय पर व्यवस्था देने के लिये आवाहित किया करता था और जिसका निर्णय सर्वमान्य होता था । (२) सभा । मजलिस । (३) समूह । सभाज । भीड़ ।
परिषद्—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सवारी या जुलूस में चलनेवाले वे अनुचर जो स्वामी को घेर कर चलते हैं । पारिषद । (२) सदस्य । सभासद । (३) मुसाहब । दरबारी ।
परिषद्—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सदस्य । सभासद । (२) दर्शक । प्रेक्षक ।
परिषद्—संज्ञा पुं० [सं०] सभासद । सदस्य । परिषद् ।
परिषिक्त—वि० [सं०] (१) जो सींचा गया हो । सिंचित । (२) जिस पर छिड़काव किया गया हो ।
परिषीवण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) गोंठ देना । (२) सीना ।
परिषेक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिंचाई । तर करना । (२) छिड़काव । (३) लान ।
परिषेचक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सींचनेवाला । (२) छिड़कनेवाला ।
परिषेचन—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिषिक्त] (१) सींचना । (२) छिड़कना ।
परिषेकंद—संज्ञा पुं० [सं०] वह संतति जिसको उसके माता पिता के अतिरिक्त किसी और ने पाला पोसा हो । परपोषित संतति ।
परिष्कार—संज्ञा पुं० [सं०] (१) संस्कार । शुद्धि । सफाई । (२) स्वच्छता । निर्मलता । (३) अलंकार । आभूषण । गहना । जेवर । (४) शोभा । (५) सजावट । बनाव । सिंगार । (६) संयम (बौद्ध दर्शन) ।
परिष्कारण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो पाला पोसा गया हो । (२) दत्तक पुत्र ।

परिष्किया—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शुद्ध करना । शोधन । (२) सांजना धोना । (३) सँवारना । सजाना ।
परिष्कृत—वि० [सं०] (१) साफ किया हुआ । शुद्ध किया हुआ । (२) सांजा या धोया हुआ । (३) सँवारा वा सजाया हुआ ।
परिष्ठवन—संज्ञा पुं० [सं०] भली भांति प्रशंसा करना । खूब तारीफ करना । सम्यक् प्रकार से स्तुति करना ।
परिष्ठोम—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का स्तुतियुक्त साम गान ।
परिष्ठोम—संज्ञा पुं० [सं०] वह कपड़ा जिसे हाथी आदि की पीठ पर शोभा के लिये डाल देने हैं । कूळ । परितोम ।
परिष्यंद—संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रवाह । धारा । (२) नदी । दरिया । (३) द्वीप । टापू ।
परिष्यंदी—वि० [सं० परिष्यन्दि] बहता हुआ । जिसका प्रवाह हो ।
परिष्वंग—संज्ञा पुं० [सं०] आलिंगन ।
परिष्वजन—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिष्वक्त, परिष्वज्य आदि] आलिंगन । गले मिलना या गले से लगाना । छाती से लगाना या लगाना ।
परिष्वक्त—वि० [सं०] जिसका आलिंगन किया गया हो । आलिंगित ।
परिसंख्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गणना । गिनती । (२) एक अर्थालंकार जिसमें पृथ्वी या बिना पृथ्वी हुई बात उसी के सदृश दूसरी बात को व्यंग्य या वाच्य से वर्जित करने के अभिप्राय से कही जाय । यह कड़ी हुई बात और प्रमाणाँ से सिद्ध विख्यात होती है । परिसंख्या अलंकार दो प्रकार का होता है—प्रश्नपूर्वक और बिना प्रश्न का । उ०—
 (क) सेव्य कहा ? तट सुर सरित, कहा ध्वेय ? हरिपाद । करन उचित कह धर्म नित चित तजि सकल विषाद (प्रश्नपूर्वक) उसमें ‘सेव्य क्या है ?’ आदि प्रश्नों के जो उत्तर दिए गए हैं उनमें व्यंग्य से ‘स्त्री आदि सेव्य नहीं’ यह बात भी सूचित होती है । (ख) इतनोई स्वारथ बड़ो लहि नरतनु जग माहिं । भक्ति अनन्य गोविंद पद लखहि चराचर ताहिं ॥
परिसंचर—संज्ञा पुं० [सं०] सृष्टि के प्रलय का काल ।
परिसंतान—संज्ञा पुं० [सं०] तार । तंत्री ।
परिसभ्य—संज्ञा पुं० [सं०] सभासद । सदस्य ।
परिसमंत—संज्ञा पुं० [सं०] किसी वृत्त के चारों ओर की सीमा ।
परिसमाप्त—वि० [सं०] बिलकुल समाप्त । विशिष्ट ।
परिसमूहन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) तृण आदि को आग में झोंकना । (२) यज्ञ की अग्नि में समिधा डालना ।
परिसर—वि० [सं०] मिला हुआ । जुड़ा या लगा हुआ ।
 संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी स्थान के आस पास

की भूमि। किसी घर के निकट का खुला मैदान। प्रांत-भूमि। नदी या पहाड़ के आस पास की भूमि।
(२) मृत्यु। (३) विधि। (४) शिरा या नाडी।

परिसरण—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिसारी, परिसृत] (१) चलना। टहलना। पर्यटन। (२) पराभव। हार। (३) मृत्यु। मौत।

परिसर्प—संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी के चारों ओर घूमना। परिक्रिया। परिक्रमण। (२) टहलना। चलना। घूमना। फिरना। (३) किसी की खोज में जाना। किसी के पीछे उसे ढूँढते हुए जाना। (४) साहित्यदर्पण के अनुसार नाटक में किसी का किसी की खोज में भटकना जब कि खोजी जानेवाली वस्तु के जाने की दिशा या अवस्थिति का स्थान अज्ञात हो, केवल मार्ग के चिह्नों आदि के सहारे उसका अनुमान किया जाय, जैसे शकुंतला नाटक के तीसरे अंक में दुष्यंत का शकुंतला की खोज करना और निम्नलिखित दोहों में वर्णित चिह्नों से उसके जाने के रास्ते और ठहरने के स्थान का निश्चय करना। उ०—(क) जिन डारन तें मम प्रिया लुने फूल अस पात। सूख्यो दूध न छत भरयो तिनकौ अजौं लखात। (ख) लिये कमल रज-गंधि अस कर मालिनी तरंग। आय पवन लागत भली मदन देत मम अंग। (ग) दीखत पंड़ू रेत में नये खोज या द्वार। आगे उठि, पाछे थसकि रहे नितंबन भार।—शकुंतला नाटक। (५) एक प्रकार का साँप। (६) सुश्रुत के अनुसार ११ जुद्ध कुष्ठों में से एक। इसमें छोटी छोटी फुंसियाँ निकलती हैं जो फूट कर फैलती जाती हैं। फुंसियों से पंखा या पीव भी निकलता है।

परिसर्पण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) चलना। टहलना। घूमना। (२) रेंगना।

परिसाम—संज्ञा पुं० [सं० परिसामन्] एक विशेष साम।

परिसारक—संज्ञा पुं० [सं०] चलनेवाला। घूमनेवाला। भटकने-वाला।

परिसारी—संज्ञा पुं० [सं० परिसारिन्] परिसारक।

परिसिद्धिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार की चावल की लपसी।

परिसीमा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चारों ओर की सीमा। चौहद्दी। चतुःसीमा। (२) सीमा। हद्द। काष्ठा। अवधि।

परिस्कंद—वि० [सं०] दूसरे के द्वारा पालित (व्यक्ति)। जिसका पालन पोषण उसके माता पिता के अतिरिक्त किसी और ने किया हो। पर-पुष्ट।

परिस्तरण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) छितराना। फैकना या डालना (जैसे, आग पर फूस का)।

(२) फैलाना। तानना। (३) लपेटना। आवरण करना।

परिस्तान—संज्ञा पुं० [फा०] (१) वह कदिरत लोक या स्थान जहाँ परियाँ रहती हों। परियों का लोक। (२) वह स्थान जहाँ सुंदर मनुष्यों विशेषतः स्त्रियों का जमघटा हो। सौंदर्य का अखाड़ा।

विशेष—यह शब्द 'परी' और 'स्तान' शब्दों का समास है। ये दोनों ही शब्द फारसी के हैं। तथापि 'परिस्तान' शब्द फारसी किताबों में नहीं मिलता। अतएव यह समास उर्दूवालों का ही रचा जान पड़ता है। अर्थात् यह शब्द फारस में नहीं किंतु भारत में बना है।

परिस्तोम—संज्ञा पुं० [सं०] हाथी आदि की पीठ पर डाला जाने-वाला चित्रित बख़। कूल।

परिस्पंद—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कंपने का भाव। कंप। कंपकंपी। बहुत जल्दी जल्दी हिलना। (२) दवाना। मर्दन।

परिस्पंदन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहुत अधिक हिलना। खूब कंपना। सम्यक् कंपन। (२) कंपना। कंपन।

परिस्पर्द्धा—संज्ञा स्त्री० [सं०] धन, बल, यश आदि में किसी के बराबर होने की इच्छा। प्रतिस्पर्धा। प्रतियोगिता। मुकाबिला। लागडाट।

परिस्पर्द्धी—संज्ञा पुं० [सं० परिस्पर्द्धिन्] परिस्पर्द्धा करनेवाला। प्रतियोगिता करनेवाला। मुकाबिला या लागडाट करनेवाला।

परिस्फुट—वि० [सं०] (१) भली भाँति व्यक्त। सम्यक् प्रकार से प्रकाशित। बिल्कुल प्रकट या खुला हुआ। (२) व्यक्त। प्रकाशित। प्रकट। (३) खूब खिला हुआ। सम्यक् रूप से विकसित। (४) विकसित। खिला हुआ।

परिस्मापन—संज्ञा पुं० [सं०] आश्चर्य, विस्मय या कुतूहल उत्पन्न करना।

परिस्थंद—संज्ञा पुं० [सं०] झरना। तरण। जैसे, हाथी के मस्तक से मद का परिस्थंद।

परिस्प—संज्ञा पुं० [सं०] (१) टपकना। चूना या रसना। (२) धीरे धीरे बहना। मंद प्रवाह। झिरझिरा कर बहना या झिरझिरा बहाव। मंथर प्रवाह।

परिस्वाव—संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक रोग जिसमें गुदा से पित्त और कफ मिला हुआ पतला मल निकलता रहता है। कड़े कोठेवाले को मृदु विरेचन देने से जब उभारा हुआ सारा दोष शरीर के बाहर नहीं हो सकता तब वही दोष उपर्युक्त रीति से निकलने लगता है। दस्त में कुछ कुछ सरोड़ भी होता है। इससे अरुचि और सब अंगों में थकावट होती है। कहते हैं कि यह रोग वैद्य अथवा रोगी की अज्ञता के कारण होता है।

परिसावण—संज्ञा पुं० [सं०] वह वरतन जिसमें से साफ काने के लिये पानी टपकाया जाय। वह वरतन जिससे पानी टपकाकर साफ किया जाय।

परिसावी—वि० [सं० परिसाविन्] (१) चूने, रसने या टपकने-वाला। चरणशील। (२) बहनेवाला। सावशील।
संज्ञा पुं० एक प्रकार का भगंदर जिसमें फोड़े से हर समय गाढ़ा मवाद बहता रहता है। कहते हैं कि यह कफ के प्रकोप से होता है। फोड़ा कुछ कुछ सफेद और बहुत कड़ा होता है। पीड़ा बहुत नहीं होती। दे० भगंदर।

परिसुत—वि० [सं०] जिससे कुछ टपक या चू रहा हो। सावयुक्त।
संज्ञा स्त्री० मदिश। मद्य। शराब। (वैदिक)

परिसुत—वि० [सं०] (१) जो चू या टपक रहा हो। सावयुक्त। (२) टपकाया हुआ। निचोड़ा हुआ। जिसमें से जल का अंश अलग कर लिया गया हो।

संज्ञा पुं० फूलों का सार। पुष्पसार। इत्र। (वैदिक)
परिसुत दधि—संज्ञा पुं० [सं०] ऐसा दही जिसका पानी निचोड़ लिया गया हो। निचोड़ा हुआ दही। वैद्यक में ऐसे दही को वातपित्तनाशक, कफकारी और पोषक लिखा है।

परिसुता—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मद्य। शराब। (२) अंगूरी शराब। द्राक्षा मद्य।

परिहत—संज्ञा स्त्री० [सं० मि० पराहत = जुता हुआ (वैदिक)]
(१) हल के अंतिम और मुख्य भाग की वह सीधी खड़ी लकड़ी जिसमें ऊपर की ओर सुठिया होती है और नीचे की ओर हरिस तथा तरेली या चौभी ठुँकी रहती है। नगरा। (२) वह नगरा जिसमें तरेली की लकड़ी अलग से नहीं लगानी पड़ती किंतु जिसका निचला भाग स्वयं ही इस प्रकार टेढ़ा होता है कि उसीको नोकदार बनाकर उसमें फाल डेंक दिया जाता है।

वि० [सं०] मृत। मुरदा। नष्ट। मरा हुआ।
परिहरण—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिहरणीय, परिहर्तव्य, परिहत]
(१) किसी के बिना पूछे अपने अधिकार में कर लेना। जबरदस्ती ले लेना। छीन लेना। (२) त्याग। परित्याग। छोड़ना। तजना। (३) दोष अनिष्टादि का उपचार या उपाय करना। किसी प्रकार के ऐव, खराबी या बुराई को दूर करना, छुड़ाना या हटाना। निवारण। निराकरण।

परिहरणीय—वि० [सं०] (१) हरणयोग्य। छीन लेने योग्य। हरणीय। (२) त्यागयोग्य। त्याज्य। छोड़ या तज देने योग्य। (३) उपचारयोग्य। निवार्य। हटाने योग्य या दूर करने योग्य।

परिहरना—क्रि० सं० [सं० परिहरण] त्यागना। छोड़ना। तज देना। उ०—(क) बिहुरत दीन दुयाल, प्रिय तनु तुन

इव परिहरेड।—तुलसी। (ख) परिहरि सोच रहो तुम सोई। विनु औषधिहि व्याधि विधि खोई।—तुलसी।

परिहस—संज्ञा पुं० [सं० परिहास] परिहास। हँसी दिखनी। मसखरी।

संज्ञा पुं० रंज। खेद। दुःख। उ०—कंठ वचन न बोलि आवै, हृदय परिहस भीन। नैन जल भरि रोई दीन्हों, असित आपद दीन।—सूर।

परिहार—संज्ञा पुं० [सं०] (१) दोष, अनिष्ट, खराबी आदि का निवारण या निराकरण। दोषादि के दूर करने या छुड़ाने का कार्य। (२) दोषादि के दूर करने की युक्ति या उपाय। इलाज। उपचार। (३) त्याग। परित्याग। तजने या त्यागने का कार्य। (४) गाँव के चारों ओर परती छोड़ी हुई वह भूमि जिसमें प्रत्येक ग्रामवासी को अपना पशु चराने का अधिकार होता था और जिसमें खेती करने की मनाई होती थी। पशुओं के चरने के लिये परती छोड़ी हुई सार्वजनिक भूमि। चरहा। (५) लड़ाई में जीता हुआ धनादि। शत्रु से छीन कर ली हुई वस्तुएँ। विजित द्रव्य। (६) कर या लगान की माफी। छूट। (७) खंडन। तरदीद। (८) नाटक में किसी अनुचित या अविधेय कर्म का प्रायश्चित्त करना। (साहित्यदर्पण)। (९) अवज्ञा। तिरस्कार। (१०) उपेक्षा। (११) मनु के अनुसार एक स्थान का नाम।

संज्ञा पुं० [सं०] राजपूतों का एक वंश जो अग्निकुल के अंतर्गत माना जाता है। इस वंश के राजपूतों द्वारा कोई बड़ा राज्य हस्तगत या स्थापित किए जाने का प्रमाण अब तक नहीं मिला है, तथापि छोटे छोटे अनेक राज्यों पर इनका आधिपत्य रह चुका है। सन् २४६ ई० में कालिंजर का राज्य इसी वंशवालों के हाथ में था जिसको कलचुरि वंश के किसी राजा ने जीत कर छीन लिया। सन् ११२६ से १२११ तक इस वंश के ७ राजाओं ने ग्वालियर पर राज्य किया था। कर्नल टाड ने अपने राजस्थान के इतिहास में जोधपुर के समीपवर्ती मंदारव (मंदोद्री) स्थान के विषय में वहाँ मिजे हुए चिह्नों आदि के आधार पर निश्चित किया है कि वह किसी समय इस वंश के राजाओं की राजधानी था। आज कल इस वंश के राजपूत अधिकतर बुंदेलखंड, अवध आदि प्रदेशों में बसे हैं और उनमें अनेक बड़े जमींदार हैं।

परिहारक—वि० [सं०] परिहार करनेवाला।

परिहारी—संज्ञा पुं० [सं० परिहारिन्] परिहरण करनेवाला। हरणकारी। निवारण, त्याग, दोषचालन, हरण या गोपन करनेवाला।

परिहार्य—वि० [सं०] (१) जिसका परिहार किया जा सके।

जिससे बचा सके। जिसका त्याग किया जा सके।
जो दूर किया जा सके। (२) परिहार योग्य। जिसका
निवारण, त्याग या उपचार करना उचित हो।

परिहास—संज्ञा पुं० [सं०] (१) हँसी। दिङ्गुली। मजाक।
ठट्टा। (२) क्रीड़ा। खेल।

परिहास्य—वि० [सं०] परिहास योग्य।

परिहित—वि० [सं०] (१) चारों ओर से छिपाया हुआ। ढका
हुआ। आवृत। आच्छादित। (२) पहना हुआ
(वस्त्र)। ऊपर डाला हुआ (कपड़ा)।

परिहीण—वि० [सं०] (१) अत्यंत हीन। सब प्रकार से
हीन। दीन-हीन। दुखी और दरिद्र। फटे हालवाला।
(२) त्यागा हुआ। फेंका, ढकेला या निकाला हुआ।
परित्यक्त।

परिहृत—वि० [सं०] (१) पतित। अष्ट। गिरा हुआ। अवनत।
पामाज। (२) नष्ट। ध्वस्त। तबाह। बरबाद।

परिहृति—संज्ञा स्त्री० [सं०] नाश। क्षय। ध्वंस। मिटना।
जवाल।

परी—संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) फारसी की प्राचीन कथाओं के
अनुसार कोहकाफ पहाड़ पर बसनेवाली कल्पित स्त्रियाँ
जो आग्नेय नाम की कल्पित सृष्टि के अंतर्गत मानी गई हैं।
इनका सारा शरीर तो मानव स्त्री का सा ही माना गया
है पर विलक्षणता यह बताई गई है कि इनके दोनों
कंधों पर पर-होते हैं जिनके सहारे ये गगनपथ में विच-
रती फिरती हैं। इनकी सुंदरता फारसी उर्दू साहित्य में
आदर्श मानी गई है, केवल बहिस्तवासिनी हूँ को ही
सौंदर्य की तुलना में इनसे ऊँचा स्थान दिया गया है।
फारसी उर्दू की कविता में ये सुंदर रमणियों का
उपमान बनाई गई हैं। उ०—हेरि हिंडोरे गगन तें, परी
परी सी दूटि। धरी धाय पिय बीचही, करी खरी रस
लूटि। — बिहारी।

यौ०—परीजाद। परीपैकर। परीबंद।

(२) परी सी सुंदर स्त्री। परम सुंदरी। अत्यंत रूप-
वती। निहायत खूबसूरत औरत। जैसे, उसकी सुंदरता
का क्या कहना, खासी परी है।

संज्ञा स्त्री० दे० “पत्नी”।

परीक्षक—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० परीक्षिका] परीक्षा करने या लेने
वाला। आजमाइश, जाँच या समीक्षा करनेवाला।
इस्तहान करने या लेनेवाला। परखने या जाँचनेवाला।

परीक्षण—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परीक्षित, परीक्ष्य] परीक्षा की क्रिया
या कार्य। देख भाँल, जाँच पड़ताल, आजमाइश या
इस्तहान लेने की क्रिया या कार्य। निरीक्षण, समीक्षण
अथवा आलोचन।

परीक्षा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी के गुण दोष आदि
जानने के लिये उसे अच्छी तरह से देखने भाँलने का
कार्य। निरीक्षा। समीक्षा। समालोचना। (२) वह
कार्य जिससे किसी की योग्यता, सामर्थ्य आदि जाने
जायँ। इस्तहान।

क्रि० प्र०—करना।—देना।—लेना।

(३) वह कार्य जो किसी वस्तु के संबंध में कोई विशेष
बात निश्चित करने के लिये किया जाय। आजमाइश।
अनुभवार्थ प्रयोग। (४) मुआयना। निरीक्षण। जाँच
पड़ताल। (५) किसी वस्तु के जो लक्षण माने या जो
गुण कहे गए हों उनके ठीक होने न होने का प्रमाण द्वारा
निश्चय करने का कार्य। (६) वह विज्ञान जिससे प्राचीन
न्यायालय किसी विशेष अभियुक्त के अपराधी या निरप-
राध अथवा विशेष साक्षी के सच्चे या झूठे होने का निश्चय
करते थे।

विशेष—अभियुक्त की परीक्षा को दिव्य और साक्षी की
परीक्षा को लौकिक परीक्षा कहते थे। दिव्य परीक्षाएँ कुल
नौ प्रकार की होती थीं। दे० “दिव्य”। इनमें से अभि-
युक्त को उसकी अवस्था ऋतु आदि के अनुसार कोई
एक देनी होती थी। लौकिक परीक्षा में गवाह से कई
प्रकार के प्रश्न किए जाते थे।

परीक्षित—वि० [सं०] (१) जिसकी जाँच की गई हो।
जिसका इस्तहान लिया गया हो। कसा तराया हुआ।
(२) जिसकी आजमाइश की गई हो। प्रयोग द्वारा जिस
की जाँच की गई हो। समीक्षित। समालोचित। जिसके
गुण आदि का अनुभव किया गया हो। जैसे, परीक्षित
श्रौषध।

संज्ञा पुं० (१) अर्जुन के पोते और अभिमन्यु के पुत्र
पांडुकुल के एक प्रसिद्ध राजा। इनकी कथा अनेक
पुराणों में है। महाभारत में इनके विषय में लिखा है कि
जिस समय ये अभिमन्यु की स्त्री उत्तरा के गर्भ में थे,
द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा ने गर्भ में ही इनकी हत्या
कर पांडुकुल का नाश करने के अभिप्राय से ऐषीक नाम
के महासू को उत्तरा के गर्भ में प्रेरित किया जिसका फल
यह हुआ कि उत्तरा के गर्भ से परीक्षित का झुलसा हुआ
मृत पिंड बाहर निकला। भगवान् कृष्णचंद्र को पांडु
कुल का नामशेष हो जाना मंजूर न था इसलिये उन्होंने
अपने योगबल से मृत भ्रूण को जीवित कर दिया।
परीक्षीण या वितष्ट होने से बचाए जाने के कारण इस
बालक का नाम परीक्षित रखा गया। परीक्षित ने महा-
भारत युद्ध में कुरुदल के प्रसिद्ध महारथी कृपाचार्य से
अस्त्र विद्या सीखी थी। युधिष्ठिरादि पांडव संसार से भली

भाति उदासीन हो चुके थे और तपस्या के अभिलाषी थे। अतः वे शीघ्र ही इन्हें हस्तिनापुर के सिंहासन पर बिठा द्रौपदी समेत तपस्या करने चले गए। राज्यप्राप्ति के अनंतर कहते हैं कि गंगातट पर इन्होंने तीन अश्वमेध यज्ञ किए जिनमें अंतिम बार देवताओं ने प्रत्यक्ष आकर वलि ग्रहण किया था।

इनके विषय में सब से मुख्य बात यह है कि इन्हीं के राज्यकाल में द्वापर का अंत और कलियुग का आरंभ होना माना जाता है। इस संबंध में भागवत में यह कथा है—एक दिन राजा परीक्षित ने सुना कि कलियुग उनके राज्य में घुस आया है और अधिकार जमाने का मौका ढूँढ रहा है। ये उसे अपने राज्य से निकाल बाहर करने के लिये ढूँढने निकले। एक दिन इन्होंने देखा कि एक गाय और एक बैल अनाथ और कातर भाव से खड़े हैं और एक शूद्र जिसका वेप, भूषण और ठाट बाट राजा के समान था, उंडे से उनको मार रहा है। बैल के केवल एक पैर था, पूछने पर परीक्षित को बैल, गाय और राजवेषधारी शूद्र तीनों ने अपना अपना परिचय दिया। गाय पृथ्वी थी, बैल धर्म था और शूद्र कलिराज। धर्मरूपी बैल के सत्य, तप और दयारूपी तीन पैर कलियुग ने मार कर तोड़ डाले थे, केवल एक पैर दान के सहारे वह भाग रहा था, उसको भी तोड़ डालने के लिये कलियुग बराबर उसका पीछा कर रहा था। यह वृत्तान्त जान कर परीक्षित को कलियुग पर बड़ा क्रोध हुआ और वे उसको मार डालने को उद्यत हुए। पीछे उसके गिड़गिड़ाते पर उन्हें उसपर दया आ गई और उन्होंने उसके रहने के लिये ये स्थान बता दिए—जुआ, स्त्री, मद्य, हिंसा और सोना। इन पांच स्थानों को छोड़ कर अन्यत्र न रहने की कलि ने प्रतिज्ञा की। राजा ने पांच स्थानों के साथ साथ ये पांच वस्तुएँ भी उसे दे डालीं—मिथ्या, मद, काम, हिंसा और वैर।

इस घटना के कुछ समय बाद महाराज परीक्षित एक दिन आखेट करने निकले। कलियुग बराबर इस ताक में था कि किसी प्रकार परीक्षित का खटक मिटाकर अकंटक राज करें। राजा के मुकुट में सोना था ही, कलियुग उसमें घुस गया। राजा ने एक हिरन के पीछे घोड़ा डाला। बहुत दूर तक पीछा करने पर भी वह न मिला। थकावट के कारण उन्हें प्यास लग गई थी। एक वृद्ध मुनि मार्ग में मिले। राजा ने उनसे पूछा कि बताओ हिरन किधर गया है। मुनि मौनी थे, इसलिये राजा की जिज्ञासा का कुछ उत्तर न दे सके। थके और प्यासे परीक्षित को मुनि के इस व्यवहार से बड़ा क्रोध हुआ। कलियुग सिर पर

सवार था ही, परीक्षित ने निश्चय कर लिया कि मुनि ने घमंड के मारे हमारी बात का जवाब नहीं दिया है और इस अपराध का उन्हें कुछ दंड होना चाहिए। पास ही एक मरा हुआ सांप पड़ा था। राजा ने कमान की नोक से उसे उठा कर मुनि के गले में डाल दिया और अपनी राह ली। मुनि के शृंगी नाम का एक महातेजस्वी पुत्र था। वह किसी काम से बाहर गया था। लौटते समय रास्ते में उसने सुना कि कोई आदमी उसके पिता के गले में मृत सर्प की साजा पहना गया है। क्रोधी शृंगी ने पिता के इस अपमान की बात सुनते ही हाथ में जल लेकर शाप दिया कि जिस पापात्मा ने मेरे पिता के गले में मृत सर्प पहनाया है आज से सात दिन के भीतर तत्तक नाम का सर्प उसे डस ले। आश्रम में पहुँच कर शृंगी ने पिता से अपमान करनेवाले को उपर्युक्त उग्र शाप देने की बात कही। ऋषि को पुत्र के अविचेक पर दुःख हुआ और उन्होंने एक शिष्य द्वारा परीक्षित को शाप का समाचार कहला भेजा जिस में वे सतर्क रहे।

परीक्षित ने ऋषि के शाप को अटल समझ कर अपने लड़के जनमेजय को राज पर बिठा दिया और सब प्रकार मरने के लिये तैयार होकर अनशन व्रत करते हुए श्रीशुक-देवजी से श्रीमद्भागवत की कथा सुनी। सातवें दिन तत्तक ने आकर उन्हें डस लिया और विष की भयंकर ज्वाला से उनका शरीर भस्म हो गया। कहते हैं कि तत्तक जब परीक्षित को उसने चला तब मार्ग में उसे कश्यप ऋषि मिले। पूछने पर मालूम हुआ कि वे उसके विष से परीक्षित की रक्षा करने जा रहे हैं। तत्तक ने एक वृक्ष पर दाँत मारा, वह तत्काल जलकर भस्म हो गया। कश्यप ने अपनी विद्या से उसे फिर हरा कर दिया। इस पर तत्तक ने बहुत सा धन देकर उन्हें लौटा दिया।

देवी भागवत में लिखा है कि शाप का समाचार पाकर परीक्षित ने तत्तक से अपनी रक्षा करने के लिये एक सात मंजिल जँचा मकान बनवाया और उसके चारों ओर अच्छे अच्छे सर्पमंत्रज्ञाता और मुहरा रखनेवालों को तैनात कर दिया। तत्तक को जब यह मालूम हुआ तब वह घबराया व अंत को परीक्षित तक पहुँचने का उसे एक उपाय सूझ पड़ा। उसने एक अपने सजातीय सर्प को तपस्वी का रूप देकर उसके हाथ में कुछ फल दे दिए और एक फल में एक अति छोटे कीड़े का रूप धार कर आप जा बैठा। तपस्वी बना हुआ सर्प तत्तक के आदेश के अनुसार परीक्षित के उपर्युक्त सुरक्षित प्रासाद तक पहुँचा। पहरेदारों ने इसे अंदर जाने से रोका पर राजा को खबर होने पर उन्होंने उसे अपने पास बुलवा लिया और फल लेकर उसे विदा

कर दिया। एक तपस्वी मेरे लिये यह फल दे गया है, अतः इसके खाने से अवश्य उपकार होगा, यह सोचकर उन्होंने और फल तो मंत्रियों में बाँट दिए पर उसको अपने खाने के लिये काटा। उस में से एक छोटा कीड़ा निकला जिसका रंग तामड़ा और आँखें काजी थीं। परीक्षित ने मंत्रियों से कहा—सूर्य अस्त हो रहा है, अब तत्क्षक से सुम्ने कोई भय नहीं। परंतु ब्राह्मण के शाप की मानरक्षा करनी चाहिए, इसलिये इस कीड़े से उसने कीचि पूरी करा लेता हूँ। यह कह कर उन्होंने उस कीड़े को गले से लगा लिया। परीक्षित के गले से स्पर्श होते ही यह नन्हा सा कीड़ा भयंकर सर्प हो गया और उसके दंशन के साथ परीक्षित का शरीर भस्मसात् हो गया।

परीक्षित की मृत्यु के बाद, कहते हैं कि फिर कलियुग को रोक टोक करनेवाला कोई न रहा और वह उसी दिन से अकंटक भाव से शासन करने लगा। पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिये जनमेजय ने सर्पसत्र किया जिसमें सारे संसार के सर्प मंत्रबल से खिंच आए और यज्ञ की अग्नि में उनकी आहुति हुई।

(२) कंस का एक पुत्र। (३) अयोध्या का एक राजा। (४) अनश्व का एक पुत्र।

परीक्षितव्य—वि० [सं०] (१) परीक्षा करने योग्य। जिसका इम्तहान या आजमाइश या जाँच की जा सके। (२) जिसकी परीक्षा करना उचित या कर्त्तव्य हो।

परीक्ष्य—वि० [सं०] (१) जिसकी परीक्षा की जा सके। परीक्षा करने योग्य। (२) जिसकी परीक्षा करना उचित या कर्त्तव्य हो।

परीखना—कि० सं० [सं० परीक्षण] परखना। जाँचना। परीक्षा लेना।

परीक्षुत—संज्ञा पुं० दे० “परीक्षित”।

परीक्षुम—संज्ञा पुं० [हिं० परी + क्रम क्रम (अनु०)] चाँदी का एक गहना जिसे स्त्रियाँ पैर में पहनती हैं।

परीक्षा—संज्ञा स्त्री० दे० “परीक्षा”।

परीक्षाद—वि० [फा०] अत्यंत सुंदर। अत्यंत रूपवान्।

परीज्य—संज्ञा स्त्री० [सं०] यज्ञांग। परियज्ञ।

परीणाय—संज्ञा पुं० [सं०] गाँव के चारों ओर की वह भूमि जो गाँव के सब लोगों की संपत्ति समझी जाती थी। (याज्ञवल्क्य स्मृति)

परीताप—संज्ञा पुं० दे० “परिताप”।

परीति—संज्ञा स्त्री० [सं०] फूलों से बनाया हुआ सुरमा। पुष्पांजन।

परीतोष—संज्ञा पुं० [सं०] परितोष।

परीत्त—वि० [सं०] (१) सीमाबद्ध। मर्यादित। महदूद। (२) संकीर्ण। संकुचित। तंग।

परीदाह—संज्ञा पुं० [सं०] परिदाह।

परीबंद—संज्ञा पुं० [फा०] (१) स्त्रियों का एक गहना जो कलाई पर पहना जाता है। (२) बच्चों के पाँव में पहनाने का एक आभूषण जिसमें घुंघरू होते हैं। (३) कुश्ती का एक पेश।

परीभाव—संज्ञा पुं० [सं०] परिभाव।

परीरंभ—संज्ञा पुं० [सं०] परिरंभ।

परीरु—वि० [फा० परी + रु = मुख] अति सुंदर। बहुत रूपवान्। खूबसूरत।

परीवर्त्त—संज्ञा पुं० [सं०] परिवर्त्त।

परीवाद—संज्ञा पुं० [सं०] परिवाद।

परीवार—संज्ञा पुं० [सं०] (१) खड्गकोष। म्यान। (२) परिवार। परिजन। (३) छत्र, चँवर आदि सामग्री।

परीवाह—संज्ञा पुं० दे० “परिवाह”।

परीशान—वि० [फा०] परेशान। हैरान।

परीशानी—संज्ञा स्त्री० [फा०] परेशानी।

परीषह—संज्ञा पुं० [सं०] जैन शास्त्रों के अनुसार त्याग या सहन। ये नीचे लिखे २२ प्रकार के हैं—(१) क्षुधापरीषह या क्षुत्परीषह। (२) पिशासापरीषह। (३) शीतपरीषह। (४) उष्णपरीषह। (५) दंशमशकपरीषह। (६) अचेल परीषह या चेलपरीषह। (७) अरतिपरीषह। (८) स्त्रीपरीषह। (९) चर्यापरीषह। (१०) निषद्यापरीषह या नैषधि का परीषह। (११) शय्यापरीषह। (१२) आक्रोशपरीषह। (१३) वधपरीषह। (१४) याचनापरीषह वा यंचापरीषह। (१५) अलामपरीषह। (१६) रोगपरीषह। (१७) नृणपरीषह। (१८) मलपरीषह। (१९) सत्कारपरीषह। (२०) प्रज्ञापरीषह। (२१) अज्ञानपरीषह। (२२) दर्शनपरीषह या संपत्कपरीषह।

परीहार—संज्ञा पुं० दे० “परिहार”।

परीहास—संज्ञा पुं० दे० “परिहास”।

परु—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पर्वत। पहाड़। (२) समुद्र। (३) स्वर्गलोक। (४) ग्रंथि। गाँठ।

परुआ—संज्ञा पुं० [देश०] बेहजती या अपमान का बदला। संज्ञा स्त्री० दे० “पड़िया”।

परुई—संज्ञा स्त्री० [देश०] भड़भूँजे की वह नाँद जिसमें डालकर वह अन्न भूनता है।

परुख—वि० दे० “परुष”।

परुखाई—संज्ञा स्त्री० [हिं० परुख + आई] परुषता। कठोरता। कर्कशता। कड़ापन। नीरसता।

परुष—वि० [सं०] [स्त्री० परुषा] (१) कठोर। कड़ा। कर्कश। संख्त। अत्यंत रुखा या रसहीन। (२) अग्रिय लगनेवाला। बुरा लगनेवाला। जिसका ग्रहण दुःखदायक

हो। (शब्द, वचन, उक्ति या इनके पर्यायों के साथ)।

(३) निष्ठुर। निर्दय। न पिघलनेवाला।

संज्ञा पुं० (१) नीली कटसरैया। (२) फालसा।

(३) खरदूषण का एक सेनापति। (४) तीर। बाण।

(५) सरकंडा। सरपत। (६) परुष वचन। कठोर वात। लगनेवाली या अप्रिय वात।

परुषता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कठोरता। कड़ाई। कर्कशता।

(२) (वचन या शब्द की) कर्कशता। श्रुतिकटुता।

(३) निर्दयता। निष्ठुरता।

परुषत्व-संज्ञा पुं० [सं०] परुषता।

परुषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) काव्य में वह वृत्ति, रीति या शब्दयोजना की प्रणाली जिसमें टवर्गीय द्वित्त, संयुक्त, रेफ और श, ष आदि वर्ण तथा लंबे लंबे समास अधिक आए हों। उ०—(क) वक्र वक्त्र करि, पुच्छ करि, रुष्ट ऋच्छ कपि गुच्छ। सुभट ठट घन घट सम मर्दहि रच्छन तुच्छ। (ख) सुंड कटत, कहुं रंड नटत, कहुं सुंड पटत घन। गिद्ध जसत, कहुं सिद्ध हंसत, सुख वृद्धि रसत मन। भूत फिरत करि बूत भिरत, सुर दूत विरत तहैं। चंडि नचत गन मंडि रचत धुनि डंडि मचत जहैं। इमि ठान घोर घासान अते 'भूषण' तेज कियो अटल। सिवराज साहि सुख खगबल दखि अडोल बहलोल दल।

विशेष-वीर, रौद्र और भयानक रसों की कविता इस वृत्ति में अच्छी बनती है, अर्थात् इस वृत्ति में इन रसों की कविता करने से रस का अच्छा परिपाक होता है।

(२) रावी नदी। (३) फालसा।

परूंगा-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का शाहबलूत जो हिमालय पर होता है।

परुष, परुषक-संज्ञा पुं० [सं०] फालसा।

परे-अव्य० [सं० पर] (१) दूर। उस ओर। उधर।

(२) अतीत। बाहर। अलग। जैसे, ब्रह्म जगत् से परे है।

क्रि० प्र०-करना।—रहना।—होना।

(३) ऊपर। ऊँचे। बढ़कर। उत्तर। (४) बाद। पीछे।

मुहा०—परे परे करना=दूर हटाना। हटाने के लिये कहना।
†परे बैठाना=मात करना। बाजी लेना। तुच्छ या छोटा साबित करना। उ०—उसने ऐसा भोजन पकाया कि रसोइए को भी परे बिठा दिया।

परेई-संज्ञा स्त्री० [हिं० परेवा] (१) पंडुकी। फाखता। डोकी।

उ०—पट पांखे भख काँकरे, सदा परेई संग। सुखी परेवा जगत में तूही एक विहंग। (२) मादा कबूतर। कबूतरी।

परेखना-क्रि० सं० [सं० परीक्षण या प्रेक्षण] (१)—सब ओर

या सब पहलुओं से देखना। परखना। जांचना। परीक्षा करना। (२) प्रतीक्षा करना। आसरा देखना। उ०—तब लगि मोहि परेखहु भाई।—तुलसी।

परेखा-संज्ञा पुं० [सं० परीक्षा] (१) परीक्षा। जांच। (२)

विश्वास। प्रतीति। उ०—(क) समुझि सो प्रीति कि रीति श्याम की सोइ बावर जो परेखो उर आनै।—तुलसी।

(ख) दूत हाथ उन लिखि जो पठयो ज्ञान कहयो गीता को। तिन को कहा परेखो कीजै कुबिजा के मीता को।

—सूर। (३) पछुतावा। अफसोस। खेद। विषाद।

उ०—(क) दग रिक्तवार न हिय रहै, यहै परेखो एक। वारन को मन एक इत, उत है अदा अनेक।—रसनिधि।

(ख) इतनो परेखो समरथ सब भांति आजु कपिराज सांची कहौ को तिलोक तोसो है।—तुलसी। (ग) अरे परेखो को करै तुही विलोकि विचार। केहि नर केहि सर

राखियो खरे बड़े पर पार।—बिहारी।

परेग-संज्ञा स्त्री० [अ० पेग] लोहे की कील। छोटा कांटा।

परेड-संज्ञा पुं० दे० 'परेड'।

परेड-संज्ञा पुं० [अ०] (१) वह मैदान जहाँ सैनिकों को युद्ध शिक्षा दी जाती है। (२) सैनिक शिक्षा। कवायद। युद्ध शिक्षा का अभ्यास।

परेत-संज्ञा पुं० [सं० प्रेत] (१) एक भूत योनि का नाम। (२) प्रेत। (३) मुरदा। मृतक।

परेता-संज्ञा पुं० [सं० परितः = चारों ओर] (१) जुलाहों का एक औजार जिस पर वे सूत लपेटते हैं। (२) पतंग की डोर लपेटने का बेलन जो बाँस की गोल और पतली चिपटी तीलियों से बनता है। बीचों बीच एक लंबी और कुछ मोटी बाँस की छड़ होती है, जिसके दोनों किनारों पर गोल चक्र होते हैं। इन चक्रों के बीच पतली पतली तीलियों का ढाँचा होता है। इसी ढाँचे पर डोरी लपेटी जाती है। परेता दो प्रकार का होता है। एक का ढाँचा सादा और खुला होता है और दूसरे का ढाँचा पतली चिपटी तीलियों से ढँका रहता है। पहले को चरखी और दूसरे को परेता कहते हैं।

परेरा-संज्ञा पुं० [सं० पर = दूर, ऊँचा + पर] आकाश। आसमान। उ०—(क) सूर ज्यों सुमेर को, नक्षत्र ध्रुव फेर को, ज्यों पारद परेर को ज्यों सागर मयंक को।.....। (ख) कागा कर कंकन चूंथि रे उड़ि रे परेरो जाय। मैं दुख दाधी विरह की तू दाधा माँस न खाय।—कबीर।

परेली-संज्ञा पुं० [?] तांडव नृत्य का प्रथम भेद जिसमें अंग संचालन अधिक और अभिनय थोड़ा होता है। इसका एक नाम 'देसी' भी है।

परेवा-संज्ञा पुं० [सं० पारावत] [स्त्री० परेई] (१) पंडुक पत्नी।

पेंडुकी । फाखता । (२) कवूतर । उ०-हरिल भई पंथ
मैं सेवा । अब तोहिं पठवों कौन परेवा ।-जायसी । (३)
कोई तेज उड़नेवाला पक्षी । (४) तेज चलनेवाला
पत्रवाहक । चिट्ठीरसा । हरकारा ।
परेश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ईश्वर । उ०-परमानंद परेश
पुराना ।-तुलसी । (२) विष्णु । (३) ब्रह्मा ।
परेशान-वि० [फा०] [संज्ञा परेशानी] दुःख या संताप के कारण
व्यग्र । व्याकुल । उद्धिग्न ।
परेशानी-संज्ञा स्त्री० [फा०] व्याकुलता । उद्धिग्नता । व्यग्रता ।
बहुत अधिक घबराहट । हैरानी ।
परेहा-संज्ञा पुं० [देश०] वह जमीन जो हल चलाने के बाद
सींची गई हो ।
परैना-संज्ञा पुं० दे० "पैना" ।
परौं-क्रि० वि० दे० "परसों" । उ०-कात्हि परों फिर साजवी
स्थान सु आशु तो नैन सो नैन मिलाय ले ।-पद्माकर ।
परोक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अनुपस्थिति । अभाव ।
गैरहाजिरी । (२) वह जो तीनों काल की बातें जानता
हो । परम ज्ञानी ।
वि० [सं०] [१] जो देख न पड़े । जो प्रत्यक्ष न हो ।
जो सामने न हो । [२] गुप्त । छिपा हुआ ।
परोक्षत्व-संज्ञा पुं० [सं०] अदृश्य होने की क्रिया या भाव ।
परोक्ष में होने की क्रिया या भाव ।
परोजन-संज्ञा पुं० दे० "प्रयोजन" ।
परोता-संज्ञा पुं० [देश०] (१) एक प्रकार का टोकरा जो
गेहूँ के पयाल से पंजाब के हजारा जिले में बहुत बनता
है । (२) आटा, गुड़, हल्दी, पान आदि जो किसी शुभ
कार्य में हजाम, भाँट आदि को दिए जाते हैं ।
संज्ञा पुं० दे० "पड़पोता" ।
परोना-क्रि० स० दे० "पिरोना" ।
परोपकार-संज्ञा पुं० [सं०] वह काम जिससे दूसरों का भला
हो । वह उपकार जो दूसरों के साथ किया जाय । दूसरों
के हित का काम ।
परोपकारक-संज्ञा पुं० [सं०] दूसरे की भलाई करनेवाला ।
वह जो दूसरों का हित करे ।
परोपकारी-संज्ञा पुं० [सं० परोपकारिन्] [स्त्री० परोपकारिणी] दूसरों
की भलाई करनेवाला । औरों का हित करनेवाला ।
परोरना-क्रि० स० [?] अभिमंत्रित करना । मंत्र पढ़कर
फूँकना । जैसे, पानी परोर कर पिलाने से शीघ्र ही गर्भ-
सोचन होता है ।
परोल-संज्ञा पुं० [अ० परोल] वह संकेत का शब्द जिसे सेना
का अफसर अपने सिपाहियों को बतला देता है और जिस

के बोलने से चौकी वा पहरे पर के सिपाही बोलनेवाले
को अपने दल का समझ कर आने या जाने से नहीं रोकते ।
मुहा०-परोल मिलाना=भेदिया बनाना । अपनी तरफ
मिलाना ।

परोष्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) तेलचटा नाम का कीड़ा ।
(२) पुराणानुसार काश्मीर देश की एक नदी ।

परोस-संज्ञा पुं० दे० "पड़ोस" ।

परोसना-क्रि० स० [सं० परिवेषण] खाने के लिये किसी के
सामने तरह तरह के भोजन रखना । परसना । दे०
"परसना" ।

परोसा-संज्ञा पुं० [हिं० परोसना] एक मनुष्य के खाने भर का
भोजन जो थाली या पत्तल पर लगा कर कहीं भेजा जाता है ।

परोसी-संज्ञा पुं० दे० "पड़ोसी" ।

परोसैया-संज्ञा पुं० [हिं० परोसना + ऐया (प्रत्य०)] खाने के लिये
भोजन सामने रखनेवाला । वह जो भोजन परसता हो ।

परोहन-संज्ञा पुं० [सं० प्ररोहण] वह जिसपर सवार होकर
यात्रा की जाय । वह जिसपर कोई सवार हो, या कोई
चीज लादी जाय । जैसे घोड़ा, बैल, रथ, गाड़ी आदि ।

परोहा-संज्ञा पुं० [देश०] चमड़े का बड़ा थैला जिससे किसान
कुओं से पानी निकाल कर खेत सींचते हैं । पुर ।
मोट । चरस ।

परौं-संज्ञा पुं० दे० "परसों" ।

परौका-संज्ञा स्त्री० [देश०] वह भेड़ जो पूरी जवान होने पर भी
बच्चा न दे । बार्स भेड़ ।

परौता-संज्ञा स्त्री० [देश०] वह चादर वा कपड़ा जिससे अनाज
बरसाते समय हवा करते हैं । इसे "परती" भी कहते हैं ।
क्रि० प्र०-लेना ।

परौती-संज्ञा स्त्री० दे० "पड़ती" ।

पर्कट-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बगला ।

पर्कटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] पाकर वृक्ष ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पर्कट] पर्कट बगले की मादा ।

पर्कार, पर्काल-संज्ञा पुं० दे० "परकार" ।

पर्काला-संज्ञा पुं० दे० "परकाला" ।

पर्गना-संज्ञा पुं० दे० "परगना" ।

पर्चा-संज्ञा पुं० दे० "परचा" ।

पर्चाना-क्रि० स० दे० "परचाना" ।

पर्चन-संज्ञा पुं० दे० "परचून" ।

पर्चनिया-संज्ञा पुं० दे० "परचूनी" ।

पर्चनी-संज्ञा स्त्री० दे० "परचूनी" ।

पर्छा-संज्ञा पुं० दे० "परछा" ।

पर्ज-संज्ञा स्त्री० दे० "परज" ।

पर्जक-संज्ञा पुं० दे० "पर्यंक" ।

पर्जनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दाहहस्ती ।

पर्जन्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बादल । मेघ । (२) विष्णु ।

(३) इंद्र । (४) करय ऋषि की स्त्री के एक पुत्र का नाम जिसकी गिनती गंधर्वों में होती है ।

पर्जन्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] दाहहस्ती ।

पर्णी-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पत्ता ।

यौ०-पर्णकुटी । पर्णशाला ।

(२) पान । (३) पलास का पेड़ ।

पर्णक-संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि का नाम जो पार्श्विक गोत्र के प्रवर्त्तक थे ।

पर्णकपूर-संज्ञा पुं० [सं०] पानकपूर ।

पर्णकार-संज्ञा पुं० [सं०] पान बेचनेवाली एक जाति जो तंबोली या बरई कहलाती है ।

पर्णकुटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] केवल पत्तों की बनी हुई कुटी । पर्णशाला ।

पर्णकुर्व-संज्ञा पुं० [सं०] एक वृत्त जिसमें तीन दिन तक ढाक, गूलर, कमल और बेल के पत्तों का क्वाथ पीना होता है ।

पर्णकुच्छ-संज्ञा पुं० [सं०] एक व्रत जिसमें पहले दिन ढाक के पत्तों का, दूसरे दिन गूलर के पत्तों का, तीसरे दिन कमल के पत्तों का और चौथे दिन बेल के पत्तों का क्वाथ पीकर पांचवें दिन कुश का जल पिया जाता है ।

पर्णखंड-संज्ञा पुं० [सं०] वह वनस्पति जिसमें फूल न लगते हों ।

पर्णचोरक-संज्ञा पुं० [सं०] चोरक नाम का गंधद्रव्य । भटेसर ।

पर्णनर-संज्ञा पुं० [सं०] पलास के पत्तों का किसी मृत व्यक्ति का वह पुतला जो उसकी अस्थियाँ आदि न मिलने की दशा में दाहकर्म आदि के लिये बनवाया जाता है ।

पर्णभोजन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो केवल पत्ते खाकर रहता हो । (२) बकरी ।

पर्णमणि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पन्ना । (२) एक प्रकार का अश्म ।

पर्णमाचल-संज्ञा पुं० [सं०] कमरख का पेड़ ।

पर्णमृग-संज्ञा पुं० [सं०] पेड़ों पर रहनेवाले पशु, जैसे बंदर आदि ।

पर्णय-संज्ञा पुं० [सं०] एक असुर का नाम जिसे इंद्र ने मारा था ।

पर्णरुह-संज्ञा पुं० [सं०] वसंत ऋतु ।

पर्णलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] पान की बेल ।

पर्णवल्क-संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि का नाम ।

पर्णवल्ली-संज्ञा स्त्री० [सं०] पालाशी नाम की लता ।

पर्णशवर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार एक देश का

नाम । (२) इस देश की रहनेवाली आदिम अनार्य जाति जो कदाचित् अब नष्ट हो गई हो ।

पर्णशाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] पत्तों की बनी हुई कुटी । पर्णकुटी ।

पर्णशालाग्र-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार भद्राश्ववर्ष के एक पर्वत का नाम ।

पर्णसि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कमल । (२) पानी में बना हुआ घर । (३) साग ।

पर्णाटक-संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि का नाम ।

पर्णाद्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो किसी वृत्त के उद्देश्य से पत्ते खाकर रहता हो । (२) एक ऋषि का नाम ।

पर्णाशन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेघ । बादल । (२) वह जो केवल पत्ते खाकर रहता हो ।

पर्णास-संज्ञा पुं० [सं०] तुलसी ।

पर्णाहार-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो वृत्त के उद्देश्य से पत्ते खाकर रहता हो ।

पर्णिक-संज्ञा पुं० [सं०] पत्ते बेचनेवाला ।

पर्णिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मानकंद । शालपर्णी । सरिवन । (२) पिठवन नाम की लता । (३) अग्निमंथ । अरणी ।

पर्णिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मपवन ।

पर्णी-संज्ञा पुं० [सं० पर्णित्] (१) वृक्ष । पेड़ । (२) शाल पर्णी । सरिवन । (३) पिठवन । (४) तेजपत्ता ।

संज्ञा स्त्री० एक प्रकार की अम्सराष्ट्र ।

पर्णरि-संज्ञा पुं० [सं०] सुगंधवाला ।

पर्त-संज्ञा स्त्री० दे० “परत” ।

पर्दनी-संज्ञा स्त्री० [सं० परिधानी] धोती ।

पर्दा-संज्ञा पुं० दे० “परदा” ।

पर्दानशीन-वि० दे० “परदानशीन” ।

पर्द-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिर के बाल । (२) अधोवायु । पाद ।

पर्द-संज्ञा पुं० [सं०] अधोवायु छोड़ना । पादना ।

पर्पट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पित्तवापड़ा । (२) पापड़ ।

पर्पटद्रुम-संज्ञा पुं० [सं०] जड़कुंभी ।

पर्पटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सौराष्ट्र देश की मिट्टी । गोपीचंदन । (२) पानड़ी । (३) पपड़ी ।

पर्पटीक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य । (२) अग्नि । (३) जलाशय ।

पर्पटीरस-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का रस जो पारे और गंधक को मँगरेया के रस में खाल करके और ताँबे तथा लोहे की भस्म मिलाकर बनाते हैं ।

पर्व-संज्ञा पुं० दे० “पर्व” ।

पर्वत-संज्ञा पुं० दे० “पर्वत” ।

पर्वती-वि० [सं० पर्वतीय] पहाड़ी । पहाड़ संबंधी ।

पर्यंक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पलंग । (२) शोग का एक आसन । (३) एक प्रकार का वीरासन । (४) नर्मदा नदी के उत्तर ओर के एक पर्वत का नाम जो विंध्य पर्वत का पुत्र माना जाता है ।

पर्यंकपादिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] सुअरा सेम । काले रंग की सेम

पर्यंत-अव्य० [सं०] तक । लौ ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंतिम सीमा । (२) समीप । पास । (३) पार्व । दगल ।

पर्यग्न-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ के लिये छोड़े हुए पशु को, अग्नि लेकर परिक्रमा करना । (२) वह अग्नि जो हाथ में लेकर यज्ञ की परिक्रमा की जाती है ।

पर्यटन-संज्ञा पुं० [सं०] भ्रमण । घूमना फिरना ।

पर्यन्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ईंद्र । (२) गरजता हुआ बादल । (३) बादल की गरज ।

पर्यय-संज्ञा पुं० [सं०] किसी नियम या क्रम का उल्लंघन । विपर्यय । गड़बड़ी ।

पर्यवरोध-संज्ञा पुं० [सं०] बाधा । विघ्न ।

पर्यवसान-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० पर्यवसित] (१) अंत । समाप्ति । खातमा । (२) अंतर्भाव । अंतर्गत आ जाना । शामिल हो जाना । स्वतंत्र सत्ता का न रहना । (३) राग । क्रोध । (४) ठीक ठीक अर्थ निश्चित करना ।

पर्यस्तापहृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह अर्थालंकार जिसमें वस्तु का गुण गोपन करके उस गुण का किसी दूसरे में आरोपित किया जाना वर्णन किया जाय । जैसे—नहीं शक्र सुरपति अहैं सुरपति नंदकुमार । रतनाकर सागर न है, मथुरा नगर वजार । दे० “अपहृति”

पर्याकुल-वि० [सं०] बहुत अधिक व्याकुल । बहुत घबराया हुआ ।

पर्याचांत-संज्ञा पुं० [सं०] भोजन के समय पत्तलों आदि पर रखा हुआ वह भोजन जो एक पंक्ति में बैठ कर खानेवालों में से किसी एक व्यक्ति के बीच में ही आचमन कर लेने अथवा उठ खड़े होने के बाद बच रहता है । ऐसा अन्न जूठा और दूषित समझा जाता है और खाने योग्य नहीं माना जाता ।

पर्याण-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़े की पीठ पर का पालान ।

पर्याप्त-वि० [सं०] (१) पूरा । काफी । यथेष्ट । (२) प्राप्त । मिला हुआ । (३) जिसमें शक्ति हो । (४) जिसमें सामर्थ्य हो । समर्थ । (५) परिमित । संज्ञा पुं० (१) वृत्ति । संतोष । (२) शक्ति । (३) सामर्थ्य । (४) योग्यता । (५) यथेष्ट होने का भाव । प्रचुरता ।

पर्याय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) समानार्थवाची शब्द । समानार्थक शब्द । जैसे, ‘ईंद्र’ का पर्याय ‘पाकशासन’ और ‘विष’ का पर्याय ‘हलाहल’ । (२) क्रम । सिलसिला । परंपरा । (३) वह अर्थालंकार जिसमें एक वस्तु का क्रम से अनेक आश्रय लेना वर्णित हो या अनेक वस्तुओं का एक ही के आश्रित होने का वर्णन हो । जैसे, (क) हलाहल तोहि नित नये किन सिलए ये पेन । हिय अंगुधि हरगर लग्यो बसत अन्नै खल-बैन । (ख) हुती देह में लरिकई, बहुरि तरुणई जोर । विरधाई आई अन्नै भजत न नंदकिशोर । (४) प्रकार । तरह । (५) अवसर । मौका । (६) बनाने का काम । निर्माण । (७) द्रव्य का धर्म । (८) दो व्यक्तियों का वह पारस्परिक संबंध जो दोनों के एक ही कुल में उत्पन्न होने के कारण होता है ।

पर्यायक्रम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मान या पद आदि के विचार से क्रम । बढ़ाई छोटाई आदि के विचार से सिलसिला । (२) क्रम से बढ़ती । उत्तरोत्तर वृद्धि का विधान ।

पर्यायवृत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक को त्यागकर दूसरे को ग्रहण करने की वृत्ति । एक को छोड़कर दूसरे को ग्रहण करना ।

पर्यायशयन-संज्ञा पुं० [सं०] पहरेदारों आदि का क्रम से अपनी अपनी वारी से सोना ।

पर्यायान्न-संज्ञा पुं० [सं०] दे० “पर्याचांत” ।

पर्यायिक-संज्ञा पुं० [सं०] संगीत या नृत्य का एक अंग ।

पर्यायोक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह शब्दालंकार जिसमें कोई बात साफ साफ न कहकर कुछ दूसरी वचनरचना या घुमाव फिरोव से कही जाय, अथवा जिसमें किसी रमणीय मिस या व्याज से कार्य साधन किए जाने का वर्णन हो । जैसे, लोभ लगे हरि रूप के करी सांठ जुरि जाय । हौं इन बेची बीवही लोयन बुरी बलाय ।—बिहारी । यहाँ यह न कह कर कि मैं कृष्ण के प्रेम में फँसी हूँ यह कहा गया है कि इन आँखों ने मुझे कृष्ण के हाथ बेच दिया । (ख) भ्रमर कोकिल माल रसाल पै । करत मंजुल शब्द रसाल हैं ॥ वन प्रभा वह देखन जात हौं । तुम दोऊ तब लौं इत ही हौं ॥ यहाँ नायक और नायिका को अवसर देने के लिये सखी बहाने से टल जाती है ।

पर्यालोचन-संज्ञा पुं० [सं०] अच्छी तरह देख भाल । समीक्षा ।

पर्यालोचना-संज्ञा स्त्री० [सं०] किसी वस्तु की पूरी देख भाल । समीक्षा । पूरी जाँच पड़ताल ।

पर्यावर्त्त-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वापस आना । लौटना । (२) संसार में फिर से आकर जन्मग्रहण ।

पर्यावर्त्त-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आना । लौटना । (२) संसार में विचारपूर्वक जन्मग्रहण ।

पर्यास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पतन । गिरना । (२) मार डालना । बध । (३) नाश ।

पर्यासन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी को घेर कर बैठना । चारों ओर बैठना । (२) चारों ओर घूमना । परिक्रमा करना ।

पर्युत्क्षण-संज्ञा पुं० [सं०] श्राद्ध, होम या पूजा आदि के समय योही अथवा कोई मंत्र पढ़कर चारों ओर जल छिड़कना ।

पर्युत्क्षणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह पात्र जिससे पर्युत्क्षण का जल छिड़का जाय ।

पर्युदय-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्योदय समीप होने का समय ।

पर्युपासक-संज्ञा पुं० [सं०] सेवा करनेवाला । सेवक ।

पर्युपासन-संज्ञा पुं० [सं०] सेवा ।

पर्युषण-संज्ञा पुं० [सं०] जैनियों के अनुसार तीर्थंकरों की सेवा या पूजा ।

पर्युषित-वि० [सं०] एक दिन पहले का । जो ताजा न हो । बासी । (फूल या भोजन के लिये)

पर्येषण-संज्ञा पुं० [सं०] अन्वेषण । छानबीन ।

पर्व-संज्ञा पुं० [सं० पर्वन्] (१) धर्म, पुण्यकार्य अथवा उत्सव आदि करने का समय । पुण्यकाल ।

विशेष-पुराणानुसार चतुर्दशी, अष्टमी, अमावास्या, पूर्णिमा और संक्रांति ये सब पर्व हैं । पर्व के दिन स्त्री प्रसंग काना अथवा मांस मछली आदि खाना निषिद्ध है । जो ये सब काम करता है, कहते हैं, वह विन्मूत्रभोजन नामक नरक में जाता है । पर्व के दिन उपवास, नदीस्नान, श्राद्ध, दान और जप आदि करना चाहिए ।

(२) चातुर्मास्य । (३) प्रतिपदा से लेकर पूर्णिमा अथवा अमावास्या तक का समय । पक्ष । (४) दिन । (५) क्षण । (६) अवसर । मौका । (७) उत्सव । (८) संधिस्थान । वह स्थान जहां दो चीजें, विशेषतः दो अंग, जुड़े हों । जैसे कुहनी, अथवा गजों में की गांठ । (९) यज्ञ आदि के समय होनेवाला उत्सव अथवा कार्य । (१०) अंश । खंड । भाग । टुकड़ा । हिस्सा । जैसे, महाभारत के अठारह पर्व, उंगली के पर्व (पोर) आदि । (११) सूर्य अथवा चंद्रमा का ग्रहण ।

पर्वक-संज्ञा पुं० [सं०] पर्व का घुटना ।

पर्वकार-संज्ञा पुं० [सं०] वह ब्राह्मण जो धन के लोभ से पर्व के दिन का काम और दिनों में करे ।

पर्वकाल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पर्व का समय । वह समय जब कि कोई पर्व हो । पुण्यकाल । (२) चंद्रमा के चय का समय । जैसे, अमावास्या आदि ।

पर्वगामी-संज्ञा पुं० [सं० पर्वगामिन्] वह जो किसी पर्व के दिन स्त्री के साथ भोग करे । ऐसा मनुष्य नरक का अधिकारी होता है ।

पर्वण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पूरा करने की क्रिया या भाव । (२) एक राक्षस का नाम ।

पर्वणिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] पर्वणी नाम का आँख का रोग ।

पर्वणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सुश्रुत के अनुसार आँख की संधि में होनेवाला एक प्रकार का रोग जिसमें आँख की संधि में जलन और कुछ सूजन होती है । (२) पूर्णिमा । पौर्णमासी ।

पर्वत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जमीन के ऊपर वह बहुत अधिक उठा हुआ प्राकृतिक भाग जो आस पास की जमीन से बहुत अधिक ऊँचा होता है और जो प्रायः पत्थर ही पत्थर होता है । पहाड़ ।

विशेष-बहुत अधिक ऊँची सम भूमि पर्वत नहीं कहलाती । पर्वत उसी को कहते हैं जो आस पास की भूमि को देखते हुए बहुत अधिक ऊँचा हो । कई देशों में अनेक ऐसी अधिसकाँट या ऊँची समतल भूमियाँ हैं जो दूसरे देशों के पहाड़ों से कम ऊँची नहीं हैं, परंतु न तो वे आस पास की भूमि से ऊँची हैं और न कोणाकार; अतः वे पर्वत के अंतर्गत नहीं हैं । साधारण पर्वतों पर प्रायः अनेक प्रकार की धातुएँ, वनस्पतियाँ और वृक्ष आदि होते हैं और बहुत ऊँचे पर्वतों का ऊपरी भाग, जिसे पर्वत की चोटी या शिखर कहते हैं, बहुधा बरफ से ढँका रहता है । कुछ पर्वत ऐसे भी होते हैं जिनपर वनस्पतियाँ तो बिलकुल नहीं या बहुत कम होती हैं परंतु जिनकी चोटी पर गड्ढा होता है जिसमें से सदा अथवा कभी कभी आग निकला करती है । ऐसे पर्वत ज्वालामुखी कहलाते हैं । (दे० "ज्वालामुखी पर्वत") । पर्वत प्रायः श्रेणी के रूप बहुत दूर तक गए हुए मिलते हैं ।

पुराणों में पर्वतों के संबंध में अनेक कथाएँ हैं । सबसे अधिक प्रसिद्ध कथा यह है कि पहले पर्वतों के पंख होते थे । अग्नि पुगण में लिखा है कि एक बार सब पर्वत उड़कर असुरों के निवासस्थान समुद्र में पहुँचकर उपद्रव करने लगे, जिसके कारण असुरों ने देवताओं से युद्ध ठान दिया । युद्ध में विजय प्राप्त करने के उपरांत देवताओं ने पर्वतों के पर काट दिए और उन्हें यथास्थान बैठा दिया । कालिका पुराण में लिखा है कि जगत की स्थिति के लिये विष्णु ने पर्वतों को कामरूपी बनाया था—वे जब जैसा रूप चाहते थे, तब वैसा रूप धारण कर लेते थे । पौराणिक भूगोल में अनेक पर्वतों के नाम आए हैं और उनके विस्तार आदि का भी उनमें बहुत कुछ वर्णन है । उनके वर्च-पर्वत और कुल-पर्वत आदि कुछ भेद भी हैं । वराह पुराण में लिखा है कि श्रेष्ठ पर्वतों पर देवता लोग और दूसरे पर्वतों पर दानव आदि निवास करते हैं । इसके

अतिरिक्त किसी पर्वत पर नागों का, किसी पर सप्तर्षियों का, किसी पर ब्रह्मा का, किसी पर अग्नि का, किसी पर इंद्र का निवास माना गया है। पर्वत कहीं कहीं पृथ्वी को धारण करनेवाले और कहीं कहीं उसके पति भी माने गए हैं।

पर्या०—महीध्र । शिखरी । धर । अद्रि । गोत्र । गिरि । ग्रावा । अचल । शैल । स्थावर । पृथुशेखर । धरणी । कीलक । कुट्टार । जीमूत । भूधर । स्थिर । कटक । शृंगी । अग । नग । भूभृत् । अवनीधर । कुधर । धराधर । वृत्तयान् ।

(२) पर्वत की तरह किसी चीज का लगा हुआ बहुत ऊँचा ढेर । जैसे, देखते देखते उन्होंने पुस्तकों का पर्वत लगा दिया । (३) पुराणानुसार एक देवर्षि का नाम जिनकी नारद ऋषि के साथ बहुत मित्रता थी । (४) एक प्रकार की मछली जिसका मांस वायुनाशक, स्निग्ध, बलवर्द्धक और शुक्रकारक माना जाता है । (५) वृत्त । पेड़ । (६) एक प्रकार का साग । (७) दशनामी संप्रदाय के अंतर्गत एक प्रकार के संन्यासी । ऐसे संन्यासी पुराने जमाने में ध्यान और धारण करके पर्वतों के नीचे रहा करते थे । (८) महाभारत के अनुसार एक गंधर्व का नाम । (९) संभूति के गर्भ से उत्पन्न मरीचि के एक पुत्र का नाम ।

पर्वतकाक—संज्ञा पुं० [सं०] द्रोणकाक । डोम कौआ ।

पर्वतज—वि० [सं०] जो पर्वत से उत्पन्न हुआ हो ।

पर्वतजा—संज्ञा स्त्री० [सं०] पार्वती । गिरजा ।

पर्वततृण—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का तृण जो पशु बड़े चाव से खाते हैं और जो पशुओं के लिये बहुत बलकारक होता है । तृणस्थ ।

पर्वतमोचा—संज्ञा स्त्री० [सं०] पहाड़ी केला ।

पर्वतराज—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहुत बड़ा पहाड़ । (२) हिमालय पर्वत ।

पर्वतवासिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) छोटी जटामासी । (२) काली । (३) गायत्री ।

पर्वतात्मजा—संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा ।

पर्वताधारा—संज्ञा स्त्री० [सं०] पृथ्वी ।

पर्वतारि—संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र ।

विशेष—कहते हैं इंद्र ने एक बार पहाड़ों के पर काट डाले थे इसी से उनका यह नाम पड़ा ।

पर्वताशय—संज्ञा पुं० [सं०] मेघ । बादल ।

पर्वतास्त्र—संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक अस्त्र जिसके फेंकते ही शत्रु की सेना पर बड़े बड़े पत्थर बरसने लगते थे, अथवा अपनी सेना के चारों ओर पहाड़ खड़े हो जाते थे

जिससे शत्रु का प्रभंजनान्न रुक जाता था ।

पर्वतिया—संज्ञा पुं० [सं० पर्वत + इया (प्रत्य०)] नैपालियों की एक जाति ।

संज्ञा पुं० (१) एक प्रकार का कढ़ू । (२) एक प्रकार का तिल ।

पर्वती—वि० [सं० पर्वत + ई (प्रत्य०)] (१) पहाड़ी । पहाड़ संबंधी । (२) पहाड़ों पर रहनेवाला । पहाड़ों पर पैदा होनेवाला ।

पर्वतीय—वि० [सं०] (१) पहाड़ी । पहाड़ संबंधी । (२) पहाड़ पर रहने या बसनेवाला । (३) पहाड़ पर पैदा होनेवाला ।

पर्वतेश्वर—संज्ञा पुं० [सं०] हिमालय ।

पर्वतोद्भव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पारा । (२) शिंगरफ ।

पर्वतोद्भूत—संज्ञा पुं० [सं०] अबरक ।

पर्वतोर्मि—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की मछली ।

पर्वधि—संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा ।

पर्वपुष्पी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नागदंती नामक लुप । (२) रामदूती तुलसी ।

पर्वभेद—संज्ञा पुं० [सं०] संधिभंग नामक रोग का एक भेद ।

पर्वमूला—संज्ञा स्त्री० [सं०] सफेद दूब ।

पर्वयोनी—संज्ञा पुं० [सं०] वह वनस्पति आदि जिसमें गाँठ हों । जैसे, ऊँख ।

पर्वर—संज्ञा पुं० दे० “ परवल ” ।

पर्वरिश—संज्ञा स्त्री० [फा०] पालन पोषण । पालना पोसना ।

पर्वरीण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पर्व । (२) मृतक । मुर्दा । (३) अभिमान । घमंड ।

पर्वरुहु—संज्ञा पुं० [सं०] अनार ।

पर्ववल्ली—संज्ञा स्त्री० [सं०] दूब ।

पर्वसंधि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पूर्णिमा अथवा अमावास्या और प्रतिपदा के बीच का समय । वह समय जब कि पूर्णिमा अथवा अमावास्या का अंत हो चुका हो और प्रतिपदा का आरंभ होता हो । (२) सूर्य अथवा चंद्रमा को ग्रहण लगने का समय । वह समय जब कि सूर्य अथवा चंद्रमा ग्रस्त हो । (३) घुटने पर का जोड़ ।

पर्वी—संज्ञा स्त्री० (१) दे० “ परवाह ” । (२) दे० “ प्रतिपदा ” ।

पर्वानगी—संज्ञा पुं० दे० “ परवानगी ” ।

पर्वाना—संज्ञा पुं० दे० “ परवाना ” ।

पर्वीह—संज्ञा पुं० [सं०] पर्व का दिन । वह दिन जिसमें कोई पर्व हो ।

संज्ञा स्त्री० दे० “ परवाह ” ।

पर्विणी—संज्ञा स्त्री० दे० “ पर्व ” ।

पर्वित—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की मछली ।

पर्वश—संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष के अनुसार काल भेद से ग्रहण समय के अधिपति देवता ।

विशेष—वृहत्संहिता के अनुसार ब्रह्मा, चंद्र, इंद्र, कुबेर, वरुण, अग्नि और यम ये सात देवता क्रमशः छः छः महीने के ग्रहण के अधिपति देवता हुआ करते हैं । ये ही सातों देवता पर्वश कहलाते हैं । भिन्न भिन्न पर्वश के समय ग्रहण होने का भिन्न भिन्न फल होता है । ग्रहण के समय ब्रह्मा अधिपति हो तो द्विज और पशुओं की वृद्धि, मंगल, आरोग्य और धन संपत्ति की वृद्धि, चंद्रमा हो तो आरोग्य और धन संपत्ति की वृद्धि के साथ साथ पंडितों को पीड़ा और अनावृष्टि, इंद्र हो तो राजाओं में विरोध, शरद ऋतु के धान्य का नाश और अमंगल, कुबेर हो तो धनियों के धन का नाश और दुर्भिक्ष, वरुण हो तो राजाओं का अशुभ, प्रजा का मंगल और धान्य की वृद्धि, अग्नि हो तो धान्य, आरोग्य, अमय और अच्छी वर्षा और यम हो तो अनावृष्टि, दुर्भिक्ष और धान्य की हानि होती है । इसके अतिरिक्त यदि और समय में ग्रहण हो तो बुधा, महामारी और अनावृष्टि होती है ।

पर्शनीय—वि० [सं० स्पर्शनीय] छूने योग्य । स्पर्श करने योग्य ।

पर्श—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन योद्धा जाति का नाम जो वर्तमान अफगानिस्तान के एक प्रदेश में रहती थी ।

पर्शुका—संज्ञा स्त्री० [सं०] छाती पर की हड्डियाँ । पिंजर ।

पर्शुपाणि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) गणेश । (२) परशुराम ।

पर्शुराम—संज्ञा पुं० [सं०] परशुराम ।

पर्शुस्थान—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन देश का नाम जिसमें पर्शु जाति के लोग रहा करते थे । आज कल यह प्रांत वर्तमान अफगानिस्तान के अंगरगत है ।

पर्वथ—संज्ञा पुं० [सं०] कुठार ।

पर्वद्—संज्ञा स्त्री० [सं०] परिषद् ।

पर्वद्वल—संज्ञा पुं० [सं०] परिषद् का सदस्य । परिषद् ।

पर्वेज—संज्ञा पुं० [फा०] (१) रोग आदि के समय अपथ्य वस्तु का त्याग । रोग के समय संयम । जैसे, दवा तो खाते ही हो पर साथ में पर्वेज भी किया करो । (२) बचना । अलग रहना । दूर रहना । जैसे, बुरे कामों से हमेशा पर्वेज करना चाहिए ।

पर्वेजगार—वि० [फा०] पर्वेज करनेवाला ।

पलंकट—वि० [सं०] डरपोक । भीरु । भयशील ।

पलंकर—संज्ञा पुं० [सं०] पित्त ।

पलंकष—संज्ञा पुं० [सं०] गुग्गुलु । गूगल ।

पलंकषा, पलंकषी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गोखरू । (२) रास्ना । (३) गुग्गुलु । (४) देसू । पलास । (५)

लाख । (६) गोरखमुंडी । (७) मक्खी ।

पलंका—संज्ञा स्त्री० [हिं० पर + लंका] बहुत दूर का स्थान । अति दूरवर्ती स्थान । उ०—तेहि की आग ओहू पुनि जरा । लंका छोड़ि पलंका परा ।—जायसी ।

विशेष—प्राचीन भारतवासी लंका को बहुत दूर समझते थे इस कारण अत्यंत दूर के स्थान को पलंका (परलंका) जिसका अर्थ है “लंका से दूर” या “दूर का देश” बोलने लगे । अब भी गांवों में इस शब्द का इसी अर्थ में व्यवहार होता है ।

पलंग—संज्ञा पुं० [सं० पल्यंक] (१) अच्छी चारपाई । अच्छे गोड़े, पाटी और बुनावट की चारपाई । अधिक लंबी चौड़ी चारपाई । पर्यंक । पल्यंक । खाट ।

क्रि० प्र०—बिछाना ।

महा०—पलंग को लात मारकर खड़ा होना = (१) ठी, बरही आदि के उपरांत सौरी से किसी स्त्री का भली चंगी बाहर आना । नीरोग और भली चंगी सौरी से बाहर आना । सौरी काल समाप्त कर बाहर निकलना (बोलचाल) । (२) कोई बड़ा बीमारी मेलकर अच्छा होना । बीमारी से उठना । खाट से उठना । (बोलचाल) । **पलंग तोड़ना** = बिना कोई काम किए सोया या पड़ा रहना । कुछ काम न करते हुए समय काटना । निठला रहना । खाट तोड़ना । **पलंग लगाना** = बिछौना बिछाना । किसी के सोने के लिये पलंग पर बिछौना बिछाना और तकिया आदि का यथास्थान रखना । विस्तर दुरुस्त करना ।

पलंगड़ी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पलंग + डी (प्रत्य०)] (१) पलंग । (२) छोटा पलंग ।

पलंगतौड़—संज्ञा पुं० [हिं० पलंग + तौड़ना] एक औषधि जिसका मुख्य गुण स्तंभन है । यह वीर्यवृद्धि के लिये भी खाई जाती है ।

वि० निठला । आलसी । निकम्मा ।

पलंगदंत—संज्ञा पुं० [फा० पलंग = चीता + दंत] जिसके दाँत चीते के दाँतों की तरह कुछ कुछ टेढ़े होते हैं ।

पलंगपोश—संज्ञा पुं० [हिं० पलंग + फा० पोश] पलंग पर बिछाने की चादर ।

पलंगिया—संज्ञा स्त्री० [हिं० पलंग + इया (प्रत्य०)] छोटा पलंग । खटिया । उ०—पौढ़हु पीय पलंगिया मीजहु पाय । रैन जगे की निंदिया सब मिटि जाय ।—रहीम ।

पलंजी—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की घास ।

पलंडी—संज्ञा स्त्री० [देश०] नाव में का वह बाँस जिससे पाल खड़ी की जाती है । (मल्लाह)

पल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) समय का एक बहुत प्राचीन विभाग जो १ मिनट या २४ सेकंड के बराबर होता है । घड़ी या दंड का ६० वाँ भाग । ६० विपल के बराबर समय ।

आन । (२) एक तौल जो ४ कर्प के बराबर होती है । विशेष—कर्प प्रायः एक तोले के बराबर होता है, पर यह मान इसका बिल्कुल निश्चय नहीं है । इसी कारण पल के मान में भी मतभेद है । वैद्यक में इसका मान ८ तोला और अन्यत्र चार तोला या तीन तोला ४ माशा भी माना जाता है ।

(३) मात्र । (४) धान का सूखा डंठल जिससे दाने अलग कर लिए गए हों । पयाल । (५) धोखेबाजी । प्रतारणा । (६) चठने की क्रिया । गति । (७) मूर्ख । (८) तराजू । तुला ।

[सं० पलक] (१) पलक । दगंचल । उ०—भुकि भुकि भपको हैं पलन फिरि फिरि जरि जमुहाय । जानि पियागम नौद मिस दी सब सखी उठाय ।

विशेष—पहले साधारण लोग पल और निमेष के काल मान में कोई अंतर नहीं समझते थे । अतः आँख के परदे का प्रत्येक पल में एक बार गिरना मानकर उसे भी पल या पलक कहने लगे ।

मुहा०—पल मारने या पल मारने में = बहुत ही जल्दी । आँख भपकते । तुरंत । जैसे, पल मारते वह अदृश्य हो गया ।

(२) समय का अत्यंत छोटा विभाग । क्षण । आन । लहजा । दम ।

विशेष—कहीं इसे स्त्रीलिंग भी बोलते हैं ।

मुहा०—पल के पल या पल की पल में = बहुत ही अल्प काल में । बात की बात में । क्षण भर में ।

पलई—संज्ञा स्त्री० [हि० कोपल] (१) पेड़ की नरम डाली या टहन्य । (२) पेड़ के ऊपर का भाग । सिरा । नोक ।

पलक—संज्ञा स्त्री० [सं० पल + क] (१) क्षण । पल । लहमा । दम । उ०—कोटि कर्म फिरे पलक में जो रेचक आए नाँव । अनेक जन्म जो पुन्य करे नहीं नाम बिनु ठाँव ।—कबीर । (२) आँख के ऊपर का चमड़े का परदा जिसके गिरने से आँख बंद होती और उठने से खुलती है । पपोटा तथा वरोनी । उ०—जोचन मगु रामहिं उर आनी । दीन्हें पलक कपाट सयानी ।—तुलसी ।

कि० प्र०—गिरना ।—भपकना ।

मुहा०—पलक भपकते = अत्यंत अल्प समय में । बात कहते । एक निमेष मात्र में । जैसे, पलक भपकते पुस्तक गायब हो गई । पलक पसीजना = (१) आँखों में आँसू आना । (२) दया या करुणा उत्पन्न होना । द्रवित होना । आर्द्र होना । किसी के रास्ते में या किसी के लिये पलक बिछाना = किसी का अत्यंत प्रेम से स्वागत करना । पूर्ण योग से किसी का स्वागत तथा सत्कार करना । पलक भँजना = (१) पलक का गिरना या हिलाना । (२) पलक का इस प्रकार हिलाना कि उससे कोई

संकेत सूचित हो । इशारा या संकेत होना । जैसे, उनकी पलक भँजते ही वह नौ दो ग्यारह हो गया । पलक भाँजना = (१) पलक गिराना या हिलाना । (२) पलक से कोई इशारा करना । पलक मारना = (१) आँख से संकेत या इशारा करना । (२) पलक भपकना या गिरना । पलक लगाना = (१) आँखें मूंदना । पलक भपकना । पलक गिरना । उ०—पलक नहीं कहुँ नेकु लागति रहति इकटक हेरि । तज कहुँ त्रिनि तात नहिँ रूप रस के डेरि ।—सूर । (२) नींद आना । भपकती लगाना । जैसे, आज तीन दिन से एक छन के लिये भी पलक न लगी । पलक लगाना = (१) आँख भपकाना । आँखें मूंदना । (२) सोने के लिये आँखें बंद करना । सोने की इच्छा से आँखें मूंदना । पलक से पलक न लगाना = (१) पलक न भपकाना । टक-टकी बैधी रहना । (२) आँख न लगाना । नींद न आना । पलकों से तिनके चुनना = अत्यंत श्रद्धा तथा भक्ति से किसी की सेवा करना । किसी को सुख पहुँचाने के लिये पूर्ण मनोयोग से प्रयत्न करना । जैसे, मैं आपके लिये पलकों से तिनके चुनूँगा । पलकों से जमीन झाड़ना = पलकों से तिनके चुनना ।

पलकरी—संज्ञा पुं० [सं०] धूपघड़ी के शंकु की उस समय की छाया की लंबाई जब मेघ संक्रांति के मध्याह्नकाल में सूर्य की विषुवत् रेखा पर होता है ।

पलकदरिया—वि० [हि० पलक + फा० दरिया] बड़ा दानी । अति उदार ।

पलकदरियावाँ—वि० दे० “पलकदरिया” ।

पलकनेवाज—वि० [हि० पलक + फा० नेवाज] छन में निहाल कर देनेवाला । बड़ा दानी । पलकदरिया ।

पलकपीटा—संज्ञा पुं० [हि० पलक + पीटना] (१) आँख का एक रोग जिसमें बरोनियाँ प्रायः झड़ जाती हैं, आँखें बराबर भपकती रहती हैं और रोगी धूप या रोशनी की ओर नहीं देख सकता । (२) वह मनुष्य जिसे पलकपीटा हुआ हो । पलकपीटे का रोगी ।

पलका—संज्ञा पुं० [सं० पर्यक वा पर्यंक] [स्त्री० पलकी] पलंग । चा।पाई । उ०—(क) अजिर प्रभा तेहि श्याम को पलका पौढायो । आप चली गृह काज को तह नंद बुढायो ।—सूर । (ख) और जो कहो तो तेरो हूँ कै सेवों गाड़ो बन जो कहो तो चेरी हूँ कै पलकी उसाई दों ।—हनुमान ।

पलक्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] पालक का साग । पालंकाशक ।

पलक—संज्ञा पुं० [सं०] सफेद रंग । श्वेत वर्ण ।

वि० जिसका रंग सफेद हो । श्वेतवर्ण युक्त ।

पलकार—संज्ञा पुं० [सं०] रक्त । खून । लहू ।

पलखन—संज्ञा पुं० [सं० पलख] पाकर का पेड़ ।

पलगंड—संज्ञा पुं० [सं०] कच्ची दीवार में मिट्टी का लेप करने-वाला । मिट्टी का लेप करनेवाला । लेपक ।

पलचर—संज्ञा पुं० [सं० पल + चर] (१) एक उपदेवता जिसका वर्णन राजरत्नों की कथाओं में है । इसके संबंध में लोगों का विश्वास है कि यह युद्ध में मरे हुए लोगों का रक्त पीता और आनंद से नाचता कूदता है । उ० — मिली परस्पर डीठ वीर परिगय रिस अगिना । जगिय जुद्ध विरुद्ध उद्ध पलचर खग खगिय । भगिय सद्य शृगाल काल दै ताल उमरिय । लगिय प्रेत पिशाच पत्र जुगिन लै नगिय । रगिय सुरगारंभादि गण रुद्र रहस आवज धमिय । सन्नाह करहि उच्छाह भट दुहुँ सिपरह जब रुमरुमिय । —सूदन ।

पलटन—संज्ञा स्त्री० [अ० बदलितन, फ० बदलन] (१) अंगरेजी पैदल सेना का एक विभाग जिसमें दो वा अधिक कंपनियाँ अर्थात् २०० के लगभग सैनिक होते हैं । (२) सैनिकों अथवा अन्य लोगों का समूह जो एक उद्देश्य या निमित्त से एकत्र हो । दल । समुदाय । झुंड । जैसे, वहाँ की भीड़ भाड़ का क्या कहना, पलटन की पलटन खड़ी मालूम होती थी ।

पलटना—क्रि० अ० [सं० पलोठन अथवा प्रा० पलोठन] (१) किसी वस्तु की स्थिति उलटना । ऊपर के भाग का नीचे या नीचे के भाग का ऊपर हो जाना । उलट जाना । (क्व०) । (२) अवस्था या दशा बदलना । किसी दशा की ठीक उलटी या विरुद्ध दशा उपस्थित होना । बुरी दशा का अच्छी में या अच्छी का बुरी में बदल जाना । आमूल परिवर्तन हो जाना । कायापलट हो जाना । जैसे, दो साल हुए मैंने तुमको कितना खुश देखा था; पर अब तो तुम्हारी हालत ही पलट गई है ।

विशेष—इस अर्थ में यह क्रिया 'जाना' के साथ सदा संयुक्त रहती है; अकेले नहीं प्रयुक्त होती ।

(३) अच्छी स्थिति या दशा प्राप्त होना । इष्ट या वांछित दशा आना या मिलना । किसी के दिन फिरना या लौटना । जैसे, (क) धैर्य रखो, तुम्हारे भी दिन अवश्य पलटेंगे । (ख) बरसों बाद इस घर के दिन पलटे हैं । (ग) आधी रात तक तो उनका पासा बराबर पर रहा पर इसके बाद जो पलटा तो सारी कसर निकल आई । (४) मुड़ना । घूमना । पीछे फिरना । जैसे, मैंने पलट कर देखा तो तुम भी पैर पीछे आ रहे थे । (५) लौटना वापस होना । जैसे, तुम कलकत्ते से कबतक पलटोगे । (क्व०) ।

क्रि० सं० (१) किसी वस्तु की स्थिति को उलटना । किसी वस्तु के निचले भाग को ऊपर या ऊपर के भाग को नीचे करना । उलटी वस्तु को सीधी या सीधी को उलटी करना । उलटना । औंधाना । जैसे, (किसी बरतन आदि के लिये) अच्छी तरह तो रखा था, तुमने व्यर्थ ही पलट दिया ।

संयो० क्रि०—देना ।

(२) किसी वस्तु की अवस्था उलट देना । किसी वस्तु को ठीक उसकी उलटी दशा में पहुँचा देना । अवनत को उन्नत या उन्नत को अवनत करना । काया पलट देना । जैसे, दो ही वर्ष में तुम्हारी प्रवृत्ति-कुशलता ने इस गाँव की दशा पलट दी ।

विशेष—इस अर्थ में यह क्रिया सदा "देना" या "डालना" के साथ संयुक्त होती है, अकेले नहीं आती ।

(३) फेरना । बार बार उलटना । उ०—देव तेऽव गोरी के विजात गात बात लगै, उ्यों उ्यों सीरे पानी पीरे पान सो पलटियत ।—देव । (४) बदलना । एक वस्तु को त्यागकर दूसरी को ग्रहण करना । एक को हटाकर दूसरी को स्थापित करना । उ०—मृगनैनी दग की फरक कर उछाड़ तन फूल । बिन ही प्रिय आगमन के पलटन लगी दुकूल ।—बिहारी । (५) बदलना । एक चीज देकर दूसरी लेना । बदले में लेना । बदला करना । (अप्रयुक्त) उ०—(क) नरतनु पाय विषय मन देहीं । पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं ।—तुलसी । (ख) वृजजन दुखित अति तन छीन । रयत इकटक चित्र चातक श्यामघन तनु लीन । नाहिं पलटत वसन भूपन दगन दीपक तात । पलिन बदन विलखि रहत जिमि तरनि हीन जलजात ।—सूर । (६) कही हुई बात को अस्वीकार कर दूसरी बात कहना । एक बात को अन्यथा करके दूसरी कहना । एक बात से मुकर कर दूसरी कहना । जैसे, तुम्हारा क्या ठिकाना, तुम तो रोज ही कह कर पलटा करते हो । (७) लौटना । फेरना । वापस करना । उ०—फिरि फिरि नृपति चछावत बात । कहो सुमंत कहौं तोहिं पलटी प्राण जीवन कैसे बन जात ।—सूर ।

पलटा—संज्ञा पुं० [हि० पलटना] (१) पलटने की क्रिया या भाव । नीचे से ऊपर या ऊपर से नीचे होने की क्रिया या भाव । घूमने, उलटने या चक्कर खाने की क्रिया या भाव । परिवर्तन ।

क्रि० प्र०—देना ।—पाना ।

महा०—पलटा खाना = दशा या स्थिति का उलट जाना । घूमकर या बदल कर विपरीत स्थिति या दशा में पहुँच जाना । चक्कर खाना । उ०—उसके बाद ही न जाने ग्रह चक्र ने कैसा पलटा खायो ।—दुर्गाप्रसाद ।

(२) बदला । प्रतिफल । जैसे, उसने अपनी करनी का पलटा पा लिया ।

क्रि० प्र०—देना ।—पाना ।

(३) नाव में वह पटरी जिस पर नाव का खेनेवाला बैठता है । (४) गान में जलदी जलदी थोड़े से स्वर्गों पर

चकर लगाना । गाते समय ऊँचे स्वर तक पहुँच कर खबसुरती के साथ फिर नीचे स्वरों की तरफ मुड़ना । (२) लोहे या पीतल की बड़ी खुरचनी जिसका फल चौकोर न होकर गोलाकार होता है । इससे बटलोही में से चावल निकालते और पूरी आदि उलटते हैं । (३) कुश्ती का एक पेंच जिसमें जब ऊपरवाला पहलवान नीचे पड़े हुए पहलवान की कमर पकड़ता है तब नीचे-वाला पट्टा अपने दहिने पैर के पंजे ऊपरवाले की टाँगों के बीच से डाल कर उसकी बाईं टाँग को फँसा लेता है और दहिने हाथ से उसकी बाईं कलाई पकड़ कर झटके के साथ अपनी दहिनी ओर मुड़ जाता है और ऊपर का पहलवान चित्त गिर जाता है ।

पलटाना—क्रि० सं० [हि० पलटना] (१) लौटाना । फेरना । वापस करना । उ०—(क) तब सारथि स्यंदन पलटावा । लै नरेश के आगे आवा ।—सबल । (२) बदलना । [अग्रयुक्त] । उ०—काया कंचन जतन कराया । बहुत भाँति कै मन पलटाया ।—कवीर ।

पलटी—संज्ञा स्त्री० दे० “पलटा” ।

पलटे—क्रि० वि० [हि० पलटा] बदले में । एवज में । प्रतिफल स्वरूप । उ०—(क) आपु दयो मन फेरि लै; पलटे दीनी पीठ । कौन बानि वह रावरी लाल लुकावत दीठ ।—विहारी । (ख) जे सुर सिद्ध सुनीस योगि बुध वेद पुरान बखाने । पूजा लेत देत पलटे सुख हानि लाभ अनुमाने ।—तुलसी ।

विशेष—असल में यह अव्यय नहीं है बल्कि “पलटा” संज्ञा का सप्तमी विभक्ति युक्त रूप है । परंतु अन्य बहुत से सप्तम्यंत पदों की भाँति इसका भी बिना विभक्ति के व्यवहार होने लगा है, इस कारण इसका रूप अव्यय का सा हो गया है ।

पलड़ा—संज्ञा पुं० [सं० पटल] तराजू का पल्ला । तुलापट ।

पलथा—संज्ञा पुं० [हि० पलटना] (१) कलाबाजी, विशेषतः पानी में मारने की क्रिया या भाव । कलैशा मारने की क्रिया या भाव ।

क्रि० प्र०—मारना ।

(२) दे० “पलथी” ।

पलथी—संज्ञा स्त्री० [सं० पर्यस्त, प्रा० पल्लत्य] एक आसन जिसमें दहिने पैर का पंजा बाएँ और बाएँ पैर का पंजा दहिने पट्टे के नीचे दबा कर बैठते हैं और दोनों टाँगे ऊपर नीचे होकर दोनों जाँघों से दो त्रिकोण बना देती हैं । स्वस्ति-कासन । पालती ।

क्रि० प्र०—मारना ।—लगाना ।

विशेष—जिस आसन में पंजों की स्थापना उपर्युक्त प्रकार से न होकर दोनों जाँघों के ऊपर अथवा एक के ऊपर दूसरे के

नीचे हो उसे भी पलथी ही कहते हैं ।

पलना—क्रि० अ० [सं० पालना] (१) पालने का अकर्मक रूप । ऐसी स्थिति में रहना जिसमें भोजन वस्त्र आदि आवश्यकताएँ दूसरे की सहायता या कृपा से पूरी हो रही हों । दूसरे का दिया भोजन वस्त्रादि पाकर रहना । भरित पोषित होना । परवरिश पाना । पाला या पोसा जाना । जैसे, (क) उसी अकेले की कमाई पर सारा कुनवा पलता था । (ख) यह शरीर आप ही के नमक से पला है । (२) खा पीकर हट्ट पुष्ट होना । मोटा ताजा होना । तैयार होना । जैसे, (क) आज कल तो तुम खूब पले हुए हो । (ख) यह बकरा खूब पला हुआ है ।

क्रि० सं० [देश०] कोई पदार्थ किसी को देना । (दलाल) संज्ञा पुं० दे० “पालना” ।

पलनाना—क्रि० सं० [हि० पलान = जीन + ना (प्रत्य०)] घोड़े पर जीन कसकर उसे चलने के लिये तैयार करना । घोड़े को जोतने या चलाने के लिये तैयार करना । कसना । उ०—(क) भोर भयो वृज लोगन को । ग्वाल सखा सखि व्याकुल खुनि के श्याम चलत हैं मधुवन को । सुफलक सुत स्यंदन पलनानत देखैं तहँ बल मोहन को ।—सूर । (ख) गहर जनि लावहु गोकुल आइ । अपनाई रथ तुरत मँगायो दियो तुरत पलनाइ ।—सूर ।

पलप्रिय—वि० [सं०] मांसभची । मांस खाकर रहनेवाला । संज्ञा पुं० डोम कौआ । द्रोण काक ।

पलभची—वि [सं० पलभन्तिन्] [स्त्री० पलभन्तिणी] माँसाहारी । मांसभची ।

पलभा—संज्ञा स्त्री० [सं०] धूप घड़ी के शंकु की उस समय की छाया की चौड़ाई जब मेघ संक्रांति के मध्यार्द्ध में सूर्य ठीक विषुवत् रेखा पर होता है । पलविभा । विषुवत्प्रभा ।

पलरा—संज्ञा पुं० दे० “पलड़ा” ।

पलल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मांस । (२) कीचड़, गिलावा या गाव (३) तिल का चूर्ण । (४) तिल और गुड़ अथवा चीनी के योग से बनाया हुआ लड्डू, कतरा आदि । तिलकुट । (५) तिल का फूल । (६) राक्षस । (७) सिवार । शैवाल । (८) पत्थर । (९) मल । मैल । गंदगी । (१०) दूध । (११) बल । (१२) शव । लाश । वि० पुलपुला या पिलपिला । नीला और मुलायम ।

पललज्वर—संज्ञा पुं० [सं०] पित्त ।

पललप्रिय—वि० [सं०] मांसभची । मांस खाकर रहनेवाला । संज्ञा पुं० द्रोण काक । डोम कौआ ।

पललाशय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कोड़ा । गंडरोग । (२) अजीर्ण । बदहजमी ।

पलव—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का फावा जिसमें मछलियाँ

फँसाई जाती हैं ।

पलवल—संज्ञा पुं० दे० “ परवल ” ।

पलवा—संज्ञा पुं० [सं० पलव] (१) ऊख के ऊपर का नीरस भाग जिस में गाँठें पास पास होती हैं। अगौरा। कौंचा । † (२) ऊख के गाँठे जो बोने के लिये पाल में लगाए जाते हैं । † (३) एक वास जिसको मैंस बड़े चाव से खाती है । यह हिसार के आस पास पंजाब में होती है । पलवान ।
* संज्ञा पुं० [सं० पलव] अंजुली । जुलू । उ०—पीवत नहीं रुधात छिन नाहीं कहत बनै न । पलवो कै बाँधै रहै छबिरस प्यासे नैन ।—रसनिधि ।

पलवान—संज्ञा पुं० दे० “ पलवा ”

पलवाना—क्रि० सं० [हिं० पालना का प्रेरण० रूप] । किसीसे पालन कराना । पालन में किसी को प्रवृत्त करना ।
उ०—बड़े यत्न से उन्हें पलवावै ।—लछू ।

पलवार—संज्ञा पुं० [हिं० पलव] ईख बोने का एक ढंग जिसमें अंजुली निकलने के बाद खेत को रखे पत्तों, रहटों आदि से अच्छी तरह ढक देते हैं । इस तरह ढकने से खेत की तरी बनी रहती है जिससे सिंचाई की आवश्यकता नहीं होती । करैली या काली मिट्टी में यही ढंग बरता जाता है । अन्यत्र भी यदि सींचने का सुभीता या आवश्यकता न हो तो इसी ढंग को काम में लाते हैं । नगरवा ।
[हिं० पाल + वर (प्रत्य०)] एक प्रकार की बड़ी नाव जिस पर माल असबाब लादकर भेजते हैं । पटैला ।

पलवारी—संज्ञा पुं० [हिं० पलवार] नाव खेनेवाला मझाह ।

पलवाली—वि० [सं० पल = मांस + वाल (प्रत्य०)] हृष्टपुष्ट । बलवान् ।

पलवैया—संज्ञा पुं० [हिं० पालना + वैया (प्रत्य०)] पालन करनेवाला । भरण पोषण करनेवाला । खिलाने पिलाने-वाला । पालक ।

पलस्तर—संज्ञा पुं० [अ० प्लास्टर । मि० सं० पल = कोचड़ + स्तर = तह] मिट्टी चूने आदि के गारे का लेप जो दीवार आदि पर उसे बराबर सीधी और सुडौल करने के लिये किया जाता है । लेट ।

क्रि० प्र०—करना ।

मुहा०—पलस्तर ढीला होना = तंग होना । नसें ढीली हो जाना ।
पलस्तर बिगाड़ना या बिगाड़ जाना = दे० “ पलस्तर ढीला होना ” ।
पलस्तर ढीला करना = तंग करना । नसें ढीली कर देना ।
पलस्तर बिगाड़ना या बिगाड़ देना = दे० “ पलस्तर ढील करना ” ।

पलस्तरकारी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पलस्तर + फा० कारी] पलस्तर करने या किए जाने की क्रिया या भाव । पलस्तर करने या होने का काम ।

पलहना—क्रि० अ० [सं० पल्लव] पल्लवित होना । पल्लव

फूटना । पनपना । लहलहाना । उ०—(क) प्रीति बेल ऐसे तन डाढ़ा । पलहत सुख बाढ़त दुख बाढ़ा ।—जायसी ।
(ख) वही भाँति पलही सुखारी । उठी करलि नइ कोंप सँवारी ।—जायसी । (ग) पुनि ममता जवास बहुताई । पलुहइ नारि सिसिर रितु पाई ।—तुलसी ।

पलहा—संज्ञा पुं० [सं० पलव] पल्लव । कोमल पत्ते । कोंपल ।
उ०—पियर पात दुख करे निपाते । सुख पलहा अपने होय राते ।—जायसी ।

पलांग—संज्ञा पुं० [सं०] सूँस । शिशुमार ।

पलांडु—संज्ञा पुं० [सं०] प्याज ।

पला—संज्ञा पुं० [सं० पल] पल । निमिष ।

* संज्ञा पुं० [सं० पल] (१) तराजू का पलड़ा । पल्ला ।
उ०—रुनी जाती पल पला डाँड़ी भौंह अनूप । मन पसंग तौलै सुदग हलवौ गरबौ रूप ।—रसनिधि । * (२) पल्ला । आँचल । उ०—समुझि बूझि दड़ हूँ रहे बल तजि निर्वल होय । कह कबीर ता संत को पला न पकड़ै कोय ।—कबीर ।
संज्ञा पुं० [हिं० पली] तेल की पली ।

पलागि—संज्ञा पुं० [सं०] पित्त ।

पलाद, पलादन—संज्ञा पुं० [सं०] राक्षस ।

पलान—संज्ञा पुं० [सं० पल्याण या पल्ययन । मि० फा० पालान] गद्दी या चारजामा जो जानवरों की पीठ पर लादने या चढ़ने के लिये कसा जाता है । उ०—(क) हरि घोड़ा ब्रह्मा कड़ी वासुकि पीठ पलान । चांद सुरुज दोउ पायड़ा चढ़सी संत सुजान ।—कबीर । (ख) वर्षा गयो अगस्त्य की डीठी । परे पलान तुरंगन पीठी ।—जायसी ।

क्रि० प्र०—कसना ।—बाँधना ।

पलानना—क्रि० सं० [हिं० पलान + ना (प्रत्य०)] (१) घोड़े आदि पर पलान कसना । गद्दी या चारजामा कसना या बाँधना ।
उ०—उपे अगस्त हस्ति तन गाजा । तुरंग पलान चढ़ै रन राजा । (२) चढ़ाई की तैयारी करना । धावा करने के लिये तैयार या सज्जद होना । उ०—(क) मो पर पलानत है बल को न जानत है अंगद ! बिना ही आग या ही ते जरत हों । (ख) अब मोहिं कछु समुझो न परे भई काहे को काख पलानत है ।—हनुमान ।

पलाना—क्रि० अ० [सं० पल्ययन] भागना । पलायन करना ।
क्रि० सं० पलायन कराना । भागाना । उ०—जरासंघ इन बहुत बारही करि संग्राम पलायो । ताको पल कछु नहिं मान्यो मथुरा में चलि आयो—सूर ।

पलानी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पलान] (१) छप्पर । (२) पान के आकार का एक गहना जिसे स्त्रियाँ पैर में पंजे के ऊपर पहनती हैं ।
(३) दे० “ पलान ” ।

पलान—संज्ञा पुं० [सं०] चावल और मांस के मेल से बना हुआ

भोजन । पुलाव ।

पलाप-संज्ञा पुं० [सं०] हाथी का गंडस्थल । हाथी का कपोल, कनपटी आदि ।

पलायक-संज्ञा पुं० [सं०] भागनेवाला । भगू ।

पलायन-संज्ञा पुं० [सं०] भागने की क्रिया या भाव । भागना ।

पलायमान-वि० [सं०] भागता हुआ । पलायन करता हुआ ।

पलायित-वि० [सं०] भागा हुआ ।

पलाल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) धान का रूखा डंडल । पयाल ।

(२) अन्य किसी धान्य या पौधे का सूखा डंडल । तृण ।

तिनका ।

पलालदोहद-संज्ञा पुं० [सं०] आम का पेड़ ।

पलाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] उन सात राजसियों में से एक जो लड़कों को बीमार करनेवाली मानी जाती हैं ।

पलाश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पलास । ढाक । टेसू । (२)

पत्र । पत्ता । (३) राजस । (४) कचूर । (५) मगध देश ।

(६) शासन । (७) परिभाषण । (८) एक पक्षी । (९) विदारी कंद ।

वि० (१) मांसाहारी । (२) निर्दय । (३) हरित । हरा ।

पलाशक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पलास । ढाक । (२) टेसू ।

किशुक । पलास का फूल । (३) कपूर । (४) बाख ।

लाक्षा ।

पलाशगंधजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का वंशलोचन ।

पलाशच्छदन-संज्ञा पुं० [सं०] तमालपत्र ।

पलाशतरुज-संज्ञा पुं० [सं०] पलास का कोमल पत्ता । पलास की कोंपल ।

पलाशन्-संज्ञा पुं० [सं०] मैना । शारिका ।

पलाशपर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] अश्वगंधा । असगंध ।

पलाशांता-संज्ञा स्त्री० [सं०] बनकचूर । गंधपत्रा ।

पलाशाख्य-संज्ञा पुं० [सं०] नाड़ी हींग ।

पलाशिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] विदारी कंद ।

पलाशिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शुक्तिमान् पर्वत से निकली हुई एक नदी । (२) रेवतक पर्वत से निकली हुई एक नदी ।

पलाशी-वि० [सं० पलाशिन] (१) मांसाहारी । (२) पत्रविशिष्ट । पत्रयुक्त ।

संज्ञा पुं० (१) राजस । (२) क्षीरिका । खिरनी । (३) कचूर । शरी ।

संज्ञा स्त्री० (१) कचरी । (२) लाख ।

पलाशीय-वि० [सं०] पत्रयुक्त । पत्रविशिष्ट ।

पलास-संज्ञा पुं० [सं० पलाश] (१) प्रसिद्ध वृक्ष जो भारत-वर्ष के सभी प्रदेशों और सभी स्थानों में पाया जाता है । मैदानों और जंगलों ही में नहीं; ४००० फुट ऊँची पहाड़ियों की चोटियों तक पर यह किसी न किसी रूप में अवश्य

मिलता है । यह तीन रूपों में पाया जाता है—वृक्ष रूप में, चुप रूप में और लता रूप में । बगीचों में यह वृक्ष रूप में और जंगलों और पहाड़ों में अधिकतर चुपरूप में पाया जाता है । लता रूप में यह कम मिलता है । पत्ते, फूल और फल तीनों भेदों के समान ही होते हैं । वृक्ष बहुत ऊँचा नहीं होता, मझोले आकार का होता है । चुप झाड़ियों के रूप में अर्थात् एक स्थान पर पास पास बहुत से उगते हैं । पत्ते इसके गोल और बीच में कुछ नुकीले होते हैं जिनका रंग पीठ की ओर सफेद और सामने की ओर हरा होता है । पत्ते सीकें में निकलते हैं और एक में तीन तीन होते हैं । इसकी छाल मोटी और रेशेदार होती है । लकड़ी बड़ी टेढ़ी मेढ़ी होती है । कठिनाई से चार पाँच हाथ सीधी मिलती है । इसका फूल छोटा, अर्द्ध-चंद्राकार और गहरा लाल होता है । फूल को प्रायः टेसू कहते हैं और उसके गहरे लाल होने के कारण अन्य गहरी लाल वस्तुओं को “ लाल टेसू ” कह देते हैं । फूल फागुन के अंत और चैत के आरंभ में लगते हैं । उस समय पत्ते तो सब के सब झड़ जाते हैं और पेड़ फूलों से लद जाता है जो देखने में बहुत ही भला मालूम होता है । फूल झड़ जाने पर चौड़ी चौड़ी फलियाँ लगती हैं जिनमें गोल और चिपटे बीज होते हैं । फलियों को पलास पापड़ा या पलास पापड़ी कहते और बीजों को पलासबीज कहते हैं । इसके पत्ते प्रायः पतल और दोने आदि के बनाने के काम आते हैं । राजपुताने और बंगाल में इनसे तमाकू की बीड़ियाँ भी बनाते हैं । फूल और बीज ओषधिरूप में व्यवहृत होते हैं । बीज में पेट के कीड़े मारने का गुण विशेषरूप से है । फूल को उबालने से एक प्रकार का लट्ठाई लिए हुए पीला रंग भी निकलता है जिसका खास कर होली के अवसर पर व्यवहार किया जाता है । फली की बुकनी का लेने से वह भी अबीर का काम देती है । छाल से एक प्रकार का रेशा निकलता है जिसका जहाज के पटरों की दरारों में भर कर भीतर पानी आने की रोक की जाती है । जड़ की छाल से जो रेशा निकलता है उसकी रस्सियाँ बटी जाती हैं । दरी और कागज भी इससे बनाया जाता है । इसकी पतली डालियों को उबाल कर एक प्रकार का कत्था तैयार किया जाता है जो कुछ घटिया होता है और बंगाल में अधिक खाया जाता है । मोटी डालियों और तनों को जला कर कोयला तैयार करते हैं । छाल पर बछने लगाने से एक प्रकार का गोद भी निकलता है जिसको चुनियाँ गोद या पलास का गोद कहते हैं । वैद्यक में इसके फूल को स्वादु, कड़वा, गरम, कषैला, वातवर्धक, शीतल, चरपरा, मलरोधक, तृषा, दाह, पित्त, कफ, रुधिरविकार, कुष्ठ और

सूत्रकृच्छ्र का नाशक; फल को रूखा, हलका, गरम, पाक में चरपरा, कफ, वात, उदररोग, कृमि, कुष्ठ, गुल्म, प्रमेह, बवासीर और शूल का नाशक; बीज को स्निग्ध, चरपरा, गरम, कफ और कृमि का नाशक और गोंद को मलरोधक, ग्रहणी, सुखरोग, खांसी और पसिने का दूर करनेवाला लिखा है। पलास। ढाक। टेसू। केसू। धारा। कांवरिया। विशेष—यह वृक्ष हिंदुओं के पवित्र माने हुए वृक्षों में से है। इसका उल्लेख वेदों तक में मिलता है। श्रौतसूत्रों में कई यज्ञपात्रों के इसी की लकड़ी से बनाने की विधि है। गृहसूत्र के अनुसार उपनयन-समय में ब्राह्मण कुमार को इसी की लकड़ी का दंड ग्रहण करने की विधि है। वसंत में इसका पत्रहीन पर लाल फूलों से लदा हुआ वृक्ष अत्यंत नेत्र सुखद होता है। संस्कृत और भाषा के कवियों ने इस समय के इसके सौंदर्य पर कितनी ही उत्तम उत्तम कल्पनाएँ की हैं। इसका फूल अत्यंत सुंदर तो होता है पर उसमें गंध नहीं होती। इस विशेषता पर भी बहुत सी उक्तियाँ कही गई हैं।

पर्याय—किंशुक। पर्ण। याज्ञिक। रक्तपुष्पक। चारश्रेष्ठ। वातपोष। ब्रह्मवृक्ष। ब्रह्मवृक्षक। ब्रह्मोपनेता। समिद्ध। करक। त्रिपत्रक। ब्रह्मपादप। पलाशक। त्रिपर्ण। रक्तपुष्प। पूतदु। काठदु। बीजस्नेह। कृमेज। वक्रपुष्पक। सुपर्णी।

(२) एक मांसाहारी पक्षी जो गीध की जाति का होता है। संज्ञा पुं० [अ० स्फाइस] वह गाँव जो दो रस्सियों या एक ही रस्सी के दो छोरों या भागों को परस्पर जोड़ने के लिये दी जाय। (लश०)

क्रि० प्र०—करना।

पलासना—क्रि० सं० [देश०] सिल जाने के बाद जूते को काट छाँट कर ठीक करना। जूते का फालतू चमड़ा आदि काटना।

पलास पापड़ा—संज्ञा पुं० [हिं० पलास + पापड़ा] पलास की फली जो औषध के काम में आती है। पलास पापड़ी। ढकपन्ना। दे० “पलास”

पलास पापड़ी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पलास + पापड़ी] पलास पापड़ा।

पलिंजी—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक घास जिसके दानों को दुर्भिक्ष के दिनों में अक्सर गरीब लोग खाते हैं।

पलिक—वि० [सं०] जो तोल में एक पल हो। एक पल या पलभर (कोई पदार्थ)।

पलिका—संज्ञा पुं० दे० “पलका”।

पलिकनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] वह गाय जो पहली ही बार गाम्भिन हुई हो।

वि० स्त्री जिसके बाल पक गए हों। बुड्डी। (वैदिक) पलिघ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) काँच का घड़ा। करावा। (२)

वड़ा। (३) प्राकार। चार—दीवारी। (४) गोपुर। फाटक। (५) अगरी या व्योड़ा। अगल।

पलित—वि० [सं०] [क्री० पलित] (१) वृद्ध। बुड्ड़ा। (२) पका हुआ (बाल)। सफेद (बाल)।

संज्ञा पुं० (१) सिर के बालों का उजला होना। बाल पकना। (२) वैद्यक के अनुसार एक बुद्धि रोग जिसमें क्रोध, शोक और श्रम के कारण शारीरिक अग्नि और पित्त सिर पर पहुँच कर वहाँ के बालों को वृद्ध होने के पहले उजला कर देते हैं। (३) शैलज। भूरि छरीजा। (४) ताप। गरमी। (५) कर्दम। कीचड़। (६) गुग्गुलु। (७) मिर्च।

पलितग्रह—संज्ञा पुं० [सं०] तगर। गुलचांदनी।

पलिती—वि० [सं० पलित्] जिसको पलित रोग हुआ हो।

पलित रोगयुक्त। पके बालोंवाला।

पलिया—संज्ञा पुं० [देश०] पशुओं का एक रोग जिसमें उनका गला फूल आता है। घटेरुआ।

पलिहरा—संज्ञा पुं० [सं० परिहर = छोड़ देना, बचा देना, बचा रखना] वह खेत जिसमें चैती फसल में कोई जिनस बोने के लिये अगहनी या भदई फसल में कुछ न बोया जाय और जो केवल जोतकर छोड़ दिया जाय। वह खेत जो बरसात में बिना कुछ बोए केवल जोतकर छोड़ दिया गया हो। चौमासा। क्रि० प्र०—छोड़ना।—रखना।

विशेष—ईख, शकरकंद, गेहूँ, अफीम आदि बोने के लिये प्रायः ऐसा करते हैं। अन्य धान्यों के लिये बहुत कम पलिहर छोड़ते हैं।

पली—संज्ञा स्त्री० [सं० पलिव] तेल घी आदि द्रव पदार्थों को बड़े बरतन से निकालने का लोहे का एक उपकरण। इसमें छोटी करछी के बराबर एक कटोरी होती है जो एक खड़ी डंडी से जुड़ी होती है।

महा०—पली पली जोड़ना = थोड़ा थोड़ा करके संचय या संग्रह करना। पैसा पैसा जोड़कर धन एकत्र करना। उ०—मियाँ जोड़े पली पली खुदा खुदावें कुप्पा।—(कहावत)

पलित—संज्ञा पुं० [सं० प्रेत। मि० फा० पलीद] भूत। प्रेत। शैतान। वि० [फा० पलीद] (१) दुष्ट। पाजी। (२) धूर्त। चालाक। काइयाँ।

पलीता—संज्ञा पुं० [फा० फलीलः] (१) बत्ती के आकार में लपेटा हुआ वह कागज जिसपर कोई यंत्र लिखा हो। इस बत्ती की धूनी प्रेतग्रस्त लोगों को दी जाती है।

क्रि० प्र०—जलाना।—सुँवाना।—सुलगाना।

(२) बररोह को कूट और बटकर बनाई हुई वह बत्ती जिससे बंदूक या तोप के रंजक में आग लगाई जाती है।

उ०—(क) काल तोपची, तुपक महि दारू अनय कराळ पाय पलीता, कठिन गुरु गोला सुहमी पाल।—तुलसी।

(ख) जलधि कामना बारि दास भरि तड़ित पलीता देत ।
गर्जन औ तर्जन मानो जो पहरक में गढ़ जेत ।—सूर ।

क्रि० प्र०—दागना ।—देना ।

मुहा०—पलीता चाटना = मड़क कर बेल उठना । जल उठना ।

(कव०)

(३) एक विशेष प्रकार की कपड़े की बत्ती जिसे कहीं कहीं
पनशाखे पर रखकर जलाते हैं ।

क्रि० प्र०—जलाना ।

वि० (१) बहुत क्रुद्ध । क्रोध से लाल । आग बवूला ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

(२) तेज दौड़ने या भागनेवाला । हुतगामी ।

पलीती—संज्ञा स्त्री० [हि० पलीता] बत्ती । छोटा पलीता ।

पलीद—वि० [फा०] (१) अशुचि। अपवित्र । गंदा । (२)
वृणास्पद । (३) नीच । दुष्ट । उ०—इस पलीद से बिना
छेड़े कब रहा जाता था ।—शिवप्रसाद ।

संज्ञा पुं० [हि० पलीत । मि० सं० प्रेत] भूत । प्रेत ।

पलुआ—संज्ञा पुं० [देश०] सन की जाति का एक पौधा ।

†संज्ञा पुं० [हि० पलना + उच्चा (प्रत्य०)] पालतू । पाला
हुआ ।

पलुहना*—क्रि० अ० [सं० पल्लव] पल्लवित होना । पत्रयुक्त
होना । हरा भरा होना । उ०—(क) भोर होत तब
पलुह सरीरु । पाय घुमरहा रीतल नीरु ।—जायसी ।
(ख) पुनि ममता जवास बहुताई । पलुदइ नारि लिसिर
कतु पाई ।—तुलसी ।

पलुहाना*—क्रि० स० [हि० पलुहना] पल्लवित करना । हरा भरा
करना । उ०—(क) जस भुईं दहि असाढ़ पलुहाई । परहि
बूंद औ सौंध बसाई ।—जायसी । (ख) कबहुं कपि
राघव आवहिंगे । विरह अगिनि जरि रही लता ज्यों कृपादृष्टि
जल पलुहावहिंगे ।—तुलसी ।

पलूचना—क्रि० स० [हि० पलना] देना । (दलाल)

पलेट—संज्ञा स्त्री० [अ० प्लेट] (१) लंबी पट्टी । पट्टी । (२)
कपड़े की वह पट्टी जो कोट, कुरते आदि में नीचे की ओर
उनके किसी विशेष अंश को कड़ा या सुंदर बनाने के लिये
लगाई जाय । पट्टी । जैसे, कुरते का पलेट, कमीज का
पलेट ।

पलेटन—संज्ञा पुं० [अ० प्लेटन] छापे के यंत्र में लोहे का वह
चिपटा भाग जिसके दबाव से कागज आदि पर अक्षर
छपते हैं ।

पलेड़ना*—क्रि० स० [सं० प्रेरण] डकेलना । धक्का देना ।
उ०—तू अलि कहा परयो केहि पैड़े ? या आदर पर अजहूं
बैठो दरत न सूर पलेड़े ।—सूर ।

पलेथन—संज्ञा पुं० [सं० परिस्तरण = लपेटना] । (१) वह सूखा

आटा जिसे रोटी बेलने के समय इसलिये लोई पर लपेटते
और पाटे पर बसेते हैं कि गीला आटा हाथ या बेलन
आदि में न चिपके । परथन ।

क्रि० प्र०—निकालना ।—लगाना ।

मुहा०—पलेथन निकालना = (१) खूब मार पड़ना या खाना ।
भुरकुस निकलना । कचूमर निकलना । (२) परेशान होना । तंग
होना । हार जाना । पलेथन निकालना = (१) खूब मारना या
ठेंकना । पीटना । कचूमर निकालना । (२) तंग करना । परेशान
करना । बुरा हाल करना ।

(२) किसी हानि या अपकार के परचात् उसी के संबंध
से होनेवाला अनावश्यक व्यय । किसी बड़े खर्च के पीछे
होनेवाला छोटा पर फजूलखर्च । जैसे, माल तो चोरी
गया ही था, तहकीकात कराने में १०० और पलेथन
लगा ।

क्रि० प्र०—देना ।—लगाना ।

पलेनर—संज्ञा पुं० [अ० प्लेन] काठ का एक वह छोटा चिपटा
टुकड़ा जिससे प्रेस में बसे हुए फरमे के उभरे हुए टाइपों को
बराबर करते हैं । (इसको फरमे के ऊपर रखकर काठ के
हथौड़े से कई बार ठेंकते हैं जिससे उभरे हुए अक्षर दब-
कर बराबर हो जाते हैं) ।

पलेना—संज्ञा पुं० दे० “पलेनर” ।

पलेव—संज्ञा पुं० [देश०] (१) पलिहर की वह सिंचाई या छिड़काव
जिसे बोने के पहले तरी की कमी के कारण करते हैं । हलकी
सिंचाई । पटकन । (२) जूस । शोरबा । (३) आटा या
पिसा हुआ चावल जो शोराबे में उसे गाढ़ा करने के लिये
डाला जाता है । जहाँ मसाला नहीं या कम डालना होता
है वहाँ इसको डालकर काम चलाते हैं ।

पलोटना—क्रि० स० [सं० प्रलेठन] (१) पैर दबाना या
दाबना । उ०—(क) तीन लोक नारी को कहियत जो
दुर्लभ बल बीर । कमला हू नित पायँ पलोटत हम तो
हैं आभीर ।—सूर । (ख) ते दोउ बंधु प्रेम जनु जीते ।
गुरु पद कमल पलोटत प्रीते ।—तुलसी । (२) दे०
“पल्लटना” ।

क्रि० अ० [हि० पलटना] कष्ट से लोटना पोटना । तड़फड़ाना ।
उ०—सेज पड़ी सफरी सी पलोटत ज्यों ज्यों घटा घन की
गरजै री ।—पद्माकर ।

पलोथन—संज्ञा पुं० दे० “पलेथन” ।

पलोचना*—क्रि० स० [सं० प्रलेठन] (१) पैर दबाना । पैर
मलना । उ०—चरण कमल नित रमा पलोचै । चाहत नेक
नैन भरि जोवै—सूर । (२) सेवा करना । किसी को प्रसन्न
करने का उपाय करना । उ०—प्रथमै चरण कमल को ध्यावै ।
तापु महात्म मन में लावै । गंगा परसि इनहि को भई ।

शिव शिवता इन ही सों लई । लक्ष्मी इन को सदा पलोवै ।
वारंवार प्रीति को जावै ।—सूर ।

पलोसना—क्रि० सं० [सं० स्पर्श ? हिं० परसना] (१) धोना ।
उ०—अडसठ तीरथ निंदक न्हाय । देह पलोसे मैल न जाय ।
—कबीर । (२) मीठी मीठी बातें कर के गाहक को दंग पर
लाना । तरह तरह की बातें करके गाहक या शिकार
फँसाना । (दलाल)

पलटन—संज्ञा स्त्री० दे० “पलटन” ।

पलटा—संज्ञा पुं० दे० “पलटा” ।

पलथी—संज्ञा स्त्री० दे० “पलथी” ।

पल्यक—संज्ञा पुं० [सं०] पलंग । खाट ।

पल्ययन—संज्ञा पुं० [सं०] घोड़े की पीठ पर बिठाने की गद्दी ।
पलान ।

पल्ल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) अन्न रखने का स्थान । बखार । कोठार ।
(२) पाल जिसमें पकने के लिये फल रखे जाते हैं ।

पल्लव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) नए निकले हुए कोमल पत्तों का
समूह या गुच्छा । रहनी में लगे हुए नए नए कोमल पत्ते
जो प्रायः लाल होते हैं । कोंपल । कल्ला । उ०—नव पल्लव
भये विटप अनेका ।— तुलसी ।

पर्या०—किशलय । किसलय । नवपत्र । प्रवाल । बल । किसल ।

विशेष—हाथ के वाचक शब्दों के साथ “पल्लव” का समास
होने से इसका अर्थ “उँगली” होता है जैसे, करपल्लव,
पाणिपल्लव ।

(२) हाथ में पहनने का कड़ा वा कंकण । (३) नृत्य में
हाथ की एक विशेष प्रकार की स्थिति । (४) विस्तार ।
(५) बल । (६) चपलता । चंचलता । (७) आल का
रंग । (८) पल्लव देश । (९) पल्लव देश का निवासी ।
(१०) दक्षिण का एक राजवंश जिसका राज्य किसी समय
उड़ीसा से लेकर तुंगभद्रा नदी तक फैला था । कुछ
लोगों का मत है कि ये पल्लव ही थे और कुछ लोग कहते
हैं कि यह स्वतंत्र राजवंश था । वराहमिहिर के अनुसार
पल्लव दक्षिण पश्चिम में बसते थे । अशोक के समय में
गुजरात में पल्लवों का राज्य था ।

पल्लवक—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की मछली ।

पल्लवग्राही—संज्ञा पुं० [सं०] किसी विषय का सम्यक् ज्ञान न
रखनेवाला । जो किसी विषय का पूरा या अथेष्ट ज्ञान न
रखता हो । रहस्य से अनभिज्ञ, केवल ऊपरी या मोटी
मोटी बातों का जाननेवाला ।

पल्लवदु—संज्ञा पुं० [सं०] अशोक का पेड़ ।

पल्लवना—क्रि० अ० [सं० पल्लव + ना (प्रत्य०)] पल्लवित होना । पत्ते
फँकना । पनपना । उ०—(क) सुमन बाटिका बाग बन
बिपुल बिहंगनिवास । फूलत फलत सुपल्लवत सोहत पुर चहुँ

पास—तुलसी ।

पल्लवाद्—संज्ञा पुं० [सं०] हरिण । हिरन ।

पल्लवाधार—संज्ञा पुं० [सं०] शाखा । डाली ।

पल्लवास्त्र—संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव ।

पल्लवाह्वय—संज्ञा पुं० [सं०] तालीस पत्र ।

पल्लवित—वि० [सं०] (१) पल्लवयुक्त । जिसमें नए नए पत्ते निकले
या लगे हों । (२) हरा भरा । लहलहाता । (३) विस्तृत ।
लंबा चौड़ा । (४) आल में रंगा हुआ । लाल के रंग में
रंगा हुआ । (५) रोमांचयुक्त । जिसके रोंगटे खड़े हों ।
उ०—कहि प्रनाम कछु कहन लिय पै भय शिथिल सनेह ।
थकित वचन लोचन सजल, पुलक-पल्लवित देह ।—तुलसी

पल्लवी—संज्ञा पुं० [सं० पल्लविन्] वृत्त । पेड़ ।

वि० जिसमें पल्लव हों । पल्लवयुक्त ।

पल्ला—क्रि० वि० [सं० पर या पार = दूर या छोर + ला (प्रत्य०)]

(१) दूर । (२) दूरी ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी कपड़े का छोर । आंचल ।
दामन । उ०—एक बड़े से कुत्ते ने जो इस बाग का
रखवाला था लपककर उसका पल्ला पकड़ लिया ।—
शिवप्रसाद ।

मुहा०—पल्ला छूटना = पीछा छूटना । हुटकारा मिलना । निष्कृति
मिलना । हुटकारा पाना । **पल्ला छुड़ाना** = पीछा छुड़ाना । निष्कृति
पाना । **पल्ला पकड़ना** = किसी के लिये किसी को पकड़ना । **पल्ला**
पसारना = किसी से कुछ माँगना । आंचल पसारना । दामन
फैलाना । **पल्ला लेना** = शोक करना । किसी की मृत्यु पर रोना ।
(स्त्रियाँ) **पल्ले पड़ना** = प्राप्त होना । मिलना । हाथ लगना ।
(किसीके) **पल्ले बाँधना** = (१) ब्याही जाना । हाथ पकड़ना ।
(२) जिम्मे किया जाना । **पल्ले बाँधना** = (१) जिम्मे लेना ।
(२) गाँठ बाँधना । (३) ब्याहना । हाथ पकड़ना । **पल्ले से**
बाँधना = जिम्मे लगाना । (२) ब्याह देना । हाथ पकड़ा देना ।
(२) दूरी । जैसे, इनका घर यहाँ से पल्ले पर है ।
उ०—दो सौ कोस के पल्ले तक बरफीले पहाड़ नजर
पड़ते हैं । (३) † पास । अधिकार में । जैसे, उसके पल्ले
क्या है ? (४) तरफ ।

संज्ञा पुं० [सं० पल्ल] (१) दुपल्ली टोपी का एक भस्म ।
दुपल्ली टोपी का आधा भाग । (२) चद्दर वा गोन
जिसमें अन्न बाँधकर ले जाते हैं ।

यौ०—पल्लेदार ।

(३) किवाड़ । पटल । (४) पहल । (५) तीन मन
का बोझ । (६) बौरा ।

संज्ञा पुं० [सं० पल] तराजू में एक ओर का टोकरा या
डलिया । पलड़ा ।

मुहा०—पल्ला झुकना = पत्त बलवान होना । पल्ला भारी होना =

पत्त बलवान होना । भारी पल्ला = (१) बलवान पत्त । (२)

ऐसा पत्त जिसपर बड़े बोझ हों ।

संज्ञा पुं० [सं० फल] कैची के दो भागों में एक भाग ।

वि० [फा० पल्ला] दे० “ परल्ला ” ।

पल्लिवाह—संज्ञा पुं० [सं०] लाल रंग की एक वास ।

पल्ली—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) छोटा गाँव । पुरवा । खेड़ा ।

(२) गाँव । (३) कुटी । (४) छिपकली ।

पल्लू—संज्ञा पुं० [हि० पल्ला] (१) आँचल । छोर । दामन ।

(२) चौड़ी मोटा । पट्टा ।

पल्ले *—वि० दे० (१) “ परल्ले ” । (२) दे० “ पल्ला ” ।

पल्लेदार—संज्ञा पुं० [हि० पल्ला + फा० दार] (१) वह मनुष्य

जो गल्ले के बाजार में दूकानों पर गल्ले को गाँठ में बाँध-
कर दूकान से मोल लेनेवालों के घर पर पहुँचा देता है ।

अनाज ढोनेवाला मजदूर । (२) गल्ले की दूकान पर वा
कोठियों में गल्ला तैलनेवाला आदमी । बया ।

पल्लेदारी—संज्ञा स्त्री० [हि० पल्लेदार + ई (प्रत्य०)] (१) गल्ले
की दूकान वा कोठियों से गल्ले का बोझ दूकान से उठा
कर खरीदार के यहाँ पहुँचाने का काम । पल्लेदार वा
काम । (२) अनाज की दूकान पर अनाज तैलने का
काम ।

पल्लौ—संज्ञा पुं० [सं० पल्लव] पल्लव ।

संज्ञा पुं० पल्ला । चहर या गोम जिसमें अनाज बाँधते हैं ।

उ०—पल्ल पल्लौ भरि इन लिया तेरा नाज उठाय । नैन
हमालन दै अरे दरस मजरी आय । —रसनिधि ।

पल्लव—संज्ञा पुं० [सं०] छोटा तालाव वा गड्ढा ।

पल्लवावास—संज्ञा पुं० [सं०] कलुआ ।

पव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) गोबर । (२) वायु । हवा ।

(३) अनाज की भूसी साफ करना । ओसाना । बरसाना ।

संज्ञा पुं० दे० “ पौ ” ।

पवई—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की चिड़िया जिसकी
छाती खैरे रंग की, पीठ खाकी और चोंच पीली होती है ।

पवन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वायु । हवा ।

मुहा०—पवन का भूसा होना = उड़जाना । न ठहरना । कुछ
न रहना । उ०—माधो जू सुनिये ब्रज व्योहार । मेरो

कह्यो पवन को भुस भयो गावत नंदकुमार ।—सूर ।

(२) कुम्हार का आवाँ । (३) जल । पानी ।

(४) श्वास । साँस । (५) अनाज की भूसी अलग

करना । (६) प्राण वायु । (७) बिष्णु । (८) पुरा-

णानुसार उत्तम मनु के एक पुत्र का नाम ।

पवन-अस्त्र—संज्ञा पुं० [सं० पवनास्त्र] वायु देवता का अस्त्र ।

कहते हैं इसके चलाने से बड़े बेग से वायु चलने लगती है ।

पवन-कुमार—संज्ञा पुं० [सं०] (१) हनुमान् । (२) भीमसेन ।

पवन-चक्की—संज्ञा स्त्री० [सं० पवन + हि० चक्की] हवा के जोर से
चलनेवाली चक्की या कल । वह चक्की या कल जो हवा के
जोर से चलती हो ।

विशेष—प्रायः चक्की पीसने अथवा कुँए आदि से पानी
निकालने के लिये यह उपाय करते हैं कि चलाई जानेवाली
कल का संयोग किसी ऐसे चक्कर के साथ कर देते हैं जो
बहुत ऊँचाई पर रहता है और हवा के सोंकों से बराबर
धूमता रहता है । उस चक्कर के धूमने के कारण नीचे की
कल भी अपना काम करने लगती है ।

पवन-चक्र—संज्ञा पुं० [सं०] चक्का खाती हुई जोर की हवा ।
चक्रवात । बवंडर ।

पवनज—संज्ञा पुं० [सं०] (१) हनुमान् । (२) भीमसेन ।

पवन-तनय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) हनुमान् । (२) भीम ।

पवन-नन्द—संज्ञा पुं० [सं०] (१) हनुमान् । (२) भीम ।

पवन-नन्दन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) हनुमान् । (२) भीमसेन ।

पवन-पति—संज्ञा पुं० [सं०] वायु के अधिष्ठाता देवता । उ०—
अखिल ब्रह्मांडपति तिहुं भुवनपति नीरपति पवनपति अग्रम
बानी । —सूर ।

पवन-परीक्षा—संज्ञा स्त्री० [सं०] ज्योतिषियों की एक क्रिया
जिसके अनुसार वे व्यास पूर्णों अर्थात् आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा
के दिन वायु की दिशा को देखकर ऋतु का भविष्य कहते हैं ।

पवन-पुत्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) हनुमान् । (२) भीमसेन ।

पवन-पूत *—संज्ञा पुं० दे० “ पवनपुत्र ” ।

पवन-वाण—संज्ञा पुं० [सं०] वह बाण जिसके चलाने से हवा
बेग से चलने लगे ।

पवन-वाहन—संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि ।

पवन-व्याधि—संज्ञा स्त्री० [सं०] वायुरोग ।

संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण के सखा उद्धव का एक नाम ।

पवन-संघात—संज्ञा पुं० [सं०] दो ओर से वायु का आकर
आरस में जोर से टकराना जो दुर्भिक्ष और दूसरे राजा के
आक्रमण का लक्षण माना जाता है ।

पवन-सुत—संज्ञा पुं० [सं०] (१) हनुमान् । (२) भीमसेन ।

पवना—संज्ञा पुं० [देश०] स्तरना । पौना । दे० “ स्तरना (२) ” ।

पवनात्मज—संज्ञा पुं० [सं०] (१) हनुमान् । (२) भीमसेन ।
(३) अग्नि ।

पवनाल—संज्ञा पुं० [सं०] पुनेरा नाम का धान्य ।

पवनाश-पवनाशन—संज्ञा पुं० [सं०] साँप ।

पवनाशनाश—संज्ञा पुं० [सं०] (१) गहड़ । (२) मोर ।

पवनाशी—संज्ञा पुं० [सं० पवनाशिव] (१) वह जो हवा खाकर
रहता हो । (२) साँप ।

पवनान्त्र—संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्रकार का अस्त्र । कहते हैं कि इसके चलाने से बहुत तेज हवा चलने लगती थी ।

पवनी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पाना = प्राप्त करना] गाँवों में रहनेवाली वह छोटी प्रजा या नीच जाति जो अपने निर्वाह के लिये क्षत्रियों ब्राह्मणों अथवा गाँव के दूसरे रहनेवालों से निश्चित रूप से कुछ पाती है । जैसे गऊ, दारी, भाट, धोबी, समार, चुड़िहारी आदि ।

संज्ञा स्त्री० दे० “पौना” ।

पवनेष्ट—संज्ञा पुं० [सं०] बकायन ।

पवनोंबुज—संज्ञा पुं० [सं०] फालसा ।

पवमान—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पवन । वायु । समीर । (२) स्वाहा देवी के गर्भ से उत्पन्न अग्नि के एक पुत्र का नाम । (३) गार्हपत्य अग्नि । (४) चंद्रमा का एक नाम । (५) ज्योतिषोम यज्ञ में गाया जानेवाला एक प्रकार का स्तोत्र ।

पवर—संज्ञा स्त्री० दे० “पैवर” ।

पवरिया—संज्ञा पुं० दे० “पौरिया” ।

पवरी—संज्ञा स्त्री० दे० “पैवर” ।

पवर्ग—संज्ञा पुं० [सं०] वर्णमाला का पाँचवाँ वर्ग जिसमें प, फ, ब, भ, म, ये पाँच अक्षर हैं । वर्णमाला में प से लेकर म तक के अक्षर ।

पवार—संज्ञा पुं० [देश०] (१) पमार । पवाड़ । चक्कड़ । (२) क्षत्रियों की एक शाखा विशेष । दे० “परमार” ।

पवारना—क्रि० स० [सं० प्रवारण] (१) फेंकना । गिराना । (२) खेत में छितराकर बीज बोना ।

पवाई—संज्ञा स्त्री० [हिं० पांव] (१) एक फर्द जूता । एक पैर का जूता । (२) चक्की का एक पाट ।

पवाड़—संज्ञा पुं० [देश०] चक्कड़ ।

पवाड़ा—संज्ञा पुं० दे० “पैवाड़ा” ।

पवाना—क्रि० स० [पाना (भोजन करना) का सकर्मक रूप] खिलाना । भोजन कराना । उ०—सहित प्रीति से अशन बनावै । परसि दूरि ते ताहि पवावै ।—रघुनाथ ।

पवार—संज्ञा पुं० दे० “परमार” ।

पवि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वज्र । (२) बिजली । गज । (३) वाक्य । (४) यूहर । सेहूँड़ । (५) मार्ग । रास्ता । (डि०)

पवित—संज्ञा पुं० [सं०] । मिर्च ।

वि० पवित्र । शुद्ध ।

पविताई—वि० स्त्री० [सं० पवित्रता] शुद्धि । सफाई । पवित्रता ।

पवित्तर—वि० दे० “पवित्र” ।

पवित्र—वि० [सं०] जो गंदा मैला या खराब न हो । शुद्ध ।

निर्मल । साफ ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) मंद । बारिश । वर्षा । (२) कुशा । (३) तांबा । (४) जल । (५) दूध । (६) वर्षण । रगड़ । (७) अर्घा । अर्घपात्र । (८) यज्ञोपवीत । जनेऊ । (९) घी । (१०) शहद । (११) कुशा की दनी हुई पवित्री जिसे आदिदि में अंगुलियों में पहनते हैं । (१२) विष्णु । (१३) महादेव । (१४) तिल का पेड़ । (१५) पुत्रजीवा का वृक्ष । (१६) कार्तिकेय का एक नाम ।

पवित्रक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुशा । (२) दौने का पेड़ । (३) गूलर का पेड़ । (४) पीपर का पेड़ । (५) जाल । (६) क्षत्रिय का यज्ञोपवीत ।

पवित्रता—संज्ञा स्त्री० [सं०] पवित्र या शुद्ध होने का भाव । शुद्धि । स्वच्छता । पावनता । सफाई । पाकीजगी ।

पवित्रध्यान—संज्ञा पुं० [सं०] जौ ।

पवित्रवति—संज्ञा स्त्री० [सं०] कौंच द्वीप की एक वनस्पति ।

पवित्रा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) तुलसी । (२) एक नदी का नाम । (३) हलदी । (४) अश्वत्थ । पीपल । (५) रेशम के दानों की दनी हुई रेशमी माला जो कुछ धार्मिक कृत्यों के समय पहनी जाती है । (६) श्रावण के शुक्ल पक्ष की एकादशी ।

पवित्रात्मा—वि० [सं० पवित्रात्मन्] जिसकी आत्मा पवित्र हो । शुद्ध अंतःकरणवाला । शुद्धात्मा ।

पवित्रारोपण—संज्ञा पुं० [सं०] श्रावणशुक्ल १२ को होनेवाला वैष्णवों का एक उत्सव जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण को सोने, चांदी, ताँबे या सूत आदि का यज्ञोपवीत पहनाया जाता है ।

पवित्रारोहण—संज्ञा पुं० दे० “पवित्रारोपण” ।

पवित्राश—संज्ञा पुं० [सं०] सन का बना हुआ डोरा, जो प्राचीन काल में भारत में बहुत पवित्र माना जाता था ।

पवित्रित—वि० [सं०] शुद्ध किया हुआ । निर्मल किया हुआ ।

पवित्री—संज्ञा स्त्री० [सं० पवित्र = कुश] कुश का बना हुआ एक प्रकार का झल्ला जो कर्मकांड के समय अनामिका में पहना जाता है ।

पविद—संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि का नाम ।

पविधर—संज्ञा पुं० [सं०] वज्र धारण करनेवाले, इंद्र ।

पवीनव—संज्ञा पुं० [सं०] अथर्ववेद के अनुसार एक प्रकार के असुर जिनके विषय में लोगों का विश्वास था कि ये स्त्रियों का गर्भ गिरा देते हैं ।

पवीर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) हल की फाल । (२) शख । हथियार । (३) वज्र ।

पवेरना—क्रि० स० [हिं० पवारना] छितराकर बीज बोना ।

पवेश—संज्ञा पुं० [हिं० पवेशना] वह बोआई जिसमें हाथ से छितराया फेंककर बीज बोया जाय।

पदय—संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञपात्र।

पशम—संज्ञा स्त्री० [फा० पशम] (१) बहुत बढ़िया और मुलायम ऊन जो प्रायः पंजाब, कश्मीर और तिब्बत की बकरियों पर से उतरता है और जिससे बढ़िया दुशाले और पशमीने आदि बनते हैं।

विशेष—कश्मीर, तिब्बत और नेपाल आदि ठंडे देशों की बकरियों में उनके रोएँ के नीचे की तह में और एक प्रकार के बहुत मुलायम चिकने और बारीक रोएँ होते हैं जिन्हें 'पशम' कहते हैं। इसका मूल्य बहुत अधिक होता है और प्रायः बढ़िया दुशाले, चादरें और जामेवार आदि बनाने में इनका उपयोग होता है। **विशेष**—दे० "ऊन"। (२) पुरुष या स्त्री की मूर्त्रेद्रिय पर के बाल। उपस्थ पर के बाल। शप्न। झट।

मुहा०—पशम उखाड़ना = (१) व्यर्थ समय नष्ट करना। (२) कुछ भी हानि या कष्ट न पहुँचा सकना। पशम न उखाड़ना = (१) कुछ भी काम न हो सकना। (२) कुछ भी कष्ट या हानि न होना। पशम पर मारना = बिल्कुल तुच्छ समझना। पशम न समझना = कुछ भी न समझना। पशम के बराबर भी न समझना।

(३) बहुतही तुच्छ वस्तु।

पशमीना—संज्ञा पुं० [फा०] (१) पशम। (२) पशम का बना हुआ कपड़ा या चादर आदि।

पशु—संज्ञा पुं० [सं०] (१) लांगूल विशिष्ट चतुष्पद जंतु। चार पैरों से चलनेवाला कोई जंतु जिसके शरीर का भार खड़े होने पर पैरों पर रहता हो। रेंगनेवाले, उड़नेवाले, जल में रहनेवाले जीवों तथा मनुष्य को छोड़ कोई जानवर, जैसे, कुत्ता, बिल्ली, घोड़ा, ऊँट, बैल, हाथी, हिरन, गीदड़, लोमड़ी, बंदर इत्यादि।

विशेष—भाषारत्न में लेम और लांगूल (रोएँ और पूँछ) वाले जंतु पशु कहे गए हैं—अमरकोश में पशु शब्द के अंतर्गत इन जंतुओं के नाम आए हैं—सिंह, बाघ, लकड़-बग्घा (चरग), सूअर, बंदर, भालू, गैंडा, भैंसा, गीदड़, बिल्ली, गोह, साही, हिरन (सब जाति के), सुरागाय, नीलगाय, खरहा, गंधविलाव, बैल, ऊँट, बकरा, मेढ़ा, गदहा, हाथी और घोड़ा। इन नामों में गोह भी है जो सरीसृप या रेंगनेवाला है। पर साधारणतः छिपकली गिर-गिट आदि को पशु नहीं कहते।

(२) जीवमात्र। प्राणी।

यौ०—पशुपति।

विशेष—शैवदर्शन और पाशुपत दर्शन में 'पशु' जीवमात्र

की संज्ञा मानी गई है।

(३) देवता। (४) प्रमथ। (५) यज्ञ। (६) यज्ञ उद्बंर।

पशुकर्म—संज्ञा पुं० [सं० पशुकर्मन्] यज्ञ आदि में पशु का वलिदान।

पशुका—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का हिरन।

पशुगायत्री—संज्ञा स्त्री० [सं०] तंत्र की रीति से वलिदान करने में एक मंत्र जिसका वलिपशु के कान में उच्चारण किया जाता है।

पशुचर्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पशु के समान विवेकहीन आचरण। जानवरों की सी चाल। (२) स्वेच्छाचार।

पशुता—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पशु का भाव। (२) जानवर-पन। मूर्खता और औद्धत्य।

पशुत्व—संज्ञा पुं० [सं०] पशु का भाव। जानवरपन।

पशुदा—संज्ञा स्त्री० [सं०] कुमार की अनुचरी एक मातृका देवी।

पशुधर्म—संज्ञा पुं० [सं०] पशुओं का सा आचरण। जानवरों का सा व्यवहार। मनुष्य के लिये निंद्य व्यवहार। जैसे, स्त्रियों का जिसके पास चाहे उसके पास गमन करना, पुरुषों का अग्रगत्या आदि का विचार न करना इत्यादि। (मनु०)

पशुनाथ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। (२) सिंह।

पशुप—संज्ञा पुं० [सं०] पशुपाल। गोपाल। पशुओं का पालने-वाला।

पशुपतास्त्र—संज्ञा पुं० [सं०] महादेव का शूलास्त्र।

पशुपति—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पशुओं का स्वामी। (२) जीवों का ईश्वर या मालिक। (३) शिव। महादेव।

विशेष—शैवदर्शन और पाशुपत दर्शन में जीवमात्र 'पशु' कहे गए हैं और सब जीवों के अधिपति 'शिव' ही पर-मेश्वर माने गए हैं।

(४) अग्नि। (५) ओषधि।

पशुपदवल—संज्ञा पुं० [सं०] कैवर्णमुस्तक। केवटी मोथा।

पशुपाल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पशुओं का पालनेवाला। (२) ईशान कोण में एक देश जहाँ के निवासी पशुपालन ही द्वारा अपना निर्वाह करते हैं। (बृहत्संहिता)

पशुपालक—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० पशुपालिका] पशु पालनेवाला।

पशुपाश—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पशुओं का बंधन। (२) शैव दर्शन के अनुसार जीवों के चार प्रकार के बंधन।

पशुपाशक—संज्ञा पुं० [सं०] एक रतिबंध का नाम।

पशुभाव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पशुत्व। जानवरपन। हैवान-पन। (२) तंत्र में मंत्र के साधन के तीन प्रकारों में से एक।

विशेष—साधक लोग तीन भाव से मंत्र का साधन करते हैं—दिव्य, वीर, और पशु। इनमें से प्रथम दो भाव उत्तम और पशुभाव निकृष्ट माना जाता है। जो लोग तंत्र के सब विधानों का (धृष्टा, आचार विचार आदि के कारण) पूरा पूरा पाठन नहीं कर सकते उनका साधन पशुभाव से समझा जाता है। तांत्रिकों के अनुसार वैष्णव पशु

भात्र से नारायण की उपासना करते हैं क्योंकि वे मद्य मांस आदि का संस्पर्श नहीं रखते। कुञ्जिका तंत्र में लिखा है कि जो रात को यंत्रस्पर्श और मंत्र का जप नहीं करते, जिन्हें बलिदान में संशय, तंत्र में संदेह और मंत्र में अक्षर-बुद्धि (अर्थात् ये अक्षर मात्र हैं इनसे क्या होगा) और प्रतिमा में शिलाज्ञान रहता है, जो देवता की पूजा बिना मांस के करते हैं, जो बार बार नहाया करते हैं उन्हें पशु-भावावर्तनी और अधम समझना चाहिए।

पशुयज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] एक यज्ञ। [आश्वला० श्रौतसूत्र]।

पशुराज-संज्ञा पुं० [सं०] सिंह।

पशुलंब-संज्ञा पुं० [सं०] एक देश का प्राचीन नाम।

पशुहरीतकी-संज्ञा स्त्री० [सं०] आन्नातक फल। आमड़े का फल।

पशु-संज्ञा पुं० दे० "पशु"।

पश्चात्-अव्य० [सं०] पीछे। पीछे से। बाद। फिर। अनंतर। संज्ञा पुं० [सं०] (१) पश्चिम दिशा। (२) शेष। अंत। (३) अधिकार।

पश्चात्कर्म-संज्ञा पुं० [सं० पश्चात् कर्मन्] वैद्यक के अनुसार वह कर्म जिससे शरीर के बल, बर्ण और अग्नि की वृद्धि हो। ऐसा कर्म प्रायः रोग की समाप्ति पर शरीर को पूर्व और प्रकृत अवस्था में लाने के लिये किया जाता है। भिन्न भिन्न रोगों के लिये भिन्न भिन्न प्रकार के पश्चात्कर्म होते हैं।

पश्चात्ताप-संज्ञा पुं० [सं०] वह मानसिक दुःख वा चिन्ता जो किसी अनुचित काम को करने के उपरान्त उसके अनौचित्य का ध्यान करके अथवा किसी उचित या आवश्यक काम को न करने के कारण होती है। अनुताप। अफसोस। पछतावा।

पश्चात्तापी-संज्ञा पुं० [सं० पश्चात्तापिन्] पछतावा करनेवाला।

पश्चानुताप-संज्ञा पुं० [सं०] पश्चात्ताप। अनुताप। पछतावा।

पश्चारुज-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार एह रोग जो कदल खानेवाली स्त्रियों का दूध पीनेवाले बालकों को होता है। इस रोग में बालकों की गुदा में जलन होती है, उनका मल हरे वा पीले रंग का हो जाता है और उन्हें बहुत तेज उबर आने लगता है।

पश्चिम-संज्ञा पुं० [सं०] वह दिशा जिसमें सूर्य अस्त होता है। पूर्व दिशा के सामने की दिशा। प्रतीची। वारुणा। पच्छिम।

वि० (१) जो पीछे से उतरा हुआ हो। (२) अंतिम। पिछला। अंत का।

पश्चिम घाट-संज्ञा पुं० दे० "पश्चिमी घाट"।

पश्चिमसव-संज्ञा पुं० [सं०] वह भूमि जो पश्चिम की ओर खुली हो।

२८०

पश्चिमयामकृत्य-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों के अनुसार रात के पिछले पहर का कृत्य या कर्त्तव्य।

पश्चिमवाहिनी-वि० [सं०] पश्चिम दिशा की ओर बहनेवाली। पश्चिम तरफ बहनेवाली (नदी आदि)।

पश्चिम सागर-संज्ञा पुं० [सं०] आयरलैंड और अमेरिका के बीच का समुद्र। एटलान्टिक महासागर।

पश्चिमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सूर्यास्त की दिशा। प्रतीची। वारुणी। पच्छिम।

पश्चिमाचल-संज्ञा पुं० [सं०] एक कल्पित पर्वत जिसके संबंध में लोगों की यह धारणा है कि अस्त होने के समय सूर्य उसी की आड़ में छिप जाता है। अस्ताचल।

पश्चिमी-वि० [सं०] (१) पश्चिम की ओर का। पश्चिमवाला। (२) पश्चिम-संबंधी। जैसे, पश्चिमी हिंदी।

पश्चिमी घाट-संज्ञा पुं० [हिं० पश्चिमी + घाट] बंबई प्रांत के पश्चिम ओर की एक पर्वतमाला जो विंध्य पर्वत की पश्चिमी शाखा की अंतिम सीमा से, समुद्र के किनारे किनारे टावंगेर की उत्तरी सीमा तक चली गई है। पश्चिम घाट।

पश्चिमोत्तर-संज्ञा पुं० [सं०] पश्चिम और उत्तर के बीच का कोना। वायुकोण।

पश्त-संज्ञा पुं० [लश०] खंभा।

पश्ता-संज्ञा पुं० [फा० पुश्ता] किनारा। तट। (लश०)

क्रि० प्र०—लगाना।—लगाना।

पश्तो-संज्ञा पुं० [देश०] (१) ३॥ साम्राज्यों का एक ताल जिसमें दो आघात होते हैं। इसके बोल इस प्रकार हैं। ति, तक, थि, धा, गो। (२) भारत की आर्यभाषाओं में से एक देशी भाषा जिसमें फारसी आदि के बहुत से शब्द मिल गए हैं। यह भाषा भारत की पश्चिमोत्तर सीमा से अफगानिस्तान तक बोली जाती है।

पश्म-संज्ञा पुं० [फा०] बकरी भेड़ आदि का रोया। ऊन। विशेष-दे० "ऊन", "पशम"।

पश्मीना-संज्ञा पुं० [फा० पश्मीनः] एक प्रकार का बहुत बढ़िया और मुलायम ऊनी कपड़ा जो कश्मीर और तिब्बत आदि पहाड़ी और ठंडे देशों में बहुत अच्छा और अधिकता से बनता है। दे० "पश्मीना"।

पश्यंती-संज्ञा स्त्री० [सं०] नाद की उस समय की अवस्था या स्वरूप जब कि वह मूलाधार से उठकर हृदय में जाता है। विशेष—भारतीय शास्त्रों में वाणी या सरस्वती के चार चक्र माने गए हैं—परा, पश्यंती, मध्यमा और वैश्वरी। मूलाधार से उठनेवाले नाद को "परा" कहते हैं; जब वह मूलाधार से हृदय में पहुँचता है तब "पश्यंती" कहलाता है; वहाँ से आगे बढ़ने और बुद्धि से युक्त होने पर उसका नाम "मध्यमा" होता है और जब वह कंठ में आकर सब

के सुनने योग्य होता है तब उसे "वैश्वरी" कहते हैं।
पश्यतोहर-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो आँखों के सामने से चीज
चुरा ले। जैसे, सुनार आदि।

पश्वयम-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का दैविक यज्ञ।

पश्व्याचार-संज्ञा पुं० [सं०] तंत्रिकों के अनुसार कामना और
संकल्पपूर्वक वैदिक रीति से देवी का पूजन। वैदिकाचार।

विशेष—तंत्रिकों के अनुसार दिव्य, वीर और पशु इन तीन
भावों से साधना की जाती है। इनमें से केवल अंतिम
ही कलियुग में विधेय है, और इसी पशु-भाव से पूजा
करने से सिद्धि होती है। पश्व्याचारी को नियम स्नान, संभ्या,
पूजन, श्राद्ध और विप्र कर्म करना चाहिए, सब को समान
भाव से देखना चाहिए, किसी का अन्न न लेना चाहिए,
सदा सत्य बोलना चाहिए, मद्य-मांस व्यवहार न करना
चाहिए, आदि आदि।

पश्व्याचारी-संज्ञा पुं० [सं० पश्व्याचारिन्] पश्व्याचार करनेवाला।
कामना और संकल्पपूर्वक, वैदिक रीति से देवी का
पूजन करनेवाला।

पश्विज्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का यज्ञ।

पश्वेकादशिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का यज्ञ जिसमें
ग्यारह देवताओं के उद्देश्य से पशुओं की बलि की जाती है।

पषा*—संज्ञा पुं० [सं० पत्त] (१) पंख। डैना। (२) तरफ।
ओर। (३) पत्त। पाख।

पषा-संज्ञा पुं० [सं० पत्त] दाढ़ी। डाढ़ी। श्रमश्रु। उ०—
रघुराज सुनत सखा से पषा पोंछि पाणि, त्रिसखा त्रिदूल
लिये चषा अरुणारे हैं।—रघुराज।

पषाण, पषान-संज्ञा पुं० दे० "पाषाण"।

पषारना*—क्रि० सं० [सं० प्रकाशन] धोना। उ०—जो प्रभु
पार अवसि गा चढ़ू। मोहि पद पदुम पषारन कहू।—
तुलसी।

पषान-संज्ञा पुं० दे० "पाषाण"।

पसंगा*—संज्ञा पुं० [फा० पसंग] (१) वह बोझ जिसे तराजू
के पलों का बोझ बराबर करने के लिये तराजू की जोती में
हलके पदों की तरफ बाँध देते हैं। पसंग। (२) तराजू
के दोनों पलों के बोझ का अंतर जिसके कारण उप तराजू
पर तौली जानेवाली चीज की तौल में भी उतना ही अंतर
पड़ जाता है।

वि० बहुत ही थोड़ा। बहुत कम।

मुहा०-पसंगा भी न होना = कुछ भी न होना। बहुत ही तुच्छ
होना। जैसे, यह कपड़ा उस धान का पसंगा भी नहीं है।

पसंती*—संज्ञा स्त्री० दे० "पश्यंती"। उ०—बानिहु चारि भाँति
की करी। परा पसंती मध्य वैश्वरी।—विश्राम।

पसंद-वि० [फा०] (१) रुचि के अनुकूल। मनोनीत। जो

अच्छा लगे। जैसे, अगर यह चीज आपको पसंद हो तो
आप ही ले लीजिए।

क्रि० प्र०—आना।—करना।—होना।

विशेष—इस शब्द के साथ जो यौगिक क्रियाएँ जुड़ती हैं वे
अकर्मक होती हैं। जैसे, (क) वह किताब मुझे पसंद
आ गई। (ख) हमें यह कपड़ा पसंद है।

संज्ञा स्त्री० अच्छा लगने की वृत्ति। अभिरुची। जैसे,
आपकी पसंद भी बिल्कुल निराली है।

पसंदा-संज्ञा पुं० [देश०] (१) मांस के एक प्रकार के कुचले
हुए टुकड़े। पारचे का गोश्त। (२) एक प्रकार का कबाब
जो उक्त प्रकार के मांस से बनता है।

पस-अव्य० [फा०] इसलिये। अतः। इस कारण।

पसई-संज्ञा स्त्री० [देश०] पहाड़ी राई जो हिमालय की तराई
और विशेषतः नेपाल तथा कमाऊँ में होती है। इसकी
पत्तियाँ गोभी के पत्तों की तरह होती हैं और इसकी
फलल जाड़े में तैयार होती है। बाकी बहुत सी बातों
में यह साधारण राई की ही तरह होती है।

पसकरण-वि० [हिं०] कायर। डरपोक।

पसघा*—संज्ञा पुं० दे० "पसंगा"।

पसताल-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की घास जो पानी के
आस पास अधिकता से होती है और जिसे पशु बड़े
चाव से खाते हैं। कहीं कहीं गरीब लोग इसके दानों या
बीजों का व्यवहार अनाज की भाँति भी करते हैं।

पसनी*—संज्ञा स्त्री० [सं० प्राशन] अन्नप्राशन नामक संस्कार
जिसमें बच्चों को प्रथम बार अन्न खिलाया जाता है। उ०—भै
पसनी पुनि छुयें मासा। बालक बढ़यो भानु सम
भासा।—रघुराज।

पसर-संज्ञा पुं० [सं० प्रसर] गहरी की हुई हथेली। एक
हथेली को सुकोड़ने से बना हुआ गड्ढा। करतलपुट।
आधी अंजली। जैसे, इस भिलमंगे को पसर भर
आटा दे दो।

† संज्ञा पुं० [सं० प्रसार] विस्तार। प्रसार। फैलाव।

संज्ञा पुं० [देश०] (१) रात के समय पशुओं को चराने
का काम।

क्रि० प्र०—चराना।

(२) आक्रमण। धावा। चढ़ाई।

पसरकटाली-संज्ञा स्त्री० [सं० प्रसरकटाली] भटकटैया। कटाई।

पसरन-संज्ञा स्त्री० [सं० प्रसारणी] गंधप्रसारणी। पसारनी।

पसरना-क्रि० अ० [सं० प्रसरण] (१) आगे की ओर बढ़ना।
फैलना। (२) विस्तृत होना। बढ़ना। (३) पैर फैलाकर
सोना। हाथ पैर फैलाकर लेटना।

संयो० क्रि०—जाना।

पसरहा-संज्ञा पुं० दे० "पसरहटा" ।

पसरहटा-संज्ञा पुं० [हिं० पसरी + हट = हट] वह हाट या बाज़ार जिसमें पंसारियों आदि की दूकानें हों। वह स्थान जहां वन औषधियां और मसाले आदि मिलते हैं।

पसराना-क्रि० सं० [सं० प्रसारण] पसराने का काम दूसरे से कराना। दूसरे को पसराने में प्रयुक्त करना।

पसरौहाँ-वि० [हिं० पसरना + औहाँ (प्रत्य०)] फैलनेवाला। जो पसरता है। जिसका पसरने का स्वभाव हो।

पसली-संज्ञा स्त्री० [सं० पशुका] मनुष्यों और पशुओं आदि के शरीर में छाती पर के पंजर की आड़ी और गोलाकार हड्डियों में से कोई हड्डी।

विशेष-साधारणतः मनुष्यों और पशुओं में गले के नीचे और पेट के ऊपर हड्डियों का एक पंजर होता है। मनुष्य में इस पंजर में दोनो ओर बारह बारह हड्डियां होती हैं। ये हड्डियां पीछे की ओर रीढ़ में जुड़ी रहती हैं और उसके दोनो ओर से निकल कर दोनो बगलों से होती हुई आगे छाती और पेट की ओर आती हैं। पसलियों के अगले सिरे सामने आकर छाती की ठीक मध्य रेखा तक नहीं पहुँचते बल्कि उससे कुछ पहले ही खत्म हो जाते हैं। ऊपर की सात सात हड्डियां कुछ बड़ी होती हैं और छाती के मध्य की हड्डी से जुड़ी रहती हैं। इसके बाद की नीचे की ओर की हड्डियां या पसलियां क्रमशः छोटी होती जाती हैं और प्रत्येक पसली का अगला सिरा अपने से ऊपरवाली पसली के नीचे के भाग से जुड़ा रहता है। इस प्रकार अंतिम या सब से नीचे की पसली जो कोख के पास होती है सब से छोटी होती है। नीचे की दोनो पसलियों के अगले सिरे छाती की हड्डी तक तो पहुँचते ही नहीं, साथही वे अपने ऊपर की पसलियों से भी जुड़े हुए नहीं होते। इन पसलियों के बीच में जो अंतर होता है उसमें मांस तथा पेशियां रहती हैं। सांस लेने के समय मांस पेशियों के सुकड़ने और फैलने के कारण ये पसलियां भी आगे बढ़ती और पीछे हटती दिखाई देती हैं। साधारणतः इन पसलियों का उपयोग हृदय और फेफड़े आदि शरीर के भीतरी कोमल अंगों को बाहरी आघातों से बचाने के लिये होता है। पशुओं, पक्षियों और सरीसृपों आदि की पसली की हड्डियों की संख्या में प्रायः बहुत कुछ अंतर होता है और उनकी बनावट तथा स्थिति आदि में भी बहुत भेद होता है। पसली की हड्डियों की सब से अधिक संख्या साँपों में होती है। उनमें कभी कभी दोनो ओर दो दो सौ हड्डियां होती हैं।

मुहा०-पसली फड़कना या फड़क उठना = मन में उरसाह देना। उमंग पैदा होना। जोश आना। पसलियां ढीली करना = बहुत

मारना पीटना। हड्डी पसली सोड़ना = दे० पसलियां ढीली करना।

धौ०-पसली का रोग = वच्चों का एक प्रकार का रोग जिसमें उनका सांस बहुत जोर से चलता है।

पस व पेश-संज्ञा पुं० दे० "पसोपेश"।

पसवा-संज्ञा पुं० [देश०] हलका गुलाबी रंग।

पसही-संज्ञा पुं० [देश०] तिन्नी का चावल।

पसा-संज्ञा पुं० [हिं० पसर] अंजली।

पसाई-संज्ञा स्त्री० [देश०] पसताल नाम की घास जो तालों में होती है।

पसाउ-वि० संज्ञा पुं० [सं० प्रसाद, प्रा० पसाव] प्रसाद। प्रसन्नता। कृपा। अनुग्रह। उ०-चारिउ कुअर बिआहि पुर गवने दशरथ राउ। भए मंजु मंगल सगुन गुर सुर संधु पसाउ।— तुलसी।

पसाना-क्रि० सं० [सं० प्रसावण, हिं० पसावना] (१) पकाया हुआ चावल गल जाने पर उसका बचा हुआ पानी निकालना या अलग करना। भात में से माँड़ निकालना। (२) किसी पदार्थ में मिला हुआ जल का अंश चुआ या बहा देना। पसेव निकालना या गिराना।

†क्रि० अ० [सं० प्रसन्न या प्रसन्न] प्रसन्न होना। खुश होना।

पसार-संज्ञा पुं० [सं० प्रसार] (१) पसरने की क्रिया या भाव। प्रसार। फैलाव। (२) विस्तार। लंबाई और चौड़ाई आदि।

पसारना-क्रि० सं० [सं० प्रसारण] फैलाना। आगे की ओर बढ़ाना। विस्तार करना। जैसे, किसी के आगे हाथ पसारना, बैठने की जगह पाकर पैर पसारना।

पसारी-संज्ञा पुं० [देश०] (१) तिन्नी का धान। पसवन। पसेही। (२) दे० "पंसारी"।

पसाव-संज्ञा पुं० [हिं० पसाना + आव (प्रत्य०)] वह जो पसाने पर निकले। पसाने पर निकलनेवाला पदार्थ। माँड़। पीच।

पसावन-संज्ञा पुं० [सं० प्रसावण] (१) किसी उबाली हुई वस्तु में का गिराया हुआ पानी। (२) माँड़। पीच।

पसिंजर-संज्ञा पुं० [अ० पसिंजर] (१) यात्री, विशेषतः रेल या जहाज का यात्री। (२) मुसाफिरो के सवार होने की वह रेल गाड़ी जो प्रत्येक स्टेशन पर ठहरती चलती है और जिसकी चाल डाकगाड़ी की चाल से कुछ धीमी होती है।

पसित-वि० [सं० पस = बोधना] बैधा या बाँधा हुआ।

पसीजना-क्रि० अ० [सं० प्र + सिद्, परिवर्तित, प्रा०, पसिज्ज]

(१) किसी घन पदार्थ में मिले हुए द्रव अंश का गरमी पाकर या और किसी कारण से रस रस कर बाहर निकलना।

रसना । जैसे पथर में से पानी पसीजना । (२) चित्त में दया उत्पन्न होना । दयात्र होना । जैसे, आप लाख बातें बनाइए, पर वे कभी न पसीजेंगे । उ०—दुखित धरनि लखि बरसि जल घनहु पसीजे आय । द्रवत न क्यों घनस्याम तुम नाम दयानिधि पाय ।

पसीना—संज्ञा पुं० [सं० प्रस्वेदन, हिं० पसीजना] शरीर में मिठा हुआ जल जो अधिक परिश्रम करने अथवा गरमी लगने पर सारे शरीर से निकलने लगता है । प्रस्वेद । स्वेद । श्रमवारि ।

विशेष—पसीना केवल स्तनपायी जीवों को होता है । ऐसे जीवों के सारे शरीर में त्वचा के नीचे छोटी छोटी ग्रंथियां होती हैं जिनमें से रोमकूपों में से होकर जल-कणों के रूप में पसीना निकलता है । रासायनिक विश्लेषण से सिद्ध होता है कि पसीने में प्रायः वेही पदार्थ होते हैं जो सूत्र में होते हैं । परंतु वे पदार्थ बहुत ही थोड़ी मात्रा में होते हैं । पसीने में मुख्यतः कई प्रकार के लवण, कुछ चर्बी और कुछ प्रोटीन (शरीरधातु) होती है । श्रम शक्त में व्यायाम या अधिक परिश्रम करने पर शरीर में अधिक गरमी के पहुँचने पर या लज्जा, भय, क्रोध आदि गहरे आवेगों के समय अथवा अधिक पानी पीने पर बहुत पसीना होता है । इसके अतिरिक्त जब सूत्र कम आता है तब भी पसीना अधिक होता है । औषधों के द्वारा अधिक पसीना लाकर कई रोगों की चिकित्सा भी की जाती है । शरीर स्वस्थ रहने की दशा में जो पसीना आता है, उसका न तो कोई रंग होता है और न उसमें दुर्गंध होती है । परंतु शरीर में किसी प्रकार का रोग हो जाने पर उसमें से दुर्गंध निकलने लगती है ।

क्रि० प्र०—आना ।—छूटना ।—निकलना ।—होना ।

मुहा०—पसीने पसीने होना = बहुत अधिक पसीना होना । पसीने से तर होना । गाढ़े पसीने की कमाई = कठिन परिश्रम से अर्जित किया हुआ धन । बड़ा मेहनत से कमाई हुई दौलत ।

पसु*—संज्ञा पुं० दे० “पशु” ।

पसुरी, पसुली*—संज्ञा स्त्री० दे० “पसन्नी” ।

पसू*—संज्ञा पुं० दे० “पशु” ।

पसूज—संज्ञा स्त्री० [देश०] वह सिलाई जिसमें सीधे तोपे भरे जाते हैं ।

पसूजना—क्रि० सं० [देश०] सीना । सिलाई करना ।

पसूता—संज्ञा स्त्री० [सं० प्रसूता] जिस स्त्री ने अभी हाल में बच्चा जना हो । प्रसूता । जूँच ।

पसूत—वि० [हिं०] कठोर ।

पसेडा—संज्ञा पुं० दे० “पसेव” ।

पसेरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पाँच + सेर + ई (प्रत्यय)] पाँच सेर का

बाट । पंसेरी ।

पसेव—संज्ञा पुं० [सं० प्रसाव] (१) वह द्रव पदार्थ जो किसी पदार्थ के पसीजने पर निकले । किसी चीज में से रसकर निकला हुआ जल । (२) पसीना । (३) वह तरल पदार्थ जो कच्ची अफीम को सुखाने के समय उसमें से निकलता है । इस अंश के निकल जाने पर अफीम सूख जाती है और खराब नहीं होती ।

पसेवा—संज्ञा पुं० [देश०] सोनारों की अँगीठी पर चारों ओर रहनेवाली चारों ईंटें ।

पसोपेश—संज्ञा पुं० [फा० पतवपेश] (१) आगा पीछा । सोच विचार । हिचक । दुविधा । जैसे, जरा से काम में तुम इतना पसोपेश करते हो ? (२) भला बुरा । हानि लाभ । ऊँच नीच । परिणाम । जैसे, इस काम का सब पसोपेश सोच लो तब इसमें हाथ लगाओ ।

पस्त—वि० [फा०] (१) हारा हुआ । (२) थका हुआ । (३) दबा हुआ ।

पस्त रुद—वि० [फा०] नाटा । वामन । बौना ।

पस्त हिम्मत—वि० [फा०] हिम्मत हारा हुआ । भीरु । डरपोक । कायर ।

पस्ताना—वि० अ० दे० “पछताना” ।

पस्तावा—संज्ञा पुं० दे० “पछतावा” ।

पस्ती—संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) नीचे होने का भाव । निचाई । (२) कमी । न्यूनता । अभाव ।

पस्तो—संज्ञा स्त्री० दे० “परतो” ।

पस्सर—संज्ञा पुं० [अ० परसर] जहाज का वह कर्मचारी जो खलासियों आदि को बेतन और रसद बाँटता है । जहाज का खजानची या भंडारी (लश्) ।

पस्सी बबूल—संज्ञा पुं० [हिं० पसी ? + हिं० बबूल] एक प्रकार का पहाड़ी विलायती बबूल जो जंगली नहीं होता बल्कि बाने और लगाने से होता है । हिमालय में यह १००० फुट की ऊँचाई तक बोया जा सकता है । प्रायः घेरा बनाने या बाड़ लगाने के लिये यह बहुत ही उत्तम और उपयोगी होता है । जाड़े में इसमें खूब फूल लगते हैं जिनमें से बहुत अच्छी सुगंध निकलती है । युरोप में इन फूलों से कई प्रकार के इत्र और सुगंधित द्रव्य बनाए जाते हैं ।

पहँसुल—संज्ञा स्त्री० [सं० प्रह्व = मुक्ता हुआ + शूल] हँसिया के आकार का तरकारी काटने का एक औजार ।

पह*—संज्ञा स्त्री० दे० “पौ” । उ०—प्रफुलित कमल गुँजार करत अलि पह फाटी कुमुदिनि कुँभिलानी ।—सूर ।

पहचनवाना—क्रि० सं० [हिं० पहचानना का प्रेरण०] पहचानने का काम कराना ।

पहचान—संज्ञा स्त्री० [सं० प्रत्यभिज्ञान वा परिचयन] (१) पहचानने

की क्रिया या भाव। यह ज्ञान कि यह वही व्यक्ति या वस्तु विशेष है जिसे मैं पहले से जानता हूँ। देखने पर यह जान लेने की क्रिया या भाव कि यह असुक्त व्यक्ति या वस्तु है। जैसे, गवाह मुलजिमें की पहचान न कर सका।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(२) भेद या विवेक करने की क्रिया या भाव। किसी का गुण, मूल्य या योग्यता जानने की क्रिया या भाव। जैसे, (क) तुम भले धुरे की पहचान नहीं कर सकते। (ख) जवाहिरात की पहचान जौहरी कर सकता है। (३) पहचानने की साक्ष्यी। किसी वस्तु से संबंध रखनेवाली ऐसी बातें जिनकी सहायता से वह अन्य वस्तुओं से अलग की जा सके। किसी वस्तु की विशेषता प्रकट करनेवाली बातें। लक्षण। निशानी। जैसे, (क) मुझे उनके मकान की पहचान बताओ तो मैं वहाँ जा सकता हूँ। (ख) अगर यह कमीज तुम्हारी है तो इसकी कोई पहचान बतलाओ। (४) पहचानने की शक्ति या वृत्ति। अंतर या भेद समझने की शक्ति। एक वस्तु को दूसरी वस्तु अथवा वस्तुओं से पृथक् करने की योग्यता। किसी वस्तु का गुण, मूल्य अथवा योग्यता समझने की शक्ति। विवेक। तमीज। जैसे, (क) तुममें छोटे खरे की पहचान नहीं है। (ख) तुममें आदमी की पहचान नहीं है। (५) जान पहचान। परिचय। (कव०)। जैसे, (क) हमारी उनकी पहचान बिलकुल नहीं है। (ख) तुम्हारी पहचान का कोई आदमी हो तो उससे मिलो।

पहचानना—क्रि० स० [हिं० पहचान] (१) किसी वस्तु या व्यक्ति को देखते ही जान लेना कि यह कौन व्यक्ति क्या वस्तु है। यह ज्ञान करना कि यह वही वस्तु या व्यक्ति विशेष है जिसे मैं पहले से जानता हूँ। चीन्हना। जैसे, (क) दिनों पीछे मिलने पर भी उसने मुझे पहचान लिया। (ख) पहचानो तो यह कौन फल है। (२) वस्तु या व्यक्ति के स्वरूप को इस प्रकार जानना कि वह जब कभी इंद्रिय-गोचर हो तब इस बात का निश्चय हो सके कि वह कौन अथवा क्या है। किसी वस्तु की शरीराकृति, रूप रंग अथवा शकल सूरत से परिचित होना। जैसे, (क) मैं उन्हें चार बरस से पहचानता हूँ। (ख) तुम इनका मकान पहचानते हो, तो चलकर बता न दो। (३) एक वस्तु का दूसरी वस्तु अथवा वस्तुओं से भेद करना। अंतर समझना या करना। बिलगाना। विवेक करना। तमीज करना। जैसे, असल और नकल को पहचानना जरा टेढ़ा काम है। (४) किसी वस्तु का गुण या दोष जानना। किसी की योग्यता या विशेषता से अभिज्ञ होना। किसी व्यक्ति के स्वभाव अथवा चरित्र की विशेषता को जानना। जैसे,

तुम्हारा उनका इतने दिनों तक साथ रहा, लेकिन तुम उन्हें पहचान न सके।

पहटना—क्रि० स० [सं० प्रवेष्ट, प्रा० पहेट = शिकार] भगा देने अथवा पकड़ लेने के लिये किसी के पीछे दौड़ना। पीछा करना। खदेड़ना।

क्रि० [सं० देश०] पना करना। धार को रगड़ कर संज करना।

पहटा—संज्ञा पुं० (१) दे० “पाटा”। (२) दे० “पेठा”।

पहन*—संज्ञा पुं० दे० “पहन” वा “पापाण”। उ०—(क) अदिन आय जो पहुँचे काज। पहन उड़ाय वहै सो बाज।—जायसी। (ख) अब की घड़ी चिनग तेहि छूटे। जरहिं पहाड़ पहन सब फूटे।—जायसी।

संज्ञा पुं० [फा०] वह दूध जो बच्चे को देखकर वात्सल्य भाव के कारण माँ की छातियों में भर आवे और टपकने को हो।

पहनना—क्रि० स० [सं० परिधान] (कपड़े अथवा गहने को) शरीर पर धारण करना। परिधान करना।

पहनवाना—क्रि० स० [हिं० ‘पहनना’ का प्रे०] किसी के द्वारा किसी को वस्त्र या आभूषण धारण कराना। किसी और के द्वारा किसी को कुछ पहनाना।

पहना—संज्ञा पुं० दे० “पनहा”।

संज्ञा पुं० [फा० पहन] वह दूध जो बच्चे को देखकर वात्सल्य भाव के कारण माँ के स्तनों में भर आया हो और टपकता सा जान पड़े।

क्रि० प्र०—फूटना।

पहनाई—संज्ञा स्त्री० [हिं० पहनना] (१) पहनने की क्रिया या भाव। जैसे, जरा आपकी पहनाई देखिए। (२) जो पहनाने के बदले में दिया जाय। पहनाने की मजदूरी या उजरत। जैसे, चूड़ी पहनाई।

पहनाना—क्रि० स० [हिं० पहनना] दूसरे को कपड़े, आभूषण आदि धारण कराना। किसी के शरीर पर पहनने की कोई चीज धारण कराना। दूसरे के शरीर पर यथास्थान रखना या ठहराना। जैसे, कुर्ता, अँगूठी, माला, जूता आदि पहनाना।

पहनावा—संज्ञा पुं० [हिं० पहनना] (१) ऊपर पहनने के मुख्य मुख्य कपड़े। सिले या बिन सिले सब कपड़े जो ऊपर पहने जायें। परिच्छद। परिधेय। पोशाक। (२) सिर से पैर तक के ऊपर पहनने के सब कपड़े। पाँचो कपड़े। सिरोंपाव।—(३) विशेष अवस्था, स्थान अथवा समाज में ऊपर पहने जानेवाले कपड़े। वे कपड़े जो किसी खास अवसर पर देश या समाज में पहने जाते हों। जैसे, दरबारी पहनावा, फौजी पहनावा, व्याह का पहनावा, काबुलियों

का पहनावा, चीनियों का पहनावा आदि । (४) कपड़े पहनने का ढंग या चाल । रत्नि अथवा रीति की भिन्नता के कारण विशेष देश या समाज के पहनावे की विशेषता ।

पहपट—संज्ञा पुं० [देश०] (१) एक प्रकार का गीत जो स्त्रियां गाया करती हैं । (२) शोरगुल । हल्ला । कोलाहल । (३) किसी की बदनामी का शोर । बदनामी या अपवाद का शोर । बदनामी की जोर शोर से चर्चा । (४) ऐसी बदनामी जो कानाफूसी द्वारा की जाय । गुप्त अपवाद या निंदा । किसी के दोष की ऐसी चर्चा जो उससे छिपा कर की जाय । (हुंदेल खंड तथा अवध) । (५) छल । ठगी । धोखा । फरेब ।

पहपटबाज—संज्ञा पुं० [हिं० पहपट + बाज] [संज्ञा पहपट-बाजी] (१) शोर गुल करने या करानेवाला । हल्ला करने या करानेवाला । फसादी । शराती । भगड़ालू । (२) छलिया । ठग । धोखेबाज । फरेबी ।

पहपटवाजी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पहपट + फा० वाजी] (१) भगड़ालूपन । कलहप्रियता । शोर गुल कराने का काम या आदत । (२) छलियापन । ठगी । मकारी ।

पहपटहाई—संज्ञा स्त्री० [हिं० पहपट + हाई (प्रत्य०)] पहपट करानेवाली । बात का बतंगड़ करनेवाली । भगड़ा कराने या लगानेवाली ।

पहर—संज्ञा पुं० [सं० प्रहर] (१) एक दिन का चतुर्थांश । अहोरात्र का आठवां भाग । तीन घंटे का समय । (२) समय । जमाना । युग । जैसे, (क) कलिकाल का पहर न है ? (ख) किसी का क्या दोप पहर ही ऐसा चढ़ा है ।

क्रि० प्र०—चढ़ना ।—लगना ।

पहरना—क्रि० सं० दे० “पहनना” ।

पहरा—संज्ञा पुं० [हिं० पहर] (१) किसी वस्तु या व्यक्ति के आसपास एक या अधिक आदमियों का यह देखते रहने के लिये बैठना (अथवा बैठाया जाना) कि वह निर्दिष्ट स्थान से हटने या भागने न पावे । रक्तनियुक्ति । रक्षा अथवा निगहबानी का प्रबंध । चौकी ।

यौ०—पहरा चौकी ।

मुहा०—पहरा बदलना = (१) नए रक्तक या रक्तकों की नियुक्ति करना । नया रक्तक नियुक्त कर पुराने को छुट्टी देना । रक्तक बदलना । (२) नए रक्तकों का नियुक्त होना । रक्षा का नया प्रबंध होना । रक्तक बदलना । **पहरा बैठना** = किसी वस्तु या व्यक्ति के आस पास रक्तक बैठाया जाना । चौकीदार नियुक्त होना । **पहरा बैठाना** = चौकीदार बैठाना । रक्तक नियुक्त करना । (२) किसी व्यक्ति या वस्तु के संबंध में यह देखते रहने की क्रिया कि वह निर्दिष्ट स्थान से हट न सके । निर्दिष्ट स्थान में किसी विशेष वस्तु या व्यक्ति की रक्षा

करने का कार्य । रखवाली । हिफाजत । निगहबानी । **यौ०—पहरा चौकी ।**

मुहा०—पहरा देना = रखवाली करना । निगहबानी करना । चौकी देना । **पहरा पड़ना** = रक्तक बैठा रहना । संतरी या चौकीदार का किसी स्थान पर खड़ा रहना । रक्षा का प्रबंध रहना । जैसे, उनके दरवाजे पर आठ पहर पहरा पड़ता है ।

(३) उतना समय जितने में एक रक्तक अथवा रक्तकदल को रक्षाकार्य करना पड़ता है । एक पहरेंदार या पहरेंदारों के एक दल का कार्यकाल । तैनाती । नियुक्ति । जैसे, अपने पहरें भर जाग लो फिर जो आवेगा वह चाहे जैसा करे ।

विशेष—एक व्यक्ति अथवा एक रक्तकदल की नियुक्ति पहले एक पहर के लिये होती थी । उसके बाद दूसरे व्यक्ति या दल की नियुक्ति होती थी और पहले को छुट्टी मिलती थी । उपर्युक्त प्रबंध, कार्य और कार्यकाल की “पहरा” संज्ञा होने का यही कारण जान पड़ता है ।

(४) वे रक्तक या चौकीदार जो एक समय में काम कर रहे हों । एक साथ काम करते हुए चौकीदार । रक्तकदल । गारद । (क०) । जैसे, (क) पहरा खड़ा है । (ख) पहरा आ रहा है । (५) चौकीदार का गश्त या फेरा । रात में निश्चित समय पर रक्तक का भ्रमण या चकर ।

क्रि० प्र०—पड़ना ।

(६) चौकीदार की आवाज । फेरे में चौकीदार का सोंतों को सावधान करने के लिये कोई वाक्य बार बार उच्च स्वर से कहना । जैसे, आज क्या बात है जो अब तक पहरा सुनाई न दिया ? (७) पहरें में रहने की स्थिति । किसी मनुष्य की ऐसी स्थिति जिसमें उसके इर्द गिर्द रक्तक या सिपाही तैनात हों । हिरासत । हवालात । नजरबंदी ।

मुहा०—पहरें में देना = हिरासत में देना । हवालात भेजना । नजर-बंद कराना । **पहरें में रखना** = हिरासत में रखना । हवालात में रखना । नजरबंद रखना । **पहरें में होना** = हिरासत में होना । नजरबंद होना । हवालात में होना । जैसे, आज चार रोज से वे बराबर पहरें में हैं ।

(८) * † समय । युग । जमाना । उ०—कहें कबीर सुनो भाई साथो ऐसा ‘पहरा’ आवेगा । वहन भांजी कोई न पूछे साली न्योत जिमावेगा ।—कबीर ।

संज्ञा पुं० [हिं० पावें + रा, पौर] पैर रखने का फल । आ जाने का शुभ या अशुभ प्रभाव । पौर । जैसे, बहू का पहरा अच्छा नहीं है, जब से आई है एक न एक आफत लगी रहती है । (स्त्रि०)

मुहा०—अच्छा पहरा = ऐसा पहरा जिसमें आरंभ किया हुआ कार्य शीघ्र पूरा हो जाय । **बुरा पहरा** = ऐसा पहरा जिसमें आरंभ किया हुआ कार्य जल्दी समाप्त न हो । **भारी पहरा** = बुरा पहरा । हलका पहरा = अच्छा पहरा ।

पहराना—क्रि० सं० दे० “पहनाना” ।

पहरावनी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पहरावना] वह पहनावा या पोशाक जो कोई व्यक्ति किसी पर प्रसन्न होकर उसे दान करे । वह पोशाक जो कोई बड़ा छोटे को दे । खिलौना ।

पहरावा—संज्ञा पुं० दे० “पहनावा” ।

पहरी—संज्ञा पुं० [सं० प्रहरी] (१) पहरेंदार । चौकीदार । रक्तक । पहरा देनेवाला । (२) एक जाति जिसका काम पहरा देना होता था ।

विशेष—आजकल इस जाति के लोग विविध व्यवसाय और काम धंधे में लगे हैं । परंतु प्राचीन समय में इस जाति के लोग विशेषतः पहरा देने का ही काम करते थे । गांव में रहनेवाले पहरी अब तक अधिकतर चौकीदार ही होते हैं । ये लोग सूअर भी पालते हैं । प्रायः चतुर्वर्ण के हिंदू इनका स्पर्श किया हुआ जल नहीं पीते ।

पहरावा—संज्ञा पुं० दे० “पहरा” ।

पहरू—संज्ञा पुं० [हिं० पहरा + ऊ (प्रत्यय)] पहरा देनेवाला । चौकीदार । रक्तक । पहरी । संतरी ।

पहलू—संज्ञा पुं० [फा० पहलू, सं० पटल] (१) किसी वस्तु के तीन या अधिक कोनों अथवा कोनों के बीच की समतल भूमि । किसी वस्तु की लंबाई चौड़ाई और मोटाई अथवा गहराई के कोनों अथवा रेखाओं से विभक्त समतल अंश । किसी लंबे चौड़े और मोटे अथवा गहरे पदार्थ के बाहरी फेलाव की बंटी हुई सतह पर की चौरस कटाव या बनावट । बगल । पहलू । बाजू । तरफ । जैसे, खंभे के पहलू, डिविया के पहलू आदि ।

क्रि० प्र०—काटना ।—तराशना ।—बनाना ।

यौ०—रहलदार । चौपहलू । अठरहलू ।

मुहा०—पहलू निकालना—पहलू बनाना । किसी पदार्थ के पृष्ठभाग या बाहरी सतह को तराश या छीलकर उसमें त्रिकोण, चतुष्कोण, षट्कोण आदि पैदा करना । पहलू तराशना ।

(२) धुती रुई या ऊन की मोटी और कुछ कड़ी तह या परत । जमी हुई रुई अथवा ऊन । रजाई तोशक आदि में भरी हुई रुई की परत । (३) रजाई तोशक आदि से निकाली हुई पुरानी रुई जो दबने के कारण कड़ी हो जाती है । पुरानी रुई । * (४) तह । परत । उ०—प्रायः के की सखी सों मंगाई फूल मालती के चादर सों ढांपे छ्वाड़ तोसक पहलू में ।—रघुनाथ ।

संज्ञा पुं० [हिं० पहलू] किसी कार्य, विशेषतः ऐसे कार्य का आरंभ जिसके प्रतिकार या जवाब में कुछ किए जाने की संभावना हो । छेड़ । जैसे इस मामले में पहलू तो तुमने ही की है, उनका क्या दोष ?

पहलूदार—वि० [हिं० पहलू + फा० दार] जिसमें पहलू हों । पहलू-

दार । जिसमें चारों ओर अलग अलग बंटी हुई सतहें हों ।

पहलूनी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पहलू] सोनारों का एक औजार जिसमें कोई को पहनाकर उसे गोठ करते हैं । यह लोहे का होता है ।

पहलवान—संज्ञा पुं० [फा०] [संज्ञा पहलवान] (१) कुश्ती लड़नेवाला बली पुरुष । कुश्तीबाज । बलवान और दाब पेच में अभ्यस्त । मल्ल । (२) बलवान तथा डील डौलवाला । वह जिसका शरीर यथेष्ट हृष्ट पुष्ट और बटसंयुक्त हो । मोटा तगड़ा और ठोस शरीर का आदमी । जैसे, वह तो खान्सा पहलवान दिखाई पड़ता है ।

पहलवानी—संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) कुश्ती लड़ने का काम । कुश्ती लड़ना । (२) कुश्ती लड़ने का पेशा । मल्ल-व्यवसाय । जैसे, उनके यहां तीन पीढ़ियों से पहलवानी होती आ रही है । (३) पहलवान होने का भाव । बल की अधिकता और दाब पेच आदि में कुशलता । शरीर, बल और दाब पेच आदि का अभ्यास । जैसे, मुकाबिला पड़ने पर सारी पहलवानी निकल जायगी ।

पहलूवी—संज्ञा पुं० [फा०] दे० “पहलूवी” ।

पहला—वि० [सं० प्रथम, प्रा० पहिलो] [स्त्री० पहली] जो क्रम के विचार से आदि में हो । किसी क्रम (देश या काल) में प्रथम गणना में एक के स्थान पर पड़नेवाला । एक की संख्या का पूरक । घटना, अवस्थिति, स्थापना आदि के विचार से जिसका स्थान सब से आगे हो । प्रथम । औवज़ । जैसे, पानीत का पहला युद्ध, ग्रंथमाला की पहली पुस्तक, पाँत का पहला आदमी आदि ।

† संज्ञा पुं० [हिं० पहलू] जमी हुई पुरानी रुई । पहलू ।

पहलू—संज्ञा पुं० [फा०] (१) शरीर में कांख के नीचे वह स्थान जहां पसलियाँ होती हैं । बगल और कमर के बीच का वह भाग जहां पसलियाँ होती हैं । कूच का अधोभाग । पार्श्व । पांजर ।

मुहा०—(किसी का) पहलू गरम करना—किसी के शरीर से विशेषतः प्रेयसी या प्रेमपात्र का प्रेमी के शरीर से सटकर बैठना । किसी के पहलू से अपना पहलू सटा या लगाकर बैठना । किसी के अति समीप बैठकर उसे सुखी करना । (किसी से) पहलू गरम करना—किसी को विशेषतः प्रेयसी या प्रेमपात्र को शरीर से सटा कर बैठना । किसी को अपनी बगल में इस प्रकार बैठाना कि उसका पहलू अपने पहलू से लगा रहे । मुहब्बत में बैठना । पहलू में बैठना—किसी के पहलू से अपना पहलू लगाकर बैठना । किसी का पहलू गरम करना—विलकुल सटकर बैठना । अति समीप बैठना । पहलू में बैठना—किसी के पहलू को अपने पहलू से लगाकर बैठना । विलकुल सटाकर बैठना । अति समीप बैठना । पहलू में रहना—पहलू में बैठा रहना । पहलू गरम करना । लग या सट कर रहना । आस पास रहना । अति समीप रहना ।

(२) किसी वस्तु का दायीं अथवा बायाँ भाग । पार्श्व भाग । बाजू । बगल । (३) सेना का दाहना या बायाँ भाग । सैन्यपार्श्व । फौज का पहलू । जैसे, वह अपने दो हजार सवारों के साथ शत्रु-सेना के दायें पहलू पर बाज की तरह दूट पड़ा ।

मुहा०—पहलू दबाना = (१) आक्रमणकारी सेना का विपत्ती की सेना अथवा नगर की एक ओर बराबर में पहुँच जाना या जा पड़ना । अपनी सेना को बढ़ाते हुए विपत्ती की सेना या नगर के दाहने या बाएँ पहुँच जाना । शत्रु की सेना या नगर पर एक ओर से आक्रमण कर देना । जैसे, सायंकाल से कुछ पहले ही उसने शाही फौज का पहलू जा दबाया । (२) अपनी सेना के एक पहलू को कुछ पीछे रखते और दूसरे को आगे करते हुए, चढ़ाई में आगे बढ़ना । एक पहलू को दबाते और दूसरे को उभरते हुए आगे बढ़ना । **पहलू बचाना** = (१) सुठभेड़ बचाते हुए निकल जाना । कतराकर निकल जाना । (२) किसी काम से जो चुराना । टाल जाना । जैसे, जब जब ऐसा मौका आता है तब तब आप पहलू बचा जाते हैं । पहलू पर होना = सहायक होना । मददगार होना । पत्त पर होना । जैसे, तुम्हारे पहलू पर आज कौन है ?

(४) करबट । बल । दिशा । तरफ । जैसे, (क) किसी पहलू चैन नहीं पड़ता । (ख) हर पहलू से देख लिया, चीज अच्छी है । (५) पड़ोस । आसपास । किसी के अति निकट का स्थान । पार्श्व ।

मुहा०—पहलू बसाना = किसी के समीप में जा रहना । पड़ोस आवाज करना । पड़ोस बनना ।

(६) [वि० पहलूदार] किसी वस्तु के पृष्ठदेश पर का समतल कटाव । पहल । जैसे, इस खंभे में आठ पहलू निकालो ।

क्रि० प्र०—तराशना ।—निकालना ।

(७) विचारणीय विषय का कोई एक अंग । किसी वस्तु के संबंध में उन बातों में से एक जिनपर अलग अलग विचार किया जा सकता हो अथवा करने का प्रयोजन हो । किसी विषय के उन कई रूपों में से एक जो विचार दृष्टि से दिखाई पड़े । गुण दोष, भलाई बुराई आदि की दृष्टि से किसी वस्तु के भिन्न भिन्न अंग । पक्ष । जैसे, (क) अभी आपने इस मामले के एक ही पहलू पर विचार किया है, और पहलुओं पर भी विचार कर लीजिए तब कोई मत स्थिर कीजिए । (ख) उठ चलने का सोचता था पहलू ।—नसीम । (८) संकेत । गुप्त सूचना । गूढ़ाशय । वाक्य का ऐसा आशय जो जान बूझकर गुप्त रखा गया हो और बहुत सोचने पर खुले । किसी वाक्य या शब्द के साधारण अर्थ से भिन्न और किंचित छिपा हुआ दूसरा

अर्थ । ध्वनि । व्यंग्यार्थ । उ०—छोटी बातें हैं और पहलू-दार । हाँ तेरे दिल में सीमवर है । —फोर्ड उर्दू कवि ।

पहले—अव्य० [हि० पहला] (१) आरंभ में । सर्व-प्रथम । आदि में । शुरू में । जैसे, यहाँ आने पर पहले आप किसके यहाँ गए ।

यौ०—पहले पहल ।

(२) देश क्रम में प्रथम । स्थिति में पूर्व । जैसे, उनका मकान मेरे मकान से पहले पड़ता है ।

(३) काल क्रम में प्रथम । पूर्व में । आगे । पेशतर । जैसे, (क) पहले नमकीन खा लो तब मीठा खाना । (ख) यहाँ आने के पहले आप कहाँ रहते थे । (३) बीते समय में । पूर्वकाल में । गत काल में । प्राचीन काल में । अगले जमाने में । जैसे, (क) पहले ऐसी बातें सुनने में भी नहीं आती थीं । (ख) अभी पहले के लोग अब कहाँ हैं ?

पहलेज—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का खरबूजा जो कुछ लंबोतरा होता है । यह स्वाद में गोल खरबूजे की अपेक्षा कुछ हीन होता है ।

पहले पहल—अव्य० [हि० पहले] पहली बार । सब से पहले । सर्वपूर्व । सर्वप्रथम । ओवल या पहली मरतबा । जैसे, जब मैंने पहले पहल आपके दर्शन किए थे तब से आप बहुत कुछ बदल गए हैं ।

पहलौठा—वि० दे० “पहलौठा” ।

पहलौठी—संज्ञा स्त्री० दे० “पहलौठी” ।

पहलौठा—वि० [हि० पहल + औठा (प्रत्य०)] [स्त्री० पहलौठी]

पहली बार के गर्भ से उत्पन्न (लड़का) । प्रथम गर्भजात ।

पहलौठी—संज्ञा स्त्री० [हि० पहलौठा] सब से पहली जनन-क्रिया । सब से पहला गर्भमोचन । प्रथम प्रसव । पहले पहल बच्चा जनना । जैसे, यह उनका पहलौठी का लड़का है ।

पहाड़—संज्ञा पुं० [सं० पहाण] [स्त्री० अस्प० पहाड़ी] (१) पत्थर चूने मिट्टी आदि की चट्टानों का ऊँचा और बड़ा समूह जो प्राकृतिक रीति से बना हो । पर्वत । गिरि ।

(विवरण के लिये दे० “पर्वत”)

मुहा०—पहाड़ उठाना = (१) भारी काम सिर पर लेना ।

(२) भारी काम पूरा करना । पहाड़ कटना = बहुत भारी और कठिन काम हो जाना । ऐसे काम का हो जाना जो असंभव जान पड़ता रहा हो । बड़ी भारी कठिनाई दूर होना । संकट कटना । पहाड़ काटना = असंभव काम कर डालना । बहुत भारी काम कर डालना । ऐसा काम कर डालना जिसके होने की बहुत कम आशा रही हो । संकट से पीछा छुड़ाना । पहाड़ दूटना या दूट पड़ना = अचानक कोई भारी आपत्ति आ पड़ना । महान संकट उपस्थित होना । एकाएक भारी

सुसज्जित आ पड़ना। जैसे, बैठे बैठाए बेचारे पर पहाड़ टूट पड़ा। पहाड़ से टकरा लेना = अपने से बहुत अधिक बलवान व्यक्ति से शत्रुता ठानना। बड़े से बड़ा करना। जबरदस्त से मुकाबिला करना।

(२) किसी वस्तु का बहुत भारी ढेर। किसी वस्तु का बहुत बड़ा समूह। पहाड़ के समान ऊँची राशि या ढेर। जैसे, बात की बात में वहाँ पुस्तकों का पहाड़ लग गया। वि० (३) पहाड़ की तरह भारी चीज़। बहुत बोझट चीज़। अतिशय गुरु वस्तु। जैसे, तुम्हें तो पाव भर का बोझ भी पहाड़ मालूम पड़ता है। (४) वह जिससे निस्तार न हो सके। वह जिसका कुछ अंत या ठौर ठिकाना न किया जा सके। वह जिसको समाप्त या शेष न कर सके। जैसे, (क) आज की रात हमारे लिये पहाड़ हो गई है। (ख) यह कन्या हमारे लिये पहाड़ हो गई है। (५) अति कठिन कार्य। दुष्कर काम। दुस्साध्य कर्म। जैसे, तुम तो हर एक काम ही को पहाड़ समझते हो।

पहाड़ा—संज्ञा पुं० [सं० प्रसार ?] किसी ग्रंथ के गुणनफलों की क्रमागत सूची या नकशा। किसी ग्रंथ के एक से लेकर दस तक के साथ गुणा करने के फल जो सिलसिले के साथ दिए गए हों। गुणनसूची। जैसे, दो का पहाड़ा, चार का पहाड़ा आदि।

क्रि० प्र०—पढ़ना।—लिखना।—सुनाना।

पहाड़ियाँ—वि० दे० “पहाड़ी”।

पहाड़ी—वि० [हिं० पहाड़ + ई (प्रत्य०)] (१) पहाड़ पर रहने या होनेवाला। जो पहाड़ पर रहता या होता हो। जैसे, पहाड़ी जातिवाँ, पहाड़ी मैना, पहाड़ी आलू। (२) पहाड़ संबंधी। जिसका संबंध पहाड़ से हो। जैसे, पहाड़ी नदी, पहाड़ी देश।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पहाड़ + ई (प्रत्य०)] (१) छोटा पहाड़। (२) पहाड़ के लोगों की गाने की एक धुन। (३) संपूर्ण जाति की एक प्रकार की रागिनी जिसके गाने का समय आधी रात है।

पहारा—संज्ञा पुं० दे० “पहाड़”।

पहारी—वि० दे० “पहाड़ी”।

संज्ञा स्त्री० दे० “पहाड़ी”।

पहिचान—संज्ञा स्त्री० दे० “पहचान”।

पहिचानना—क्रि० स० दे० “पहचानना”।

पहित, पहिती *—संज्ञा स्त्री० [सं० प्रहित = सलन] पकी हुई दाल। उ०—(क) दधि मधु मिठाई खीर पटरस विविध व्यंजन जे सवै। लाहू जलेबी पहित भात सुभांति सिद्ध किमे तवै।—पद्माकर। (ख) मूँग माष अरहर की पहिती चनक

कनक सम दारी जी।—सुभाष।

पहिनना—क्रि० स० दे० “पहनना”।

पहिनाना—क्रि० स० दे० “पहनाना”।

पहिनानावा—संज्ञा पुं० दे० “पहनानावा”।

पहियाँ—अव्य० दे० “पहँ”। उ०—कहै कवि तोष जब जैसो जै तो कीन्हों अब कहत न बतियाँ वै, तैसी हम पहियाँ।—तोष।

पहिया—संज्ञा पुं० [सं० परिधि ?] (१) गाड़ी, इंजन अथवा अन्य किसी कल में लगा हुआ लकड़ी या लोहे का वह चक्र जो अपनी धुरी पर घूमता है और जिसके घूमने पर गाड़ी या कल भी चलती है। गाड़ी या कल में वह चक्राकार भाग जो गाड़ी या कल के चलने में घूमते हैं। चक्र। चाका चक्र। (२) किसी कल का वह चक्राकार भाग जो अपनी धुरी पर घूमता है, प जिसके घूमने से समस्त कल को गति नहीं मिलती किंतु उसके द्वारा विशेष अथवा उससे संबद्ध अन्य वस्तु या वस्तुओं को मिलती है। चक्र।

विशेष—यद्यपि धुरी पर घूमनेवाले प्रत्येक चक्र को पहिया कहना उचित होगा तथापि बोल चाल में किसी चलनेवाली चीज अथवा गाड़ी के जमीन से लगे हुए चक्र को ही पहिया कहते हैं। यड़ों के पहिये और प्रेत या मिल के इंजन के पहिये आदि को जिनसे सारी कल को नहीं, उस के भाग विशेष अथवा उससे संबद्ध अन्य वस्तुओं को गति मिलती है, साधारणतः चक्रा कहने की चाल है। पहिया कल का अधिक महत्वपूर्ण अंग है। उसका उपयोग केवल गति देने ही में नहीं होता, गति का घटाना बढ़ाना, एक प्रकार की गति से दूसरे प्रकार की गति उत्पन्न करना आदि कार्य भी उससे लिए जाते हैं। पुट्टी, आरा, बेज़न, आवन, घुरा, खोरड़ा, तितुला, लाग, हाल आदि गाड़ी के पहिये के खास खास पुर्जे हैं। इन सब के संयोग से वह बनता और काम करता है। इनके विवरण मूल शब्दों में देखो।

पहिरना—क्रि० स० दे० “पहनना”।

पहिराना—क्रि० स० दे० “पहनाना”।

पहिरानावा—क्रि० स० दे० “पहनानावा”।

पहिरावनि, पहिरावनी—संज्ञा स्त्री० दे० “पहनाना (२)”।

उ०—(क) सनमाने सुर सकल दीन पहिरावनि।—तुलसी।

(ख) सब विचार पहिरावनि दीन्हों।—तुलसी। (ग) केशव कंस दिमान पित्तान बराबर ही पहिरावनि दीन्हों।—केशव।

पहिल *—वि० दे० “पहला”।

क्रि० वि० दे० “पहले”।

पहिला—वि० [हिं० पहला] [स्त्री० पहिली] (१) दे० “पहला”।

(२) प्रथम प्रसूता। पहले पहल व्याई हुई। उ०—पहिला खेरी दुहला गाय। त्यहला मैस पहलत जाय।—कोई कवि।

पहिले-अव्य० दे० “पहले” ।

पहिलो *†-वि० दे० “पहला” ।

पहिलौठा-वि० दे० “पहलौठा” ।

पहिलौठी-वि० दे० “पहलौठी” ।

संज्ञा स्त्री० दे० “पहलौठी” ।

पहीति*†-पंजा स्त्री० दे० “पहिती” उ०—पट भांति पहीति बनाय सची । पुनि पांच हो व्यंजन रीति रची।—केशव ।

पहुँच-संज्ञा स्त्री० [सं० प्रभूत = ऊपर गया हुआ, प्रा० पहुँच]

(१) किसी स्थान तक गति । किसी स्थान तक अपने को ले जाने की क्रिया या शक्ति । जैसे, टोपी बहुत ऊँचे पर है, मेरी पहुँच के बाहर है । (२) किसी स्थान तक लगातार फैलाव । किसी स्थल पर्यंत विस्तार । (३) समीप तक गति । गुजर । पैठ । प्रवेश । रसाई । जैसे, यदि उन तक आपकी पहुँच हो तो मेरी यह विनय अवश्य सुनाइए । (४) किसी वस्तु या व्यक्ति के कहीं पहुँचने की सूचना । प्राप्ति सूचना । प्राप्ति । रसीद । जैसे, कृपया पत्र की पहुँच लिखिएगा ।

क्रि० प्र०—भेजना ।—लिखना ।

(५) किसी विषय को समझने या ग्रहण करने की शक्ति । मर्म या आशय समझने की शक्ति । पकड़ । दौड़ । जैसे, यह विषय बुद्धि की पहुँच के बाहर है । (६) जानकारी का विस्तार । अभिज्ञता की सीमा । परिचय । प्रवेश । दखल । जैसे, इस विषय में इनकी अच्छी पहुँच है ।

पहुँचना-क्रि० अ० [सं० प्रभूत = ऊपर गया हुआ, प्रा० पहुँच + ना (प्रत्य०)] (१) एक स्थान से चलकर दूसरे स्थान में प्रस्तुत या प्राप्त होना । गति द्वारा किसी स्थान में प्राप्त या उपस्थित होना । जैसे, लड़कों का पाशाला में पहुँचना, घड़े के अंदर हाथ पहुँचना । उ०—सारंग ने सारंग गहो सारंग पहुँचो आय ।

संयो० क्रि०—जाना ।

मुहा०—पहुँचनेवाला = बड़े बड़े लोगों के यहाँ जानेवाला । जहाँ साधारण लोग नहीं जा सकते उन स्थानों में जानेवाला । जिसकी गति या प्रवेश बड़े बड़े स्थानों या लोगों में हो । पहुँचा हुआ = ईश्वर के निकट पहुँचा हुआ । ईश्वर की समीपता प्राप्त । सिद्ध । जैसे, वह पहुँचा हुआ सदात्मा है ।

(२) किसी स्थान तक लगातार फैलना । कहीं तक विस्तृत होना । जैसे, (क) वहाँ समुद्र पहाड़ के निकट तक पहुँचा है । (ख) मेरा हाथ वहाँ तक नहीं पहुँचता । (३) एक स्थिति या अवस्था से दूसरी स्थिति या अवस्था को प्राप्त होना । एक हालत से दूसरी हालत में जाना । जैसे, वे एक निर्धन किसान के लड़के होकर भी प्रधान मंत्री के पद पर पहुँच गए ।

संयो० क्रि०—जाना ।

(४) घुसना । पैठना । प्रविष्ट होना । समाना । जैसे, कपड़ों में सील पहुँचना । दिमाग में ठंडक पहुँचना । (५) किसी के अभिप्राय या आशय को जान लेना । किसी बात का मुख्य अर्थ समझ में आ जाना । गूढ़ अर्थ अथवा अंतरिक आशय को ज्ञात कर लेना । ताड़ना । मर्म जान लेना । समझना । जैसे, अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, मैं आपके मतलब तक पहुँच गया ।

संयो० क्रि०—जाना ।

(६) समझने में समर्थ होना । किसी विषय की कठिन बातों के समझने की सामर्थ्य रखना । दूर तक दूबना । जानकारी रखना । जैसे, (क) कानून में वे अच्छा पहुँचते हैं । (ख) इस विषय में वे कुछ भी नहीं पहुँचते ।

मुहा०—पहुँचनेवाला = पता या खबर रखनेवाला । जनकर । भेद या रहस्य जानने में समर्थ । छिपी बातों का ज्ञान रखनेवाला । जैसे, वह बड़ा पहुँचनेवाला है, उससे यह बात अधिक दिनों छिपी न रहेगी । पहुँचा हुआ = (१) जिसे सब कुछ मालूम हो । गुप्त और प्रकट सब का जानेवाला । अभिज्ञ । पता रखनेवाला । (२) दत्त । निपुण । उस्ताद ।

(७) आई अथवा भेजी हुई चीज किसी को मिलना । प्राप्त होना । मिलना । जैसे, खबर पहुँचना, सलाम पहुँचना । (८) परिणाम के रूप में प्राप्त होना । अनुभव में आना । अनुभूत होना । जैसे, (क) आपके वचनों से मुझे बड़ा सुख पहुँचा । (ख) आपकी दवा से उन्हें कोई लाभ नहीं पहुँचा । (९) किसी विषय में किसीके बराबर होना । समकक्ष होना । तुल्य होना । जैसे, किसी हिंदी कवि की कविता तुलसीदास की कविता को नहीं पहुँचती ।

पहुँचा-संज्ञा पु० [सं० प्रकोष्ठ अथवा हिं० पहुँचना] हाथ की कुहनी के नीचे का भाग । बाहु के नीचे का वह भाग जो जोड़ पर मोटा और आगे की ओर पतला होता है । अग्रबाहु और हथेली के बीच का भाग । कलाई । गद्दा । मणिवंध ।

मुहा०—पहुँचा पकड़ना = बलात् कुछ मांगने, पूछने अथवा तकाजा या झगडा करने के लिये किसीकी कलाई पकड़ना । वस्तुपूर्वक किसीसे कोई काम करने के लिये उसे रोक रखना । जैसे, जब तुमने किसीका कज नहीं खाया है तब तुम्हारा पहुँचा कौन पकड़ सकता है ।

पहुँचाना-क्रि० स० [हिं० पहुँचन का सकर्मक रूप] (१) किसी वस्तु या व्यक्ति को एक स्थान से ले जाकर दूसरे स्थान पर प्राप्त या प्रस्तुत कराना । किसी उद्दिष्ट स्थान तक गमन

कराना । उगस्थित कराना । लेजाना । जैसे, उनका नौकर मेरी किताब पहुँचा गया । (२) किसी के साथ जाना । किसी के साथ इस लिये जाना जिसे वह अकेला न पड़े । (शिष्टाचार के लिये भी ऐसा किया जाता है) उ०—जा आप ही चटकर मुझे वहाँ पहुँचा आइए ।

संयो० क्रि०—देना ।

(३) किसी को स्थिति-विशेष में प्राप्त कराना । किसी विशेष अवस्था तक ले जाना । जैसे, (क) उन्हें इस उच्च पद तक पहुँचानेवाले आपही हैं । (ख) उन्होंने चिकित्सा न करके अपने भाई को इस दुरवस्था को पहुँचा दिया ।

संयो० क्रि०—देना ।

(४) प्रविष्ट कराना । घुसाना । पैठाना । जैसे, आँखों में तली पहुँचाना । बरतन की पेंदी में गरमी पहुँचाना । (५) कोई चीज लाकर या ले जाकर किसी को प्राप्त कराना । जैसे, संध्या तक यह खबर उहाँ पहुँचा देना । (६) परिणाम के रूप में प्राप्त कराना । अनुभव कराना । जैसे, उन्होंने अपने उपदेशों से मुझे बड़ा लाभ पहुँचाया । आपकी लापरवाही ने उहाँ बहुत हानि पहुँचाई । (७) किसी विषय में किसी के बराबर कर देना । समकक्ष कर देना । समान बना देना ।

संयो० क्रि०—देना ।

पहुँची—संज्ञा स्त्री० [हिं० पहुँचा] हाथ की कलाई पर पहनने का एक आभूषण जिनमें बहुत से गोठ या कँगरेदार दाने कई पंक्तियों में गूँथे हुए होते हैं । उ०—नग नूपुर औ पहुँची कर कंजन, मंजु बनी बनमाळ हिमे । तुलसी ।

पहुनई—संज्ञा स्त्री० दे० “पहुनाई” ।

पहुना—संज्ञा पुं० दे० “पाहुना” ।

पहुनाई—संज्ञा स्त्री० [हिं० पहुना + ई (प्रत्य०)] (१) किसी के पाहुने होने का भाव । अतिथि रू में कहीं जाना या आना । मेहमान होकर जाना या आना । उ०—तारवार पहुनई ऐहैं राम लखन दोउ भाई ।—तुलसी ।

क्रि० प्र०—आना ।—जाना ।

मुहा०—पहुनाई करना = दूसरों के यहाँ खते फिरना । अतिथि पर चैन करना । भोजन या दावते उठाना । जैसे, आनकल तो तुम खूब पहुनाई करते हो ।

(२) आए हुए व्यक्ति का भोजन पान आदि से सत्कार करना । अतिथि-प्रस्कार । मेहमानदारी । खातिर तवाजा । उ०—(क) घर गुरु गृह प्रियसदन सासुरे भइ जहँ जहँ पहुनाई—तुलसी । (ख) विविध भाँति होइहि पहुनाई ।—तुलसी ।

पहुनी—संज्ञा स्त्री० दे० “पहुनाई” ।

पहुनी—संज्ञा स्त्री० [देश०] वह पत्थर जो पल्ला या धरन आदि चीरते समय चिरे हुए अंश के बीच में इस लिये दे देते हैं कि आरे के चलाने के लिये यथेष्ट अंतर रहे ।

पहुप*—संज्ञा पुं० दे० “पुष्प” ।

पहुम, पहुमि, पहुमी—संज्ञा स्त्री० दे० “पुहमी” ।

पहुरी—संज्ञा स्त्री० [देश०] वह चिपटी टांकी जिससे गढ़े हुए पत्थर चिकने किए जाते हैं । मरानी ।

पहेरी—संज्ञा स्त्री० दे० “पहेली” ।

पहेली—संज्ञा स्त्री० [सं० प्रहेलिका] (१) ऐसा वाक्य जिसमें किसी वस्तु का लक्षण बुना कियाकर अथवा किसी आनक रूप में दिया गया हो और उसी लक्षण के सहारे उसे बूझने अथवा उसका नाम बताने का प्रस्ताव हो । किसी वस्तु या विषय का ऐसा वर्णन जो दूसरी वस्तु या विषय का वर्णन जान पड़े और बहुत सोच विचार से उसपर घटाया जा सके । तुलसीबल ।

क्रि० प्र०—बुझाना ।—बूझना ।

विशेष—पहेलियों की रचना में प्रायः ऐसा करते हैं कि जिस विषय की पहेली बनानी होती है उसके रूप, गुण कार्य आदि को किसी अन्य वस्तु के रूप, गुण, कार्य बनाकर वर्णन करते हैं जिससे सुननेवाले को थोड़ी देर तक वही वस्तु पहेली का विषय मानूस होती है । पर समस्त लक्षण और और जगह घटाने से वह अवश्य समझ सकता है कि इसका लक्ष्य कुछ दूसरा ही है । जैसे, पेड़ में लगे हुए थुड़े की पहेली है—“हरी थी मन भरी थी । राजा जी के बाग में दुशाला ओढ़े खड़ी थी” । श्रावण मास से यह किसी स्त्री का वर्णन जान पड़ता है । कभी कभी ऐसा भी करते हैं कि कुछ प्रसिद्ध वस्तुओं की प्रसिद्ध विशेषताएँ पहेली के विषय की पहचान के लिये देते हैं और साथ ही वह भी बता देते हैं कि वह इन वस्तुओं में से कोई नहीं है । जैसे, धागे से संयुक्त सुई की पहेली—“एक नयन वयस नहीं, बिल चाहत नहीं नाग । घटै बढ़ै नहीं चंद्रमा, चढ़ी रहत सिर पाग ।” कुछ पहेलियों में उनके विषय का नाम भी रख देते हैं, जैसे “देखी एक अनोखी नारी । गुण उसमें एक सब से भारी । पड़ी नहीं यह अचल आवै । सरना जीना तुरत बतावै ।” इस पहेली का उत्तर नारी है जो पहेली के नारी शब्द के रूप में वर्तमान है । जिन शब्दों द्वारा पहेली बनानेवाला उसका उत्तर देता है वे द्व्यर्थक होते हैं जिसमें दोनों ओर लगकर बूझने की चेष्टा करनेवालों को बहका सकें । अलंकार शास्त्र के आचार्यों ने इस प्रकार की रचना को एक अलंकार माना है जिसका विवरण “प्रहेलिका” शब्द

में मिलेगा।

बुद्धि के अनेक व्यापारों में पहली बुझना भी एक अच्छा व्यापार है। बलकों को पहलियों का बड़ा चाव होता है। इससे मनोरंजन के साथ उनकी बुद्धि की सामर्थ्य भी बढ़ती जाती है। युवक प्रौढ़ और वृद्ध भी अकसर पहलियाँ बुझ बुझकर अपना मनोरंजन करते हैं।

(२) कोई बात जिसका अर्थ न खुलता हो। कोई घटना या कार्य जिसका कारण, उद्देश्य आदि समझ में न आते हों। चुनाव फिराव की बात। गूढ़ अथवा दुर्ज्ञेय व्यापार। कोई घटना जिसका भेद न खुलता हो। समझ में न आने-वाला विषय। समस्या। जैसे, (क) तुम्हारी तो हर एक बात ही पहली होती है। (ख) कठ रात की घटना सबसुव ही एक पहली है।

मुहा०—पहेली बुझाना—अपने सतत्व को घुमा फिरा कर कहना।

किसी अभिप्राय को ऐसी शब्दावली में कहना कि सुननेवाले को उसके समझने में बहुत हैरान होना पड़े। चक्रवर्त बात करना।

जैसे, तुम्हारी तो आदत ही पहली बुझाने की पड़ गई है, सीधी बात कभी मुँह से निकलती ही नहीं।

पहलव—पंजा पु० [सं०] (१) एक प्राचीन जाति। प्रायः प्राचीन पारसी या ईरानी।

विशेष—ननुस्मृति, रामायण, महाभारत आदि प्राचीन पुस्तकों में जहाँ जहाँ, खश, यवन, शक, कांबोज, बाह्लीक, पारद आदि भारत के पश्चिम में बसनेवाली जातियों का उल्लेख है वहाँ वहाँ पहलवों का भी नाम आया है। उपर्युक्त तथा अन्य संस्कृत ग्रंथों में 'पहलव' शब्द सामान्य रीति से पारस निवासियों या ईरानियों के लिये व्यवहृत हुआ है। मुसलमान ऐतिहासिकों ने भी इनको प्राचीन पासीकों का ही नाम माना है। प्राचीन काल में पारस के सरदारों का 'पहलवान' कहलाना भी इस बात का समर्थक है कि 'पहलव' पारसीकों का ही नाम है। शाशानीय सम्राटों के समय में पारस की प्रधान भाषा और लिपि का नाम पहलवी पड़ चुका था। तथापि कुछ यूरोपीय इतिहासविद् 'पहलव' सारे पारस निवासियों की नहीं केवल पार्थिया निवासियों—

पारदों—की आग्रंश संज्ञा मानते हैं। पारस के कुछ पहाड़ी स्थानों में प्राप्त शिलालेखों में 'पार्थव' नाम की एक जाति का उल्लेख है। डा० हाग आदि का कहना है कि यह 'पार्थव' पार्थियंस (पारदों) का ही नाम हो सकता है और 'पहलव' इसी पार्थव का वैसा ही फारसी अपभ्रंश है जैसा आवेस्ता के मिथ्र (वै० मित्र) का 'मिहिर'। अपने मत की पुष्टि में ये लोग दो प्रमाण और भी देते हैं। एक यह कि अरमनी भाषा के ग्रंथों में लिखा है कि अरसक (पारद) राजाओं की राज-उपाधि 'पहलव' थी। दूसरा यह कि

पार्थिया वासियों को अपनी शूर वीरता और युद्धप्रियता का बड़ा घमंड था, और फारसी के 'पहलवान' और अरमनी के 'पहलवीय' शब्दों का अर्थ भी शूरीर और युद्धप्रिय है। रही यह बात कि पारसवालों ने अपने आपके लिये यह संज्ञा क्यों स्वीकार की और आर पारस वालों ने उनका इसी नाम से क्यों उल्लेख किया। इसका उत्तर उपर्युक्त ऐतिहासिक यह देते हैं कि पार्थिया वालों ने पाँच सौ वर्ष तक पारस में राज्य किया और रोमनों आदि से युद्ध करके उन्हें हराया। ऐसी दशा में पहलव शब्द का पारस से इतना घनिष्ठ संबंध हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। संस्कृत पुस्तकों में सभी स्थलों पर पारद और पहलव को अलग अलग दो जातियाँ मानकर उनका उल्लेख किया है। हरिवंश पुराण में महाराज सगर के द्वारा दोनों की बेगमूषा अलग अलग निश्चिन किए जाने का वर्णन है। पहलव उनकी आज्ञा से रथश्रुधरी हुए और पारद मुक्तकेश रहने लगे। ननुस्मृति के अनुसार 'पहलव' पारद, शक आदि के समान आदिन क्षत्रिय थे और ब्राह्मणों के अर्चन के कारण उन्हीं की तरह संस्कारअष्ट हो गए। हरिवंश पुराण के अनुसार महाराज सगर ने इन्हें बलात् क्षत्रियधर्म से पति कर स्वेच्छ बनाया। इसी कथा यों है कि हैहयवंशी क्षत्रियों ने सगर के पिता वाहु का राज्य छीन लिया था। पारद, पहलव, यवन, कांबोज आदि क्षत्रियों ने हैहयवंशियों की इस काम में सहायता की थी। सगर ने समर्थ होने पर हैहयवंशियों को हराकर पिता का राज्य वापस लिया। उनके सहायक होने के कारण पहलव आदि भी उनके कोषभाजन हुए। ये लोग राणा सगर के भय से भागकर उनके गुरु वशिष्ठ की शरण गए। वशिष्ठ ने इन्हें अभय दान दिया। गुप्त का वचन रखने के लिये सगर ने इनके प्राण तो छोड़ दिए पर धर्म ले लिया, इन्हें क्षात्रधर्म से बहिष्कृत करके स्वेच्छत्व को प्राप्त करा दिया। वात्सीकीय रामायण के अनुसार 'पहलवों' की उत्पत्ति वशिष्ठ की गौ शबला के हुंभारव (रंभाने) से हुई है। विष्णुमित्र के द्वारा हरी जाने पर उसने वशिष्ठ की आज्ञा से लड़ने के लिये जिन अनेक क्षत्रिय जातियों को अपने शब्द से श्राव किया, पहलव उनमें पहले थे।

(२) एक प्राचीन देश जो पहलव जाति का निवास-स्थान था। वर्तमान पारस या ईरान का अधिकांश।

विशेष—फारसी कोशों में 'पहलव' प्राचीन पारस के अंतर्गत एक प्रदेश तथा नगर का नाम है। कुछ लोगों के मत से इस्फाहान, राय, हमदान, निहाबंद और आजराबाय-जान का सम्मिलित भूभाग ही उस काल का पहलव प्रदेश है। पर ऐसा होने से 'पहलव' को मीडिया या माद का ही नामा-

तर मानना पड़ेगा। परन्तु किसी भी पारसी या अराब इति-
हास लेखक ने उसका पहलव के नाम से उल्लेख नहीं किया
है। पारद और पहलव को एक कहनेवाले युरोपीय विद्वान
'पहलव' को पार्थिया प्रदेश का ही फारसी नाम मानते हैं।
संस्कृत पुस्तकों में जिन तरह जाति के अर्थ में पहलव का
साधारणतः पारस निवासियों के लिये प्रयोग हुआ है उसी
तरह देश के अर्थ में भी मोटे प्रकार से पारस के लिये ही
उसका व्यवहार हुआ है।

पहलवी-संज्ञा स्त्री० [फा० अथवा सं० 'पहलव'] फारस या ईरान की
एक प्राचीन भाषा। अति प्राचीन पारसी या ज़ेद अवस्था
की भाषा और आधुनिक फारसी के मध्यवर्ती काल की
फारस की भाषा।

विशेष-पारसियों के प्राचीन धार्मिक और ऐतिहासिक ग्रंथ इसी
भाषा में मिलते हैं। उनकी मूलधर्म पुस्तक 'जेद अवस्ता'
की टीका अनुवाद आदि के रूप में जितनी प्राचीन पुस्तकें
मिलती हैं सब इसी भाषा में हैं। शाशान वंशीय सम्राटों
के समय में यही राज काज की भाषा थी। अतः इसकी
उत्पत्ति का काल पारद सम्राटों का शासन काल हो
सकता है। इस भाषा में सेमिटिक शब्दों की बहुत भरमार
है। शासनीय काल के पहले की पहलवी में ये शब्द और भी
अधिक हैं। इसमें व्यवहृत प्रायः सप्रस्त सर्वनाम अव्यय,
क्रियापद बहुत से क्रियाविशेषण और संज्ञापद अन्तर्गत या
शामी हैं। इसके लिखने की दो शैलियाँ थीं। एक में शामी
शब्दों की विभक्तियाँ भी शामी होती थीं; दूसरी में शामी
शब्दों के साथ खारदीय विभक्ति लगती थी। इन दोनों
रीतियों में यह भी प्रभेद था कि पहलवी में क्रियापदों का
कोई रूपांतर न होता था परन्तु दूसरी में उनके साथ
अनेक प्रकार के पारसी प्रत्यय जोड़े जाते थे। पहलवी
ग्रंथसमूह मुख्यतः दो भागों में विभक्त हैं। एक भाग
अवस्ता शास्त्र का अनुवाद मात्र है। दूसरे भाग के ग्रंथों में
धर्म की व्याख्या और ऐतिहासिक उपाख्यान हैं। शामी
शब्दों की अधिकता और विशेषतः उपर्युक्त शैलीभेद के
कारण कुछ विद्वान यह मानने लगें हैं कि पहलवी किसी
काल में किसी जाति की बोल चाल की भाषा नहीं थी,
पारस वालों ने जब शामी (पहलवी, अरब) लोगों से लिपि विद्या
सीखी और शामी वर्षमाळा के द्वारा वे अपनी भाषा लिखने
लगे, उस समय उन लोगों ने अपनी भाषा के उन सब
शब्दों को लिखने का प्रयास नहीं किया जिनके समानार्थक
शब्द उन्हें शामी भाषा में मिल सके। ऐसे शब्द उन्होंने
शामी के ही उग्रों के लिये उठाकर अपनी भाषा में धर
लिए। पर वे लिखते तो थे शामी शब्द और पढ़ते उस
शब्द का समानार्थक अपनी भाषा का शब्द। जैसे, वे लिखते

'मालिक' जिसका अर्थ शामी में 'राजा' है और पढ़ते थे
अपनी भाषा का 'शाह' शब्द। बहुत दिनों तक इस प्रकार
लिखते पढ़ते रहने से जिस विलक्षण संकर भाषा का गठन
हुआ वही उक्त विद्वानों की सम्मति में पहलवी है।

पह्लिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] जलकुम्भी।

पाँ*-संज्ञा पुं० [सं० पाद, हिं० पाँव] पैर। पाँव। उ०- (क)
प्राणपिकारी के पाँ पर कै करि सँह गरे की गरे लपटाने।-
पद्माकर। (ख) सभा समेत पाँ परे विशेष पूजियो सबै।-
केशव।

पाँइ*-संज्ञा पुं० [सं० पार] पैर। पाँव।

पाँइता*-संज्ञा पुं० दे० "पाँयता"। उ०-कहा कहौ और राति
सोवै जब रानी तब आपु बैठ्यो पाँइते कहानी भावतो
कहै।-रघुनाथ।

पाँइबाग-संज्ञा पुं० [फा०] महलों के आस पास या चारों ओर
बना हुआ वह छोटा बाग जिसमें प्रायः राजमहल की
स्त्रियाँ सैर करने को जाती हैं। ऐसे बागों में प्रायः सर्व
साधारण के जाने की मनाही होती है।

पाउ*-संज्ञा पुं० [सं० पाद, हिं० पाँव] पाँव। पैर।

मुहा०-पाँउ पसारे सोना = निर्भय रहना। निश्चिंत। बेखौफ रहना।

उ०-मारुत बहुहु आज अपने मन सूरज तपहु सुखारे। इंद
वरुण कुबेर यम सुर गण सोबहु पाँउ पसारे।-रघुनाथ।

पाँक-संज्ञा पुं० [सं० पंक] कीचड़।

पाँका-संज्ञा पुं० दे० "पाँक"।

पाँख, पाँखड़ा-संज्ञा पुं० [सं० पत्त] पंख। पर। पत्ती का डैना।

पाँखड़ी-संज्ञा स्त्री० दे० "पखड़ी"।

पाँखी*-संज्ञा स्त्री० [सं० पत्ती] (१) वह पंखदार कीड़ी जो
दीरक पर गिरती है। पतंगा। (२) कोई पत्ती। (३)
वह औजार जिससे खेतों में क्यारियाँ बनाई जाती हैं।

पाँखुरी-संज्ञा स्त्री० दे० "पखड़ी"।

पाँग-संज्ञा पुं० [सं० पंक] वह नई जमीन जो किसी नदी के पीछे
हट जाने से उसके किनारे पर निकलती है। कच्चार।
खादर। गंगबरार।

पाँगल-संज्ञा पुं० [सं० पांगुल्य] अँट। (हिं०)

पाँगान-संज्ञा पुं० [देश०] दे० "पाँगानोन"।

पाँगानोन-संज्ञा पुं० [सं० पंक, हिं० पाँग + नोन] समुद्री नोन। वैद्यक
में इसे स्वाद में चरपरा और मधुर, भारी, न बहुत गरम
और न बहुत शीतल, अग्निप्रदीपक, वातनाशक और कफ-
कारक माना है।

पाँच-वि० [सं० पंच] जो गिनती में चार और एक हो। जो तीन
और दो हो। चार से एक अधिक।

मुहा०-पाँचों उँगलियाँ धी में होना = सब तरह का लाभ या
आराम होना। खूब वन आना। जैसे, इस समय तो आपकी

पाँचों उँगलियाँ धी में होंगी । पाँचों सवःरों में नाम लिखाना = जवरस्त्री अपने से अधिक योग्य व श्रेष्ठ मनुष्यों में मिला जाता । औरों के साथ अपने को भी श्रेष्ठ गिनाना ।

विशेष—इस मुहावरे के संबंध में एक किस्सा है । कहते हैं कि एक बार चार अच्छे सवार कहीं जा रहे थे । उनके पीछे पीछे एक दरिद्र आदमी भी एक गधे पर सवार जा रहा था । थोड़ी दूर जाने पर एक आदमी मिला जिसने उस दरिद्र गधे-सवार से पूछा कि क्यों आई, ये सवार कहां जा रहे हैं ? उसने बहुत बिड़कर कहा—हम पाँचों सवार कहीं जा रहे हैं, तुम्हें पूछने से मतलब ?

संज्ञा पुं० [सं० पंच] (१) पाँच की संख्या । (२) पाँच का अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—५ । (३) कई एक आदमी । बहुत लोग । उ०—मोरि बात अब विधिहि बनाई । प्रजा पाँचकत काहु सहई—तुलसी । (४) जाति विद्वानों के मुखिया लोग । पंच । उ०—साँचे परे पावों पान पाँच में परे प्रमान, तुलसी चातक आस राम स्थामघन की । — तुलसी ।

पाँचक—संज्ञा पुं० दे० “पंचक” ।

पाँचजनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] भागवत के अनुसार पंचजन नामक प्रजापति की कन्या का नाम । इसका दूसरा नाम असिकी भी था ।

पाँचजन्य—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कृष्ण के बजाने का शंख जिसके विषय में यह प्रसिद्ध कि वह उन्हें पंचजन नामक दैत्य के पास उस समय मिला था जब वे गुरु दक्षिणा में अपने गुरु सांझीपन मुनि को उनका मृग पुत्र ला देने के लिये समुद्र में बुसे थे । कृष्ण ने पंचजन को मारकर अपने गुरु के पुत्र को भी छुड़ाया था और उसका शंख भी ले लिया था । (२) विष्णु के शंख का नाम । (३) पुराणानुसार हारीत मुनि के वंश के दीर्घबुद्धि नामक ऋषि का एक नाम । (४) अग्नि । (५) पुराणानुसार जंबूद्वीप के एक भाग का नाम ।

पाँचभौतिक—संज्ञा पुं० [सं०] पाँचों भूतों या तत्त्वों से बना हुआ शरीर ।

पाँचर—संज्ञा स्त्री० [सं० पंजर] कोल्हू के बीच में जड़े हुए लकड़ी के वे छोटे छोटे टुकड़े जो गन्ने के टुकड़ों को दबाने में जाठ के सहायक होते हैं । (जाठ और पाँचर के बीच में दबने से ही गन्ने के टुकड़ों में से रस निकलता है)

पाँचलिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] कपड़े की डनी हुई गुड़िया ।

पाँचवाँ—वि० पुं० [हिं० पाँच + वाँ (प्रत्यय)] [स्त्री० पाँचवीं] जो क्रम में पाँच के स्थान पर पड़े । पाँच के स्थान पर पड़ने वाला ।

पाँचशाब्दिक—संज्ञा पुं० [सं०] करताल, डोल, बीन, बंटा और भेरी आदि पाँच प्रकार के बाजे ।

पाँचा—संज्ञा पुं० [हिं० पाँच] किसानों का एक औजार जिससे वे भूसा घास इत्यादि समेटते वा हटाते हैं । इसमें चार दाँते और एक बेंट होता है इसीसे इसे पाँचा कहते हैं । पंचगुरा ।

पाँचाल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बड़ई, नाई, उलाहा, धोबी और चमार इन पाँचों का समुदाय । (२) भारत के पश्चिमोत्तर का एक देश । विशेष—दे० “पंचाल” । वि० (१) पंचाल देश का रहनेवाला । (२) पंचाल देश संबंधी ।

पाँचालिका—संज्ञा स्त्री० दे० “पांचाली” ।

पाँचाली—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गुड़िया । कपड़े की पुतली । पंचालिका । पंचाली । (२) साहित्य में एक प्रकार की रीति या वाक्य-रचना-प्रणाली जिसमें बड़े बड़े पाँच छः समासों से युक्त और कान्तिपूर्ण पदावली होती है । इसका व्यवहार सुकुमार और मधुर वर्णन में होता है । किसी किसी के मत से गौड़ी और वैदर्भी वृत्तियों के सम्मिश्रण को भी पाँचाली कहते हैं । (३) पांडवों की स्त्री द्रौपदी का एक नाम जो पंचाल देश की राजकुमारी थी । (४) छोटी पीतल । (५) इंद्रताल के छः भेदों में से एक । (६) स्वर-साधन की एक प्रणाली जो इस प्रकार है—

आगोही—सा रे सा रे ग, रे ग रे ग म, ग म ग म प, म प म प ध, प ध प ध नि, ध नि ध नि सा । अवरोही—सा नि सा नि ध, नि ध नि ध प, ध प ध प म, प म प म ग, म ग म ग रे, ग रे ग रे सा ।

पाँची—संज्ञा स्त्री० [देग०] एक प्रकार की घास जो तालाबों में होती है ।

पाँचै—संज्ञा स्त्री० [हिं० पंचमी] किसी पक्ष की पाँचवीं तिथि । पंचमी । उ०—(क) जब बसंत फागुन सुदि पाँचै गुरुदिन ।—तुलसी । (ख) नाचे वनैगी बसंत की पाँचै ।—देव ।

पाँजना—कि० सं० [सं० प्रणद्ध, प्रा० पणञ्ज पञ्ज] टीन, लोहे, पीतल आदि धातु के दो या अधिक टुकड़ों को टाँके लगाकर जोड़ना । झालना । टाँका लगाना ।

पाँजर—संज्ञा पुं० [सं० पंजर] (१) बगल और कमर के बीच का वह भाग जिसमें पसलियाँ होती हैं । छाती के अगल बगल का भाग (२) पसली । (३) पार्श्व । पास । बगल । सामीप्य ।

पाँजी—संज्ञा स्त्री० [सं० पशति, हिं० पाजी = पैदल । सं० पाघ ?] किसी नदी का इतना सूख जाना कि लोग उसे हलकर पार कर सकें । नदी का पानी घुटनों तक या

उससे भी कम हो जाना । उ० —अब कबीर पाँजी परे पंथी आवैं जायँ । —कबीर ।

क्रि० प्र०— पड़ना ।

पाँझ—वि० दे० “पाँजी” । उ०—नदियों को पाँझ और मार्ग को सूखा करनेवाली शरद ने उसको मन के उल्लाह से पड़ने ही यात्रा निमित्त प्रेरणा दी । —उद्धरणसिंह ।

पाँडक—संज्ञा पुं० दे० “पंडुक” ।

पाँडर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुंद का वृक्ष । (२) कुंद का फूल । (३) पानड़ी । (४) सफेद रंग । (५) सफेद रंग का कोई पदार्थ । (६) मरुवा वृक्ष । (७) महा-भारत के अनुसार ऐरावत के कुल में उत्पन्न एक हाथी का नाम । (८) पुराणानुसार एक पर्वत का नाम जो मेरु पर्वत के पश्चिम में है । (९) एक प्रकार का पत्ती ।

पाँडर मुष्टिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] शीतला वृक्ष ।

पाँडरा—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की ईख ।

पाँडव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुंती और माद्री के गर्भ से उत्पन्न राजा पांडु के पाँचों पुत्र—युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव । (इनके जन्मवृत्तांत के लिये दे० “पांडु” और इनके विशेष चरित के लिये पृथक् पृथक् इन सब के नाम ।) (२) प्राचीन काल में पंजाब का एक प्रदेश जो वितस्ता (भेलम) नदी के तीरे पर बसा था । (३) उस प्रदेश में रहनेवाले ।

पाँडव नगर—संज्ञा पुं० [सं०] दिल्ली ।

पाँडवायन—संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण ।

पाँडवेय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाँडव । (२) अभिमन्यु के पुत्र राजा परीक्षित ।

पाँडित्य—संज्ञा पुं० [सं०] पंडित होने का भाव । विद्वत्ता । पंडिताई ।

पाँडीस—संज्ञा स्त्री० [?] तलवार । (हिं०)

पांडु—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पांडुफली । पारजी । (२) परमल । (३) कुछ लाली लिए पीरा रंग । (४) वह जिसका रंग लाली लिए पीला हो । (५) एक नाग का नाम । (६) सफेद हाथी । (७) सफेद रंग । (८) एक रोग का नाम जिसमें रक्त के दूषित हो जाने से शरीर का चमड़ा पीले रंग का हो जाता है । सुश्रुत में लिखा है कि अधिक खीगमन करने, खटाई और नमक खाने, शराब पीने, मिट्टी खाने, दिन को सोने तथा इसी प्रकार के और कुपथ्य करने से यह रोग हो जाता है । चमड़े का फटना, आँख के गोलक का सूजना और पेगाप पैखाने के रंग का पीला पड़ जाना इस रोग का पूर्व लक्षण है । यह कफज, वातज, पित्तज और सन्निपातज चार प्रकार का होता है । इसके अतिरिक्त भावप्रकाश में इनका एक पाँचवाँ प्रकार

मृत्तिकाभक्षण-जात भी माना गया है । सुश्रुत ने कामला, कुंतकामला, हलीवक और लावरक आदि रोगों को इसीके अंतर्गत माना है । इस रोग से रोगी को कंठ, पीड़ा, शूल, भ्रम, तंद्रा, आलस्य, खाँसी, श्वास, अरुचि और अंगों में सूजन आदि भी होती है । (९) प्राचीन काल के एक राजा का नाम जो पांडव वंश के आदि पुरुष थे । महाभारत में इनकी कथा बहुत ही विस्तार के साथ दी हुई है । उसमें लिखा है कि जिस समय राजा विचित्रवीर्य युवावस्था में ही तब रोग के कारण मर गए और अंबिका तथा अंबालिका नाम की उनकी दोनों स्त्रियाँ विधवा हो गईं उस समय विचित्रवीर्य की माता सत्यवती ने अपना वंश चलाने के उद्देश्य से अपने दूसरे पुत्र भीष्म से कहा था कि तुम अंबिका और अंबालिका के साथ नियोग करके संतान उत्पन्न करो । परंतु भीष्म इससे बहुत पहले ही प्रतिज्ञा कर चुके थे कि मैं आजन्म क्वारा और ब्रह्मचारी रहूँगा । अतः उन्होंने माता की यह बात तो नहीं मानी पर उन्हें सम्मति दी कि किसी योग्य ब्राह्मण को बुलवाकर और उसे कुछ धन देकर विचित्रवीर्य की स्त्रियों का गर्भाधान करा दो । इसपर सत्यवती ने अपने पहले पुत्र व्यास का, जो पराशर ऋषि से उत्पन्न हुए थे, स्मरण किया और उनके आ जाने पर कहा कि तुम एक प्रकार से विचित्रवीर्य के बड़े भाई हो । अतः तुम ही उसी दोनों विधवाओं से वंशवृद्धि के लिये संतान उत्पन्न करो । व्यास ने अपनी माता की यह बात स्वीकार करते हुए कहा कि पहले दोनों विधवा स्त्रियाँ व्रतपूर्वक रहें तब मैं उन्हें मित्रावरुण के सहस्र पुत्र प्रदान करूँगा । लेकिन सत्यवती ने कहा कि राज्य में राजा के न रहने से अनेक प्रकार के उपद्रव होते हैं अतः तुम अभी इन दोनों को गर्भधारण कराओ । तदनुसार व्यास ने पहले तो अंबिका के गर्भ से धृतराष्ट्र को उत्पन्न किया । और तब अंबालिका की बारी आई । जब अंबालिका भी ऋतुमती हो चुकी तब व्यासदेव आधी रात के समय उनके पास गए । उनका उग्र रूप देखकर अंबालिका मारे डर के पीली पड़ गई । समय पूरा होने पर अंबालिका को पीले रंग का एक लड़का हुआ जिसका नाम पांडु रखा गया । बाल्यावस्था में धृतराष्ट्र, पांडु, और विदुर तीनों को भीष्म ने ही पाखा पोसा और पढ़ाया लिखाया था । पांडु का विवाह राजा कुंतिभोज की कन्या कुंती से हुआ था । पीछे से भीष्म ने मद्र-कन्या माद्री से इनका एक और विवाह कर दिया था । विवाह के कुछ दिनों के उपरांत पांडु ने समस्त भूमंडल के राजाओं को परास्त करके दिग्विजय किया और बहुत सा धन एकत्र किया । इसके धन से धृतराष्ट्र ने पाँच महायज्ञ किए थे ।

इनमें से प्रत्येक महायज्ञ में उन्होंने इतना धन दान किया था कि जिससे सैकड़ों बड़े बड़े अश्वमेध यज्ञ किये जा सकते थे। कुछ दिनों तक राज्य करने के उपरांत पांडु अपनी दोनों स्त्रियों को साथ लेकर जंगल में जा रहे और वहीं आमोद प्रमोद और शिकार आदि करके रहने लगे। एक बार शिकार में उन्होंने हिरन को हिरनी के साथ मैथुन करते हुए देखा और तुरंत तीर से उस हिरन को मार गिराया। कहते हैं कि वे हिरन और हिरनी दोनों वास्तव में ऋषिपुत्र किमिंदय और उनकी पत्नी थे। तीर लगते ही उस मृग ने मनुष्यों की बोली में कहा कि तुमने मुझे स्त्री के साथ भोग करते में मारा है अतः तुम भी जब अपनी स्त्री के साथ भोग करोगे तब उसी समय तुम्हारी भी मृत्यु हो जायगी और जिस स्त्री के साथ भोग करते हुए तुम मरोगे वह तुम्हारे साथ सती होगी। इसपर पांडु बहुत दुखी हुए और अपनी दोनों स्त्रियों को साथ लेकर नागशत पर्वत पर चले गए। वे सब प्रकार का भोग विलास आदि छोड़कर कठोर तपस्या करने लगे। वहीं एक बार पांडु ने बहुत से ऋषियों के साथ स्वर्ग जाना चाहा था परंतु ऋषियों ने उन्हें मना किया और कहा कि जिसके कोई संतान न हो वह स्वर्ग नहीं जा सकता। इसपर पांडु ने अपनी स्त्री के गर्भ से किसी ब्राह्मण के द्वारा पुत्र उत्पन्न कराने का विचार किया और अपनी स्त्री कुंती से सब हाल कहा। इस पर कुंती ने जिसे जिस देवता का चाहे स्मरण करके पुत्र प्राप्त करने का वरदान था, धर्म, वायु और इंद्र को आह्वान कर क्रमशः युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन नामक तीन पुत्र जने और माद्री ने अश्विनीकुमार के अनुग्रह से नकुल और सहदेव नामक दो पुत्र पाए। पीछे से धेही पांचो पुत्र पांडव कहलाए और इन्होंने कौरवों से युद्ध किया था। (दे० "पांडव")। इसके कुछ दिनों के उपरांत एक बार वसंत ऋतु में पांडु को बहुत अधिक काम पीड़ा हुई। उस समय उन्होंने माद्री के बहुत मना करने पर भी नहीं माना और वे बलपूर्वक उसके साथ भोग करने लगे। किमिंदय ऋषि के शाप के अनुसार उसी समय उनके प्राण निकल गए और माद्री ने भी वहीं अपने प्राण दे दिए। पीछे से लोग पांडु और माद्री को हस्तिनापुर ले गए और वहीं धृतराष्ट्र की आज्ञा से विदुर ने दोनों का प्रेत-संस्कार किया।

पांडुकंटक—संज्ञा पुं० [सं०] अग्रमार्ग। चिचड़ा।

पांडुकंवल—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का पत्थर जो सफेद होता है।

पांडुक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) दे० "पांडुक"। (२) दे०

"पांडु"। (३) पांडु वर्ण। पीठा रंग। (४) परवल। **पांडुकर्म**—संज्ञा पुं० [सं० पांडुकर्मन्] सुश्रुत के अनुसार वर्ण-चिकित्सा का एक अंग जिसमें फोड़े के अच्छे हो जाने पर उसके काले दाग को औषध की सहायता से दूर करते और वहाँ के चमड़े को फिर शरीर के वर्ण का कर देते हैं। विशेष—सुश्रुत का मत है कि यदि फोड़े के अच्छे हो जाने पर दुरुद्धता के कारण उसके स्थान पर काला दाग रह गया हो तो कड़वी तूँबी को तोड़कर उसमें बकरी का दूध डाल दे और उस दूध में सात दिन तक रोहिणी फल भिगोए। इसके बाद उस फल को गीला ही पीसकर फोड़े के दाग पर लगावे तो वहा दाग दूर हो जायगा।

पांडुदमा—संज्ञा स्त्री० [सं०] हस्तिनापुर का एक नाम।

पांडुतरु—संज्ञा पुं० [सं०] धौ का पेड़।

पांडुता—संज्ञा स्त्री० [सं०] पांडु होने का भाव, धर्म या क्रिया। पांडुत्व। पीलापन।

पांडुतीर्थ—संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक तीर्थ का नाम।

पांडुनाम—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुत्राय वृत्त। (२) सफेद रंग का हाथी। (३) सफेद रंग का साँप।

पांडुपंचानन रस—संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का रस जिसे त्रिकटु, त्रिफला, दंतिमूल, चिन्नामूल, हलदी, मानमूल, इंद्रजै, बब, मोथा आदि औषधियों को गोमूत्र में पकाकर बनाते हैं और जो पांडु तथा हलीमक आदि रोगों के लिये बहुत ही उपकारक माना जाता है।

पांडुपत्री—संज्ञा स्त्री० [सं०] रेणुका नामक गंध-द्रव्य।

पांडुपुत्र—संज्ञा पुं० [सं०] पांडव।

पांडुपृष्ठ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) जिसकी पीठ सफेद हो। (२) अयोध्या। अकर्मण्य। निकम्मा।

पांडुफूल—संज्ञा पुं० [सं०] परवल।

पांडुमृत, पांडुमुत्तिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) खड़िया। स्वेतखरी। दुधिया मिट्टी। (२) पीली मिट्टी। रामज।

पांडुरंग—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का साग जो वैद्यक के अनुसार तिक्त और लघु तथा कृमि, रलेष्मा और कफ को नाश करनेवाला माना जाता है। (२) पुराणानुसार विष्णु का एक अवतार।

पांडुर-वि० [सं०] (१) पीला। जर्द। (२) सफेद।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो पीला हो। (२) वह जो सफेद हो। (३) धौ का पेड़। (४) सफेद उबार। (५) कबूतर। (६) बगटा। (७) सफेद खड़िया। (८) कामला रोग। (९) सफेद कोढ़। (१०) कार्तिकेय के एक गण का नाम।

पांडुरदुम—संज्ञा पुं० [सं०] कुड़े का वृक्ष। कुटज। कुरैया।

पांडुरपृष्ठ—संज्ञा पुं० दे० "पांडुपृष्ठ"।

पांडुरफली—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का छोटा चुप।

पांडुरा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मषवन। माषपर्णी। (२) ककड़ी। (३) बौद्धों में एक देवी या शक्ति का नाम।

पांडुराग—संज्ञा पुं० [सं०] दौना।

पांडुरेजु—संज्ञा पुं० [सं०] सफेद ईख।

पांडुलिपि—संज्ञा स्त्री० [सं०] लेख आदि का वह पहला रूप जो काट छांट या घटाने बढ़ाने आदि के लिये तैयार किया जाय। मसौदा।

पांडुलेख—संज्ञा पुं० [सं०] पांडुलिपि। मसौदा।

पांडुलोमशा—संज्ञा स्त्री० [सं०] मषवन। माषपर्णी।

वि० स्त्री०—जिसके रोएँ सफेद हों।

पांडुलोमा—संज्ञा स्त्री० [सं०] दे० “पांडुजोमशा”।

पांडुवा—संज्ञा पुं० [सं०] वह जमीन जिसकी मिट्टी में बालू भी मिली हो। बलुई मिट्टीवाली जमीन। दोमट जमीन।

पांडुशर्करा—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का प्रमेह।

पांडुशर्मिला—संज्ञा स्त्री० [सं०] द्रौपदी।

पांडुसोपाक—संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल की एक वर्णसंकर जाति जिसकी उत्पत्ति मनु के अनुसार वैदेही माता और चांडाल पिता से है। कहते हैं कि इस जाति के लोग बाँस की चीजें, दौरियाँ, टोकरे आदि बनाकर अपना निर्वाह करते थे।

पांडे—संज्ञा पुं० [सं० पंडित] (१) सरयूपारी, कान्यकुब्ज और गुजराती आदि ब्राह्मणों की एक शाखा। (२) कायस्थों की एक शाखा। (३) पंडित। विद्वान्। (वच०) (४) अध्यापक। शिक्षक। (५) रसोइया। भोजन बनानेवाला।

पौ०—पानीपांडे।

पांडेय—संज्ञा पुं० दे० “पांडे”।

पांति—संज्ञा स्त्री० [सं० पंक्ति] (१) कतार। पंगत। (२) अगली। समूह। (३) एक साथ भोजन करनेवाले विरादरी के लोग। परिवार-समूह। उ०—(क) जाति पांति कुल धर्म बढ़ाई। धन बल परिजन गुण चतुराई।—तुलसी। (ख) मेरे जाति पांति न चहैं काहू की जाति पांति मेरे कोऊ काम को न हैं काहू के काम को।—तुलसी।

पांथ—वि० [सं०] (१) पथिक। (२) विधोगी। बिरही।

पांथनिवास—संज्ञा पुं० [सं०] सर्राय। चट्टी।

पांथशाला—संज्ञा पुं० [सं०] सर्राय। चट्टी।

पाँयँ*—संज्ञा पुं० [सं० पाद] चरण। पाद। पैर। कदम। उ०—सैंपे सुत गहि पानि पाँयँ परि हरषाने जाने शेष-सयन।

पाँयँचा—संज्ञा पुं० [फा०] (१) पाखानों आदि में बना हुआ पैर रखने का वह स्थान जिसपर पैर रखकर शौच से निवृत्त

होने के लिये बैठते हैं। (२) पायजामे की मोहरी जिससे जाँव से लेकर टखने तक का अंग ढका जाता है।

मुहा०—पाँयँचों के बाहर होना = दे० “पाजामे के बाहर होना”।

पाँयँता—संज्ञा पुं० [हिं० पाँय + तल] [स्त्री० अल्प० पाँयँती] पलंग या खाट का वह भाग जिसकी ओर पैर किए जाते हैं। पैताना।

पाँयँ—संज्ञा पुं० दे० “पाँव”।

पाँयँड़ा—संज्ञा पुं० दे० “पाँवड़ा”।

पाँयँड़ी—संज्ञा स्त्री० दे० “पाँवड़ी”।

पाँवर*—वि० [सं० पामर] पतित। पापी। नीच। अधम।

पाँवरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पाँव + ढा (प्रत्य०)] (१) दे० “पाँवड़ी”। (२) सोपान। सीढ़ी। (३) पैर रखने का स्थान। (४) जूता। उ०—भो रैदास नाम अस ताको। करै कर्म रचिबो जूता को। रचि पाँवरी संत कहँ देवै। संत चरण जल शिर धरि लेवै।—रघुराज।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पैरि, पैरी] (१) पैरी। वह कोठरी जो किसी घर के भीतर घुसते ही रास्ते में पड़ती हो। ड्योढ़ी (२) बैठक। दाटान। उ०—पैग पैग पर कुर्चा बावरी। साजी बैठक और पाँवरी।

पांशव—संज्ञा पुं० [सं०] रेह का नमक।

पांशु—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) धूलि। रज। (२) बालू।

पौ०—पांशुज।

(३) गोबर की खाद। (४) पित्तपापड़ा। (५) एक प्रकार का कपूर। (६) रज। (७) भू-संपत्ति।

पांशुका—संज्ञा स्त्री० [सं०] केवड़े का पौधा।

पांशुकासीस—संज्ञा पुं० [सं०] कसीस।

पांशुकूल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) चीथड़ों आदि को सीकर बनाया हुआ बौद्ध भिक्षुओं के पहनने का वस्त्र। (२) वह दस्तावेज या कागज जो किसी विशिष्ट व्यक्ति के नाम न लिखा गया हो।

पांशुचत्वर—संज्ञा पुं० [सं०] ओला।

पांशुज—संज्ञा पुं० [सं०] नोनी मिट्टी से निकाला हुआ नमक।

पांशुपत्र—संज्ञा पुं० [सं०] बथुआ (साग)।

पांशुरागिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] महामेदा।

पांशुराष्ट्र—संज्ञा पुं० [सं०] एक देश का प्राचीन नाम जिसका उल्लेख महाभास्व में है।

पांशुल—वि० [सं०] (१) परखीगामी। लंपट। व्यभिचारी। (२) धूल या मिट्टी से ढका हुआ। जिस पर गर्द पड़ी हो। मखिन। मैला।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) पृथिकरंज। (२) शिव।

पांशुला—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कुलटा। (२) रजस्वला।

(३) केतकी । (४) भूमि ।

पाँस-संज्ञा स्त्री० [सं० पांशु] (१) राख, गोबर, मल, मूत्र, अस्थि, चार, सड़ी गली चीजें आदि जो खेतों को उपजाऊ करने के लिये उनमें डाली जाती हैं । खाद ।

क्रि० प्र०—डालना ।—देना ।

(२) किसी वस्तु को सड़ाने पर उठा हुआ खमीर । (३)

शराब निकाला हुआ महुआ ।

पाँसना—क्रि० सं० [हिं० पाँस + ना (प्रत्य०)] खेत में खाद देना ।

पाँसा-संज्ञा पुं० [सं० पाशक] हाथीदाँत वा किसी हड्डी के बने चार पाँच अंगुल लंबे बत्ती के आकार के चौपहल टुकड़े जिससे चौसर का खेल खेलते हैं । ये संख्या में ३ होते हैं । प्रत्येक पहल में कुछ बिंदु से बने रहते हैं । उन्हीं बिंदुओं की गणना से दाँव समझा जाता है । उ०—
(क) चौपर खेलत भवन आपने हरि द्वारिका मैंभार ।
पाँसे डार परम आतुर सों कीन्हें अनत उचार ।—सूर ।
(ख) कौरव पाँसा कपट बनाए । धर्मपुत्र को जुवा खेलाए ।—सूर ।

क्रि० प्र०—पड़ना ।—फेंकना ।

मुहा०—पाँसा उलटना=किसी प्रयत्न का उलटा फल होना ।

पाँसी-संज्ञा स्त्री० [सं० पाश] सूत या डोरी आदि का बना हुआ वह जाल या जाला जिसमें घास भूसा आदि बांधते हैं ।

पाँसु—संज्ञा स्त्री० दे० (१) “पांशु” । (२) दे० “पसली” ।

पाँसुक्षार-संज्ञा पुं० [सं०] पाँसक नमक ।

पाँसुखुर-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ों का एक रोग जो उनके पैरों में होता है ।

पाँसुचंदन-संज्ञा पुं० [सं०] शिव । महादेव ।

पाँसुचामर-संज्ञा पुं० [सं०] तंबू । बड़ा खेमा ।

पाँसुभिन्ना-संज्ञा स्त्री० [सं०] धौ का पेड़ ।

पाँसुर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का बड़ा मच्छड़ । दंश । डाँस । (२) लूला लँगड़ा ।

पाँसुरी—संज्ञा स्त्री० [सं०] दे० “पसली” ।

पाँसुल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मलयुक्त । मलिन । (२) पापी ।
(३) पूति करंज । कंजा । (४) परस्त्री से प्रेम करने वाला । (५) शिव ।

पाँसुला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कुलटा । (२) रजस्वला ।
(३) भूमि । (४) केतकी ।

पाँही—क्रि० वि० [हिं० पाँह] निकट । पास । समीप ।

पाइ—संज्ञा पुं० दे० “पाद” ।

पाइक—संज्ञा पुं० दे० “पायक” ।

पाइका—संज्ञा पुं० [अ०] नाप के विचार से छापे के टाइपों का एक प्रकार जिसकी चौड़ाई $\frac{1}{4}$ इंच होती है । अक्षरों की

मोटाई आदि के विचार से इसके और भी कई भेद होते हैं । साधारण पाइका टाइप का नमूना यह है—यह पाइका टाइप है ।

यौ०—खाल पाइका ।

पाइतरी—संज्ञा स्त्री० [सं० पादस्थली] पलंग का वह भाग जहाँ सोनेवाले के पैर रहते हैं । पैताना । उ०—भारतादि दुर्गो-धन अर्जुन भेटन गए द्वारका पुरी । कमल-नैन बैठे सुख शय्या पारथ पाइतरी ।—सूर ।

पाइप-संज्ञा पुं० [अ०] (१) नल या नली । (२) पानी की कल । नल । (३) बाँसरी के आकार का एक प्रकार का अंगरेजी बाजा । (४) हुक्के का नल ।

पाइरा—संज्ञा पुं० [हिं० पाँव + रा (प्रत्य०)] रकाब, जिसपर घोड़े की सवारी के समय पैर रखते हैं । विशेष-दे० “रकाब” ।

पाइल—संज्ञा स्त्री० दे० “पायल” ।

पाई-संज्ञा स्त्री० [सं० पाद, हिं० पाय] (१) किसी एक ही निश्चित घेरे या मंडल में नाचने या चलने की क्रिया । मंडल घूमना । गोड़ापाही । उ०—नीर के निकट रेणु रंजित लसै यों तट एक पट चादर की चाँदनी बिछाई सी । कहै पदमाकर ल्यों करत कलोल लोक आवरत पूरे रासमंडल की पाई सी ।—पद्माकर । (२) पतली छड़ियों वा बेटों का बना हुआ जोलाहों का एक ढाँचा जिसपर ताने के सूत को फैलाकर उसे खूब मँजते हैं । टिकरी । अड्डा ।

मुहा०—पाई करना = पाई पर फैले हुए ताने को कूँची से मँजना ।

(३) घोड़ों की एक बीमारी जिसमें उनके पैर सूज जाते हैं और वे चल नहीं सकते । (४) एक छोटा सिक्का जो एक आने का १२ वाँ, वा एक पैसे का तीसरा भाग होता है । (५) एक पैसा । (क्व०) (६) छोटी सीधी लकीर जो किसी संख्या के आगे लगाने से एकाई का चतुर्थांश प्रकट करती है, जैसे, ४। से चार और एक एकाई का चौथा भाग । अर्थात् सवा चार । (७) दीर्घ आकार सूचक मात्रा जिसे अक्षर को दीर्घ करने के लिये लगाते हैं, जैसे क से का, द से दा । (८) छोटी खड़ी रेखा जो किसी वाक्य के अंत में पूर्ण विराम सूचित करने के लिये लगाई जाती हो ।

क्रि० प्र०—देना ।—लगाना ।

(९) पिटारी जिसमें स्त्रियाँ अपने आभूषणादि रखती हैं ।

(१०) छापे के घिसे हुए और रही टाइप । (प्रेस०) ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पापा = पाई कीड़ा] एक छोटा लंबा कीड़ा जो घुन की तरह अन्न को विशेषतः धान को खा जाता अथवा खराब कर देता है और उसे जमने योग्य नहीं रहने देता ।

क्रि० प्र०—लगाना ।

पाईता—संज्ञा पुं० [देश०] एक वर्णवृत्त जिसमें एक मगण, एक भगण और एक सगण होता है।

पाई—संज्ञा पुं० दे० “पाँव”।

पाउंड—संज्ञा पुं० [अ०] (१) सोने का एक अंगरेजी सिक्का जो २० शिलिंग का होता है और पहले १५ का माना जाता था परंतु अब १० का ही माना जाता है। इसका भाव घटता बढ़ता रहता है। (२) एक अंगरेजी तौल जो लगभग सात छटाँक के होता है।

पाउडर—संज्ञा पुं० [अ०] (१) कोई वस्तु जो पीसकर धूल के समान कर दी गई हो। चूर्ण। बुकनी। (२) एक प्रकार का विलायती बना हुआ मसाला या चूर्ण जो प्रायः स्त्रियाँ और नाटक के पात्र अपने चिहरे पर उसकी रंगत बदलने और शोभा बढ़ाने के लिये लगाते हैं।

पाक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पकाने की क्रिया। रींघना। (२) पकने व पकाने की क्रिया या भाव। (३) पका हुआ अन्न। रसोई। पकवान।

यौ०—पाकागार। पाकभांड।

(४) वह औषध जो मिस्री, चीनी वा शहद की चाशनी में मिलाकर बनाई जाय। जैसे, शुंठी सटक। (५) खाए हुए पदार्थ के पचने की क्रिया। पचन।

यौ०—पाकस्थली।

(६) एक दैत्य जिसे इंद्र ने मारा था।

यौ०—पाकरिपु। पाकशासन।

(७) वह खीर जो आद्व में पिंडदान के लिये पकाई जाती है।

वि० [फा०] (१) पवित्र। शुद्ध। सुधरा। परिमार्जित।

मुहा०—पाक करना = (१) धार्मिक विधि के अनुसार किसी वस्तु को धोकर शुद्ध करना। (२) जबह किए हुए पशु या पत्नी के पास से पर, रोएँ आदि दूर करना।

(२) पाप रहित। निर्मल। निर्दोष।

यौ०—पाकदामन। पाक साफ।

(३) जिसका कोई अंश शेष न रह गया हो। समाप्त। बेबाक।

मुहा०—भगड़ा पाक करना = (१) किसी ऐसे कार्य को समाप्त कर डालना जिसके लिये विशेष चिन्ता रही हो। (२) किसी बाधा को हटाकर या शत्रु को मारकर निश्चित हो जाना। भगड़ा तै होना। कोई कार्य समाप्त हो जाना। कोई बाधा दूर हो जाना। (३) मार डालना।

(४) साफ। उ०—यह सब भगड़ा से पाक है।

पाककृष्ण—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जंगली करौंदा। (२) करंज।

पाकज—संज्ञा पुं० [सं०] कचिया नमक।

पाकट—संज्ञा स्त्री० [अ० पाकेट] जेब। खीसा। थैली।

मुहा०—पाकट गरम करना = (१) घूस लेना। (२) घूस देना।

संज्ञा पुं० दे० “पैकेट”।

पाकट—वि० [हिं० पकना, पकेठ] (१) पका हुआ। (२) पुराना। तजरबेकार। (३) बली। मजबूत।

पाकड़—संज्ञा पुं० दे० “पाकर”।

पाकदामन—वि० [फा०] [संज्ञा पाकदामनी] स्त्री जिसका चरित्र सब प्रकार निष्कलंक और विशुद्ध हो। पतिव्रता। सती।

पाकदामिनी—संज्ञा स्त्री० [फा०] सतीत्व। पतिव्रत्य। शुद्ध-चरित्रता।

पाकद्विष—संज्ञा पुं० [सं०] पाकशासन। इंद्र।

पाकपाच—संज्ञा पुं० [सं०] वह वरतन जिसमें भोजन पकाया या रखा जाय। जैसे, बटलोई, थाली आदि।

पाकफल—संज्ञा पुं० [सं०] करौंदा।

पाकभांड—संज्ञा पुं० [सं०] वह वरतन जिसमें कुछ पकाया या खाया जाय। जैसे, बटलोई थाली आदि।

पाकयज्ञ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वृषोत्सर्ग और गृहप्रतिष्ठा आदि के समय किया जानेवाला होम जिसमें खीर की आहुति दी जाती है। (२) पंच महायज्ञ में ब्रह्मयज्ञ के अतिरिक्त अन्य चार यज्ञ—वैश्वदेव, होम, बलि-कर्म, नित्य आद्व और अतिथि-भोजन।

विशेष—धर्मशास्त्रों के अनुसार शूद्र को भी पाकयज्ञ का अधिकार है।

पाकयाज्ञिक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाकयज्ञ करनेवाला। (२) वह पुस्तक जिसमें पाकयज्ञ का विधान हो।

वि०—(१) पाकयज्ञ संबंधी। (२) पाकयज्ञ से उत्पन्न।

पाकरंजन—संज्ञा पुं० [सं०] तेजपत्ता।

पाकर—संज्ञा पुं० [सं० पकटी, प्रा० पकड़ा,] एक वृक्ष जो पंचवटों में माना जाता है। इसके वृक्ष समस्त भारतवर्ष में वर्षा में अधिकता से बोये जाते हैं। इसकी पत्तियाँ खूब हरी और आम की तरह लंबी पर उससे कुछ अधिक चौड़ी होती हैं। यह वृक्ष आप से आप कम उगता है, प्रायः लगाने से ही होता है। यह ७-८ वर्ष में तैयार हो जाता है। इसकी छाया बहुत घनी होती है। कवियों ने इसकी घनी छाया की बड़ी प्रशंसा की है। इसकी छाल से बड़े बारीक और मुलायम सूत तैयार किए जा सकते हैं। नरम फलों या गोदों को जंगली और देहाती मनुष्य प्रायः खाते हैं और पत्तियाँ हाथी और अन्य पशुओं के चारे के काम में आती हैं। लकड़ी और किसी काम में नहीं आती; केवल उससे कोयला तैयार किया जाता है। वैद्यक में इसे कषाय, कटु, शीतल, व्रण, योनिरोग, दाह, पित्त, कफ, रुधिरविकार, सूजन और रक्त पित्त को दूर करनेवाला माना है। छोटे

पत्तियोंवाले वृक्ष को अधिक गुणदायक लिखा है। राम-
अजीर। पाखर। जंगली पिपली। पलखन।

पाकरिपु—संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र।

पाकल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुछ की दवा। वह दवा जिससे
कुछ अच्छा होता हो। (२) फोड़े को पकानेवाली दवा।
(३) वह सन्निपात ज्वर जिसमें पित्त प्रवृद्ध, वातमध्य
और कफ हीन अवस्था में होता है और इनके बलाबल के
अनुसार इन तीनों ही की उपाधियाँ उसमें प्रकट होती हैं।
इसका रोगी प्रायः तीन दिन में मर जाता है। (४) हाथी
का बुखार। (५) अग्नि। आग।

पाकलि, पाकली—संज्ञा स्त्री० [सं०] काकड़ासींगी। कर्कटी।

पाकशाला—संज्ञा पुं० [सं०] रसोई का घर। बावरची खाना।

विशेष—बुद्धचिंतामणि के अनुसार घर के पूर्व दक्षिण के
कोण में पाकशाला बनाना उत्तम है। सुश्रुत के मतानुसार
धुआँ बाहर निकलने के लिये ऊपर की ओर इसमें एक
छोटी खिड़की भी होनी चाहिए।

पाकशासन—संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र।

पाकशुक्ला—संज्ञा स्त्री० [सं०] खड़िया मिट्टी।

पाकस्थली—संज्ञा स्त्री० [सं०] इंदर का वह स्थान जहाँ आहार-
द्रव्य जठराग्नि या पाचक रस की क्रिया से पचता है।
पक्वाशय।

पाकहंता—संज्ञा पुं० [सं० पाकहंतृ] पाकशासन। इंद्र।

पाका—संज्ञा पुं० [हिं० पकना] फोड़ा।

पाकागार—संज्ञा पुं० [सं०] रसोई घर।

पाकात्यय—संज्ञा पुं० [सं०] आँखों का एक रोग जिसमें आँख
का काठा भाग सफेद हो जाता है। आरंभ में इसमें एक
फोड़ा होता है और आँखों से गरम गरम आँसू गिरते हैं।
पुतली का सफेद हो जाना त्रिदोष का कोप सूचित करता
है। इस दशा में यह रोग असाध्य समझा जाता है।

पाकारि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र। (२) सफेद कचनार
का वृक्ष।

पाकी—संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) निर्मलता। पवित्रता।
शुद्धता। (२) परहेजगारी।

मुहा०—पाकी लेना = उपस्थ पर के बाल साफ करना।

पाकीजा—वि० [फा०] [संज्ञा पाकीजगी] (१) पाक। पवित्र।
शुद्ध। (२) खूबसूरत। सुंदर। (३) बेऐव। निर्दोष।

पाकुक—संज्ञा पुं० [सं०] रसोइया। पाचक।

पाकेट—संज्ञा पुं० [अंग०] जेब। खीसा।

मुहा०—पाकेट गरम करना = (१) घूस लेना। (२) घूस
देना।

संज्ञा पुं० दे० 'पैकेट'।

संज्ञा पुं० [हिं०] जूट।

पाक्य—वि० [सं०] जो पच सके। पचने योग्य। पचनीय।

संज्ञा पुं० (१) काठा नमक। (२) सांभर नमक।

(३) जवाखार। (४) शोरा।

पाक्यक्षार—संज्ञा पुं० [सं०] (१) जवाखार। (२) शोरा।

पाक्यज—संज्ञा पुं० [सं०] कचिया नमक।

पाक्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सज्जी। (२) शोरा।

पाकदायण—वि० [सं०] (१) जो पच में एक बार हो या
किया जाय। (२) जो पच से संबंध रखता हो।

पाक्षिक—वि० [सं०] (१) पक्ष या पक्षवाड़े से संबंध रखने-
वाला। (२) जो पक्ष या प्रतिपक्ष में एक बार हो या
किया जाय। जैसे, पाक्षिक पत्र या बैठक। (३) किसी
विशेष व्यक्ति का पक्ष करनेवाला। पक्षवाही। तरफदार।
(४) दो माताओं का (छंद)।

संज्ञा पुं० पक्षियों को मारनेवाला। व्याध। बहेलिया।

पाखंड—संज्ञा पुं० [सं० पाखंड] (१) वेद विरुद्ध आचार।
(२) वह भक्ति या उपासना जो केवल दूसरों के दिखाने
के लिये की जाय और जिसमें कर्त्ता की वास्तविक निष्ठा
वा श्रद्धा न हो। ढोंग। आडंबर। ढकोसला। (३)
वह व्यय जो किसीको धोखा देने के लिये किया जाय।
वकभक्ति। छल। धोखा। (४) नीवता। शरारत।

मुहा०—पाखंड फैलाना = किसीको ठगने के लिये उपाय रचना।
बुरे हेतु से ऐसा काम करना जो अच्छे इरादे से किया हुआ जन
पड़े। मकर फैलाना। ढकोसला खड़ा करना। जैसे, (क)
उस (साधु) ने कैसा पाखंड फैला रखा है। (ख)
वह तुम्हारे पाखंड को ताड़ गया।

वि० पाखंड करने वाला। पाखंडी।

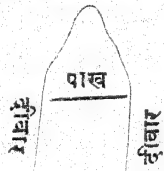
पाखंडी—वि० [सं० पाखंडिन्] (१) वेद विरुद्ध आचार करने-
वाला। वेदाचार का खंडन या निंदा करनेवाला।

विशेष—पद्मपुराण में लिखा है—जो नारायण के अतिरिक्त
अन्य देवता को भी बंदनीय कहता है, जो मस्तक आदि
में वैदिक चिह्नों को धारण न कर अवैदिक चिह्नों को
धारण करता है, जो वेदाचार को नहीं मानता, जो सदा
अवैदिक कर्म करता रहता है, जो वानप्रस्थाश्रमी न होकर
जटावल्कल धारण करता है, जो ब्राह्मण होकर हरि के
अत्यंत प्रिय शंख चक्र ऊर्ध्वपुंड्र आदि चिह्न धारण नहीं
करता, जो बिना भक्ति के वैदिक यज्ञ करता है, जीवहिंसक,
जीवभक्षक, अप्रशस्त दान लेनेवाला, पुजारी, ग्रामयाजक
(पुरोहित), अनेक देवताओं की पूजा करनेवाला,
देवता के जूटे वा श्राद्ध के अन्न पर पेट पालनेवाला, शूद्र
के से कर्म करनेवाला, निषिद्ध पदार्थों को खानेवाला,
लोभ मोह आदि से युक्त, परस्त्रीगामी, आश्रम धर्म का
पालन न करनेवाला, जो ब्राह्मण सभी वस्तुओं को खाता

वा बेचता हो, पीपल तुलसी तीर्थ स्थान आदि की सेवा न करनेवाला, सिपाही लेखक दूत रसोइया आदि के व्यवसाय और मादक पदार्थों का सेवन करनेवाला ब्राह्मण पाखंडी हैं। पाखंडी के साथ उठना बैठना, उसके घर जल पीना वा भोजन करना विशेष रूप से निषिद्ध है। यदि किसी प्रकार एक बार भी इस निषेध का उल्लंघन हो जाय तो परम वैष्णव भी इस पाप से पाखंडी हो जायगा। मनुस्मृति के मत से पाखंडी का वाणी से भी सत्कार न करे और राजा उसे अपने राज्य से निकाल दे।

(२) बनावटी धार्मिकता दिखानेवाला। जो बाहर से परम धार्मिक जान पड़े पर गुप्त रीति से पापाचार में रत रहता हो। कपटाचारी। बगला भगत। (३) दूसरों को ठगने के निमित्त अनेक प्रकार के आयोजन करनेवाला। ठग। धोखेबाज। धूर्त।

पाख-संज्ञा पुं० [सं० पत्त] (१) महीने का आधा। पंद्रह दिन। पखवाड़ा। (२) मकान की चौड़ाई की दीवारों के वे भाग जो ठाठ के सुभीते के लिये लंबाई की दीवारों से त्रिकोण के आकार में अधिक ऊँचे किए जाते हैं और जिन पर लकड़ी का वह लंबा मोटा और मजबूत लट्ठा रखा जाता है जिसको 'बड़ेर' कहते हैं। कच्चे मकानों में प्रायः और पक्के में भी कभी कभी पाख बनाए जाते हैं। इनसे ठाठ को ढालू करने में सहायता होती है। पाख के सबसे ऊँचे भाग पर बड़ेर रखी जाती है जिसपर सारे ठाठ और खपरैलों का भार होता है। पाख का आकार इस प्रकार का होता है



पाखर- संज्ञा स्त्री० [सं० प्रत्तर, प्रक्खर] (१) लोहे की वह झूल जो लड़ाई के समय रक्षा के लिये हाथी वा घोड़े पर डाली जाती है। चार आईना। (२) शाल चढाया हुआ टाट या उससे बनी हुई पोशाक।

संज्ञा पुं० दे० "पाकर"।

पाखरी- संज्ञा स्त्री० [हिं० पाखर = झूल] टाट का बना हुआ वह विस्तर जिसको गाड़ी में पहले बिछाकर तब अनाज भरा जाता है।

पाखा-संज्ञा पुं० [सं० पत्त, प्रा० पक्ख] (१) कोना। छोर। उ०—
पावक भाष्यो विष्णुपदी सौ शंभु तेज अति घोरा । तजहु हिमाचल के पाखा में यह सम्मत है मोरा।—रघुराज।
(२) दे० "पाख (२)"।

पाखान*-संज्ञा पुं० [सं० पाषाण] पत्थर।

पाखानभेद-संज्ञा पुं० दे० "पाखानभेद"।

पाखाना-संज्ञा पुं० [फा०] (१) वह स्थान जहाँ मल त्याग किया जाय। (२) भोजन के पाचन के उपरान्त बचा हुआ मल जो अधोमार्ग से निकल जाता है। गू। गलीज। पुरीष।

मुहा०-पाखाने जाना = मलत्याग के लिये जाना। **पाखाना निकलना** = मारे भय के बुरा हाल होना। जैसे, उन्हें देखते ही इनका पाखाना निकलता है। **पाखाना फिरना** = मल त्याग करना। **पाखाना फिर देना** = डर से घबरा जाना। भय से अत्यंत व्याकुल हो जाना। जैसे, शेर को देखनेही डर के मारे पाखाना फिर दोगे। **पाखाना लगना** = मल निकलने की आवश्यकता जान पड़ना। मल का वेग जान पड़ना।

पाग-संज्ञा स्त्री० [हिं० पग = पैर] पगड़ी।

विशेष-कहते हैं कि पगड़ी पहले पैर के घुटने पर बांधकर तब सिर पर रखी जाती थी, इसीसे यह नाम पड़ा।

संज्ञा पुं० [सं० पाक] (१) दे० "पाक"। (२) वह शीरा या चाशनी जिसमें मिठाईयाँ वा दूसरी खाने की चीजें डुबा कर रखी जाती हैं। उ०—आखर अरथ मंजु मनु मोदक राम प्रेम पाग पागिहै।—तुलसी। (३) चीनी के शीरे में पकाया हुआ फल आदि। जैसे, कुम्हड़ा पाग। (४) वह दवा या पुष्टई जो चीनी या शहद के शीरे में पका कर बनाई जाय और जिसका सेवन जलपान के रूप में भी कर सकें।

पागना-कि० सं० [सं० पाक] शीरे वा किवाम में डुबाना। मीठी चाशनी में सानना वा लपेटना। उ०—आखर अरथ मंजु मनु मोदक राम प्रेम पाग पागिहै।—तुलसी।
कि० अ० किसी विषय में अत्यंत अनुरक्त होना। डूबना। मग्न होना। तन्मय होना। उ०—(क) पिय पागे परोसिन के रस में बस में न कहूँ बस मेरे रहूँ।—पद्माकर। (ख) तब वसुदेव देवकी निरखत परम प्रेम रस पागे।—सूर।

पागल-वि० [सं०] [स्त्री० पगली] (१) विविस। बौड़हा। सनकी। बाबला। सिड़ी। जिस का दिमाग ठीक नहो।

यौ०-पागलखाना। पागलपन।

(२) क्रोध, शोक वा प्रेम आदि के उद्वेग में जिसकी भला बुरा सोचने की शक्ति जाती रही हो। जिसके होश हवास दुस्त न हों। आपे से बाहर। जैसे, (क) वे उनके प्रेम में पागल हो रहे हैं। (ख) वे मारे क्रोध के पागल हो गए हैं। (३) मूर्ख। नासमझ। बेवकूफ। जैसे, तुम निरे पागल हो।

पागलखाना-संज्ञा पुं० [हिं० पागल + फा० खाना] वह स्थान जहाँ

पागलों को रखकर उनका इलाज किया जाता है। पागलों के रखने का स्थान।

पागलपन—संज्ञा पुं० [हिं० पागल + पन (प्रत्य०)] (१) वह बीषण मानसिक रोग जिससे मनुष्य की बुद्धि और इच्छा शक्ति आदि में अनेक प्रकार के विकार होते हैं। उन्माद। बावलापन। विचित्रता। चित्तविभ्रम। विशेष—दे० “उन्माद”। (२) मूर्खता। बेवकूफी।

पागली—संज्ञा स्त्री० दे० “पगली”।

पागुरा—संज्ञा पुं० दे० “जुगाली”।

पाचक—वि० [सं०] जो किसी कच्ची वस्तु को पचावे वा पकावे। पचाने वा पकानेवाला।

संज्ञा पुं० (१) वह नमकीन वा चारयुक्त औषध जो भोजन को पचाने और भूख तथा पाचन शक्ति को बढ़ाने के लिये खाई जाती है। (२) [स्त्री० पाचिका] भोजन पकानेवाला। रसोइया। बावर्ची। (३) पाँच प्रकार के पित्तों में से एक पित्त।

विशेष—वैद्यक में इसका स्थान आमाशय और पक्वाशय माना गया है। यही भोजन को पचाता और उससे उत्पन्न रस-वायु, पित्त, कफ, मूत्र, पुरीष आदि को अलग अलग करता है। अपने में स्थित अग्नि द्वारा यह अन्य चार पित्त स्थानों की क्रियाओं में सहायता करता है।

(४) पाचक पित्त में रहनेवाली अग्नि। (शरीर की गरमी का घटना बढ़ना इसी अग्नि की सबलता और निर्बलता पर निर्भर है)।

पाचन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पचाने या पकाने की क्रिया। पचाना वा पकाना। (२) खाए हुए आहार का पेट में जाकर शरीर की धातुओं के रूप में परिवर्तन। अन्न आदि का पेट में जाकर उस रूप में आना जिस रूप में वह शरीर का पोषण करता है। विशेष—दे० ‘पक्वाशय’।

पौ०—पाचनशक्ति।

(३) वह औषधि जो आम अथवा अपक्व दोष को पचावे।

विशेष—पाचन औषध प्रायः काढ़ा करके दी जाती है। यह औषध १६ गुने पानी में पकाई जाती है और चौथाई रह जाने पर व्यवहार में लाई जाती है। वैद्यक में प्रत्येक रोग के लिये अलग अलग पाचन लिखा है जो कुल मिलाकर ३०० से अधिक होते हैं।

(४) प्रायश्चित्त। (५) खट्टा रस। (६) अग्नि।

(७) लाल पुरंड।

वि० (१) पचानेवाला। हाजिम। (२) किसी विशेष वस्तु के अजीर्ण को नाश करनेवाली औषधि।

विशेष—विशेष विशेष वस्तुओं के खाने से उत्पन्न अजीर्ण

विशेष पदार्थों के खाने से नष्ट होता है। जो वस्तु जिसके अजीर्ण को नष्ट करती है उसे उसका पाचन कहते हैं। जैसे, कटहल का पाचन केला, केले का घी और घी का जैभीरी नीबू पाचक है। इसी प्रकार आम और भात के अजीर्ण का दूध, दूध के अजीर्ण का अजवायन, मछली तथा मांस के अजीर्ण का मट्ठा पाचन है। गरम मसाला हल्दी, हींग, सेण्ट, नमक आदि साधारण रीति से सभी द्रव्यों के पाचन हैं।

पाचनक—संज्ञा पुं० [सं०] सोहागा।

पाचनगण—संज्ञा पुं० [सं०] पाचन औषधियों का वर्ग। जैसे, काली मिर्च, अजवायन, सेण्ट, चव्य, गजपीपल, काकड़ा-सिंगी आदि।

पाचनशक्ति—संज्ञा स्त्री० [सं०] वह शक्ति जो भोजन को पचावे। आमाशय और पक्वाशय में रहनेवाले पित्त तथा अग्नि की शक्ति। हाजमा।

पाचना—क्रि० सं० [सं० पाचन] (१) पकाना। (२) अच्छी तरह पकाना। परिपक्व करना। उ०—निसि दिन स्याम सुमिरि यश गावे कलपन मेदि प्रेमरस पाचै।—सूर

पाचनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] हड।

पाचनीय—वि० [सं०] जो पचाई या पकाई जा सके। पचाने या पकाने योग्य। पाच्य।

पाचयिता—वि० [सं० पाचयत्] (१) पाक करनेवाला। रसोइया। (२) पचानेवाला। हाजिम।

पाचरा—संज्ञा पुं० [देश०] दे० “पच्चर”।

पाचिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] रसोईदारिन। रसोई करनेवाली।

पाचो—संज्ञा स्त्री० [सं० पत्रो] एक प्रकार की लता जिसे वैद्यक में कटु, तिक्त, कषाय, उष्ण, वातविकार, प्रेत और भूत की बाधा, चर्मरोग और फोड़े फुंसियों में उपकारक माना है। पाची या पची लता। मर्कतपत्री। हरित पत्रिका।

पाच्छा, पाच्छाह—संज्ञा पुं० दे० “बादशाह”।

पाच्य—वि० [सं०] जो पचाया या पकाया जा सके। पचाने या पकाने योग्य। पचनीय।

पाछ—संज्ञा स्त्री० [हिं० पाचना] (१) जंतु या पौधे के शरीर पर छुरी की धार आदि मारकर ऊपर ऊपर किया हुआ घाव जो गहरा न हो। (२) पोस्ते के डोडे पर नहरनी से लगाया हुआ चीरा जिससे गोंद के रूप में अफीम निकलती है। (३) किसी वृत्त पर उसका रस निकालने के लिये लगाया हुआ चीरा।

क्रि० प्र०—देना।—लगाना।

[संज्ञा पुं० [सं० पश्चात्, प्रा० पच्छा] पीछा। पिछड़ा भाग।

क्रि० वि० पीछे। उ०—ब्रह्म लोक लागि गयउँ मैं चितथउँ

पाछ उड़ात । जुग अंगुल कर बीच सब राम भुजहिं मोहिं तात ।—तुलसी ।

पाछना—कि० सं० [हिं० पंछा] जंतु या पौधे के शरीर पर छुरी की धार इस प्रकार मारना कि वह दूर तक न धँसे और जिससे केवल ऊपर ऊपर का रक्त आदि निकल जाय । छुरा वा नहरनी आदि से रक्त, पंछा या रस निकालने के लिये हलका चीरा लगाना । चीरना । उ०—पुनि सुत वचन कहत कैकेई । मरमु पाछि जनु माहुर देई ।—तुलसी ।

पाछल, पाछलु*—वि० दे० “पिछला” ।

पाछा*—संज्ञा पुं० दे० “पीछा” ।

पाछिल, पाछिलो*—वि० दे० “पिछला” । उ०—पाछिल मोह समुक्ति पछताना । ब्रह्म अनादि मनुज कर माना ।—तुलसी ।

पाछी*—कि० वि० [हिं० पाछ] पीछे की ओर । पीछे । उ०—यक दिन मृतक राखि यक बाछी । नंददास घर के कछु पाछी ।—रघुराज ।

पाछी*—कि० वि० दे० “पीछे” ।

पाछै, पाछै*—कि० वि० दे० “पीछे” ।

पाज—संज्ञा पुं० [सं० पाजस्य] पाँजर । उ०—निरखि छवि फूलत हैं ब्रजराज । उत जमुदा इत आपु परस्पर आडे रहे कर पाज ।—सूर ।

पाजरा—संज्ञा पुं० [देश०] एक वनस्पति जिससे रंग निकाला जाता है ।

पाजस्य—संज्ञा पुं० [सं०] पाँजर । छाती और पेट की बगल का भाग । पार्श्व ।

पाजा—संज्ञा पुं० [देश०] दे० “पायजा” ।

पाजामा—संज्ञा पुं० [फा०] पैर में पहनने का एक प्रकार का सिला हुआ वस्त्र जिससे टखने से कमर तक का भाग ढका रहता है । इसके टखने की ओर के अंतिम भाग को मुहरी या मोहरी, जितना भाग एक एक पैर में होता है उसे पायचा, दोनों पायचों के मिलानेवाले भाग को मियानी, कमर की ओर के अंतिम भाग को जिसमें इजारबंद रहता है नेफा और जिस सूत या रेशम के बंधनों को नेफे में डालकर कसते हैं, उसे इजारबंद कहते हैं । पाजामे के कई भेद हैं—(क) चूड़ीदार, जो घुटने के नीचे इतना तंग होता है कि सहज में पहना या उतारा नहीं जा सकता । पहनने पर घुटने के नीचे इसमें बहुत से मोड़ पड़ जाते हैं । इसके भी दो भेद होते हैं—आड़ा और खड़ा । आड़े की काट नीचे से ऊपर तक आड़ी और खड़े की खड़ी होती है । कभी कभी इसमें मोहरी की तरफ तीन बटन लगते हैं । उस दशा में मोहरी और भी तंग रखी जाती है । (ख) बरदार, जो घुटने के नीचे और ऊपर बराबर चौड़ा होता है । इसकी एक एक मुहरी एक

हाथ से कम चौड़ी नहीं होती । (ग) अरबी, जिसकी मोहरी चूड़ीदार से अधिक ढीली होती है और जो अधिक लंबा न होने के कारण सहज में पहन लिया जाता है ।

(घ) पतलूननुमा जिसकी मोहरी बरदार से कम और अरबी से अधिक चौड़ी होती है । आजकल इसी पाजामे का रबाज अधिक है । (ङ) कलीदार या जनाना पाजामा जो नेफे की तरफ कम और मोहरी की तरफ अधिक चौड़ा रहता है । इसके नेफे का घेरा १ गज और मोहरी का २½ गिरह होता है । इसमें बहुत सी कलियाँ होती हैं जिनका चौड़ा भाग मोहरी की ओर और तंग भाग नेफे की ओर होता है । (च) पेशावरी, जो कलीदार का प्रायः उलटा होता है अर्थात् नेफा १½ गज और मोहरी प्रायः २½ गिरह चौड़ी होती है । (छ) काबुली और (ज) नेपाली भी इसी प्रकार के होते हैं । पहले के नेफे का घेरा ४ गज और दूसरे का २½ गज होता है । इनमें कलियों की स्थापना कलीदार की उलटी होती है । सुथना । तमान । इजार ।

विशेष—पाजामे का व्यवहार इस देश में कब से आरंभ हुआ उपलब्ध इतिहासों से इसका निश्चय नहीं होता । अधिकतर लोगों का खयाल है कि यह मुसलमानों के साथ यहाँ आया । पहले यहाँ के लोग धोती ही पहना करते थे । परंतु पहाड़ियों और शीत प्रधान प्रदेशों के रहनेवालों में आजकल इसका जितना व्यवहार है उससे संदेह हो सकता है कि पहले भी उनका काम इसके बिना न चलता रहा होगा । आजकल हिंदू मुसलमान दोनों पाजामा पहनते हैं, पर मुसलमान अधिक पहनते हैं ।

पाजी—संज्ञा पुं० [सं० पदाति] (१) पैदल सेना का सिपाही । प्यादा । (२) रत्नक । चौकीदार । उ०—पउरी नवउ बजर कइ साजी । सहस सहस तहँ बइठे पाजी ।—जायसी ।

वि० [सं० पाय्य] दुष्ट । लुब्धा । खोटा । कमीना ।

पाजीपन—संज्ञा पुं० [हिं० पाजी + पन (प्रत्य०)] दुष्टता । खुटाई । कमीनापन । नीचता ।

पाजेव—संज्ञा स्त्री० [फा०] स्त्रियों का एक गहना जो पैरों में पहना जाता है । यह चाँदी का होता है और इसमें अँगूरु टके होते हैं । मंजीर । नूपुर ।

पाटंबर—संज्ञा पुं० [सं०] रेशमी वस्त्र । रेशमी कपड़ा ।

पाट—संज्ञा पुं० [सं० पट्ट, पाट] (१) रेशम ।

यौ०—पाटंबर । पाटकूमि ।

(२) बटा हुआ रेशम । नख । (३) रेशम के कीड़े का एक भेद । (४) पटसन या पाटसन के रेशे । जैसे, पाट की धोती । विशेष—दे० “पटसन” । (५) राज्यासन । सिंहासन । गद्दी ।

यौ०—राजपाट । पाटरानी । पाटमहिषी ।

(६) चौड़ाई । फैलाव । जैसे, नदी का पाट, धोती का पाट । (७) पल्ला । पीड़ा । तबड़ा । (८) कोई शिला या पटिया । (९) वह शिला जिसपर धोबी कपड़े धोता है । (१०) चक्की का एक ओर का भाग । (११) वह चिपटा शहतीर जिसपर कोरूहू हांकनेवाला बैठता है । (१२) वह शहतीर जो कुएँ के मुँह पर पानी निकालने-वाले के खड़े होने के लिये रखा जाता है । (१३) मृदंग के चार वर्णों में से एक । (१४) बैलों का एक रोग जिसमें उनके रोश्रों से रक्त बहता है ।

क्रि० प्र०—फूटना ।

पाटक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक स्वरवाद्य । (२) गाँव का आधा भाग । (३) तट । किनारा । (४) पासा ।

पाटकरण—संज्ञा पुं० [सं०] शुद्ध जाति के रागों का एक भेद ।

पाटचर—संज्ञा पुं० [सं०] चोर ।

पाटद—संज्ञा पुं० [सं०] कपास ।

पाटन—संज्ञा स्त्री० [हिं० पाटना] (१) पाटने की क्रिया वा भाव । पटाव । (२) जो कुछ पाटकर बनाया जाय । कच्ची या पक्की छत । (३) मकान की पहली मंजिल से ऊपर की मंजिलें । (४) सर्प का विष उतारने के मंत्र का एक भेद । जिसको साँप ने काटा हो उसके कान के पास पाटन मंत्र चिह्नकर पढ़ा जाता है । उ०—काम भुवंग विषय लहरी सी । मणि मयूर पाटन गहरी सी ।—विश्राम । (५) कई प्राचीन नगरों के नाम ।

संज्ञा पुं० [सं०] पाटने की क्रिया वा भाव ।

पाटना—क्रि० सं० [हिं० पाट] (१) किसी नीचे स्थान को उसके आस पास के धरातल के बराबर कर देना । किसी गहराई को मिट्टी, कूड़े आदि से भर देना । (२) किसी चीज की रेल पेल कर देना । ढेर लगा देना । उ०—नाटक नाट्य धार घाटन में सुख पाटत कमनीया ।—रघुराज । (३) दो दिवारों के बीच या किसी गहरे स्थान के आर पार धरन, लकड़ी के बरले आदि बिछाकर आधार बनाना । छत बनाना । (४) तृप्त करना । सींचना ।

पाटमहिषी—संज्ञा स्त्री० [सं० पट्ट = सिंहासन + महिषा = रानी] वह रानी जो राजा के साथ सिंहासन पर बैठ सकती हो । पट-रानी । प्रधान रानी ।

पाटरानी—संज्ञा स्त्री० [सं० पट्ट = सिंहासन + रानी] पटरानी । प्रधान रानी ।

पाटल—संज्ञा पुं० [सं०] पाड़र या पाडर का पेड़ जिसके पत्ते बेल के समान होते हैं । लाल और सफेद फूलों के भेद से यह दो प्रकार का होता है । वैद्यक में इसे उष्ण, कषाय, स्वादिष्ट तथा अरुचि, सूजन, रुधिरविकार, श्वास और

तृषा आदि को दूर करनेवाला माना है ।

पर्या०—पाटला । कर्बुरा । अमोघा । फलेरुहा । अंबु-वासिनी । कृष्णवृंता । काकवृंता । कुंभी । ताम्रपुष्पी । कुबेराक्षी । तोयपुष्पी । वसंतदूती । स्थाली । स्थिरगंधा । अंबुवासी । कोकिला ।

पाटलकीट—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कीड़ा ।

पाटलद्रुम—संज्ञा पुं० [सं०] पुन्नाग वृक्ष । राजचंपक ।

पाटला—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पाडर का वृक्ष । (२) लाल लोथ । (३) जलकुंभी । (४) दुर्गा का एक रूप ।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बढ़िया सोना जो भारत में ही शुद्ध करके काम में लाया जाता है । वह बंक के सोने से कुछ हलका और सस्ता होता है ।

पाटलावती—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुर्गा । (२) प्राचीन काल की एक नदी का नाम ।

पाटलि, पाटली—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पाडर का वृक्ष । (२) पांडुफली ।

पाटलिपुत्र, पाटलीपुत्र—संज्ञा पुं० [सं०] मगध का एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगर जो इस समय भी बिहार का मुख्य नगर है । आजकल यह पटने के नाम से प्रसिद्ध है । प्राचीन पाटलिपुत्र वर्तमान पटने से प्रायः २½ मील पूर्व गंगा के तट पर जहाँ इस समय कुम्हारार नामक ग्राम है स्थित था । खुदाई से वहाँ उसके बहुत से चिह्न मिले हैं । बुद्ध की परवर्ती कई शताब्दियों में यह नगर भारत का सर्व प्रधान नगर और अत्यंत उन्नत तथा समृद्ध था । विदेशी यात्रियों ने अपने यात्रा-वृत्तांतों में इसकी बड़ी प्रशंसा लिखी है । प्राचीन पुस्तकों में इसका नाम पुष्पपुर और कुसुमपुर भी लिखा है । वर्तमान पटना शेरशाह सूर का बसाया हुआ है ।

विशेष—ब्रह्मपुराण में लिखा है कि महाराज उदायी या उदयन ने गंगा के दाहिने किनारे पर इस नगर को बसाया । यह मगधराज अजातशत्रु का पुत्र था जो बुद्ध का समकालिक था । बौद्धों के “महानिष्वाहनसुत्त” नामक ग्रंथ में इसके निर्माण के विषय में यह कथा लिखी है—मगवान बुद्ध नालंद से वैशाली जाते हुए पाटली ग्राम में पहुँचे । वहाँ के निवासियों ने उनके लिये एक विश्रामागार बनवा दिया । उन्होंने आशीर्वाद दिया कि यह ग्राम एक विशाल नगर होगा और अग्नि, जल तथा विश्वासघातकता के आघात सहन करेगा । मगधराज के दो मंत्री कोई ऐसा नगर बसाने के लिये उपयुक्त स्थान ढूँढ़ रहे थे जिसमें रहकर निशिव नामक ब्राह्मण क्षत्रियों के आक्रमण से देश की रक्षा की जा सके । उप-

युक्त आशीर्वाद की बात सुनते ही उन्होंने पाटली में नगर बसाना आरंभ कर दिया। इसीका नाम पाटलिपुत्र पड़ा। भविष्य पुराण के अनुसार विश्वामित्र के पिता गांधी की कन्या पाटली के इच्छानुसार कौडिल्य मुनि के पुत्र ने मंत्र-बल से इस नगर को बसाया और इसीसे पाटलीपुत्र नाम रखा।

पाटली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पाडर। (२) पांडुफली। (३) पटने की अधिष्ठात्री देवी। (४) गांधी की पुत्री जिसके अनुरोध से पाटलीपुत्र बसा।

संज्ञा स्त्री० [हि० पाट] लकड़ी की एक बल्ली जिसमें बहुत से छेद होते हैं और प्रत्येक छेद में से मस्तूल की एक एक रस्सी निकाली जाती है। इससे रात में किसी विशेष रस्सी को अलग करने में कठिनाई नहीं पड़ती। (लश०)

पाटली तैल-संज्ञा पुं० [सं०] एक औषध-तैल जिसके लगाने से जले हुए स्थान की जलन, पीड़ा और चप बहना दूर होता है, इससे चेचक की भी शांति होती है। इसके बनाने की विधि इस प्रकार है—पाडर या पाडर की छाल के ८ सेर का १४ सेर पानी में काढ़ा किया जाय। चौथाई रह जाने पर ८ सेर सरसों के तेल में डालकर फिर धीमी आंच में वह पकाया जाय। तेलमात्र रह जाने पर छानकर काम में लाए।

पाटलोपल-संज्ञा पुं० [सं०] एक मणि जिसका रंग सफेदी लिए हुए लाल होता है। लाल।

पाटव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पटुता। चतुराई। कुशलता। चालाकी। (२) इढ़ता। मज़बूती। पक्कापन। (३) आरोग्य।

पाटविक-वि० [सं०] (१) पटु। कुशल। (२) धूर्त।

पाटवी-वि० [हि० पाट] (१) पटरानी से उत्पन्न (राज-कुमार)। उ०—तैं मम प्रभु सुत पाटवी मैं तुव पितु पद दास।—रघुराज। (२) रेशमी। कौषेय। रेशम से बुना हुआ (वस्त्र)। उ०—गल हैकन सिर सुवरण शृंगा। पीठ पाटवी भूख अभंगा।—रघुराज।

पाटसन-संज्ञा पुं० [सं० पटशण] पटसन। पटुआ।

पाटहिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पटह बजानेवाला। उस बड़े ढोल का बजानेवाला जो लड़ाई आदि में बजता है। (२) गुंजा। घुंघची।

पाटा-संज्ञा पुं० [हि० पाट] (१) पीड़ा।

मुहा०—पाटा फेरना = पीड़ा बदलना। विवाह में वर के पाटे पर कन्या को और कन्या के पाटे पर वर को बिठाना।

(२) दो दीवारों के बीच बांस, बल्लो, पटिया, आदि देकर बनाया हुआ आधारस्थान जिस पर चीजें रखी जाती हैं। दासा।

पाटिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक दिन की मजदूरी।

३८३

(२) एक पौधा। (३) छाल या छिलका।

पाटित-वि० [सं०] काटा हुआ।

पाटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) परिपाटी। अनुक्रम। रीति।

(२) गणनादि का क्रम। जोड़, बाकी, गुणा, भाग आदि का क्रम।

यौ०—पाटीगणित।

(३) श्रेणी। आवलि। पंक्ति। पांत। (४) बला नामक चुप। खरैटी।

हि० [सं० पाट, पाठी] (१) लकड़ी की वह प्रायः लंबोत्तरी पट्टी जिसपर विद्यारंभ करनेवाले छात्र गुरु से पाठ लेते वा लिखने का अभ्यास करते हैं। तख्ती। पटिया। (२) पाठ। सबक।

मुहा०—पाटी पढ़ना = पाठ पढ़ना। सबक लेना। शिवा पाना।

उ०—जुम कौन धों पाटी पढ़े हौ लला मन लेत हौ देत छुटाक नहीं।—घनानंद। पाटी पढ़ाना = पाठ पढ़ाना। शिवा देना। कोई बात सिखा देना।

(३) मांग के दोनों ओर तेल, गोद वा जल की सहायता से कंधी द्वारा बैठाए हुए बाल जो देखने में बराबर मालूम हों। पट्टी। पटिया। उ०—मुँड़नी पाटी पारन चाहें, नकटी पहिरै बेसर।—सूर।

क्रि० प्र०—पारना।—बैठाना।

(४) लकड़ी का वह गोला, चिपटा वा चौकोर पतला बल्ला जो खाट की लंबाई के बल में दोनों ओर रहता है। चारपाई के ढांचे में लंबाई की ओर की पट्टी। चारपाई के ढांचे का पार्श्वभाग। (५) चटाई।

यौ०—शीतलपाटी।

(६) शिष्टा। चट्टान। (७) मछलियाँ पकड़ने के लिये बहते पानी को मिट्टी के बाँध वा घुँचों की टहनियों आदि से रोककर एक पतले मार्ग से निकालने और वहाँ पहरा बिछाने की क्रिया।

क्रि० प्र०—बिछाना।—लगाना।

(८) खपरैल की नरिया का प्रत्येक आधा भाग। (९) जंती।

पाटीर-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का चंदन।

पाटूनी-संज्ञा पुं० [देश०] वह मल्लाह जो किसी घाट का ठेकेदार हो। घटवार।

पाट्य-संज्ञा पुं० [सं०] पटसन।

पाठ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पढ़ने की क्रिया या भाव। पढ़ाई।

(२) किसी पुस्तक विशेषतः धर्मपुस्तक को नियमपूर्वक पढ़ने की क्रिया वा भाव। जैसे, वेदपाठ, स्तोत्रपाठ।

यौ०—पाठदोष। पाठप्रणाली।

(३) जो कुछ पढ़ा या पढ़ाया जाय। पढ़ने वा पढ़ाने

का विषय। (४) उक्त विषय का उतना अंश जो एक दिन में वा एक बार पढ़ा जाय। सबक। संथा।

क्रि० प्र०—देना।—पढ़ना।—पाना।

मुहा०—पाठ पढ़ना = कुछ सीखना; विशेषतः कोई बुरी बात। जैसे, आज कल वे जुए का पाठ पढ़ रहे हैं। पाठ पढ़ाना = अपने मतलब के लिये किसीको बहकाना। पढ़ी पढ़ाना। उलटा पाठ पढ़ाना = कुछ का कुछ समझा देना। असलियत के विरुद्ध विरवास करा देना। बहका देना।

(५) पुस्तक का एक अंश। परिच्छेद। अध्याय। (६) शब्दों या वाक्यों का क्रम वा योजना। जैसे, अमुक पुस्तक में इस दोहे का यह पाठ है।

यौ०—पाठभेद। पाठांतर।

† [हिं० पढ़ा] जवान गाय, भैंस या बकरी।

पाठक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) जो पढ़े। पढ़नेवाला। वाचक। (२) जो पढ़ावे। पढ़ानेवाला। अध्यापक। (३) धर्मा-पदेशक। (४) गौड़, सारस्वत, सूर्यपारीण, गुजराती आदि ब्राह्मणों का एक वर्ग।

पाठदोष—संज्ञा पुं० [सं०] पढ़ने का वह ढंग वा पढ़ने के समय की वह चेष्टा जो निंद्य और वर्जित है। जैसे, विकृत वा कठोर स्वर से पढ़ना, अव्यक्त अस्पष्ट, सानुनासिक वा बहुत ठहर ठहरकर उच्चारण करना, गाकर पढ़ना, शिरादि अंगों को हिलाना। प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में ऐसे दोषों की संख्या अट्ठारह मानी गई है।

पाठन—संज्ञा पुं० [सं०] पढ़ाने की क्रिया वा भाव। पढ़ाना। अध्यापन।

पाठना*—संज्ञा स्त्री० [सं० पाठन] पढ़ाना।

पाठपद्धति—संज्ञा स्त्री० [सं०] पढ़ने की रीति वा ढंग।

पाठप्रणाली—संज्ञा स्त्री० [सं०] पढ़ने की रीति वा ढंग।

पाठभू—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह जगह जहाँ वेदादि का पाठ किया जाय। (२) ब्रह्मरथ।

पाठभेद—संज्ञा पुं० [सं०] वह भेद या अंतर जो एक ही ग्रंथ की दो प्रतियों के पाठ में कहीं कहीं हो। पाठांतर।

पाठमंजरी—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की मैना।

पाठशाला—संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्थान जहाँ पढ़ा वा पढ़ाया जाय। मदरसा। स्कूल। विद्यालय। चटसाल।

पाठशालिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की मैना। शारिका।

पाठांतर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक ही पुस्तक की दो प्रतियों के लेख में किसी विशेष स्थल पर भिन्न शब्द वाक्य अथवा क्रम। भिन्न भिन्न स्थलों में लिखे हुए एक ही वाक्य के कुछ शब्दों वा एक ही शब्द के कुछ अक्षरों का अदल बदल। जैसे, अमुक दोहे के कई पाठांतर मिलते हैं। अन्य पाठ। दूसरा पाठ। पाठभेद। (२) पाठां-

तर होने का भाव। पाठ का भेद। पाठभिन्नता।

पाठा—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक लता। पाड़। इसके पत्ते कुछ नोकदार गोल, फूल छोटे सफेद और फल मकोय के से होते हैं। फलों का रंग लाल होता है। यह दो प्रकार की होती है—छोटी और बड़ी। गुण दोनों के समान हैं। वैद्यक में यह कड़वी, चरपरी, गरम, तीखी, हलकी, दूटी हड्डियों को जोड़नेवाली, पित्त, दाह, शूल, अतिसार, वातपित्त, ज्वर, वमन, विष, अजीर्ण, त्रिदोष, हृदयरोग, रक्तकुष्ठ, कंडु, श्वास, कृमि, गुल्म, उदर रोग, व्रण और कफ वात का नाश करनेवाली मानी गई है।

विशेष—बहुधा लोग वाव पर इसकी टहनी को बांधे रहते हैं। वे समझते हैं कि इसके रहने से वाव बिगड़ या सड़ न सकेगा। इसकी सूखी जड़ मूत्राशय की जलन में लाभदायक होती है। पक्वाशय की पीड़ा में भी इसका व्यवहार किया जाता है। जहाँ साँप ने काटा या बिच्छू ने डंक मारा हो वहाँ भी ऊपर से इसके बांधने से लाभ होता है।

पर्या०—पाठिका। अंबष्टा। अंबष्टिका। यूथिका। स्थापनी। विद्वकर्णिका। दीपनी। वनतिक्तिका। तित्तपुष्पा। वृहत्तिका। मालती। वरा। प्रतानिनी। रक्तग्री। विषहंत्री। महौजसी। वीरा। वल्लिका।

संज्ञा पुं० [सं० पुष्ट, हिं० पड़ा] [स्त्री० पाठी] (१) वह जो जवान और परिपुष्ट हो। हृष्टपुष्ट। मोटा तगड़ा। जैसे, जब साठा तब पाठा। (२) जवान बैल, भैंसा या बकरा।

पाठालय—संज्ञा पुं० [सं०] पाठशाला।

पाठिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पढ़नेवाली। (२) पढ़ानेवाली। (३) पाठा। पाड़।

पाठित—वि० [सं०] पढ़ाया हुआ। सिखाया हुआ।

पाठी—संज्ञा पुं० [सं० पाठित्] (१) पाठ करनेवाला। पाठक। पढ़नेवाला।

यौ०—वेदपाठी। त्रिपाठी।

(२) चीता। चित्रक वृक्ष।

पाठीकुट—संज्ञा पुं० [सं०] चीते का पेड़।

पाठीन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पहिना वा पहिना नाम की मछली। (२) गूगल का पेड़।

पाठ्य—वि० [सं०] (१) जो पढ़ने योग्य हो। पठनीय। पठितव्य। (२) जो पढ़ाया जाय।

पाड़—संज्ञा पुं० [हिं० पाट] (१) धोती साड़ी आदि का किनारा (२) मचान। पायठ। (३) लकड़ी की जाली या ठटरी जो ऊए के मुँह पर रखी रहती है। कटकर। चह। (४) बाँध। पुरता। (५) वह तख्ता जिसपर खड़ा कराके फाँसी दी जाती है। टिकड़ी। (६) दो दीवारों के बीच

पटिया देकर या पाटकर बनाया हुआ आधारस्थान । पाटा दासा ।

पाड़इ-संज्ञा स्त्री० [सं० पाटल] पाटल नामक वृक्ष । उ०—
जहाँ निवारी सेवती मिलि भूमक हो । बहु पाड़इ विपुल
गँभीर मिलि भूमक हो ।—सूर ।

पाडल-संज्ञा पुं० दे० “पाटल” ।

पाडलीपुर-संज्ञा पुं० [सं० पाटलिपुत्र] दे० “पाटलीपुत्र” ।

पाडसाली-संज्ञा पुं० [देश०] दक्षिण भारत में रहनेवाली
जुलाहों की एक जाति । बावल कोट आदि स्थानों
में इस जाति के जुलाहे पाए जाते हैं । लिंगायतों से इनमें
बहुत कम अंतर है । ये भी गले में लिंग पहनते और सिर में
भस्म रमाते हैं । ये मांस मद्य आदि का सेवन नहीं करते ।
ये एक गोत्र में विवाह नहीं करते ।

पाड़ा-संज्ञा पुं० [सं० पहन] पुरवा । टोला । महल्ला ।

संज्ञा पुं० [देश०] एक सामुद्रिक मछली जो भारतीय
महासागर में पाई जाती है । यह प्रायः तीन फुट लंबी
होती है ।

पाडिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मिट्टी का बरतन । हाँडी ।

पाढ़-संज्ञा पुं० [सं० पाय] (१) पाटा । (२) सुनारों का एक
औजार जिससे नक़्क़ारी करते हैं । (३) वह पीढ़ा या पाटा
जिसपर बैठकर सुनार लुहार आदि काम करते हैं । (४)
लकड़ी की वह छोटी सीढ़ी जिसके डंडे कुछ ढालू होते
हैं । (५) वह मचान जिसपर फसल की रखवाली के लिये
खेतवाला बैठता है । (६) कुएँ के मुँह पर रखी हुई
लकड़ी की चढ़ । पाड़ ।

पाढ़त*-संज्ञा स्त्री० [हिं० पढ़ना] (१) जो कुछ पढ़ा जाय ।
जिसका पाठ किया जाय । (२) मंत्र । जादू । पढ़त ।
उ०—आई कुमोदिनी चितौर चढी । जोहन मोहन पाढ़त
पढ़ी ।—जायसी ।

पाढर-संज्ञा पुं० [सं० पाटल] पाडर का पेड़ ।

पाढल-संज्ञा पुं० दे० “पाटल” ।

पाढ़ा-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का हिरन । इसकी खाल
पर सफेद चित्तियाँ होती हैं । चित्रमृग ।

संज्ञा स्त्री० दे० “पाठा”

पाढी-संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) सूत की एक लच्छी । (२)
वह नाव जो यात्रियों को पार पहुँचाने के लिये नियत हो ।

पाण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) व्यापार । तिजारत । खरीद
विक्री । (२) दाँव । बाजी । (३) हाथ । कर । (४)
प्रशंसा ।

पाणि-संज्ञा पुं० [सं०] हाथ । कर ।

यौ०—पाणिग्रह । पाणिग्राहक ।

पाणिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जो खरीदा जा सके । सौदा ।

(२) हाथ । (३) कार्तिकेय का एक गण ।

पाणिकच्छुपिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] कूर्मसुद्रा ।

पाणिकर्म्म-संज्ञा पुं० [सं० पाणिकर्म्मन्] (१) शिव ।

(२) हाथ से बाजा बजानेवाला ।

पाणिकर्ण-संज्ञा स्त्री० [सं०] शिव ।

पाणिका-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का गीत वा छंद ।

(२) चम्मच के आकार का एक पात्र ।

पाणिकुर्चर्वा-संज्ञा पुं० [सं०] कार्तिकेय का एक गण ।

पाणिखात-संज्ञा पुं० [सं०] एक तीर्थस्थान ।

पाणिगृहीती-वि० स्त्री० [सं०] जिसका व्याह में पाणिग्रहण
किया गया हो । धर्मशास्त्रानुसार व्याही हुई ।

पाणिग्रह-संज्ञा पुं० [सं०] विवाह ।

पाणिग्रहण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विवाह की एक रीति
जिसमें कन्या का पिता उसका हाथ वर के हाथ में देता
है । विशेष—दे० “विवाह” । (२) विवाह । व्याह ।

पाणिग्रहणिक-वि० [सं०] (१) विवाह संबंधी ।

(२) विवाह में दिया जानेवाला (उपहार) ।

(३) विवाह में पढ़ा जानेवाला (मंत्र) ।

विशेष—आश्वलायन गृह्यसूत्र के “अथ्यमनं नु देवं कन्या अग्नि-
मयाक्षत” से लगाकर १६ वें सूत्र तक के मंत्र “पाणिग्रह-
णिक” कहाते हैं ।

पाणिग्रहणीय-वि० [सं०] (१) विवाह संबंधी । (२) विवाह
में दिया जानेवाला (उपहार) ।

पाणिग्राह, **पाणिग्राहक**-संज्ञा पुं० [सं०] पति ।

पाणिघ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो हाथ से कोई बाजा
बजावे । मृदंग ढोल आदि बजानेवाला । (२) हाथ से
बजाए जानेवाले मृदंग ढोल आदि बाजे । (३) कारी-
गर । शिल्पी ।

पाणिघात-संज्ञा पुं० [सं०] थप्पड़ । मुका । चपत । धूँसा ।

पाणिज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उँगली । (२) नख । नाखून ।

(३) नखी ।

पाणितल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हथेली । (२) वैद्यक में एक
परिमाण जो दो तोले के बराबर होता है ।

पाणिताल-संज्ञा पुं० [सं०] संगीत में एक विशेष ताल ।

पाणिधर्म-संज्ञा पुं० [सं०] विवाह संस्कार ।

पाणिन-संज्ञा पुं० दे० “पाणिनि” ।

पाणिनि-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रसिद्ध मुनि जिन्होंने अष्टाध्यायी
नामक प्रसिद्ध व्याकरणग्रंथ की रचना की । पेशावर के
समीपवर्ती शालातुर (सलात्) नामक ग्राम इनका
जन्मस्थान माना जाता है । इनकी माता का नाम
दाक्षी और दादा का देवल था । माता के नाम पर
इन्हें दाक्षीपुत्र या दाक्षेय तथा ग्राम के नाम पर शाला-

तुरीय कहते हैं। आहिक, प्राणिन, शालंकी आदि इनके और भी कई नाम हैं। इनके समय के विषय में पुरातत्त्वज्ञों में मतभेद है। भिन्न भिन्न विद्वानों ने इन्हें ईसा के पांच सौ, चार सौ और तीन सौ वर्ष पहले का माना है। किसी किसी के मत से ये ईसा की दूसरी शताब्दी में विद्यमान थे। अधिकतर लोगों ने ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी को ही आपका समय माना है। प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ और विद्वान् डा० सर रामकृष्ण भांडारकर भी इसी मत के पोषक हैं। पाणिनि के पहले शाक्य, वाजपेय, गालव, शाकटायन आदि आचार्यों ने संस्कृत व्याकरणों की रचना की थी; पर उनके व्याकरण सर्वांग सुंदर तो क्या पूर्ण भी न थे। पर इन्होंने बड़े परिश्रम से सब प्रकार के वैदिक और अपने समय तक प्रचलित सब शब्दों को एकट्ठाकर उनकी व्युत्पत्ति तथा रूप आदि के व्यापक नियम बनाए। इनकी “अष्टाध्यायी” इतनी उत्तम और सर्वांग सुंदर बनी कि आज प्रायः ढाई हजार वर्षों से व्याकरण विषय पर संस्कृत में जो कुछ लिखा गया प्रायः उसीके भाष्य, टीका या व्याख्यान के रूप में लिखा गया; एकाध को छोड़कर किसी वैयाकरण को नया ग्रंथ बनाने की आवश्यकता नहीं जान पड़ी। अष्टाध्यायी इनके प्रकांड शब्दशास्त्र-ज्ञान और असाधारण प्रतिभा का प्रमाण है। संस्कृत ऐसी भाषा के व्याकरण को जितने संचेप में इन्होंने निबटाया है उसे देखकर शब्दशास्त्रज्ञों को दाँतों उँगली दबानी पड़ती है। अष्टाध्यायी के अतिरिक्त “शिक्षा सूत्र” “गणपाठ” “धातुपाठ” और “लिंगानुशासन” नामक पुस्तकों की भी इन्होंने रचना की है। राजशेखर आदि कई कवियों ने जांबवती-विजय नामक पाणिनि के एक काव्य का भी उल्लेख किया है जिससे उद्धृत श्लोक इधर उधर मिलते हैं।

विशेष—हेनसांग ने इनकी व्याकरण रचना के विषय में लिखा है कि प्राचीनकाल में विविध ऋषियों के आश्रमों में विविध वर्णमालाएँ प्रचलित थीं। ज्यों ज्यों लोगों की आयुमर्यादा घटती गई त्यों त्यों उनके समझने और याद रखने में कठिनाई होने लगी। पाणिनि को भी इसी कठिनाई का सामना करना पड़ा। इसपर उन्होंने एक सुश्रुतलिखित और सुव्यवस्थित शब्दशास्त्र बनाने का निश्चय किया। शब्दविद्या की प्राप्ति के लिये उन्होंने शंकर का आराधन किया जिसपर उन्होंने प्रकट होकर यह विद्या उन्हें प्रदान की। घर आकर पाणिनि ने भगवान् शंकर से पढ़ी हुई विद्या को पुस्तक रूप में निबद्ध किया। तत्कालीन राजा ने उनके ग्रंथ का बड़ा आदर किया। राज्य की समस्त पाठशालाओं में उसके पठन पाठन की आज्ञा की और

बोधना की कि जो कोई उसे आदि से अंत तक पढ़ेगा उसे एक सहस्र स्वर्णमुद्राएँ इनाम दी जायँगी। इनके विषय में एक कथा यह भी प्रसिद्ध है कि एक बार ये जंगल में बैठे हुए अपने शिष्यों को पढ़ा रहे थे। इतने में एक जंगली हाथी आकर इनके और शिष्यों के बीच से होकर निकल गया। कहते हैं कि यदि गुरु और शिष्य के बीच में से जंगली हाथी निकल जाय तो बारह वर्ष का अनध्याय हो जाता है—१२ वर्ष तक गुरु को अपने शिष्यों को न पढ़ाना चाहिए। इसी कारण इन्होंने बारह वर्ष के लिये शिष्यों को पढ़ाना छोड़ दिया और इस बीच में अपने प्रसिद्ध व्याकरण की रचना कर डाली।

पाणिनीय—वि० [सं०] (१) पाणिनिकृत (ग्रंथ आदि) (२) पाणिनि प्रोक्त। पाणिनि का कहा हुआ। (३) पाणिनि में भक्ति रखनेवाला। पाणिनि भक्त। (४) पाणिनि का ग्रंथ पढ़नेवाला।

पाणिनीय दर्शन—संज्ञा पु० [सं०] पाणिनि का अष्टाध्यायी व्याकरण। “सर्वदर्शनसंग्रह”कार ने पाणिनीय व्याकरण को भी दर्शन की श्रेणी में स्थान दिया है। इस दर्शन के मत से स्फोट नामक निरवयव नित्य शब्द ही जगत् का आदि कारण रूप परब्रह्म है। अनादि अनंत अक्षर शब्द रूप ब्रह्म से जगत् की सारी क्रियाएँ अर्थ रूप से निकली हैं। इस दर्शन ने शब्द के दो भेद माने हैं। नित्य और अनित्य। नित्य शब्द स्फोट मात्र ही है, संपूर्ण वर्णात्मक शब्द अनित्य हैं। अर्थ बोधन-सामर्थ्य केवल स्फोट में है। वर्ण उस (स्फोट) की अभिव्यक्ति मात्र के साधन हैं। अग्नि शब्द में अकार, गकार, नकार और इकार ये चारों वर्ण मिलकर अग्नि नामक पदार्थ का बोध कराते हैं। अब यदि चारों ही में अग्नि वाचकता मानी जाय तो एक ही वर्ण के उच्चारण से सुननेवाले को अग्नि का ज्ञान हो जाना चाहिए था, दूसरे वर्ण तक के उच्चारण की आवश्यकता न होनी चाहिए थी। पर ऐसा नहीं होता। चारों वर्णों के एकत्र होने ही से उनमें अग्नि वाचकता आती हो तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि पर वर्ण के उत्पत्ति काल में पूर्व वर्ण का नाश हो जाता है। उनका एकत्र अवस्थान संभव ही नहीं। अतः मानना पड़ेगा कि उनके उच्चारण से जिस स्फोट की अभिव्यक्ति होती है वस्तुतः वही अग्नि का बोधक है। एक वर्ण के उच्चारण से भी यह अभिव्यक्ति होती है, पर यथेष्ट पुष्टि नहीं होती। इसीलिये चारों का उच्चारण करना पड़ता है। जिस प्रकार नीले, पीले, लाल आदि रंगों का प्रतिबिंब पड़ने से एक ही स्फटिक मणि में समय समय पर अनेक रंग उत्पन्न होते रहते हैं उसी प्रकार एक ही

स्फोट भिन्न भिन्न वर्णों द्वारा अभिव्यक्त होकर भिन्न भिन्न अर्थों का बोध कराता है। इस स्फोट को ही शब्दशास्त्रज्ञों ने सच्चिदानन्द ब्रह्म माना है। अतः शब्दशास्त्र की आलोचना करते करते क्रमशः अविद्या का नाश होकर मुक्ति प्राप्त होती है। “सर्वदर्शनसंग्रह” कार के मत से व्याकरण शास्त्र अर्थात् ‘पाणिनीय दर्शन’ सब विद्याओं से पवित्र, मुक्ति का द्वार स्वरूप और मोक्ष मार्गों में राजमार्ग है। सिद्धि के अभिलाषी को सबसे पहले इसी ही उपासना करनी चाहिए।

पाणिपञ्चव-संज्ञा पुं० [सं०] उँगलियाँ।

पाणिपीडन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाणिग्रहण। विवाह। (२) क्रोध, पश्चात्ताप आदि के कारण हाथ मलना।

पाणिबंध-संज्ञा पुं० [सं०] पाणिग्रहण। विवाह।

पाणिभुक्, पाणिभुज-संज्ञा पुं० [सं०] गूलर वृक्ष।

पाणिमर्द-संज्ञा पुं० [सं०] करमर्द। करौंदा।

पाणिमूल-संज्ञा पुं० [सं०] कलाई।

पाणिरुह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उँगली। (२) नख नाखून।

पाणिरखा-संज्ञा स्त्री० [सं०] हथेली पर की लकीरें।

पाणिवाद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मृदंग, ढोल आदि बजाने वाला। (२) मृदंग ढोल आदि बाजे। (३) ताली बजाना। (४) ताली बजानेवाला।

पाणिवादक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मृदंग आदि बजानेवाला। (२) ताली बजानेवाले।

पाणिहता-संज्ञा स्त्री० [सं०] ललितविस्तर के अनुसार एक छोटा तालाब जिसे देवताओं ने बुद्ध भगवान के लिये तैयार किया था। कहते हैं कि देवताओं ने एक बार हाथ से पृथ्वी को ठोक दिया जिससे वहाँ एक पुष्करिणी निकल आई।

पाणिहोम-संज्ञा पुं० [सं०] एक विशेष होम जो अधिकारी ब्राह्मण के हाथ से किया जाता है।

पाणी संज्ञा पुं० दे० “पाणि”।

पाणीतक-संज्ञा पुं० [सं०] कार्तिकेय का एक गण।

पाणीकरण-संज्ञा पुं० [सं०] विवाह। पाणिग्रहण।

पातंजल-वि० [सं०] पतंजलि रचित (ग्रंथ)। पतंजलि का बनाया हुआ (योगसूत्र वा व्याकरण महाभाष्य)।

यौ०-पातंजल दर्शन। पातंजलभाष्य। पातंजल सूत्र।

संज्ञा पुं० (१) पतंजलि कृत योगसूत्र। (२) पतंजलि प्रणीत महाभाष्य। (३) पातंजल योगसूत्र के अनुसार योग साधन करनेवाले।

पातंजलदर्शन-संज्ञा पुं० [सं०] योगदर्शन।

पातंजलभाष्य-संज्ञा पुं० [सं०] महाभाष्य नामक प्रसिद्ध व्याकरण ग्रंथ।

पातंजलसूत्र-संज्ञा पुं० [सं०] योगसूत्र।

पातंजलीय-वि० [सं०] दे० “पातंजल”।

पात-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गिरने की क्रिया या भाव। पतन। जैसे अधःपात।

यौ०-प्रपात।

(२) गिराने की क्रिया या भाव। जैसे, अश्रुपात।

रक्तपात। (३) टूटकर गिरने की क्रिया या भाव। फटने की क्रिया या भाव। जैसे, उत्कापात। डुमपात। (४)

नाश। ध्वंस। मृत्यु। जैसे, देहपात। (५) पड़ना। जालगना।

जैसे, दृष्टिपात, भूमिपात। (६) खगोल में वह स्थान जहाँ

नक्षत्रों की कक्षाएँ क्रांतिवृत्त को काटकर ऊपर चढ़ती या

नीचे आती हैं। यह स्थान बराबर बदलता रहता है और

इसकी गति वक्र अर्थात् पूर्व से पश्चिम को है। इस स्थान

का अधिष्ठाता देवता राहु है। (७) राहु।

[सं० पत्र] * (१) पत्ता। पत्र।

मुहा०-पातों आ लगना = पतझड़ होना या उसका समय आना।

विशेष-उर्दू की पुरानी कविता में इस मुहावरे का प्रयोग

मिलता है।

† (२) कान में पहनने का एक गहना। पत्ता। (३)

चाशनी। क्रिवाम। पत्त।

संज्ञा पुं० [सं० पत्र] कवि। (डि०)

पातक-संज्ञा पुं० [सं०] वह कर्म जिसके करने से नरक जाना,

पड़े। कर्त्ता को नीचे ढकेलनेवाला कर्म। पाप। किल्बिष।

कलमष। अघ। गुनाह। बदकारी।

विशेष-“प्रायश्चित्त” के मतानुसार पातक के ६ भेद हैं।

(१) अतिपातक। (२) महापातक। (३) अनुपातक।

(४) उपपातक। (५) सँकरीकरण। (६) अपात्री-

करण। (७) जातिभ्रंशकर और (८) प्रकीर्णक।

पातकी-वि० [सं० पातकिन्] पातक करनेवाला। पापी। कुकर्म।

बदकार। अधर्मी।

पातघावरा-†वि० [हि० पात + घवराना] वह मनुष्य जो पत्ते के

खड्कने पर भी घबड़ा जाय। बहुत अधिक डरपोक।

पातन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गिराने की क्रिया। नीचे ढके-

लने की क्रिया। (२) पारे के आठ संस्कारों में से पाँचवाँ

संस्कार। इसके तीन भेद हैं—ऊर्ध्वपातन, अधःपातन और

तिर्यक्पातन। विशेष-दे० “पात”।

पातबंदी-संज्ञा स्त्री० [सं० पात + बन्दी] वह नकशा

जिसमें किसी जायदाद की अंदाज़न मात्तियत और उसपर

जितना देना या कर्ज़ हो वह लिखा रहता है।

पातर†-संज्ञा स्त्री० [सं० पत्र] (१) पत्तल। पनवारा।

उ०—जूठी पातर भस्म हैं बारी बायस खान ।—राय-प्रवीन ।

[सं० पातली = स्त्री विशेष] वेश्या । रंडी । पतुरिया ।

वि०†*—[हि० पत्तर, वा सं० पात्र = पतला] (१)

पतला । सूक्ष्म । (२) क्षीण । बारीक ।

संज्ञा स्त्री० तितली ।

पातराज—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का सर्प ।

पातरि—संज्ञा स्त्री०, वि० दे० “पातर” ।

पातरी—संज्ञा स्त्री० दे० “पातर” ।

पातल—संज्ञा स्त्री० दे० “पातर” ।

पातव्य—वि० [सं०] (१) रक्षा करने योग्य । (२) पीने योग्य ।

पातशाह—संज्ञा पुं० दे० “पादशाह” ।

पातशाही—संज्ञा पुं० दे० “पादशाही” ।

पाता—वि० [सं० पात] (१) रक्षा करनेवाला । (२) पीनेवाला ।

संज्ञा पुं० [सं० पत्र] पत्ता । पत्र ।

पाताबा—संज्ञा पुं० [फा०] (१) मोजा । (२) चमड़े का वह लंबा टुकड़ा जो ढीले जूते को चुस्त करने के लिये उसमें डाला जाता है । सुखतला ।

पातार—संज्ञा पुं० दे० “पाताल” ।

पाताल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार पृथ्वी के नीचे के सात लोकों में से सातवाँ । (२) पृथ्वी से नीचे के लोक । अधोलोक । नागलोक । उरगस्थान ।

विशेष—पाताल सात माने गए हैं । पहला अतल, दूसरा वितल, तीसरा सुतल, चौथा तत्तातल, पाँचवाँ महातल, छठा रसातल और सातवाँ पाताल । पुराणों में लिखा है कि प्रत्येक पाताल की लंबाई चौड़ाई १० । १० हजार योजन है । सभी पाताल धन, सुख और शोभा से परिपूर्ण हैं । इन विषयों में ये स्वर्ग से भी बड़कर हैं । सूर्य और चंद्रमा यहाँ प्रकाश मात्र देते हैं, गरमी, तथा सरदी नहीं देने पाते । पृथ्वी या भूलोक के बाद ही जो पाताल पड़ता है उसका नाम अतल है । यहाँ की भूमि का रंग काला है । यहाँ मयदातव का पुत्र बल रहता है जिसने १६ प्रकार की माया की सृष्टि कर रखी है । दूसरा पाताल वितल है । इसकी भूमि सफेद है । यहाँ भगवान् शंकर पार्षदों और पार्वती जी के साथ निवास करते हैं । उनके वीर्य से हाटक नाम की नदी निकली है जिससे हाटक नाम का सोना निकलता है । दैत्यों की छियाँ इस सोने को बड़े यत्न से धारण करती हैं । तीसरा अधोलोक सुतल है । इसकी भूमि लाल है । यहाँ प्रह्लाद के पौत्र बलि राज करते हैं जिनके दरवाजे पर स्वयं भगवान् विष्णु आठ पहर चक्र

लेकर पहरा देते हैं । यह अन्य पातालों से अधिक समृद्ध, सुखपूर्ण और श्रेष्ठ है । तत्तातल चौथा पाताल है । दानवेंद्र मय यहाँ का अधिपति है । इसकी भूमि पीले रंग की है । यह मायाविदों का आचार्य और विविध मायाओं में निपुण है । पाँचवाँ पाताल महातल कहाता है । यहाँ की मिट्टी खाँड़ मिली हुई है । यहाँ कद्रु के महाक्रोधी सर्प पुत्र निवास करते हैं जिनमें से सभी कई कई सिरवाले हैं । कुहक, तक्षक, सुपेन और कालिय इनमें प्रधान हैं । छठा पाताल रसातल है । इसकी भूमि पथरीली है । इसमें दैत्य, दानव और पाणि नाम के असुर इंद्र के भय से निवास करते हैं । सातवाँ पाताल पाताल नाम से ही प्रसिद्ध है । यहाँ की भूमि स्वर्णमय है । यहाँ का अधिपति वासुकि नामक प्रसिद्ध सर्प है । शंख, शंखचूड़, कृलिक, धनंजय आदि कितने ही विशालकाय सर्प यहाँ निवास करते हैं । इसके नीचे तीन सहस्र योजन के अंतर पर अनंत या शेष भगवान् का स्थान है ।

(३) विवा । गुफा । बिल । (४) बड़वानल । (५) बालक के लक्ष्म से चौथा स्थान । (६) छंदः शास्त्र में वह छंद जिसके द्वारा मात्रिक छंद की संख्या, लघु, गुरु, कला आदि का ज्ञान होता है । (७) पातालयंत्र । दे० “पातालयंत्र” ।

पातालकेतु—संज्ञा पुं० [सं०] पाताल में रहनेवाला एक दैत्य ।

पातालखंड—संज्ञा पुं० [सं०] पाताल लोक ।

पाताल गरुड़, पाताल गरुड़ी—संज्ञा पुं० [सं०] छिरिहटा । छिरेंटा ।

पाताल तुंबी—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की लता जो प्रायः खेतों में होती है । इसमें पीले रंग के बिच्छू के डंक के से कांटे होते हैं । वैद्यक में इसे चरपरी, कड़वी विषदोष विनाशक, तथा प्रसूत कालीन अतिसार, दाँतों की जड़ता और सूजन, पसीना तथा प्रलाप वाले, ज्वर को दूर करने वाली माना है । पातालतोंबी ।

पर्या०—गर्तालांबु । भूतुंबी । देवी । वल्मीकसंभवा । दिव्यतुंबी । नागतुंबी । शक्रचापसमुद्भवा ।

पाताल तोंबी—संज्ञा स्त्री० दे० “पाताल तुंबी” ।

पाताल निलय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) दैत्य । (२) सर्प ।

पातालनृपति—संज्ञा पुं० [सं०] सीसा ।

पाताल यंत्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह यंत्र जिसके द्वारा कड़ी औषधियाँ पिघलाई जाती हैं या उनका तेल बनाया जाता है । इस यंत्र में एक शीशी या मिट्टी का बरतन ऊपर और एक नीचे रहता है । दोनों के मुँह एक दूसरे से मिले रहते हैं और संक्षिप्त पर कपड़-मिट्टी का दी जाती है । ऊपर की शीशी या बरतन में औषधि

रहती है और उसके मुँह पर कपड़े की ऐसी डाट लगा दी जाती है जिसमें बहुत से बारीक सुराख होते हैं। नीचे पात्र के मुँह पर डाट नहीं रहती। फिर नीचे के पात्र को एक गढ़े में रख देते हैं और उसके गले तक मिट्टी या बालू भर देते हैं। ऊपर के पात्र को सब ओर से कंडो या उपलों से ढककर आग लगा देते हैं। इस गरमी से औषधि पिघल कर नीचे के पात्र में आजाती है। (२) वह यंत्र जिसमें ऊपर के पात्र में जल रहता है, नीचे के पात्र को आँच दी जाती है और बीच में रस की सिद्धि होती है।

पाताल वासिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] नागवल्ली लता।

पाताली—संज्ञा स्त्री० [देश०] ताड़ के फल के गुदे की बनाई हुई टिकिया जो प्रायः गरीब लोग सुखाकर खाने के काम में लाते हैं।

पातालौकस—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसका घर पाताल में हो। (२) शेष नाग। (३) वलि।

पाताखत—संज्ञा पुं० [हिं० पात + आखत] पत्र और अक्षत। पूजा की स्वरूप सामग्री। तुच्छ भेंट। उ०—सेवा सुमिरन पूजिबो पाताखत थोरे। दइ जग जहाँ लगि संपदा सुख गज रथ घोरे।—तुलसी।

पाति—संज्ञा स्त्री० [सं० पत्र] (१) पत्ती। पर्ण। दल। (२) चिट्ठी। पत्रिका। पत्र।

पातिक—संज्ञा पुं० [सं०] सूँस नामक जलजंतु।

पातिक—वि० [सं०] (१) जो फँका गया हो। (२) जो नीचे गिराया या ढकेला गया हो।

पातित्य—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पतित होने या गिरने का भाव। गिरावट। (२) अधःपतन। नीच या कुमार्गी होने का भाव।

पातिव्रत—संज्ञा पुं० दे० “पातिव्रत्य”।

पातिव्रत्य—संज्ञा पुं० [सं०] पतिव्रता होने का भाव।

पातिसाहि—संज्ञा पुं० दे० “पादशाह”

पाती—संज्ञा स्त्री० [सं० पत्नी, प्रा० पत्नी] (१) चिट्ठी। पत्र। पत्र। उ०—तात कहाँ ते पाती आई ?—तुलसी। (२) पत्नी। वृक्ष के पत्ते।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पति] लज्जा। इज्जत। प्रतिष्ठा। उ०—ह्याँ ऊधो काहे को आए कौन सी अटक परी। सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन बिनु सब पाती उधरी।—सूर

पातुक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पतनशील। गिरनेवाला। (२) प्रपात। झरना। (३) जलहाथी।

पातुरा—संज्ञा स्त्री० [सं० पातली = की विशेष] वेश्या। रंडी।

पातुरनी—संज्ञा स्त्री० दे० “पातुर”।

पात्त—संज्ञा पुं० [सं०] पापियों का उद्धार करनेवाला। पापियों का त्राता।

पात्य—वि० [सं०] (१) पतनीय। गिरने योग्य। (२) पतित होने का भाव। गिरावट।

पात्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह वस्तु जिसमें कुछ रखा जा सके। आधार। बरतन। भाजन। (२) वह व्यक्ति जो किसी विषय का अधिकारी हो, जो किसी वस्तु को पाकर उसका उपभोग कर सकता हो। जैसे, दानपात्र, शिक्षापात्र आदि। (३) नदी के दोनों किनारों के बीच का स्थान। पाट। (४) नाटक के नायक, नायिका आदि। (५) वे मनुष्य जो नाटक खेलते हैं। अभिनेता। नट। (६) राजमंत्री। (७) वैद्यक में एक तौल जो चार सेर के बराबर होती है। आठक। (८) पत्ता। पत्र। (९) सूत्र आदि यज्ञ के उपकरण।

पात्रक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) थाली, हांडी आदि पात्र। (२) बाह पत्र जिसमें भीख माँगकर रखी जाय। भिख-मंगों का भीख माँगने का पात्र। भिक्षापात्र।

पात्रतरंग—संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का ताज देने का एक प्रकार का बाजा।

पात्रता—संज्ञा स्त्री० [सं०] पात्र होने का भाव। अधिकार। योग्यता। लियार्हता।

पात्रत्व—संज्ञा पुं० [सं०] पात्रता। पात्र होने का भाव।

पात्रदुष्टरस—संज्ञा पुं० [सं०] केशवदास के मत से एक प्रकार का रस-दोष जिसमें कवि जिस वस्तु को जैसा समझता है रचना में उसके विरुद्ध कर जाता है। एक ही वस्तु के विषय में ऐसी बातें कह जाना जो एक दूसरे के विरुद्ध या बे-मेल हों। रचना में उदपटांग अविचार युक्त बातें कह जाना। उ०—कपट कृपानी मानी, प्रेमरस लपटानी, प्राननि को गंगा जी को पानी सम जानिये। स्वारथ निधानी परमारथ की रजधानी, काम की कहानी केशोदास जग मानिये। सुबरन उरझानी, सुधा सो सुधार मानी सकल सयानी सानी ज्ञानी सुख दानिये। गौरा और गिरा लजानी मोहे, पुनि मूढ़ प्रानी, ऐसी बानी मेरी रानी विषु कै दखानिये।—केशव।

पात्रशेष—संज्ञा पुं० [सं०] रोटी के जूटे टुकड़े आदि जो भोजन के उपरांत थाली में बच रहे हों। खाकर छोड़ा हुआ अन्न आदि। जूठा। उच्छिष्ट।

पात्रासादन—संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञपात्रों को यथास्थान रखना।

पात्रिय—वि० [सं०] जिसके साथ एक थाली में भोजन किया जा सके। जिसके साथ एक ही बरतन में भोजन करना बुरा न समझा जाय। सहभोजी।

पात्री—वि० [सं० पात्रिन्] (१) जिसके पास बरतन हो। पात्र-वाला। (२) जिसके पास सुयोग्य मनुष्य हों।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) छोटे छोटे बरतन। (२) एक

छोटी भट्टो जिसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर उठाकर ले जा सकते हैं।

पात्रीय-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ में काम आनेवाला एक बरतन।
वि० पात्रसंबन्धी।

पात्रोपकरण-संज्ञा पुं० [सं०] कौड़ी आदि पदार्थ जिन्हें टांककर बरतनों को सजाते हैं।

पात्र्य-वि० दे० 'पात्रिय'।

पाथ-संज्ञा पुं० [सं० पाथस्] (१) जड़। (२) सूर्य।
(३) अग्नि। (४) अन्न। (५) आकाश। (६) वायु।

यौ०-पाथोरुह। पाथोधि। पाथोज्। पाथोनिधि।

संज्ञा पुं० [सं० पथ] मार्ग। रास्ता। राह। उ०-तेहि वियोग ते भये अनाथा। परि निकुंज बन पावन पाथा।—कबीर।

पाथना-क्रि० सं० [सं० प्रथन या थापना का अव्यत विपर्यय] (१) ठोंक पीटकर सुडौल करना। गढ़ना। बनाना। उ०-लाडिली के बनने को नितंवन हानि रही रसना कवि जेत के। कै नृप संभु जू मेरु की भूमि में रेत के कूर भये नदी सेत के। कै धौं तमूरन के तबला रँगि औंधि धरे करि रंभा के लेत के। कंचन कीच के पाथे मनोहर कै भरना द्वै मनोज के खेत के।—सुंदरीसर्वस्व। (२) किसी गीली वस्तु से साँचे के द्वारा वा बिना साँचे के हाथों से थोप, पीट वा दबाकर बड़ी बड़ी टिकिया या पटरी बनाना। जैसे, उपले पाथना, ईंट पाथना। (३) किसी को पीटना। ठोंकना। मारना। जैसे, आज इनको अच्छी तरह पाथ दिया।

पाथनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र।

पाथनिधि-संज्ञा पुं० दे० 'पाथोनिधि'।

पाथर*—संज्ञा पुं० दे० 'पत्थर'।

पाथस्पति-संज्ञा पुं० [सं०] वरुण।

पाथा-संज्ञा पुं० [सं० पाथस्] (१) जड़। (२) अन्न।
(३) आकाश।

संज्ञा पुं० [सं० प्रथ] (१) एक तौर जो एक दोन वा कच्चेचारसेर की होती है। इसका व्यवहार देहरादून प्रांत में अन्न नापने के लिये होता है। (२) उतनी भूमि जितनी में एक पाथा अन्न बोया जा सकता हो। (३) एक बड़ा टोकरा जिससे खलिहान में राशि नापते हैं। प्रायः यह टोकरा किसी नियत मान का नहीं होता। लोग इच्छानुसार भिन्न भिन्न मानों का व्यवहार करते हैं। यह वेत का बना होता है और इसकी बाड़ बिलकुल सीधी होती है। कहीं कहीं इसे लोग चमड़े से मढ़ भी लेते हैं। इसे पाथी और नली भी कहते हैं। (४) हल की खोपी जिसमें फाल जड़ा रहता है।

संज्ञा पुं० [हि० पथ] कोल्हू हाँकनेवाला।

[सं० प्रथक] एक छोटा कीड़ा जो अन्न में लगता है।

पाथि-संज्ञा पुं० [सं० पाथिस्] (१) समुद्र। (२) आँख।
(३) घाव पर की पपड़ी। खुरंड। (४) प्राचीन काल का एक प्रकार का शरबत जो भट्टे के पानी और दूध आदि को मिलाकर बनाया जाता था और जिससे पितृ-तर्पण किया जाता था। कीलाल।

पाथेय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह भोजन जो पथिक अपने साथ मार्ग में खाने के लिये बाँधकर लेजाता है। रास्ते का कलेवा। (२) वह द्रव्य जो पथिक राह खर्च के लिये ले जाता है। सबल। राह खर्च। (३) कन्याराशि।

पाथोज-संज्ञा पुं० [सं०] कमल।

पाथोद-संज्ञा पुं० [सं०] बादल। मेघ।

पाथोधर-संज्ञा पुं० [सं०] बादल। मेघ।

पाथोधि-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र।

पाथोन-संज्ञा पुं० [यू० पथेयनस] कन्या राशि।

पाथोनिधि-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र।

पाथ्य-वि० [सं०] (१) आकाश में रहनेवाला। (२) हवा में रहनेवाला। (३) हृदयाकाश में रहनेवाला।

पाद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चरण। पैर। पाँव।

यौ०-पादत्राण।

विशेष-यह शब्द जब किसीके नाम या पद के अंत में लगाया जाता है तब वक्ता का उसके प्रति अत्यंत सम्मान भाव तथा श्रद्धा प्रगट करता है। जैसे, कुमारिल पाद, गुरुपाद, आचार्यपाद, आदि।

(२) मंत्र श्लोक या अन्य किसी छंदोबद्ध काव्य का चतुर्थींश। पद। चरण। (३) किसी चीज का चौथा भाग। चौथाई। (४) पुस्तक का विशेष अंश। जैसे, पातंजल का समाधिपाद, साधनपाद आदि। (५) वृत्त का मूल। (६) किसी वस्तु का नीचे का भाग। तल। जैसे, पाददेश। (७) बड़े पर्वत के समीप में छोटा पर्वत। (८) चिकित्सा के चार अंग—वैद्य, रोगी, औषध और उपचारक। (९) किरण। रश्मि। (१०) पद की क्रिया। गमन। (११) एक ऋषि। (१२) शिव। संज्ञा पुं० [सं० पद] वह वायु जो गुदा के मार्ग से निकले। अपानवायु। अधोवायु। गोत्र।

पादक-वि० [सं०] (१) जो खूब चलता हो। चलनेवाला।
(२) चौथाई। चतुर्थींश। (३) छोटा पैर।

पादकटक-संज्ञा पुं० [सं०] नूपुर।

पादकीलिका-संज्ञा पुं० [सं०] नूपुर।

पादकृच्छ्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रायश्चित्त व्रत जो चार दिन का होता है। इसमें पहले दिन एक बार दिन में, दूसरे दिन एक बार रात में, खाकर फिर तीसरे दिन अपाचित अन्न भोजन करके चौथे दिन उपवास किया जाता है।

विशेष—इस व्रत की दूसरी विधि भी मिलती है।

उसमें पहले दिन रात में एक बार का परका हुआ भोजन कर दूसरे दिन उपवास किया जाता है। तीसरे और चौथे दिन फिर वही विधि क्रम से दुहराई जाती है।

पादगंडिर-संज्ञा पुं० [सं०] श्लीपद रोग। पीलपांव।

पादग्रंथि-संज्ञा स्त्री० [सं०] एड़ी और घुट्टी के बीच का स्थान। गुल्फ।

पादग्रहण-संज्ञा पुं० [सं०] पैर छूकर प्रणाम करना।

विशेष—जिसके हाथ में समिधा, जल, जल का घड़ा, फूल, अन्न तथा अक्षत में से कोई पदार्थ हो, जो ग्रथचि हो, जो जप या पितृकार्य करता हो उसका पैर न छूना चाहिए।

पादचरत्वर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बकरा। (२) बालू का भीटा। (३) ओला। (४) पीपल का पेड़।

वि० दूसरे का दोष कहनेवाला। निंदा करनेवाला। चुगलखोर।

पादचारी-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पैदल। (२) वह जो पैरों से चलता हो।

पादज-संज्ञा पुं० [सं०] शूद्र।

वि० जो पैर से उत्पन्न हुआ हो।

पादजल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जल जिसमें किसीके पैर धोए गए हों। चरणोदक। (२) मटा।

पादटीका-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह टिप्पणी जो किसी ग्रंथ के पृष्ठ के नीचे लिखी गई हो। फुटनोट।

पादतल-संज्ञा पुं० [सं०] पैर का तलवा।

पादत्र, पादत्राण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) खड़ाऊँ। (२) जूता। वि० जो पैर की रक्षा करे।

पादत्रान-संज्ञा पुं० दे० 'पादत्राण'।

पाददक्षित-वि० [सं०] पैर से कुचला हुआ। पादाक्रांत। पददक्षित।

पाददारिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] बिनाई नाम का रोग जिसमें पैर का तलवा स्थान स्थान में फट जाता है।

पाददाह-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का रोग जो पित्त रक्त के साथ वायु मिश्रण के कारण होता है। इसमें पैरों के तलवों में जलन होती है। तलवों का जलना।

पादधावन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पैर धोने की क्रिया। (२) वह बालू या मिट्टी जिसको लगाकर पैर धोया जाय।

पादनख-संज्ञा पुं० [सं०] पैर की उँगलियों का नाखून।

पादना-क्रि० अ० [हिं० पाद] गुदा से वायु बाहर निकालना। वायु छोड़ना। अपानवायु का त्याग करना। गोड़ करना।

संयो० क्रि०—देना।

पादन्यास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चलना। पैर रखना। (२) नाचना।

पादप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वृक्ष। पेड़।

विशेष—वृक्ष अपनी जड़ या पैर के द्वारा रस खींचते हैं अतः वे पादप कहलाते हैं।

(२) पीड़ा।

पादपखंड-संज्ञा पुं० [सं०] जंगल।

पादपद्धति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रास्ता। (२) पगडंडी।

पादपलहा-संज्ञा स्त्री० [सं०] बंदाक या बांदा नामक वृक्ष।

पादपा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) खड़ाऊँ। (२) जूता।

पादपाश-संज्ञा पुं० [सं०] वह रस्सी जिससे बोगों के पिछले दोनों पैर बांधे जाते हैं। पिछाड़ी।

पादपाशी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कोई सिकड़ी या सिकड़। (२) बेड़ी।

पादपीठ-संज्ञा पुं० [सं०] पैर का आसन। पीड़ा।

पादपीठिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नाई की सिंही। (२) पीड़ा।

पादपूरण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी श्लोक वा कविता के किसी चरण को पूरा करना। (२) वह अक्षर या शब्द जो किसी पद को पूरा करने के लिये उसमें रखा जाय।

पादप्रक्षालन-संज्ञा पुं० [सं०] पैर धोना।

पादप्रणाम-संज्ञा पुं० [सं०] साष्टांग दंडवत। पांव पड़ना।

पादप्रतिष्ठान-संज्ञा पुं० [सं०] पीड़ा।

पादप्रधारण-संज्ञा पुं० [सं०] खड़ाऊँ।

पादप्रहार-संज्ञा पुं० [सं०] लात मारना। ठोकर मारना।

पादबंध-संज्ञा पुं० [सं०] पैरों में बांधने की जंजीर। बेड़ी।

पादबंधन-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़े, गधे, बैल आदि जानवरों के पैर बांधना। (२) वह चीज जिससे पैर बांधे जायें।

पादभाग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पैर के नीचे का भाग। (२) चतुर्थींश। चौथाई।

पादभुज-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

पादमुद्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पैर के चिह्न या दाग।

पादमूल-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पैर का निचला भाग। (२) पहाड़ की तराई।

पादरत्न, पादरत्नक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिससे पैरों की रक्षा हो। जैसे, जूता, खड़ाऊँ आदि।

पादरज-संज्ञा स्त्री० [सं० पादरजस्] चरणों की धूल।

पादरज्जु-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह रस्सी या सिकड़ आदि जिसमें पैर, विशेषतः हाथी के, बांधे जायें।

पादरथी-संज्ञा स्त्री० [सं०] खड़ाऊँ।

पादरी-संज्ञा पुं० [पुर्त० पैरे] ईसाई-धर्म का पुरोहित जो अन्य

ईसाइयों का जातकर्म आदि संस्कार और उपासना कराता है।

पादरोह, पादरोहण—संज्ञा पुं० [सं०] बड़ का पेड़।

पादलेप—संज्ञा पुं० [सं०] वह लेप आदि जो पैरों में लगाया जाय। जैसे, अलता, महावर आदि।

पादवन्दन—संज्ञा पुं० [सं०] पैर पकड़कर प्रणाम करना।

पादवलमीक—संज्ञा पुं० [सं०] श्लीपद या पीलपांव नामक रोग।

पादचिक—संज्ञा पुं० [सं०] पथिक। मुसाफिर।

पादविदारिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] घोड़ों का एक रोग जिसमें उनके पैरों के निचले भाग में गांठें हो जाती हैं।

पादविन्यास—संज्ञा पुं० [सं०] पैर रखने की क्रिया या ढंग।

पादशाखा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पैर की उँगली। (२) पैर की नोक।

पादशाह—संज्ञा पुं० [फा०] बादशाह।

पादशाहजादा—संज्ञा पुं० [फा०] बादशाहजादा। राजकुमार।

पादशिष्टजल—संज्ञा पुं० [सं०] वह जल जो औठाने पर चौथाई रह जाय। (वैद्यक में ऐसा जल त्रिदोषनाशक माना जाता है)।

पादशीली—संज्ञा पुं० [सं०] बूचर। कसाई।

पादशुश्रूषा—संज्ञा स्त्री० [सं०] चरण सेवा। पैर दबाना।

पादशोथ—संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का रोग जिसमें पैर में सूजन आ जाती है। यह रोग आपसे आप भी होता है और कभी कभी दूसरे रोगों के कारण भी होता है। विशेष—दे० “शोथ”।

पादशलाका—संज्ञा स्त्री० [सं०] पैर की नली।

पादस्तम्भ—संज्ञा पुं० [सं०] वह लकड़ी जो किसी चीज के गिरने से रोकने के लिये सहारे के तौर पर लगा दी जाय।

पादस्फोट—संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार ग्यारह प्रकार के छद्म कुष्ठों में से एक प्रकार का कुष्ठ। इसमें पैरों में काले रंग की फुंसियाँ होती हैं जिनमें से बहुत पानी बहता है। इसे विपादिका भी कहते हैं, और यदि यही रोग हाथों में हो जाय तो उसे विचर्चिका कहते हैं।

पादवृर्ष—संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें पैरों में प्रायः झुन-झुनी होती है।

पादहीन—वि० [सं०] (१) जिसके तीन ही चरण हों। (२) जिसके चरण न हों।

पादाङ्गुलक—संज्ञा पुं० [सं०] दे० “पादाङ्गुलक”।

पादाङ्गद—संज्ञा पुं० [सं०] नूपुर।

पादाङ्गु—संज्ञा पुं० [सं०] मटा।

पादाङ्गुल—संज्ञा पुं० [सं० पादाङ्गुलक] दे० “पादाङ्गुलक”।

पादाङ्गुलक—संज्ञा पुं० [सं०] चौपाई (छंद)।

पादाक्रांत—वि० [सं०] पददलित। पैर से कुचला हुआ। पामाल।

पादाति, पादातिक—संज्ञा पुं० [सं०] पैदल सिपाही।

पादानोन—संज्ञा पुं० [देश०] काला नमक।

पादाभ्यञ्जन—संज्ञा पुं० [सं०] वह घी या तेल जो पैर में मला जाय।

पादायन—संज्ञा पुं० [सं०] पाद नामक ऋषि के गोत्र में उत्पन्न पुरुष।

पादारक—संज्ञा पुं० [सं०] नाव की लंबाई में दोनों ओर लकड़ी की पट्टियों से बना हुआ वह ऊँचा और चौरस स्थान जिसपर यात्री बैठते हैं। कुर्सी।

पादारघ—संज्ञा पुं० दे० “पाद्याघ”।

पादालिंदी—संज्ञा स्त्री० [सं०] नौका।

पादावर्त्त—संज्ञा पुं० [सं०] कुण्ड आदि से पानी निकालने का यंत्र। अरहट या रहट।

पादिक—वि० [सं०] किसी वस्तु का चौथाई भाग। चतुर्थांश। संज्ञा पुं० [सं०] पादकृच्छ्र नामक प्रायश्चित्त व्रत।

पादी—संज्ञा पुं० [सं० पादिन्] पैरवाले जलजंतु। जैसे, गोह, मगर, घड़ियाल आदि। भावप्रकाश के अनुसार ऐसे जानवरों का मांस मधुर, चिकना तथा वात-पित्तनाशक, मलवर्द्धक, शुक्रजनक और बलकारक होता है।

वि० जो चौथाई का हिस्सेदार हो।

पादीय—वि० [सं०] पदवाला। मर्यादावाला। जैसे, कुमारपादीय। विशेष—जिस शब्द के आगे यह लगाया जाता है उसके समान पदवाला सूचित करता है। प्राचीन काल में अभिजात वर्ग के लोगों को जो पदवियाँ दी जाती थीं वह उसी प्रकार की होती थी जैसे, कुमारपादीय अर्थात् राजसभा में राजकुमार की बराबरी का आसन पानेवाला।

पादुक—संज्ञा पुं० [सं०] वह जो चलता हो। चलनेवाला। गमनशील।

पादुका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) खड़ाऊँ। (२) जूता।

पादू—संज्ञा स्त्री० [सं०] पादुका। खड़ाऊँ।

पादोदक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जल जिसमें पैर धोया गया हो। (२) चरणामृत।

पादोदर—संज्ञा पुं० [सं०] साँप।

पाद्य—संज्ञा पुं० [सं०] वह जल जिससे पूजनीय व्यक्ति या देवता के पैर धोए जायें। पैर धोने का पानी।

विशेष—षोडशोपचार पूजा में आसन और स्वागत के पश्चात् और दशोपचार पूजा में सर्वप्रथम पाद्य ही की विधि है। जिस जल से देवता के पैर धोए जाते हैं उससे हाथ नहीं धोए जा सकते। इसीसे पैर धोने के जल को पाद्य और हाथ धोने के जल को “अर्घ” कहते हैं।

पाद्यक—संज्ञा पुं० [सं०] पाद्य देने का एक भेद ।

पाद्यार्घ्य—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पैर तथा हाथ धोने या धुलाने का जल । (२) पूजासामग्री । (३) वह धन या संपत्ति जो किसी की पूजा में दी जाय । भेंट या नजर ।
उ०—पादारघ्य हम को दियो मथुरा मंडल आय ।
वासों वसन न पावहीं बिना बास अति पाय ।—केशव ।

पाथा—संज्ञा पुं० [सं० उपाध्याय] (१) आचार्य । उपाध्याय ।
(२) पंडित । उ०—गिरिधर लाल छबीले को यह कहा पठायो पाथे ।—सूर ।

पान—संज्ञा पुं० (सं०) (१) किसी द्रव पदार्थ को गले के नीचे घूँट घूँट करके उतारना । पीना । उ०—(क) राम कथा ससि किरन समाना । संत चकोर करहिं जेहि पाना ।
—तुलसी । (ख) पकरि लियो छन माँझ असुर बल डारयो नखन बिदारी । हृदिर पान करि आतमाल धरि, जय जय शब्द उचारी ।—सूर ।

पौ०—जलपान । मद्यपान । विषपान आदि ।

(२) मद्यपान । शराब पीना । उ०—करसि पान सेवसि दिन राती । सुधि नहिं तव सिर पर आराती ।—तुलसी ।
(३) पीने का पदार्थ । पेय द्रव्य । जैसे, जल, मद्य आदि ।
(४) मद्य । उ०—संग ते यती कुमित्र ते राजा । मान ते ज्ञान पान ते लाजा ।—तुलसी । (५) पानी । उ०—(क) सीस दीन मैं अगमन प्रेम पान सिर मेलि । अब सो प्रीति निबाहउ चलो सिद्ध होइ खेलि ।—जायसी ।
(ख) गुरु को मानुष जो गिनै चरणाश्रित को पान । ते नर नरके जायगे जन्म जन्म होइ खान ।—कबीर । (६) वह चमक जो शस्त्रों को गरम करके द्रव पदार्थ में बुझाने से आती है । पानी । आब । (७) पीने का पात्र । कटोरा । प्याला । (८) कुल्या । नहर । (९) कलवार । (१०) रक्षा । रक्षण । (११) प्याज । पौसाळा । (१२) निःश्वास । (१३) जय ।

*संज्ञा पुं० [सं० प्राण] प्राण । उ०—पान अपान व्यान उदान और कहियत प्राण समान । तत्तक धनंजय पुनि देवदत्त और पौंड्रक संख द्युमान ।—सूर ।

संज्ञा पुं० [सं० पर्ण, प्रा० पर्ण] (१) पत्ता । उ०—औषध मूल फूल फल पाना । कहे नाम गनि मंगल जाना ।—तुलसी । (२) एक प्रसिद्ध लता जिसके पत्तों का बीड़ा बनाकर खाते हैं । तांबूल बल्ली । तांबूली । नागिनी । नागरबल्ली ।

विशेष—यह लता सीमांत प्रदेश और पंजाब को छोड़कर संपूर्ण भारतवर्ष तथा सिंहल, जावा, स्याम आदि उष्ण जलवायु वाले देशों में अधिकता से होती है । भारत में पान का व्यवहार बहुत अधिक

है । कच्चा, चूना, सुपारी आदि मसालों के योग से बना हुआ इसका बीड़ा खाकर मन प्रसन्न तथा अतिथि आदि का स्त्कार करते हैं । देवताओं और पितरों के पूजनमें इसे चढ़ाते हैं और इसका रस अनेक रोगों में औषध का अनुपान होता है । पान की जड़ भी जिसे कुलंजन या कुलीजन कहते हैं दवाई के काम आती है । उपर्युक्त दो प्रांतों को छोड़कर भारत के सभी प्रांतों में खपत और जलवायु की अनुकूलता के अनुसार न्यूनाधिक मात्रा में इसकी खेती की जाती है । इसकी खेती में बड़ा परिश्रम और संभट होता है । अत्यंत कोमल होने के कारण अधिक सरदी गरमी यह नहीं सहन कर सकती । इसकी खेती प्रायः तालाब या झील आदि के किनारे भीटा बनाकर की जाती है । धूप और हवा के तीखे झोंकों से बचाव के लिये भीटे के ऊपर बाँस, फूस आदि का मंडप छा देते हैं जिसके चारों ओर टट्टियाँ लगा दी जाती हैं । मंडप के भीतर बेलें चढ़ाई जाती हैं । इस मंडप को पान का बाँगला, बरेब या बरोजा कहते हैं । इसके छाने में इस बात का खयाल रखा जाता है कि पौधे तक थोड़ी सी धूप छनकर पहुँच सके । भीटा बीच में ऊँचा, चौरस और अगल बगल कभी कभी एक ही ओर ढालू होता है, इससे वर्षा का जल उसपर रुकने नहीं पाता । भीटे पर आधा फुट गहरी और दो फुट चौड़ी सीधी क्यारियाँ बनाई जाती हैं । इन्हीं में थोड़ी थोड़ी दूर पर कलमें रोपी जाती हैं । जो पौधे पूरी बाढ़ को पहुँच चुकते हैं और जिनमें पत्ते निकलना बंद हो जाता है वे ही कलमें तैयार करने के काम में आते हैं । उड़ीसा में इससे भी अधिक समय तक उससे अच्छे पत्ते निकलते जाते हैं । इसलिये पान की खेती वहाँ सबसे अधिक लाभदायक है । कहीं कहीं पान की बेलें भीटे पर नहीं किंतु किसी पेड़, अधिकतर सुपारी, के नीचे लगाई जाती हैं । पान की अनेक जातियाँ हैं । जैसे—बाँगला, मगही, साँची, कपूरी, महोबी, अलुवा, कलकतिहा आदि । गया का मगही पान सब से अच्छा समझा जाता है । इसकी नसें बहुत पतली और मुलायम होती हैं । इसका बीड़ा मुँह में रखते ही गन्ध जाता है । इसके बाद बाँगला पान का नंबर है । महोबी पान कड़ा पर मीठा होता है और अच्छे पानों में गिना जाता है । कलकतिहा कड़ा और कड़ुवा होता है । कपूरी बहुत कड़ुवा होता है, उसके पत्ते लंबे लंबे होते हैं और उससे कपूर की सी सुगंधि आती है । वैद्यक के अनुसार पान उत्तेजक, दुर्गन्धिनाशक, तीक्ष्ण, उष्ण, कटु, तिक्त, कषाय, कफनाशक, वातघ्न, श्रमहारक, शांतिजनक, अंगों को सुंदर करनेवाला और दाँत, जीभ आदि का शोधक है ।

वेदों, सूत्रग्रंथों, वाल्मीकिरामायण और महाभारत में पान का नाम नहीं आया है, परंतु पुराणों और वैद्यक ग्रंथों में इसका उल्लेख बार बार मिलता है। विदेशी पर्यटकों ने भारतवासियों की पान खाने की आदत का उल्लेख किया है। अत्यंत प्राचीन ग्रंथों में इसका नाम न आने से यह सूचित होता है कि इसका व्यवहार पहले से पूर्व और दक्षिण में ही था। वैदिक पूजन में पान नहीं है पर आज कल प्रचलित तांत्रिक पद्धति में पान का काम पड़ता है।

यौ०—पानदान।

मुहा०—पान उठाना = कोई काम करने के लिये प्रतिज्ञाबद्ध होना।

बीड़ा उठाना या लेना। **पान कमाना** = पान को उलटना पुलटना और सड़े अंश या पत्तों का अलग करना। **पान चीरना** = व्यर्थ के काम करना। ऐसे काम करना जिनसे कोई लाभ न हो।

पान खिलाना = वर कन्या के व्याह संबंध में उभय पक्ष का वचनबद्ध होना। मँगनी करना। सगाई करना। **पान देना** = किसी काम विशेषतः किसी साहसपूर्ण काम के कर डालने के लिये किसीको प्रतिज्ञाबद्ध करना। कोई काम कर डालने के लिये किसी से हमी भरवाना। बीड़ा देना। **उ०—वाम विद्योगिनि के वध कीबे को काम वसंतहि पान दियो है।**

रघुनाथ। पान पत्ता = (१) लगा या बना हुआ पान। (२) तुच्छ पूजा या भेंट। पान फूल। **पान फूल** = (१) सामान्य उपहार या भेंट। (२) अत्यंत कोमल वस्तु। **पान फेरना** = पान कमाना। **पान बनाना** = (१) पान में चूना, कत्था, सुपारी आदि रखकर बीड़ा तैयार करना। पान लगाना। खीलो या गिलौरी बनाना। (२) पान कमाना। **पान लेना** = किसी काम के कर डालने की प्रतिज्ञा करना या हमी भरना। बीड़ा लेना। **उ०—नृपति के लै पान मन कियो अभिमान करत अनुमान चहुँपास धाऊँ।—सूर।**

(३) पान के आकार की चौकी या ताबीज जो हार में रहती है। (४) जूते में पान के आकार का वह रंगीन या सादे चमड़े का टुकड़ा जो ढँड़ी के पीछे लगता है।

(५) ताश के पत्तों के चार भेदों में से एक जिसमें पत्ते पर पान के आकार की लाल लाल बूटियाँ बनी रहती हैं।

*संज्ञा पुं० दे० “पानि” वा “पाणि”।

संज्ञा पुं० लड़ी। गून। [लश०]

संज्ञा स्त्री० सूत को माँड़ी से तुर करके ताना करना। (जुलाहा)।

पानक—संज्ञा पुं० [सं०] विशेष क्रिया से बनाया हुआ खट्टा तरल पदार्थ जो पीने के काम में आता है। पना।

विशेष—पके नीबू आम या इमली के रस में पानी और चीनी मिलाकर पना या पानक बनाया जाता है। इसके अतिरिक्त और अनेक पदार्थों का भी पना बनाया जाता है।

पानगोष्ठी—संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्थान जहाँ तांत्रिक लोग एकत्र होकर मद्यपान तथा कुछ पूजन आदि करते हैं। मद्यपान चक्र।

पानगोष्ठी—संज्ञा स्त्री० [सं०] वह सभा या मंडली जो शराब पीने के लिये बैठी हो। पानसभा। शराब की सजलिस।

पानड़ी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पान + ढी (प्रत्य०)] एक प्रकार की सुगंधित पत्ती जो प्रायः सीधे पेय पदार्थों तथा तेल और उबटन आदि में उन्हें सुगंधित करने के लिये छोड़ी जाती है।

पानदान—संज्ञा पुं० [हिं० पान + दा० (प्रत्य०)] (१) वह डिब्बा जिसमें पान और उसके लगाने की सामग्री रखी जाती है। पनडब्बा। (२) वह डिब्बियाँ जिसमें पान के बीड़े रखे जाते हैं। गिलौरीदान। खासदान।

मुहा०—पानदान का खर्च = वह रकम जो स्त्रियों को पान तथा दूसरी निजी आवश्यकताओं के लिये दी जाय। पिठारी का खर्च।

पानदोष—संज्ञा पुं० [सं०] मद्यपान का व्यसन। शराबखोरी की लत।

पानन—संज्ञा पुं० [हिं० पान] मसोले आकार का एक प्रकार का पेड़ जो हिमालय की तराई और उत्तरीय भारत के सिख भिन्न प्रांतों में होता है। इसकी पत्तियाँ जाड़ों में झड़ जाती हैं। लकड़ी पकने पर लाल रंग की चिकनी और भारी होती है और बहुत दिन तक रहती है। इस लकड़ी से सजावट की चीजें, गाड़ी तथा घर के सगड़े बनाए जाते हैं। इसका गोंद दवा के काम में आता है।

पानप—संज्ञा पुं० [सं०] मद्यप। शराबी। पियक्कड़।

पानपात्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह पात्र जिसमें मद्यपान किया जाता है। (२) गिलास।

पानभूमि—संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्थान जहाँ एकत्र होकर लोग शराब पीते हैं।

पानमंगल—संज्ञा पुं० [सं०] पानगोष्ठी।

पानरा—संज्ञा पुं० दे० “पनारा”। उ०—पाकी को मन पानरै कै गोवर कै गार। और जनम कहाँ पाइए, यह तो चालाहार।—कबीर।

पानवणिज—संज्ञा पुं० [सं०] मद्य बेचनेवाला। कलवार।

पानविभ्रम—संज्ञा पुं० [सं०] पानालय नामक रोग। विशेष—दे० “पानालय”।

पानस—संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल की एक प्रकार की शराब जो पनस (कटहल) से बनाई जाती थी।

वि० कटहल से संबंध रखनेवाला।

पानही—संज्ञा स्त्री० [सं०] उपानह, हिं० पनही] जूता। उ०—विनु पानहिं ह पियादेहि पाये। संकरु साखि रहेई यहि धाये।—तुलसी।

पाना—क्रि० सं० [सं०] प्रापण, प्रा० पावण] (१) अपने

पास या अधिकार में करता। ऐसी स्थिति में करना जिससे अपने उपयोग या व्यवहार में आ सके। उपलब्ध करना। लाभ करना। प्राप्त करना। हासिल करना। जैसे, उसके हाथ में गई वस्तु कोई नहीं पा सकता। (२) फल या पुरस्कार रूप में कुछ पाना। कृतकर्म का भला या दुरा परिणाम भोगना। जैसे, (क) जाने सो पावे, सोने सो खोवे। (ख) जैसा किया वैसा पाया। (३) किसी को दी हुई चीज वापस मिलना या कोई खोई हुई चीज फिर मिलना। जैसे, (क) यह किताब तुमसे हमने तीन बरस बाद आज पाई है। (ख) यह अँगूठी मैंने चार बरस के बाद आज पाई है। (४) पता पाना। भेट पाना। तह तक पहुँचना। समझना। जैसे, (क) आपने उनका रोग भी पाया है या यों ही खुशखा लिखते हैं? (ख) मैंने तुम्हारे मन की बात पा ली। (५) किसीकी कोई बात अपने तक पहुँचना। कुछ सुन या जान लेना। जैसे, सुख पाना, समाचार पाना, सँदेश पाना। (६) देखना। साक्षात् करना। जैसे, (क) तुमको जैसा सुना था वैसा ही पाया। (ख) भारत में अब सिंह प्रायः नहीं पाए जाते। (७) अनुभव करना। भोगना। उठाना। जैसे, दुःख पाना, सुख पाना। (८) समर्थ होना। सकना।

विशेष—इस अर्थ में पाना क्रिया संयोज्य होती है और जिस क्रिया या धातु के आगे लगाई जाती है उससे शक्यता या समाप्ति की शक्यता का अर्थ निकलता है। जहाँ समाप्ति का भाव होता है वहाँ धातु के आगे यह क्रिया आती है। जैसे, “तुम वहाँ जाने नहीं पाओगे”; “मैं अभी यह चीज़ नहीं लिख पाया”।

(६) पास तक पहुँचना। जैसे, (क) मत दौड़ो, तुम उसे नहीं पा सकते। (ख) इस डाल को तुम उछल कर नहीं पा सकते। (१०) किसी बात में किसीके बराबर पहुँचना। बराबर होना। जैसे, पढ़ने में तुम उसे नहीं पा सकते। (११) भोजन करना। आहार करना। खाना। जैसे, प्रसाद पाना। (साधु) उ०—तेहि छन तहँ सिखु पावत देखा। पलना निकट गई तहँ पेखा।—विश्राम। (१२) ज्ञान प्राप्त करना। अनुभव करना। जानना। समझना। जैसे, किसी का भतलब पाना। उ०—समरथ सुभ जो पावई पीर पराई।—तुलसी।
वि० (१) पाने का हक। पावना। (२) जिसे पाने का हक हो। प्राप्तव्य। पावना।

पानागार—संज्ञा पुं० [सं०] वह जहाँ बहुत से लोग मिलकर शराब पीते हैं।

पानात्यय—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का रोग जो बहुत अधिक

मद्यपान करने से हो जाता है। वैद्यक में अन्य रोगों के समान वात, पित्त, कफ, और सन्निपात भेद से इसके भी चार भेद माने गए हैं। इसमें हृदय में दाह और पीड़ा होती है, मुँह पीला हो जाता और सूख जाता है। रोगी को सूँघ आती है, वह अंडबंड बकता है और उसके मुँह से स्नाग गिरने लगती है।

पानि—संज्ञा पुं० [सं० पाणि] हाथ। उ०—जड़ चेतन जग जीव जत सकल राम समय जानि। बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि छग पानि।—तुलसी।

* संज्ञा पुं० दे० “पानी”।

पानिक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो शराब बेचता हो। (२) कलवार।

पानिग्रहण—* संज्ञा पुं० दे० “पाणिग्रहण”।

पानिप—संज्ञा पुं० [हिं० पानी + प (प्रत्य०)] (१) ओप। द्युति। क्रांति। चमक। आब। उ०—पानिप के भारन सँभारति न गात, लंक लचि लचि जात कच भारन के हलके।—द्विजदेव। (२) पानी।

पानी—संज्ञा पुं० [सं० पानीय] (१) एक प्रसिद्ध द्रव द्रव्य जो पारदर्शक, निर्गंध और स्वादरहित होता है। स्थावर और जंगम सब प्रकार की जीव-सृष्टि के लिये इसकी अनिवार्य आवश्यकता है। वायु की तरह इसके अभाव में भी कोई जीवधारी जीवित नहीं रह सकता। इसीसे इसका एक पर्याय ‘जीवन’ है। पानी यौगिक पदार्थ है। अम्लजन और उद्‌जन नामक दो गैसों के योग से इसकी उत्पत्ति हुई है। विस्तार के विचार से इसमें दो भाग उद्‌जन और एक भाग अम्लजन और गुरुत्व के विचार से १६ भाग अम्लजन और १ भाग उद्‌जन होता है, क्योंकि अम्लजन का परमाणु उद्‌जन के परमाणु से १६ गुना अधिक भारी होता है। गरमी की अधिकता से भाव बनकर उड़ जाने और कमी से पत्थर की तरह ठोस हो जाने का द्रव पदार्थों का धर्म जितना पानी में प्रत्यक्ष होता है उतना औरों में नहीं होता। तापमान की ३२ अंश की गरमी रह जाने पर यह जमकर बर्फ और २१२ अंश की गरमी पाने पर भाप हो जाता है। इनके मध्यवर्ती अंशों की गरमी में ही वह अपने प्रकृत रूप—द्रव रूप—में रहता है। पानी में कोई रंग नहीं होता पर अधिक गहरा पानी प्रायः नीला दिखाई पड़ता है जिसका कारण गहराई है। स्वाद और गंध भी उसमें उन द्रव्यों के कारण जो उसमें घुले होते हैं उत्पन्न होता है। ३६ अंश की गरमी में पानी का गुरुत्व अन्य द्रव्यों के सापेक्ष गुरुत्व के निश्चय के लिये प्रमाण रूप माना जाता है; सब तरल और ठोस द्रव्यों का गुरुत्व इसीसे तुलना करके स्थिर किया जाता है।

अवस्थाभेद से पानी के अनेक नाम हैं। यथा—भाप, मेघ, बूँद, ओला, कुहिरा, पाला, ओस, बर्फ आदि। बूँद, कुहिरा, पाला, ओस आदि उसके तरल रूपांतर हैं, भाप और बादल वायव या अर्धवायव और ओला तथा बर्फ घनीभूत रूपांतर हैं।

संसार को पानी मुख्यतः वृष्टि से प्राप्त होता है। झरनें और कुओरों से भी थोड़ा बहुत मिलता है। पानी विशुद्ध अवस्था में बहुत ही कम पाया जाता है, प्रायः कुछ न कुछ खनिज, जांतव और वायव द्रव्य उसमें अवश्य मिले रहते हैं। वृष्टि का जल यदि पृथ्वी से उँचाई पर और कुछ दिनों तक वृष्टि हो चुकने अर्थात् वायुमंडल स्वच्छ हो जाने पर किसी बरतन में एकत्र किया जाय तो शुद्ध होता है अन्यथा उसमें भी उपर्युक्त द्रव्य मिल जाते हैं। प्राकृतिक बर्फ का पानी भी प्रायः शुद्ध होता है। भभके में से खोँचा हुआ पानी भी सब प्रकार के मिश्रणों से शुद्ध होता है, दवाइयों में यही पानी मिलाया जाता है। जो नदियाँ उजाड़ स्थानों, कठोर चट्टानों और कँकरीली भूमि से होकर जाती हैं उनका जल भी प्रायः शुद्ध होता है पर जिनका रास्ता नरम भूमि और चट्टानों तथा घनी आबादी के बीच से है उनके पानी में कुछ न कुछ अन्य द्रव्य मिले रहते हैं। समुद्र के जल में नमक और अन्य प्रकार के जलों की अपेक्षा बहुत अधिक होते हैं जिससे वह इतना खारा होता है कि पिया नहीं जा सकता। भभके के द्वारा उड़ा लेने से सब प्रकार का पानी शुद्ध हो जाता है। समुद्र का पानी भी इस क्रिया से पेय बनाया जा सकता है।

वैद्यक के अनुसार पानी शीतल, हलका, रस का कारणरूप, श्रमनाशक, ग्लानिहारक, बलकारक, तृप्तिदायक, हृदय को प्रिय, अमृत के समान जीवनदायक, मूर्च्छा, पिपासा, तंद्रा, वमन, निद्रा और अजीर्ण को नाश करनेवाला है। खारा जल पित्तकारक और वायु तथा कफ का नाशक है, मीठा, कफकारक और वायु तथा पित्त को घटानेवाला है। भादों या नवार में विधिपूर्वक एकत्र किया हुआ वृष्टि जल अमृत के समान गुणकारी, त्रिदोष शांतिकर, रसायन, बलदायक, जीव-नरूप, पाचन और बुद्धिबर्द्धक है। वेग से बहनेवाली और हिमालय से निकली हुई नदियों का जल उत्तम होता है, तथा मंद गति से बहनेवाली और सहाय्य से निकली हुई नदियों का पानी कोढ़, कफ, बात आदि विकारों को उत्पन्न करता है। झरने का और प्राकृतिक बर्फ के पिघलने से उत्पन्न जल उत्तम है। कुएँ का जल यदि उसके सोते अधिक गहराई और कड़ी कँकरीली मिट्टी पर से निकले हों तो उत्तम होता है, अन्यथा दोषकारक होता है। जिस पानी में कोई गंध या विशेष स्वाद न हो उसे उत्तम और जिसमें ये

बातें हों उसे सद्दोष समझना चाहिए। पकाने से पानी के सब दोष मिट जाते हैं।

यौ०—पनचक्की। पानी पाँडे। पानी फल।

विशेष—प्राचीन आर्य तत्त्वज्ञानियों ने पानी को पाँच महाभूतों अर्थात् उन मूल तत्त्वों में जिनके योग से जगत् के और सब पदार्थों की उत्पत्ति हुई है, चौथा माना है। रस तन्मात्र से उत्पन्न होने के कारण रस इसका प्रधान गुण और तीन पूर्ववर्ती तत्त्वों के गुण शब्द स्पर्श और रूप को गौण गुण कहा है। पाँचवें महाभूत या मूलतत्त्व पृथ्वी के गंध गुण का इसमें अभाव माना है। इसका रूप अर्थात् वर्षा सफेद, रस अर्थात् स्वाद मधुर और स्पर्श शीतल माना है। परमाणु में इसे नित्य और सावयव अर्थात् स्थूल रूप में अनित्य कहा है। पारचात्य देशों के द्रव्यशास्त्रविद् भी वर्तमान विज्ञान युग के आरंभ के पहले सहस्रां सात तक पानी को अपने माने हुए चार मूल तत्त्वों—अग्नि, वायु, पानी और मिट्टी में से एक मानते रहे हैं।

पर्या०—अर्ण। ऋद। पद्म। नभ। अंभ। कबंध। सलिल। वाः। वन। वृत। मधु। पुरीष। पिप्पल। क्षीर। विष। रेत। कश। वुस्। तुग्या। सुचेम। धरुण। सुरा। अरविंद। धनुंधतु। जामि। आयुध। जय। अहि। अक्षर। स्रोत। तृप्ति। रस। उदक। पय। सर। भेषज। सह। ओज। सुख। चत्र। शुभ। यादु। भूत। भुवन। भविष्यत्। महत्। अप। व्योम। यश। महः। सर्णीक। स्मृतीक। सतीन। गहन। गभीर। गंभलंग। ईम्। अन्न। हवि। सदन। ऋत। योनि। सत्य। नीर। रयि। सत्। पूर्ण। सर्व। अक्षित। वहि। नाम। सर्पि। पवित्र। अमृत। इंदु। स्वः। सर्ग। सेवर। वसु। अंबु। तोय। तूप। शुक्र। तेजः। वारि। जल। जलाष। कमल। कीलाल। पाथ। पुष्कर। सर्वतोमुख। पानीय। मेघपुष्प। सल। जड़। क। अंध। उद। नार। कुश। कांड। सवर। सर। कर्बुर। व्योम। सेव। इरा। वाज। तामर। कंबल। स्यंदन। चर। ऊर्ज। सोम।

मुहा०—पानी आना = (१) पानी का रस रस कर एकत्र होना। (२) कूँ या तालाब में पानी का सोता खुलना। (३) घाव या आँख नाक आदि में पानी भर आना। (४) घाव, आँख, नाक आदि से पानी गिरना। पानी उठाना = (१) पानी सोखना। पानी चूसना। जैसे, मुलायम आटा खूब पानी उठाता है। (२) पानी अँटना। (दौरी या हथे में जितना पानी अँटता है किसान लोग उसे उतना पानी उठाना बोलते हैं। जैसे, यह हथ्या खूब पानी उठाता है।) पानी उतरना =

पानी की तल वा सतह का नीचा होना । पानी घटना । उतार होना । बाढ़ पर न रहना । (काम को) पानी करना = साध्य या सरल कर देना । सहज कर डालना । जैसे, मैंने इस काम को पानी कर दिया । पानी का आसरा = नाव की बारी पर लगा हुआ कुछ कुछ झुका हुआ तख्ता जिसपर छाजन की ओलती का पानी गिरता है । आधी बारी । (लश०) । पानी काटना = (१) पानी का बाँध काट देना । (२) एक नाली से दूसरी में पानी ले जाना । (३) तैरते समय हाथ से पानी को हटाना । पानी चीरना । पानी का बतासा = (१) बुलबुला । बुदबुद । (२) क्षणभंगुर वस्तु । क्षणस्थायी पदार्थ । पानी का बुलबुला = (१) बुलबुले की तरह क्षण में नष्ट या रूपांतरित होनेवाला । क्षणभंगुर । (२) नाशवान । विनाशशील । पानी की तरह बहाना = अंधाधुंध खर्च करना । किसी चीज का आवश्यकता से बहुत अधिक मात्रा में खर्च करना । उड़ाना या लुटाना । जैसे, उन्होंने लाखों रुपए पानी की तरह बहा दिए । पानी की पोत = (१) जिसमें पानी ही पानी हो । जिसमें पानी के सिवा और कुछ न हो । (२) वे साग पात तरकारियाँ आदि जिनमें जलीय अंश ही अधिक होता है; ठोस पदार्थ बहुत ही कम होता है । पानी के मोल = पानी की तरह सस्ता । बहुत सस्ता । कौड़ियों के मोल । पानी के रेले में बहाना = (१) पानी में फेंक देना । नष्ट कर देना । उड़ा देना । (२) पानी के मोल बेच देना । कौड़ियों में लुटा देना । पानी चढ़ना = (१) पानी का ऊपर चढ़ना या ऊँचाई की ओर जाना । पानी की गति ऊँचाई की ओर होना । जैसे, इस नल में ऊपर पानी नहीं चढ़ता । उ०—साबर उवट शिखर की पाटी । चढ़ा पानी पाहन हिय फाटी ।—जायसी । (२) पानी बढ़ना । (३) सींचे जानेवाले खेत तक पानी पहुँचना । (४) सींचा जाना । (इस मुहावरे का प्रयोग केवल खेती के लिये किया जाता है, बारी-बगीचे आदि के लिये नहीं ।) पानी चढ़ाना = (१) पानी को ऊँचाई पर ले जाना । (२) पानी को चूल्हे पर रखना । अदहन देना । (३) सिंचाई के लिये खेत तक पानी ले जाना । (४) सींचना । पानी चलाना = पानी फेरना । नष्ट करना । चौपट करना । (कव०) । उ०—ऐसे समय लखेउ ठकुरानी । पतिव्रत मारु चलायो पानी ।—लाल । पानी छानना = एक विशेष कृत्य जो हिंदुओं के यहाँ किसीको शीतला या चेचक रोग होने पर किया जाता है । नाम धरने अर्थात् रोगी के चेचक होना मान लिए जाने के तीसरे, पाँचवें और सातवें दिनों में जिस दिन शुक्रवार या सोमवार हो खियाँ रोगी के सिर से कपड़ा छुला कर उससे पानी छानती है । इस पानी में पहले से चना भिगोया रहता है । यदि वर्षा होती हो तो उसीका पानी लेकर छाना जाता है । इस कृत्य के हो जाने पर उन निषेधों का पालन नहीं करना पड़ता जिनका पालन नाम धरने के दिन से आवश्यक सम्झा

जाता है । पानी छूटना = रस रसकर पानी निकलना । थोड़ा थोड़ा पानी निकलना । रसना । पानी छूना = मलत्याग के अनंतर जल से गुदा को धोना । आवदस्त लेना (ग्राम्य) । (किसी वस्तु का) पानी छोड़ना = किसी चीज का रसना । थोड़ा थोड़ा पानी निकालना या देना । जैसे, किसी तरकारी का आग पर चढ़ाने पर पानी छोड़ना । पानी टूटना = कुँड़े, ताल आदि में इतना कम पानी रह जाना कि निकाला न जा सके । कुँड़े, ताल आदि का पानी खर्च होकर बहुत थोड़ा रह जाना । पानी तोड़ना = पानी का ढाँड़ वा बल्ली से चीरना या हटाना । पानी काटना । (मल्लाह) । पानी धामना = धार की ओर नाव ले जाना । धार पर चढ़ना । (लश०) । पानी दिखाना = (१) घोड़े, बैल आदि को पानी पिलाने के लिये उनके सामने पानी भरा बरतन रखना या उन्हें पानी तक ले जाना । (२) पशुओं को पानी पिलाना । पानी देना = (१) सींचना । पानी से भरना । पानी से तर करना । (२) पितरों के नाम अंजलि में लेकर गिराना । तर्पण करना । जैसे, उसके कुल में कोई पानी देनेवाला भी नहीं रह गया । पानी न माँगना = किसी आघात या विष आदि से इतनी जल्दी मर जाना कि एक शब्द भी मुँह से न निकले । चटपट दम तोड़ देना । तत्क्षण मर जाना । उ०—साँप इस मुत्क के बाजे ऐसे जहरीले होते हैं कि जिनका काटा आदमी फिर पानी न माँगे ।—शिवप्रसाद । पानी पड़ा = ढीला ढाला । जो कसा या तना न हो । जैसे कनकौवा पानी पड़ा है, अर्थात् उसकी डोर ढीली है । पानी पर नींव डालना या देना = ऐसा काम आरंभ करना जो टिकाऊ न हो । ऐसी वस्तु को आधार बनाना जिसकी स्थिति दृढ़ न हो । पानी पर नींव होना = किसी काम या आयोजन का आधार दृढ़ न होना । किसी काम या वस्तु का टिकाऊ न होना । पानी पढ़ना = जल अभिसंश्रित करना । मंत्र पढ़कर पानी फूँकना । पानी पर दम करना । पानी फूँकना । पानी पाड़ना = दे० “पानी छानना” । पानी पर बुनियाद होना = दे० “पानी पर नींव होना” । पानी परोरना = पानी पढ़ना या फूँकना । पानी पानी करना = अत्यंत लज्जित करना । लज्जाभिभूत करना । पानी पानी होना = लज्जित होना । लज्जा के मारे पसीने पसीने हो जाना । लज्जा से कट जाना । जैसे, वह इस बात को सुनकर पानी पानी हो गया । पानी पीकर जाति पूछना = काम कर चुकने पर उसके औचित्य की विवेचना करना । पानी पी पीकर = निरंतर । अविराम । हर समय । लगातार । (विशेष—इस मुहावरे का प्रयोग उस समय किया जाता है जब कोई घंटों तक लगातार किसी को गालियाँ देता या कोसता रहता है । भाव यह होता है कि उसने इतनी अधिक गालियाँ दीं कि कई बार उसका गला सूख गया और उसे पानी पीकर उसे तर करना पड़ा । जैसे, वह उन्हें पानी पी पीकर कोसता रहा ।) (किसी वस्तु पर) पानी फिरना या फिर

जाना = नष्ट होना। चौपट हो जाना। मिट्टी में मिल जाना। बरबाद हो जाना। पानी फूँकना = मंत्र पढ़कर पानी पर फूँक मारना। पानी पड़ना। पानी फूटना = (१) बाँध या मेंड़ को तोड़ कर पानी को निकालना। (२) पानी में उबाल आ जाना। पानी खेलने लगना। (किसी पर) पानी फेरना या फेर देना = ऐसा कुछ करना जिससे किया कराया उद्योग या परिश्रम विफल हो जाय या कोई बनी बात बिगड़ जाय। चौपट कर देना। मिट्टी कर देना। मटिया मेट कर देना। मिटा देना। जैसे, इस एक बात ने आज तक के हमारे सारे परिश्रम पर पानी फेर दिया। पानी बराना = (१) छोटी नाखियाँ बनाकर और वयारियाँ काटकर खेत को सींचना। (२) जिसमें नाखियाँ तोड़कर पानी बह न जाय इसलिये इसकी रखवाली करना। पानी बाँधना = (१) जिस मार्ग से पानी बह रहा हो उसे बंद करना। पानी का बहाव रोकना। (२) बाँध बाँधकर या मेंड़ बनाकर पानी को ताल या खेत में एकत्र करके बाहर न जाने देना। पानी को रोकना या एकत्र करना। (३) जादू से बरसते या बहते हुए पानी की धार रोकना। जलस्तंभ करना। पानी बुझाना = लोहे, ईट या सेले चाँदी आदि के टुकड़े को आग में लाल करके पानी में बुझाना। पानी बघारना। (विशेष— इस प्रकार बुझाया हुआ पानी विकाररहित होता है और रोगी के लिये पथ्य समझा जाता है।) (किसीके सामने) पानी भरना = (किसी से तुलना में उसके) दास के बराबर ठहरना। अत्यंत तुच्छ प्रतीत होना। फीका पड़ना। लाजित होना। उ०—चूना उसका ऐसा सफेद, साफ और चमकदार है कि संगमरमर भी उसके सामने पानी भरे।—शिवप्रसाद। पानी भरी खाल = अनित्य शरीर। क्षणभंगुर देह। क्षणिक जीवन। उ०—रावरी सपथ राम नाम ही गति मेरे इहाँ झूठे सूठों से तिलोक तिहुँ काल है। तुलसी को भलो पै मुहारेई किए कृपाल कीजे न विलंब बलि! पानी भरी खाली है।—तुलसी। पानी मरना = किसी स्थान पर पानी का एकत्र होकर सोखा जाना या जज्व होना। जैसे, (क) जहाँ पानी मरता है वहीं धान होता है। (ख) इस दीवार की जड़ में बरसात का पानी मरता है। (किसी के सिर) पानी मरना = दोष या अपराधी सिद्ध होना। कसूरवार या गुनहगार साबित होना। जैसे, देखिए, इस मामले में किसके सिर पानी मरता है। पानी में आग लगाना = (१) असंभव को संभव करना। जो बात दूसरे से न हो सकती हो उसे कर डालना। (२) जहाँ भगड़ा होना असंभव हो वहाँ भगड़ा करा देना। शान्ति भवनों में कलह करा देना। (विशेष—मुख्य अर्थ पहला होने पर भी दूसरे अर्थ में इस मुहावरे का अधिक प्रयोग होने लगा है। आग लगाने का अर्थ है खुलखोली करके भगड़ा करा देना। कदाचित् यही इसका दूसरे अर्थ में अधिक प्रयुक्त होने का कारण है)। पानी में फेंकना या

बहाना = नष्ट करना। बरबाद करना। खो देना। पानी में फेंक देना। पानी लगना = (१) पानी इकट्ठा होना। पानी जमा होना। (२) पानी की ठंडक से दाँतों में टीस होना। पानी का स्पर्श दाँतों को असह्य होना। (३) स्थान विशेष की परिस्थिति के कारण बुरी वासनाएँ उत्पन्न होना। स्थान विशेष के गुण से शरारत सूझना। जैसे, अब इनको बनारस का पानी लग चला। पानी लेना = (१) कुएँ, ताल आदि से खेत को सींचने के लिये पानी ले जाना। (२) पानी छूना। आबदस्त लेना। पानी से पतला = (१) जिसका कुछ भी महत्व या मान न हो। अत्यंत तुच्छ। निहायत अदना। (२) अत्यंत अपमानित। सर्वथा मानच्युत। सख्त बदनाम। (३) अत्यंत सुगम। निहायत आसान। पानी से पहले पुल, पाड़ या बाँध बाँधना = असंभव संकट की आशंका से कोई यत्न करना। जिस बात का होना असंभव हो उसके प्रतीकार का उपाय करना। अकारण सिर खपाना। व्यर्थ कष्ट करना। सूखे में पानी में डूबना = भ्रम में पड़ना। धोखा खाना। उ०—धनी संग न संगे पूरे। पानी बूड़ रात दिन भूरे।—जायसी। कच्चा पानी = वह पानी जो पकाया हुआ न हो। पक्का पानी = पकाया हुआ पानी। औटया हुआ पानी। भभके का पानी = वह पानी जो भभके की सहायता से साधारण पानी को भाफ के रूप में परिणत करके तैयार किया गया हो। उड़या या खींचा हुआ पानी। नशम पानी = वह पानी जिसके बहाव में अधिक वेग न हो। ठहरा हुआ पानी (लश०)। मीठा पानी = वह पानी जो पीने में खारा न हो। सुस्वादु पानी। पेय जल। खारा पानी = वह पानी जिसका स्वाद नमकीन लिए हुए तीखा होता है। अपेय जल। भारी पानी = वह पानी जिसमें खनिज पदार्थ अधिक मात्रा में मिले हुए हों। हलका पानी = वह पानी जिसमें खनिज पदार्थ बहुत थोड़े हों। पानी भरना या भर आना = पंछा या रात का किसी स्थान में एकत्र होना। जैसे, मुँह या आँख में पानी भर आना। उ०—मेरी आँखों में आँसू न थे। यह निशीथ काल की शीतल और तीव्र वायु का कारण है कि उनमें पानी भर आया, नहीं तो आँसू कैसे, रोने के दिन अब गए।—अयोध्यासिंह। मुँह में पानी आना या छूटना = (१) स्वाद लेने का गहरा लालच होना। चखने के लिए जीभ का आकुल होना। (२) गहरा लोभ होना। लालच के मारे रहा न जाना। (३) वह पानी का सा पदार्थ जो जीभ, आँख, त्वचा, घाव आदि से रस कर निकले। जैसे, पसीना, पसेव, राल 'लार, पंछा' मुहा०—पानी आना = किसी चीज से पसेव लार, आदि निकलना। जैसे, घाव में पानी आना। मुँह में पानी आना। (३) मेहँ। वर्षा। वृष्टि। जैसे, इस वर्ष इतना कम पानी पड़ा कि पृथ्वी की प्यास एक बारगी न बुझी।

मुहा०—पानी आना = (१) पानी बरसने पर होना । मेह पड़ने का सामान होना । (२) मेह पड़ना । वर्षा होना । पानी उठना = घटा घिरना । बादल छा जाना । अत्र उठना । पानी गिरना = मेह पड़ना । वर्षा होना । पानी टूटना = फट्टी रुकना । मेह थमना । वर्षा बंद होना । पानी निकलना = बूँदें टूटना । वृष्टि बंद होना । पानी पड़ना = मेह बरसना । वर्षा होना । (४) तेल, घी, चरबी आदि के अतिरिक्त कोई द्रव पदार्थ । कोई वस्तु जो पानी जैसी पतली हो । जैसे, पाचक का पानी, केले का पानी, नारियल का पानी ।

मुहा०—पानी उतरना = (१) अंडकोष में पानी जैसी पतली चीज का नसों के द्वारा आकर एकत्र हो जाना जिससे उसका परिमाण बढ़ जाता है । अंडवृद्धि । (२) अँखों से प्रायः हर समय कुछ कुछ गरम पानी गिरना जिससे देखने की शक्ति मारी जाती है । नजला । पानी करना = लोहे या किसी ऐसे ही कड़े पदार्थ को गलाकर पानी की तरह तरल करना । पानी होना = किसी पदार्थ का गलकर पानी की तरह पतला हो जाना । जैसे, सारा नमक गलकर पानी हो गया । मीठा पानी = लेमनेड । खारा पानी = सोडावाटर । चिलायती पानी = लेमनेड या सोडा वाटर । गरम पानी = मद्य । शराब ।

(५) वह द्रव पदार्थ जो किसी चीज के निचोड़ने से या उससे निथरकर निकले । किसी वस्तु का वह अंश जो जल के रूप में हो । रस । अर्क । जूस । जैसे, नीम का पानी, दाल का पानी । (६) चमक । ओष । आब । कांति । छवि । जैसे, मोती का पानी । उ०—मोतिन मलिन जो होइ गइ कला । पुनि सो पानि कहाँ निरमला ।—जायसी ।

मुहा०—पानी देना = जला करना । चमकाना ।

(७) तलवार आदि धारदार हथियारों के लोहे का वह हलका स्याह रंग और उस पर चींटी के पैर के चिह्नों के से अकृत्रिम चिह्न जिनसे उसकी उत्तमता की पहचान होती है । (ऐसे लोहे की धार खूब तीक्ष्ण और कड़ी होती है) । आब । जौहर । (८) मान । प्रतिष्ठा । इज्जत । आबरू । साख । उ०—(क) महमद हाशिम शंका मानी । चपे चौधरी उतरथो पानी ।—लाल । (ख) बोली बचन हास करि रानी । राख्यो तुम पांडव कर पानी ।—सबलसिंह ।

यौ०—पतपानी ।

मुहा०—पानी उतारना = अपमानित करना । इज्जत उतारना ।

उ०—जिन नहिं नेकु कानि मम मानी । दीन उतारि छनक में पानी ।—सबलसिंह । पानी जाना = प्रतिष्ठा नष्ट होना । इज्जत जाना । मान न रह जाना । पानी बचाना = किसीकी प्रतिष्ठा या आबरू की रक्षा करना । किसीकी इज्जत बचाना । पानी रखना = दे० “पानी बचाना” । पानी लेना = किसीकी प्रतिष्ठा या इज्जत

नष्ट करना । किसीकी बेआबरूई करना । आबरू लेना । उ०—सुंदर नैन निहारि लियो कमलन को पानी ।—सूर । वे पानी करना = दे० “पानी लेना” ।

यौ०—पानी-देवा ।

(१) वर्ष । साल । जैसे, पाँच पानी का सूअर—अर्थात् ऐसा सूअर जिसने ५ बरसातें देखी हैं अर्थात् जिसके पाँच साल पूरे हो चुके हों । (१०) मुलम्मा ।

क्रि० प्र०—चढ़ाना ।—फेरना ।

(११) वीर्य । शुक्र । जुफा । (बाजारू) ।

मुहा०—पानी गिराना = क्री प्रसंग करना । (बाजारू) ।

(१२) पुंस्त्व । मरदानगी । जीवट । हिम्मत । स्वाभिमान । जैसे, उसमें तनिक भी पानी नहीं । (१३) बोड़े आदि पशुओं की वंशगत विशेषता या कुलीनता । बोड़े आदि की नस्ल । जैसे, यह जानवर पानी और खेत का अच्छा है । (१४) पानी की तरह ठंडा पदार्थ । जैसे, तवा तो पानी हो रहा है ।

मुहा०—पानी करना या कर देना = किसीके चित्त को ठंडा कर देना । किसीका गुस्सा उतार देना । जैसे, मैंने दो बातों में उन्हें पानी कर दिया । (किसी का) पानी होना या हो जाना = (१) क्रोध उतर जाना । गुस्सा जाता रहना । जैसे, मुझे देखते ही वे पानी हो गए । (२) उग्रता या तेजी न रह जाना । मंद पड़ जाना । धीमा हो जाना ।

(१५) एकबारगी, गीली, नरम या मुलायम चीज (अत्युक्ति) । (१६) पानी की तरह फीका या स्वादहीन पदार्थ । जैसे, (क) शोरबे में बस पानी का मजा है । (ख) दाल क्या है, बिलकुल पानी है । (१७) कुश्ती या लड़ाई आदि । द्वंद्वयुद्ध । जैसे, (क) यह बटेर दो पानी हार चुका । (ख) इन दोनों में भी एक पानी हो जाने दो । (१८) बार । बेर । दफा । जैसे, अब की उन्हें जहाँ दो पानी पीटा कि वे दुरुस्त हुए । (बाजारू) । (१९) मद्य । शराब । (बोलचाल) । (२०) अबसर । समय । मौका । जैसे, अब वह पानी गया । (२१) जलवायु । आब-हवा । जैसे, यहाँ का पानी हमारे अनुकूल नहीं ।

मुहा०—कड़ा पानी = ऐसा जल वायु जिसमें उत्पन्न या पले मनुष्य या पशु, फुरतीले, शर, साहसी, जीवटवाले, सहिष्णु तथा कट्टर स्वभाव के हों । नरम पानी = ऐसा जलवायु जिसमें उत्पन्न या पले मनुष्य या पशु मंद, ढीले वदन के, जीवटहीन और असहिष्णु हों । पानी लगना = स्थान विशेष के जलवायु के कारण स्वास्थ्य बिगड़ना या रोग होना । उ०—लागत अति पहार कर पानी । विपिन विपति नहिं जाय बखानी ।—तुलसी ।

(२२) परिस्थिति । सामाजिक दशा । लोगों की

चाल ढाल या रंग ढंग। जैसे, (क) बनारस का पानी ही ऐसा है कि रंग ढंग बदल जाता है। (ख) अब इन्हें कलकत्ते का पानी लग चला। (इस शब्द से केवल बुरी परिस्थिति, बदमाशी चालढाल या चरित्र बिगड़ने वाली सामाजिक दशा व्यंजित होती है, अच्छी सामाजिक परिस्थिति नहीं।)।

मुहा०—पानी लगना = परिस्थिति का प्रभाव पड़ना। नए नए लोगों के साथ का असर पड़ना।

*संज्ञा पुं० दे० “पाणि”।

पानीतराश—संज्ञा पुं० [पा०] जहाज या नाव के पेंदे में वह बड़ी लकड़ी जो पानी को चीरती है। (लश०)

पानीदार—वि० [हिं० पानी + फा० दार (प्रत्य०)] (१) आबदार। चमकदार। (२) इज्जतदार। माननीय। आबरूदार।

(३) जीवटवाला। मरदाना। आनवाला। आत्माभिमान।

पानीदेवा—वि० [हिं० पानी + देवा = देनेवाला] (१) तर्पण या पिंड दान करनेवाला। (२) पुत्र। (३) अपने कुल का। स्ववंशीय।

मुहा०—पानीदेवा न रह जाना = वंश का उच्छेद हो जाना। वंश का समूल नाश हो जाना। कुल में एक भी व्यक्ति का जीवित न रह जाना। जैसे, उसके वंश में न कोई नामलेवा रहा न पानीदेवा।

पानीपत—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रसिद्ध युद्धक्षेत्र जो दिल्ली और अंबाले के बीच में है। यहाँ कई प्रसिद्ध और राज्य पलटनेवाले युद्ध हुए हैं। इसी के पास कुरुक्षेत्र है जिसमें महाभारत का युद्ध हुआ था। पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन गोरी का वह युद्ध इसी के पास हुआ था जिससे भारत में मुसलमानी राज्य का आरंभ हुआ। पठानों के हाथ से राजलक्ष्मी इसी मैदान में मोगलों के हाथ गई। मरहटों के साथ अहमदशाह दुर्गानी का युद्ध इसी मैदान में हुआ था और हिंदू साम्राज्य फिर स्थापित होते होते रह गया।

पानीफल—संज्ञा पुं० [हिं० पानी + सं० फल] सिंघाड़ा।

पानीय—संज्ञा पुं० [सं०] जल।

वि० (१) पीने योग्य। जो पीया जा सके। (२) रक्षा करने योग्य। रक्षा संबंधी। रक्षा करने का। उ०—सभा मार्क द्रुपदी पति राखी पानिय गुण है जाकी। वसन ओट करि कोट विश्वंभर परन न पायो रूँकी।—सूर।

पानीय कल्याण—संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में त्रिफला, एलुआ, हलदी, अनंतमूल, मजीठ, नागकेसर, लालचंदन आदि अनेक औषधियों के योग से बनाया हुआ एक प्रकार का घृत जो अपस्मार, उन्माद, ज्वर, खाँसी, क्षय, आदि रोगों को दूर करनेवाला माना जाता है।

पानीय नकुल—संज्ञा पुं० [सं०] ऊदबिजाव।

पानीय चूर्णिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] बालू।

पानीय पृष्ठज—संज्ञा पुं० [सं०] जलकुंभी।

पानीय फल—संज्ञा पुं० [सं०] मखाना।

पानीय मूलक—संज्ञा पुं० [सं०] बकुची।

पानीय वर्णिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] बालू।

पानीय शाल, पानीय शालिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्थान जहाँ प्यासों को पानी पिलाया जाता है। जलसत्र। पौसरा। प्याज।

पानीयामलक—संज्ञा पुं० [सं०] पानी आँवला।

पानीयाल—संज्ञा पुं० [सं०] पानी आलू नामक कंद। यह त्रिदोष नाशक और तृप्तिकारक माना जाता है।

पर्या०—अनुपालु। जलालु। लुपालु। अपालुक।

पानीयाश्ना—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की घास। बलवजा।

पानौरा—संज्ञा पुं० [हिं० पान + बरा] पान के पत्ते की पकौड़ी।

उ०—पानौरा, रायता, पकौरी। डुमकौरी मुंगछी सुठि सौरी।

—सूर।

पानहर—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का सरपत।

पाप—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह कर्म जिसका फल इस लोक और परलोक में अशुभ हो। वह आचरण जो अशुभ अदृष्ट उत्पन्न करे। कर्त्ता का अधःपात करनेवाला कर्म। ऐसा काम जिसका परिणाम कर्त्ता के लिये दुःख हो। व्यक्ति और समाज के लिये अहितकर आचरण। धर्म-शास्त्र या नीतिशास्त्र से निन्दित आचरण। धर्म या पुण्य का उलटा। बुरा काम। निन्दित काम। अकल्याणकर कर्म। अनाचार। गुनाह।

पर्या०—अधर्म। दुर्दिष्ट। पंक। कित्विष। कलमप। वृजिन।

एनस। अव। अंहस। दुष्कृत। पातक। शल्यक। पापक।

विशेष—जिस प्रकार अकर्त्तव्य कर्म का करना पाप है, उसी प्रकार अवश्य कर्त्तव्य का न करना भी पाप है। धर्मशास्त्रानुसार निषिद्ध कार्यों का अनुष्ठान और विहित कर्मों का अननुष्ठान दोनों ही पाप हैं। पाप का फल पतन और दुःख है। वह कर्त्ता का अनेक जन्मों में अहित करता है। पापी से संसर्ग रखनेवाला भी पापभागी और दुःख का अधिकारी होता है। प्रायश्चित्त और भोग इन्हीं दो उपायों से पाप की निवृत्ति मानी गई है। यदि इन उपायों से उसके संस्कार भली भाँति क्षीण न हुए तो वह मरणोपरांत कर्त्ता को नरक और जन्मान्तर में अनेक प्रकार के रोग शोक आदि प्राप्त कराता है। स्वानिष्टजनन-पाप अर्थात् ऐसे पाप जिनसे तत्काल या कालांतर में केवल कर्त्ता का ही अनिष्ट होता है जैसे अभक्ष्यभक्षण अगम्यागमन आदि यथाविधि प्रायश्चित्त करने से नष्ट होते हैं। परंतु परानिष्टजनन-पाप अर्थात् तत्काल कर्त्ता के अतिरिक्त किसी

और व्यक्ति का और कालांतर में कर्त्ता का अपकार करने-वाले पाप जैसे, चोरी, हिंसा आदि ऐसे हैं जिनके संस्कार यथोचित राजदंड भुगत लेने से क्षीण होते हैं। मनुस्मृति में लिखा है कि समाज के सामने अपना पाप प्रकट कर देने और उसके लिये अनुताप करने से वह क्षीण हो जाता है।

यौ०—पाप पुण्य ।

मुहा०—पाप उदय होना = संचित पाप का फल मिलना। पिछले जन्मों के पाप का बदला मिलना। कोई भारी हानि या अनिष्ट होना जिसका कारण पिछले जन्मों के बुरे कर्म समझे जायँ। जैसे, कोई भारी पाप उदय हुआ है तभी उसको इस दुड़ापे में लड़के का शोक सहना पड़ा है। **पाप कटना** = पाप का नाश होना। प्रायश्चित्त या दंडभोग से पापसंस्कारों का नाश होना। **पाप कमाना या बटोरना** = पाप कर्म करना। लगातार या बहुत से पाप करना। ऐसे बुरे कर्म करते जाना जिनका फल बुरा हो। भविष्यत् या जन्मांतर में दुःख भोगने का सामान करना। **पाप काटना** = पाप से मुक्त करना। किसी के पाप का नाश कर देना। निष्पाप करना। पापरीहित कर देना। **पाप की गठरी या मोट** = पापों का समूह। किसी व्यक्ति के संपूर्ण पाप। किसी के जन्म भर के पाप। **पाप लगाना** = पाप पड़ना। पाप होना। दोष होना। जैसे, (क) पापी के संसर्ग से भी पाप लगता है। (ख) ऐसे महात्मा की निंदा करने से पाप लगता है। (२) अपराध। कसूर। जुर्म। (३) बध। हत्या। (४) पाप बुद्धि। बुरी नीयत। बदनीयती। खोट। बुराई। जैसे, उसके मन में अवश्य कुछ पाप है। (५) अनिष्ट। अहित। बुराई। खराबी। नुकसान। (६) कोई कुशेदायक कार्य या विषय। परेशान करनेवाला काम या बात। बखेड़े का काम। झगड़। जंजाल। (केवल हिंदी में)।

मुहा०—पाप कटना = बाधा कटना। भगड़ा दूर होना। जंजाल छूटना। जैसे, वह आप ही यहाँ से चला गया—अच्छा हुआ, पाप कटा। **पाप काटना** = भगड़ा मिटाना। बला काटना। जंजाल छुड़ाना। **पाप मोल लेना** = जान बूझकर किसी बखेड़े के काम में फँसना। दर्दसर खरीदना। भगड़े में पड़ना। **पाप गले या पीछे लगाना** = अनिच्छापूर्वक किसी बखेड़े या झगड़ के काम में बहुत समय के लिये फँस जाना। कोई बाधा साथ लगना।

(७) कठिनाई। मुश्किल। संकट। (क्व०)

मुहा०—पाप पड़ना = सामर्थ्य से बाहर हो जाना। मुश्किल पड़ जाना। कठिन हो जाना। उ०—सीरे जतनबि सिसिर ऋतु सहि विरहिन तनु ताप। बसिबे को ग्रीष्म दिननि परयो परोसिनि पाप।—बिहारी।

(८) पापग्रह। क्रूरग्रह। अशुभग्रह।

वि० (१) पापयुक्त। पापिष्ठ। पापी। (२) दुष्ट। दुराचारी। बदमाश। (३) नीच। कमीना। (४) अशुभ। अमंगल।

विशेष—पाप शब्द का विशेषण के रूप में अकेले केवल संस्कृत में व्यवहार होता है, हिंदी में वह समास के साथ ही आता है, जैसे, पापपुरुष, पापग्रह आदि।

पापक—संज्ञा पुं० [सं०] पाप।

वि० पापयुक्त।

पापकर्म—संज्ञा पुं० [सं०] अनुचित कार्य। बुरा काम। वह काम जिसके करने में पाप हो।

पापकर्मा—वि० [सं० पापकर्मन्] पापी। पातकी।

पापकर्मी—वि० [सं० पापकर्मन्] [स्त्री० पापकर्मिणी] पाप करनेवाला। पापी।

पापकल्प—वि० [सं०] पापी का सा आचरण रखनेवाला। पापी तुल्य। दुष्कर्मी। पापकर्म से जीविका करनेवाला। बदमाश।

पापक्षय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पापों का नष्ट होना। (२) वह स्थान जहाँ जाने से पापों का नाश हो। तीर्थ।

पापगण—संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मशास्त्र के अनुसार ढगण का आठवाँ भेद।

पापग्रह—संज्ञा पुं० [सं०] (१) फलित ज्योतिष के अनुसार कृष्णाष्टमी से शुक्लाष्टमी तक का चंद्रमा। वह चंद्रमा जो देखने में आधे से कम हो। (२) फलित ज्योतिष के अनुसार सूर्य, मंगल, शनि, और राहु केतु ये ग्रह; अथवा इनमें से किसी ग्रह से युक्त बुध। ये ग्रह अशुभ फलकारक माने जाते हैं।

पापघ्न—संज्ञा पुं० [सं०] तिल।

वि० पापनाशक। जिससे पाप नष्ट हो।

पापघ्नी—संज्ञा स्त्री० [सं०] तुलसी।

पापचंद्रमा—संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष के अनुसार विशाखा और अनुराधा नक्षत्र के दक्षिण भाग में स्थित चंद्रमा।

पापचर—वि० [सं०] [स्त्री० पापचरा] पापाचारी। पापी।

पापचारी—वि० [सं० पापचारिन्] [स्त्री० पापचारिणी] पापी। पाप करनेवाला। पातकी।

पापचेता—वि० [सं० पापचेतस्] बुरे चित्तवाला। जिसके चित्त में सदा पाप बसता हो। दुष्टचित्त।

पापचेलिका, पापचेली—संज्ञा स्त्री० [सं०] पाठा।

पापचैल—वि० [सं०] जो बुरे वस्त्र पहने हो। अशुभ या अभद्र वस्त्रधारी।

पापजीव—संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार स्त्री, शूद्र, दूष्य और शव आदि जीव।

पापड़—संज्ञा पुं० [सं० पर्यट, प्रा० पपड़] उर्दू अथवा मूँग की धोई के आटे से बनाई हुई मसालेदार पतली चपाती। इसके बनाने की विधि यह है कि पहले आटे को केले, लट्जीरे आदि के चार अथवा सोडा मिले हुए पानी में गूँधते हैं। फिर उसमें नमक, जीरा, मिर्च आदि मसाला देकर और तेल चुपड़ चुपड़ कर बट्टे आदि से खूब कूटते हैं। अच्छी तरह कुट जाने पर एक तोले के बराबर आटे की लोई करके बेलन से उसे खूब बारीक बेलते हैं। फिर छाया में सुखाकर रख लेते हैं। खाने के पहले इसे घी या तेल में तलते वा थोड़ी ही आग पर सेंक लेते हैं। पापड़ दो प्रकार का होता है—सादा और मसालेदार। सादे पापड़ में केवल नमक जीरा आदि मसाले ही पड़ते हैं और वह भी थोड़ी मात्रा में। परंतु मसालेदार में बहुत से मसाले डाले जाते हैं और उनकी मात्रा भी अधिक होती है। दिल्ली, आगरा, मिर्जापुर आदि नगरों का पापड़ बहुत काल से प्रसिद्ध है। अब कलकत्ते आदि में भी अच्छा पापड़ बनने लगा है। हिंदुओं, विशेषतः नागरिक हिंदुओं के भोज में पापड़ एक आवश्यक व्यंजन है। उ०—फेनी पापर भूजे भये अनेक प्रकार। भइ जाउर भिजयावर सींकी सब ज्योनार—जायसी।

मुहा०—पापड़ बेलना = (१) कठोर परिश्रम करना। भारी प्रयास करना। बड़ी मिहनत करना। जैसे, आपसे किसने कहा था कि इस काम में आप इतने पापड़ बेलें ? (२) कठिनाई या दुःख से दिन काटना। बहुत से पापड़ बेलना = बहुत तरह के काम कर चुकना। बहुत जगह भटक चुकना। जैसे, उसने बहुत से पापड़ बेले हैं।

वि० (१) बारीक। पतला। कागज सा। (२) सूखा। शुष्क।

पापड़ा—संज्ञा पुं० [सं० पर्यट] (१) छोटे आकार का एक पेड़ जो मध्य प्रदेश, बंगाल, मद्रास आदि में उत्पन्न होता है। इसकी पत्तियां हर साल झड़कर नई निकलती हैं। इसकी लकड़ी भीतर से चिकनी, साफ और पीलापन लिए भूरे रंग की तथा कड़ी और मजबूत होती है। उससे कंधी और खराद की चीजें बनाई जाती हैं। खुदाई का काम भी उसपर अच्छा होता है। इसे वनएडालु भी कहते हैं। (२) दे० “पित्तपापड़ा”।

पापड़ाखार—संज्ञा पुं० [सं० पर्यटखार] केले के पेड़ का चार।

पापड़ी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पापड़ा] एक पेड़ जो मध्यप्रदेश, पंजाब और मद्रास में बहुत होता है। इसका धड़ लंबा होता है। इसकी पत्तियां हर वर्ष झड़ जाती हैं। इसकी लकड़ी पीलापन लिए सफेद होती है और घर, संगहे तथा गाड़ियों के बनाने में काम आती है।

पापदर्शी—वि० [सं० पापदर्शिन्] बुरी नीयत या निगाह से देखने वाला। अनिष्ट करने की इच्छा से देखनेवाला।

पापदृष्टि—वि० [सं०] (१) जिसकी दृष्टि पापमय हो। (२) अशुभ या अमंगल दृष्टिवाला। जिसकी दृष्टि पढ़ने से हानि पहुँचे। निंदित दृष्टि।

पापधी—वि० [सं०] जिसकी बुद्धि पापमय या पापासक्त हो। पापमति। पापचेता। निंदित या दुष्ट बुद्धिवाला।

पापनक्षत्र—संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष में ज्येष्ठा आदि कुछ नक्षत्र जो बुरे या निंदित माने जाते हैं।

पापनामा—वि० [सं० पापनामन्] (१) जिसका नाम बुरा हो। अमंगल या अभद्र नामवाला। (२) बदनाम। अपकीर्तियुक्त। जिसकी निंदा या बदनामी हुई हो।

पापनाशन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाप का नाश करनेवाला। पापनाशी। (२) वह कर्म जिससे पाप का नाश हो। प्रायश्चित्त। (३) विष्णु। (४) शिव। (५) पापनाश का भाव अथवा क्रिया। पाप का नाश होना या करना।

पापनाशिनी—संज्ञा पुं० [सं०] (१) शमीवृक्ष। (२) कृष्ण तुलसी।

पापनिश्चय—वि० [सं०] जिसने पाप करने का निश्चय किया हो। पाप करने को कृतसंकल्प। दुष्कर्म करने का निश्चय करनेवाला। खोटा काम करने को तैयार।

पापपति—संज्ञा पुं० [सं०] उपपति। जार।

पापपुरुष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पापमय पुरुष। पाप प्रकृति पुरुष। दुष्ट। (२) तंत्र में माना हुआ एक पुरुष जिसके संपूर्ण शरीर का उपादान केवल पाप होता है। इसके सिर से लेकर रोंग तक संपूर्ण श्रंग प्रत्यंग किसी न किसी महापातक या उपपातक से बने माने जाते हैं। इसका वर्ण काजल की तरह काला और आँखें लाल होती हैं। यह सर्वदा क्रुद्ध और तलवार और ढाल लिए रहता है।

पापफल—वि० [सं०] वह (कर्म) जिसका फल पाप हो। पापोत्पादक। अशुभ फल देनेवाला।

पापमन्त्रण—संज्ञा पुं० [सं०] कालभैरव।

पापमति—वि० [सं०] जिसकी मति सदा पाप में रहे। पाप बुद्धि। पापचेता।

पापमय—वि० [सं०] [स्त्री० पापमयी] जिसमें सर्वत्र पाप ही पाप हो। पाप से ओतप्रोत। पाप से भरा हुआ। जो सर्वदा पापवासना या पापचेष्टा में लिस रहे।

पापमोचनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] चैत्र कृष्णपक्ष की एकादशी।

पापयदमा—संज्ञा पुं० [सं०] राजयक्ष्मा। क्षय रोग। तपेदिक।

पापयोनि—संज्ञा स्त्री० [सं०] निकृष्ट या निंदित योनि। पाप से प्राप्त होनेवाली योनि। मनुष्य के अतिरिक्त अन्य पशु, पक्षी, वृक्ष आदि की योनि।

पापर—संज्ञा पुं० दे० “पापड़”।

पापरोग—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह रोग जो कोई विशेष पाप करने से होता है। पाप विशेष के फल से उत्पन्न रोग। धर्मशास्त्रानुसार कुष्ठ, यक्ष्मा, कुनख, श्यवदंत (दाँतों का काला या बदरंग होना), पीनस, पृतिवक्र (श्वासवायु से दुर्गंध निकलना), हीनांगता, शिक्त्र, श्वेतकुष्ठ, पंगुत्व, मूकता, लोलजिह्वा, उन्माद, अपस्मार, अंधत्व, काण्ठ, आमर (सिर में चकर आना), गुल्म, श्लीपद (फीलपा) आदि रोग पापरोग माने गए हैं जो ब्रह्महत्या, सुरापान, स्वर्णहरण आदि विशेष विशेष पापों के कर्त्ता को नरक और पशु कीट पतंग आदि की योनियों से पुनः मनुष्य जन्म प्राप्त करने पर होते हैं। (२) मस्-रिका। वसंत रोग। छोट्टी माता।

पापरोगी—वि० [सं० पापरोगिन्] [स्त्री० पापरोगिणी] पापरोग-युक्त। जिसे कोई पापरोग हुआ हो।

पापद्वि—संज्ञा स्त्री० [सं०] मृगया। आखेट। शिकार।

विशेष—मृगया से पाप की ऋद्धि (बढ़ती) होना माना गया है, इसीसे उसकी पापद्वि संज्ञा हुई।

पापलेन—संज्ञा पुं० [फ० पापलिन] एक मूली कपड़ा। एक प्रकार का डेरिया।

पापलोक—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० पापलोक्य] पापियों के रहने का स्थान। पापी को मिलनेवाला लोक। नरक।

पापवाद—संज्ञा पुं० [सं०] अशुभसूचक शब्द। असंगल ध्वनि। कौवे आदि की ऐसी बोली जो अशुभसूचक मानी जाय।

पापशमनी—वि० स्त्री० [सं०] पापनाशिनी। पापनिवारिणी। संज्ञा स्त्री० शमीवृक्ष।

पापशोधन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाप से शुद्ध होने की क्रिया या भाव। पापनिवारण। (२) तीर्थस्थान।

पापसंकल्प—वि० [सं०] पाप निश्चय। जिसने पाप करने का पक्का इरादा कर लिया हो।

पापसूदनतीर्थ—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन तीर्थस्थान।

पापहर—वि० पुं० [सं०] पापनाशक। पापहारक।

संज्ञा पुं० एक नदी का नाम।

पापहा—वि० [सं० पापहन्] पापनाशक। पाप का हनन करने वाला।

पापांकुशा—संज्ञा स्त्री० [सं०] आश्विन मास की शुक्ल एकादशी।

पापांत—संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक तीर्थ का नाम।

पापा—संज्ञा स्त्री० [सं०] बुध की उस समय की गति जब वह हस्त, अनुराधा अथवा ज्येष्ठा नक्षत्र में रहता है। संज्ञा पुं० [देश०] एक छोटा कीड़ा जो ज्वार बाजरे आदि की फसल में प्रायः उस वर्ष लग जाता है जिस वर्ष बरसात अधिक होती है।

संज्ञा पुं० [अनु०] (१) बच्चों की एक स्वाभाविक बोल या शब्द जिससे वे बाप को संबोधित करते हैं। बाबा। बावू। **विशेष**—इस समय प्रायः युरोपियनों ही के बच्चे इस शब्द का प्रयोग करते हैं।

(२) प्राचीन काल में विशेष पादरियों और वर्तमान में केवल यूनानी पादरियों के एक विशेष वर्ग की सम्मान-सूचक उपाधि।

पापाख्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] बुध की उस समय की गति जब वह हस्त, अनुराधा अथवा ज्येष्ठा नक्षत्र में रहता है।

पापाचार—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० पापाचारी] पाप का आचरण, पापकार्य। दुराचार।

वि० पाप का आचरण करनेवाला। पापी। दुराचारी।

पापात्मा—वि० [सं० पापात्मन्] जिसकी आत्मा सदा पापकर्म में बसे या लिप्त रहे। पाप में अनुरक्त। पापी। दुष्टात्मा।

पापाह—संज्ञा पुं० [सं०] (१) अशौच का दिन। सूतक काल। (२) निर्दित दिन। अशुभ दिन।

पापाही—संज्ञा पुं० [सं०] सर्प। साँप।

पापिष्ठ—वि० [सं०] अतिशय पापी। बहुत बड़ा पापी। जो सदा पाप करता रहता हो। बहुत बड़ा गुनहगार।

पापी—वि० [सं० पापिन्] [स्त्री० पापिनी] (१) पाप में रत या अनुरक्त। पाप करनेवाला। पापयुक्त। अवी। पातकी।

३०—(क) परगट गुपुत सरव विद्यापी। धर्मी चीन्ह न चीन्है पापी।—जायसी। (२) क्रूर। निर्दय। नृशंस। परपीड़क। संज्ञा पुं० पाप करनेवाला। पापकारी। अपराधी। दुराचारी।

पापेश—संज्ञा पुं० [फा०] जूता। उपानह।

पाप्मा—संज्ञा पुं० [सं० पाप्मन्] पाप।

वि० पापी।

पाबंद—वि० [फा०] [संज्ञा स्त्री० पाबंदी] (१) बँधा हुआ। बद्ध। अस्वाधीन। कैद। (२) किसी नियम, आज्ञा, बचन आदि के पूर्ण रूप से अधीन होकर काम करने-

वाला। आचरण में किसी विशेष बात की नियमपूर्वक रक्षा करनेवाला। किसी बात का नियमित रूप से अनु-

सरण करनेवाला। नियम प्रतिज्ञा आदि का पालनकर्त्ता। जैसे, (क) मैं तो सदा आपके हुक्म का पाबंद रहता हूँ।

(ख) वे जन्म भर में कभी अपने वादे के पाबंद नहीं हुए। (३) नियमतः अथवा न्यायतः कोई विशेष कार्य करने के लिये बाध्य या लाचार। जो किसी वस्तु का अनुसरण करने के लिये बाध्य हो। नियम, प्रतिज्ञा, विधि, आदेश आदि का पालन करने के लिये विवश। जैसे, (क) जो प्रतिज्ञा मुझपर दबाव डालकर कराई गई उसका पाबंद मैं क्यों होऊँ? (ख) आपका हर एक हुक्म मानने के लिये मैं पाबंद नहीं हूँ।

संज्ञा पुं० (१) बोड़े की पिछाड़ी। (२) नौकर। दास। सेवक।

पाबंदी—संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) पाबंद होने का भाव। बद्धता। अधीनता। (२) मजबूरी। लाचारी। (३) किसी वस्तु के अधीन होकर काम करने का भाव। नियमित रूप से किसी बात का अनुसरण। नियम, प्रतिज्ञा, आदेश, विधि आदि का पालन। जैसे, वे सदा अपने वादों की पाबंदी करते हैं। (४) कोई विशेष कार्य करने की बाध्यता या लाचारी। किसी वस्तु के अनुसरण की आवश्यकता। किसी कार्य का अवश्य कर्त्तव्य या फर्ज होना। जैसे, आपकी सभी आज्ञाओं की मुझपर कोई पाबंदी नहीं है।

पाबोर—संज्ञा पुं० [हिं० पा + बोरना] कहाँ अथवा डोली डोने-वालों की बोलचाल में वह स्थान जहाँ कुछ अधिक पानी हो। वह स्थान जहाँ घुटने तक या घुटना डूबने भर पानी भरा हो।

विशेष—रास्ते में जब कहीं ऐसा स्थान पड़ता है जिसमें कुछ अधिक पानी भरा होता है तब अगले कहार इस शब्द को कहकर पिछले कहाँ के सावधान करते हैं।

पाम—संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) वह डोरी जो गोटे किनारी आदि के किनारों पर मजबूती के लिये बुनते समय डाल दी जाती है। (२) लड़। रस्सी। डोरी। (लश०)

संज्ञा पुं० [सं० पामन] (१) दानेदार चकत्ते या फुसियाँ जो चमड़े पर हो जाती हैं। (२) खाज। खुजली।

पामघ्न—संज्ञा पुं० [सं०] गंधक।

पामघ्नी—संज्ञा स्त्री० [सं०] कुटकी।

पामड़ा—संज्ञा पुं० दे० “पावड़ा”। उ०—सीसी के उम्कै भुके चलत रुकै यदुराय। नव मखमल के पामड़े हाय गड़े ये पाय।—शृंगारसतसई।

पामन—संज्ञा पुं० दे० “पाम”।

पामन—वि० [सं०] जिसे या जिसमें पाम रोग हुआ हो।

पामर—वि० [सं०] (१) खल। दुष्ट। कमीना। पाजी। (२) पापी। अधम। दुश्चरित। (३) नीच कुल या वंश में उत्पन्न। (४) मूर्ख। उल्लू। निर्बुद्धि।

पामरयोग—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का निकृष्ट योग जिसके द्वारा भारतवर्ष के नट, बाजीगर आदि अद्भुत अद्भुत लोग के खेल किया करते हैं। इसके साधन से अनेक रोगों का नाश और अद्भुत शक्तियों की प्राप्ति होना माना जाता है। कुछ लोग इसे मिस्मेरिजम के अंतर्गत मानते हैं।

पामरी—संज्ञा स्त्री० [सं० प्रावार] उपरना। दुपट्टा। उ०—(क) मोही साँवरे सजनी तब ते गृह मोको न सोहाई। द्वार अचानक होइ गये री सुंदर वदन दिखाई। ओढे पीरी पामरी पहिरे लाल निचोल। भौहैं काँट कटीलियाँ सिख कीन्हैं बिन

मोल।—सूर। (ख) साँवरी पामरी की दै खुदी बलि साँवरे पे चली साँवरी है के।—पद्माकर।

संज्ञा स्त्री० दे० “पावड़ी”। उ०—छोटे छोटे नूपुर सो छोटे छोटे पायँन में छोटी जरकसी लसी सामरी सु पामरी।—रघुराजसिंह।

पामारि—संज्ञा पुं० [सं०] गंधक।

पामाल—वि० [फा० पा + माल = मलना, दलना, रौंदना] [संज्ञा पामाली] (१) पैर से मला हुआ। रौंदा हुआ। पादाक्रांत। पददलित। (२) तबाह। बरबाद। चौपट। सत्तानास।

पामाली—संज्ञा स्त्री० [फा०] तबाही। बरबादी। नाश।

पामोज़—संज्ञा पुं० [हिं० पा + मोजा?] (१) एक प्रकार का कबूतर जिसके पैर की उँगलियाँ तक परों से ढँकी रहती हैं। (२) वह घोड़ा जो सवारी के समय सवार की पिंडली को अपने मुँह से पकड़ता है।

पायँ*—संज्ञा पुं० दे० “पावँ”।

पायँजेहरि*—संज्ञा स्त्री० [हिं० पायँ + जेहरी] पैर में पहनने का घुँघरुदार गहना। पायजेब।

पायँत—संज्ञा स्त्री० दे० “पायँती”।

पायँता—संज्ञा पुं० [हिं० पायँ + सं० स्थान, हिं० थान] (१) पलंग या चारपाई का वह भाग जिधर पैर रहता है। सिरहाने का उलटा। पैताना। (२) वह दिशा जिधर सोनेवाले के पैर हों। जैसे, तुम्हारे पायँते रखा हुआ है, उठकर ले लो।

पायँती—संज्ञा स्त्री० [हिं० पायँता] पायँता। पैताना।

पायँदाज—संज्ञा पुं० [फा०] पैर पोंछने का बिछावन। फर्श के किनारे का वह मोटा कपड़ा जिसपर पैर पोंछकर तब फर्श पर जाते हैं। उ०—हगपग पोंछन को किये भूषण पायँ-दाज।—बिहारी।

पायँपसारी—संज्ञा स्त्री० [सं०] निर्मली का पौधा और फल।

पायक—संज्ञा पुं० [सं० पादातिक, पायिक] (१) धावन। दूत। हरकारा। उ०—है दससीस मनुज रघुनायक? जाके हनुमान से पायक।—तुलसी। (२) दास। सेवक। अनुचर। (३) पैदल सिपाही।

संज्ञा पुं० [सं०] पान करनेवाला। पीनेवाला।

पायखाना—संज्ञा पुं० दे० “पाखाना”।

पायजामा—संज्ञा पुं० दे० “पाजामा”।

पायजेब—संज्ञा स्त्री० दे० “पाजेब”।

पायठ—संज्ञा स्त्री० दे० “पाइठ”।

पायड़ा—संज्ञा पुं० दे० “पैड़ा”।

पायताबा—संज्ञा पुं० [फा०] खोली की तरह का पैर का एक पहनावा जिससे उँगलियों से लेकर पूरी या आधी टाँग ढकी रहती है। मोजा। जुर्राब।

पायदार—वि० [फा०] बहुत दिनों तक टिकनेवाला। बहुत

दिनों तक चलनेवाला। जल्दी न टूटने फूटने या नष्ट होनेवाला। टिकाऊ। दृढ़। मजबूत।

पायदारी—संज्ञा स्त्री० [फा०] मजबूती। दृढ़ता।

पायपोश—संज्ञा पुं० दे० “पापोश”।

पायमाल—वि० [फा०] (१) पैरों से रौंदा हुआ। (२) विनष्ट। बरबाद। ध्वस्त। उ०—तुलसी गरब तजि, मिलिबे को साज सजि, देहि सिय ननु पिय पायमाल जाहि गो।—तुलसी।

पायमाली—संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) दुर्गति। अधोगति। (२) खराबी। बरबादी। नाश।

पायरा—संज्ञा पुं० [हिं० पाय + रा (= रखना)] बोड़े की जीन या चारजामे के दोनों ओर लटकता हुआ पट्टी या तसमें में लगा हुआ लोहे का आधार जिसपर सवार के पैर टिके रहते हैं। रकाव।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का कबूतर।

पायल—संज्ञा स्त्री० [हिं० पाय + ल (प्रत्य०)] (१) पैर में पहनने का स्त्रियों का एक गहना जिसमें घुंघरू लगे होते हैं। नूपुर। पाजेब। (२) तेज चलनेवाली हथनी। (३) वह बच्चा जन्म के समय जिस के पैर पहले बाहर हों। (४) बाँस की सीढ़ी।

पायस—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) खीर। (२) सरल नियास। सलई का गोंद जो विरोजे की तरह का होता है।

पायसा—संज्ञा पुं० [सं० पार्श्व, हिं० पास] पड़ोस। आस पास का स्थान। उ०—छौरानी जेठानी सासु ननद सहेली दासी पायसे की बासी तिय तिन के हो गोल में।—रघुनाथ।

पाया—संज्ञा पुं० [सं० पाद, हिं० पाय, फा० पायः] (१) पलंग, कुरसी, चौकी, तख्त आदि में खड़े डंडे या खंभे के आकार का वह भाग जिसके सहारे उसका ढाँचा या तल ऊपर ठहरा रहता है। गोड़ा। पावा। जैसे, तख्त का पाया, पलंग के चारों पाये। (२) खंभा। स्तंभ। (३) पद। दरजा। स्तुति। ओहदा। (४) बोड़ों के पैर में होनेवाली एक बीमारी। (५) सीढ़ी। जीना।

पायिक—संज्ञा पुं० [सं० वास्तव में “पादातिक” का प्रा० रूप] (१) पादातिक। पैदल सिपाही। (२) दूत। चर।

पायी—वि० [सं० पायिन्] पीनेवाला।

पायु—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मलद्वार। गुदा।

विशेष—पायु कर्मद्वियों में माना गया है।

(२) भरद्वाज ऋषि के एक पुत्र का नाम।

पायुभेद—संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रग्रहण के मोच का एक प्रकार जिसमें मोच आ तो नैऋत कोण या वायु कोण से होता है। यदि नैऋत कोण से मोच हो तो उसे दक्षिण पायु-

भेद और यदि वायु कोण से हो तो वाम पायुभेद कहते हैं, इन दोनों प्रकार के मोचों से सामान्य गुह्य पीड़ा और सुवृष्टि होती है।

पाय्य—वि० [सं०] पान करने के योग्य। पीने के लायक।

संज्ञा पुं० [सं०] जल।

पारंगत—वि० [सं०] (१) पार गया हुआ। (२) जिसने किसी शास्त्र या विद्या को पढ़ कर पार किया हो। जिसने किसी विषय को आदि से अंत तक पूरा पढ़ा हो। पूर्ण पंडित। पूरा जानकार।

पारंपरीय—वि० [सं०] परंपरागत। एक के पीछे दूसरा इस क्रम से बराबर चला आता हुआ।

पारंपर्य—संज्ञा पुं० [सं०] (१) परंपरा का भाव। (२) परंपराक्रम। (३) कुलक्रम। वंशपरंपरा। (४) आश्रय। परंपरा से चली आती हुई रीति।

पार—संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी दूर तक फैली हुई वस्तु के विशेषतः नदी समुद्र, झील, ताल आदि जलाशयों के आमने सामने के दोनों किनारों में उस किनारे से भिन्न किनारा जहाँ (या जिसकी ओर) अपनी स्थिति हो। दूसरी ओर का किनारा। अपर तट या सीमा। जैसे, (क) यह नाव पार जायगी। (ख) जंगल के पार गाँव मिलेगा। (ग) वे पार से आ रहे हैं। (घ) नदी पार के आम अच्छे होते हैं। उ०—अंगद कहइ जाउँ मैं पारा। जिय संशय कहु फिरती बारा।—तुलसी।

विशेष—इस शब्द के साथ सप्तमी की विभक्ति ‘में’ प्रायः लुप्त ही रहती है इससे इसका प्रयोग अव्ययवत् ही जान पड़ता है।

यौ०—आरपार=(१) यह किनारा और वह किनारा (२) इस किनारे से उस किनारे तक। जैसे, नाले के आरपार लकड़ी का एक बरतला रख दो। **वारपार**=यह किनारा और वह किनारा। जैसे, जब नाव बीच धार में पहुँची तब वारपार नहीं सुकता था।

मुहा०—पार उतरना=(१) नदी आदि के बीच से होते हुए दूसरे किनारे पर पहुँचना। (२) जिस काम में लगे रहे हों उसे पूरा कर चुकना। किसी काम से छुट्टी पाना। (३) मतलब को पहुँचना। सिद्धि या सफलता प्राप्त करना। (४) मर कर समाप्त होना। मर मिटना (स्त्रि०)। **पार उतर जाना**= दे० “पार उतरना (१) (२) (३) (४)।” (५) मतलब साध कर अलग हो जाना। किनारे हो जाना। जैसे, तुम तो ले दे कर पार उतर गए, बोझ मेरे सिर पड़ा। **पार उतारना**=(१) दूसरे किनारे पर पहुँचना। जल आदि के ऊपर का रास्ता तै कराना। (२) पूरा कर चुकना। समाप्ति पर पहुँचना। (३) उद्धार करना। दुःख या कष्ट से बाहर

करना। उबारना। उ०—रखुबर पार उतारिए अपनी ओर निहारि। (४) समाप्त करना। ठिकाने लगाना। मार डालना। (नदी आदि) पार करना = (१) नदी आदि के बीच से होते हुए उसके दूसरे किनारे पर पहुँचना। जल आदि का मार्ग तै करना। (२) पूरा करना। समाप्ति पर पहुँचना। तै करना। निर्वर्तनी। भुगताना। (३) निवाहना। विताना। जैसे, जिंदगी पार करना। (किसी वस्तु या व्यक्ति को नदी आदि के) पार करना = (१) नदी आदि के बीच से ले जाकर दूसरे किनारे पर पहुँचना। जैसे, नाव को पार करना, किसी आदमी को पार करना। (२) दुर्गम मार्ग तै कराना। (३) कष्ट या दुःख के बाहर करना। उद्धार करना। पार लगाना = नदी आदि के बीच से होते हुए उसके दूसरे किनारे पर पहुँचना। किसी का पार लगाना = निर्वह होना। जीवन के दिन काटना। कालक्षेप होना। जैसे, तुम्हारा कैसे पार लगेगा? (इस मुहा० में 'बेड़ा' शब्द लुप्त समझना चाहिए)। किसी से पार लगाना = पूरा हो सकना। हो सकना। जैसे, तुम्हारा काम हम से नहीं पार लगेगा। पार लगाना = (१) किसी वस्तु के बीच से ले जाकर उसके दूसरे किनारे पर पहुँचना। उ०—हरि मेरी नैया पार लगा।—गीत। (२) कष्ट या दुःख के बाहर करना। उद्धार करना। जैसे, ईश्वर ही पार लगावे। (३) पूरा करना। समाप्ति पर पहुँचना। खतम करना। जैसे, किसी प्रकार इस काम को पार लगाओ। किसी का पार लगाना = निर्वह करना। जीवन व्यतीत कराना। पार होना = (१) किसी दूर तक फैली हुई वस्तु के बीच से होते हुए उसके दूसरे किनारे पर पहुँचना। जैसे, नदी पार होना, जंगल पार होना। (२) किसी काम को पूरा कर चुकना। किसी काम से छुट्टी पा जाना। (३) मतलब साथ कर अलग हो जाना। जैसे, तुम तो अपना ले दे कर पार हो जाओ, काम चाहे हो या न हो। पार हो जाना = दे० "पार होना (१), (२) और (३)"। (४) छुट्टी पा जाना। मुक्त हो जाना। रिहाई पा जाना। फँसाव, भ्रम, जवाबदेही आदि से छूट जाना। निकल जाना। जैसे, तुम तो दूसरों के सिर दोष मढ़ कर पार हो जाओगे। लड़की पार होना = लड़की का व्याह हो जाना। कन्या के विवाह से छुट्टी पा जाना।

(२) सामनेवाला दूसरा पार्श्व। दूसरी ओर। दूसरी तरफ। जैसे, (क) तीर कलेजे से पार होना। (ख) गेंद का दीवार के पार जाना।

मौ०—आरपार = किसी वस्तु से होना हुआ उसके इस ओर से उस ओर तक। किसी वस्तु के ऊपर, नीचे या भीतर से होता हुआ उसकी एक तरफ से दूसरी तरफ तक। जैसे, (क) दीवार के आरपार छेद हो गया। (ख) यह सड़क पहाड़ के आर पार गई है। (ग) बाँध के आरपार सुरंग खोदी गई।

मुहा०—पार करना = किसी वस्तु के ऊपर, नीचे या भीतर से होते हुए उसकी दूसरी ओर पहुँचना। किसी वस्तु से होते हुए उसके आगे निकल जाना। लौंघते, भेदते या ऊपर से होते हुए दूसरे पार्श्व में जाना। जैसे, (क) मनुष्य या रास्ते का पहाड़ को पार करना। (ख) गेंद का दीवार को पार करना। (ग) सुरंग का बाँध को पार करके निकलना। (घ) तीर का कलेजे को पार करना। (यदि कोई दूसरे मार्ग से जहाँ वह वस्तु न पड़ती हो जाकर उस वस्तु की दूसरी ओर पहुँच जाय तो उसे 'पार करना' न कहेंगे। पार करने का अभिप्राय है वस्तु से होकर उसकी दूसरी तरफ पहुँचना।) (किसी वस्तु को दूसरी वस्तु के) पार करना = (१) किसी वस्तु के ऊपर, नीचे, या भीतर से ले जाकर उसकी दूसरी ओर पहुँचना। लँघाकर या घुसा कर दूसरी ओर निकालना या ले जाना। जैसे, (क) इस अंधे को हाथ पकड़ा कर टीले के पार कर दो। (ख) इस बार तीर पेड़ के पार कर देंगे। (ग) भाला कलेजे के पार कर दिया। (२) कष्ट या दुःख से बाहर करना। उबारना। उद्धार करना। जैसे, किसी प्रकार इस विपत्ति से पार करो। पार होना = किसी वस्तु के ऊपर, नीचे या भीतर से होते हुए उसकी दूसरी ओर पहुँचना। किसी वस्तु पर से जाकर, उसे लौंघकर या उसमें घुसकर उसकी दूसरी तरफ निकलना। जैसे, (क) गेंद का दीवार के पार होना। (ख) कटार का कलेजे के पार होना। उ०—इत सुख तें गंगा कटी उतै कढ़ी जमधार। 'वार' कहन पायो नहीं भई करेजे पार ॥

(३) आमने सामने के दोनों किनारों में से एक दूसरे की अपेक्षा से कोई एक। किसी वस्तु के पूरे विस्तार के बीचो बीच से गई हुई कल्पित रेखा के दोनों छोरों पर पड़नेवाले तटों या पार्श्वों में से कोई एक। ओर। तरफ। जैसे, (क) नदी के इस पार से उस पार तुम नहीं जा सकते। (ख) दीवार में इस पार से उस पार तक छेद हो गया। (ग) जब पोस्ती ने पी पोस्त तब कूंडी के इस पार या उस पार।—हरिश्चंद्र।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग उसी किनारे या पार्श्व के अर्थ में होगा जिसका कथन सामने के दूसरे किनारे या पार्श्व का संबंध लिए हुए होगा। जैसे, 'इस पार' कहने से यह समझा जाता है कि कहनेवाले के ध्यान में दोनों किनारे हैं जिनमें से वह एक की ओर इंगित करता है। यही कारण है जिससे 'इस' और 'उस' की जगह 'एक' और 'दो' संख्यावाचक पदों का प्रयोग इस शब्द के पहले नहीं करते। 'एक पार से दूसरे पार तक' नहीं बोला जाता। इसी प्रकार 'दोनों किनारे' के अर्थ में 'दोनों पार' बोलना भी ठीक नहीं जान पड़ता। संख्या-

वाचक शब्द तब रख सकते जब 'पार' का व्यवहार सामान्यतः (बिना किसी विशेषता के) 'किनारा' के अर्थ में होता है। पर उसका प्रयोग सापेक्ष है।

(४) छोर। अंत। अखीर। हृद। परिमिति।

मुहा०—पार पाना = अंत तक पहुँचना। समाप्ति तक पहुँचना। आदि से अंत तक जाना या पूरा करना। उ०—शेष शारदा सहस्र श्रुति कहत न पावैं पार। —तुलसी। किसी से पार पाना = किसी के विरुद्ध सफलता प्राप्त करना। जीतना। जैसे, वह बड़ा चालाक है, तुम उससे नहीं पार पा सकते। अ० परे। आगे। दूर। लगाव से अलग। उ०—विप्र, धेनु, सुर संत हित खीन्ह मनुज अवतार। निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार। —तुलसी।

पारक्—संज्ञा पुं० [सं०] सोना।

पारक्—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० पारकी] (१) पालन करनेवाला। (२) प्रीति करनेवाला। (३) पूर्ति करनेवाला। (४) पार करनेवाला। (५) उद्धार करनेवाला।

पारक्य—संज्ञा पुं० [सं०] पुण्य कार्य जिससे परलोक सुधरता है। वि० पराया। परकीय। दूसरे का।

पारख † *—संज्ञा स्त्री० (१) दे० "पारिख" "परख"। (२) दे० "पारखी"।

पारखद *—संज्ञा पुं० दे० "पार्षद"।

पारखी—संज्ञा पुं० [हिं० पारिख + ई (प्रत्य०)] (१) वह जिस परख या पहचान हो। वह जिसमें परीक्षा करने की योग्यता हो। (२) परखनेवाला। जाँचनेवाला। परीक्षक। जैसे, रतन-पारखी।

पारग—वि० [सं०] (१) पार जानेवाला। (२) काम को पूरा करनेवाला। समर्थ। (३) पूरा जानकार।

पारगत—वि० [सं०] (१) जिसने पार किया हो। (२) जिसने किसी विषय को आदि से अंत तक पूरा किया हो। (३) समर्थ। (४) पूरा जानकार। (५) जिन। (जैन)

पारचा—संज्ञा पुं० [फा०] (१) टुकड़ा। खंड। धज्जी। (विशेषतः कपड़े कागज आदि की) (२) कपड़ा। पट। वस्त्र। (३) एक प्रकार का रेशमी कपड़ा। (४) पहरावा। पोशाक। (५) कूँ के मुहँ के किनारे पर भीतर की ओर कुछ बढ़ाकर रखी हुई पटिया या लकड़ी जिसके उस पार से डोरी लटका कर पानी खींचा जाता है। (यह इसलिये रखी जाती है जिसमें नीचे या ऊपर आते समय पानी का बर्तन कूँ की दीवार से दूर रहे, उससे बार बार टकराया न करे। इसपर पानी खींचते समय कभी कभी पैर भी रख देते हैं)

पारज—संज्ञा पुं० [सं०] सोना। सुवर्ण।

पारजात*—संज्ञा पुं० दे० "पारिजात"।

पारण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी व्रत या उपवास के दूसरे दिन किया जानेवाला पहला भोजन और तत्संबंधी कृत्य।

विशेष—व्रत के दूसरे दिन ठीक रीति से पारण न करे तो पूरा फल नहीं होता। जन्माष्टमी को छोड़ और सब व्रतों में पारण दिन को किया जाता है। देवपूजन करके और ब्राह्मण खिलाकर सब भोजन या पारण करना चाहिए। पारण के दिन कांसे के बर्तन में न खाना चाहिए, मांस, मद्य, मछु न खाना चाहिए; मिथ्याभाषण, व्यायाम, स्त्री-प्रसंग आदि भी न करना चाहिए। ये सब बातें वैष्णवों के लिये विशेष रूप से निषिद्ध हैं।

(२) वृत्त करने की क्रिया या भाव। (३) मेघ। बादल। (४) समाप्ति। खातमा। पूरा करने की क्रिया या भाव।

पारणा—संज्ञा स्त्री० [सं०] पारण।

पारणीय—वि० [सं०] पूरा करने योग्य। (व०)

पारतन्त्र्य—संज्ञा पुं० [सं०] परतंत्रता। पराधीनता।

पारत—संज्ञा पुं० [सं०] एक देश और एक प्राचीन म्लेच्छ जाति का नाम। पारद।

पारत्रिक—वि० [सं०] (१) परलोक संबंधी। पारलौकिक। (२) (कर्म) जिससे परलोक बने। मरने पीछे उत्तम गति देनेवाला।

पारथ—संज्ञा पुं० दे० "पार्थ"।

पारथिव*—संज्ञा पुं० दे० "पार्थिव"। उ०—तब मज्जन करि रघुकुल नाथा। पूजि पारथिव नाथ माथा। —तुलसी।

पारद—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पारा। (२) एक प्राचीन जाति जो पारस के इस प्रदेश में निवास करती थी जो कैस्पियन सागर के दक्षिण के पहाड़ों को पार करके पड़ता था। इसके हाथ में बहुत दिनों तक पारस साम्राज्य रहा। दे० "पारस"।

विशेष—महाभारत, मनुस्मृति, बृहत्संहिता इत्यादि में पारद देश और पारद जाति का उल्लेख मिलता है। यथा—पौंड्र-काश्चौंड्रविड़ाः काम्बोजा यवनाः शकाः। पारदाः पल्लवा-श्चीनाः किराता दरदाः खशाः॥ (मनु० १०। ४४)। इसी प्रकार बृहत्संहिता में पश्चिम दिशा में बसनेवाली जातियों में "पारत" और उनके देश का उल्लेख है—“पश्चनद रमठ पारत तारक्षिति जृंग वैश्य कनक शकाः”॥ पुराने शिलालेखों में "पार्थव" रूप मिलता है जिससे युनानी 'पार्थिया' शब्द बना है। युरोपीय विद्वानों ने 'पल्लव' शब्द को इसी 'पार्थव' का अपभ्रंश या रूपांतर मानकर पल्लव और पारद को एक ही ठहराया है। पर संस्कृत

साहित्य में ये दोनों जातियाँ भिन्न लिखी गई हैं। मनुस्मृति के समान महाभारत और बृहत्संहिता में भी 'पह्लव' 'पारद' से अलग आया है। अतः 'पारद' का 'पह्लव' से कोई संबंध नहीं प्रतीत होता। पारस में पह्लव शब्द शाशानवंशी सम्राटों के समय से ही भाषा और लिपि के अर्थ में मिलता है। इससे सिद्ध होता है कि इसका प्रयोग अधिक व्यापक अर्थ में पारसियों के लिये भारतीय ग्रंथों में हुआ है। किसी समय में पारस के सरदार 'पहलवान' कहलाते थे। संभव है इसी शब्द से 'पह्लव' शब्द बना हो। मनुस्मृति में 'पारदों' और 'पह्लवों' आदि को आदिम क्षत्रिय कहा है जो ब्राह्मणों के अदर्शन से संस्कारभ्रष्ट होकर शूद्रत्व को प्राप्त हो गए।

पारदर्शक—वि० [सं०] जिसके भीतर से हो कर प्रकाश की किरणों के जा सकने के कारण उस पार की वस्तुएँ दिखाई दें। जिससे आरपार दिखाई पड़े, जैसे शीशा पारदर्शक पदार्थ है।

पारदर्शी—वि० [सं० पारदर्शिन] (१) उस पार तक देखने-वाला। (२) दूर तक देखनेवाला। परिणाम-दर्शी। दूरदर्शी। चतुर। बुद्धिमान। (३) जिसका खूब देखा-सुना हो। जो पूरा पूरा देख चुका हो।

पारदारिक—संज्ञा पुं० [सं०] परस्त्रीगामी। जार।

पारदार्य—संज्ञा पुं० [सं०] पराई स्त्री के साथ गमन। व्यभिचार।

पारधी—संज्ञा पुं० [सं० परिधान = आच्छादन] (१) टट्टी आदि की ओट से पशु पक्षियों को पकड़ने या मारनेवाला। बहेलिया। व्याध। (२) शिकारी। (३) अहेरी। हत्यारा। बधिक।

† संज्ञा स्त्री० ओट। आड़।

मुहा०—पारधी पड़ना = ओट में होकर कोई व्यापार देखना या किसी की बात सुनना।

पारन—संज्ञा पुं० दे० "पारण"।

पारवती—संज्ञा स्त्री० दे० "पार्वती"।

पारना—क्रि० सं० [हिं० परना (पड़ना) का क्रि० सं० रूप]

(१) डालना। गिराना। (२) खड़ा या उठा न रहने देना। जमीन पर लंबा डालना। (३) लोटाना। उ०—(क) पारिगो न जाने कौन सेज* पै कन्हैया को। (ख) धन्य भाग तिहि रानि कौशिला छोट सूप महुँ पारै।—रघुराज। (४) कुश्ती या लड़ाई में गिराना। पछाड़ना। उ०—सोइ भुज जिन रण विक्रम पारै।—हरिश्चंद्र। (५) किसी वस्तु को दूसरी वस्तु में रखने, ठहराने या मिलाने के लिये उसमें गिराना या

रखना। (६) रखना। उ०—मन न धरति मेरो कछो तू आपनो सयान। अहे परनि परि प्रेम की परहथ पार न प्रान।—बिहारी।

यौ०—पिंडा पारना = पिंड-दान करना। उ०—जाय बनारस जारयो कया। पारयो पिंड नहायो गया।—जायसी।

(७) किसी के अंतर्गत करना। किसी वस्तु या विषय के भीतर लेना। शामिल करना। उ०—जे दिन गए तुमहिँ बिनु देखे। ते विरंचिजनि पारहिँ लेखे।—तुलसी।

(८) शरीर पर धारण करना। पहनना। उ०—श्याम रंग धारि पुनि बाँसुरी सुधारि कर, पीत पट पारि बानी मधुर सुनावैगी।—श्रीधर। (९) बुरी बात घटित करना। अव्यवस्था आदि उपस्थित करना। उत्पात मचाना। उ०—औरै भाँति भएउव ये चौसर चंदन चंद। पति बिनु अति पारत विपति, मारत मारु चंद—बिहारी। (१०) सँच आदि में डालकर या किसी वस्तु पर जमाकर कोई वस्तु तैयार करना। जैसे, ईंटें या खपड़े पारना, काजल पारना।

* † क्रि० अ० [सं० पारय = योग्य, वा हिं० पार, जैसे पार लगना = हो सकता] सकना। समर्थ होना। उ०—प्रभु सम्मुख कछु कहइ न पारइ। पुनि पुनि चरन सरोज निहारइ।—तुलसी।

* † क्रि० सं० दे० "पालना"।

पारमार्थिक—वि० [सं०] (१) परमार्थसंबंधी। जिससे परमार्थ सिद्ध हो। जिससे मनुष्य को पारलौकिक सुख हो। (२) वास्तविक। जो केवल प्रतीति या भ्रम न हो। जो परिणामी या परिवर्तनशील न हो। सदा ज्यों का त्यों रहनेवाला। नाम रूप से भिन्न शुद्ध सत्य। जैसे, पारमार्थिकी सत्ता, पारमार्थिक ज्ञान।

पारलौकिक—वि० [सं०] (१) परलोकसंबंधी। (२) परलोक में शुभ फल देनेवाला।

पारवश्य—संज्ञा पुं० [सं०] परवशता। परतंत्रता।

पारशव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्राह्मण पिता और शूद्रा माता से उत्पन्न पुरुष या जाति। (याज्ञवल्क्य०) (२) पराई स्त्री से उत्पन्न पुत्र। (३) लोहा। (४) एक देश का नाम जहाँ मोती निकलते थे।

पारश्वथ—संज्ञा पुं० [सं०] सुवर्ण। सोना।

पारषद—* संज्ञा पुं० दे० "पार्षद"।

पारस—संज्ञा पुं० [सं० स्पर्श, हिं० परस] (१) एक कल्पित पत्थर जिसके विषय में प्रसिद्ध है कि यदि लोहा उससे छुलाया जाय तो सोना हो जाता है। स्पर्शमणि। (२) अत्यंत लाभदायक और उपयोगी वस्तु। जैसे, अफ़्हा पारस तुम्हारे हाथ लग गया है।

विशेष—इस प्रकार के पत्थर की बात फारस, अरब तथा योरोप में भी रसायनियों अर्थात् कीमिया बनानेवालों के बीच प्रसिद्ध थी। योरोप में कुछ लोग इसकी खोज में कुछ हैरान भी हुए। इसके रूप रंग आदि तक कुछ लोगों ने लिखे। पर अंत में सब ख्याल ही ख्याल निकला। हिंदुस्तान में अब तक बहुत से लोग नेपाल में इसके होने का विश्वास रखते हैं।

वि० (१) पारस पत्थर के समान स्वच्छ और उत्तम। चंगा। नीरोग। तंदुरुस्त। जैसे, थोड़े दिन यह दवा खाओ, देखो देह कैसी पारस हो जाती है।

संज्ञा पुं० [हिं० परसना] (१) खाने के लिये लगाया हुआ भोजन। परसा हुआ खाना। (२) पत्तल जिसमें खाने के लिये पकवान, मिठाई, आदि हो। जैसे, जो लोग बैठकर नहीं खाएँगे उन्हें पारस दिया जायगा।

* संज्ञा पुं० [सं० पार्व] पास। निकट। समीप। उ०—
(क) भृकुटी कुटिल निकट नैनन के चपल होत यहि भाँति।
मनहु तामरस पारस खेलत बाल भृंग की पाँति।—सूर।
(ख) उत श्यामा इत सखा मंडली, इत हरि उत ब्रजनारि।
मनो तामरस पारस खेलत मिलि मधुकर गुँजारि।—सूर।
संज्ञा पुं० [सं० पलाय] बादाम या खूबानी की जाति का एक मसोला पहाड़ी पेड़ जो देखने में ढाक के पेड़ सा जान पड़ता है। यह हिमालय पर सिंधु के किनारे से लेकर सिक्किम तक होता है। इसमें से एक प्रकार का गोंद और जहरीला तेल निकलता है जो दवा के काम में आता है। इसे गीदड़-ढाक और जामन भी कहते हैं।

संज्ञा पुं० [सं० पारस्य] हिंदुस्तान के पश्चिम सिंधु नदी और अफगानिस्तान के आगे पड़नेवाला एक देश। प्राचीन कांबोज और वाह्लीक के पश्चिम का देश जिसका प्रताप प्राचीन काल में बहुत दूर दूर तक विस्तृत था और जो अपनी सभ्यता और शिष्टाचार के लिये प्रसिद्ध चला आता है।

विशेष—अत्यंत प्राचीन काल से पारस देश आर्यों की एक शाखा का वासस्थान था जिसका भारतीय आर्यों से घनिष्ठ संबंध था। अत्यंत प्राचीन वैदिक युग में तो पारस से लेकर गंगा सरयू के किनारे तक की सारी भूमि आर्यभूमि थी जो अनेक प्रदेशों में विभक्त थी। इन प्रदेशों में भी कुछ के साथ आर्य्य शब्द लगा था। जिस प्रकार यहाँ आर्यावर्त्त एक प्रदेश था उसी प्रकार प्राचीन पारस में भी आधुनिक अफगानिस्तान से लगा हुआ पूर्वीय प्रदेश 'अरियान' वा 'ऐर्यान' (यूनानी—एरियाना) कहलाता था जिससे ईरान शब्द बना। ईरान शब्द आर्यावास के अर्थ में सारे देश के लिये प्रयुक्त होता था। शाशान

वंशी सम्राटों ने भी अपने को 'ईरान के शाहशाह' कहा है। पदाधिकारियों के नामों के साथ भी 'ईरान' शब्द मिलता है—जैसे, "ईरान-स्पाहपत" (ईरान के सिपाहपति या सेनापति), "ईरान-अवारक-पत" (ईरान के भंडारी) इत्यादि। प्राचीन पारसी अपने नामों के साथ (आर्य्य) शब्द बड़े गौरव के साथ लगाते थे। प्राचीन सम्राट दारयवहु (दारा) ने अपने को 'अरियवज्र' लिखा है। सरदारों के नामों में भी 'आर्य्य' शब्द मिलता है जैसे, अरिय-शमन, अरियोवर्जनिन, इत्यादि।

प्राचीन पारस जिन कई प्रदेशों में बँटा था उनमें पारस की खाड़ी के पूर्वी तट पर पड़नेवाला पारस वा पारस्य प्रदेश भी था जिसके नाम पर आगे चलकर सारे देश का नाम पड़ा। इसकी प्राचीन राजधानी पारस्यपुर (यूनानी—पर्सियोलिस) थी जहाँ पर आगे चलकर "इश्तख" बसाया गया। वैदिक काल में 'पारस' नाम प्रसिद्ध नहीं हुआ था। यह नाम हखामनीय वंश के सम्राटों के समय से, जो पारस्य प्रदेश के थे, सारे देश के लिये व्यवहृत होने लगा। यही कारण है जिससे वेद और रामायण में इस शब्द का पता नहीं लगता। पर महाभारत, रघुवंश, कथासरित्सागर आदि में पारस्य और पारसीकों का उल्लेख बराबर मिलता है।

अत्यंत प्राचीन युग के पारसियों और वैदिक आर्यों में उपासना, कर्मकांड आदि में भेद नहीं था। वे अग्नि, सूर्य, वायु आदि की उपासना और अग्निहोत्र करते थे। मिथ्र (मित्र = सूर्य), वयु (वायु), होम (सोम), अरमहति (अमति), अहमन् (अर्यमन्) नइर्य-सह (नराशंस) आदि उनके भी देवता थे। वे भी बड़े बड़े यज्ञ (यज्ञ) करते, सोमपान करते और अयवन् (अयर्वन्) नामक याजक काठ से काठ रगड़ कर अग्नि उत्पन्न करते थे। उनकी भाषा भी उसी एक मूल आर्य्य भाषा से उत्पन्न थी जिससे वैदिक और लौकिक संस्कृत निकली हैं। प्राचीन पारसी और वैदिक संस्कृत में कोई विशेष भेद नहीं जान पड़ता। अवस्ता में भारतीय प्रदेशों और नदियों के नाम भी हैं। जैसे, हफ्रिंहिंदु (सप्तसिंधु = पंजाब), हरखवेती (सरस्वती), हरयू (सरयू) इत्यादि।

वेदों से पता लगता है कि कुछ देवताओं को असुर संज्ञा भी दी जाती थी। वरुण के लिये इस संज्ञा का प्रयोग कई बार हुआ है। सायणचार्य ने भाष्य में 'असुर' शब्द का अर्थ किया है—“असुरः सर्वेषां प्राणदः”। इंद्र के लिये भी इस संज्ञा का प्रयोग दो एक जगह मिलता है, पर यह भी लिखा पाया जाता है कि यह पद प्रदान किया हुआ है। इससे जान पड़ता है कि यह एक विशिष्ट संज्ञा

हो गई थी। वेदों में क्रमशः वरुण पीछे पड़ते गए हैं और इंद्र को प्रधानता प्राप्त होती गई है। साथ ही साथ असुर शब्द भी कम होता गया है। पीछे तो असुर शब्द राक्षस दैत्य के अर्थ में ही मिलता है। इससे जान पड़ता है कि देवोपासक और असुरोपासक ये दो पक्ष आर्यों के बीच हो गए थे।

पारस की ओर जरथुस्त्र (आधु० फा० जरतुरत) नामक एक ऋषि या ऋत्विक् (जोता, सं० होता) हुए जो असुरोपासकों के पक्ष के थे। इन्होंने अपनी शाखा ही अलग कर ली और "जंद-अवस्ता" के नाम से उसे खलाया। यही 'जंद-अवस्ता' पारसियों का धर्मग्रंथ हुआ। इसमें 'देव' शब्द दैत्य के अर्थ में आया है। इंद्र व/ वृत्तहन् (जंद, वेरेथ्र) दैत्यों का राजा कहा गया है। शत्रोवे (शर्व) और नाहंद्य (नासत्य) भी दैत्य कहे गए हैं। अंग्र (अगिरस् ?) नामक अग्नियाजकों की प्रशंसा की गई है और सोमपान की निंदा। उपास्य अहुरमज्द (सर्वज्ञ असुर) है, जो धर्म और सत्यस्वरूप है। अह्रमन (अर्यमन्) अधर्म और पाप का अधिष्ठाता है। इस प्रकार जरथुस्त्र ने धर्म और अधर्म दो द्वंद्व शक्तियों की सूक्ष्म कल्पना की और शुद्धाचार का उपदेश दिया। जरथुस्त्र के प्रभाव से पारस में कुछ काल के लिये एक अहुरमज्द की उपासना स्थापित हुई और बहुत से देवताओं की उपासना और कर्मकांड कम हुआ। पर जनता का संतोष इस सूक्ष्म विचारवाले धर्म से पूरा नहीं हुआ। शाशानों के समय में जब मगयाजकों और पुरोहितों का प्रभाव बड़ा तब बहुत से स्थूल देवताओं की उपासना फिर ज्यों की त्यों जारी हो गई और कर्मकांड की जटिलता फिर वही हो गई। ये पिछली पद्धतियाँ भी 'जंद-अवस्ता' में ही मिल गईं।

'जंद-अवस्ता' में भी वेद के समान गाथा (गाथ) और मंत्र (मंथ्र) हैं। इसके कई विभाग हैं जिनमें 'गाथ' सबसे प्राचीन और जरथुस्त्र के मुँह से निकला हुआ माना जाता है। एक भाग का नाम "यश्न" है जो वैदिक 'यज्ञ' शब्द का रूपांतर मात्र है। विस्पद, यश्त (वैदिक-इष्टि), बंदिदाद् आदि इसके और विभाग हैं। बंदिदाद् में जरथुस्त्र और अहुरमज्द का धर्मसंबंध में संवाद है। 'अवस्ता' की भाषा, विशेषतः गाथ की, पढ़ने में एक प्रकार की अपभ्रंश वैदिक संस्कृत सी प्रतीत होती है। कुछ मंत्र तो वेदमंत्रों से बिल्कुल मिलते जुलते हैं। डाक्टर हाग ने यह समानता उदाहरणों से बताई है और डा० मिल्स ने कई गाथाओं का वैदिक संस्कृत में ज्यों का त्यों रूपांतर किया है। जरथुस्त्र ऋषि कब हुए थे इसका

निश्चय नहीं हो सका है। पर इसमें संदेह नहीं कि वे अत्यंत प्राचीन काल में हुए थे। शाशानों के समय में जो 'अवस्ता' पर भाष्य स्वरूप अनेक ग्रंथ बने उनमें से एक में व्यास हिंदी का पारस में जाना लिखा है। संभव है वेदव्यास और जरथुस्त्र समकालीन हों।

पारसनाथ-संज्ञा पुं० दे० "पारशनाथ"।

पारसव*—संज्ञा पुं० दे० "पारशव"।

पारसी-वि० [फा० पारस] पारस देश का। पारस देश संबंधी। जैसे, पारसी भाषा, पारसी विही।

संज्ञा पुं० (१) पारस का रहनेवाला। पारस का आदमी। (२) हिंदुस्तान में बंबई और गुजरात की ओर हजारों वर्ष से बसे हुए वे पारसी जिनके पूर्वज मुसलमान होने के डर से पारस छोड़कर आए थे।

विशेष-सन् ६४० ई० में नहाबंद की लड़ाई के पीछे जब पारस पर अरब के मुसलमानों का अधिकार हो गया, और पारसी मुसलमान बनाए जाने लगे तब अपने आर्यधर्म की रक्षा के लिये बहुत से पारसी खुरासान में आकर रहे। खुरासान में भी जब उन्होंने उपद्रव देखा तब वे पारस की खाड़ी के मुहाने पर उरमुज नामक टापू में जा बसे। यहाँ पंद्रह वर्ष रहे। आगे बाधा देख अंत में सन् ७२० में वे एक छोटे जहाज पर भारतवर्ष की ओर चले आए जो शरणागतों की रक्षा के लिये बहुत काल से दूर देशों में प्रसिद्ध था। पहले वे दीज नामक टापू में उतरे, फिर गुजरात के एक राजा जदुराणा ने उन्हें संजान नामक स्थान में बसाया और उनकी अग्निस्थापना और मंदिर के लिये बहुत सी भूमि दी। भारत के वर्तमान पारसी उन्हीं की संतति हैं। पारसी लोग अपने संवत् का आरंभ अपने अंतिम राजा यद्गर्द के पराभव-काल से लेते हैं।

पारसीक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पारस देश। (२) पारस देश का निवासी। (३) पारस देश का घोड़ा।

पारसीक यमानी—संज्ञा स्त्री० [सं०] खुरासानी अजवायन।

पारसीक वच्चा—संज्ञा स्त्री० [सं०] खुरासानी वच।

पारसीकेय—संज्ञा पुं० [सं०] कुंकुम।

पारस्कर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक देश का प्राचीन नाम।

(२) एक गृह्यसूत्रकार मुनि।

पारस्त्रेयेय—संज्ञा पुं० [सं०] पराई स्त्री से उत्पन्न पुत्र।

जारजपुत्र।

पारस्परिक—वि० [सं०] परस्परवाला। परस्पर में होनेवाला।

आपस का।

पारस्य—संज्ञा पुं० [सं०] पारस देश।

पारा—संज्ञा पुं० [सं० पारद] चाँदी की तरह सफेद और चम-

कीली एक धातु जो साधारण गरमी या सरदी में द्रव अवस्था में रहती है।

विशेष—खूब सरदी पाकर पारा जमकर ठोस हो जाता है।

यह कभी कभी खानों में विशुद्ध रूप में भी बहुत सा मिल जाता है, पर अधिकतर और द्रव्यों के साथ मिला हुआ पाया जाता है। जैसे, गंधक और पारा मिला हुआ जो द्रव्य मिलता है उसे ईंगुर कहते हैं। गंधक और पारा ईंगुर से अलग कर लिए जाते हैं। पारा पृथ्वी पर के बहुत कम प्रदेशों में मिलता है। भारतवर्ष में पारे की खानें अधिक नहीं हैं, केवल नेपाल में हैं। अधिकतर पारा चीन, जापान और स्पेन से ही यहाँ आता है। पारा यद्यपि द्रव अवस्था में रहता है, पर बहुत भारी होता है।

ईंगुर से पारा निकालने में स्वेदन विधि काम में लाई जाती है। ईंगुर का टुकड़ा तेज गरमी द्वारा भाप के रूप में कर दिया जाता है जिससे विशुद्ध पारे के परमाणु अलग हो जाते हैं। भाप रूप से फिर पारा अपने असली द्रवरूप में लाया जाता है। पारा बहुत से कामों में आता है। इसके द्वारा खान से निकले हुए अनेक द्रव्यमिश्रित खंडों से सोना चाँदी आदि बहुमूल्य धातुएँ अलग करके निकाली जाती हैं। यह इस प्रकार किया जाता है कि खंड या टुकड़े का चूर्ण कर लेते हैं, फिर उसके साथ युक्ति से पारे का संसर्ग करते हैं। इससे यह होता है कि सोने या चाँदी के परमाणु पारे के साथ मिल जाते हैं। फिर इस सोने या चाँदी में मिले हुए पारे को स्वेदन विधि से भाप के रूप में अलग कर देते हैं और खालिस सोना या चाँदी रह जाती है। बात यह है कि इन धातुओं में पारे के प्रति रासायनिक प्रवृत्ति या राग होता है। इसी विशेषता के कारण पारा रसराज कहलाता है और इसके योग से धातुओं पर अनेक प्रकार की क्रियाएँ की जाती हैं। पारे के योग से राँगे, सोने, चाँदी आदि को दूसरी धातु पर कलई या मुलम्मे के रूप में चढ़ाते हैं। जिस धातु पर मुलम्मा चढ़ाना होता है उसपर पहले पारे-शोरे से संवटित रस मिलते हैं फिर १ भाग सोने और ८ भाग पारे का मिश्रण तैयार करके हलका लेप कर देते हैं। गरमी पाकर पारा तो उड़ जाता है, सोना लगा रह जाता है। पारे पर गरमी का प्रभाव सब से अधिक पड़ता है इसीसे गरमी नापने के यंत्र में उसका व्यवहार होता है। इन सब कामों के अतिरिक्त औषध में भी पारे का बहुत प्रयोग होता है।

पुराणों और वैद्यक की पोथियों में पारे की उत्पत्ति शिव के वीर्य से कही गई है और उसका बड़ा माहात्म्य गाया गया है, यहाँ तक कि वह ब्रह्म या शिव स्वरूप कहा

गया है। पारे को लेकर एक रसेश्वर दर्शन ही खड़ा किया गया है जिसमें पारे ही से सृष्टि की उत्पत्ति कही गई है और पिंडस्थैर्य (शरीर को स्थिर रखना) तथा उसके द्वारा मुक्ति की प्राप्ति के लिये रससाधन ही उपाय बताया गया है। भावप्रकाश में पारा चार प्रकार का लिखा गया है—श्वेत, रक्त, पीत और कुण्ड। इनमें श्वेत श्रेष्ठ है।

वैद्यक में पारा कृमि और कुष्ठनाशक, नेत्रहितकारी, रसायन, मधुर आदि छः रसों से युक्त, स्निग्ध, त्रिदोषनाशक, योगवाही, शुक्रवर्द्धक और एक प्रकार से संपूर्ण रोगनाशक कहा गया है। पारे में मल, वह्नि, विष, नाग इत्यादि कई दोष मिले रहते हैं इससे उसे शुद्ध करके खाना चाहिए। पारा शोधने की अनेक विधियाँ वैद्यक के ग्रंथों में मिलती हैं। शोधन कर्म आठ प्रकार के कहे गए हैं—स्वेदन, मर्दन, उत्थापन, पातन, बोधन, नियामन, और दीपन। भावप्रकाश में मूर्च्छन भी कहा गया है जो कुछ औषधियों के साथ मर्दन का ही परिणाम है।

पर्याय—रसराज। रसनाथ। महारस। रस। महातेजस। रसलेह। रसोत्तम। सुतराट। चपल। जैत्र। शिवबीज। शिव। अमृत। रसंद्र। लोकेश। दुर्द्धर। प्रभु। रुद्रज। हरतेज। रसधातु। स्कंद। देव। दिव्यरस। यशोद। सूतक। सिद्धधातु। पारत। हरबीज।

मुहा०—पारा पिलाना = (१) किसी वस्तु में पारा भरना। (२) किसी वस्तु को इतना भारी करना जैसे उसमें पारा भरा हो। भारी करना। वजनी करना।

संज्ञा पुं० [सं० पारि = प्याला] दीये के आकार का पर उससे बड़ा मिट्टी का बरतन। परई।

संज्ञा पुं० [फा० पारः] (१) टुकड़ा। (२) वह छोटी दीवार जो चूने गारे से जोड़ कर न बनी हो, केवल पत्थरों के टुकड़े एक दूसरे पर रख कर बनाई गई हो। ऐसी दीवार प्रायः बगीचे आदि की रक्षा के लिये चारों ओर बनाई जाती है।

पारायण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) समाप्ति। पूरा करने का कार्य। (२) समय बाँधकर किसी ग्रंथ का आद्योपांत पाठ।

पारायणिक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाठ करनेवाला। आद्योपांत पढ़नेवाला। (२) छात्र।

पारावत—संज्ञा पुं० [सं०] चट्टान। शिला।

पारावत—संज्ञा पुं० [सं०] (१) परेवा। पंडुक। (२) कबूतर। कपोत। (३) बंदर। (४) तेंदू का पेड़। (५) गिरि। पर्वत। (६) एक नाग का नाम (महाभारत)। (७) एक प्रकार का खट्टा पदार्थ (सुश्रुत)। (८) दत्तात्रेय के गुरु।

पारावतक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का धान ।
पारावतकालिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ी मालकंगनी । महा ज्योतिष्मती लता ।
पारावत पदी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मालकंगनी । (२) काक-जंघा ।
पारावती-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लवली फल । हरफा रेवड़ी । (२) गोपगीत । ग्वालों का गीत । (३) एक नदी का नाम ।
पारावार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आर पार । वार पार । दोनों तट । (२) सीमा । अंत । हद । जैसे, आपकी महिमा का पारावार नहीं । (३) समुद्र ।
पाराशर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पराशर का पुत्र या वंशज । (२) व्यास ।
 वि० (१) पराशर संबंधी । (२) पराशर का बनाया हुआ । जैसे, पाराशर स्मृति ।
पाराशरि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पराशर के पुत्र वेदव्यास । (२) शुक्रदेव ।
पाराशरी-संज्ञा पुं० [सं० पाराशरिन्] वेदव्यास के भिन्नसूत्र का अध्ययन करनेवाला । सन्यासी । चतुर्थाश्रमी ।
पाराशरीय-वि० [सं०] पराशर के पास का प्रदेश आदि ।
पाराशर्य-संज्ञा पुं० [सं०] वेदव्यास ।
पारि * संज्ञा स्त्री० [हिं० पार] (१) हद । सीमा । (२) ओर । तरफ । दिशा । उ०—मोचि दग बारि सोच सोचती विचारि देव चितै चहुँ पारि घरी चार लौं चकि रही ।—देव । (३) जलाशय का तट ।
 संज्ञा पुं० [सं०] मद्य पीने का पात्र । प्याला ।
पारिकांक्षी-संज्ञा पुं० [सं० पारिकांक्षिन्] ब्रह्मज्ञान का अभिलाषी तपस्वी ।
पारिकुट-संज्ञा पुं० [सं०] सेवक । भूत । नौकर ।
पारिक्षित-संज्ञा पुं० [सं०] परिक्षित के पुत्र जनमेजय ।
पारिख-वि० [सं०] परिखा संबंधी । परिखा का ।
 * †-संज्ञा स्त्री० दे० “परख” ।
पारिगर्भिक-संज्ञा पुं० [सं०] कवूतर ।
पारिजात-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक देववृक्ष जो स्वर्गलोक में इंद्र के नंदनकानन में है । इसके फूल जिस प्रकार का कोई गंध चाहे दे सकते हैं । इसकी भिन्न भिन्न शाखाओं में अनेक प्रकार के रत्न लगते हैं । इसी प्रकार इस वृक्ष के अनेक गुण पुराणों में कहे गए हैं । सत्यभामा की प्रसन्नता के लिये इसे श्रीकृष्ण स्वर्ग से इंद्र से युद्ध करके लाए थे और फिर उसका पूरा भोग करके इसे स्वर्ग में रख आए थे । यह समुद्रमंथन के समय में निकला था । (२) परजाता । हरसिंगार । (३) कोविदार ।

कचनार । (४) पारिभद्र । फरहद । (५) ऐरावत के कुल का एक हाथी । (६) सितोद पर्वत । (७) एक मुनि का नाम ।
पारिजातक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) परजाता । हरसिंगार । (२) फरहद । पारिभद्र ।
पारिणाय-वि० [सं०] विवाह में पाया हुआ (धन) ।
पारिणाह-संज्ञा पुं० [सं०] घर गृहस्थी का सामान । जैसे, चारपाई, बरतन, घड़ा इत्यादि ।
पारितथ्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] सिर पर बालों के ऊपर पहनने का स्त्रियों का एक गहना ।
पारितोषिक-वि० [सं०] आनंदकर । प्रीतिकर ।
 संज्ञा पुं० वह धन या वस्तु जो किसी पर परितुष्ट या प्रसन्न होकर उसे दी जाय अथवा जो किसी को प्रसन्न करने के लिये उसे दी जाय । इनाम ।
पारिपथिक-संज्ञा पुं० [सं०] बटपार । डाकू । चोर ।
परिपात्र-संज्ञा पुं० [सं०] सप्तकुल पर्वतों में से एक जो विंध्य के अंतर्गत है ।
विशेष—इससे निकली हुई ये नदियाँ बताई गई हैं—वेदस्मृति, वेदवती, वृत्रघ्नी, सिंधु, सानंदिनी, सदानीरा, मट्टी, पारा, चर्मण्वती, नृपी, विदिशा, वेत्रवती, शिप्रा इत्यादि (मार्कंडेय पु०) । विष्णुपुराण में लिखा है कि मरुत और मालव जाति इस पर्वत पर निवास करती थी । कहीं कहीं ‘पारियात्र’ भी इसका नाम मिलता है । चीनी यात्री हुएन्सांग ने दक्षिण के ‘पारिपात्र’ राज्य का उल्लेख किया है ।
पारिपार्श्व-संज्ञा पुं० [सं०] पारिषद् । अनुचर । अरदली ।
पारिपार्श्विक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पास खड़ा रहनेवाला सेवक । पारिषद् । अरदली । (२) नाटक के अभिनय में एक विशेष नट जो स्थापक का अनुचर होता है । यह भी प्रस्तावना में सूत्रधार, नटी आदि के साथ आता है ।
पारिपलव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक जलपक्षी । (२) अरवमेधादि यज्ञों में कहा जानेवाला एक आख्यान (शतपथ ब्राह्मण) । (३) नाव । जहाज । (४) एक तीर्थ (महाभारत) ।
पारिभद्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) फरहद का पेड़ । (२) देवदार । (३) सरल वृक्ष । सलई का पेड़ । (४) कुट ।
पारिभद्रक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) फरहद । (२) देवदार । (३) नीम । कुट ।
पारिभाव्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) परिभू या जामिन होने का भाव । (२) कुट नामक ओषधि ।
पारिभाषिक-वि० [सं०] जिसका अर्थ परिभाषा द्वारा सूचित किया जाय । जिसका व्यवहार किसी विशेष अर्थ के संकेत के रूप में किया जाय । जैसे, पारिभाषिक शब्द ।
परिमांडल्य-संज्ञा पुं० [सं०] अणु या परमाणु का परिमाण ।
पारियात्र-संज्ञा पुं० दे० “पारिपात्र” ।

पारिरत्नक-संज्ञा पुं० [सं०] तपस्वी । साधु ।

पारित्राज्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पारित्राजक का कर्म या भाव ।

(२) एक प्रकार का अश्वत्थ ।

पारिश-संज्ञा पुं० [सं०] पारिस पीपल । परास पीपल ।

पारिशील-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का पूथा या मालपूथा ।

पारिषद्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) परिषद् में बैठनेवाला । सभा में बैठनेवाला । सभासद । सभ्य । पंच । (२) आनु-यायिवर्ग । गण । जैसे, शिव के पारिषद्; विष्णु के पारिषद् ।

पारिस पीपल-संज्ञा पुं० [सं० पारीश पिपल] भिंडी की जाति का एक पेड़ जिसमें कपास के डोडे के आकार का फल लगता है । यह फल खाने में खटा होता है । इसमें भिंडी के समान ही सुंदर पाँच दलों के बड़े बड़े फूल लगते हैं । इसकी जड़ मीठी और छाल का रेशा मीठा कसैला होता है । वैद्यक में इसके फल गुरुपाक, कृमिघ्न, शुक्रवर्द्धक और कफकारक कहे गए हैं ।

पारिशीर्य-वि० [सं०] जो बिना जोते हुए हो । जो हल की खेती से न उपजा हो । जैसे, तिन्नी का चावल ।

पारिहारिक-वि० [सं०] परिहार करनेवाला ।

पारिहार्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) परिहार्य । (२) बल्य । हाथ का कड़ा ।

पारींद्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिंह । (२) अजगर ।

पारी-संज्ञा स्त्री० [हिं० बार, बारी] किसी बात का अवसर जो कुछ अंतर देकर क्रम से प्राप्त हो । बारी । ओसरी । दे० “बारी” ।

क्रि० प्र०—आना ।—पड़ना ।—होना ।

†संज्ञा स्त्री० [हिं० पारना] गुड़ आदि का जमाया हुआ बड़ा ढोका ।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पुरवा । चुकड़ । प्याला । (२) जलसमूह । (३) हाथी के पैर की रस्ती ।

पारीक्षित-संज्ञा पुं० [सं०] (१) परीक्षित का पुत्र या वंशज । (२) जनमेजय ।

पारीरण-संज्ञा पुं० [सं०] कलुआ ।

पारीश-संज्ञा पुं० [सं०] पारिस पीपल का पेड़ ।

पारु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अग्नि । (२) सूर्य ।

पारुष्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वचन की कठोरता । वाक्य की अप्रियता । बात का कड़वापन । (२) ईद्र का वन । (३) अगर । (४) बृहस्पति ।

पारेक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की तलवार या कटार ।

पारेवत-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की खजूर ।

पार्क-संज्ञा पुं० [अं०] बड़ा बगीचा । उपवन ।

पार्घट-संज्ञा पुं० [सं०] राख । भस्म ।

पार्थी-संज्ञा स्त्री० [अं०] (१) मंडली । दल । (२) दावत । भोज ।

क्रि० प्र०—देना ।

पार्थ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पृथ्वीपति । (२) (पृथा का पुत्र) अर्जुन । (३) युधिष्ठिर और भीम ।

विशेष—कुंती का नाम ‘पृथा’ भी था इसीसे कुंती की तीन संतानों में से प्रत्येक को ‘पार्थ’ कहते थे ।

(४) अर्जुन वृक्ष ।

पार्थक्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पृथक होने का भाव । भेद । (२) जुदाई । वियोग ।

पार्थव-संज्ञा पुं० [सं०] पृथु होने का भाव । भारीपन । बढ़ाई । विशालता । स्थूलता । मोटाई ।

वि० पृथुसंबंधी ।

पार्थिव-वि० [सं०] (१) पृथिवी संबंधी । (२) पृथ्वी से उत्पन्न । पृथिवी का विकाररूप । मिट्टी आदि का बना हुआ । जैसे, पार्थिव शरीर । (३) राजा के योग्य । राजसी । संज्ञा पुं० (१) राजा । (२) तगर का पेड़ । (३) एक संवत्सर । (४) मंगल ग्रह । (५) मिट्टी का बर्तन । (६) पार्थिव लिंग । मिट्टी का शिवलिंग जिसके पूजन का बड़ा फल माना जाता है ।

पार्थिवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) (पृथिवी से उत्पन्न) सीता । (२) उमा । पार्वती ।

पार्पर-संज्ञा पुं० [सं०] थम ।

पार्थ-संज्ञा पुं० [सं०] एक रुद्र का नाम (शुक्र यजु०) ।

पार्लामेंट-संज्ञा स्त्री० [अं०] वह सभा जो देश या राज्य के शासन के लिये नियम बनावे । कानून बनानेवाली सब से बड़ी सभा ।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग विशेषतः अंगरेजी राज्य की शासन-व्यवस्था निर्धारित करनेवाली महासभा के लिये होता है जिसके सदस्य जनता के भिन्न भिन्न वर्गों द्वारा चुने जाते हैं । अंगरेजी साम्राज्य के भीतर कनाडा आदि स्वराज्यप्राप्त देशों की ऐसी सभाओं के लिये भी यह शब्द आता है ।

पार्वण-संज्ञा पुं० [सं०] वह श्राद्ध जो किसी पर्व में किया जाय । जैसे, अमावास्या या ग्रहण आदि के दिन किया जानेवाला श्राद्ध ।

पार्वत-वि० [सं०] (१) पर्वत संबंधी । (२) पर्वत पर होनेवाला ।

संज्ञा पुं० (१) महानिंब । बकायन । (२) ईंगुर । (३) शिलाजल । शिलाजीत । (४) सीसा धातु । (५) एक अस्त्र ।

पार्वत पीलु-वि० [सं०] अर्चोट । अखरोट ।

पार्वती-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हिमालय पर्वत की कन्या,

शिव की अर्द्धांगिनी देवी जो गौरी, दुर्गा आदि अनेक नामों से पूजी जाती हैं। शिवा। भवानी।

पर्या०—उमा। गिरिजा। गौरी।

(२) शल्लकी। सलई। (३) गोपीचंदन। (४) सिंहली पीपल। (५) छोटा पखानभेद। (६) धाय का पौधा। (७) अलसी। तीसी।

पार्वतीय—संज्ञा पुं० [सं०] पर्वत संबंधी। पहाड़ का। पहाड़ी।

पार्वतीलोचन—संज्ञा पुं० [सं०] ताल के साठ भेदों में से एक।

पार्वतेय—वि० [सं०] पर्वत पर होनेवाला।

संज्ञा पुं० (१) अंजन। सुरमा। (२) हुरहुर का पौधा।

(३) जिंमिनी। जिगनी। (४) धाय का पेड़।

पार्श्व—संज्ञा पुं० [सं०] पशु से युद्ध करनेवाला।

पार्शुका—संज्ञा स्त्री० [सं०] पार्श्व की हड्डी। पसली। पंजर की हड्डी।

पार्श्व—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कक्ष का अधो भाग। काँख के नीचे का भाग। छाती के दाहिने बायें का भाग। बगल।

(२) इधर उधर पड़नेवाला स्थान। अगल बगल की जगह। पास। निकटता। समीपता।

पार्श्व—पार्श्ववर्ती = पास में बैठनेवाला। साथी या मुसाहब।

(३) पार्श्वस्थि। पसली। (४) कुटिल उपाय। टेढ़ी चाल।

पार्श्वक—संज्ञा पुं० [सं०] अनेक प्रकार के कुटिल उपाय रचकर धन कमानेवाला। चालबाजी के सहारे अपनी बढ़ती चाहनेवाला।

पार्श्वग—वि० [सं०] बगल में चलनेवाला। साथ में रहनेवाला। संज्ञा पुं० सहचर।

पार्श्वनाथ—संज्ञा पुं० [सं०] जैनों के तेईसवें तीर्थंकर।

विशेष—वाराणसी में अश्वसेन नाम के इक्ष्वाकुवंशीय राजा थे जो बड़े धर्मात्मा थे। उनकी रानी वामा भी बड़ी विदुषी और धर्मशीला थी। उनके गर्भ से पौष कृष्ण दशमी को एक महातेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका वर्ण नील था और जिसके शरीर पर सर्पचिह्न था। सब लोकों में आनंद फैल गया। वामा देवी ने गर्भ-काल में एक बार अपने पार्श्व में एक सर्प देखा था इससे पुत्र का नाम 'पार्श्व' रखा गया। पार्श्व दिन दिन बढ़ने लगे और नौ हाथ लंबे हुए। कुशस्थान के राजा प्रसेनजित की कन्या प्रभावती 'पार्श्व' पर अनुरक्त हुई। यह सुन कलिंग देश के यवन नामक राजा ने प्रभावती का हरण करने के विचार से कुशस्थान को आ घेरा। अश्वसेन के यहाँ जब यह समाचार पहुँचा तब उन्होंने बड़ी भारी सेना के साथ पार्श्व को कुशस्थल भेजा। पहले तो कलिंगराज युद्ध के लिये तैयार हुआ पर जब अपने मंत्री के मुख से उसने पार्श्व का प्रभाव सुना तब आकर चमा माँगी। अंत में

प्रभावती के साथ पार्श्व का विवाह हुआ। एक दिन पार्श्व ने अपने महल से देखा कि पुरवासी पूजा की सामग्री लिये एक ओर जा रहे हैं। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि एक तपस्वी पंचाग्नि ताप रहा है और अग्नि में एक सर्प मरा पड़ा है। पार्श्व ने कहा "दयाहीन धर्म किसी काम का नहीं"। एक दिन बगीचे में जाकर उन्होंने देखा कि एक जगह दीवार पर नेमिनाथ चरित्र अंकित है। उसे देख उन्हें वैराग्य उत्पन्न हुआ और उन्होंने दीक्षा ली और स्थान स्थान पर उपदेश और लोगों का उद्धार करते घूमने लगे। वे अग्नि के समान तेजस्वी, जल के समान निर्मल और आकाश के समान निरवलंब हुए। काशी में जाकर उन्होंने चौरासी दिन तपस्या करके ज्ञानलाभ किया और त्रिकाश्र हुए। पुंड्र, ताम्रलिप्त आदि अनेक देशों में उन्होंने भ्रमण किया। ताम्रलिप्त में उनके अनेक शिष्य हुए। अंत में अपना निर्वाणकाल समीप जानकर समेत शिखर (पारसनाथ की पहाड़ी जो हजारीबाग में है) पर चले गए जहाँ श्रावण शुक्ल अष्टमी को योग द्वारा उन्होंने शरीर छोड़ा।

पार्श्वमौलि—संज्ञा पुं० [सं०] कुवेर का एक मंत्री।

पार्श्ववर्त्ती—संज्ञा पुं० [सं० पार्श्ववर्त्तिन्] [स्त्री० पार्श्ववर्त्तिनी] पास रहनेवाला। निकटस्थ जन। मुसाहब।

पार्श्वशूल—संज्ञा पुं० [सं०] पसली का दर्द।

विशेष—सुश्रुत में लिखा है कि इसमें सूई छेदने की सी पीड़ा होती है और साँस कष्ट से निकलती है। यह कफ और वायु के बिगड़ने से होता है।

पार्श्वसूचक—संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक आभूषण।

पार्श्वस्थ—वि० [सं०] पास खड़ा रहनेवाला।

संज्ञा पुं० अभिनय के नटों में से एक।

पार्श्वस्थि—संज्ञा पुं० [सं०] पसली की हड्डी।

पार्श्विक—वि० [सं०] (१) बगलवाला। पार्श्वसंबंधी। (२) अन्याय से रुपया कमाने की फिक्र में रहनेवाला।

पार्श्वकादशी—संज्ञा स्त्री० [सं०] भाद्र शुक्ल एकादशी जिस दिन विष्णु भगवान करवट लेते हैं।

पार्षत—वि० [सं०] पृषत संबंधी। विराट राजा संबंधी। संज्ञा पुं० विराट का पुत्र दृष्टद्युम्न।

पार्षती—संज्ञा स्त्री० [सं०] द्रौपदी।

पार्षद—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पास रहनेवाला सेवक। पारिषद। (२) मुसाहब। मंत्री। (३) विख्यात पुरुष।

पार्ष्णि—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ँड़ी। (२) पृष्ठ। (३) सैन्यपृष्ठ।

पार्ष्णिदोम—संज्ञा पुं० [सं०] विश्वेदेवा में से एक।

पार्सल—संज्ञा पुं० [अ०] (१) पुलिंदा। बंधी हुई गठरी।

पैकेट। (२) डाक से रवाना करने के लिये बँधा हुआ पुलिंदा या गठरी।

मुहा०—**पार्सल करना** = बँधकर या लपेट कर डाक द्वारा भेजना।
पार्सल लगाना = बँधे हुए गठरी या पुलिंदे को डाकघर में बाहर भेजने के लिये देना।

पालक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पालक शाक। पालकी। (२) बाजपत्ती। (३) एक रत्न जो काजा, हरा और लाल होता है।

पालकी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पालक शाक। पालकी। (२) कुंदुर नाम का गंधद्रव्य।

पालक्य—संज्ञा पुं० [सं०] पालक का साग।

पाल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पालक। पालनकर्ता। (२) पीकदान। ओगालदान। (३) चित्रक वृक्ष। चीते का पेड़। (४) बंगाल का एक प्रसिद्ध राजवंश जिसने साढ़े तीन सौ वर्ष तक बंग और मगध में राज्य किया।
संज्ञा पुं० [हिं० पालना] (१) फलों को गरमी पहुँचाकर पकाने के लिये पत्ते बिछाकर रखने की विधि।

क्रि० प्र०—डालना।—पड़ना।

(२) फलों को पकाने के लिये भूसा या पत्ते आदि बिछाकर बनाया हुआ स्थान। जैसे, पाल का पका आम अच्छा होता है।

संज्ञा पुं० [सं० पट या पाट] (१) वह लंबा चौड़ा कपड़ा जिसे नाव के मस्तूल से लगाकर इसलिये तानते हैं जिसमें हवा भरे और नाव को ढकेले।

क्रि० प्र०—चढ़ाना।—तानना।—उतारना।

(२) तंबू। शामियाना। चंदोवा। (३) गाड़ी या पालकी आदि ढाकने का कपड़ा। ओहार।

संज्ञा स्त्री० [सं० पालि] (१) पानी को रोकनेवाला बाँध या किनारा। मेड़। उ०—सत गुरु बरजै शिष्य करै क्योँक बान्चे काल। तुहु दिसि देखत बहि गया पानी छूटी पाल।—कबीर। (२) भीटा। ऊँचा किनारा। कगार। उ०—खेलत मानसरोदक गई। जाइ पाल पर ठाढ़ी भई।—जायसी।

संज्ञा पुं० [?] कबूतरों का जोड़ा खाना। कपोत-मैथुन।

क्रि० प्र०—खाना।

पालउ—संज्ञा पुं० दे० 'पालव', 'पलव'।

पालक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पालनकर्ता। (२) अश्व-रक्षक। साईस। (३) चीते का पेड़। (४) पाला हुआ लड़का। दत्तकपुत्र।

संज्ञा पुं० [सं० पालक] एक प्रकार का साग। इसके पौधे में टहनियाँ नहीं होतीं, लंबे लंबे पत्ते एक केंद्र से चारों ओर निकलते हैं। केंद्र के बीच से एक सीधा डंडा निकलता है जिसमें फूलों का गुच्छा लगता है।

पालक जूही—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक छोटा पौधा जो दवा के काम में आता है।

पालकरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पलंग] लकड़ी का टुकड़ा जो चारपाई के सिरहाने के पायों के नीचे उसे ऊँचा करने के लिये रखा जाता है।

पालकी—संज्ञा स्त्री० [सं० पर्यंक] एक प्रकार की सवारी जिसे आदमी कंधे पर लेकर चलते हैं और जिसमें आदमी आराम से लेट सकता है। म्याना। खड़खड़िया। अच्छी डोली।

विशेष—पीनस, चौपाल, तामदान इत्यादि, इसके कई भेद होते हैं। कहार इसे कंधे पर लेकर चलते हैं।

संज्ञा स्त्री० [सं० पालक] पालक का शाक।

पालकी गाड़ी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पालकी + गाड़ी] वह गाड़ी जिसपर पालकी के समान छत हो।

पालघ्न—संज्ञा पुं० [सं०] (१) छत्राक। लुमी। (२) जलतृण।

पालट—संज्ञा स्त्री० [देश०] पटेबाजी की एक चोट का नाम।
संज्ञा पुं० [सं० पालन] पाला हुआ लड़का। दत्तक पुत्र।

पालड़ा—संज्ञा पुं० दे० "पलड़ा"।

पालती—संज्ञा स्त्री० [अं० प्लेट ?] जोड़ या सीमन के तख्ते। (लश०)

पालतू—वि० [सं० पालना] पाला हुआ। पोसा हुआ। जैसे, पालतू कुत्ता।

पालथी—संज्ञा स्त्री० [सं० पर्यस्त = फैला हुआ] एक प्रकार का बैठना जिसमें दोनों जंघे दोनों ओर फैलाकर जमीन पर रखे जाते हैं और घुटनों पर से दोनों टाँगें मोड़कर बायाँ पैर दाहिने जंघे पर और दाहिना बाएँ पर टिका दिया जाता है। पद्मासन। कमलासन।

क्रि० प्र०—नारना।—लगाना।

पालन—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० पालनीय, पालित, पाल्य] (१) भोजन वस्त्र आदि देकर जीवनरक्षा। भरण पोषण। रक्षण। परवरिश। (२) नुरत की व्याई गाय का दूध। (३) लड़कों को बहलाने का गीत। (४) अनुकूल आचरण द्वारा किसी बात की रक्षा या निर्वाह। भंग न करना। न टालना। जैसे आज्ञापालन, प्रतिज्ञापालन, वचन का पालन।

पालना—क्रि० सं० [सं० पालन] (१) पालन करना। भोजन वस्त्र आदि देकर जीवनरक्षा करना। रक्षा करना। भरण पोषण करना। परवरिश करना। जैसे, इसीके लिये माँ बाप ने तुम्हें पालकर इतना बड़ा किया। (२) पशु पत्नी आदि को रखना। जैसे, कुत्ता पालना, तोता पालना। (३) भंग न करना। न टालना। अनुकूल आचरण

द्वारा किसी बात की रक्षा या निर्वाह करना। जैसे, आज्ञा पालना, प्रतिज्ञा पालना।

संज्ञा पुं० [सं० पत्यंक] रस्सियों के सहारे टंगा हुआ एक प्रकार का गहरा खटोला या विस्तरा जिसपर बच्चों को सुलाकर इधर से उधर झुलाते हैं। एक प्रकार का झूला या हिंडोला। पिँगूरा। गहवारा।

पाल वंश—संज्ञा पुं० [सं०] बंगाल का एक प्रसिद्ध राजवंश जिसने साढ़े तीन सौ वर्ष तक मगध और बंग देश पर राज्य किया था। इस वंश के संस्थापक गोपाल थे जो सन ७७२ ई० से लेकर ७८२ ई० तक रहे। अंतिम राजा गोविंद पाल थे जिन्होंने सन् ११४० ई० से लेकर ११६१ ई० तक राज्य किया। एक ताम्रपत्र में लिखा है कि पाल राजा मिहिर या सूर्यवंशी क्षत्रिय थे। डा० हार्नले का मत है कि पाल वंश गहरवारों की ही एक शाखा थी। पाल वंश के राजा बौद्ध थे।

पालव—संज्ञा पुं० [सं० पलव] (१) पलव। पत्ता। (२) कोमल पत्ता।

पाला—संज्ञा पुं० [सं० प्रलेय] (१) हवा में मिली हुई भाप के अत्यंत सूक्ष्म अणुओं की तह जो पृथ्वी के बहुत ठंडा हो जाने पर उसपर सफेद सफेद जम जाती है। हिम।

क्रि० प्र०—गिरना।—पड़ना।

मुहा०—पाला मार जाना = पौधे या फसल का पाला गिरने से नष्ट हो जाना।

(२) हिम। ठंड से ठोस जमा हुआ पानी। बर्फ। (३) ठंड। सरदी।

संज्ञा पुं० [हि० पला] संबंध का अवसर। लगाव का मौका। व्यवहार करने का संयोग। वास्ता। साबिका। (केवल 'पड़ना' के साथ मुहा० के रूप में आता है)

मुहा०—(किसी से) पाला पड़ना = व्यवहार करने का संयोग होना।

वास्ता पड़ना। काम पड़ना। जैसे, बड़े भारी दुष्ट से पाला पड़ा है। (किसी के) पाले पड़ना = वश में होना। काबू में आना।

पकड़ में आना। उ०—परेहु कठिन रावण के पाले।—तुलसी।

संज्ञा पुं० [सं० पलव, हि० पालो] झड़वरी की पत्तियाँ जो राजपूताने आदि में चारे के काम में आती हैं।

संज्ञा पुं० [सं० पट्ट, हि० पाडा] (१) प्रधान स्थान। पीठ।

सदर मुकाम। (२) सीमा निर्दिष्ट करने के लिये मिट्टी का

उठाया हुआ मेड़ या छोटा भीटा। धुस। (३) कबड्डी के

खेल में हद के निशान के लिये उठाया हुआ मिट्टी का धुस।

(४) अनाज भरने का बड़ा बरतन जो प्रायः कच्ची मिट्टी का

गोल दीवार के रूप में होता है। डेहरी। (५) अखाड़ा।

कुश्ती लड़ने या कसरत करने की जगह। (६) दस पाँच

आदमियों के उठने बैठने की जगह।

पालागन—संज्ञा स्त्री० [हि० पाल + लगना] प्रणाम। दंडवत। नमस्कार।

विशेष—प्रणाम करने में, विशेषतः ब्राह्मणों को, इस शब्द का मुँह से उच्चारण भी किया जाता है, जैसे, पंडित जी, पालागन।

पालान—संज्ञा पुं० दे० “पलान”।

पालाश—संज्ञा पुं० [सं०] तमालपत्र। तेजपत्ता।

पालिंद—संज्ञा पुं० [सं०] कुँदुरु नामक सुगंध द्रव्य।

पालिंदी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सरिवन। सालसा। (२)

काला निसोथ। कृष्ण निसोथ।

पालिंधी—संज्ञा स्त्री० दे० “पालिंदी”।

पालि—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कर्णलताग्र। कान की लौ। कान के पुट के नीचे का मुलायम चमड़ा।

विशेष—पुट के जिस निचले भाग में छेद करके बालियाँ आदि पहनी जाती हैं उसे पालि कहते हैं। इस स्थान पर कई प्रकार के रोग हो जाते हैं जैसे उत्पाटक जिसमें चिर-चिराहट होती है, कंडु जिसमें खुजली होती है, ग्रंथिक जिसमें जगह जगह गाँठें सी पड़ जाती हैं, श्याव जिसमें चमड़ा काला हो जाता है, स्नावी जिसमें बराबर खुजली होती और पनछा बहा करता है।

(२) कोना। (३) पंक्ति। श्रेणी। कतार। (४) किनारा।

(५) सीमा। हद। (६) मेंड़। बाँध। (७) पुल। करारा।

कगार। भीटा। उ०—खेलतमानसरोदक गई। जाइ पालि पर

ठाढ़ी भई।—जायसी। (८) देग। बटलोई। (९) एक तौल

जो एक प्रस्थ के बराबर होती थी। (१०) वह बँधा हुआ

भोजन जो छात्र या ब्रह्मचारी को गुरुकुल में मिलता था।

(११) अंक। गोद। उत्सर्ग। (१२) परिधि। (१३) जूँ या

चीलर। (१४) स्त्री जिसकी दाढ़ी में बाल हों। (१५)

अंक। चिह्न।

पालिक—संज्ञा पुं० [सं० पत्यंक] (१) पलंग। चारपाई। (२) पालकी।

पालिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] पालन करनेवाली।

पालित—वि० [सं०] पाला हुआ। रक्षित।

पालिता मंदार—संज्ञा पुं० [सं० पालित + मंदार] एक मझोला पेड़ जिसकी शाखाओं और टहनियों में काले रंग के काँटे होते हैं। इसकी पत्तियाँ एक सीके के दोनों और लगती हैं और तीन तीन एक साथ रहती हैं। फूल के दल छोटे बड़े और क्रमविहीन होते हैं। यह पेड़ बंगाल में समुद्र तट के पास होता है। मद्रास और बरमा में भी इसकी कई जातियाँ होती हैं। इसे बाड़ की भाँति लगाते हैं। कुछ लोग इसी पेड़ को मंदार कहते हैं।

पालिधा—संज्ञा स्त्री० [सं०] पारिभद्र वृक्ष। फरहद का पेड़।

पालिनी—वि० स्त्री० [सं०] पालन करनेवाली ।

पालिश—संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) चिकनाई और चमक। योप । (२) रोगन या मसाला जिसके लगाने से चिकनाई और चमक आ जाय ।

मुहा०—पालिश करना = रोगन या मसाला रगड़ कर चमकाना । रोगन से चिकना और साफ करना । जैसे, जूते पर पालिश कर दो ।

पालिश होना = रोगन से चिकना और चमकीला किया जाना ।

पालिश देना = दे० “पालिश करना” ।

पालिस्ती—संज्ञा स्त्री० [अ०] नीति । कार्य साधन का ढंग ।

पाली—वि० [सं० पालिन्] [स्त्री० पालिनी] (१) पालन करनेवाला । पोषण करनेवाला । (२) रखनेवाला । रक्षा करनेवाला ।

संज्ञा पुं० पृथु के पुत्र का नाम । (हरिवंश)

संज्ञा स्त्री० [सं० पलि] = विशिष्ट स्थान] वह स्थान जहाँ तीतर बुलबुल बटेर आदि पक्षी लड़ाए जाते हैं ।

संज्ञा स्त्री० [सं० पालि] = बरतन] बरतन का ढक्कन। पारा । परई ।

संज्ञा स्त्री० [सं० पालि] = पंक्ति] एक प्राचीन भाषा जिसमें बौद्धों के धर्मग्रंथ लिखे हुए हैं और जिसका पठन पाठन श्याम, वरमा, सिंहल आदि देशों में उसी प्रकार होता है जिस प्रकार भारतवर्ष में संस्कृत का । बौद्ध धर्म के अभ्युदय के समय में इस भाषा का प्रचार बाह्यिक (बल्ल) से लेकर श्याम देश तक और उत्तर भारत से लेकर सिंहल तक हो गया था । कहते हैं बुद्ध भगवान् ने इसी भाषा में धर्मोपदेश दिया था । बौद्ध धर्मग्रंथ त्रिपिटक इसी भाषा में है ।

पाली का सब से पुराना व्याकरण कट्टायन (कात्यायन) का सुगधिकल्प है । ये कात्यायन कब हुए थे ठीक पता नहीं । सिंहल आदि के बौद्धों में यह प्रसिद्ध है कि कात्यायन बुद्ध भगवान् के शिष्यों में से थे और बुद्ध भगवान् ने ही उनसे उस भाषा का व्याकरण रचने के लिये कहा था जिसमें भगवान् के उपदेश होते थे । पर कात्यायन के व्याकरण में ही एक स्थान पर सिंहल द्वीप के राजा तिष्य का नाम आया है जो ईसा से ३०७ वर्ष पहले राज्य करता था । इस बाधा का उत्तर लोग यह देते हैं कि पाली भाषा का अध्ययन बहुत दिनों तक गुरु शिष्य परंपरानुसार ही होता आया था । इससे संभव है कि ‘तिष्य’ वाला उदाहरण पीछे से किसीने दे दिया हो । कुछ लोग वररुचि को, जिनका एक नाम कात्यायन भी था, पाली व्याकरणकार कात्यायन समझते हैं, पर यह अम है ।

कात्यायन ने अपने व्याकरण में पाली को मागधी और मूल भाषा कहा है । पर बहुत से लोगों ने मागधी से पाली को भिन्न माना है । कुछ पाली ग्रंथकारों ने तो यहाँ तक कहा है कि पाली, बुद्धों, बोधिसत्त्वों और देवताओं

की भाषा है और मागधी मनुष्यों की । बात यह मालूम होती है कि मागधी शब्द का व्यवहार भगवत् की प्राकृत के लिये बहुत पीछे तक बराबर होता रहा है । जैसे साहित्य-दर्पणकार ने नाटकों के लिये यह निबन्ध किया है कि अंतः-पुरचारी लोग मागधी में बातचीत करते दिखाए जायें और चेट, राजपुत्र तथा दक्षिण लोग अर्द्धमागधी में । पर पाली भाषा एक विशेष प्राचीनतर काल की मागधी का नाम है जिसे व्याकरणबद्ध करके कात्यायन आदि ने उसी प्रकार अच्छल और स्थिर कर दिया जिस प्रकार पाणिनि आदि ने संस्कृत को । इससे पश्चर्ती काल के पढ़े लिखे बौद्ध भी उसी प्राचीन मागधी का व्यवहार अपनी शास्त्रचर्चा में बराबर करते रहे ।

‘पाली’ शब्द कहाँ से आया इसका संतोषप्रद उत्तर कहीं से नहीं प्राप्त होता है । लोगों ने अनेक प्रकार की कल्पनाएँ की हैं । कुछ लोग उसे सं० पल्लि = (बस्ती, नगर) से निकालते हैं, कुछ लोग कहते हैं कि ‘पालाश’ से जो भगवत् का एक नाम है पाली बना है । कुछ महात्मा पल्लवी तक जा पहुँचे हैं । पटने का प्राचीन नाम पाटलिपुत्र था इससे कुछ लोगों का अनुमान है पाटलि की भाषा ही पाली कहलाने लगी । पर सब से ठीक अनुमान यह जान पड़ता है कि ‘पाली’ शब्द का प्रयोग पंक्ति के अर्थ में था । अब भी संस्कृत के छात्र और अध्यापक किसी ग्रंथ में आए हुए वाक्य को ‘पंक्ति’ कहते हैं जैसे, यह पंक्ति नहीं लगती है । मागधी का बुद्ध के समय का रूप बौद्धशास्त्रों में लिपिबद्ध हो जाने के कारण पाली (सं० पालि = पंक्ति) कहलाने लगा । हीनयान शाखा में तो पाली का प्रचार बराबर एक सा चलता रहा पर महायान शाखा के बौद्धों ने अपने ग्रंथ संस्कृत में कर लिए ।

पालीवत—संज्ञा पुं० [देश०] एक पेड़ का नाम ।

विशेष—बृहत्संहिता में द्राक्षा, विजौरा आदि कांडरोप्य (जिसकी डाल लगाने से लग जाय) पेड़ों में इसका नाम आया है ।

पालीशोष—संज्ञा पुं० [सं०] कान का एक रोग ।

पालू—वि० [हिं० पालना] पाला हुआ । पालतू ।

पालो—संज्ञा पुं० [सं० पालि?] १ रुपये भर का बाट या तौल । (सुनार)

पाल्य—वि० [सं०] पालन के योग्य ।

पालवल—वि० [सं०] (१) तलैया या गड्ढा संबंधी । तलैया संबंधी । (२) तलैया में होनेवाला । तलैया का ।

संज्ञा पुं० चुद्र जलाशय का जल । तलैया का पानी ।

पाँव—संज्ञा पुं० [सं० पाद, प्रा० पाय, पाव] पैर । वह अंग जिससे चलते हैं ।

मुहा०—(किसी काम या बात में) पाँव अड़ाना = किसी बात में व्यर्थ सम्मिलित होना। मामले के बीच में व्यर्थ पड़ना। फजूल दखल देना। पाँव उखड़ जाना = (१) पैर जमे न रहना। पैर हट जाना। स्थिर होकर खड़ा न रह सकना। (२) ठहरने की शक्ति या साहस न रह जाना। लड़ाई में न ठहरना। सामने खड़े होकर लड़ने का साहस न रहना। भागने की नौबत आना। जैसे, दूसरा आक्रमण ऐसे वेग से हुआ कि सिक्खों के पाँव उखड़ गए। पाँव उखाड़ना = (१) पैर जमा न रहने देना। हटा देना। भगा देना। (२) किसी बात पर स्थिर न रहने देना। दृढ़ता का भंग करना। पाँव उठ जाना = दे० “पाँव उखड़ जाना”। पाँव उठाना = (१) चलने के लिये कदम बढ़ाना। डग आगे रखना। चलना आरंभ करना। (२) जल्दी जल्दी पैर आगे रखना। डग भरना। पाँव उठाकर चलना = जल्दी जल्दी पैर बढ़ाना। तेज चलना। पाँव उड़ाना = शत्रु के आघात से पैरों की रक्षा करना। दुश्मन के बार से पैर बचाना। पाँव उतरना = (१) चोट आदि से पैर का गट्ठे से सरक जाना। पैर का जोड़ उखड़ जाना। (२) पैर धँसना। पैर समाना। पाँव कट जाना = (१) आने जाने की शक्ति या योग्यता न रहना। आना जाना बंद होना। (२) अन्न जल उठ जाना। रहने या ठहरने का अंत हो जाना। (३) संसार से उठ जाना। जीवन का अंत हो जाना। (जब कोई मर जाता है तब उसके विषय में दुःख के साथ कहते हैं ‘आज यहाँ से उसके पाँव कट गए’)। पाँव काँपना = दे० “पाँव थरथराना”। पाँव का खटका = पैर रखने की आहट। चलने का शब्द। पाँव की जूती = अत्यंत लुद्र सेवक या दासी। पाँव की जूती सिर को लगाना = छोटे आदमी का बड़े के मुकाबले में आना। लुद्र या नीच का सिर चढ़ना। छोटे आदमी का बड़े से बराबरी करना। पाँव की बेड़ी = बंधन। जंजाल। पाँव की मेहँदी न घिस जायगी = कहीं जाने या कोई काम करने से पैर न मैले हो जायेंगे अर्थात् कुछ बिगड़ न जायगा। (जब कोई आदमी कहीं जाने या कुछ करने से नहीं करता है तब यह व्यंग्य बोलते हैं)। पाँव खींचना = घूमना फिरना छोड़ देना। इधर उधर फिरना बंद करना। पाँव गाड़ना = (१) पैर जमाना। जमकर खड़ा रहना। (२) लड़ाई में स्थिर रहना। डटा रहना। (३) किसी बात पर दृढ़ होना। किसी बात पर जम जाना। पाँव घिसना = चलते चलते पैर थकना। जैसे, तुम्हारे यहाँ दौड़ते दौड़ते पाँव घिस गए पर तुमने रुपया न दिया। पाँव चलना = दे० “पाँव पाँव चलना”। पाँव छूटना = रजःस्राव होना। रजःस्रला होना। पाँव छोड़ना = उपचार औषध से रजःस्राव कराना। रुका हुआ मासिक धर्म जारी करना। पाँव जमना = (१) पैर ठहरना। स्थिर भाव से खड़ा होना। (२) दृढ़ता रहना। हटने या विचलित होने की अवस्था न आना। पैर जमाना = (१) स्थिर भाव से खड़ा रहना। (२) दृढ़ता से ठहरा रहना। डटा रहना। न हटना।

(३) स्थिर हो जाना। अपने ठहरने या रहने का पूरा बंदोबस्त कर लेना। जैसे, अभी से उसे हटाने का यत्न करो, पाँव जमा लेगा तो मुश्किल होगी। पाँव जोड़ना = दो आदमियों का झूले में आमने सामने बैठ कर एक विशेष रीति से झूले की रस्सी में पैर उल्लंघाना। पाग जोड़ना। पाँव टिकना = दे० “पाँव जमना”। पाँव टिकाना = (१) खड़ा होना। स्थिर होना। (२) ठहर जाना। विराम करना। पाँव ठहरना = (१) पैर का जमना। पैर न हटना। जैसे, पानी का ऐसा तोड़ा था कि पाँव नहीं ठहरते थे। (२) ठहराव होना। स्थिरता होना। पाँव डगमगाना = (१) पैर स्थिर न रहना। पैर ठहरा न रहना। पैर का ठीक न पड़ना, इधर उधर हो जाना। लड़खड़ाना। जैसे, उस पतले पुल पर से मैं नहीं जा सकता, पाँव डगमगाते हैं। (२) दृढ़ न रहना। विचलित हो जाना। † पाँव डालना = किसी काम में हाथ डालना। किसी काम के लिये तत्पर होना। पाँव डिगना = पैर ठीक स्थान पर न रहना; इधर उधर हो जाना। स्थिर न रहना। विचलित होना। जैसे, राजा के पाँव सत्य के पथ से न डिगे। पाँव तले की चींटी = लुद्र से लुद्र जीव। अत्यंत दीन हीन प्राणी। पाँव तले की धरती सरकी जाती है = (ऐसा घोर मर्मभेदी दुःख या आपत्ति है जिसे सुनकर) पृथ्वी कँपी जाती है। (स्त्रि०)। पाँव तले की मिट्टी निकल जाना = (किसी भयंकर बात को सुनकर) स्तब्ध सा हो जाना। होश उड़ जाना। होश ठिकाने न रहना। ठक हो जाना। सन हो जाना। सचाटे में आ जाना। पाँव तोड़ना = (१) बहुत चलकर पैर थकाना। जैसे, मैं क्यों इतनी दूर जाकर पाँव तोड़ूँ। (२) बहुत दौड़ थूप करना। इधर उधर बहुत हैरान होना। घोर प्रयत्न करना। (किसी के) पाँव तोड़ना = (१) बहुत चलाकर थकाना। (२) दौड़ाकर हैरान करना। पाँव तोड़ कर बैठना = (१) कहीं न जाना। अचल होना। स्थिर हो जाना। जैसे, भारत में दरिद्रता पाँव तोड़कर बैठी है। (२) प्रयत्न करते करते थक कर बैठना। हार कर बैठना। पाँव थरथराना = (१) (भय, आशंका, निर्बलता आदि से) पैर काँपना। (२) किसी काम में भय आशंका से आगे पैर न उठना। अग्रसर होने का साहस न होना। पाँव दबाना या दाबना = (१) यकावट दूर करने या आराम पहुँचाने के लिये जंघे से लेकर पंजे तक हथेली रख रख कर दबाव पहुँचाना। पाँव पलोटना। (२) सेवा करना। पाँव धरना = पैर रखना। किसी स्थान पर जाना। पधारना। जैसे, अब उसके दरवाजे पर पाँव नहीं धरेंगे। किसी काम में पाँव धरना = किसी कार्य में अग्रसर होना। किसी कार्य में प्रवृत्त होना। किसी का पाँव धरना = (१) पैर छूकर प्रणाम करना। (२) दीनता से विनय करना। हा हा खाना। पाँव धारना = दे० “पाँव धरना”। उ०—अन्य भूमि वन पंथ पहारा। जहाँ जहाँ नाथ पाँव तुम धारा।—तुलसी। बुरे पथ पर पाँव धरना = बुरे काम में प्रवृत्त होना।

३०—रघुवंशिन कर सहज सुभाज । मन कुपंथ पग धरै न काज ।—तुलसी । पाँव धो धोकर पीना = चरणानुत्त लेना । बड़े आदर भाव से पूजा करना । पाँव निकलना = दुश्चरित्रता की बात फैलना । बदचलनी की बदनामी फैलना । पाँव निकालना = (१) बढ़कर चलना । जिस स्थिति में हो उससे बढ़कर प्रकट करनेवाले काम करना । ऐसी चाल चलना जो अपने से ऊँचे पद और वित्त के लोगों को शोभा दे । इतरा कर चलना । जैसे, किसी सामान्य मनुष्य का अमीरों का सा ठाट बाट रखना । (२) बे-क्रहा होना । निरंकुश होना । स्वेच्छाचारी होना । नटखटी और उपद्रव करना । जैसे, तुमने बहुत पाँव निकाले हैं चलो तुम्हारे बाप से कहता हूँ । (३) व्यभिचार करना । बदचलनी करना । (४) उस्ताद होना । चालाक होना । इधर उधर की बातें समझने बूझने योग्य हो जाना । पक्का होना । जैसे, तुम तो बहुत सीधे और भोले भाले थे, अब तुमने भी पाँव निकाले । किसी काम से पाँव निकालना = किसी काम से किनारे हो जाना । तटस्थ हो जाना । शामिल न रहना । पाँव पकड़ना = (१) विनती करके किसीको कहीं जाने से रोकना । ३०—जानति जो न श्याम ऐहें पुनि पाँव पकरि घर राखति ।—सूर । पैर छूना । बड़ी दीनता और विनय करना । हा हा खाना । ३०—अब यह बात कहौ जनि ऊधो, पकरति पाँव तिहारे ।—सूर । (२) पैर छूकर नमस्कार करना । भक्ति और आदरपूर्वक प्रणाम करना । पाँव पखारना = पैर धोना । पाँव पड़ना = (१) पैरों पर गिरना । साष्टांग दंडवत करना । (२) अत्यंत दीनता से विनय करना । † (भूत प्रेत आदि का) पाँव पड़ना = भूत प्रेत की छाया पड़ना । प्रभाव पड़ना । पाँव पर गिरना = दे० “पाँव पड़ना” । पाँव पर पाँव रखकर बैठना या सोना = (१) काम धंधा छोड़ आराम से बैठना या पड़ा रहना । चैन से चुपचाप पड़ा रहना । हाथ पैर न चलाता । उद्योग न करना । (२) गाफिल पड़ा रहना । सावधान न रहना । (पाँव पर पाँव रखकर बैठना या सोना कुजक्ष्ण समझा जाता है । लोग कहते हैं कि जब यादवों का नाश हो गया तब श्रीकृष्ण पाँव पर पाँव रखकर लेटे) । किसी के पाँव पर पाँव रखना = किसी के कदम व कदम चलना । किसी की एक एक बात का अनुकरण करना । दूसरा जो कुछ करता जाय वही करते जाना । पाँव पर सिर रखना = दे० “पाँव पड़ना” । * † पाँव पलोटना = पैर दबाना । पाँव चप्पी करना । पाँव पसारना = (१) पैर फैलाना । (२) आराम से पड़ना या सोना । (३) मरना । (४) आडंबर बढ़ाना । ठाट बाट करना । ३०—तेतो पाँव पसारिए जेती लाँबी सौर । पाँव पाँव = अपने पैरों से, सवारी आदि पर नहीं । पैदल । पा प्यादा । पाँव पाँव चलना = पैरों से चलना । पैदल चलना । पाँव पाँव चंदन के

पाँव = एक वाक्य जिसे वच्चे के पहले पहल खेड़ होने पर घर की स्त्रियाँ या खेलानेवाली दासियाँ प्रसन्न हो होकर कहती हैं । पाँव पीटना = (१) बलेश या पीड़ा से पैर उठाना । बेचैनी से पैर पटकना । छटपटाना । तड़फना । (२) मृत्यु की वंत्रणा भोगना । (३) घोर प्रयत्न करना । हैरान होना । जैसे, बहुत पाँव पीटा पर एक न चली । पाँव पूजना = (१) बड़ा आदर सत्कार करना । बड़ी श्रद्धा भक्ति करना । बहुत पूज्य मानना । (२) विवाह में कन्यादान के समय कन्याकुल के लोगों का घर का पूजन करना और कन्यादान में बोग देना । पाँव फिसलना = पैर का जमा न रहना, सरक जाना । रपटना । जैसे, काई पर पाँव फिसल गया और गिर पड़े । पाँव फूँक फूँककर रखना = बहुत बचाकर काम करना । कुछ करते हुए इस बात का बहुत ध्यान रखना कि कोई ऐसी बात न हो जाय जिससे कोई हानि या बुराई हो । बहुत सावधानी से चलना । पाँव फूलना = (१) पैरों का भय आशंका आदि से अशक्त हो जाना । पैर आगे न उठाना । (२) पैर में थकावट आना । थकावट से पैर दुखना । पाँव फेरने जाना = (१) विवाह पीछे दुलाहिन का पहले पहल ससुराल में जाना । (२) दुलाहिन का ससुराल से पहले पहल अपने मायके या और किसी संबंधी के यहाँ जाना और वहाँ से मिठाई नारियल का गोला आदि लेकर लौटना । इसके पहले वह और किसी के यहाँ नहीं जा आ सकती । (३) बच्चा होने के पीछे प्रसूता का कुछ दिनों के लिये अपने माँ बाप या और संबंधियों के यहाँ जाना । पाँव फैलाना = (१) अधिक पाने के लिये हाथ बढ़ाना । सुँह बाना । पाकर भी अधिक का लोभ करना । जैसे, बहुत पाँव न फैलाओ अब और न दूँगे । (२) वच्चों की तरह अड़ना । हठ करना । जिद करना । मचलना । (विशेष—दे० “पाँव पसारना”) । पाँव बढ़ाना = (१) चलने में पैर आगे रखना । (२) बड़े बड़े डग रखना । फाल भरना । जल्दी जल्दी चलना । (३) अधिकार बढ़ाना । अतिक्रमण करना । पाँव बाहर निकलना = दे० “पाँव निकलना” । पाँव बाहर निकालना = दे० “पाँव निकालना” । पाँव विचलना = (१) पैर इधर उधर हो जाना । पैर का ठीक न पड़ना या जमा न रहना । पैर फिसलना । पैर रपटना । जैसे, कीचड़ में पाँव विचल गया । (२) स्थिर न रहना । हड़ल न रहना । (३) धर्म पर स्थिरता न रहना । ईमान डिगना । नीयत में फर्क आना । पाँव भर जाना = थकावट से पैर में बौझ सा मालूम होना । पैर थकना । पाँव भारी होना = पेट होना । गर्भ रहना । हमल होना । (किसीसे) पाँव भी न थुलवाना = किसीको अपनी तुच्छ सेवा के योग्य भी न समझना । अत्यंत तुच्छ और छोटा समझना । पाँव में क्या मेंहदी लगी है ? = क्या पैर में मेंहदी लगाकर बैठे हो कि छूटने के डर से जाना या कोई काम करना नहीं चाहते ? (व्यंग्य) । पाँव में बेड़ी पड़ना

= किसी प्रकार के बंधन या जंजाल में फँसना, जैसे, गृहस्थी या बाल बच्चों के। पाँव में सिर देना = दे० "पाँव पर सिर रखना"।
 पाँव रगड़ना = (१) क्लेश या पीड़ा से पैर हिलाना या पीटना। छटपटाना। (२) बहुत दौड़ धूप करना। बहुत हैरान होना। बहुत कोशिश करना। पाँव रह जाना = (१) पैरों का अशक्त हो जाना। पैरों का काम देने लायक न रहना। (२) थकावट से पैरों का बेकाम हो जाना। जैसे, चलते चलते पाँव रह गए। पाँव रोपना = अड़ना। पण करना। प्रतिज्ञा करना। पाँव लगना = (१) पैर छूना। प्रणाम करना। चरणस्पर्श-पूर्वक नमस्कार करना। (२) पैर पड़ना। विनती करना। पाँव लगा होना = ऐसा स्थान होना जहाँ अनेक बार पैर पड़ चुके हों, अर्थात् आना जाना हो चुका हो। घूमा फिरा हुआ होना। बार बार आते जाते रहने के कारण परिचित होना। जैसे, वहाँ की जमीन पाँव लगी हुई है ठीक जगह आपसे आप पहुँच जाता हूँ। पाँव समेटना = (१) पैर खींचकर सोड़ना जिससे वह दूर तक फैला न रहे। पैर सुकेड़ना। (२) किनारा खींचना। दूर रहना। लगाव न रखना। तटस्थ होना। (३) मरना। (४) इधर उधर घूमना छोड़ना। पाँव सुकेड़ना = पाँव समेटना। पैर फैला न रहने देना। पाँव से पाँव बाँधकर रखना = (१) बराबर अपने पास रखना। पास से अलग न होने देना। (२) बड़ी चौकसी रखना। निगाह के बाहर न होने देना। पाँव सो जाना = (१) पैर सुन हो जाना। स्तब्ध हो जाना। (२) पैर झुका उठना। (किसी के) पाँव न होना = ठहरने की शक्ति या साहस न होना। हड़ता न होना। जैसे, चोर या शराबी के पाँव नहीं होते। धरती पर पाँव न रहना = बहुत घमंड होना। घमंड या शेखी के मोरे सीधे पैर न पड़ना। (२) आनंद के मोरे अंग स्थिर न रहना। फूले अंग न समाना। धरती पर पाँव न रखना = (१) घमंड के मोरे सीधे पैर न रखना। बहुत ऊँचा होकर चलना। घमंड या शेखी से फूलना। इतराना। (२) आनंद के मोरे उछलना। बहुत प्रसन्न होना।

पाँव चप्पी—संज्ञा स्त्री० [हि० पाँव + चापना = दबाना] थकावट दूर करने या आराम पहुँचाने के लिये पैर दबाने की क्रिया।
 क्रि० प्र०—करना।—होना।

पावँड़ा—संज्ञा पुं० [हि० पाँव + ड़ा (प्रत्य०)] वह कपड़ा या बिछौना जो आदर के लिये किसीके मार्ग में बिछाया जाता है। पैर रखने के लिये फैलाया हुआ कपड़ा। पायंदाज। उ०—(क) देत पाँवड़े अरघ सुहाए। सादर जनक मंडपहि लाए।—तुलसी। (ख) पौरि के दुबारे तैं लगाय केलि मंदिर लौं पदमिनि पाँवड़े पसारे मखमल के।

क्रि० प्र०—ढालना।—देना।—पसारना।—बिछाना।

पावँड़ी—संज्ञा स्त्री० [हि० पाँव + ड़ी (प्रत्य०)] (१) पादत्राण। खड़ाऊँ। (२) जूता। उ०—सपनेहु में बर्राय के जो रे कहेगा राम। वाके पग की पावँड़ी मेरे तन को चाम।—कबीर। (३) गोटा पट्टा बुननेवालों का

एक औजार जिसे बुनते समय पैरों से दबाना पड़ता है और जिससे ताने का बादला नीचे ऊपर होता है।

विशेष—यह काठ का पटरा सा होता है जिसमें दो खूंटियाँ लगी रहती हैं। इन दोनों खूंटियों के बीच लोहे की एक छड़ लगी रहती है जिसमें एक एक बालिरत लंबी, नुकीले सिरे की २-६ लकड़ियाँ लगी रहती हैं। बादला बुनने में यह प्रायः वही काम देता है जो करघे में राख देती है।

पावँर*—वि० [सं० पावर] (१) तुच्छ। खल। नीच। दुष्ट। (२) मूर्ख। निर्बुद्धि। उ०—(क) तुम त्रिभुवन गुरु वेद बखाना। आन जीव पावँर का जाना।—तुलसी। (ख) छूँछो मसक पवन पानी ज्यों तैसोई जन्म विकारी हो। पाखंड धर्य करत हैं पावँर नाहिन चलत तुम्हारी हो।—सर।

संज्ञा पुं० दे० "पावँड़ा"। उ०—कुंडल गहे सीस भुइ लावा। पावँर होई जहाँ देइ पावा।—जायसी।

संज्ञा स्त्री० दे० "पावँड़ी"।

पावँरी—संज्ञा स्त्री० दे० "पावँड़ी"।

पाव—संज्ञा पुं० [सं० पाद = चतुर्थी] (१) चौथाई। चतुर्थ भाग। जैसे, पाव घंटा, पाव कोस, पाव सेर, पाव आना। (२) एक सेर का चौथाई भाग। एक तौल जो सेर की चौथाई होती है। चार छटाँक का मान। जैसे, पाव भर आटा।

पावक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) अग्नि। आग। तेज। ताप।

विशेष—महाभारत वन पर्व में लिखा है कि २७ पावक ऋषि ब्रह्मा के अंग से उत्पन्न हुए जिनके नाम ये हैं—अंगिरा, दक्षिण, गार्हपत्य, आहवनीय, निर्मथ्य, विद्युत, शूर, संवत्स, लौकिक, जाठर, विषग, क्रव्य, जेमवान्, वैष्णव, दस्युमान्, बलद, शांत, पुष्ट, विभावसु, ज्योतिष्मान्, भरत, भद्र, स्विष्टकृत्, वसुमान्, क्रतु, सोम और पितृमान्। क्रियाभेद से अग्नि के ये भिन्न भिन्न नाम हैं।

(२) सदाचार। (३) अग्निमंथ वृत्त। अग्नेय का पेड़। (४) चित्रक वृत्त। चीते का पेड़। (५) भल्ला-तक। भिलावा। (६) विडंग। वायविडंग (७) कुसुंभ। (८) वरण। (९) सूर्य।

वि० शुद्ध करनेवाला। पावन करनेवाला। पवित्र करनेवाला।

पावकमणि—संज्ञा पुं० [सं०] सूर्यकांत मणि। आतशी शीशा।

पावका—संज्ञा स्त्री० [सं०] सरस्वती। (वेद)

पावकात्मज—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कार्तिकेय। (२)

इक्ष्वाकुवंशीय दुर्योधन की कन्या सुदर्शना का पुत्र।

पावकि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पावक का पुत्र। कार्तिकेय।

(२) इक्ष्वाकुवंशीय दुर्योधन की कन्या सुदर्शना का पुत्र सुदर्शन ।

विशेष—मनु के पुत्र इक्ष्वाकुवंशीय सुदुर्जय के दुर्योधन नाम का एक पुत्र हुआ जिसे सुदर्शना नाम की एक कन्या थी । उसके रूप लावण्य पर सुग्ध होकर पावक या अग्नि-देव रूप बदल कर दुर्योधन के यहाँ आए और उन्होंने कन्या के लिये प्रार्थना की । दुर्योधन सम्मत न हुए । पावक देवता निराश होकर चले गए । एक बार राजा ने यज्ञ किया । यज्ञ में अग्नि ही प्रज्वलित न हुई । राजा और ऋत्विक् लोगों ने अग्नि की बहुत उपासना की । पावक ने प्रकट होकर फिर कन्या माँगी । दुर्योधन ने कन्या का विवाह उनके साथ कर दिया । अग्नि देवता उस कन्या के साथ मूर्ति धारण कर माहिष्मती पुरी में रहने लगे । पावक से जो पुत्र सुदर्शना को हुआ उसका नाम सुदर्शन पड़ा । वह बड़ा धर्मात्मा और ज्ञानी था ।

पावकुलक—संज्ञा पुं० [सं० पादाकुलक] पादाकुलक छंद । चौपाई ।

पावदान—संज्ञा पुं० [हिं० पाव + दान (प्रत्य०)] (१) पैर रखने के लिये बना हुआ स्थान या वस्तु । (२) काठ की छोटी चौकी जो कुर्सी पर बैठे हुए आदमी के पैर रखने के लिये मेज के नीचे रखी जाती है । (३) इक्के गाड़ी आदि की बगल में लटकाई हुई लोहे की छोटी पटरी जिसपर पैर रखकर नीचे से गाड़ी पर चढ़ते हैं । (४) गाड़ी के भीतर पैर लटकाने का स्थान ।

पावन—वि० [सं०] (१) पवित्र करनेवाला । शुद्ध करनेवाला । (२) पवित्र । शुद्ध । पाक । (३) पवन या हवा पीकर रहनेवाला ।
संज्ञा पुं० (१) पावकाग्नि । अग्नि । (२) प्रायश्चित्त । शुद्धि । (३) जल । (४) गोबर । (५) रुद्राक्ष । (६) कुट्ट । कुट । (७) पीली भँगरैया । पीत भृंगराज । (८) चित्रक वृक्ष । चीता । (९) चंदन । (१०) सिंहक । शिलारस । (११) सिद्ध पुरुष । (१२) व्यास का एक नाम । (१३) विष्णु ।

पावनता—संज्ञा स्त्री० [सं०] पवित्रता ।

पावनत्व—संज्ञा पुं० [सं०] पवित्रता ।

पावनध्वनि—संज्ञा पुं० [सं०] शंख ।

पावना—क्रि० सं० [सं० प्रापण, प्रा० पावण] (१) पाना । प्राप्त करना ।

(२) ज्ञान प्राप्त करना । अनुभव करना । जानना । समझना । उ०—समरथ सुभ जो पावई पीर पराई । —तुलसी ।

(३) भोजन करना । आहार करना । जीमना । उ०—तेहि छन तहँ शिष्ट पावत देखा । पलना निकट गई तहँ पेखा । —विश्राम । विशेष—दे० “पाना” ।

संज्ञा पुं० (१) दूसरे से रुपया आदि पाने का हक । लहना । (२) रुपया जो दूसरे से पाना हो । रकम जो दूसरे से वसूल करनी हो । जैसे, देना पावना ठीक करके हिसाब साफ कर दो । (वाजाळ)

पावनि—संज्ञा पुं० [सं०] पवन के पुत्र हनुमान आदि ।

पावनी—वि० स्त्री० [सं०] पवित्र करनेवाली । शुद्ध या साफ करनेवाली । (२) पवित्र ।

संज्ञा स्त्री० (१) हरीतकी । हड़ । (२) तुलसी । (३) गाय । (४) गंगा । (५) शाकद्वीप की एक नदी का नाम (मत्स्य पु०) ।

पावमानी—संज्ञा स्त्री० [सं०] वेद की एक ऋचा ।

पाव सुहर—संज्ञा स्त्री० [हिं० पाव = चौथाई + सुहर] शाहजहाँ के समय का सोने का एक सिक्का जिसका मूल्य एक अशरफी या एक सुहर का चौथाई होता था ।

पावली—संज्ञा स्त्री० दे० “पायल” ।

पावली—संज्ञा स्त्री० [हिं० पाव = चौथाई + ला (प्रत्य०)] एक रूपए का चौथाई सिक्का । चार आने का सिक्का । चवन्नी ।

पावसा—संज्ञा स्त्री० [सं० प्रावृष, प्रा० पावस] वर्षा काल । सावन भादों का महीना । बरसात । उ०—गिरिधारन पावस आवत ही वक्रचंद्र अकाश उड़ान लगे । धुरवा सब ओर दिखान लगे मोरवान के शोर सुवान लगे ।—गोपाल ।

पावा—संज्ञा पुं० [सं० पाद, हिं० पाँव] चारपाई, पलंग, चौकी, कुर्सी आदि का पाया । दे० “पाया” ।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्राचीन गाँव जो वैशाली से पश्चिम और गंगा के उत्तर था । यहाँ बुद्ध भगवान कुछ दिन ठहरे थे और बुद्ध के निर्वाण पीछे पावा के लोगों को भी बुद्ध के शरीर का कुछ अंश मिला था जिसके ऊपर उन्होंने एक स्तूप उठाया था । यह गाँव अब भी इसी नाम से पुकारा जाता है और गोरखपुर जिले में गंडक नदी से ६ कोस पर है । गोरखपुर से यह बीस कोस उत्तर-पश्चिम पड़ता है ।

पावी—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की मैना जिसकी लंबाई १७-१८ अंगुल होती है । यह ऋतु के अनुसार रंग बदला करती है और पंजाब के अतिरिक्त सारे भारत में पाई जाती है । यह प्रायः ४ या ५ अंडे देती है ।

पाश—संज्ञा पुं० [सं०] (१) रस्सी, तार, तंत आदि के कई प्रकार के फेरों और सरकनेवाली गाँठों आदि के द्वारा बनाया हुआ घेरा जिसके बीच में पड़ने से जीव बँध जाता है और कभी कभी बंधन के अधिक कस कर बैठ जाने से मर भी जाता है । फंदा । फाँस । बंधनजाल ।

विशेष—प्राचीन काल में पाश का व्यवहार युद्ध में होता था और यह अनेक प्रकार का बनता था । इसे शत्रु के ऊपर

डालकर उसे बाँधते या अपनी ओर खींचते थे । अग्नि पुराण में लिखा है कि “पाश दस हाथ का होना चाहिए, गोल होना चाहिए । उसकी डोरी, सूत, गूँ, मूँज, ताँत, चमड़े आदि की हो । तीस रस्सियाँ होनी चाहिए इत्यादि” । वैशंपायनीय धनुर्वेद में जिस प्रकार के पाश का उल्लेख है वह गला कसकर मारने के लिये उपयुक्त प्रतीत होता है । उसमें लिखा है कि पाश के अवयव सूक्ष्म लोहे के त्रिकोण हों, परिधि पर सीसे की गोलियाँ लगी हों । युद्ध के अतिरिक्त अपराधियों को प्राणदंड देने में भी पाश का व्यवहार होता था, जैसे कि आज कल भी फाँसी में होता है । पाश द्वारा बंध करनेवाले चाँडाल पाशी कहलाते थे जिनकी संतान आजकल उत्तरीय भारत में पासी कहलाते हैं ।

(२) पशु पक्षियों को फँसाने का जाल या फंदा ।

विशेष—जिस प्रकार किसी शब्द के आगे ‘जाल’ शब्द रखकर समूह का अर्थ निकालते हैं उसी प्रकार सूत के आकार की वस्तुओं के सूचकशब्दों के आगे ‘पाश’ शब्द रहने से समूह का अर्थ लेते हैं, जैसे, केशपाश । कर्ण के आगे पाश शब्द से उत्तम या शोभित अर्थ समझा जाता है । जैसे, कर्णपाश अर्थात् सुंदर कान ।

(३) बंधन । फँसानेवाली वस्तु । उ०—प्रभु हो मोह पाश क्यों छूटे । — तुलसी ।

विशेष—शैव दर्शन में छः पदार्थ कहे गए हैं—पति, विद्या, अविद्या, पशु, पाश और कारण । पाश चार प्रकार के कहे गए हैं—मल, कर्म, माया और रोध शक्ति । (सर्व दर्शन संग्रह) । कुलार्णव तंत्र में ‘पाश’ इतने बतलाए गए हैं—घृणा, शंका, भय, लज्जा, जगुप्सा, कुल, शील और जाति । मतलब यह कि तान्त्रिकों को इन सब का त्याग करना चाहिए ।

(४) फतिल ज्योतिष में एक योग जो उस समय माना जाता है जब सब राशि ग्रहपंचक में रहती हैं ।

पाशक—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का खेल या जूआ । पासा । चौपड़ ।

पाशकेरली—संज्ञा पुं० [सं० पाश + केरल (देश)] ज्योतिष की एक गणना जो पासे फेंक कर की जाती है । यूनान, फारस आदि पश्चिमी देशों में पुराने समय में इसका बहुत प्रचार था । वहीं से शायद दक्षिण भारत के केरल प्रदेश में यह विद्या आई हो ।

पाशधर—संज्ञा पुं० [सं०] वरुण देवता (जिनका अस्त्र पाश है) ।

पाशमुद्रा—संज्ञा स्त्री० [सं०] तान्त्रिकों की एक मुद्रा जो दहने और वाएँ हाथ की तर्जनी को मिलाकर प्रत्येक के सिरे पर अँगूठा रखने से बनती है ।

पाशव—वि० [सं०] (१) पशुसंबंधी । पशुओं का । (२) पशुओं का सा । जैसे, पाशव व्यवहार ।

पाशवान्—वि० [सं०] [स्त्री० पाशवती] पाशवाला । पाशधारी । संज्ञा पुं० वरुण ।

पाशहस्त—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वरुण । (२) शतभिषा नक्षत्र ।

पाशा—संज्ञा पुं० [तु० फा० पादशाह] तुर्की सरदारों की उपाधि ।

पाशिक—संज्ञा पुं० [सं०] फंदे या जाल में चिड़िया फँसानेवाला बहेलिया ।

पाशित—संज्ञा पुं० [सं०] बँधा हुआ । पाशबद्ध ।

पाशी—वि० [सं० पाशिन] (१) पाशवाला । पाश धारण करनेवाला ।

संज्ञा पुं० (१) वरुण । (२) व्याध । बहेलिया । (३)

यम । (४) प्राणदंड पाए हुए अपराधियों के गले में फाँसी का फंदा लगानेवाला चाँडाल ।

पाशुक—वि० [सं०] पशुसंबंधी ।

पाशुपत—वि० [सं०] (१) पशुपति संबंधी । शिवसंबंधी । (२) पशुपति का ।

संज्ञा पुं० (१) पशुपति या शिव का उपासक । एक प्रकार का शैव । (२) शिव का कहा हुआ तंत्रशास्त्र । (३) अथर्व वेद का एक उपनिषद् । (४) वक्र पुष्प । अगस्त का फूल ।

पाशुपत दर्शन—संज्ञा पुं० [सं०] एक सांप्रदायिक दर्शन जिसका उल्लेख सर्वदर्शन संग्रह में है । इसे नकुलीश पाशुपत दर्शन भी कहते हैं ।

विशेष—इस दर्शन में जीव मात्र की ‘पशु’ संज्ञा है । सब जीवों के अधीश्वर पशुपति शिव हैं । भगवान् पशुपति ने बिना किसी करण, साधन या सहायता के इस जगत् का निर्माण किया, इससे वे स्वतंत्र कर्ता हैं । हम लोगों से भी जो काय्य होते हैं उनके भी मूल कर्ता परमेश्वर ही हैं, इससे पशुपति सब कार्यों के कारण स्वरूप हैं । इस दर्शन में मुक्ति दो प्रकार की कही गई है—एक तो सब दुःखों की अत्यंत निवृत्ति, दूसरी पारमैश्वर्य प्राप्ति । और दर्शनिकों ने दुःख की अत्यंत निवृत्ति को ही मोक्ष कहा है । किंतु पाशुपत दर्शन कहता है कि केवल दुःख की निवृत्ति ही मुक्ति नहीं है, जब तक साथ ही पारमैश्वर्य प्राप्ति भी न हो तब तक केवल दुःख निवृत्ति से क्या ? पारमैश्वर्य मुक्ति दो प्रकार की शक्तियों की प्राप्ति है— दृक् शक्ति और क्रिया शक्ति । दृक् शक्ति द्वारा सब वस्तुओं और विषयों का ज्ञान हो जाता है, चाहे वे सूक्ष्म से सूक्ष्म, दूर से दूर, व्यवहित से व्यवहित हों । इस प्रकार सर्वज्ञता प्राप्त हो जाने पर क्रिया शक्ति सिद्ध होती है जिसके द्वारा चाहे जिस बात की इच्छा हो वह तुरंत हो जाती है । उसकी इच्छा की देर रहती है । इन दोनों शक्तियों का सिद्ध हो जाना ही पारमैश्वर्य मुक्ति है ।

पूर्ण ब्रह्म आदि दार्शनिकों तथा भक्तों का यह कहना है कि भगवद्वास्तव प्राप्ति ही मुक्ति है बिडंबना मात्र है । दासत्व

किसी प्रकार का हो बंधन ही है, उसे मुक्ति (छुटकारा) नहीं कह सकते ।

इस दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण माने गए हैं । धर्मार्थसाधक व्यापार को विधि कहते हैं । विधि दो प्रकार की होती है—व्रत और द्वार । भस्मस्नान भस्मशयन, जप, प्रदक्षिणा, उपहार आदि को व्रत कहते हैं । शिव का नाम लेकर ह हा कर हसना, गाल बजाना, गाना, नाचना, जप करना आदि उपहार हैं । व्रत सब के सामने न काना चाहिए, गुप्तस्थान में करना चाहिए । 'द्वार' के अंतर्गत क्राधन, स्पंदन, मंदन, शृंगारण, अवितस्करण और अवितद्भाषण हैं । सुप्त न होकर भी सुप्त के सेलक्षण-प्रदर्शन को क्राधन, जैसे हवा के धक्के से शरीर झोंके खाता है उसी प्रकार झोंके खिलाने को स्पंदन, उन्मत्त के समान लड़खड़ाते हुए पैर रखने को मंदन, सुंदरी स्त्री को देख वास्तव में कामार्त न होकर कामुकों की सी चेष्टा करने को शृंगारण, अविवेकियों के समान लोक निर्दिष्ट कर्मों की चेष्टा को अवितस्करण तथा अर्थहीन और व्याहत शब्दों के उच्चारण को अवितद्भाषण कहते हैं । चित्त द्वारा आत्मा और ईश्वर के संबंध का नाम योग है ।

पाशुपतरस—संज्ञा पुं० [सं०] एक रसौषध जो इस प्रकार तैयार होती है—एक भाग पारा, दो भाग गंधक, तीन भाग लोह-भस्म और तीनों के बराबर विष लेकर चीते के काढ़े में भावना दे, फिर उसमें ३२ भाग धतूरे के बीज का भस्म मिलावे । इसके उपरांत सोंठ, पीपल, मिर्च, लौंग, तीन तीन भाग, जावित्री और जायफल आधा आधा भाग, तथा विट्, सैन्धव, सामुद्र, उद्धिद, सोंचर, सजी, एरंड (अंडी), इमली की छाल का भस्म, चिचड़ीचार, अश्वत्थचार, हड़, जवाखार, हींग, जीरा, सोहागा, सब एक एक भाग मिलाकर नीबू के रस में भावना दे और घुँवची के बराबर गोली बना ले । भिन्न भिन्न अनुपान के साथ सेवन करने से अग्निमंद, अपच, और हृदय के रोग दूर होते हैं तथा हैजे में तुरंत फायदा होता है । तालमूखी के रस में देने से उदरामय, मोचरस के साथ अतीसार, मट्टे और सेंधा नमक के साथ ग्रहणी इत्यादि रोग दूर होते हैं । (रसेंद्रसार संग्रह)

पाशुपतास्त्र—संज्ञा पुं० [सं०] शिव का शूलास्त्र जो बड़ा प्रचंड था । अर्जुन ने बहुत तप करके इसे प्राप्त किया था ।

पाशुबंधक—संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जहाँ यज्ञ का वलिपशु बांधा जाता था ।

पाश्चात्य—वि० [सं०] (१) पीछे का । पिछला । (२) पीछे होनेवाला । (३) पश्चिम दिशा का । पश्चिम में रहनेवाला । पश्चिम संबंधी ।

२८८

पाषंड—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वेद का मार्ग छोड़कर अन्य मत ग्रहण करनेवाला । वेद विरुद्ध आचरण करनेवाला । झूठा मत माननेवाला । मिथ्याधर्मी ।

विशेष—बौद्धों और जैनों के लिये प्रायः इस शब्द का व्यवहार हुआ है । कौलिक आदि भी इस नाम से पुकारे गए हैं । पुराणों में लिखा है कि पाषंड लोग अनेक प्रकार के वेश बनाकर इधर उधर घूमा करते हैं । पद्मपुराण में लिखा है कि “पाषंडों का साथ छोड़ना चाहिए और भले लोगों का साथ सदा करना चाहिए” । मनु ने भी लिखा है कि “कितव, जुआरी, नटवृत्तिजीवी, क्रूरचेष्ट, और पाषंड इनको राज्य से निकाल देना चाहिए । ये राज्य में रहकर भले मानुसों को कष्ट दिया करते हैं ।”

(२) झूठा आडंबर खड़ा करनेवाला । लोगों को ठगने और धोखा देने के लिये साधुओं का सा रूप रंग बनानेवाला । धर्मध्वजी । ढोंगी आदमी । कपट वेशधारी ।

(३) संप्रदाय । मत । पंथ ।

विशेष—अशोक के शिलालेखों में इस शब्द का व्यवहार इसी अर्थ में प्रतीत होता है । यह अर्थ प्राचीन जान पड़ता है, पीछे इस शब्द को बुरे अर्थ में लेने लगे । ‘पाषंड’ का विशेषण ‘पांडी’ बनता है । इससे इसका संप्रदायवाचक होना सिद्ध होता है । नए नए संप्रदायों के खड़े होने पर शुद्ध वैदिक लोग सांप्रदायिकों को तुच्छ दृष्टि से देखते थे ।

पाषंडी—वि० [सं० पाषंडिन्] (१) पाषंड । वेदाचार परित्यागी । वेद विरुद्ध मत और आचरण ग्रहण करनेवाला । झूठा मत माननेवाला ।

विशेष—मनुस्मृति में लिखा है कि पाषंडी, विकर्मस्थ (निषिद्ध कर्म से जीविका करनेवाले), वैद्यालप्रतिक, हेतुवाद द्वारा वेदादि का खंडन करनेवाले, वक्रव्रती यदि अतिथि हो कर आवें तो वाणी से भी उनका सत्कार न करे । अवैदिक लिंगी (वेदविरुद्ध सांप्रदायिक चिह्न धारण करनेवाले) आदि को पाषंडी कहने में तो स्मृति पुराण आदि एक मत हैं, पर पद्मपुराण आदि घोर सांप्रदायिक पुराणों में कहीं शैव और कहीं वैष्णव भी पाषंडी कहे गए हैं । जैसे पद्मपुराण में लिखा है कि “ जो कपाल भस्म और अस्थि धारण करें, जो शंख, चक्र, ऊर्ध्वपुंड्रादि न धारण करें, जो नारायण को शिव और ब्रह्मा के ही बराबर समझें...वे सब पाषंडी हैं” । दे० “पाषंड” ।

(२) वेश बना कर लोगों को धोखा देने और ठगनेवाला धर्म आदि का झूठा आडंबर खड़ा करनेवाला । ढोंगी । धूर्त ।

पाषक—संज्ञा पुं० [सं०] पैर में पहनने का एक गहना ।

पाषर—सं० स्त्री० दे० “पाखर” ।

पाषाण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पत्थर । प्रस्तर । शिला ।

(२) पन्ने और नीलम का एक दोष । (रत्न परीक्षा) ।

(३) गंधक ।

पाषाणगर्दभ—संज्ञा पुं० [सं०] हनुसंधिजात एक जुद्ध रोग । दाढ़ सूजने का रोग ।

पाषाणगैरिक—संज्ञा पुं० [सं०] गेरू । गिरिमाटी ।

पाषाणचतुर्दशी—संज्ञा स्त्री० [सं०] अग्रहायण शुक्ला चतुर्दशी । अग्रहन सुदी चौदस । (तिथितत्त्व) ।

विशेष—इस तिथि को स्त्रियाँ गौरी का पूजन करके रात को पाषाण (पत्थर के ढोंकों) के आकार की बड़ियाँ बनाकर खाती हैं ।

पाषाणभेद—संज्ञा पुं० [सं०] एक पौधा जो अपनी पत्तियों की सुंदरता के लिये बगीचों में लगाया जाता है । पखान-भेद । पथरचूर । पथरचट ।

विशेष—वैद्यक में पखानभेद भारी, चिकना तथा सूत्र कृच्छ्र, पथरी, दाद, वात और अतीसार को दूर करनेवाला माना जाता है ।

पाषाणभेदन—संज्ञा पुं० [सं०] पाषाणभेद ।

पाषाणभेदी—संज्ञा पुं० [सं० पाषाणभेदिन्] पखानभेद । पथर-चूर ।

पाषाण रोग—संज्ञा पुं० [सं०] अश्मरी । पथरी ।

पाषाणसंभव वल्ली—संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रवाल । मूँगा ।

पाषाणांतक—संज्ञा पुं० [सं०] अश्मंतक वृक्ष ।

पाषाणी—संज्ञा स्त्री० [सं०] पत्थर का टुकड़ा जो तौलने के काम में आवे । बाट । बटखरा ।

पासंग—संज्ञा पुं० [फा०] (१) तराजू की डंडी बराबर न होने पर उसे बराबर करने के लिये उठे हुए पल्ले पर रखा हुआ पत्थर या और कोई बौद्ध । पसंघा ।

मुहा०—(किसीका) पासंग भी न होना = किसीके मुकाबले में बहुत कम या कुछ न होना । किसीके पासंग बराबर न होना = दे० “पासंग भी न होना ।”

(२) तराजू की डौंडी बराबर न होना । डौंडी या पल्लों का अंतर ।

पास—संज्ञा पुं० [सं० पार्श्व] (१) बगल । ओर । तरफ । उ०—(क) बेंत पानि रचक चहुँ पासा । चले सकल मन परम हुलासा ।—तुलसी । (ख) अति-उत्तुंग जलनिधि चहुँ पासा ।—तुलसी । (२) सामीप्य । निकटता । समीपता । जैसे, (क) उनके पास में भी तो किसी को रहना चाहिए । (ख) बुरे लोगों का पास ठीक नहीं । (ग) उसके पास से हट जाओ ।

यौ०—पास पड़ोस । आसपास ।

(३) अधिकार । कब्जा । रत्ता । पल्ला । (केवल ‘का’

‘में’ और ‘से’ विभक्तियों के साथ) जैसे, (क) जब आदमी के पास में धन नहीं रह जाता तब उसकी कोई नहीं सुनता । (ख) दे दो, तुम्हारे पास का क्या जाता है । (ग) हम क्या अपने पास से रुपया देंगे ।

अव्य०—(१) बगल में । निकट । समीप । नज़दीक । दूर नहीं । जैसे, (क) उसके पास जाकर बैठो । (ख) यहाँ से उसका घर पास ही पड़ता है ।

यौ०—आस पास = (१) अगल बगल । इधर उधर । समीप । जैसे, घर के आस पास कोई पेड़ नहीं है । (२) लगभग । करीब । जैसे, ठीक देना नहीं मालूम, १० के आस पास होगा ।

मुहा०—(किसी स्त्री के) पास आना या जाना = समागम करना । संयोग करना । पास पास = (१) एक दूसरे के समीप । परस्पर निकट । जैसे, दोनों पुस्तकें पास पास रखी हैं । (२) लगभग । (किसी के) पास बैठना = (१) बगल में बैठना । निकट बैठना । (२) संगत में रहना । सहबत में रहना । साथ करना । जैसे, भले आदमियों के पास बैठने से शिष्टता आती है । (३) पहुँचना । फल या दशा को प्राप्त होना । जैसे, अब अपने किए के पास बैठ, रोता क्या है ? पास बैठनेवाला = (१) संगत में रहनेवाला । साथ करनेवाला । मेल जेल रखनेवाला । (२) मुसाहिव । पार्श्ववर्ती । (किसी स्त्री के) पास रहना = समागम करना । संयोग करना । पास फटकना = निकट जाना । जैसे, तुम उसके पास न फटकने पाओगे (विशेषतः निषेध वाक्यों में) ।

(२) अधिकार में । कब्जे में । रत्ता में । पहले । जैसे, तुम्हारे पास कितने रुपए हैं ? (३) निकट जाकर, संबोधन करके । किसीके प्रति । किसीसे । उ०—(क) माँगत है प्रभु पास दास यह बार बार कर जोरी ।—सूर । (ख) सोई बात भई, बहु बाज्यो नाहिं सोच पर्यो, पृथ्वी प्रभु पास याकी न्यूनता बताइए ।—प्रियादास ।

संज्ञा पुं० [अ०] कहीं जाने का अधिकार-चिह्न या पत्र । वह टिकट या आज्ञापत्र जिसे लेकर कहीं बरोकटोक जा सकें । गमनाधिकार पत्र । राहदारी का परवाना । जैसे, (क) उन्हें हिंदुस्तान से बाहर जाने का पास मिल गया । (ख) रेलवे के नौकरों को रेल में आने जाने के लिये पास मिलता है ।

वि० (१) पार किया हुआ । तै किया हुआ । निकल गया हुआ । जैसे, ट्रेन स्टेशन पास कर गई । (२) किसी अवस्था, श्रेणी, कक्षा आदि के आगे निकला हुआ । उन्नति क्रम में कोई निर्दिष्ट स्थिति पार किया हुआ । किसी दर्जे के आगे गया हुआ । जैसे, आठवाँ दर्जा तुमने कब पास किया ? (३) जाँच या परीक्षा में ठीक उतरा

हुआ। उत्तीर्ण। सफलीभूत। इस्तहान में कामयाब। फल का उलटा। जैसे, (क) वह इस साल इस्तहान में पास हो जायगा। (ख) उन्होंने सब लड़कों को पास कर दिया।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(४) स्वीकृत। मंजूर। जैसे, (क) सभा ने प्रस्ताव पास कर दिया। (ख) कलक्टर ने बिल पास कर दिया। (२) जारी। चलता। प्रचलित।

*संज्ञा पुं० दे “पाश”।

*संज्ञा पुं० दे “पासा”।

संज्ञा पुं० [सं० प्रास = बिछाना, डालना] आर्वे के ऊपर उपले जमाने का काम।

संज्ञा पुं० [देश०] भेड़ों के बाल कतरने की कैंची का दस्ता।

पासना—क्रि० अ० [सं० पयस् = दूध] इस अवस्था में होना कि धनें में दूध उतर आवे। धनें में दूध आना। जैसे, भैंस देर में पासती है। (ग्वाले)।

पासनी—संज्ञा स्त्री० [सं० प्राशन] अन्नप्राशन। बच्चे को पहले पहल अनाज चटाने की रीति। उ०—प्रगट पासनी में छवि छाई। भुव भर सहित कृपान उठाई।—लाल।

विशेष—अन्नप्राशन के दिन बालक के सामने अनेक वस्तुएँ रखकर शकुन देखते हैं कि किस वस्तु पर उसका पहले हाथ पड़ता है। उससे यह समझा जाता है कि वही उसकी जीविका होगी।

पासबंद—संज्ञा पुं० [हिं० पास + फा० बंद] दरी बुनने के करघे की वह लकड़ी जिससे बै बँधी रहती है और जो नीचे ऊपर जाया करती है।

पास-बुक—संज्ञा स्त्री० [अंग०] (१) वह पुस्तक जिसमें किसी प्रकार के लेन देन का हिसाब किताब हो। (२) वह वही या किताब जिसमें सौदागर उधार ली गई चीजों के नाम लिखकर खरीदार के पास दस्तखत कराने के लिये भेजता है। (३) वह किताब जिसमें किसी बंक का हिसाब किताब रहता है।

पासमान*—संज्ञा पुं० [हिं० पास + मान् (प्रत्य०)] पास रहने-वाला दास। पारवर्ती। उ०—ताकी रानी नाम की रत्नावली प्रसिद्ध। पासमान ताकी रही गद्दी भक्ति तजि सिद्ध।—रघुराज।

पासवर्ची * दे० “पारवर्ची”।

पाससार * संज्ञा पुं० दे० “पासासार”।

पासा—संज्ञा पुं० [सं० पाशक, प्रा० पासा] (१) हाथीदाँत या हड्डी के उँगली के बराबर छःपहले डुकड़े जिनके पहलों पर बिंदिया बनी होती हैं और जिन्हें चौसर के खेलने में

खेलाड़ी बारी बारी फेंकते हैं। जिस बल से पड़ते हैं उसीके अनुसार बिसात पर गोठियाँ चली जाती हैं और अंत में हार जीत होती है। उ०—राजा करै सो न्याय। पासा पड़े सो दाँव।

मुहा०—(किसी का) पासा पड़ना = (१) पासे का किसीके अनुकूल गिरना। जीत का दाँव पड़ना। बाजी मारने का दाँव पड़ना। (२) भाग्य अनुकूल होना। किसमत जोर करना। पासा पलटना = (१) जिसके अनुकूल पहले पासा गिरता रहा हो उसके प्रतिकूल गिरना। पासे का इस प्रकार पड़ने लगना कि हार होने लगे। दाँव फिरना। (२) अच्छे से मंद भाग्य होना। जमाना बदलना। दिन का फेर होना। (३) युक्ति या तद्वार का उलटा फल होना। पासा फेंकना = (१) अनुकूल या प्रतिकूल दाँव निश्चित करने के लिये पासे का गिराना। भाग्य की परीक्षा करना। किस्मत आजमाना। ऐसे काम में हाथ डालना जिसका फल कुछ भी निश्चित न हो।

(२) वह खेल जो पासों से खेला जाता है। चौसर का खेल। विशेष दे०—“चौसर”। (१) मोटी बत्ती के आकार में लाई हुई वस्तु। कामी। गुल्ली। जैसे, सोने के पासे। (४) पीतल या काँसे का चौखूँटा लंबा ठप्पा जिसमें छोटे छोटे गोल गड्ढे बने होते हैं। घुँघरू या गोल घुँडी बनाने में सुनार सोने के पत्तर को इसीपर रख कर ठोंकते हैं जिससे वह कटोरी के आकार का गहरा हो जाता है। (सुनार)।

पासासार—संज्ञा पुं० [सं० पाशक, हिं० पासा + सारि = गोटी] (१) पासे की गोटी। (२) पासे का खेल।

पासिक*—संज्ञा पुं० [सं० पाश] पाश। फंदा। जाल। बंधन। उ०—खैचत लोभ दसौं दिसि को महि, मोह महा हत पासिक डारे।—केशव।

पासिका—संज्ञा स्त्री० [सं० पाश] पाश। फंदा। जाल। बंधन। उ०—भुव तेग, सुनैन के वान लिये मति बेसरि की संग पासिका है। बहु भावन की परकासिका है तुव नासिका धीर विनासिका है।—मतिराम।

पासी—संज्ञा पुं० [सं० पाशिन, पाशी] (१) जाल या फंदा डाल कर चिड़िया पकड़नेवाला। (२) एक नीच और अस्पृश्य जाति जो मथुरा से पूरब की ओर पाई जाती है। इस जाति के लोग सूअर पालते तथा कहीं कहीं ताड़ पर से ताड़ी निकालने का काम करते हैं। प्राचीन काल में इनके पूर्वज प्राणदंब पाये हुए अपराधियों के गले में फाँसी का फंदा लगाते थे, इसीसे यह नाम पड़ा।

संज्ञा स्त्री० [सं० पाश, हिं० पास + ई (प्रत्य०)] (१) फंदा। फाँस। पाश। फाँसी। (२) घास बाँधने की जाली। (३) घोड़े के पैर बाँधने की रस्सी। पिछाड़ी।

पासुरी * संज्ञा स्त्री० दे० “पसली”।

पाहँ*—अव्य० [सं० पार्व, प्रा० पास, पाह] (१) निकट।

समीप । पास । (२) पास जाकर संबोधन करके । किसीके प्रति । किसीसे । उ०—जाइ कहै उन पाहँ सँदेसु ।—जायसी ।

पाह-संज्ञा स्त्री० [हि० पाहन] एक प्रकार का पत्थर जिससे लौंग फिटकरी और अफीम को घिसकर आँख पर चढ़ाने का लेप बनाते हैं ।

पाहन*-संज्ञा पुं० [सं० पाषाण, प्रा० पाहाण] पत्थर । प्रस्तर । उ०—(क) सहिमा यह न जलधि कै बरनी । पाहन गुन न कपिन्ह कै करनी ।—तुलसी । (ख) पाहन ते हरि कठिन कियो हिय कहत न कछु बनि आई ।—सूर ।

पाहरू*-संज्ञा पुं० [हि० पहर, पहरा] पहरा देनेवाला । पहर-दार । चौकसी करनेवाला । रखवाली करनेवाला । उ०—(क) नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट । लोचन निज पद-यंत्रिका प्रान जाहिं केहि बाट ।—तुलसी । (ख) जागत कामी चिंतित चकोर, बिरही बिरहिन पाहरू चोर ।—तुलसी ।

पाहा*-संज्ञा पुं० [सं० पय] पान की बेलों या किसी ऊँची फसल के खेतों के बीच का रास्ता । मेंड़ ।

पाहात-संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मदार वृक्ष । शहतूत का पेड़ ।

पाहि*-अव्य० [सं० पार्व, प्रा० पास, पाह] (१) पास । निकट । समीप । (२) पास जाकर संबोधन करके । किसीके प्रति । किसीसे । उ०—कोउ न बुझाई कहै नृप पाहीं । ये बालक, अस हठ भल नाहीं ।—तुलसी ।

पाहि-एक संस्कृत पद जिसका अर्थ है 'रक्षा करो'—'बचाओ' । उ०—पाहि पाहि ! रघुवीर गुसाईं ।—तुलसी ।

पाहीं*-अव्य० दे० "पाहिं" ।

पाही-संज्ञा स्त्री० [हि० पाह] वह खेती जिसका किसान दूसरे गाँव में रहता हो ।

पाहुँच*-संज्ञा स्त्री० दे० "पहुँच" । उ०—आपनी आपनी भाँति सब काहु कही है । मंदोदरी, महोदर, मालिवान, महामति । राजनीति पाहुँच जहाँ लौं जाकी रही है ।—तुलसी ।

पाहुना-संज्ञा पुं० [सं० प्राघूर्ण, प्राघुण = अतिथि । अथवा सं० उप० प्र + आह्वयनेय = प्राह्वयनेय, पा० पाहुणेय्य] [स्त्री० पाहुनी] (१) अतिथि । मेहमान । अभ्यागत । संबंधी, इष्ट मित्र या कोई अपरिचित मनुष्य जो अपने यहाँ आ जाय और जिसका सत्कार उचित हो । (२) दामाद । जामाता ।

विशेष—इस शब्द की व्युत्पत्ति यों तो प्राघुण से सुगम जान पड़ती है । पर प्राघुण शब्द प्राघूर्ण से ही बनाया गया है । प्राघूर्ण शब्द का प्रयोग भी प्राचीन नहीं है । कथा सरित्सागर में प्राघुण और पंचतंत्र में प्राघूर्ण शब्द आया है । नैषध में भी प्राघुणिक मिलता है । कोशों में तो 'प्राघुण'

तक संस्कृत शब्दवत् आया है । पाली का "पाहुणेय" शब्द इन सब से पुराना प्रतीत होता है और उसकी व्युत्पत्ति वही है जो ऊपर दी गई है ।

पाहुनी-संज्ञा स्त्री० [हि० पाहुना] (१) स्त्री अतिथि । अभ्यागत स्त्री । मेहमान औरत । उ०—पाहुनी करि दै तनक मछो । हों लागी गृहकाज रसोई जसुमति विनय कह्यो ।—सूर । (२) अतिथि । मेहमानदारी । अतिथि का आदर सत्कार । खातिर तवाजा ।

पाहुरा*-संज्ञा पुं० [सं० प्राभृत, प्रा० पाहुड = भेंट] (१) भेंट । नजर । वह द्रव्य जो किसीके सम्मानार्थ उसे दिया जाय । (२) वह वस्तु या धन जो किसी संबंधी या इष्ट मित्र के यहाँ व्यवहार में भेजा जाय । सौगात ।

पाहु*-संज्ञा पुं० [?] मनुष्य । व्यक्ति । शख्स ।

पिंग-वि० [सं०] (१) पीला । पीलापन लिए भूरा । (२) भूरापन लिए लाल । तामड़ा । दीपशिखा के रंग का । (३) सुंवनी रंग का । भूरापन लिए पीला ।

यौ०—पिंगाण । पिंगास्य ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) मैसा । (२) चूहा । मूसा । (३) हरताल ।

पिंगकपिशा-संज्ञा स्त्री० [सं०] गुबरैले के आकार का एक कीड़ा जिसका रंग काला और तामड़ा होता है । तेल-पायी । तेलचटा ।

पिंगचक्षु-वि० [सं० पिंगचक्षुस्] जिसकी आंखें भूरे या तामड़े रंग की हों ।

संज्ञा पुं० नक्र नामक जलजंतु । नाक ।

पिंगल-वि० [सं०] (१) पीला । पीत । (२) भूरापन लिए लाल । दीपशिखा के रंग का । तामड़ा । (३) भूरापन लिए पीला । सुंवनी रंग का । ऊदे रंग का । संज्ञा पुं० (१) एक प्राचीन मुनि या आचार्य्य जिन्होंने छंदःसूत्र बनाए । ये छंदःशास्त्र के आदि आचार्य्य माने जाते हैं और इनके ग्रंथ की गणना वेदांगों में है । (२) उक्त मुनि का बनाया छंदःशास्त्र । (३) छंदःशास्त्र । (४) साठ संवत्सरों में से ५१ वाँ संवत्सर । (५) एक नाग का नाम । (६) भैरव राग का एक पुत्र अर्थात् एक राग जो सवेरे गाया जाता है । (७) सूर्य का एक पारिपारिवर्क या गण । (८) एक निधि का नाम । (९) बंदर । कपि । (१०) अग्नि । (११) नकुल । नेवला । (१२) एक यज्ञ का नाम । (१३) एक पर्वत का नाम । (१४) भारत के उत्तर-पश्चिम में एक देश (मारकंडेय पु०) । (१५) पीतल । (१६) हरताल । (१७) उल्लू पक्षी । (१८) उशीर । खस । (१९) रास्ना । (२०) एक प्रकार का फनदार सर्प ।

(२१) एक प्रकार का स्थावर विप ।

पिंगला—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हठ योग और तंत्र में जो तीन प्रधान नाड़ियाँ मानी गई हैं उनमें से एक ।

विशेष—इस नाड़ियों में से इला, पिंगला और सुषुम्ना ये तीन प्रधान मानी गई हैं । शरीर के बाएँ भाग में इला, मध्य भाग में सुषुम्ना और दक्षिण भाग में पिंगला नाड़ी होती है । ये तीनों क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और शिव स्वरूपिणी हैं । तंत्रसार में लिखा है कि इला नाड़ी में चंद्र और पिंगला नाड़ी में सूर्य का निवास रहता है । जिस समय पिंगला नाड़ी कार्य करती है उस समय सांस दहने नथने से निकलती है । प्राणतोषिणी में बहुत से कार्य गिनाए गए हैं जो यदि पिंगला नाड़ी के कार्यकाल में किए जायँ तो शुभ फल देते हैं—जैसे, कठिन विषयों का पठन पाठन, स्त्री प्रसंग, नाव पर चढ़ना, सुरापान, शत्रु के नगर ढाना, पशु बेचना, जुआ खेलना, इत्यादि ।

(२) लक्ष्मी का नाम । (३) गोरोचन । (४) शीशम का पेड़ । (५) एक चिड़िया । (६) राजनीति । (७) दक्षिण दिग्गज की स्त्री । (८) एक वेश्या का नाम जिसकी कथा भागवत में इस प्रकार है । विदेह नगर में पिंगला नाम की एक वेश्या रहती थी । उसने एक दिन एक सुंदर धनिक को जाते देखा । उसके लिये वह बेचैन हो उठी, पर वह न आया । रात भर वह उसीकी चिंता में पड़ी रही । अंत में उसने विचार किया कि मैं कैसी ना समझूँ कि पास में कांत रहते दूर के कांत के लिये मर रही हूँ । इस प्रकार उसे यह ज्ञान होगया कि आशा ही सारे दुःखों का मूल है । जिन्होंने सब प्रकार की आशा छोड़ दी है वेही सुखी हैं । उसने भगवान् के चरणों में चित्त लगाया और शांति प्राप्त की । महाभारत में भी जहाँ भीष्म ने युधिष्ठिर को मोक्ष धर्म का उपदेश किया है वहाँ इस पिंगला वेश्या का उदाहरण दिया है । सांख्यसूत्र में भी “विराशः सुखी पिंगलावत्” आया है ।

पिंगलिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बगला । बलाका । (२) मक्खी की जाति का एक कीड़ा जिसके काटने से जलन और सूजन होती है । (सुश्रुत) ।

पिंगलित—वि० [सं०] पिंगल वर्ण का ।

पिंगसार—संज्ञा पुं० [सं०] हरताल ।

पिंगस्फटिक—संज्ञा पुं० [सं०] गोमेदक मणि ।

पिंगा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गोरोचन । (२) हींग ।

(३) हलदी । (४) बसलोचन । (५) चंडिका देवी ।

(६) एक रक्तवाहिनी नाड़ी ।

संज्ञा पुं० [सं० पंगु] वह पुरुष जिसके पैर टेढ़े हों ।

पिंगाक्ष—वि० [सं०] [स्त्री० पिंगाक्षी] जिसकी आँखें भूरी या तामड़े रंग की हों ।

संज्ञा पुं० (१) शिव । (२) कुंभीर । नक्र नामक जल जंतु । नाक । (३) बिल्ली ।

पिंगाक्षी—संज्ञा स्त्री० [सं०] कुमार की अनुचरी एक मातृका ।

पिंगाश—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार की मछली जिसे बंगाल में पिंगाश कहते हैं । (२) गाँव का मुखिया या चौधरी । (३) चोखा सोना ।

पिंगाशी—संज्ञा स्त्री० [सं०] नील का पेड़ ।

पिंगी—संज्ञा स्त्री० [सं०] शमी का पेड़ ।

पिंगूरा—संज्ञा पुं० [हिं० पंग] रस्सियों के आधार पर टँगा हुआ खटोला जिसपर बच्चों को सुलाकर इधर से उधर कुलाते हैं । झूला पालना ।

पिंगेक्षण—संज्ञा पुं० दे० “पिंगाक्ष” ।

पिंगेश—संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि का एक नाम ।

पिंज—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बल । (२) वध । (३) एक प्रकार का कपूर ।

वि० व्याकुल ।

पिंजक—संज्ञा पुं० [सं०] हरताल ।

पिंजट—संज्ञा पुं० [सं०] आँख का मल । कीचड़ ।

पिंजड़ा—संज्ञा पुं० दे० “पिंजरा” ।

पिंजन—संज्ञा पुं० [सं०] वह धनुस् या कमान जिससे धुनियें रुई धुनते हैं । धुनकी ।

पिंजर—वि० [सं०] (१) पीला । पीतवर्ण का । (२) भूरापन लिए लाल रंग का । (३) ललाई या भूरापन लिए पीला । सुँधनिया जड़े रंग का ।

संज्ञा पुं० (१) पिंजड़ा । (२) शरीर के भीतर का हड्डियों का ठूँट । पंजर । (३) हरताल । (४) सोना । (५) नाग-केसर । (६) भूरापन लिए लाल रंग का घोड़ा ।

पिंजरक—संज्ञा पुं० [सं०] हरताल ।

पिंजरा—संज्ञा पुं० [सं० पंजर] लोहे, बाँस आदि की तोलियों का बना हुआ झाला जिसमें पक्षी पाले जाते हैं ।

पिंजरापोल—संज्ञा पुं० [हिं० पिंजरा + पोल = फाटक] वह स्थान जहाँ पालने के लिये गाय, बैल आदि चौपाए रखे जाते हों । पशुशाला । गोशाला ।

पिंजल—वि० [सं०] जिसका चेहरा पीला या फीका पड़ गया हो । व्याकुल । घबराया हुआ ।

संज्ञा पुं० (१) कुश पत्र । (२) हरताल । (३) अंबु-वेतस । जलबेत ।

पिंजली—संज्ञा स्त्री० [सं०] नोक सहित एक एक बीते के एक में बँधे हुए दो कुशों की जूरी जिसका काम श्राद्ध या होम में पड़ता है ।

पिंजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हलदी । (२) रुई ।

पिंजान-संज्ञा पुं० [सं०] स्वर्ण । सोना ।

पिंजारी-संज्ञा स्त्री० [देश०] त्रायमाण नाम की ओषधि ।
गुरबियानी ।

पिंजिका-संज्ञा स्त्री [सं०] रुई की पोली बत्ती जिससे कातने पर बढ़ बढ़कर सूत निकलते हैं । पूती ।

पिंजियारा-संज्ञा पुं० [सं० पिंजिका = रुई की बत्ती] रुई ओटनेवाला ।

पिंजिल-संज्ञा पुं० [सं०] रुई की बत्ती ।

पिंजूष-संज्ञा पुं० [सं०] कान की मैल । खूँट ।

पिंजेट-संज्ञा पुं० [सं०] नेत्रमल । आँख का कीचड़ ।

पिंड-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कोई गोल द्रव्यखंड । गोल मटोल टुकड़ा । गोला । (२) कोई द्रव्यखंड । ठोस टुकड़ा । डेला या लोंदा । लुगदा । थुवा । जैसे, मृत्तिका-पिंड, लोक-पिंड । (३) ढेर । राशि । (४) पके हुए चावल खीर आदि का हाथ से बाँधा हुआ गोल लोंदा जो श्राद्ध में पितरों को अर्पित किया जाता है ।

विशेष- पिता, पितामह आदि को पिंड दान देना पुत्रादिकों का प्रधान कर्त्तव्य माना जाता है । पिंडदान पाकर पित्रों का पुत्रात्म नरक से उद्धार होता है । इसीसे पुत्र नाम पड़ा । दे० “श्राद्ध” ।

यौ०—पिंडदान । सपिंड ।

(५) भोजन । आहार । जीविका । (६) शरीर । देह ।

मुहा०—पिंड छोड़ना = साथ न लगा रहना या संबंध न रखना ।
तंग न करना । पिंड पड़ना = पीछे पड़ना ।

पिंडकंद-संज्ञा पुं० [सं०] पिंडालु ।

पिंडक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बोल । मुर मक्की । (२) शिलारस । (३) पिंडालू ।

पिंडकर्कटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] विजायती पेठा ।

पिंडका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मसूरिका रोग । छोटी चेचक ।

पिंडकी-संज्ञा स्त्री० दे० “पंडुकी” ।

पिंडखजूर-संज्ञा स्त्री० [सं० पिंडखजूरे] एक प्रकार की खजूर जिसके फल मीठे होते हैं । इन फलों का गुड़ भी बनता है । खरक । सेंधी । विशेष- दे० “खजूर” ।

पिंडगमेल-संज्ञा पुं० [सं०] गंधारस ।

पिंडज-संज्ञा पुं० [सं०] सब अंगों के बनने पर गर्भ से सजीव निकलने वाला जंतु, जैसे, चमगादर, नेवला, कुत्ता, बिल्ली, बैल, मनुष्य इत्यादि । वह जंतु जो गर्भ से अंडे के रूप में न निकले, बने बनाए शरीर के रूप में निकले ।

पिंडतैलक-संज्ञा पुं० [सं०] शिलारस ।

पिंडद-संज्ञा पुं० [सं०] पिंडा देनेवाला ।

पिंडदान-संज्ञा पुं० [सं०] पितरों को पिंड देने का कर्म जो श्राद्ध में किया जाता है ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

पिंडपात-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पिंडदान । (२) भिक्षादान ।

पिंडपाद-संज्ञा पुं० [सं०] हाथी ।

पिंडपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अशोक का फूल । (२) जपा-पुष्प । अड़हुल । देवी फूल । (३) तगर का फूल ।

पिंडपुष्पक-संज्ञा पुं० [सं०] बथुआ शाक ।

पिंडफल-संज्ञा पुं० [सं०] कद्दू ।

पिंडफला-संज्ञा स्त्री० [सं०] कडुई तूँबी । कडुआ धीआ ।
तितलौकी ।

पिंडबीजक-संज्ञा पुं० [सं०] कनेर का पेड़ ।

पिंडमुस्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] नागरमोथा ।

पिंडमूल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गाजर । (२) शलजम ।

पिंडरी †—संज्ञा स्त्री० दे० “पिंडली” ।

पिंडरोग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रोग जो शरीर में घर किए हो । (२) कोढ़ ।

पिंडरोगी-वि० [सं०] रुग्ण शरीर का ।

पिंडली-संज्ञा स्त्री० [सं० पिंड] टाँग का ऊपरी पिछला भाग जो मांसल होता है । घुटने के पीछे के गट्ठे से नीचे का भाग जिसमें चढ़ाव उतार होता है ।

मुहा०—पिंडली हिलना = पैर थराना । भय से कँपकँपी होना ।

पिंडलेप-संज्ञा पुं० [सं०] पिंडदान में पिंड का एक विशेष भाग जो बृद्ध पितामह आदि तीन पुरखों को दिया जाता है ।

पिंडलोप-संज्ञा पुं० [सं०] पिंड देनेवाले वंशजा का लोप ।
निर्वंश ।

पिंडवाही-संज्ञा स्त्री० [?] एक प्रकार का कपड़ा । उ०—पठवहिं चीर आनि सब छोरी । सारी कंचुकि पहिरि पटोरी ।
कुँदिया और कंसिया राती । छायल पिंडवाही गुजराती ।
—जायसी ।

पिंडस-संज्ञा पुं० [सं०] भिक्षा द्वारा निर्वाह करनेवाला ।

पिंडा-संज्ञा पुं० [सं० पिंड] [स्त्री० अल्प० पिंडी] (१) ठोस या गीली वस्तु का टुकड़ा । (२) गोल मटोल टुकड़ा । डेला या लोंदा । लुगदा । जैसे, आटे का पिंडा, तंबाकू या मिट्टी का पिंडा । (३) मधु, तिल मिली हुई खीर आदि का गोल लोंदा जो श्राद्ध में पितरों को अर्पित किया जाता है ।

क्रि० प्र०—देना ।

यौ०—पिंडा पानी ।

मुहा०—पिंडा पानी देना = श्राद्ध और तर्पण करना ।

(४) शरीर । देह ।

मुहा०—पिंडा फीका होना = जी अच्छा न होना । तबीयत खराब होना । पिंडा धोना = स्नान करना । नहाना ।

(५) स्त्रियों की गुप्तेन्द्रिय । धरन ।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार की कस्तूरी ।
(२) वंशपत्नी । (३) इसपात । (४) हलदी ।
पिंडाकार-वि० [सं०] गोल बँधे हुए लोहे के आकार का ।
गोल ।

पिंडात-संज्ञा पुं० [सं०] शिलारस ।

पिंडान्वाहार्यक-संज्ञा पुं० [सं०] एक श्राद्ध जो पितृपिंडयज्ञ
के उपरान्त होता है ।

पिंडापा-संज्ञा स्त्री० [सं०] नाड़ीहिंगु ।

पिंडायस-संज्ञा पुं० [सं०] इसपात ।

पिंडार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का फल शाक ।
पिंडारा । (२) क्षणिक । (३) गोप । भैंस का
चरवाहा । (४) विक्रमक वृत्त ।

पिंडारक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक नाग का नाम । (२) वसु-
देव और रोहिणी के एक पुत्र का नाम । (३) एक
पवित्र नद का नाम । (४) एक प्राचीन तीर्थ जो गुज-
रात में समुद्रतट से कोस भर पर है । इसका उल्लेख
महाभारत, स्कंदपुराण और लिंगपुराण में है । कहा जाता
है कि इस तीर्थ में स्नान करके पांडव गोहत्या से छूटे थे ।

पिंडारा-संज्ञा पुं० [सं० पिंडार] एक शाक जो वैद्यक में शीतल
और पित्तनाशक माना गया है ।

संज्ञा पुं० दक्षिण की एक जाति जो बहुत दिनों तक
मध्यप्रदेश तथा और और स्थानों में लूटपाट किया करती
थी । दे० “पिंडारी” ।

पिंडारी-संज्ञा पुं० [देश०] दक्षिण की एक जाति जो पहले कर्णाट,
महाराष्ट्र आदि में बसती थी, और खेती करती थी, पीछे
अवसर पाकर लूट मार करने लगी और मुसलमान हो गई ।
मुसलमानों से पिंडारियों में यह भेद है कि ये गोमांस
नहीं खाते और देवताओं की पूजा और व्रत उपवास आदि
करते हैं । पिंडारी लोग बहुत दिनों तक मरहटों की सेवा
में थे और लूट पाट में उनका साथ देते थे, यहाँ तक कि
पानीपत की लड़ाई में मरहटों की सेना में उनके दो
सरदार अठारह हजार सवारों के साथ थे । पीछे मध्यप्रदेश
में बसकर पिंडारी चारों ओर घेर लूटपाट करने लगे और
प्रजा इनके अत्याचारों से तंग आ गई । जब सन् १८००
के पीछे ये अंगरेजी राज्य में भी उपद्रव करने लगे तब
लार्ड हेस्टिंग्स ने सेनाएँ भेजकर इनका दमन किया ।

पिंडालू-संज्ञा स्त्री० [सं० पिंड + आलु] (१) एक प्रकार का कंद या
सकरकंद जिसके ऊपर कड़े कड़े सूत से होते हैं । यह खाने
में भी मीठा होता है और उबालकर खाया जाता है ।
सुथनी पिंडिया । (२) एक प्रकार का शफला
या रतालू ।

पिंडाहा-संज्ञा स्त्री० [सं०] नाड़ी हिंगु ।

पिंडिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) छोटा पिंड । पिंडी । छोटा
गोल मटोल टुकड़ा । (२) छोटा ढेला या लोंदा ।
लुगदी । (३) पहिये के बीच का वह गोल भाग जिसमें
धुरी पहनाई रहती है । चक्रनाभि । (४) पिंडली ।
(५) खेताम्लिका । इमली । (६) वह पिंडी जिस
पर देव मूर्ति स्थापित की जाती है । वेदी ।

पिंडित-वि० [सं०] (१) पिंड के रूप में बँधा हुआ ।
दवाकर घनीभूत किया हुआ । (२) पिंडी के रूप में
लपेटा हुआ । संहत । (३) गुणित । गुणा किया हुआ ।
(४) शिलारस । (५) काँसा । (६) गणित ।

पिंडिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] अपराजिता लता ।

पिंडिया-संज्ञा स्त्री० [सं० पिंडिक] (१) गीली शुरशुरी वस्तु का
मुट्टी से बाँधा हुआ लंबोतरा टुकड़ा । लंबोतरी पिंडी ।
जैसे, मिठाई की पिंडिया, अचार की पिंडिया ।

क्रि० प्र०—बाँधना ।

(२) गुड़ की लंबोतरी भेली । मुट्टी । (३) लपेटे
हुए सूत, सुतली या रस्सी का छोटा गोला ।

क्रि० प्र०—करना । —बनाना ।

पिंडरिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मजीठ । (२) चौलाई का
शाक ।

पिंडिल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सेतु । (२) गणक ।

पिंडिला-संज्ञा स्त्री० [सं०] ककड़ी ।

पिंडी-संज्ञा स्त्री [सं०] (१) ठोस या गीली वस्तु का छोटा
गोल मटोल टुकड़ा । छोटा ढेला या लोंदा । लुगदी ।
जैसे, आटे की पिंडी, तंबाकू की पिंडी ।

क्रि० प्र०—बाँधना ।

(२) गीली या शुरशुरी वस्तु का मुट्टी में दवाकर बाँधा
हुआ लंबोतरा टुकड़ा । जैसे, खाँड़ की पिंडी, गुड़ की
पिंडी । (३) चक्रनेमि । पिंडिका (४) घीया । कड़ू ।
लौकी । (५) पिंड खजूर । (६) एक प्रकार का तगर फूल ।
हजारा तगर । (७) वेदी जिस पर वलिदान किया जाता
है । (८) कसकर लपेटे हुए सूत, रस्सी आदि का गोल
लच्छा ।

क्रि० प्र०—करना ।

पिंडीतक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मदन वृत्त । मैनफल । (२)
पिंडी तगर । हजारा तगर ।

पिंडीपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] अशोक वृत्त ।

पिंडीर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अनार । (२) समुद्रफेन ।

पिंडीशूर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) घर ही में बैठे बैठे बहादुरी
दिखानेवाला । बाहर आकर कुछ न कर सकनेवाला ।
(२) खाने में बहादुर । पेद्द ।

पिंडुरी, पिंडुली † *—संज्ञा स्त्री० दे० “पिंडली” ।

पिंडोल-संज्ञा स्त्री० [सं० पांडु] पीली मिट्टी । पोतनी मिट्टी ।

पिंडोलि-संज्ञा स्त्री० [सं०] थाली या पत्तल पर का अन्न जो खाने से बचा हो । जूठन ।

संज्ञा पुं० ऊँट ।

पिंशन-संज्ञा स्त्री० दे० “पेनशन” ।

पिअ-वि० दे० “प्रिय” ।

संज्ञा पुं० दे० “पिय” ।

पिअना †-क्रि० स० दे० “पीना” ।

पिअर †-वि० दे० “पीला” ।

पिअरवा †-वि० दे० “प्यारा” ।

संज्ञा पुं० दे० “पति” ।

पिअराई * †-संज्ञा स्त्री० [सं० पीत] पीलापन ।

पिअरिया †-संज्ञा पुं० [हिं० पिअर = पीला + इया (प्रत्य०)]

पीले रंग का बैल जो बहुत मजबूत और तेज चलनेवाला होता है ।

पिअरी †-संज्ञा स्त्री० [हिं० पीली] (१) हल्दी के रंग से रंगी हुई वह धोती जो विवाह के समय में वर वा वधू को पहनाई जाती है । (२) इसी प्रकार पीली रंगी हुई वह धोती जो प्रायः देहाती स्त्रियाँ गंगा जी को चढ़ाती हैं ।

क्रि० प्र०—चढ़ाना ।

वि० स्त्री० दे० “पीली” । इ०—पिअरी भीनी कँगूली सांवरे शरीर खुली बालकदामिनी ओढी मानो वारे बारिधर ।—तुलसी ।

पिआज-संज्ञा पुं० दे० “प्याज” ।

पिआना †-क्रि० स० दे० “पिलाना” ।

पिआनो-संज्ञा पुं० दे० “पियानो” ।

पिआर †-संज्ञा पुं० दे० “प्यार” ।

पिआरा †-वि० दे० “प्यारा” ।

पिआस †-संज्ञा स्त्री० दे० “प्यास” ।

पिआसा †-वि० दे० “प्यासा” ।

पिउ-संज्ञा पुं० [सं० प्रिय] पति । खाविंद ।

पिउनी †-संज्ञा स्त्री० दे० “पूनी” ।

पिक-संज्ञा पुं० [सं०] कोयल । कोकिल ।

यौ०—पिकबंधुर । पिकबल्लभ ।

विशेष—मीमांसा के भाष्यकार शबर स्वामी ने पिक, ताम-रस, नेम आदि कुछ शब्दों को म्लेच्छ भाषा से गृहीत बतलाया है ।

पिकप्रिया-संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ा जामुन ।

पिकबंधु, पिकबंधुर-संज्ञा पुं० [सं०] आम का पेड़ ।

पिकराग-संज्ञा पुं० [सं०] आम का पेड़ ।

पिकवल्लभ-संज्ञा पुं० [सं०] आम का पेड़ ।

पिकांग-संज्ञा पुं० [सं०] चातक पक्षी ।

पिकादा-संज्ञा पुं० [सं०] ताल-मखाना ।

पिकानंद-संज्ञा पुं० [सं०] वसंत ऋतु ।

पिकी-संज्ञा स्त्री० [सं०] कोयल ।

पिकेक्षण-संज्ञा स्त्री० [सं०] ताल-मखाना ।

पिघलना-क्रि० अ० [सं० प्र + गलन] (१) ताप के कारण किसी घन पदार्थ का द्रव रूप में होना । गरमी से किसी चीज का गल कर पानी सा हो जाना । द्रवीभूत होना । जैसे, मोम पिघलना, रांगा पिघलना, घी पिघलना । (२) चित्त में दया उत्पन्न होना । किसीकी दशा पर करुणा उत्पन्न होना । पसीजना । जैसे, महीनों तक प्रार्थना करने पर अब वे कुछ पिघले हैं ।

पिघलाना-क्रि० स० [हिं० पिघलना का प्रे०] (१) किसी कड़े पदार्थ को गरमी पहुँचाकर द्रव रूप में लाना । किसी चीज को गरमी पहुँचाकर पानी के रूप में लाना । (२) किसी के मन में दया उत्पन्न करना । दयार्द्र करना ।

पिचक †-संज्ञा स्त्री० दे० “पिचकारी” ।

पिचकना-क्रि० अ० [सं० पिच = दबना] किसी फूले या उभरे हुए तल का दब जाना । जैसे, गाल पिचकना । गिरने के कारण लोटे का पिचकना ।

पिचकवाना-क्रि० स० [हिं० पिचकाना का प्रे०] पिचकाने का काम दूसरे से कराना । किसी दूसरे को पिचकाने में प्रवृत्त करना ।

पिचका †-संज्ञा पुं० [हिं० पिचकना] बड़ी पिचकारी ।

पिचकाना-क्रि० स० [हिं० पिचकना का प्रे०] फूले या उभरे हुए तल को भीतर की ओर दवाना ।

पिचकारी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पिचकना] एक प्रकार का नलदार यंत्र जिसका व्यवहार जल या किसी दूसरे तरल पदार्थ को (नल में) खींचकर जोर से किसी ओर फेंकने में होता है ।

विशेष—पिचकारी साधारणतः बाँस, शीशे, लोहे, पीतल, टीन आदि पदार्थों की बनाई जाती है । इसमें एक लंबा खोखला नल होता है जिसमें एक ओर बहुत महीन छेद होता है और दूसरी ओर का मुँह खुला रहता है । इस नल में एक डाट लगा दी जाती है जिसके ऊपर उसे आगे पीछे हटाने या बढ़ाने के लिये दस्ते समेत कोई छड़ लगी रहती है । जब पिचकारी का बारीक छेदवाला सिरा पानी अथवा किसी दूसरे तरल पदार्थ में रखकर दस्ते की सहायता से भीतरवाली डाट को ऊपर की ओर खींचते हैं तब नीचे के बारीक छेद में से तरल पदार्थ उस नल में भर जाता है और जब पीछे से उस डाट को दबाते हैं तब नल में भरा हुआ तरल पदार्थ जोर से निकलकर कुछ दूरी पर जा गिरता है । साधारणतः इसका प्रयोग

होलियों में रंग अथवा महफिलों में गुलाब-जल आदि छोड़ने के लिये होता है परन्तु आजकल मकान आदि धोने और आग बुझाने के लिये बड़ी बड़ी पिचकारियों और ज़खम आदि धोने के लिये छोटी पिचकारियों का भी उपयोग होने लगा है। इसके अतिरिक्त इधर एक ऐसी पिचकारी चली है जिसके आगे एक छेददार सूई लगी होती है। इस पिचकारी की सूई को शरीर के किसी अंग में जरा सा चुभाकर अनेक रोगों की औषधों का रक्त में प्रवेश भी कराया जाता है।

क्रि० प्र०—चलाना ।—छोड़ना ।—देना ।—भारना ।
—लगाना ।

मुहा०—पिचकारी छूटना या निकलना = किसी स्थान से किसी तरल पदार्थ का बहुत वेग से बाहर निकलना। जैसे, सिर से लहू की पिचकारी छूटना। पिचकारी छोड़ना = किसी तरल पदार्थ को वेग से पिचकारी की मँति बाहर निकालना। जैसे, पान खाकर पीक की पिचकारी छोड़ना।

पिचकी*†—संज्ञा स्त्री० दे० “पिचकारी”।

पिचपिचा—वि० दे० “चिपचिपा”।

पिचपिचाना—क्रि० अ० [अनु०] वायु या किसी और चीज में से बराबर थोड़ा थोड़ा पदार्थ रसना। पानी निकलना।

पिचपिचाहट—संज्ञा स्त्री० [हिं० पिचपिचाना] गीले वा आदरहने का भाव। पिचपिचाने का भाव।

पिचरिया†—संज्ञा स्त्री० [हिं० पिचलना] एक प्रकार का छोटा बोलू जिसकी कोठी बहुत छोटी होती है।

पिचलना†—क्रि० अ० दे० “कुचलना”।

पिचवय*—संज्ञा पुं० [?] बटवृत्त। (डि००)

पिचु—संज्ञा पुं० [सं०] (१) रुई। (२) एक प्रकार का कोढ़। (३) एक तौल जो दो तौले के बराबर होती है। (४) एक असुर का नाम।

पिचुक—संज्ञा पुं० [सं०] मैनफल का वृत्त।

पिचुकिया†—संज्ञा स्त्री० [हिं० पिचकी] (१) छोटी पिचकारी। (२) वह गुफिया (कवा) जिसमें केवल गुड़ और सोंठ भरी जाती है।

पिचुका†—संज्ञा पुं० [हिं० पिचकना] (१) पिचकारी। (२) गोलगप्पा।

पिचुमर्द—संज्ञा पुं० [सं०] नीम का पेड़।

पिचुल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) झाड़ का पेड़ (डि००)। (२) समुद्रफल। (३) रुई। (४) गोताखोर।

पिचु—संज्ञा पुं० [?] १६ मासे की तौल। कर्ष।

पर्या०—अच्छ। तिंदुक। विडाल। परडक। सुवर्ण। हंसपद। उदुंबर।

पिचुका—संज्ञा पुं० दे० “पिचुका”।

पिचोतरसो—संज्ञा पुं० [सं० पंचोत्तरशत] एक सौ पांच की संख्या। सौ और पांच। (पहाड़ा)।

पिच्चर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वैद्यक के अनुसार आँख का एक रोग। (२) सीसा। राँगा।

पिच्चित—वि० [सं० पिच = दबना, पिचकना] पिचका हुआ। दबा हुआ। जो दबकर चिपटा हो गया हो।

संज्ञा पुं० (१) वह वस्तु जो दबकर पिचक गई हो, चिपटी हो गई हो। (२) सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का घाव या क्षत। यह शरीर के किसी भाग पर किसी भारी वस्तु की चोट लगने अथवा दाब पड़ने के कारण होता है। जो स्थान दबता है वह फैलकर चिपटा हो जाता है और प्रायः उस स्थान की हड्डी की भी यही दशा होती है, त्वचा कट जाती है और कटा हुआ भाग रुधिर और मज्जा से चिपचिपा बना रहता है।

पिच्ची—वि० दे० “पिच्चित”।

पिच्छ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी पशु की पूँछ। ऐसी पूँछ जिसपर बाल हों। लांगूल। (२) मोर की पूँछ। मयूर पुच्छ। (३) मोर की चोटी। चूड़ा। (४) मोचरस।

पिच्छक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) लांगूल। पूँछ। (२) मोचरस।

पिच्छतिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] शीशम। शिंशिपा।

पिच्छन—संज्ञा पुं० [सं०] किसी वस्तु को अत्यंत दबाना। दबाकर चिपटा करने की क्रिया। अत्यंत पीड़न।

पिच्छपाद—संज्ञा पुं० [सं०] पैरों में होनेवाला एक रोग।

पिच्छपादी—वि० [सं० पिच्छपादिन्] जिसको पिच्छपाद हो गया हो। पिच्छपाद रोगयुक्त (घोड़ा)।

पिच्छवाण—संज्ञा पुं० [सं०] वाज। श्येन।

पिच्छभार—संज्ञा पुं० [सं०] मोर की पूँछ।

पिच्छल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मोचरस। (२) अकासबेल। आकाशवल्ली। (३) शीशम। शिंशिपा वृक्ष। (४) वासुकि के वंश का एक सर्प।

वि० जिसपर से पैर रपट या फिसल जाय। रपटनवाला। चिकना।

वि० दे० “पिछला”।

पिच्छलच्छदा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बेर। बदरीवृक्ष। (२) पोय। उपोदकी शाक।

पिच्छलदला—संज्ञा स्त्री० [सं०] दे० “पिच्छलच्छदा”।

पिच्छा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मोचरस। (२) सुपारी। पुंगवृक्ष। (३) शीशम। (४) नारंगी का वृक्ष। (५) निर्मली का पेड़। (६) आकाशलता। अकासबेल। (७) पिच्छलपाद। (८) भात या चावल का माँड़।

पिछलपाद—संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ों के पैर में होनेवाला रोग।
पिछिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चँवर। चामर। (२) जन की चँवरी जो जैनी साधु अपने पास रखते हैं। (३) मोरछल।

पिछितिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] शीशम।

पिछिल—वि० [सं०] [स्त्री० पिछिला] (१) सरस और स्निग्ध (पदार्थ)। गीला और चिकना। (२) फिसलने-वाला। जिस पर कोई वस्तु ठहर न सके। जिसपर पड़ने से पैर रपटे। (३) चावल के माँड़ से चुपड़ा हुआ। (४) चूड़ायुक्त (पक्षी)। जिसके सिर पर चूड़ा हो। (५) खट्टा, कोमल, फूला हुआ और कफकारी (पदार्थ)। (वैद्यक) संज्ञा पुं० (१) लसोड़ा। श्लेष्मातक। (२) स्निग्ध सरस व्यंजन (दाल कढ़ी आदि)।

पिछिलक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मोचरस। (२) धामिन का पेड़।

पिछिलच्छदा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बेर। बदरी वृक्ष। (२) पोय। उपोदकी शाक।

पिछिलत्वक्, **पिछिलत्वच्**—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नारंगी का पेड़। (२) धामिन का पेड़।

पिछिलदला—संज्ञा स्त्री० [सं०] दे० “पिछिलच्छदा”।

पिछिलवस्ति—संज्ञा स्त्री० [सं०] निरुद्धवस्ति का एक भेद। विशेष—दे० “निरुद्धवस्ति”।

पिछिलसार—संज्ञा पुं० [सं०] “मोचरस”।

पिछिला—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पोई। (२) शीशम। (३) सेमल। शारमली वृक्ष। (४) तालमखाना। कोकिलाच। (५) वृश्चिकाली जड़ी। वृश्चिकाचुप। (६) शूली घास। (७) अगर। (८) छलसी। (९) अरवी। वि० दे० “पिछिल”।

पिछुड़ना—क्रि० अ० [हिं० पिछाड़ी + ना (प्रत्य०)] (१) पीछे रह जाना। साथ साथ, बराबर या आगे न रहना। (२) श्रेणी में आगे या बराबर न रहना।

संयो० क्रि०—जाना।

पिछलग—संज्ञा पुं० [हिं० पीछे + लगना] (१) वह मनुष्य जो किसीके पीछे पीछे चले। अधीन। आश्रित। (२) वह आदमी जो अपने स्वतंत्र विचार या सिद्धांत न रखता हो बल्कि सदा किसी दूसरे के विचारों या सिद्धांतों के अनुसार काम करे। किसी का मतानुयायी। अनुवर्ती। अनुगामी। शिष्य। शागिर्द। चेला। (३) सेवक। नौकर। खिदमतगार।

पिछलगी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पिछलग] दे० “पिछलग”। पिछलग होने का भाव। अनुयायी होना। अनुगमन करना। अनुवर्तन। अनुसरण।

पिछलगू†—संज्ञा पुं० दे० “पिछलग”।

पिछलगू†—संज्ञा पुं० दे० “पिछलग”।

पिछलना†—क्रि० अ० [हिं० पीछा] पीछे की ओर हटना या मुड़ना। (क्व०)

पिछलाई†—संज्ञा स्त्री० [हिं० पीछा + लाई = पैरवाली] (१) चुड़ैल।

विशेष—चुड़ैलों के संबंध में लोगों की धारणा है कि इनके पैरों में ऐड़ी आगे और पंजे पीछे की ओर होते हैं। (२) जादूगरनी।

पिछला—वि० [हिं० पीछा] [स्त्री० पिछली] (१) जो किसी वस्तु की पीठ की ओर पड़ता हो। पीछे की ओर का। “अगला” का उल्टा। जैसे, (क) इस मकान का पिछला हिस्सा कुछ कमजोर है। (ख) इस घोड़े की पिछली दोनों टांगें खराब हैं। (२) जो घटना, स्थिति आदि के क्रम में किसी के अथवा सब के पीछे पड़ता हो। जिसके पहले या पूर्व में कुछ और हो या हो चुका हो। बाद का। अनंतर का। पहला का उल्टा। जैसे, अभियुक्त ने अपना पहला बयान तो वापस ले लिया, लेकिन पिछले को ज्यों का त्यों रखा है। (३) किसी वस्तु के उत्तर भाग से संबंध रखनेवाला। अंत के भाग या अर्द्धांश का। पश्चाद्वर्ती। अंत की ओर का। जैसे, (क) इस पुस्तक के पिछले प्रकरण अधिक उपादेय हैं। (ख) अपने पिछले प्रयत्नों में उन्हें वैसी सफलता नहीं हुई जैसी पहले प्रयत्नों में हुई थी।

मुहा०—पिछला पहर = दो पहर या आधी रात के बाद का समय। दिन अथवा रात का उत्तर काल। **पिछली रात** = रात्रि का उत्तर काल। रात में आधी रात के बाद का समय।

(४) बीता हुआ। गत। जो भूत काल का विषय हो गया हो। पुराना। गुजरा हुआ। जैसे, पिछली बातों को भूल जाना ही अच्छा होगा। (५) सबसे निकटस्थ भूत काल का। उस भूत काल का जो वर्तमान के ठीक पहले रहा हो। गत बातों में से अंतिम या अंत की ओर का। जैसे, पिछले साल आदि।

मुहा०—पिछला दिन = वह दिन जो वर्तमान से एक दिन पहले बीता हो। **पिछली रात** = कल की रात। आज से एक दिन पहले बीती हुई रात। गत रात्रि।

संज्ञा पुं० (१) पिछले दिन पड़ा हुआ पाठ। एक दिन पहले पड़ा हुआ पाठ। आमोखता। जैसे, तुमको अपना पिछला दुहराने में देर लगती है।

क्रि० प्र०—दुहराना।

(२) वह खाना जो रोजे के दिनों में मुसलमान लोग कुछ रात रहते खाते हैं। सहरी।

पिछवाई—संज्ञा स्त्री० [हिं० पीछा] पीछे की ओर लटकाने का परदा।

पिछवाड़ा—संज्ञा पुं० [हिं० पीछा + वाड़ा (प्रत्य०)] (१) किसी मकान का पीछे का भाग। घर का पृष्ठ भाग। घर का वह भाग जो मुख्य द्वार की विरुद्ध दिशा में हो। (२) घर के पीछे का स्थान या जमीन। किसी मकान के पृष्ठ-भाग से मिली हुई जमीन। घर की पीठ की ओर का खाली स्थान।

पिछवारा—संज्ञा पुं० दे० “पिछवाड़ा”।

पिछाड़ी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पीछा] (१) पिछला भाग। पीछे का हिस्सा। पृष्ठ भाग। (२) पंक्ति में सब से अंत का व्यक्ति। (३) वह रस्सी जिससे घोड़े के पिछले पैर बांधते हैं।

क्रि० प्र०—लगाना।—बांधना।

पिछान—संज्ञा स्त्री० दे० “पहचान”।

पिछानना—क्रि० स० दे० “पहचानना”। उ०—छला परोसिनि हाथ तें छल करि लियो पिछानि।—बिहारी।

पिछारी—संज्ञा स्त्री० दे० “पिछाड़ी”।

पिछाड़—वि० [हिं० पीछे + औड़ (प्रत्य०)] जिसने अपना मुँह पीछे कर लिया हो। किसी के मुँह की ओर जिसकी पीठ पड़ती हो। किसी वस्तु को न देखता हुआ।

पिछाड़ा—क्रि० वि० [हिं० पीछा + औड़ा (प्रत्य०)] पीछे की ओर।

पिछौता—क्रि० वि० [हिं० पीछा + औता] पीछे की ओर।

पिछौही—संज्ञा स्त्री० दे० “पिछौरी”।

पिछौहै—क्रि० वि० [हिं० पीछा] पीछे की ओर। पीछे की ओर से। उ०—कहै पदमाकर पिछौहैं आय आदर से छलिया छबीलो छैल बासर बितै बितै।—पद्माकर।

पिछौरा—संज्ञा पुं० [सं० पक्षपट, प्रा० पच्छवड, हिं० पछेवड़ा] मरदाना दुपट्टा। पुरुषों की चादर।

पिछौरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पिछौरा] (१) स्त्रियों का वह वस्त्र जिसे वे सबसे ऊपर ओढ़ती हैं। स्त्रियों की चादर। (२) ओढ़ने का वस्त्र। कोई कपड़ा जो ऊपर से ढाल लिया जाय।

पिटकोकी—संज्ञा स्त्री० [सं०] इंद्रायन। इंद्रवारुणी।

पिटंत—संज्ञा स्त्री० [हिं० पीटना + अंत (प्रत्य०)] पीटने की क्रिया या भाव। मारपीट। मारकूट।

पिटक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पिटारा। (२) फुडिया। फुंसी। (३) आभूषण जो ध्वजा में लगाया जाता है। (४) किसी ग्रंथ का एक भाग। ग्रंथ-विभाग। खंड। हिस्सा। जैसे, त्रिपिटक = तीन भागोंवाला (बौद्ध) ग्रंथ।

पिटका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पिटारी। (२) फुंसी।

पिटना—क्रि० अ० [हिं० पीटना] (१) मार खाना। ठोंका जाना। आघात सहना। उ०—पाछे पर न कुसंग के

पदमाकर यहि डीठ। पर धन खात कुपेट ज्यों पिटत बिचारी पीठ।—पद्माकर। (२) बजना। आघात पाकर आवाज करना। जैसे, डौंड़ी पिटना, ताजी पिटना आदि।

[संज्ञा पुं० [हिं० पीटना] वह औजार जिससे किसी वस्तु को विशेषतः चूने आदि की बनी हुई छत को राज लोग पीटते हैं। पीटने का औजार। धापी।

पिटपिट—संज्ञा स्त्री० [अनु०] पिट पिट शब्द। किसी छोटी वस्तु के गिरने का या हलके आघात का शब्द।

पिटरिया—संज्ञा स्त्री० दे० “पिटारी”।

पिटवाना—क्रि० स० [हिं० पीटना] (१) किसी के पीटने या मारे जाने का कारण होना। अन्य के द्वारा किसी पर आघात कराना। ठोंकवाना। कुटवाना। मार खिलवाना। (२) बजवाना। जैसे, डौंड़ी पिटवाना। (३) पीटने का काम दूसरे से कराना। दूसरे को पीटने में प्रवृत्त करना।

पिटाई—संज्ञा स्त्री० [हिं० पीटना] (१) पीटने का काम या भाव। जैसे, छत की पिटाई। (२) आघात। प्रहार। मार। मारकूट। (३) पीटने की मजदूरी। (४) मारने का पुरस्कार। (५) पिटवाने की मजदूरी।

पिटापिट—संज्ञा स्त्री० [हिं० पीटना] मारपीट। मारकूट। किसी वस्तु को कुछ समय तक बराबर पीटना। जैसे, वहाँ खूब पिटापिट मची रही।

पिटारा—संज्ञा पुं० [सं० पिटक] [स्त्री० पिटारी] बाँस, बेंत, अँज आदि के नरम छिलकों से बना हुआ एक प्रकार का बड़ा संपुट या ढकनेदार पात्र। भाँपा जिसका घेरा गोल, तल बिल्कुल चिपटा और ढकना ढालुर्वा गोल अथवा बीच में उठा हुआ होता है। पहले इसका व्यवहार बहुत था, पर तरह तरह के टूकों के प्रचार के कारण इसका व्यवहार घटता जाता है। बाँस आदि की अपेक्षा अँज और बेंत का पिटारा अधिक मजबूत होता है। मजबूती के लिये अकसर इसको चमड़े या किसी मोटे कपड़े से मढ़वा देते हैं। आजकल लोहे के पतले गोल तारों से भी पिटारे बनते हैं।

पिटारी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पिटारा का स्त्री० और अल्प०] (१) छोटा पिटारा। भाँपी। (२) पान रखने का बरतन। पानदान।

मुहा०—पिटारी का खर्च = (१) वह धन जो स्त्रियों को पान के खर्च के लिये दिया जाय। पानदान का खर्च। (२) वह धन जो किसी स्त्री को व्यभिचार से प्राप्त हो। व्यभिचार की कमाई।

पिटक—संज्ञा पुं० [सं०] दाँत की सैल।

पिट्टस—संज्ञा स्त्री० [हिं० पिटना + स (प्रत्य०)] शोक या दुःख से छाती पीटने की क्रिया। (स्त्री०)।

मुहा०—पिट्टस पड़ना या मचनना = शोक या दुःख में छाती पीटा जाना। रोना धोना होना। हाय हाय मचनना। जैसे, यह खबर सुनते ही वहाँ पिट्टस पड़ गई।

पिटू—वि० [हिं० पीटना] जो प्रायः पीटा जाय। मार खाने का अभ्यस्त।

पिट्टी—संज्ञा स्त्री० दे० “पीठी”।

पिटू—संज्ञा पुं० [हिं० पिट + ऊ (प्रत्य०)] (१) पीछे चलनेवाला। पिछलग्ना। अनुयायी। (२) सहायक। मददगार। पृष्ठपोषक। हिमायती। (३) किसी खिलाड़ी का वह कल्पित साथी जिसकी बारी में वह स्वयं खेलता है।

विशेष—जब दोनों पक्षों के खिलाड़ियों की संख्या बराबर नहीं होती तब न्यून संख्यक पक्ष के एक दो खिलाड़ी अपने अपने साथ एक एक पिटू मान लेते हैं और अपनी बारी खेल चुकने पर दूसरी बार उस पिटू की बारी लेकर खेलते हैं। (४) खेल में साथ रहनेवाला। एक साथ मिलकर खेलनेवाला।

पिठर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मोथा। सुस्तक। (२) मथानी। मथनदंड। (३) थाली। (४) एक प्रकार का घर। (५) एक अग्नि। (६) एक दानव।

पिठरक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) थाली। (२) एक नाग का नाम।

पिठरपाक—संज्ञा पुं० [सं०] भिन्न भिन्न परमाणुओं के गुणों में तेज के संयोग से फेरफार होना। जैसे, घड़े का पककर लाल होना।

पिठरिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] थाली।

पिठरी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) थाली। (२) राजमुकुट।

पिटवन—संज्ञा स्त्री० [सं० पृष्ठपर्णी] एक प्रसिद्ध लता जो औषध के काम आती है। पिठौनी। पृष्ठिपर्णी। यह पश्चिम और बंगाल में अधिकता से पाई जाती है। परंतु दक्षिण में नहीं दिखाई पड़ती। इसके पत्ते छोटे, गोल गोल होते हैं और एक एक डाँड़ी में तीन तीन लगते हैं। फूल गोल और सफेद होते हैं। जड़ कम मिलने के कारण इसकी लता ही प्रायः काम में लाई जाती है। वैद्यक में इसको कटु, तिक्त, उष्ण, मधुर, चारक, त्रिदोषनाशक, वीर्यजनक, तथा दाह, ज्वर, श्वास, तृषा, रक्तातिसार, वमन, बातरक्त, व्रण और उन्माद आदि का नाशक लिखा है।

पर्या०—कंकशत्रु। कदला। कलशी। व्याष्टुक मेखला। क्रोष्टुक। पच्छिका। चक्रकुल्या। चक्रपर्णी। तन्वी। धमनी। दीर्घपर्णी। पृथक्पर्णी। पृश्निपर्णी। चित्रपर्णी। त्रिपर्णी। सिंह-पुच्छी। गुहा। पिष्टपर्णी। लांगुली। शृगालवृंता। मेखला। लांगुलिका। ब्रह्मपर्णी। सिंहपुष्पी। अग्निपर्णी। विष्णुपर्णी। अतिगुहा। वष्टिला।

पिठी†—संज्ञा स्त्री० दे० “पिट्टी”।

पिठीनस—संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि।

पिठौनी†—संज्ञा स्त्री० दे० “पिटवन”।

पिठौरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पिठ्ठी + औरी (प्रत्य०)] पीठी की बनी हुई खाने की कोई चीज, जैसे, बरी, पकौरी।

पिड़क—संज्ञा पुं० [सं०] छोटा फोड़ा। फुंसी। स्फोटक।

पिड़का—संज्ञा स्त्री० [सं०] दे० “पिड़क”।

पिड़ई†—संज्ञा स्त्री० [हिं० पीड़ा + आई (प्रत्य०)] (१) छोटा पीड़ा या पाटा। (२) किसी छोटे यंत्र का आधार जो छोटे पीड़े के समान हो। वह ढाँचा जिसपर कोई छोटा यंत्र रक्खा रहे, जैसे, रहँट का।

पिड़ी†—संज्ञा स्त्री० [सं० पीठिका] (१) मचिया। (२) दे० “पीड़ी”।

पिण्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] मालकङ्गनी।

पिण्याक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) तिल या सरसों की खली। (२) हाँग। (३) शिलाजीत। (४) शिलारस। सिंहलक। (५) केशर।

पितंबर—संज्ञा पुं० दे० “पीतांबर”।

पितपापड़ा—संज्ञा पुं० [सं० पर्पट] एक काढ़ या चुप जिसका उपयोग औषध के रूप में होता है। इसे दवनपापड़ा भी कहते हैं। इसके दो भेद होते हैं—एक में लाल फूल लगते हैं; दूसरे में नीले। लाल फूलवाला अधिक गुणदायक माना जाता है। वैद्यक में इसको शीतल, कटुवा, मल रोधक, वात को कुपित करनेवाला, हलका तथा भ्रम, मद, प्रमेह, तृषा, पित्त, कफ, ज्वर, रक्तविकार, अरुचि, दाह, ग्लानि और रक्तपित्त को नष्ट करनेवाला माना है।

पर्या०—पर्पट। वरत्तिक। पांशुपर्याय। कवचनामक। त्रियष्टि। तिक्त। चरक। वरक। अरक। रेणु। तृष्णारि। शीत। शीतप्रिय। पांशु। कलपांग। वर्मकंटक। कृष्णशाख। प्रगंध। सुत्तिक। रक्तपुष्पक। पित्तारि। कटुपत्र। नक्र। शीतबल्लभ।

पितर—संज्ञा पुं० [सं० पितृ, पितर] मृत पूर्वपुरुष। मरे हुए पुरुषों जिनके नाम पर श्राद्ध वा जलदान किया जाता है।

विशेष—दे० “पितृ (२)”।

पितरपति—संज्ञा पुं० [सं० पितृ + सं० पति] यमराज।

पितराई†—संज्ञा स्त्री० [हिं० पीतल + गंध] किसी खाद्य वस्तु के स्वाद और गंध में वह विकार जो पीतल के बरतन में अधिक समय तक रखे रहने से उत्पन्न हो जाय। पीतल का कसाव।

पितराई†—संज्ञा स्त्री० [हिं० पीतल + आई (प्रत्य०)] पीतल का कसाव। पीतल का स्वाद। पितराईंध। जैसे, दही में पितराई उतर आई है।

पितरिहा†—वि० [हिं० पीतल + हा] पीतल का। पीतल का बना हुआ।

संज्ञा पुं० [हिं० पीतल] पीतल का बड़ा ।

पितृससुर † संज्ञा पुं० दे० “पितृया ससुर” ।

पिता—संज्ञा पुं० [सं० पितृ का कर्ता०] जन्म देकर पाञ्चन पोषण करनेवाला । बाप । जनक ।

पर्या०—तात । जनक । प्रसविता । वसा । जनयिता । गुरु । अन्य । जनित । बीजी ।

पितामह—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० पितामही] (१) पिता का पिता । दादा । (२) भीष्म । (३) ब्रह्मा । (४) शिव । (५) एक ऋषि जिन्होंने एक धर्मशास्त्र बनाया था ।

पितृया †—संज्ञा पुं० [सं० पितृव्य] [स्त्री० पितृयानी] चाचा । चाचा । बाप का भाई ।

पितृयानी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पितृया + नी (प्रत्य०)] चाचा की स्त्री । चची । चाची ।

पितृया ससुर †—संज्ञा पुं० [हिं० पितृया + ससुर] चचिया ससुर । ससुर का भाई । स्त्री या पति का चाचा ।

पितृया सास †—संज्ञा स्त्री० [हिं० पितृया + सास] चचिया सास । ससुर के भाई की स्त्री । स्त्री या पति की चाची ।

पितृ*—संज्ञा पुं० दे० “पिता” ।

पितृ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) दे० “पिता” । (२) किसी व्यक्ति के मृत बाप, दादा, परदादा आदि । (३) किसी व्यक्ति का ऐसा मृत पूर्वपुरुष जिसका प्रेतत्व छूट चुका हो ।

विशेष—प्रेतकर्म वा अंत्येष्टि कर्म संबंधी पुस्तकों में माना गया है कि मरण और शवदाह के अनंतर मृत व्यक्ति को आतिथ्याहिक शरीर मिलता है । इसके उपरान्त जब उसके पुत्रादि उसके निमित्त दशगात्र का पिंड दान करते हैं तब दशपिंडों से क्रमशः उसके शरीर के दश अंग गठित होकर उसको एक नया शरीर प्राप्त होता है । इस देह में उसकी प्रेत संज्ञा होती है । षोडश आद्र और सपिंडन के द्वारा क्रमशः उसका यह शरीर भी छूट जाता है और वह एक नया भोगदेह प्राप्त कर अपने बाप दादा और परदादा आदि के साथ पितृलोक का निवासी बनता है अथवा कर्म संस्करानुसार स्वर्ग नरक आदि में सुख दुःखादि भोगता है । इसी अवस्था में उसको पितृ कहते हैं । जब तक प्रेत-भाव बना रहता है तब तक मृत व्यक्ति पितृ संज्ञा पाने का अधिकारी नहीं होता । इसीसे सपिंडीकरण के पहले जहाँ जहाँ आवश्यकता पड़ती है प्रेत नाम से ही उसका संबोधन किया जाता है । पितरों अर्थात् प्रेतत्व से छूटे हुए पूर्वजों की तृप्ति के लिये आद्र, तर्पण आदि करना पुत्रादि का कर्त्तव्य माना गया है । दे० “आद्र ।”

(४) एक प्रकार के देवता जो सब जीवों के आदि-पूर्वज माने गए हैं ।

विशेष—मनुस्मृति में लिखा है कि ऋषियों से पितर,

पितरों से देवता और देवताओं से संपूर्ण स्थावर-जंगम जगत् की उत्पत्ति हुई है । ब्रह्मा के पुत्र मनु हुए । मनु के मरीचि, अग्नि आदि पुत्रों की पुत्रपरंपरा ही देवता, दानव, दैत्य, मनुष्य आदि के मूल पुरुष या पितर हैं । विराटपुत्र सोम-सद्गण साध्यगण के; अलिपुत्र वहिषद्गण दैत्य, दानव, वृक्ष, गंधर्व, सर्प, राक्षस, सुपर्ण किन्नर और मनुष्यों के; कविपुत्र सोमपा ब्राह्मणों के; अंगिरा के पुत्र हविर्भुज क्षत्रियों के; पुलस्त्य के पुत्र आज्यपा वैश्यों के और वशिष्ठ पुत्र कालिन शूद्रों के पितर हैं । ये सब मुख्य पितर हैं । इनके पुत्र पौत्रादि भी अपने अपने वर्ग के पितर हैं । द्विजों के लिये देवकार्य से पितृकार्य का अधिक महत्व है । पितरों के निमित्त जलदान मात्र करने से भी अक्षय सुख मिलता है । (मनु० ३ । १६४-२०३)

पितृऋण—संज्ञा पुं० [सं०] धर्मशास्त्रानुसार मनुष्य के तीन ऋणों में से एक जिनको लेकर वह जन्म ग्रहण करता है । पुत्र उत्पन्न करने से इस ऋण से मुक्ति होती है ।

पितृक—वि० [सं०] (१) पितृसंबंधी । पिता का । पैतृक । (२) पितृदत्त । पिता का दिया हुआ ।

पितृकर्म—संज्ञा पुं० [सं० पितृकर्मन्] वह कर्म जो पितरों के उद्देश्य से किया जाय । आद्र तर्पण आदि कर्म ।

पितृकल्प—संज्ञा पुं० [सं०] आद्रादि कर्म ।

पितृकानन—संज्ञा पुं० [सं०] श्मशान ।

पितृकार्य—संज्ञा पुं० “पितृकर्म” ।

पितृकुल—संज्ञा पुं० [सं०] बाप, दादा, परदादा या उनके भाई दंडुओं आदि का कुल । बाप की ओर के संबंधी । पिता के वंश के लोग ।

पितृकुल्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] महाभारत में वर्णित एक तीर्थस्थान ।

पितृकृत्य—संज्ञा पुं० [सं०] पितृकर्म । आद्रादि ।

पितृक्रिया—संज्ञा स्त्री० [सं०] पितृकर्म । आद्रादि कार्य ।

पितृगण—संज्ञा पुं० [सं०] मनुपुत्र मरीचि आदि के पुत्र । दे० “पितृ (३)” ।

पितृगाथा—संज्ञा स्त्री० [सं०] पितरों द्वारा पठित कुछ विशेष श्लोक या गाथा । भिन्न भिन्न पुराणों के मत से ये गाथाएँ भिन्न भिन्न हैं ।

पितृगीता—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक विशेष गीता जिसमें पितरों का साहाय्य दिया गया है । यह बाराह पुराण के अंतर्गत है ।

पितृगृह—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाप का घर । नैहर । पीहर । मायका । (स्त्रियों के लिये) । (२) श्मशान ।

पितृग्रह—संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार कार्तिकेय के उन अनुचरों में से एक जो कुछ रोगों के उत्पादक माने गए हैं ।

पितृघात—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० पितृघातक, पितृघाती, पितृघ्न] बाप को मार डालना । पिता की हत्या करना ।

पितृतर्पण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पितरों के उद्देश्य से किया जानेवाला जलदान । विशेष—दे० “तर्पण” । (२) पितृ-तीर्थ । (३) तिष्ठ ।

पितृतिथि—संज्ञा स्त्री० [सं०] अमावास्या । (कहते हैं कि पितरों को अमावास्या बहुत प्रिय है और श्राद्ध आदि कार्य इसी तिथि को करने चाहिएँ, और इसीलिए इसका नाम पितृतिथि है) ।

पितृतीर्थ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) गया । गया तीर्थ । (२) मत्स्यपुराण के अनुसार गया, वाराणसी, प्रयाग, विम-लेखर आदि २२२ तीर्थ । (३) अँगूठे और तर्जनी के बीच का भाग जिसका उपयोग पितृकर्म में दान किया हुआ पिंड अथवा संकल्प का जल छोड़ने में होता है ।

पितृत्व—संज्ञा पुं० [सं०] पिता या पितृ होने का भाव । पितृ या पिता होने की स्थिति ।

पितृदान—संज्ञा पुं० [सं०] पितरों के उद्देश्य से किया जानेवाला दान । वह दान जो मृत पूर्वजों के उद्देश्य से किया जाय ।

पितृदाय—संज्ञा पुं० [सं०] पिता से प्राप्त धन या संपत्ति । वसौती ।

पितृदिन—संज्ञा पुं० [सं०] अमावास्या ।

पितृदेव—संज्ञा पुं० [सं०] पितरों के अधिष्ठाता देवता । अग्नि-ष्वातादि पितरगण ।

पितृदेवत—वि० [सं०] पितृदेवता संबंधी । पितरों की प्रसन्नता के लिये किया जानेवाला (यज्ञ आदि) । (यज्ञ का अनुष्ठान) जो पितृदेवों की प्रसन्नता के लिये किया जाय ।

पितृदेवत्व—वि० [सं०] पितृदेवत ।

पितृदेवत—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मघा नक्षत्र । (२) यम ।

पितृदेवत्व—वि० [सं०] पितृदेवत ।

पितृनाथ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) यमराज । (२) अर्यमा नामक पितर जो सब पितरों में श्रेष्ठ माने जाते हैं ।

पितृपक्ष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुआर या आश्विन का कृष्ण पक्ष । कुआर की कृष्ण प्रतिपदा से अमावास्या तक का समय ।

विशेष—यह पक्ष पितरों को अतिशय प्रिय माना गया है । कहा जाता है कि इसमें उनके निमित्त श्राद्ध आदि करने से वे अत्यंत संतुष्ट होते हैं । इसीसे इसका नाम पितृपक्ष हुआ है । प्रतिपक्ष से अमावास्या तक नित्य उनके निमित्त तिलतर्पण और अमावास्या को पार्वणविधि से तीन पीढ़ी ऊपर तक के मृत पूर्वजों का श्राद्ध किया जाता है । भिन्न भिन्न पूर्वजों की मृत्युतिथियों को भी उनके निमित्त इस पक्ष में श्राद्ध करते हैं । पर यह श्राद्ध एकादिष्ट न होकर त्रैपुरुषिक ही होता है । इन पंद्रह दिनों में आहार और विहार में प्रायः अशौच के नियमों का सा पालन किया जाता है ।

(२) पिता की ओर के लोग । पिता के संबंधी । पितृ-कुल ।

पितृपति—संज्ञा पुं० [सं०] यम ।

पितृपद—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पितरों का देश । पितरों का लोक । (२) पितर होने की स्थिति या भाव । पितृत्व ।

पितृपितृ—संज्ञा पुं० [सं०] पितरों के पिता, ब्रह्मा ।

पितृपैतामह—वि० [सं०] जिसका संबंध बाप दादों से हो । बाप दादों का ।

पितृप्रसू—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दादी । बाप की माँ । पिता-मही । (२) संध्या ।

विशेष—पितृकृत्य में संध्यागामिनी अथवा सूर्यास्त समय में वर्तमान तिथि ही ग्रहण की जाती है ; तथा प्रेतकृत्य में संध्या माता के समान उपकार करनेवाली मानी गई है । ये ही दो उसके पितृप्रसू संज्ञा प्राप्त करने के कारण हैं ।

पितृप्रिय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) भँगरा । भँगरैया । भृंगराज । (२) अगस्त वृक्ष ।

पितृभक्ति—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पिता की भक्ति । पिता में पूज्य बुद्धि । (२) पुत्र का पिता के प्रति कर्त्तव्य ।

पितृभोजन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) उरद । माष । (२) पितरों की भोज्य वस्तु ।

पितृमेघ—संज्ञा पुं० [सं०] वैदिक काल के अत्येष्ट कर्म का एक भेद जिसमें अग्नि दान और दस पिंड दान आदि सम्मिलित होते थे और जो श्राद्ध से भिन्न होता था ।

पितृयज्ञ—संज्ञा पुं० [सं०] तर्पणादि । पितृतर्पण ।

पितृयाण—संज्ञा पुं० [सं०] मृत्यु अनंतर जीव के जाने का वह मार्ग जिससे वह चंद्रमा को प्राप्त होता है । वह मार्ग जिससे जाकर मृत व्यक्ति को निश्चित काल तक स्वर्ग आदि में सुख भोग कर पुनः संसार में आना पड़ता है ।

विशेष—ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का प्रयास न कर अनेक प्रकार के अग्निहोत्र आदि विस्तृत पुण्य कर्म करनेवाले व्यक्ति जिस मार्ग से ऊपर के लोकों को जाते हैं वही पितृयाण है । इसमें से जाते हुए वे पहले धूमाभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं । फिर रात्रि, फिर कृष्ण पक्ष, फिर दक्षिणायन षण्मास के अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं । इसके पीछे पितृलोक और वहाँ से चंद्रमा को प्राप्त होते हैं । अनंतर वहाँ से पतित होकर संसार में कर्म-संस्कार के अनुसार किसी एक योनि में जन्म ग्रहण करते हैं । देवयान अर्थात् ब्रह्मज्ञानोपासकों के मार्ग से यह उल्टा है । दे० देवयान ।

पितृराज—संज्ञा पुं० [सं०] यम ।

पितृरिष्ट—संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष के अनुसार वह योग जिसमें बालक का जन्म होने से पिता की मृत्यु होती है ।

(भिन्न भिन्न आचार्यों के मत से भिन्न भिन्न अवस्थाओं में ऐसे योग पड़ते हैं ।)

पितृरूप—संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

विशेष—शिव संपूर्ण प्राणियों के पिता माने गए हैं इसीलिए उन्हें पितृरूप कहा जाता है ।

पितृलोक—संज्ञा पुं० [सं०] पितरों का लोक । वह स्थान जहाँ पितृगण रहते हैं ।

विशेष—छंदोग्योपनिषद् में पितृयाण का वर्णन करते हुए पितृलोक को चंद्रमा से ऊपर कहा है । अथर्व वेद में जो उदन्वती, पीलुमती और प्रद्यौ ये तीन कक्षाएँ छुलोक की कही गई हैं उनमें चंद्रमा प्रथम कक्षा में और पितृलोक या प्रद्यौ तीसरी कक्षा में कहा गया है ।

पितृवन—संज्ञा पुं० [सं०] श्मशान ।

पितृवनेचर—संज्ञा पुं० [सं०] श्मशान में बसनेवाले, शिव ।

पितृवर्त्ति—संज्ञा पुं० [सं० पितृवर्त्ति] पुराणानुसार एक राजा का नाम ।

पितृवसति—संज्ञा स्त्री० [सं०] श्मशान ।

पितृवित्त—संज्ञा पुं० [सं०] बाप दादों की संपत्ति । पैतृक धन । मौरूसी जायदाद ।

पितृव्य—संज्ञा पुं० [सं०] बाप का भाई । चाचा । चाचा । काका ।

पितृषद्—संज्ञा पुं० [सं०] पितृगृह । बाप का घर । मैका । पीहर । (स्त्रियों के लिये) ।

पितृषदन—संज्ञा पुं० [सं०] कुश ।

पितृष्वसा—संज्ञा स्त्री० [सं० पितृष्वस] बाप की बहन । बूआ ।

पितृष्वसाय—संज्ञा पुं० [सं०] बूआ का बेटा । फुफेरा भाई ।

पितृसू—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दादी । पितामही । (२) संध्या ।

पितृसूक्त—संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक मंत्रसमूह ।

पितृहा—संज्ञा पुं० [सं० पितृहर्] पिता की हत्या करनेवाला । पितृहंता । पितृघाती ।

पितृहृ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पितरों के देने योग्य वस्तु । (२) दाहिना कान ।

पितृहृय—संज्ञा पुं० [सं०] पितरों का आह्वान करना । पितरों को बुलाना ।

पित्त—संज्ञा पुं० [सं०] एक तरल पदार्थ जो शरीर के अंतर्गत यकृत में बनता है । इसका रंग नीलापन लिए पीला और स्वाद कड़वा होता है । इसकी बनावट में कई प्रकार के लक्षण और दो प्रकार के रंग पाए गए हैं । यह यकृत के कोषों से रसकर दो विशेष नालियों द्वारा पक्वाशय में आकर आहार-रस से मिलता है और वसा या चिकनाई के पाचन में सहायक होता है । यदि पक्वाशय में भोजन नहीं रहता तो यह लौट कर फिर यकृत को चला जाता है और पित्ताशय

या पित्ता नामक उससे संलग्न एक विशेष अवयव में एकत्र होता रहता है । वसा या स्नेहतत्त्व को पचाने के लिये पित्त का उसमें यथेष्ट मात्रा में मिलना अतीव आवश्यक है । यदि इसकी कमी हो तो वह बिना पचे ही विष्टा द्वारा शरीर से बाहर हो जाता है । इसके अतिरिक्त इसके और भी कई कार्य हैं, जैसे आमाशय से पक्वाशय में आए हुए आहार-रस की खटाई दूर करना, आंतों में भोजन को सड़ने न देना, शरीर का तापमान स्थिर रखना आदि । पित्त की कमी से पाचन क्रिया बिगड़ जाती है और मंदाग्नि, कब्ज, अतीसार आदि रोग होते हैं । इसी प्रकार इसकी वृद्धि से ज्वर, दाह, चमन, प्यास, मूर्च्छा और अनेक चर्मरोग होते हैं । जिसका पित्त बढ़ गया हो उसका रंग बिलकुल पीला हो जाता है । पित्त के बढ़े या बिगड़े हुए होने की दशा में वह अकसर वमन द्वारा पेट से बाहर भी निकलता है ।

वैद्यक के अनुसार पित्त शरीर के स्वास्थ्य और रोग के कारणभूत तीन प्रधान तत्त्वों अथवा दोषों में से एक है । जिस प्रकार रस का मल कफ है उसी प्रकार रक्त का मल पित्त है जो यकृत या जिगर में उससे अलग किया जाता है । भावप्रकाश के अनुसार यह ऊष्ण, द्रव्य, आमरहित दशा में पीला और आमसहित दशा में नीला सारक, लघु, सत्वगुणयुक्त, सिग्ध, रस में कटु परंतु विपाक के समय अम्ल है । अग्नि स्वभाववाला तो स्वयं अग्नि है । शरीर में जो कुछ उष्णतातत्त्व है उसका आधार यही है । इसीसे अग्नि, उष्ण, तेजस आदि पित्त के पर्याय हैं । इसमें एक प्रकार की दुर्गंधि भी आती है । शरीर में इसके पाँच स्थान हैं जिनमें यह अलग अलग पाँच नामों से स्थित रहकर पाँच प्रकार के कार्य करता है । ये पाँच स्थान हैं—आमाशय (कहींकहीं आमाशय और पक्वाशय का मध्य स्थान भी मिलता है) यकृत-प्लीहा, हृदय, दोनों नेत्र, और त्वचा—इनमें रहनेवाले पित्तों का नाम क्रम से पाचक, रंजक, साधक, आलोचक और भ्राजक हैं । पाचक पित्त का कार्य खाए हुए द्रव्यों को अपनी स्वाभाविक उष्णता से पचाना और रस, मूल और मल को पृथक् पृथक् करना है । रंजक पित्त आमाशय से आए हुए आहार-रस को रंजित कर रक्त में परिणत करता है । साधक पित्त कफ और तमोगुण को दूर करता और मेधा तथा बुद्धि उत्पन्न करता है । आलोचक पित्त रूप के प्रतिबिंब को ग्रहण करता है । यह पुतली के बीचो-बीच रहता है और मात्रा में तिल के बराबर है । भ्राजक पित्त शरीर की कान्ति चिकनाई आदि का उत्पादक तथा रक्षक है । आमाशय या अग्न्याशय में स्थित पाचक पित्त अपनी स्वाभाविक शक्ति से अन्य चार पित्तों की क्रिया में भी सहायक होता है । पाचक पित्त को ही पाचकाग्नि या जठराग्नि

भी कहा है। गरम, तीखी, खट्टी, आदि चीजें खाने से पित्त बढ़ता और कुपित होता है, शीतल, मधुर, कसैली, कड़वी, स्निग्ध, वस्तुओं से वह कम और शांत होता है। अरबी में पित्त को सफ़रा और फारसी में तलखा कहते हैं। उपादान उसका अग्नि और स्वभाव गरम खुरक माना है।

जिस प्रकार शारीरिक उष्णता का कारण पित्त माना गया है उसी प्रकार मनोवृत्तियों के तीव्र होने अर्थात् क्रोध आदि मनोविकारों के पैदा करने में भी वह कारण माना गया है। पित्त खौलना, पित्त उबलना, आदि मुहावरों की—जिनका अर्थ क्रुद्ध हो जाना है—उत्पत्ति में इसी कल्पना का आधार जान पड़ता है। अंगरेजी में भी पित्तार्थक Bile शब्द का एक अर्थ क्रोध और क्रोधशीलता है।

पर्या०—मायु। पलज्वल। तेजस्। तिक। धातु। उष्मा। अग्नि। अनल। रंजन।

मुहा०—पित्त उबलना या खौलना = दे० “पित्त उबलना या खौलना”। पित्त गरम होना = शीघ्र क्रुद्ध होने का स्वभाव होना। क्रोधशील होना। मिजाज में गरमी होना। क्रोध की अधिकता होना। जैसे, अभी तुम जवान हो इसीसे तुम्हारा पित्त इतना गरम है। पित्त डालना = कै करना। वमन करना। उल्टा आना।

पित्तकर-वि० [सं०] पित्त को बढ़ाने या उत्पन्न करनेवाला द्रव्य। जैसे, बाँस का नया कल्ला आदि।

पित्तकास-संज्ञा पुं० [सं०] पित्त के दोष से उत्पन्न खाँसी या कास रोग। छाती में दाह; ज्वर, मुँह सूखना, मुँह का स्वाद तीता होना, प्यास लगना, शरीर भर में जलन होना, खाँसी के साथ पीला और कड़वा कफ निकलना; क्रमशः शरीर का पांडुरण्य होते जाना आदि इस रोग के लक्षण हैं।

पित्तघ्न-वि० [सं०] पित्तनाशक (द्रव्य)।

विशेष—वैद्यक ग्रंथों के अनुसार मधुर, तिक्त और कषाय रस वाले संपूर्ण द्रव्य पित्तनाशक हैं।

संज्ञा पुं० घी। घृत।

पित्तघ्नी-संज्ञा स्त्री० [सं०] गुडुच।

पित्तज्वर-संज्ञा पुं० [सं०] वह ज्वर जो पित्त के दोष या प्रकोप से उत्पन्न हो। पित्त वृद्धि से उत्पन्न ज्वर। पैत्तिक ज्वर।

विशेष—वैद्यक ग्रंथों के अनुसार आहार विहार के दोष से बढ़ा हुआ पित्त आमाशय में जाकर स्थित हो जाता है और कोष्ठस्थ अग्नि को वहाँ से निकाल कर बाहर की ओर फेंकता है। अतीसार, निद्रा की अल्पता, कंठ, ओठ, मुँह और नाक का पका सा जान पड़ना, पसीना निकलना, प्रलाप, मुँह का स्वाद कड़वा हो जाना, मूर्छा, दाह, मत्तता, प्यास, भ्रम, मल, मूत्र और आँखों में हल्दी की सी रंगत होना आदि इस ज्वर के लक्षण हैं।

पित्तद्रावी-वि० [सं० पित्तद्राविन्] पित्त को पिघलानेवाला (द्रव्य)।

संज्ञा पुं० मीठा नीबू।

पित्तधरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सुश्रुत के अनुसार आमाशय और पक्वाशय के बीच में स्थित एक कला या झिल्ली। ग्रहणी।

पित्तनाड़ी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का नाड़ी-व्रण जो पित्त के कुपित होने से होता है।

पित्तपथरी-संज्ञा स्त्री० [सं० पित्त + हिं० पथरी] एक रोग जिसमें पित्ताशय अथवा पित्तवाहक नालियों में पित्त की कंकड़ियाँ बन जाती हैं। ये कंकड़ियाँ पित्त के अधिक गाढ़े हो जाने, उसमें कोलस्ट्राई नामक द्रव्य की अधिकता अथवा उसके उपादानों में कोई विशेष परिवर्तन होने से उत्पन्न होती हैं। यद्यपि ये पित्ताशय में बनती हैं पर यकृत और पित्त प्रणालियों में भी पाई जाती हैं। इस रोग में आहार के अंत में पेट में पीड़ा होती है, और पित्ताशय में जलन मालूम होती है। स्पर्श करने से उसमें छोटी छोटी पथरियाँ सी जान पड़ती हैं और वह कड़ा, बड़ा हुआ और पत्थर का सा मालूम होता है। कुछ काल तक इस रोग की स्थिति होने से कामला, आँतों के कार्य में रुकावट और यकृत में फोड़ा आदि अन्य रोग होते हैं।

विशेष—यह रोग आयुर्वेदीय ग्रंथों में नहीं मिलता, इसका पता पाश्चात्य डाक्टरों ने लगाया है।

पित्तपांडु-संज्ञा पुं० [सं०] एक पित्तजनित रोग जिसमें रोगी के मूत्र, विष्टा, नेत्र विशेष रूप से और संपूर्ण शरीर सामान्य रूप से पीला हो जाता है और उसे दाह, तृष्णा तथा ज्वर रहता है।

पित्तपापड़ा-संज्ञा पुं० दे० “पितपापड़ा”।

पित्तप्रकृति-वि० [सं०] जिसकी प्रकृति पित्त की हो। जिसके शरीर में वात और कफ की अपेक्षा पित्त की अधिकता हो।

विशेष—वैद्यक के अनुसार पित्तप्रकृति व्यक्ति को भूख और प्यास बहुत लगती है। उसका रंग गोरा होता है, हथेली, तलुवे और मुँह पर लज्जाई होती है, केश पांडुरण्य और रोँपे कम होते हैं, वह बहुत शूर, मानी, पुष्प चंदनादि के लेप से प्रीति रखनेवाला, सदाचारी, पवित्र, आश्रितों पर दया करनेवाला, वैभव साहस और बुद्धिबल से युक्त होता है, भयभीत शत्रु की भी रक्षा करता है, उसकी स्मरण शक्ति उत्तम होती है, शरीर खूब कसा हुआ नहीं होता, मधुर, शीतल, कड़वे और कसैले भोजन पर रुचि रहती है, शरीर में बहुत पसीना और दुर्गंध निकलती है, विष्टा, भोजन, जलपान, क्रोध, और ईर्ष्या अधिक होती है, वह धर्म का द्वेषी और स्त्रियों को प्रायः अप्रिय होता है, नेत्रों की पुतलियाँ पीली और पलकों में बहुत थोड़े बाल होते हैं, स्वप्न में कनेर, ढाक, आदि के पुष्प, दिग्दाह,

उष्णपात, बिजली, सूर्य तथा अग्नि को देखता है, क्लेशभीत, मध्यम आयु और बलवाला होता है और बाघ, रीछ, बंदर बिल्ली, भेड़िए आदि से उसका स्वभाव मिलता है।

पित्तप्रकोपी-वि० [सं० पित्तप्रकोपिन्] पित्त को बढ़ाने या कुपित करनेवाला (द्रव्य)। (वस्तु) जिसके भोजन से पित्त की वृद्धि हो।

विशेष—तक्र, मद्य, मांस, उष्ण, खट्टी, चरपरी आदि वस्तुएँ पित्तप्रकोपी हैं।

पित्तभेषज-संज्ञा पुं० [सं०] मसूर। मसूर की दाल।

पित्तरक्त-संज्ञा पुं० [सं०] दे० “रक्तपित्त”।

पित्तल-वि० [सं० पित्त] जिससे पित्त का उभाड़ हो। जिससे पित्तदोष बड़े। पित्तकारी (द्रव्य)।

संज्ञा पुं० (१) भोजपत्र। (२) हरताल। (३) पीतलधातु।

संज्ञा स्त्री० (१) जल पीपल। (२) सरिवन। शालपर्णी।

पित्तला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जल पीपल। (२) योनि का एक रोग जो दूषित पित्त के कारण उत्पन्न होता है।

‘भाव प्रकाश’ के मत से योनि में अत्यंत दाह, पाक तथा ज्वर इस रोग के लक्षण हैं।

पित्तवर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] मछली, गाय, घोड़े, हनु और मोर के पित्तों का समूह। पंचविध पित्त।

विशेष—मतांतर से सुअर, बकरे, भैंसे, मछली और मोर के पित्त पित्तवर्ग के अंतर्गत माने गए हैं।

पित्तवल्लभा-संज्ञा स्त्री० [सं०] काला अतीस।

पित्तविदग्ध दृष्टि-संज्ञा पुं० [सं०] आँख का एक रोग जो दूषित पित्त के दृष्टि-स्थान में आ जाने से होता है। इसमें दृष्टि-स्थान पीतवर्ण हो जाता है और साथ ही सारे पदार्थ भी पीले दिखाई पड़ने लगते हैं। दोष आँख के तीसरे परदे या पटल में रहता है इससे रोगी को दिन में नहीं सुझाई पड़ता, वह केवल रात में देखता है।

पित्तविसर्प-संज्ञा पुं० [सं०] विसर्प रोग का एक भेद।

पित्तव्याधि-संज्ञा स्त्री० [सं०] पित्तदोष से उत्पन्न रोग। पित्त के बिगड़ने से पैदा हुई बीमारी।

पित्तशूल-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का शूल रोग जो पित्त के प्रकोप से होता है। इसमें नाभि के आसपास पीड़ा होती है। प्यास लगना, पसीना निकलना, दाह, अम और शोष इस रोग के लक्षण हैं। डाक्टरों के मत से पित्त के अधिक गाढ़े होने अथवा उसकी पथरियों के अंतों में जाने से यह रोग उत्पन्न होता है। ऐसे पित्त या पथरियों के संचार में जो पीड़ा होती है वही पित्तशूल है।

पित्तश्लेश्मज्वर-संज्ञा पुं० [सं०] वह ज्वर जो पित्त और कफ दोनों के प्रकोप अथवा अधिकता से हुआ हो। मुँह का कड़वापन, संझा, मोह, खाँसी, अरुचि,

तृष्णा, क्षणिक दाह और कुछ ठंड लगना आदि इसके लक्षण हैं।

पित्तश्लेश्मालवण-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का सखिपात ज्वर। इसमें शरीर के भीतर दाह और बाहर ठंडा रहता है। प्यास बहुत अधिक लगती है; दाहिनी पसलियों, छाती, सिर और गले में दर्द रहता है; कफ और पित्त बहुत कष्ट से बाहर निकलता है। मल पतला होकर निकलता है; साँस फूलती है और हिचकियाँ आती हैं।

पित्तसंशयन-संज्ञा पुं० [सं०] आयुर्वेदोक्त ओषधियों का एक वर्ग या समूह जिसमें की ओषधियाँ प्रकुपित पित्त को शांत करनेवाली मानी जाती हैं। सुश्रुत के अनुसार इस वर्ग में निम्नलिखित ओषधियाँ हैं—चंदन, लालचंदन, नेत्रवाला, खस, शर्करा, बिदारीकंद, सतावर, गोंदी, सिवार, सफेद कपज, कुई, नील कमल, केला, कँवलगुहा, दूब, मरोरफली (मूर्चा), काकोत्वादिगण, न्यग्रोधादिगण और तृणपंचमूल।

पित्तस्थान-संज्ञा पुं० [सं०] शरीर के वे पाँच स्थान जिनमें वैद्य-ग्रंथों के अनुसार पाचक, रंजक आदि ५ प्रकार के पित्त रहते हैं। ये स्थान आमाशय-पक्वाशय, यकृत-प्लीहा, हृदय, दोनों नेत्र और त्वचा हैं।

पित्तस्त्राव-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक नेत्ररोग जिसमें नेत्रसे धि से पीला या नीला और गरम पानी बहता है।

पित्तहर-संज्ञा पुं० [सं०] खस। उशीर।

पित्तहा-संज्ञा पुं० [सं० पित्तहन्] (१) पित्तपापड़ा।

वि० पित्तनाशक (द्रव्य)।

पित्तांड-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ों के अंडकोश में होनेवाला एक रोग।

पित्ता-संज्ञा पुं० [सं० पित्त] (१) जिगर में वह थैली जिसमें पित्त रहता है। पित्ताशय। विवरण के लिये दे० “पित्ताशय”।

मुहा०—पित्ता उबलना = दे० “पित्ता खौलना”। पित्ता खौलना = बड़ा क्रोध आना। मिजाज भड़क उठना। जैसे, तुम्हारी बातें सुनकर तो उनका पित्ता खौल गया! (पित्त का नाम अग्नि तथा तेज भी है, इन्हीं कारणों से इन मुहावरों की उत्पत्ति हुई है। पित्ता उबलना, पित्ता खौलना आदि पित्त उबलना या पित्त खौलना का लक्षणात्मक रूप है)। पित्ता निकालना†† = काम करके अथवा और किसी प्रकार से किसीको अत्यंत पीड़ित करना। बहुत अधिक परिश्रम का काम करना। पित्ता पानी करना = बहुत परिश्रम करना। जान खड़ाकर काम करना। अति कठोर प्रयास करना। जैसे, इस काम में बड़ा पित्ता पानी करना पड़ेगा। पित्ता मरना =

कुद या उत्तेजित होने की आदत छूट जाना। गुस्ता न रह जाना। जैसे, अब उसका पित्ता बिलकुल मर गया। पित्ता मारना = (१) क्रोध दबाना। क्रोध होने पर चित्त शांत रखना। सहना। उत्तेजना को दबा रखना। जन्त करना। जैसे, मैं पित्ता मार कर रह गया नहीं तो अनर्थ हो जाता। (२) बिना उद्विग्न हुए या जब कोई कठिन काम करते रहना। कोई अरुचिकर या कठिन काम करने में न उबना। जैसे, जो बड़ा पित्ता मारे वह इस काम को कर सकता है। पित्तामार काम = वह काम जो अरुचिकर न हो और बहुत देर में होनेवाला हो। अरुचिकर और कठिन काम। कर्त्ता को उबा देनेवाला काम। मन मारकर किया जानेवाला काम।

(२) हिम्मत। साहस। हौसला। जैसे, उसका कितना पित्ता है जो दो दिन भी तुम्हारे मुकाबिले ठहर सके। पित्तातिसार—संज्ञा पुं० [सं०] वह अतिसार रोग जिसका कारण पित्त का प्रकोप या दोष होता है। मल का लाल, पीला अथवा हरा और दुर्गन्धयुक्त होना, गुदा पक जाना, तृषा, मूर्छा और दाह की अधिकता इस रोग के लक्षण हैं। पित्ताभिस्यन्द—संज्ञा पुं० [सं०] आँख का एक रोग। पित्तकोप से आँख आना। आँखों का उष्ण और पीतवर्ण होना, उनमें दाह और पकाव होना, उनसे धुआँ उठना सा जान पड़ना और बहुत अधिक आँसू गिरना इस रोग के लक्षण हैं। पित्तारि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पित्तपापड़ा। (२) लाख। (३) पीला चंदन।

पित्ताशय—संज्ञा पुं० [सं०] पित्त की थैली। पित्तकोष। यह यकृत या जिगर में पीछे और नीचे की ओर होता है। इसका आकार अमरुद या नासपाती का सा होता है। यकृत में पित्त का जितना अंश भोजनपाक की आवश्यकता से अधिक होता है वह इसीमें आकर संचित रहता है। पित्तिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक ओषधि। एक प्रकार की शतपदी। पित्ती—संज्ञा स्त्री० [सं० पित्त + ई] (१) एक रोग जो पित्त की अधिकता अथवा रक्त में बहुत अधिक वृष्णता होने के कारण होता है। इसमें शरीर भर में छोटे छोटे ददोरे पड़ जाते हैं और उनके कारण त्वचा में हतनी खुजली होती है कि रोगी ज़मीन पर लोटने लगता है।

क्रि० प्र०—उड़लना।

(२) लाल लाल महीन दाने जो पसीना मरने से गरमी के दिनों में शरीर पर निकल आते हैं। अँधौरी।

† संज्ञा पुं० पितृव्य। चचा। काका। बाप का भाई।

पित्तोक्लिष्ट—संज्ञा पुं० [सं०] आँख की पलकों का एक रोग जिसमें पलकों में दाह, क्लेद और अत्यंत पीड़ा होती है, आँखें लाल और देखने में असमर्थ हो जाती हैं।

पित्तोदर—संज्ञा पुं० [सं०] पित्त के बिगड़ने से होनेवाला एक

उदर रोग। इसमें शरीर का वर्ण, नेत्र, नख और मलमूत्र सब पीला हो जाता है और शोष, तृषा, दाह और ज्वर का प्रकोप होता है।

पित्तोल्बण सन्निपात—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का सन्निपातिक ज्वर। आशुकारी ज्वर। इसका लक्षण है—अतिसार, अम, मूर्छा, सुँह में पकाव, देह में लाल दानों का निकल आना और अत्यंत दाह होना।

पितृव्य—वि० [सं०] (१) पितृ संबंधी। (२) आदर करने योग्य। जिसका आदर हो सके।

संज्ञा पुं० (१) शहद। मधु। (२) उरद। (३) बड़ा भाई। (४) पितृतीर्थ। (५) तर्जनी और अँगूठे का अंतिम भाग।

पितृया—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मघा नक्षत्र। (२) पूर्णिमा। (३) अमावास्या।

पिदड़ी—संज्ञा स्त्री० दे० “पिद्दी”।

पिद्दा—संज्ञा पुं० [हिं० पिद्दी] (१) पिद्दी का पुलिंग। विशेष—दे० “पिद्दी”।

(२) गुल्ले की तांत में वह निबाड़ आदि की गद्दी जिस पर गोली को फेंकने के समय रखते हैं। फटकना।

पिद्दी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पिद्दा] (१) बया की जाति की एक सुंदर छोटी चिड़िया जो बया से कुछ छोटी और कई रंगों की होती है। आवाज इसकी मीठी होती है। अपने चंचल स्वभाव के कारण यह एक स्थान पर क्षण भर भी स्थिर होकर नहीं बैठती, फुदकती रहती है इसीसे इसे ‘फुदकी’ भी कहते हैं। (२) बहुत ही तुच्छ और अगण्य जीव।

पिधान—संज्ञा पुं० [सं०] (१) आच्छादन। आवरण। पर्दा। गिलाफ। (२) ढक्कन। ढकना। (३) तलवार का म्यान। खड्ग-कोष। (४) किवाड़ा। उ०—सुख के निधान पाये हिय के पिधान लाये ठग के से लाड़ू खाये प्रेम मधु खाके हैं।—तुलसी।

पिधानक—संज्ञा पुं० [सं०] म्यान। कोष।

पिन—संज्ञा स्त्री० [अ०] लोहे या पीतल आदि की बहुत छोटी कील जिससे कागज इत्यादि नत्थी करते हैं। आलपीन।

पिनकना—क्रि० अ० [हिं० पिनक] (१) अफीम के नशे में सिर का झुका पड़ना। अफीमची का नशे की हालत में आगे की ओर झुकना या ऊँचना। पिनक लेना। (२) नोंद में आगे को झुकना। ऊँचना। जैसे, शाम हुई और तुम लगे पिनकने।

पिनकी—संज्ञा पुं० [हिं० पिनक] वह व्यक्ति जो अफीम के नशे में पिनक लिया करे। पिनकनेवाला अफीमची।

पिनपिन†—संज्ञा स्त्री० [अनु०] (१) बच्चों का अनुनासिक और अस्पष्ट स्वर में ठहर ठहर कर रोने का शब्द। नकियाकर

धीमे धीमे और थोड़ा रुक रुक कर रोने की आवाज। रोगी या दुर्बल बच्चे के रोने का शब्द। (२) पिनपिन करके रोना। बार बार धीमी और अनुनासिक आवाज में रोना। भकियाकर और ठहर ठहरकर रोना। रोगी या दुर्बल बच्चे का रोना।

कि० प्र०—करना।—लगाना।

पिनपिनहाँ†—संज्ञा पुं० [हि० पिनपिन + हा (प्रत्य०)] (१)

पिनपिन करनेवाला बच्चा। रोना लड़का। वह बालक जो हर समय रोधा करे। (२) रोगी या दुर्बल बालक। कमजोर या बीमार बच्चा।

पिनपिनाना†—कि० अ० [हि० पिनपिन] (१) पिनपिन शब्द करना। रोते समय नाक से स्वर निकाटना। (२) धीमे स्वर में और रुक रुक कर रोना। रोगी अथवा कमजोर बच्चे का रोना। चिल्लाकर रोने में असमर्थ बालक का रोना।

पिनपिनाहट†—संज्ञा स्त्री० [हि० पिनपिनाना] (१) पिनपिन करके रोने का शब्द। (२) पिनपिन करके रोने की क्रिया या भाव।

पिनसन†—संज्ञा स्त्री० दे० “पेंशन”।

पिनसिन†—संज्ञा स्त्री० दे० “पेंशन”।

पिनाक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव का धनुष जिसे श्रीराम-चंद्र जी ने जनकपुर में तोड़ा था। अजगव।

मुहा०—पिनाक होना = (किसी काम का) अत्यंत कठिन होना। (किसी काम का) दुष्कर या असाध्य होना। उ०—तुम्हारे बिग्रे यह जरा सा काम भी पिनाक हो रहा है।

(२) कोई धनुष। (३) त्रिशूल। (४) एक प्रकार का अश्रक। नीला अश्रक। नीलाश्र।

पिनाकी—संज्ञा पुं० [सं० पिनाकिन्] (१) महादेव। शिव। (२) एक प्रकार का प्राचीन बाजा जिसमें तार लगा रहता था और जो उसी तार को छेड़ने से बजता था।

पिन्नस†—संज्ञा स्त्री० दे० “पीनस”।

पिन्ना†—वि० [हि० पिनपिनाना] जो सदा रोता रहे। रोनेवाला। रोना।

संज्ञा पुं० (१) दे० “पींजन”। (२) धनुकी। (३) दे० “पीना”।

पिन्नी—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की मिठाई, जो आटे या और अन्नचूर्ण में चीनी या गुड़ मिलाकर बनाई जाती है।

पिन्यास—संज्ञा पुं० [सं०] हींग।

पिन्हाना†—कि० स० दे० “पहनाना”।

पिपरमिंट—संज्ञा पुं० [अ०] पुदीने की जाति का पर रूप में इससे सिद्ध एक पौधा जो युरोप और अमेरिका में होता है। इसकी पत्तियों में एक विशेष प्रकार की गंध और ठंडक होती है जिसका अनुभव स्पर्शा और जीभ पर बड़ा तीव्र

होता है। इनका व्यवहार औषध में होता है। पेट के दर्द में यह विशेषतः दिया जाता है। इसका पौधा देखने में भांग के पौधे से मिलता जुलता होता है। टहनियाँ दूर तक सीधी जाती हैं जिनमें थोड़े थोड़े अंतर पर दो दो पत्तियाँ और फूलों के गुच्छे होते हैं। पत्तियाँ भांग की पत्तियों की सी होती हैं।

पिपरामूल—संज्ञा पुं० [सं०] पिप्पली मूल। पीपल की जड़।

पिपराही†—संज्ञा पुं० [हि० पीपर + आही (प्रत्य०)] पीपल का बन। पीपल का जंगल।

पिपली—संज्ञा स्त्री० [देश० नेपाली] एक पेड़ जो नेपाल, दार्जिलिंग आदि में होता है। इसकी लकड़ी बहुत मजबूत होती है और किवाड़, चौकटे, चौकियाँ आदि बनाने के काम में आती है।

पिपासा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पानेच्छा। तृष्णा। तृषा। प्यास। (२) डालच। लोभ। जैसे, धन की पिपासा।

पिपासित—वि० [सं०] तृषित। प्यासा।

पिपासु—वि० [सं०] (१) तृषित। पानेच्छु। प्यासा। (२) उग्र इच्छा रखनेवाला। तीव्र इच्छुक। डालची। जैसे, रक्तपिपासु, अर्थपिपासु।

पिपीतक—संज्ञा पुं० [सं०] भविष्य पुराण के अनुसार एक ब्राह्मण जिसने पिपीतकी द्वादशी का व्रत पहले पहल किया था।

पिपीतकी—संज्ञा स्त्री० [सं०] वैशाख शुक्ल द्वादशी। भविष्य पुराण में यह एक व्रत का दिन कहा गया है। पहले पहल इस व्रत को पिपीतक नाम के एक ब्राह्मण ने किया था जिसकी कथा इस प्रकार है। पिपीतक को यमदूत ले गए। यमलोक में उसे बड़ी प्यास लगी और वह व्याकुल होकर चिल्लाने लगा। अंत में उसने यमराज की बड़ी स्तुति की जिससे प्रसन्न होकर उन्होंने उसे फिर मर्त्यलोक में भेजा और वैशाख शुक्ल द्वादशी का व्रत बताया। इस व्रत में ठंडे पानी से भरे हुए बड़े ब्राह्मण को दिए जाते हैं।

पिपीलक—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अल्प० पिपीलिका] चींटा। चिड़ंटा।

पिपीलिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] चिड़ंटी। चींटी। कीड़ी।

पिपीलिकाभक्षी—संज्ञा पुं० [सं०] दक्षिण अफ्रीका का एक जंतु जिसे बहुत लंबा थूथन और बहुत बड़ी जीभ होती है। इसे दाँत नहीं होते। अगले पंजे बहुत दृढ़ होते हैं जिनसे यह चींटियों के बिल खोदता है। यह उँगलियों के बल चलता है, तलवों के बल नहीं। इसके कंधे मोटे और भदे होते हैं। गौरदन से रीढ़ तक लंबे लंबे बाल होते हैं। यह चींटियों के बिलों में अपने थूथन को डालकर उन्हें खींच लेता है। चींटी के आहार के बिना यह जंतु नहीं रह सकता।

पिपीलिका मातृका दोष—संज्ञा पुं० [सं०] एक बाल रोग जो जन्म के दिन से ग्यारहवें दिन, ग्यारहवें महीने या ग्यारहवें वर्ष होता है। इसमें बालक को ज्वर होता है और उसका आहार छूट जाता है।

पिप्पटा—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की मिठाई।

पिप्पल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीपल का पेड़। अरवत्थ। (२) एक पत्ती। (३) रेवती से उत्पन्न मित्र का एक पुत्र। (भागवत)। (४) नंगा आदमी। नग्न व्यक्ति। (५) जल। (६) वृक्ष खंड। (७) अंगे आदि की बाँह या आस्तीन। (८) एक पत्ती।

पिप्पलक—संज्ञा पुं० [सं०] स्तनमुख।

पिप्पलयांग—संज्ञा पुं० [सं०] चीन और जापान में होनेवाला एक पौधा जो अब भारतवर्ष में भी फैल गया है और गढ़वाल, कमाऊँ और काँगड़े की पहाड़ियों में पाया जाता है। इसके फलों के बीज के ऊपर चरबी सा चिकना पदार्थ होता है जिसे चीनी मोम कहते हैं। सोमचीना।

पिप्पलाद—संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि जो अथर्ववेद की एक शाखा के प्रवर्तक थे और जिनका नाम पुराणों में आया है।

पिप्पली—संज्ञा स्त्री० [सं०] पीपल।

पिप्पलीखंड—संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार एक प्रस्तुत औषध। पीपल का चूर्ण ४ पल, धी ६ पल, शतमूली का रस ८ पल, चीनी दो सेर, दूध ८ सेर एक साथ पकावे, फिर पाग में इलायची, मोथा, तेजपत्ता, धनियाँ, सोंठ, वंश-लोचन, जीरा, हड़, आंवला और मिर्च डाले और ठंडे होने पर ३ पल मधु भी मिला दे।

पिप्पलीमूल—संज्ञा पुं० [सं०] पिपरामूल। पीपलामूल।

पिप्पल्यादिगण—संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार औषधियों का एक वर्ग जिसके अंतर्गत पिप्पली, चीता, अदरक, मिर्च, इलायची, अजवायन, इंद्रजौ, जीरा, सरसों, बकायन, हींग, भागी, अतिविषा, वच, विडंग और कुटकी हैं।

पिप्पिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] दाँतों की मैल।

पिप्पीक—संज्ञा पुं० [सं०] एक पत्ती।

पिप्पु—संज्ञा पुं० [सं०] जतुमणि।

पिय—संज्ञा पुं० [सं० प्रिय] स्त्री का पति। स्वामी। उ०—बहुरि वदन विधु अंचल हाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी ॥ खंजन मंजु तिरीछे नैननि। निज पति कहैउ तिन्ह-हिं सिय सैननि।—तुलसी।

पियर—वि० दे० “पीयर”, “पीला”।

पियरई—संज्ञा स्त्री० [हिं० पियर] पीलापन।

पियरवा—संज्ञा पुं० दे० “पियारा”, “प्यारा”।

पियरई—संज्ञा स्त्री० [हिं० पियर, पियर + आई (प्रत्य०)] पीलापन। कर्दी।

पियराना—क्रि० अ० [हिं० पियर] पीला पड़ना। पीला होना।

पियरी—वि० स्त्री० दे० “पीली”।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पियर] (१) पीली रंगी हुई धोती। (२) पीलापन। (३) एक प्रकार का पीला रंग जो गाय को आम की पत्तियाँ खिलाकर उसके मूत्र से बनाया जाता है।

पियरोला—संज्ञा पुं० [हिं० पीयर] पीले रंग की एक चिड़िया जो मैना से कुछ छोटी होती है और जिसकी बोली बहुत मीठी होती है।

पियली—संज्ञा स्त्री० [हिं० प्याली] नारियल की खोपरी का वह टुकड़ा जिसे बड़ई आदि बरमे के ऊपरी सिरे के काँटे पर इसलिये रख लेते हैं जिसमें छेद करने के लिये बरमा सहज में धूम सके।

पियल्ला—संज्ञा पुं० [हिं० पीला] दूध का बच्चा। उ०—तियन को तल्ला दिय, तियन पियल्ला त्यागे दौसत प्रबल्ला मल्ला धाये राजद्वार को।—रघुराज।

संज्ञा पुं० दे० “पियरोला”,

पियवास—संज्ञा पुं० दे० “पियावाँसा”।

पिया—संज्ञा पुं० दे० “पिय”।

पियाज—संज्ञा पुं० “प्याज”।

पियाजी—वि० दे० “प्याजी”।

पियादा—संज्ञा पुं० दे० “प्यादा”।

पियाना—क्रि० स० दे० “पिलाना”।

पियानो—संज्ञा पुं० [अं०] एक प्रकार का बड़ा अंगरेजी बाजा जो मेज़ के आकार का होता है। इसके भीतर स्वरों के लिये कई मोटे पतले तार होते हैं जिनका संबंध ऊपर की पटरियों से होता है। पटरियों पर ठोकर लगाने से स्वर निकलते हैं।

पियावाँसा—संज्ञा पुं० [सं० प्रिय, हिं० पिय + वाँस] कटसरैया। कुरवक।

पियार—संज्ञा पुं० [सं० पियाल] मझोले आकार का एक पेड़ जो देखने में महुवे के पेड़ सा जान पड़ता है। पत्ते भी इसके महुवे के पत्तों से मिलते जुलते होते हैं। वसंत ऋतु में इसमें आम की सी मंजरियाँ लगती हैं जिनके झड़ने पर फावसे के बराबर गोल गोल फल लगते हैं। इन फलों में मीठे गूदे की पतली तह होती है जिसके नीचे चिपटे बीज होते हैं। इन बीजों की खिरी खाद में बादाम और पिस्ते के समान मीठी होती है और मेवों में गिनी जाती है। यह गिरी चिरौजी के नाम से बिकती है। पियार के पेड़ भारतवर्ष भर के विशेषतः दक्षिण के जंगलों में होते हैं। हिमालय के नीचे भी थोड़ी ऊँचाई तक इसके

पेड़ मिलते हैं, पर यह विशेषतः विंध्य पर्वत के जंगलों में पाया जाता है। इसके धड़ में चिरा लगाने से एक प्रकार का बढिया गोंद निकलता है जो पानी में बहुत कुछ घुल जाता है। कहीं कहीं यह गोंद कपड़े में साड़ी देने के काम में आता है, और छीपी इसका व्यवहार करते हैं। छाल और फल अच्छे वारनिश का काम दे सकते हैं। इसकी लकड़ी उतनी मजबूत नहीं होती पर लोग उससे खिलौने, मुठिया, और दरवाजे के चौखटे आदि भी बनाते हैं। पत्तियाँ चारे के काम में आती हैं। इस वृक्ष के संबंध में यह समझ रखना चाहिए कि यह जंगलों में आपसे आप उगता है, कहीं लगाया नहीं जाता। इसे कहीं कहीं अचार भी कहते हैं।

†वि० दे० “प्यारा”।

†संज्ञा पुं० दे० “प्यार”।

पियारा†—वि० दे० “प्यारा”।

पियाल—संज्ञा पुं० [सं०] चिरौजी का पेड़। दे० “पियार”।

पियाला—संज्ञा पुं० दे० “प्याला”।

पियास†—संज्ञा स्त्री० दे० “प्यास”।

पियासा†—वि० दे० “प्यासा”।

पियासाल—संज्ञा पुं० [सं० पीतसाल, प्रियसालक] बहेड़े या अर्जुन की जाति का एक बड़ा पेड़ जो भारतवर्ष के जंगलों में प्रायः सर्वत्र होता है। पत्ते भी बहेड़े के पत्तों के समान चौड़े चौड़े होते हैं जो शिशिर ऋतु में झड़ जाते हैं। फल भी बहेड़े के समान होते हैं और कहीं कहीं चमड़ा सिक्काने के काम में आते हैं। लकड़ी इसकी मजबूत होती है और मकानों में लगती है। गाड़ी, नाव और मूसल आदि भी इस लकड़ी के अच्छे होते हैं। इसकी छाल से पीला रंग बनता है। रंग के अतिरिक्त छाल दवा में काम आती है। लाख भी इसमें लगता है। छोटा नागपुर और सिंहभूमि के आसपास टसर के कोष पियासाल के पेड़ों पर पाये जाते हैं। वैद्यक में पियासाल कोष्ठ, विसर्प, प्रमेह, कुमि, कफ और रक्तपित्त को दूर करनेवाला तथा त्वचा और केशों को हितकारी माना गया है। इसे सज भी कहते हैं।

पर्या०—पीतसार। पीतसालक। प्रियक। असन। पीतशाल। महासर्ज।

पियूष*—संज्ञा पुं० दे० “पियूष”।

पियूष*—संज्ञा पुं० दे० “पियूष”।

पिरकी†—संज्ञा स्त्री० [सं० पिडक, पिडका] फोड़िया। फुंसी।

पिरता—संज्ञा पुं० [सं० पट्ट] काठ या पत्थर का टुकड़ा जिसपर रुई की पूती रखकर दबाते हैं।

पिरथी†—संज्ञा स्त्री० दे० “पृथ्वी”।

पिरना†—संज्ञा पुं० [देश०] चौपायों का लँगड़ापन।

पिराई†—संज्ञा स्त्री० दे० पियराई”। उ०—यों उजराई, पिराई, ललाई मलाई हू के न मुलायमी है तन।

पिराक—संज्ञा पुं० [सं० पिठक, प्रा० पिठक, पिडक] एक पकवान। गोष्ठा। गोक्षिया। मैदे की पतली लोई के भीतर सूजी, खोवा, मेवे आदि मीठे के साथ भरते हैं और उसे अर्द्धचंद्राकार मोड़कर धी में तलकर निकाल लेते हैं।

पिराना†—कि० अ० [सं० पीडन] (१) पीड़ित होना। दर्द करना। दुखना। उ०—चलत चलत मग पाँय पिराने।—सूर। (२) पीड़ा अनुभव करना। दुःख समझना। सहा-तुभूति करना। उ०—सेइ साधु सुनि समझि कै पर-पीर पिरातो।—तुलसी।

पिरारा†—संज्ञा पुं० दे० “पिंडारा”,। उ०—रूप रस रासि पास पथिक ! पिरारे ऐन नैन ये तिहारे ठग ठाकुर मदन के।—रघुनाथ।

पिरिच†—संज्ञा पुं० [देश०] कटोरा। तश्तरी।

पिरिया†—संज्ञा पुं० [देश०] (१) कुँ से पानी निकालने का रहँट। (२) एक प्रकार का बाजरा।

पिरीतम†—संज्ञा पुं० दे० “प्रियतम”।

पिरीता*—वि० [सं० प्रीत = प्रसन्न] प्रिय। प्यारा। उ०—हा रघुनंदन प्रान पिरीते। तुम बिनु जियत बहुत दिन बीते।—तुलसी।

पिरोजा†—संज्ञा पुं० [फा० फीरोज ?] कटोरा। तश्तरी।

पिरोजन—संज्ञा पुं० [हिं० पिरोना] बालक के कान छेदने की रीति। कनछेदन।

पिरोजा—संज्ञा पुं० [फा० फीरोजा] हरापन लिए एक प्रकार का नीला पत्थर। दे० “फीरोजा”।

पिरोड़ा†—संज्ञा स्त्री० [देश०] पोली कड़ी मिट्टी की भूमि।

पिरोना—कि० सं० [सं० प्रोत, प्रा० पोहना, प्रोत्र + ना (प्रत्य०)] (१) छेद के सहारे सूत तागे आदि में फँसाना। सूत तागे आदि में पहनाना। गूथना। पोहना। जैसे, तागे में मोती पिरोना, माला पिरोना। (२) सूत, तागे आदि को किसी छेद के आर पार निकालना। तागे आदि को छेद में डालना। जैसे, सुई में तागा पिरोना।

संयो० क्रि०—देना।—लेना।

पिरोला—संज्ञा पुं० [हिं० पीला] पियरोला पक्षी।

पिरोहना†—कि० सं० दे० “पिरोना”।

पिलई†—संज्ञा स्त्री० [सं० प्लीहा] बरबट। तापतिछी।

पिलक—संज्ञा पुं० [हिं० पीला] (१) पीले रंग की एक चिड़िया जो मैना से कुछ छोटी होती है और जिसका कंठस्वर बहुत मधुर होता है। यह ऊँचे पेड़ों पर घोंसला बनाती है और तीन या चार अंडे देती है। पियरोला। जर्दक। (२) अवजक कबूतर।

पिलकना—क्रि० स० [सं० पिल = प्रेरित करना] (१) गिराना ।

(२) लुढ़काना । ढकेलना ।

पिलकिया—संज्ञा पुं० [देश०] पीलापन लिए खाकी रंग की एक छोटी चिड़िया जो जाड़े के दिनों में पंजाब से आसाम तक दिखाई देती है । यह चट्टानों के नीचे बच्चे देती है ।

पिलखन†—संज्ञा पुं० [सं० प्लन] पाकर का पेड़ ।

पिलड़ी†—संज्ञा स्त्री० [देश०] कीमा । मसालेदार कीमा ।

पिलचना—क्रि० अ० [सं० पिल = प्रेरण] (१) दो आदमियों का खूब भिड़ना । गुथना । लिपटना । (२) (किसी काम आदि में) खूब लग जाना । तत्पर होना । लीन होना ।

पिलना—क्रि० अ० [सं० पिल = प्रेरण] (१) किसी ओर एक बारगी टूट पड़ना । ढल पड़ना । झुक पड़ना । झँस पड़ना जैसे, सब लोग उस मंदिर में पिल पड़े ।

संयो० क्रि०—पड़ना ।

(२) एक बारगी प्रवृत्त होना । एक बारगी लग जाना । लिपट जाना । भिड़ जाना । जैसे, किसी काम में पिल पड़ना । (३) पेरा जाना । तेल निकालने के लिये दवाना ।

संयो० क्रि०—जाना ।

पिलपिल†—वि० दे० “पिलपिला” ।

पिलपिला—वि० [अनु०] इतना नरम और ढीला कि दवाने से भीतर का रस या गूदा बाहर निकलने लगे । भीतर से गीला और नरम । जैसे, आम पककर पिलपिला हो गया है, फोड़ा पिलपिला हो गया है ।

पिलपिलाना—क्रि० स० [हिं० पिलपिला] भीतर से रसदार या गूदेदार वस्तु को दवाना जिससे रस या गूदा ढीला होकर बाहर निकलने लगे । जैसे, (क) आम को पिलपिलाओ मत । (ख) फोड़े को पिलपिलाने से मवाद आता है ।

संयो० क्रि०—डालना । —देना ।

पिलपिलाहट—संज्ञा स्त्री० [हिं० पिलपिला] दबकर गूदे या रस के ढीले होने के कारण आई हुई नरमी ।

पिलवाना—क्रि० स० [हिं० “पिलाना” का प्रे०] पिलाने का काम करना । दूसरे को पिलाने में लगाना । जैसे, थोड़ा पानी पिलवा दो ।

संयो० क्रि०—देना ।

क्रि० स० [हिं० पेलना] पेलने या पेरने का काम करना । पेरवाना । जैसे, कोरहू में पिलवाना ।

पिलाना—क्रि० स० [हिं० पीना] (१) पीने का काम कराना । पान कराना । जैसे, तुम्हें ज़बरदस्ती दवा पिलाएँगे ।

(२) पीने को देना । जैसे, पानी पिलाओ ।

संयो० क्रि०—देना ।

(३) किसी छेद में ढाल देना । भीतर भरना । जैसे, (क) कान में सीसा पिलाना । (ख) दीवार के दरारों में सीसा

या राँगा पिलाना । (ग) यह छड़ी इतनी भारी है मानो भीतर लोहा पिलाया है ।

मुहा०—(कोई बात) पित्राना = कान में भरना । जी में जमाना ।

पिलुंडा†—संज्ञा पुं० दे० “डुलुंडा” ।

पिलुक—संज्ञा पुं० [सं०] पीलू का पेड़ ।

पिलुनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] मूर्वा ।

पिलुपर्णी—संज्ञा स्त्री० [सं०] मूर्वा ।

पिल्ल—संज्ञा पुं० [सं०] एक नेत्ररोग जिसमें आँखों से थोड़ा थोड़ा कीचड़ बहा करता है और वे चिपचिपाती रहती हैं ।

पिल्लका—संज्ञा स्त्री० [सं०] हस्तिनी । हथिनी ।

पिल्ला—संज्ञा पुं० [देश०] कुत्ते का बच्चा ।

पिल्लू—संज्ञा पुं० [सं० पीलू = कृमि] बिना पैर का सफेद लंबा कीड़ा जो सड़े हुए फल या घाव आदि में देखा जाता है । ढोला ।

पिव*—संज्ञा पुं० दे० “पिय” ।

पिवाना†—क्रि० स० दे० “पिलाना” ।

पिशंग—संज्ञा पुं० [सं०] पीलापन लिए भूरा रंग । धूमला रंग । वि० उक्त रंग का । भूरे रंग का ।

पिशाच—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० पिशाची] एक हीन देवयोनि । भूत ।

विशेष—यक्षों और राक्षसों से पिशाच हीन कोटि के कहे गए हैं और इनका स्थान मरुस्थल बताया गया है । ये बहुत अशुचि और गंदे कहे गए हैं । युद्ध क्षेत्रों आदि में इनके वीभत्स कांडों का वर्णन कवि लोगों ने किया है, जैसे खोपड़ी में रक्त पीना आदि ।

पिशाचक—संज्ञा पुं० [सं०] भूत । पिशाच ।

पिशाचकी—संज्ञा पुं० [सं० पिशाचकिन्] कुबेर ।

पिशाचक्र—संज्ञा पुं० [सं०] सिंहोर का पेड़ । शाखोट वृक्ष ।

पिशाचघ्न—वि० [सं०] पिशाचों को नष्ट या दूर करनेवाला ।

संज्ञा पुं० पीली सरसों । (प्रेत उतारनेवाले ओम्फा प्रायः पीली सरसों फेंकते हैं)

पिशाचचर्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] श्मशान-सेवन जैसा शिव जी करते हैं ।

पिशाचवृक्ष—संज्ञा पुं० [सं०] शाखोट वृक्ष । सिंहोर का पेड़ ।

पिशाचिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] छोटी जटामासी ।

पिशाची—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पिशाच स्त्री । (२) जटामासी ।

पिशिक—संज्ञा पुं० [सं०] एक देश का नाम । (बृहत्संहिता)

पिशित—संज्ञा पुं० [सं०] माँस । गोश्त ।

पिशिता—संज्ञा स्त्री० [सं०] जटामासी ।

पिशी—संज्ञा स्त्री० [सं०] जटामासी ।

पिशील—संज्ञा पुं० [सं०] मिट्टी का प्याला या कटोरा । (शतपथ ब्रा०)

पिशुन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक की बुराई दूसरे से करके भेद डालनेवाला । चुगलखोर । झूठ की उधर लगानेवाला । दुर्जन । खल । (२) कुंकुम । केसर । (३) कपिवक्त्र । नारद । (४) काक । कौआ । (५) तगर । (६) कपास ।

पिशुना—संज्ञा स्त्री० [सं०] चुगलखोरी ।

पिशुनता—संज्ञा स्त्री [सं०] असवर्ग ।

पिशोन्माद—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का उन्माद या पागलपन जिसमें रोगी प्रायः ऊपर को हाथ उठाए रहता है; अधिक बकता और भोजन करता है, रोता तथा गंदा रहता है ।

पिशोर—संज्ञा पुं० [देश०] हिमालय की एक झाड़ी जिसकी टहनियों से बोझ बाँधते हैं और टोकरे आदि बनाते हैं ।

पिष्ट—वि० [सं०] पिसा हुआ । चूर्ण किया हुआ ।

संज्ञा पुं० (१) पानी के साथ पिसा हुआ अन्न, विशेषतः दाल । पीठी । पिट्टी । (२) कचौरी या पूआ । रोट ।

पिष्टक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पिष्ट । पीठी । पिट्टी । (२) कचौरी या पूआ । रोट । (३) एक नेत्ररोग । फूला । फूली । (४) विशेष प्रकार का अस्थिभंग । (सुश्रुत) । (५) सीसा धातु ।

पिष्टप—संज्ञा पुं० [सं०] लोक । भुवन ।

पिष्टपेषण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पिसे हुए का पीसना । (२) कही बात को फिर फिर कहना ।

पिष्टप्रमेह—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का प्रमेह जिसमें चावल के पानी के समान पदार्थ मूत्र के साथ गिरता है ।

पिष्टमेह—संज्ञा पुं० [सं०] पिष्टप्रमेह ।

पिष्टसौरभ—संज्ञा पुं० [सं०] चंदन । (जिसे पीसने से सुगंध निकलती है) ।

पिष्टात—संज्ञा पुं० [सं०] गुलाल । अबीर ।

पिष्टालिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] चंदन ।

पिष्टिक—संज्ञा पुं० [सं०] चावलों से बनाई हुई तबासीर या बंसलोचन ।

पिष्टोडी—संज्ञा स्त्री० [सं०] श्वेताम्बी का पौधा ।

पिसंग—वि० दे० “पिशंग” ।

पिसनहारी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पीसना + हारी (प्रत्य०)] आटा पीसनेवाली । वह स्त्री जिसकी जीविका आटा पीसने से चलती हो ।

पिसना—क्रि० अ० [हिं० पीसना] (१) रगड़ या दबाव से टूटकर महीन टुकड़ों में होना । दाब या रगड़ खाकर सूक्ष्म खंडों में विभक्त होना । चूर्ण होना । चूर होकर धूल सा हो जाना । जैसे, गेहूँ पिसना, मसाला पिसना ।

संयो० क्रि०—जाना ।

(२) पिसकर तैयार होनेवाली वस्तु का तैयार होना । जैसे आटा पिसना, पिट्टी पिसना ।

संयो० क्रि०—जाना ।

(३) दब जाना । कुचल जाना । जैसे, पहिये के नीचे पैर पड़ेगा तो पिस जायगा ।

संयो० क्रि०—उठना ।—जाना ।

(४) घोर कष्ट, दुःख या हानि उठाना । पीड़ित होना । जैसे, (क) एक दुष्ट के साथ न जाने कितने निरपराध पिस गए । (ख) महाजन के दिवाले से न जाने कितने गरीब पिस गए ।

संयो० क्रि०—जाना ।

(५) परिश्रम से अत्यंत थका हुआ होना । अत्यंत शांत होना । थककर बेदम होना ।

पिसवाना—क्रि० सं० [हिं० “पीसना” का प्रे०] पीसने का काम कराना ।

पिसाई—संज्ञा स्त्री० [हिं० पीसना] (१) पीसने की क्रिया या भाव । (२) पीसने का काम या व्यवसाय । (३) चक्की पीसने का काम । आटा पीसने का धंधा । जैसे, वह पिसाई करके अपना पेट चलाती है । (४) पीसने की मजदूरी । (५) अत्यंत अधिक श्रम । बड़ी कड़ी मिहनत । जैसे, वहाँ नौकरी करना बड़ी पिसाई है ।

पिसाच—संज्ञा पुं० दे० “पिशाच” ।

पिसाना—संज्ञा पुं० [हिं० पिसना, पिसा + अन्न] अन्न का बारीक पिसा हुआ चूर्ण । धूल की तरह पिसी हुई अनाज की बुकनी । आटा ।

मुहा०—पिसान होना = दबकर चूर होना ।

पिसिया—संज्ञा पुं० [हिं० पिसना] एक प्रकार का छोटा और मुलायम लाल गेहूँ ।

पिसी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पिसना] गेहूँ ।

पिसुन—संज्ञा पुं० दे० “पिशुन” ।

पिसुराई—संज्ञा स्त्री० [देश०] सरकंडे का एक छोटा टुकड़ा जिसपर रुई लपेट कर पूती बनाते हैं ।

पिसेरा—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का हिरन जिसके ऊपर का हिस्सा भूरा और नीचे का काला होता है । इसकी ऊँचाई १ फुट और लंबाई २ फुट होती है । यह दक्षिण भारत में पाया जाता है । यह बड़ा डरपोक होता है और सुगमता से पाया जा सकता है । यह पत्थरों की चट्टानों की आड़ में रहता है और दिन को बाहर कहीं नहीं निकलता ।

पिसैनी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पीसना] (१) पीसने का काम । चक्की पीसने का धंधा । (२) कठिन काम । परिश्रम का काम ।

पिस्तई—वि० [फा० पिस्तः] पिस्ते के रंग का । पीलापन लिए हरा ।

पिस्ता—संज्ञा पुं० [फा० पिस्तः] काकड़ा की जाति का एक छोटा पेड़ जो शाम, दमिशक, हराक और खुरासान से लेकर

अफगानिस्तान तक थोड़ा बहुत होता है और जिसके फल की गिरी अच्छे मेवों में है। इसके पत्ते गुलचीनी के पत्तों के से चौड़े चौड़े होते हैं और एक सीक में तीन तीन लगे रहते हैं। पत्तों पर नसें बहुत स्पष्ट होती हैं। फल देखने में महुवे के से लगते हैं। रूमी मस्तगी के समान एक प्रकार का गोंद उस पेड़ से भी निकलता है। पिस्ते के पत्तों पर भी काकड़ासींगी के समान एक प्रकार की लाही सी जमती है जो विशेषतः रेशम की रँगई में काम आती है। पिस्ते के बीज से तेल भी बहुत सा निकलता है जो दवा के काम में आता है।

पिस्तौल—संज्ञा स्त्री० [अ० पिस्तल] तमंचा। छोटी बंदूक।

पिस्ती—संज्ञा स्त्री० [हिं० पिसना] एक प्रकार का गेहूँ।

पिस्तू—संज्ञा पुं० [फा० परशः] एक छोटा उड़नेवाला कीड़ा जो मच्छड़ों की तरह काटता और रक्त पीता है। कुटकी।

पिहकना—क्रि० अ० [अ०] कोयल, पपीहे, मोर आदि सुंदर कंठवाले पक्षियों का बोलना।

पिहरा—संज्ञा पुं० [हिं० पिहान] पास के ऊपर जो पत्ती बिछाई जाती है। (कुम्हार)

पिहान—संज्ञा पुं० [सं० पिधान] बरतन का ढक्कन। ढकना। ढाँकने की वस्तु।

पिहित—वि० [सं०] छिपा हुआ।

संज्ञा पुं० एक अर्थात्कार जिसमें किसी के मन का कोई भाव जानकर किया द्वारा अपना भाव प्रगट करना वर्णन किया जाय। उ०—गौर मिसिल ठाढ़ी शिवा अंतरजामी नाम। प्रकट करी रिस साह को, सरजा करि न सलाम। यहाँ शिवा जी ने औरंगजेब का उपेक्षाभाव जानकर उसे सलाम न कर अपना क्रोध प्रकट किया।

पिहुवा—संज्ञा पुं० [देश०] एक पक्षी।

पिहोली—संज्ञा पुं० [देश०] एक पौधा जो मध्य प्रदेश और वरार से लेकर बंबई के आस पास तक होता है। यह पान के बाड़ों में लगाया जाता है। इसकी पत्तियों से बड़ी अच्छी सुगंध निकलती है। इन पत्तियों से इत्र बनाया जाता है, जो पचौली के नाम से प्रसिद्ध है।

दे० “पचौली”

पिंगा—संज्ञा स्त्री० दे० “पेंग”।

पंजना—क्रि० सं० [सं० पंजन = धुनकी] रुई धुनना।

पंजर—संज्ञा पुं० दे० “पिंजड़ा” या “पंजर”।

पंजरा—संज्ञा पुं० दे० “पिंजड़ा”।

पिंड—संज्ञा पुं० [सं० पिंड] (१) शरीर। देह। पिंड। उ०—बिन जिव पिंड छार करि कूरा। छार मिलावइ सो हित पूरा।—जायसी। (२) वृक्ष का घड़। वृक्ष देह। तना। पेड़ी। (३) किसी गीली वस्तु का गोला।

पिंड। पिंडी। (४) कोल्हू के चारों ओर गीली मिट्टी का बनाया हुआ घेरा जिससे ईख की अंगारियाँ या छोटे टुकड़े छटक कर बाहर नहीं निकलने पाते। (५) चरखे का मध्य भाग। बेलन। (६) दे० “पीड़”। उ०—(क) शिली की भाँति शिर पींड डोलत सुभग चाप ते अधिक नवमाल शोभा।—सूर। (ख) पींड श्रीखंड शिर भेष नटवर कसे अंग इक छठा मैं ही भुलाई।—सूर। (७) पिंड खजूर नामक फल। उ०—खरिक दाख अरु गिरी चिरारी, पींड बदाम लेत बनवारी।—सूर।

पींडी—संज्ञा स्त्री० दे० “पिंडी”।

पींडुरी—संज्ञा स्त्री० दे० “पिंडुली”।

पी—संज्ञा पुं० दे० “पिय”।

[अ०] पपीहे की बोली। उ०—पी पी करत पपीहा पापी प्राण त्याग कर देंहैं।—श्रीनिवासदास।

पीक—संज्ञा स्त्री० [सं० पिच = दवाना, निचोड़ना] (१) थूक से मिला हुआ पान का रस। चबाए हुए बीड़े या गिलौरी का रस। पान के रंग से रंगा हुआ थूक।

यौ—पीकदान। पीकलीक।

(२) पहली बार का रंग। वह रंग जो कपड़े को पहली बार रंग में डुबोने से चढ़ता है। (रंगरेज)

[लश०] जँचनीच। ऊबड़खाबड़। असमतल। नाहमवार।

पीकदान—संज्ञा पुं० [हिं० पीक + फा० दान = आधार; पात्र] एक विशेष प्रकार का बना हुआ वह बरतन या पात्र जिसमें पान की पीक थूकी या डाली जाती है। उगालदान।

पीकना—क्रि० अ० [सं० पिक अथवा पपीहे की बोली ‘पी’ से अनुकृत] पिहिकना। पपीहे या कोयल का बोलना। उ०—अब न धीर धारत बनत सुरत बिसारी कंत। पिक पापी पीकन लगे बगरेड बाग बसन्त।

पीका—संज्ञा पुं० [देश०] किसी वृक्ष का नया कोमल पत्ता। कोपल। पल्लव। उ०—कहै पदमाकर परागन में पानहू में पातन में पीकन पलासन पतंग है।—पद्माकर।

मुहा०—पीका फूटना = पनपना। पल्लवित होना। कोपलें फेंकना।

उ०—जामु चरन जल सींचन पाई। पीका फूटि हरित है जाई।—रघुराज।

पीच—संज्ञा स्त्री० [सं० पिच] भात का पसाव। माँड़।

पीचू—संज्ञा पुं० [देश०] (१) एक प्रकार का झाड़। चीलू। जरदालू। (२) करील का पक्का फल। पक्का कचड़ा या टेंटी।

पीछा—संज्ञा स्त्री० [हिं० पीच] पीच। माँड़।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पीछे या पिछला] पक्षियों की दुम।

पीछा—संज्ञा पुं० [सं० परचात, प्रा० पच्छा] (१) किसी व्यक्ति

या वस्तु का वह भाग जो सामने की विरुद्ध दिशा में हो। किसी व्यक्ति या वस्तु के पीछे की ओर का भाग। पश्चात् भाग। पुरत। “आगा” का उलटा। जैसे, (क) इस इमारत का आगा जिना अच्छा बना है उतना अच्छा पीछा नहीं बना है। (ख) इस अंगरखे का पीछा ठीक नहीं बना है।

मुहा०—पीछा दिखाना = (१) भगना। हारकर घर का रास्ता लेना। पीठ दिखाना। जैसे, कुछ दो ही घंटे की लड़ाई के बाद शत्रु ने पीछा दिखाया। (२) दे० “पीछा देना”। पीछा देना = किसी काम में पहले साथ देकर फिर किनारा करना। पीछे जाना। मौके पर हट जाना या धोखा देना। पहले भरोसा दिला कर पीछे सहायता न देना। पीछा भारी होना = (१) पीछे की ओर शत्रु का होना। पीछे की ओर से भय या खतरा होना। (२) कुमुक आ जाने से सेना का पश्चात् भाग सबल हो जाना।

(२) किसी घटना का पश्चात्वर्ती काल। किसी घटना के बाद का समय। जैसे, (क) व्याह का पीछा है, इसीसे हाथ इतना तंग है। (ख) इतने बड़े रईस (की सृष्टि) का पीछा है, हजारों रुपए लग जायेंगे। (३) पीछे पीछे चलकर किसीके साथ लगे रहने का भाव। जैसे, (क) बड़े का पीछा है, कुछ न कुछ देही जायगा। (ख) चार साल तक इस साधु का पीछा किया पर इसने कुछ भी न बताया।

मुहा०—पीछा करना = (१) किसीके पीछे पीछे जाना या फिरा करना। हर समय किसीके साथ या समीप बने रहना। कोई काम निकालने के लिये या किसी आशा से किसीके साथ लगे रहना। (२) अनिच्छुक व्यक्ति से कोई काम कराने के लिये अत्यंत आग्रह करना या बहुत समय तक आग्रह करते रहना। किसी बात के लिये किसीको तंग या दिक करना। गले पड़ना। जैसे, अब तो तुम इस काम के लिये मेरा पीछा न करते तो मैं तुम्हारा बड़ा उपकार मानता। (३) किसीको पकड़ने, मारने या भगाने आदि के लिये उसके पीछे पीछे चलना। खदेड़ना। **पीछा छुड़ाना** = (१) पीछा करनेवाले से छुटकारा प्राप्त करना। किसी बात के आग्रह से तंग या दुखी करनेवाले से अपने आपको दूर कर लेना। गले पड़े हुए व्यक्ति से जान छुड़ाना। जैसे, बड़ी कठिनाई से इस आदमी से पीछा छुड़ाया है। (२) अप्रिय या इच्छाविरुद्ध संबंध का अंत करना। दुःखदायी संबंध से छुटकारा प्राप्त करना। दुःखद प्रतीत होनेवाले कार्य को समाप्त कर सकता या कर लेना। जैसे, किसी आशंका से पीछा छुड़ाना, किसी काम से पीछा छुड़ाना। **पीछा छूटना** = (१) पीछा करनेवाले से छुटकारा मिलना। अप्रिय साथ का कष्ट दूर होना। गले पड़े हुए का साथ छूटना। पिंड छूटना। जान छूटना। (२) अप्रिय कार्य या संबंध से छुटकारा मिलना। दुःखद वस्तु का अंत या

समाप्ति होना। रिहाई मिलना। **पीछा छोड़ना** = (१) पीछा करने का काम बंद करना। किसी आशा या प्रयोजन से किसीके साथ फिरना बंद करना। सहारा छोड़ना। (२) किसी बात के लिये किसीसे अत्यंत आग्रह करना बंद करना। जान खाना छोड़ना। तंग करना बंद करना। (३) जिस बात में बहुत देर से लगे हों उसे छोड़ देना। **पीछा पकड़ना** = किसी आशा से किसीका समीपवर्ती, दरबारी या साथी बनना। आश्रय का आकांक्षी बनना। सहारा बनाना। जैसे, किसी रईस का पीछा पकड़ना।

पीछू * †—क्रि० वि० दे० “पीछे”।

पीछे—अव्य० [हिं० पीछा] (१) पीठ की ओर। जिधर मुँह हो उसकी विरुद्ध दिशा में। आगे या सामने का उलटा। पश्चात्। जैसे, जरा अपने पीछे तो देखो कि कौन खड़ा है।

मुहा०—(किसी के) पीछे चलना = (१) किसी विषय में किसीको पथदर्शक, नेता या गुरु मानना। कार्य विशेष में किसीका पदानुसरण करना। किसीका अनुयायी या अनुगामी होना। अनुकरण करना। जैसे, वह ऐसा वैसा आदमी नहीं है, उसके पीछे चलनेवालों की संख्या हजारों से ऊपर है। (२) एक आदमी ने जैसा किया हो वैसा ही करना। किसी का अनुकरण करना। नकल करना। जैसे, खोज के विषय में भारतीय विद्वान् भी बहुधा युरोपीय पंडितों के पीछे चले हैं। **(किसी के) पीछे छूटना** = (१) किसीके साथ रहकर उसका भेद लेने या उसकी गतिविधि पर दृष्टि रखने के लिये नियुक्त किया जाना। जासूस बनाकर किसीके साथ लगाया जाना। जैसे, आज कल उनके पीछे कई आदमी छूटे हैं। (२) किसी भागे हुए आदमी को पकड़ने के लिये नियुक्त किया जाना। **(किसी के) पीछे छोड़ना या भेजना** = (१) जासूस या भेदिया बनाकर किसीको किसीके साथ लगाना। गुप्त रूप से किसीके साथ रहकर उसका भेद लेने या उसके कामों से जानकारी रखने के लिये किसीको नियत करना। साथ लगाना। (२) किसी आदमी को पकड़ने के लिये किसीको भेजना या दौड़ाना। किसीका पीछा करने के लिये किसीको भेजना। **(धन) पीछे डालना** = खर्च से बचाकर भविष्य की आवश्यकता के लिये कुछ रखना। अगे के लिये बटोरना। संचय करना। जैसे, प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि अपनी कमाई में से कुछ न कुछ पीछे डालता जाय। **(किसी के) पीछे डालना** = पीछे छोड़ना। पीछे दौड़ाना। जैसे, उसने चोरों के पीछे सवार डाले। **(किसी के) पीछे दौड़ाना** = (१) गप या जाते हुए आदमी को फेर लाने के लिये किसीको रवाना करना। किसीको लौटा लाने के लिये किसीको दौड़ाना या भेजना। (२) भागे या भागते हुए को पकड़ लाने के लिये किसीको भेजना। भागे या भागते हुए का पीछा करने के लिये किसीको रवाना करना। **(किसी काम के) पीछे पड़ना**

= किसी काम को कर डालने पर तुल जाना । किसी कार्य के लिये अविराम उद्योग करना । किसी कार्य की सिद्धि के लिये आग्रहयुक्त होना । बार बार विफल होने पर भी किसी काम के लिये उत्साह के साथ प्रयत्न करते रहना । (किसी व्यक्ति के) पीछे पड़ना = (१) कोई काम करने के लिये किसी से बार बार कहना । किसी से कोई प्रार्थना करते हुए आग्रहयुक्त होना । किसी के पीछे लग कर उससे कोई अनुरोध करना । घेरना । जान खाना । तंग करना । (२) किसीके संबंध में कोई ऐसा कार्य बार बार आग्रहपूर्वक करना जिससे उसे कष्ट पहुँचे या उसका अपकार हो । मौका या संधि ढूँढ़ ढूँढ़ कर किसीको बुराई करते रहना । किसीको हानि पहुँचाने के लिये आग्रहयुक्त होना । जैसे, बरसों से यह दुष्ट न जाने क्यों मेरे पीछे पड़ रहा है । पीछे लगना = (१) किसी आशा या प्रयोजन से किसीके पीछे पीछे चला करना । साथ हो लेना । साथ साथ चलना । पीछे पीछे घूमना । पीछा करना । जैसे, तुम तो कितने दिनों से उनके पीछे लगे हो पर अभी तक हाथ कुछ न आया । (२) अनिष्ट या अप्रिय वस्तु का संबंध हो जाना । दुःखजनक वस्तु का साथ हो जाना । रोग कष्टादि का देर तक बना रहना । जैसे, रोग पीछे लगना, सुसीबत पीछे लगना आदि । (अपने) पीछे लगाना = (१) आश्रय देना । साथ कर लेना । (२) रोग दुःख आदि की प्राप्ति और स्थिति में स्वतः कारण होना । अनिष्ट वस्तु से संबंध कर लेना । पालना । जैसे, सुसीबत पीछे लगाना; झंझट पीछे लगाना आदि । (किसी और के) पीछे लगाना = (१) साथ लगा देना । अनिष्ट या अप्रिय वस्तु से संबंध करा देना । मद्द देना । जैसे, तुमने यह अच्छी सुसीबत हमारे पीछे लगा दी । (२) भेद लेने या निगाह रखने के लिये किसीको साथ कर देना । किसी आदमी को किसीका पीछा करने के लिये नियुक्त करना या भेजना । कार्यवाहियों देखते रहने के लिये किसी आदमी को उसके साथ कर देना । किसीके साथ रहने के लिये नियुक्त करना ।

विशेष—‘धीरे’ आदि कितने ही अन्य अव्ययों के समान ‘पीछे’ भी प्रायः आवृत्ति के साथ आता है; जैसे, पीछे पीछे आना, पीछे पीछे चलना, पीछे पीछे घूमना आदि । इस रूप में अर्थात् आवृत्तिपूर्वक यह जित क्रिया का विशेषण होता है उसका लगातार अधिक समय तक होना सूचित होता है ।

(२) पीछे की ओर कुछ दूर पर । पीठ की अथवा आगे की विरुद्ध दिशा में । कुछ दूर पर । जैसे, (क) उनके मकान को तुम बहुत पीछे छोड़ आए । (ख) वह गाँव बहुत पीछे छूट गया ।

मुहा०—पीछे छूटना, पड़ना या होना = (१) किसी विषय में किसीसे कम होना । गुण, योग्यता आदि की तुलना में किसीसे न्यून रह जाना । किसी विषय में किसी व्यक्ति की अपेक्षा

घट कर होना । पिछड़ा होना । जैसे, और विषयों की तो मैं नहीं कह सकता, पर रचनाभ्यास में तुम उससे बहुत पीछे छूट गए हो । (२) किसी विषय में किसीसे आदमी से घट जाना जिससे किसी समय बराबरी रही हो । पिछड़ा जाना । जैसे, बीमारी के कारण वह अपने सहपाठियों से बहुत पीछे छूट गया (प्रायः इस अर्थ में यह क्रिया ‘जाना’ से संयुक्त ही होकर आती है) । (किसी को) पीछे छोड़ना = (१) किसी विषय में किसीसे बढ़कर या अधिक होना । किसी विषय में किसीकी अपेक्षा अधिक सामर्थ्यवान् होना या योग्यता रखना । जैसे, इस विषय में वह हजारों को पीछे छोड़ गया है । (२) किसी विषय में किसीसे बढ़ जाना । किसीसे आगे निकल जाना । किसी विषय में किसी विशेष व्यक्ति की अपेक्षा अधिक योग्य या सामर्थ्यवान् हो जाना ।

(३) देश या कालक्रम में किसीके पश्चात् या उपरांत । स्थिति या घटना के विचार से किसीके अनंतर कुछ दूर या कुछ देर बाद । किसी वस्तु या व्यापार के पश्चाद्वर्ती स्थान या काल में । पश्चात् । उपरांत । अनंतर । जैसे, (क) पचास हाथ लंबी पाँत में सब लोग एक दूसरे के पीछे खड़े थे । (ख) तुम्हारे काशी आने के कितना पीछे यह घटना हुई ? (४) अंत में । आखिर में । (क्व०) । जैसे, पहले तो वे बहुत दिनों तक पढ़ते रहे पीछे बीमार पड़ने के कारण उनका पढ़ना लिखना छूट गया । (५) किसीकी अनुपस्थिति या अभाव में । किसीकी अविद्यमानता में । पीठ पीछे । जैसे, किसीके पीछे उसकी बुराई करना अच्छा काम नहीं । (६) मर जानेपर । इस लोक में न रह जाने की दशा में । मरणोपरांत । जैसे, (क) आदमी के पीछे उसका नाम ही रह जाता है । (ख) वे अपने पीछे चार बच्चे, एक विधवा और प्रायः पचास हजार का ऋण छोड़ गए । (७) लिये । वास्ते । कारण । अर्थ । खातिर । जैसे, इस आदमी के पीछे मैंने क्या क्या कष्ट न सहा पर यह ऐसा कृतज्ञ निकला कि सब भूल गया । (८) कारण । निमित्त । बदौलत । जैसे, तुम्हारे पीछे हमें भी दस बात सुननी पड़ी ।

पीजन—संज्ञा पुं० [सं० पिंजन] भेड़ों के बाल धुनकने की धुनकी । (गड़ेरिण्)

पीजर—संज्ञा पुं० दे० “पिजड़ा” ।

पीजरा—संज्ञा पुं० दे० “पिँजड़ा” ।

पीटना—संज्ञा पुं० दे० “पिटना” ।

पीटना—क्रि० सं० [सं० पीडन] (१) किसी वस्तु पर चोट पहुँचाना । मारना ।

संयो० क्रि०—डालना ।—देना ।—लेना ।

मुहा०—छाती पीटना = दुःख या शोक प्रकट करने के लिये छाती पर हाथ से आघात करना। किसी बात को पीटना = किसी बात या किर्य पर तीव्र दुःखें प्रकाश करना। किसी बात को सोच सोच कर दुःखित होना। हाथ हाथ करना। सिर धुनना। (खि०)। किसी व्यक्ति को या के लिये पीटना = किसी व्यक्ति की मृत्यु का शोक करना। किसीके मरने पर छाती पीटना। मातम करना। उ०—आँख फूटे जो भर नजर देखे। मुक्त को पीटे अगर इधर देखे।—एक उर्दू कवि।

(२) अघात पहुँचा कर किसी वस्तु को फैंलाना या बढ़ाना। चोट से चिपटा या चौड़ा करना। जैसे, पत्तर पीटना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।—लेना।

(३) किसी जीवधारी पर आघात करना। किसीके शरीर को चोट अथवा पीड़ा पहुँचाना। मारना। प्रहार करना। ठोकना। जैसे, आज तुमने भारी अपराध किया है; तुम्हारे बाप तुम्हें अवश्य पीटेंगे।

संयो० क्रि०—डालना।

(४) किसी न किसी प्रकार कर डालना या कर लेना। भले या बुरे प्रकार से कर डालना। येन केन प्रकारेण किसी काम को समाप्त या संपन्न कर लेना। निबटा देना। जैसे, शाम तक इस काम को अवश्य पीट डालूँगा।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।

(५) किसी न किसी प्रकार प्राप्त कर लेना। येन केन प्रकारेण उपार्जित करना। फटकार लेना। जैसे, शाम तक चार रुपए पीट लेता हूँ।

संयो० क्रि०—लेना।

संज्ञा पु० (१) मृत्युशोक। मातम। पिट्स। जैसे, यहाँ यह कैसा पीटना पड़ा हुआ है? (२) आपद्। मुसीबत। आफत।

पीठ—संज्ञा पु० [सं०] (१) लकड़ी, पत्थर या धातु का बना हुआ बैठने का आधार या आसन। पीड़ा। चौकी। विशेष—दे० “पीड़ा”। (२) व्रतियों विद्यार्थियों आदि के बैठने का आसन। कुशासन आदि। (३) किसी मूर्ति के नीचे का आधारपिंड। मूर्ति का वह आसनवत भाग जिसके ऊपर वह खड़ी रहती है। मूर्ति का आधार। (४) किसी वस्तु के रहने की जगह। अधिष्ठान। जैसे, विद्यापीठ। (५) सिंहासन। राजासन। तख्त। (६) बेदी। देवपीठ। (७) वह स्थान जहाँ पुराणानुसार दक्ष-पुत्री सती का कोई अंग वा आभूषण विष्णु के चक्र से कट कर गिरा है।

विशेष—ऐसे स्थान भिन्न भिन्न पुराणों के मत से ५१, ५३, ७७ अथवा १०८ हैं। इनमें से कुछ की महापीठ और कुछ

की उपपीठ संज्ञा है। शिवचरित नामक ग्रंथ में, जिसमें कुछ ७७ पीठ गिनाए गए हैं, २१ को महापीठ और २६ को उपपीठ कहा है। ये सब स्थान तांत्रिक तथा शाक्तधर्म के अनुसार अति पुरानी और सिद्धिदायक माने गए हैं। इन स्थानों में जपादि करने से शीघ्र सिद्धि और दान होय ज्ञान आदि करने से अक्षय पुण्य होना माना गया है। इन स्थानों की उत्पत्ति के संबंध में पुराणों में यह कथा है—शिव से अग्रसक्त होकर उनके ससुर दक्ष ने उनको अपमानित करने का निश्चय किया। उन्होंने बृहस्पति नामक यज्ञ आरंभ किया जिसमें त्रिभुवन के यावत् देवी देवताओं को निमंत्रित किया पर शिव और अपनी कन्या सती को न पूछा। सती बिना बुलाए भी पिता के समारंभ में सम्मिलित होने को तैयार हो गई और शिव ने भी अंत को उनकी हठ रक्ख ली। सती जब बाप के यज्ञस्थान में पहुँची तब दक्ष ने उनका आदर अभ्यर्थना तो न की, वे भगवान् भूतनाथ की जी भरकर निंदा करने लगे। सती को पूज्य पति की निंदा सुनना असह्य हुआ। वे यज्ञकुंड में कूब पड़ीं और जल मरीं। उनके साथ शिव के जो अनुचर गए थे उन्होंने लौटकर शिव को यह समाचार सुनाया जिसे सुनकर शिवजी क्रोध से पागल हो उठे और उन्होंने भीर-भद्रादि अनुचरों के साथ जाकर दक्ष को मार डाला और उनका यज्ञ विध्वंस कर दिया। सती के विच्छेद का उनको इतना दुःख हुआ कि वे उनकी मृत देह को कंधे पर रखकर चारों ओर नाचते हुए घूमने लगे। अंत को भगवान् विष्णु ने इस दशा से उनका उद्धार करने के अभिप्राय से अपने चक्र द्वारा धीरे धीरे सती के सारे शव को काटकर गिरा दिया। जिन जिन स्थानों पर उनका कोई अंग या आभूषण कटकर गिरा उन सब में एक एक शक्ति और भैरव भिन्न भिन्न नाम तथा रूप से अवस्थान करते हैं। जिन स्थानों में कोई एक अंग गिरा वे महापीठ और जिनमें किसी अंग का अंश या कोई अलंकार मात्र गिरा वे उपपीठ हुए। इन महापीठों, उपपीठों और उनमें अवस्थान करनेवाली शक्तियों और भैरवों के नाम तंत्रचूडामणि आदि तंत्रग्रंथों और देवीभागवत, काविकापुराण आदि पुराणों में दिए हुए हैं। काशी में कान के कुंडल का गिरना कहा गया है। यहाँ की शक्ति का नाम मणिकर्ण, अन्नपूर्ण या विशालाक्षी और भैरव का कालभैरव है।

(८) प्रदेश। प्रांत। (९) बैठने का एक विशेष ढंग। एक आसन। (१०) कंस के एक मंत्री का नाम। (११) एक विशेष असुर। (१२) वृत्त के किसी अंश का पूरक। संज्ञा स्त्री० [सं० पृष्ठ] प्राणियों के शरीर में पेट की दूसरी ओर का भाग जो मनुष्य में पीछे की ओर तिथ्यक पशुओं

पक्षियों, कीड़े मकड़ों आदि के शरीर में ऊपर की ओर पड़ता है। पृष्ठ। पुरत।

मुहा०—पीठ का = दे० “पीठ पर का”। पीठ का कच्चा = (घोड़ा) जो देखने में दृष्ट पुष्ट और सजीला हो पर सवारी में ठीक न हो। (ऐसा घोड़ा) जिसकी चाल से सवार प्रसन्न न हो। चाल न जाननेवाला (घोड़ा)। **पीठ का सच्चा = (घोड़ा)** जिसमें अच्छी चाल हो। चालदार (घोड़ा)। (ऐसा घोड़ा) जो सवारी के समय सुख दे। **पीठ की = दे० “पीठ पर की”। पीठ चारपाई से लग जाना =** बीमारी के कारण अत्यंत दुबला और कमजोर हो जाना। उठने बैठने में असमर्थ हो जाना। **पीठ खाली होना =** सहायक हीन होना। कोई सहारा देनेवाला या हिमायती न होना। पीठ पर किसीका न होना। **पीठ ठोकना = (१)** कोई उत्तम कार्य करने के लिये अभिनंदन करना। किसीके कार्य से प्रसन्नता प्रकट करना। किसीके कार्य की प्रशंसा करना। शबासी देना। जैसे, तुम्हारे पीठ ठोकने से ही वे आज सुभ्र से लड़ गए। (२) किसी कार्य में अग्रसर होने के लिये साहस देना। हिम्मत बढ़ाना। प्रोत्साहित करना। (३) प्यार से किसीकी पीठ पर थपथपाना। किसी पर प्यार जताना या करना। पीठ पर हाथ फेरना। **पीठ तोड़ना =** कमर तोड़ना। हिम्मत तोड़ना। हताश कर देना। **पीठ दिखाना =** युद्ध या मुकाबिले से भाग जाना। मैदान छोड़ देना। पीछा दिखाना। जैसे, कुल एकही घंटे लोहा बजने के बाद शत्रु ने पीठ दिखाई। **पीठ दिखाकर जाना =** स्नेह तोड़ कर या ममता छोड़कर जाना। घरवालों या प्रियवर्ग से विदा होना। परदेश के लिये प्रस्थान करना। **पीठ देना = (१)** यात्रार्थ किसी या कहीं से विदा होना। रखसत होना। (२) विमुख होना। मुँह मोड़ना। (३) भाग जाना। पीठ दिखाना। (४) किनारा खींचना। साथ न देना। पीछा देना। (५) चारपाई पर पीठ रखना। सोना। लेटना। आराम करना। जैसे, (क) आज तीन दिन से दो मिनट के लिये भी मैं पीठ न दे सका। (ख) काम के मारे आजकल मुझे पीठ देना हराम हो रहा है। (यह मुहावरा निषेधार्थ या निषेधार्थक वाक्य में ही प्रयुक्त होता है जैसा कि उदाहरणों से प्रकट होता है) **किसीकी ओर पीठ देना = (१)** किसीकी ओर पीठ करके बैठना। मुँह फेर लेना। (२) अरुचिपूर्वक उपेक्षा प्रकट करना। किसीकी ओर ध्यान देने या उसकी बात सुनने से अनिच्छा दिखाना। **पीठ पर =** एक ही माता द्वारा जन्म क्रम में पीछे। एक ही माता की संतानों में से किसी विशेष के जन्म के अनंतर। जैसे, इस लड़के की पीठ पर क्या तुम्हारे कोई संतान नहीं हुई? **पीठ पर का =** जन्म क्रम में अपने सहोदर के अनंतर का। **पीठ पर खाना =** भागते हुए मार खाना। भागने की दशा में पिटना। कायरता प्रकट करते हुए घायक होना। **पीठ मीजना = दे० “पीठ पर हाथ फेरना”। पीठ पर हाथ फेरना = दे० “पीठ ठोकना”।**

पीठ पर होना = (१) सहायक होना। सहायता के लिये तैयार होना। मदद पर होना। हिमायत पर होना। जैसे, आज मेरी पीठ पर कोई होता तो मैं इस प्रकार दीन हीन बनकर क्यों भटकता फिरता? (२) जन्म क्रम में अपने किसी भाई या बहिन के पीछे होना। अपने सहोदरों में से किसी के पीछे जन्म ग्रहण करना। **पीठ पीछे =** किसीके पीछे। अनुपरिस्थिति में। परोक्ष में। जैसे, पीठ पीछे किसीकी निंदा नहीं करनी चाहिए। **पीठ फेरना = (१)** बिदा होना। चला जाना। रखसत होना। (२) भाग जाना। पीठ दिखाना। (३) किसी की ओर पीठ कर देना। मुँह फेर लेना। (४) अरुचि या अनिच्छा प्रकट करना। उपेक्षा सूचित करना। (किसीकी) **पीठ लगाना =** चित होना। कुशती में हार खाना। पटका जाना। पछाड़ा जाना। (घोड़े बैल आदि की) **पीठ लगाना =** पीठ पर घाव हो जाना। पीठ पक जाना। (चारपाई आदि से) **पीठ लगाना =** लेटना। सोना। पड़ना। कल लेना। आराम करना। (किसीकी) **पीठ लगाना =** चित कर देना। कुशती में हरा देना। पछाड़ देना। पटकना। (घोड़े बैल आदि की) **पीठ लगाना =** घोड़े या बैल को इस प्रकार कसना या लादना कि उसकी पीठ पर घाव हो जाय। सवारी या पीठ पर घाव कर देना।

(१३) किसी वस्तु की बनावट का ऊपरी भाग। किसी वस्तु की बाहरी बनावट। पृष्ठ भाग। भीतरी भाग या पेट का उलटा।

पीठक—संज्ञा पुं० [सं०] पीड़ा।

पीठ का मोजा—संज्ञा पुं० [हिं० पीठ + फा० मोजा] कुशती का एक पेंच। इसमें जब जोड़ कंधे पर बायाँ हाथ रखने आता है तब दाहिने हाथ से उसको उड़ाकर उलटा कर देते हैं और कलाई के ऊपर के भाग को इस प्रकार पकड़ते हैं कि अपनी कोहनी उसके कंधे के पास जा पहुँचती है, फिर झट पैतरा बदल कर जोड़ की पीठ पर जाने के इरादे से बढ़ते हुए बाएँ हाथ से बाएँ पाँव का मोजा उठा कर गिरा देते हैं।

पीठ के डंडे—संज्ञा पुं० [हिं० पीठ + हिं० डंडा] कुशती का एक पेंच। इसमें जब खिलाड़ी जोड़ की पीठ पर होता है तब शत्रु की बगल से लेकर दोनों हाथ गर्दन पर चढ़ाने चाहिएँ और गर्दन को दबाते हुए भीतरी अड़ानी टाँग मार कर गिराना चाहिए।

पीठकेलि—संज्ञा पुं० [सं०] पीठमर्द नायक।

पीठगर्भ—संज्ञा पुं० [सं०] वह गड्ढा जो मूर्ति को जमाने के लिये पीठ (आसन) पर खोदकर बनाया जाता है।

पीठचक्र—संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का रथ।

पीठदेवता—संज्ञा पुं० [सं०] आचार शक्ति। आदि देवता।

पीठनायिका देवी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पुराणानुसार किसी पीठस्थान की अधिष्ठात्री देवी। (२) दुर्गा। भगवती।

पीठन्यास—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का तंत्रोक्त न्यास जो प्रायः सभी तांत्रिक पूजाओं में आवश्यक है।

पीठभू—संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीर के आस पास का भूभाग। चहारदीवारी के आस पास की जमीन।

पीठमर्द—संज्ञा पुं० [सं०] (१) नायक के चार सखाओं में से एक जो बचनचातुरी से नायिका का मानमोचन करने में समर्थ हो। यह शृंगार रस के उद्दीपन विभाव के अंतर्गत है। (२) वह नायक जो कुपित नायिका को प्रसन्न कर सके। मानमोचन में समर्थ नायक।

विशेष—संस्कृत के अधिकांश आचार्यों ने पीठमर्द को नायक का भेद भी माना है परंतु कुछ रसाचार्यों ने इसकी गणना सखाओं में की है।

पीठविवर—संज्ञा पुं० [सं०] “पीठगर्भ”।

पीठसर्प—वि० [सं०] लँगड़ा।

पीठसर्पी—वि० [सं०] पीठसर्पिन् । लँगड़ा।

पीठस्थान—संज्ञा पुं० [सं०] (१) दे० “पीठ (७)”। (२) सिंहासनवत्तीसी के अनुसार ‘प्रतिष्ठान’ (आधुनिक कुंसी) का एक नाम।

पीठा—संज्ञा पुं० दे० “पीठा”। उ०—आवत पीठा बैठन दीन्हों कुशल बूझि अति निकट बुलाई।—सूर।

संज्ञा पुं० [सं०] पिष्टक, प्रा० पिडक] एक पकवान जो आटे की लोइयों में चने या उरद की पीठी भर कर बनाया जाता है। पीठी में नमक, मसाला आदि देकर आटे की लोइयों में उसे भरते हैं और फिर लोई का मुँह बंद कर इसे गोल, चौकोर, या चिपटा कर लेते हैं। फिर उन सब को एक बर्तन में पानी के साथ आग पर चढ़ा देते हैं। कोई कोई उसे पानी में न उबाल कर केवल भाप पर पकाते हैं। घी में चुपड़ कर खाने से यह अधिक स्वादिष्ट हो जाता है। पूरब की तरफ इसको फरा या फारा भी कहते हैं। कदाचित् इस नामकरण का कारण यह हो कि पक जाने पर लोई का पेट फट जाता है और पीठी झलकने लगती है।

संज्ञा पुं० दे० “पठा”।

पीठि—संज्ञा स्त्री० दे० “पीठ”।

पीठिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पीड़ा। (२) मूर्ति खंभे आदि का मूल या आधार। (३) अंश। अध्याय।

पीठी—संज्ञा स्त्री० [सं०] पिष्ट या पिष्टक, प्रा० पिडा] पानी में भिगोकर पीसी हुई ढाल विशेषतः उरद या मूँग की ढाल जो बरे, पकौड़ी आदि बनाने अथवा कचौरी में भरने के काम में आती है।

क्रि० प्र०—पीसना।—भरना।

पीड़—संज्ञा पुं० [देश०] मिट्टी का आधार जिसे घड़े को पीट कर बढ़ाते समय उसके भीतर रख लेते हैं।

संज्ञा स्त्री० [सं०] आपीड़] सिर या बालों पर बांधा जानेवाला एक प्रकार का आभूषण। उ०—करधर के धामैर सखी री। कै सुक् सीरज की बगपंगति, कै मयूर की पीड़ परखीरी।—सूर।

संज्ञा स्त्री० दे० “पीड़ा”।

पीड़क—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीड़ा देने या पहुँचानेवाला। दुःखदायी। यंत्रणादाता। (२) अत्याचारी। उत्पीड़क। सतानेवाला।

पीड़न—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० पीडक, पीडनाय, पीडित] (१) दवाने की क्रिया। किसी वस्तु को दवाना। चाँपना। (२) पेरना। पेलना। (३) दुःख देना। यंत्रणा पहुँचाना। तकलीफ देना। (४) अत्याचार करना। उत्पीड़न। (५) आक्रमण द्वारा किसी देश को बर्बाद करना। (६) फोड़े को पीव निकालने के लिए दवाना। (७) किसी वस्तु को भली भाँति पकड़ना। दबोचना। (८) सूर्य चंद्र आदि का ग्रहण। (९) उच्छेद। नाश। (१०) अभिभव। तिरोभाव। लोप।

पीड़नीय—वि० [सं०] पीड़न करने योग्य। दुःख पहुँचाने योग्य।

संज्ञा पुं० (१) मंत्री और सेना से रहित राजा। (याज्ञवल्क्य स्मृति)। (२) चार प्रकार के शत्रुओं में से एक। (याज्ञवल्क्य स्मृति)

पीड़ा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी प्रकार का दुःख पहुँचने का भाव। शारीरिक या मानसिक क्लेश का अनुभव। वेदना। व्यथा। तकलीफ। दर्द। (२) रोग। व्याधि। (३) सिर में लपेटी हुई माला। शिरोमाला। (४) एक सुगंधित ओषधि। धूप सरल। सरल।

पीड़ास्थान—संज्ञा पुं० [सं०] कुंडली में उपचय अर्थात् लग्न से तीसरे, छठे, दसवें और ग्यारहवें स्थान के अतिरिक्त स्थान। अशुभ ग्रहों के स्थान।

पीड़ित—वि० [सं०] (१) पीड़ायुक्त। जिसे व्यथा या पीड़ा पहुँची हो। दुःखित। क्लेशयुक्त। (२) रोगी। बीमार। (३) दबाया हुआ। जिसपर दाय पहुँचाया गया हो। (४) उच्छिन्न। नष्ट किया हुआ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्त्रियों के कान का छेद। कर्णभेद। (२) तंत्रसार में दिए हुए एक प्रकार के मंत्र।

पीडुरी—संज्ञा स्त्री० दे० “पिँडुरी”।

पीड़ा †—संज्ञा पुं० [सं०] पीठ अथवा पीठक] चौकी के आकार का वह आसन जिसपर हिंदू लोग विशेषतः भोजन करते समय बैठते हैं। इसकी लंबाई डेढ़ से हाथ, चौड़ाई पौन या एक हाथ और ऊँचाई चार छ अंगुल से प्रायः अधिक नहीं होती। अधिकतर यह आम की लकड़ी से बनाया जाता है। अमीर लोग संगमरमर और

राजा महाराज सोने चाँदी आदि के भी पीढ़े बनवाते हैं।
पाटा। पीठ। पीठक।

पीढ़ी—संज्ञा स्त्री० [सं० पीठिका] (१) किसी विशेष कुल की परंपरा में किसी विशेष व्यक्ति की संतति का क्रमागत स्थान। किसी कुल या वंश में किसी विशेष व्यक्ति से आरंभ करके उससे ऊपर या नीचे के पुरुषों का गणनाक्रम से निश्चित स्थान। किसी व्यक्ति से या उसकी कुलपरंपरा में किसी विशेष व्यक्ति से आरंभ करके बाप, दादे परदादे आदि अथवा बेटे, पोते, परपोते आदि के क्रम से पहला दूसरा चौथा आदि कोई स्थान। पुरत। जैसे, (क) ये राजा कृष्णसिंह की चौथी पीढ़ी में हैं। (ख) यदि वंशोद्भूति संबंधी नियमों का भली भाँति पालन किया जाय तो हमारी तीसरी पीढ़ी की संतान अवश्य यथेष्ट बलवान और दीर्घजीवी होगी।

विशेष—पीढ़ी का हिसाब ऊपर और नीचे दोनों ओर चलता है। किसी व्यक्ति के पिता और पितामह जिस प्रकार क्रमसे उसकी पहली और दूसरी पीढ़ी में हैं उसी प्रकार उसके पुत्र और पौत्र भी। परंतु अधिकतर स्थलों में अकेला पीढ़ी शब्द नीचे के क्रम का ही बोधक होता है; ऊपर के क्रम का सूचक बनाने के लिये प्रायः उसके आगे “ऊपर की” विशेषण लगा देते हैं। यह शब्द मनुष्यों ही के लिये नहीं अन्य सब पिंडज और अंडज प्राणियों के लिये भी प्रयुक्त हो सकता है।

(२) उपर्युक्त किसी विशेष स्थान अथवा पीढ़ी के समस्त व्यक्ति या प्राणी। किसी विशेष व्यक्ति अथवा प्राणी का संतति समुदाय। जैसे, (क) हमारे पूर्वजों ने कदापि न सोचा होगा कि हमारी कोई पीढ़ी ऐसे कर्म करने पर भी उतारू हो जायगी। (ख) यह संपत्ति हमारे पास तीन पीढ़ियों से चली आ रही है। (३) किसी जाति, देश अथवा लोकमंडल मात्र के बीच किसी काल विशेष में होनेवाला समस्त जन-समुदाय। कालविशेष में किसी विशेष जाति, देश अथवा समस्त संसार में वर्तमान व्यक्तियों अथवा जीवों आदि का समुदाय। किसी विशेष समय में वर्ग विशेष के व्यक्तियों की समष्टि। संतति। संतान। नस्ल। जैसे, (क) भारतवासियों की अगली पीढ़ी के कर्तव्य बहुत ही गुरुतर होंगे। (ख) उपाय करने से गोवंश की दूसरी पीढ़ी अधिक दुधारी और हृष्टपुष्ट बनाई जा सकती है।

[संज्ञा स्त्री० [हिं० पीढ़ा] छोटा पीढ़ा।

पीत—वि० [सं०] [स्त्री० पीता] (१) पीला। पीतवर्णयुक्त। (२) भूरा रंग। कपिलवर्ण। (कव०)।
[सं० पान] पिया हुआ। जिसका पान किया गया हो।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीला रंग। हल्दी का रंग। (२) भूरे रंग का। कपिल। (३) हरताल। (४) हरिचंदन। (५) कुसुम। (६) अंकोल या ढेरे का पेड़। (७) सिहोरा का पेड़। (८) धूपसरल। (९) बेंत। (१०) पुखराज। (११) तुन। नंदिवृक्ष। (१२) एक प्रकार की सोम लता। (१३) पीली कटसरैया। (१४) पदमाख। पद्मकाष्ठ। (१५) पीला खस। (१६) मूंगा।

पीतकंद—संज्ञा पुं० [सं०] गाजर।

पीतक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) हरताल। (२) केशर। (३) अगर। (४) पद्माख। (५) सोनामाखी। (६) तुन। (७) विजयसार। (८) सोनापाठा। (९) हलदुआ। हरिद्र। (१०) किंकिरात। (११) पीतल। (१२) पीलाचंदन। (१३) एक प्रकार का बबूल। (१४) शहद। (१५) गाजर। (१६) सफेद जीरा। पीतजीरक। (१७) पीली बोध। (१८) चिरायता। (१९) सोनापाठा।

वि० पीला। पीले रंग का। पीतवर्ण।

पीतकदली—संज्ञा पुं० [सं०] सोनकेला। स्वर्णकदली। चंपककदली।

पीतकद्रुम—संज्ञा पुं० [सं०] हलदुआ। हरिद्रवृक्ष।

पीत-करवीरक—संज्ञा पुं० [सं०] पीला कनेर। पीले फूल की केना।

पीतका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कटसरैया। (२) हलदी।

पीतकावर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) केशर। (२) पीतल।

पीतकाष्ठ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीला चंदन। (२) पद्माख।

पीतकीला—संज्ञा स्त्री० [सं०] आवर्तकी लता। भागवतवल्ली।

पीतकुरवक—संज्ञा पुं० [सं०] पीली कटसरैया।

पीतकुहंड—संज्ञा पुं० [सं०] पीली कटसरैया।

पीतकुम्भांड—संज्ञा पुं० [सं०] कुम्हड़ा। पीला कुम्हड़ा। वह कुम्हड़ा जिसकी तरकारी खाई जाती है।

पीतकुसुम—संज्ञा पुं० [सं०] पीली कटसरैया।

पीतकेदार—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का धान।

पीतगंध—संज्ञा पुं० [सं०] पीला चंदन। हरिचंदन।

पीतगंधक—संज्ञा पुं० [सं०] गंधक।

पीतपोषा—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की तुरई।

पीतचंदन—संज्ञा पुं० [सं०] द्रविड़देशीय पीले रंग का चंदन। हरिचंदन। वैद्यक के अनुसार यह शीतल, तिक्त तथा कुष्ठ, श्लेष्म, कंडु, विचर्चिका, दाद, और कृमि का नाशक और कांतिकर है।

पर्या०—हरिचंदन। पीतगंध। कालेय। कालीय। कालीयक।

पीताम। हरिप्रिय। माधवप्रिय। पीतक। पीतकाष्ठ।

वर्वर। कालसार। कालानुसार्दक।

पीतचंपक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीली चंपा । (२) दीया ।
प्रदीप । चिराग ।

पीतचोप-संज्ञा पुं० [सं०] टेसू । पलास का फूल ।

पीतभिटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पीले फूलवाली कटसरैया ।
(२) एक प्रकार की कटाई ।

पीततंडुल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) काँगुनवृक्ष । (२) सालवृक्ष ।

पीततंडुलिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] साल । शाख या सज्ज वृक्ष ।

पीतता-संज्ञा स्त्री० [सं०] पीत का भाव । पीलापन । जर्दी ।

पीततुंड-संज्ञा पुं० [सं०] बया पत्ती ।

पीततैला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मालकँगनी । (२) बड़ी
मालकँगनी ।

पीतत्व-संज्ञा पुं० दे० “पीतता” ।

पीतदंतता-संज्ञा स्त्री० [सं०] दाँतों का एक पित्तज रोग जिसमें
दाँत पीले हो जाते हैं ।

पीतदारु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) देवदार । (२) धूप सरल ।
(३) हलदुआ । (४) हलदी । (५) चिरायता । (६)
कायकरंज ।

पीतदीप्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] बौद्धों के एक देवता ।

पीतदुग्धा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार की कटेहरी । (२)
ऊँटकटीला । ऊँटकटारा । भँडुभाँड़ । (३) एक प्रकार का
थूहड़ । सातला ।

पीतद्रु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दारु हलदी । (२) एक प्रकार
का देवदार । धूप सरल ।

पीतधातु-संज्ञा पुं० [सं० पीत + धातु] रामरज । गोपीचंदन ।
उ०—श्याम हू अति श्यामहि भावै । बैठत उठत चक्षत गउ
चारत तेरियै लीला गावै । पीतै पीत वसन भूषण सजि
पीतधातु अँग लावै । —सूर ।

पीतन, पीतनक-संज्ञा पुं० [हिं०] (१) केशर । (२) धूपसरल ।
(३) हरताल । (४) आमड़ा । (५) पाकड़ ।

पीतिनाश-संज्ञा पुं० [सं०] लकुच । बड़हर । छुद्र पनस ।

पीतनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] सरिवन । शालपर्णी ।

पीतनील-संज्ञा पुं० [सं०] नीले और पीले रंग के संयोग से
बना हुआ रंग । हरा रंग ।

वि० हरे रंग का । हरितवर्ण (पदार्थ) ।

पीतपराग-संज्ञा पुं० [सं०] पद्मकेशर । कमल का केसर ।
किंकजलक ।

पीतपर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वृश्चिकाली ।

पीतपादप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सोनापाठा । श्योनाक वृक्ष ।
(२) लोभ का पेड़ ।

पीतपादा-संज्ञा स्त्री० [सं० पीत + पाद] मैना । शारिका ।

वि० स्त्री० जिसके चरण पीले हों ।

पीतपिष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] सीसा धातु ।

पीतपुष्प, पीतपुष्पक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कनेर । (२)
धिया तोरई । (३) पीले फूल की कटसरैया । (४)
चंपा । (५) रग नामक छुप । (६) पेठा । (७) तगर । (८)
हिंगोट । (९) लाल कचनार ।

पीतपुष्पका-संज्ञा स्त्री० [सं०] जंगली ककड़ी ।

पीतपुष्पा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किंकरीटा । (२) इंद्रायण ।
(३) सहदेवी । (४) अरहर । (५) तोरई । (६) पीले
फूल की कटसरैया । (७) पीले फूल का कनेर । (८)
सोनजुही । यूथिका ।

पीतपुष्पी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शंखानुली । (२) सहदेई । (३)
बड़ी तोरई । (४) खीरा । (५) इंद्रायण । (६) सोनजुही ।

पीतपृष्ठा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की कौड़ी । वह कौड़ी
जिसकी पीठ पीली होती है ।

पीतप्रसव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हिंगुपत्री । (२) पीला कनेर ।

पीतफल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिहोर । शाखोट वृक्ष ।
(२) कमरख । कर्मरंग । (३) धव वृक्ष ।

पीतफलक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिहोर । (२) रीठा ।
(३) कमरख । (४) धव वृक्ष ।

पीतफेन-संज्ञा पुं० [सं०] रीठा । अरिष्टक वृक्ष ।

पीतबलि-संज्ञा पुं० [सं०] गंधक ।

पीपबालुका-संज्ञा स्त्री० [सं०] हलदी ।

पीतबीजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मेथी ।

पीतभद्रक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बबूल । देवचवुंर ।

पीतभृंगराज-संज्ञा पुं० [सं०] पीला भँगरा ।

पीतम-वि० दे० “प्रियतम” ।

संज्ञा पुं० दे० “प्रियतम” ।

पीतमणि-संज्ञा पुं० [सं०] पुखराज । पुष्पराग मणि ।

पीतमस्तक-संज्ञा पुं० [सं०] बड़ी जाति का बाज । श्वेत पत्ती ।

पीतमाक्षिक-संज्ञा पुं० [सं०] सोनामाखी ।

पीतमुंड-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का हरिन ।

पीतमूलक-संज्ञा पुं० [सं०] गाजर ।

पीतमूली-संज्ञा स्त्री० [सं०] रेवदचीनी ।

पीतयूथी-संज्ञा स्त्री० [सं०] सोनजुही । स्वर्णयूथिका ।

पीतरा-संज्ञा पुं० दे० “पीतल” ।

पीतरक्त-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुखराज । (२) पद्माख ।

पीतरत्न-संज्ञा पुं० [सं०] पुखराज । पीतमणि ।

पीतरस-संज्ञा पुं० [सं०] कसेरु ।

पीतराग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पद्मकेशर । (२) मोम । (३)
पीला रंग ।

वि० पीला । पीले रंग का ।

पीतरोहिणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जंभीरी । कुंभेर । (२)
पीली कुटकी ।

पीतल—संज्ञा पुं० [सं० पित्तल] एक प्रसिद्ध उपधातु जो ताँबे और जस्ते के संयोग से बनती है। कभी कभी इसमें रंगे या सीसे का भी कुछ अंश मिलाया जाता है। यह ताँबे की अपेक्षा कुछ अधिक दृढ़ होती है। इसका व्यवहार बहुधा धाली, कटोरे, गिलास, गगरे, हंडे आदि वस्तुएँ बनाने में होता है। देवताओं की मूर्तियाँ, उनके सिंहासन, घंटे, अनेक प्रकार के वाद्य, यंत्र, ताले, कलों के कुछ पुरजे और गरीबों के लिये गहने भी पीतल से बनाए जाते हैं। पीतल की चीजें लोहे की चीजों से कुछ अधिक टिकाऊ होती हैं, क्योंकि उनमें मोरचा नहीं लगता। यह पीतल दो प्रकार का होता है—एक कुछ सफेदी लिए पीले रंग का और दूसरा कुछ लाली लिए पीले रंग का। रंगे का भाग अधिक होने से इसमें कुछ सफेदी और सीसे का भाग अधिक होने से लाली आ जाती है। यदि इसमें निकल का मेल दिया जाय तो इसका रंग जर्मन सिक्कर के समान हो जाता है। इस पर कलई बहुत अच्छी होती है।

पीतलोह—संज्ञा पुं० [सं०] पीतल।

पीतवर्ण—वि० [सं०] पीले रंग का। पीला।

संज्ञा पुं० (१) पीला मेढक। स्वर्णमंडूक। (२) ताड़। तालवृक्ष। (३) कदंब। (४) हलदुआ। (५) लाल कचनार। (६) सैनसिल। (७) पीतचंदन। (८) केसर।

पीतवल्ली—संज्ञा स्त्री० [सं०] आकाश बेज।

पीतवान—संज्ञा पुं० [देश०] हाथी की दोनों आँखों के बीच की जगह।

पीतबालुका—संज्ञा स्त्री० [सं०] हलदी।

पीतवास—संज्ञा पुं० [सं० पीतवासस्] श्रीकृष्ण।

वि० जो पीले कपड़े पहने हो। पीतवसनयुक्त।

पीतविंदु—संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु के चरण-चिह्नों में से एक।

पीतवीजा—संज्ञा स्त्री० [सं०] मेथी।

पीतवृक्ष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सोनापाठा। (२) धूपसरल।

पीतशाल, **पीतशालक**—संज्ञा पुं० [सं०] विजयसार।

पीतसरा—संज्ञा पुं० [सं० पितृव्य, हिं० पितिया + ससर] चचिया ससुर। ससुर का भाई।

पीतसार—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीतचंदन। हरिचंदन। (२) मलयगिरि चंदन। सफेद चंदन। (३) गोमेद मणि। (४) अंकोल। ढेरा। (५) विजयसार। (६) शिलारस।

पीतसारक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) नीम का पेड़। (२) ढेरे का पेड़।

पीतसारिका—संज्ञा पुं० [सं०] काला सुरमा।

पीतसाल, **पीतसालक**—संज्ञा पुं० [सं०] विजयसार।

पीतस्कंध—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूअर। शूकर। (२) एक वृक्ष।

पीतस्फटिक—संज्ञा पुं० [सं०] पुखराज।

पीतस्फोट—संज्ञा पुं० [सं०] खुजली। खसरा रोग।

पीतांग—संज्ञा पुं० [सं०] सोनापाठा।

पीतांबर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीले रंग का वस्त्र। पीला कपड़ा। (२) मरदानी रेशमी धोती जिसे हिंदूलोग पूजापाठ, संस्कार, भोजन आदि के समय पहनते हैं। इस वस्त्र का व्यवहार भारत में बहुत प्राचीन काल से होता है। पहले कदाचित् पीली रेशमी धोती को ही पीतांबर कहते थे पर अब लाल, नीली, हरी आदि रंगों की रेशमी धोतियाँ भी पीतांबर कहलाती हैं। (३) श्रीकृष्ण। (४) नट। शैलूष।

वि० पीले कपड़ेवाला। पीतवसनयुक्त। पीतांबरधारी।

पीता—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हलदी। (२) दारु हलदी। (३) बड़ी मालकंगनी। (४) भूरे रंग का शीशम। (५) फठप्रियंगु। (६) गोरोचन। (७) अतीस। (८) पीला केला। स्वर्णकदली। (९) जंगली बिजौरा-नीबू। (१०) जर्द चमेली। (११) देवदार। (१२) राल। (१३) असगंध। (१४) शालिपर्णी। (१५) अकासबेल।

वि० पीले रंग की। पीले रंगवाली (स्त्री अथवा वस्तु)

पीताब्धि—संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र को पी जानेवाले, अगस्त्य मुनि।

पीताभ—वि० [सं०] जिसमें से पीली आभा निकलती हो पीला। पीतवर्ण।

संज्ञा पुं० पीला चंदन। पीत चंदन।

पीताम्र—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का अन्नक जो पीला होता है।

पीताम्लान—संज्ञा पुं० [सं०] पीली कटसरैया।

पीतारुण—संज्ञा पुं० [सं०] पीलापन लिए हुए लाल रंग।

वि० पीलापन लिए हुए लाल रंग का। पीतारुण वर्णविशिष्ट।

पीताश्म—संज्ञा पुं० [सं० पीताश्मन्] पुखराज। पुष्पराग मणि।

पीताह्व—संज्ञा पुं० [सं०] राल।

पीति—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पीना। पान। (वैदिक)। (२) गति। संज्ञा पुं० (१) घोड़ा। (२) सूँड़।

पीतिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हलदी। (२) दारु हलदी। सोनजूड़ी। स्वर्णयूथी।

पीतिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] शालपर्णी।

पीती—संज्ञा पुं० [सं० पीतिन्] घोड़ा।

संज्ञा स्त्री० दे० “प्रीति”।

पीतु—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य। (२) अग्नि। (३) यूथपति।

पीतुदारु—संज्ञा पुं० [सं०] (१) गूलर। (२) देवदार।

पीथ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पानी। (२) घी। (३) अग्नि। (४) सूर्य। (५) काल।

पीथि-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ा ।

पीदड़ी-संज्ञा स्त्री० दे० "पिही"

पीन-वि० [सं०] (१) स्थूल । मोटा । (२) पुष्ट । प्रवृद्ध । परिवर्धित । (३) संपन्न । भरा पूरा ।

संज्ञा पुं० स्थूलता । मोटाई ।

पीनक-संज्ञा स्त्री० [हिं० पिनकता] (१) अफीम के नशे में ऊँचना । नशे की हालत में अफीमची का आगे की ओर झुक झुक पड़ना ।

क्रि० प्र०—लेना ।

मुहा०—पीनक में आना = अफीमची का नशे में ऊँचने लगना ।

(२) ऊँचना । नींद के आने से आगे की ओर झुक झुक पड़ना ।

जैसे, तुम्हें शाम हुई कि लगे पीनक लेने ।

क्रि० प्र०—लेना ।

पीनता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मोटाई । स्थूलता ।

पीनना-क्रि० सं० दे० "पीजना" ।

पीनस-संज्ञा पुं० [सं०] नाक का एक रोग जिसमें उसकी ग्राह्य या वास पहचानने की शक्ति नष्ट हो जाती है । इस रोग में नाक के नथने शुष्क, कफ से भरे हुए और क्लिन्न अर्थात् गीले रहते हैं तथा उनमें जलन भी रहती है । बात और कफ के प्रकोपवाले जुकाम के लक्षण प्रायः इसमें मिलते हैं ।

संज्ञा स्त्री० [फा० पीनस] पालकी ।

पीनसा-संज्ञा स्त्री० [सं०] ककड़ी ।

पीनसी-वि० [सं० पीनसिन] जिसे पीनस रोग हुआ हो । पीनस से पीड़ित ।

पीना-क्रि० सं० [सं० पान] (१) किसी तरल वस्तु को घूँट घूँट करके गले के नीचे उतारना । जल या जलसदृश वस्तु को मुँह के द्वारा पेट के भीतर पहुँचाना । पेय पदार्थ को मुख द्वारा ग्रहण करना । घूँटना । पान करना । जैसे, पानी पीना, शराब पीना, दूध पीना आदि ।

सं० क्रि०—जाना । —डालना । —लेना ।

(२) किसी बात को दबा देना । किसी कार्य के संबंध में वचन या कार्य से कुछ न करना । किसी संबंध में सर्वथा मौन धारण कर लेना । पूर्ण उपेक्षा करना । किसी घटना के संबंध में अपनी स्थिति ऐसी कर लेना जिससे उससे पूर्ण असंबंध प्रकट हो । जैसे, इस मामले को वह इस प्रकार पी जायगा; ऐसी आशा तो नहीं थी । (३) (गाली, अपमान आदि पर) क्रोध या उत्तेजना न प्रकट करना । सह जाना । बरदाश्त करना । जैसे, इस भारी अपमान को वह इस तरह पी गया मानो कुछ हुआ ही नहीं । (४) किसी मनोविकार को भीतर ही भीतर दबा देना । मनोभाव को बिना प्रकट किए ही नष्ट कर देना । मारना ।

जैसे, गुस्सा पीना । (५) किसी मनोविकार का कुछ भी अनुभव न करना । मनोभाव ही न रहने देना । कुछ भी शेष या बाकी न रखना । जैसे, लज्जा पी जाना । (६) मद्य पीना । शराब पीना । सुरापान करना । जैसे, जब जब वह पीता है तब तब उसकी यही दशा होती है ।

संयो० क्रि०—जाना —डालना । —लेना ।

(७) हुक्के, चुरट आदि का धुआँ भीतर खींचना । धूम्रपाय करना । जैसे, हुका पीना, चुरट पीना, गाँजा पीना, चंडू पीना, आदि ।

संयो० क्रि०—जाना । —डालना । —लेना ।

(८) सोखना । शोषण करना । जज्ब करना । जैसे, (क) यह जूता इतना तेल पिएगा, यह मैंने नहीं समझा था । (ख) मिट्टी का बरतन तो सारा घी पी जायगा ।

संयो० क्रि०—जाना । —डालना ।

संज्ञा पुं० [सं० पीडन = पेरना] तिल, तीसी आदि की खली ।

संज्ञा पुं० [देश०] डाट । डट्टा । (लश०)

पीनी-संज्ञा स्त्री० [देश०] पोस्त, तीसी या तिख आदि की खली ।

पीप-संज्ञा स्त्री० [सं० पूय] फूटे फोड़े या घाव के भीतर से निकलनेवाला सफेद लसदार पदार्थ जो दूषित रक्त का रूपांतर होता है । इसमें रक्त के रवेत कण ही अधिकता से होते हैं । इनके अतिरिक्त इसमें शरीर के सड़े हुए और नष्ट घटकों और तंतुओं का भी कुछ लाल अंश होता है । शरीर के किसी भाग में इस पदार्थ के एकत्र हो जाने से ही ग्रन्थ या फोड़ा होता है और जब तक यह निकल नहीं जाता तब तक बहुत कष्ट होता है ।

पीपर-संज्ञा पुं० दे० "पीपल" ।

पापरपर्न *—संज्ञा पुं० [हिं० पीपल + पर्न = सं० पर्ण] कान में पहनने का एक आभूषण । उ०—पीपरपर्न मुलमुली तीखन बहु खलेल रूमिका सुमरमन । —सूदन ।

पीपरामूल-संज्ञा पुं० [सं० पिप्पल + मूल] दे० "पीपजामूल" ।

पीपरि-संज्ञा पुं० [सं०] छोटा पाकड़ ।

संज्ञा पुं० दे० "पीपल (२)" ।

पीपल-संज्ञा पुं० [सं० पिप्पल] बरगद की जाति का एक प्रसिद्ध वृक्ष जो भारत में प्रायः सभी स्थानों में अधिकता से पाया जाता है । यह ऊँचाई में बरगद के समान ही होता है, पर इसमें उसकी तरह जटाएँ नहीं फूटतीं । पत्ते इसके गोल होते हैं और आंगो की ओर लंबी गावदुम नोक होती है । इसकी छाल सफेद और चिकनी होती है । लकड़ी पोली और कमजोर होती है और जलाने के सिवा और किसी काम की नहीं होती । इसका गोदा (फल) बरगद के गोदे की अपेक्षा छोटा और चिपटा तथा पकने पर यथेष्ट मीठा होता है । गोदे लगने का समय बैसाख जेठ है । इसकी

डालियों पर लाख के कीड़े पैदा होते और पाले जाते हैं। बस यही इसका एक विशेष उपयोग है। गोदे बच्चे खाते हैं और पत्ते बकरियों और ऊँटों, हाथियों आदि को खिलाए जाते हैं। छाल के रेशों से ब्रह्मावाले एक प्रकार का हरा कागज बनाते हैं।

पुराणानुसार पीपल अत्यंत पवित्र और पूजनीय है। इसके रोपण करने का अक्षय्य पुण्य लिखा है। पद्मपुराण के अनुसार पार्वती के शाप से जिस प्रकार शिव को बरगद और ब्रह्मा को पाकड़ के रूप में अवतार लेना पड़ा उसी प्रकार विष्णु को पीपल का रूप ग्रहण करना पड़ा। भगवद्गीता में भी श्रीकृष्ण ने कहा है कि वृक्षों में मुझे पीपल जानो। हिंदू लोग बड़ी श्रद्धा से इसकी पूजा और प्रदक्षिणा करते हैं और इसकी लकड़ी काटना या जलाना पाप समझते हैं। दो तीन विशेष संस्कारों में जैसे, मकान की नींव रखना, उपनयन आदि में इसकी लकड़ी काम में लाई जाती है। बौद्ध लोग भी पीपल को परम पवित्र मानते हैं क्योंकि बुद्ध को संबोधि की प्राप्ति पीपल के पेड़ के नीचे ही हुई थी। वह वृक्ष बोधिद्रुम के नाम से प्रसिद्ध है।

वैद्यक के अनुसार इसके पके फल शीतल, अतिशय हृद्य तथा रक्तपित्त, विष, दाह, छर्दि, शोष, अरुचि और योनि-दोष के नाशक हैं। छाल संकोचक है। मुलायम छाल और नए निकले हुए पत्ते पुराने प्रमेह की उत्तम औषध है। फल का चूर्ण सेवन करने से क्षुधा वृद्धि और कोष्ठ शुद्धि होती है। फलों के भीतर के बीज शीतल और धातु परिवर्द्धक माने जाते हैं।

पर्याय—बोधिद्रुम। चलदल। पिप्पल। कुंजराशन। अच्युतावास। चलपत्र। पवित्रक। शुभद्र। याज्ञिक। गजभक्षण। श्रीमान्। क्षीरद्रुम। विप्र। मांगल्य। श्यामल। गुह्यपुण्य। सेव्य। सत्य। शुचिद्रुम। धनुवृक्ष।

संज्ञा स्त्री० [सं० पिप्पली] एक लता जिसकी कलियाँ प्रसिद्ध ओषधि हैं। इसके पत्ते पान के समान होते हैं। कलियाँ तीन चार अंगुल लंबी शहतूत के आकार की होती हैं और उनका पृष्ठ भाग भी वैसा ही दानेदार होता है। रंग मट-मैला और स्वाद तीखा, छोटी कलियों को छोटी पीपल और बड़ी तथा किंचित मोटी कलियों को बड़ी पीपल कहते हैं। औषध के लिए अधिकतर छोटी ही काम में लाई जाती है। वैद्यक के अनुसार पीपल (फली) किंचित उष्ण, चरपरी, स्निग्ध, पाक में स्वादिष्ट, वीर्यवर्द्धक, दीपन, रसायन, हलकी, रेचक तथा कफ, वात श्वास, कास, उदररोग, ज्वर, कुष्ठ, प्रमेह, गुल्म, क्षयरोग, बवासीर, प्लीहा, शूल और आमवात को दूर करनेवाली मानी जाती है।

पर्याय—पिप्पली। मागधी। कृष्णा। चपला। चंचला। उपकुल्या। कोल्या वैदेही। तिकतंडुला। कोल्या। उष्णा। शौंडी। कोला। कटी। पुरंडा। मगधा। कुकला। कटु-वीजा। कारंगी। दंतकफा। मगधोद्भवा।

पीपलामूल—संज्ञा पुं० [सं० पिप्पलीमूल] एक प्रसिद्ध ओषधि जो पीपल ओषधि की जड़ है। आयुर्वेद के अनुसार पीपलामूल चरपरा, तीखा, गरम, रुखा, दस्तावर, पित्त को कुपित करनेवाला, पाचक, रेचक तथा कफ, वात, उदररोग, आनाह, प्लीहा, गुल्म, कृमि, श्वास, क्षयरोग, खाँसी, आम और शूल को दूर करनेवाला माना जाता है। पीपलामूल नाम से भी यह प्रसिद्ध है।

पीप—संज्ञा पुं० [?] बड़े ढोल के आकार का या चौकोर काठ या लोहे का पात्र जिसमें मद्य, तेल आदितरल पदार्थ रखे और चाबान किए जाते हैं। (बरसात के अतिरिक्त अन्य दिनों में बड़े बड़े पीपों को पंक्ति में बिछाकर नदियों पर पुल भी बनाए जाते हैं)

पीप—संज्ञा पुं० दे० “पीप”।

पीप*—संज्ञा पुं० दे० “पिय”।

पीपर—वि० दे० “पीला”।

पीपा*—संज्ञा पुं० दे० “पिय”।

पीयु—संज्ञा पुं० [सं०] (१) काल। (२) सूर्य। (३) थूक। (४) कौआ। काक। (५) उत्तलू। पेचक। वि० (१) हिंसा करनेवाला। हिंसक। (२) प्रतिकूल। विरुद्ध।

पीयूना—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का पाकर।

पीयूख—संज्ञा पुं० दे० “पीयूष”।

पीयूष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) अमृत। सुधा। (२) दूध*। (३) नई ब्याई हुई गाय का प्रथम से सातवें दिन तक का दूध। उस गाय का दूध जिसे ब्याए सात दिन से अधिक न हुआ हो। नवप्रसूता गाय का दूध।

विशेष—वैद्यक के अनुसार ऐसा दूध रुखा, दाहकारक, रक्त को कुपित करनेवाला और पित्तकारक होता है। साधारणतः ऐसा दूध लोग नहीं पीते क्योंकि वह स्वास्थ्य के लिये हानिकारक माना जाता है।

पीयूषरुचि—संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा।

पीयूषवर्ष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा। (२) कपूर। (३) एक छंद का नाम जिसके प्रत्येक चरण में १०—६ विश्राम से १६ मात्राएँ और अंत में गुरु लघु होता है। इसको “आनंदवर्द्धक” भी कहते हैं।

पीर—संज्ञा स्त्री० [सं० पीड़ा] (१) पीड़ा। दुःख। दर्द। तकलीफ। उ०—जाके पैर न फटी बिवाई। सो का जानै पीर पराई।—तुलसी। (२) दूसरे की पीड़ा या कष्ट

देखकर उत्पन्न पीड़ा । दूसरे के दुःख से दुःखानुभव । सहानुभूति । हमदर्दी । दया । करुणा ।

मुहा०—पीर न आना = दूसरे के दुःख से दुःख न होना । पराए कष्ट पर न पसीजना । सहानुभूति या हमदर्दी न पैदा होना ।

(३) बच्चा जनने के समय की पीड़ा । प्रसव पीड़ा ।

उ०—कमर उठी पीर मैं तो लाका जन्गूगी ।—गीत ।

क्रि०प्र०—आना ।—उठना ।

विशेष—यद्यपि व्रजभाषा, खड़ी बोली और उर्दू तीनों भाषाओं के कवियों ने बहुतायत से इस शब्द का प्रयोग किया है और स्त्रियों की बोलचाल में अब भी इसका बहुत व्यवहार होता है तथापि गद्य में इसका व्यवहार प्रायः नहीं होता ।

वि० [फा०] [संज्ञा पीरी] (१) वृद्ध । वृद्धा । बड़ा । बुजुर्ग । (२) महात्मा । सिद्ध । (३) धूर्त । चालाक । उस्ताद । (बोलचाल)

संज्ञा पुं० (१) धर्मगुरु । परलोक का मार्ग-दर्शक ।

(२) मुसलमानों के धर्मगुरु ।

संज्ञा पुं० [फा० पीर = गुरु] सोमवार का दिन । चंद्रवार ।

पीरजादा—संज्ञा पुं० [फा०] किसी पीर या धर्मगुरु की संतान ।

पीरनाबालिग—वि० [फा० पीर + अ० नाबालिग] ऐसा वृद्ध जो बच्चों के से काम और बातें करे । सटियाया हुआ बुढ़ा । बुद्धिअष्ट वृद्धा ।

पीरमान—संज्ञा पुं० [लश०] मस्तूल के ऊपर बँधे हुए वे डंडे जिनके दोनों सिरों पर लट्टू बने रहते हैं और जिनपर पाल चढ़ाई जाती है । अड़डंडा । परवान ।

पीरमुरशिद—संज्ञा पुं० [फा०] गुरु, महात्मा, पूजनीय अथवा अपने से दर्जे में बहुत बड़ा । महात्माओं के अतिरिक्त राजाओं, बादशाहों और बड़ों के लिये भी इसका प्रयोग किया जाता है ।

पीरा—संज्ञा स्त्री० दे० “पीड़ा” ।

वि० दे० “पीला” ।

पीराई—संज्ञा पुं० [फा० पीर + आई (प्रत्य०)] वह जाति जिसकी जीविका पीरों के गीत गाने से चलती है । डफाली ।

पीरी—संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) बुढ़ापा । वृद्धावस्था । (२) चेन्ना मूडने का धंधा या पेशा । गुरुवाई । (३) चालाकी । धूर्तता । (कव०) । (४) इजारा । ठेका । हुकूमत । जैसे, क्या तुम्हारे बाबा की पीरी है । (५) अमानुषिक शक्ति या उसके कार्य । चमत्कार । करामात । (कव०) ।

वि० [हि०] दे० “पीली” ।

पीरू—संज्ञा पुं० [फा० पील मुर्ग] एक प्रकार का मुर्ग ।

विशेष—इस शब्द का पुराना रूप “पीलू” है । पर अब इसी रूप में ही अधिक प्रचलित है ।

पीरोजा—संज्ञा पुं० दे० “फीरोजा” ।

पील—संज्ञा पुं० [फा०] (१) हाथी । गज । हस्ति । (२) शत-रंज के खेल का एक मोहरा । यह तिरछा चलता है और तिरछा ही मरता है । इसको पीला, फील, फीला तथा जैट भी कहते हैं । विशेष—दे० “शतरंज” ।

संज्ञा पुं० [हि० पील] कीड़ा ।

संज्ञा पुं० दे० “पीलु (१)” ।

पीलक—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का पीले रंग का पत्ती जिसके डैने काले और चोंच लाल होती है ।

पीलखी—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का वृक्ष ।

पीलपाल *—संज्ञा पुं० [फा० पील, सं० पीलु + सं० पाल] पीलवान । महावत । हाथीवान ।

पीलपाँव—संज्ञा पुं० [फा० पीलपा] एक प्रसिद्ध रोग । फीलपा । रत्नीपद ।

विशेष—इसमें घुटने के नीचे एक या दोनों पैर सूजे रहते हैं । सूजन पुरानी होने पर उसमें खुजली और घाव भी हो जाता है । सूजन पहले टाँग के पिछले भाग से आरंभ होती है फिर धीरे धीरे सारी टाँग में व्याप्त हो जाती है । आरंभ में उब्र और जिस पैर में यह रोग होनेवाला रहता है उसके पट्टे में गिलटी निकलती है जिसमें असह्य पीड़ा होती है । वात की अधिकता में सूजन काली, रूखी, फटी और तीव्र वेदनायुक्त, पित्त की अधिकता में कोमल, पीली और दाहयुक्त और कफ की अधिकता में कठिन, चिकनी, सफेद या पांडुवर्ण और भारी होती है । बहुत जल्दी उपाय न करने से यह रोग असाध्य हो जाता है । सीढ़वाले देशों में यह रोग अधिक होता है । कई आचार्यों के मत से हाथ, गला, कान, नाक, होठ आदि की सूजन भी इसी के अंतर्गत है ।

पीलवान—संज्ञा पुं० दे० “पीलवान” ।

पीलवान—संज्ञा पुं० [फा० पीलवान] हाथीवान । महावत । फीलवान ।

पीला—वि० [सं० पीत] [स्त्री० पीली] (१) हल्दी, सोने या केसर के रंग का (पदार्थ) । जिसका रंग पीला हो । पीत-वर्ण । जर्द । (२) ऐसा सफेद जिसमें सुखी या चमक न हो । रक्त का अभाव सूचक श्वेत । जिससे वर्ण की आभा न निकलती हो । कांतिहीन । निस्तेज । धुँधला सफेद । जैसे, पीला चेहरा ।

मुहा०—पीला पड़ना या होना = (१) रक्त के अभाव के कारण (मनुष्य के शरीर या चेहरे के) रंग में चमक या कांति न रह जाना । बीमारी के कारण चेहरे या शरीर से रक्त का अभाव सूचित होना । खलाई, तेज या चमक न रह जाना । जैसे, तुम दिन ब दिन पीले हुए जा रहे हो, आखिर तुम्हें कौन सा रोग

लगा है। (२) भय के कारण चेहरे पर सफेदी आ जाना। खून सूख जाना। रंग उड़ जाना या पीका पड़ जाना। जैसे, मेरी सूरत देखते ही वह एकदम पीला पड़ गया।
संज्ञा पुं० एक प्रकार का रंग जो हलदी या सीने के रंग से मिलता जुलता होता है और जो हलदी, हरसिंगार आदि से बनाया जाता है।

मुहा०—पीली फटना = पै फटना। तड़का होना।

संज्ञा पुं० [फा० पील] शतरंज का एक मोहरा। दे० “पील”।

पीला कनेर—संज्ञा पुं० [हिं० पीला + कनेर] कनेर के दो भेदों में से एक जिसका फूल पीला और आकार में घंटी के समान होता है। लाल कनेर की अपेक्षा इसका पेड़ कुछ अधिक ऊँचा होता है। वैद्यक के अनुसार इसके गुण भी सफेद कनेर के समान ही होते हैं। विशेष—दे० “कनेर”।

पीला धतूरा—संज्ञा पुं० [हिं० पीला + धतूरा] भंडभाड़। सत्यानासी। घमोय। ऊँटकटारा।

पीलापन—संज्ञा पुं० [हिं० पीला + पन (प्रत्य०)] पीला होने का भाव। पीतता। जर्दी।

पीला बरेला—संज्ञा पुं० [देश०] बरियारा। बनमेथी।

पीलाम—संज्ञा पुं० [?] साटन नाम का कपड़ा।

पीला शेर—संज्ञा पुं० [हिं० पीला + फा० शेर] एक प्रकार का बाघ जो अफ्रीका में पाया जाता है और जिसका रंग कुछ पीला होता है।

पीलिया—संज्ञा पुं० [हिं० पीला + इया (प्रत्य०)] कमल रोग जिसमें मनुष्य की आँखें और शरीर पीला हो जाता है।

पीली चमेली—संज्ञा स्त्री० दे० “चमेली”।

पीली चिट्ठी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पीला + चिट्ठी] विवाह का निमंत्रणपत्र जिसपर प्रायः केसर आदि लिङ्का रहता है।

पीली जुही—संज्ञा स्त्री० दे० “सोनजुही”।

पीली मिट्टी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पीला + मिट्टी] एक प्रकार की मिट्टी जो चिकनी, कड़ी और रंग में पीली होती है।

पीलु—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक फलदार वृक्ष जिसे पील या पीलू कहते हैं। वैद्यक के अनुसार इसका फल स्वादु, कटु, तिक्त, उष्ण भेदक तथा वायु, कफ, पित्त, गुल्म, प्रमेह, संधिवात आदि का नाशक माना गया है। सीढा पीलु कम गरम और त्रिदोषनाशक माना जाता है। (२) फूल। पुष्प। (३) परमाणु। (४) हाथी। (५) हड्डी का टुकड़ा। अस्थिखंड। (६) तालवृक्ष का तना। तालकांड। (७) बाण। (८) कृमि। (९) चने का साग। (१०) सरपत या सरकंडे का फूल। शरत्पुष्प। (११) लाल कटसरैया। किंकिरातवृक्ष। (१२) अलरोट का पेड़। (१३) कांचन पेरा का अलरोट। (१४) हथेली। करतल।

पीलुआ†—संज्ञा पुं० [देश०] मछली पकड़ने का बहुत बड़ा जाल।

पीलुक—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कीड़ा।

पीलुनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चुरनहार। मूर्वा। (२) चने का साग। कंचूकशाक।

पीलुपत्र—संज्ञा पुं० [सं०] क्षीर मोरट। मोरट लता।

पीलुपर्णी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चुरनहार। मूर्वा। (२) कुंदरु। कंदूरी।

पीलुमूल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीलुवृक्ष की जड़। (२) सतावर। (३) शालपर्णी।

पीलुमूला—संज्ञा स्त्री० [सं०] जवान गाय।

पीलुसार—संज्ञा पुं० [सं०] एक पर्वत का नाम।

पीलू—संज्ञा पुं० [सं० पीलु] (१) एक प्रकार का काँटेदार वृक्ष जो दक्षिण भारत में अधिकता से होता है। यह दो प्रकार का होता है—एक छोटा और दूसरा बड़ा। इसमें एक प्रकार के छोटे छोटे लाल या काले फल लगते हैं जो वैद्यक के अनुसार वायु और गुल्म नाशक, पित्तद और भेदक माने जाते हैं। इसकी हरे डंठलों की दतवन अच्छी होती है। पुराणानुसार इसके फूले हुए वृक्षों को देखने से मनुष्य नीरोग होता है। (२) सफेद लंबे कीड़े जो सड़ने पर फलों आदि में पड़ जाते हैं।

मुहा०—पीलू पड़ना = कीड़े उत्पन्न होना।

संज्ञा पुं० एक राग जिसके गाने का समय दिन को २१ दंड से २४ दंड तक अर्थात् तीसरा पहर है। इसमें गांधार और ऋषभ का मेल होता है और सब शुद्ध स्वर लगते हैं।

पीच—वि० [सं० पीवन] स्थूल। मोटा। पुष्ट।

संज्ञा स्त्री० दे० “पीप”।

पीचना*—क्रि० स० दे० “पीना”।

पीचर—वि० [सं०] [स्त्री० पीचरा] [संज्ञा पीचरता, पीचरत्व] (१) मोटा। स्थूल। तगड़ा। (२) भारी। गुरु। (३) कड़वा। (४) जटा। (५) तामस मन्वन्तर के सप्तर्षि में से एक ऋषि का नाम।

पीचरस्तनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़े स्तनवाली गाय।

पीचरा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) असंगेध। (२) सतावर।

वि० दे० “पीचर”।

पीचरी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सतावर। (२) सरिवन। शालपर्णी। (३) वहिषद नामक पितृ की मानसी कन्याओं में से एक। (४) युवती स्त्री। (५) गाय।

पीचस—संज्ञा पुं० [सं०] मोटा तगड़ा। स्थूल। (वैदिक)

पीचा—संज्ञा स्त्री० [सं०] जल। पानी।

† वि० [सं० पीचर] पुष्ट। मोटा। स्थूल।

पीचिष्ठ—वि० [सं०] अतिगुण स्थूल। बहुत मोटा।

पीसना-क्रि० सं० [सं० पेयणे] (१) सूखी या ठोस वस्तु को रगड़ या दबाव पहुँचा कर चूर चूर करना। किसी वस्तु को आटे, बुकनी या धूल के रूप में करना। चक्की आदि में दल कर या सिल आदि पर रगड़ कर किसी वस्तु को अत्यंत बारीक टुकड़ों में करना। जैसे, गोहूँ पीसना, सुखी पीसना आदि।

विशेष—इसका प्रयोग पीसी जानेवाली, पीसनेवाली तथा पीसकर तैयार वस्तुओं के साथ भी होता है। जैसे, गोहूँ पीसना, चक्की पीसना और आटा पीसना।

(२) किसी वस्तु को जल की सहायता से रगड़ कर मुलायम और बारीक करना। जैसे, चटनी पीसना, भंग पीसना आदि। (३) कुचल देना। दबाकर मुरकुस कर देना। पिलपिला कर देना। जैसे, तुमने तो पत्थर गिराकर मेरी डँगुली बिलकुल पीस डाली।

मुहा०—किसी (आदमी) को पीसना = बहुत भारी अपकार करना या हानि पहुँचाना। नष्टप्राय कर देना। चौपट कर देना। कुचलना। जैसे, वह उन्हें कुछ नहीं समझता, चुटकी बजाते पीस डालेगा।

(४) कड़ी मिहनत करना। कठोर श्रम करना। जान लड़ाना। जैसे, सारा दिन पीसता हूँ फिर भी काम पूरा नहीं होता।

संज्ञा पुं० (१) वह वस्तु जो किसीको पीसने को दी जाय। पीसी जाने वाली वस्तु। जैसे, गोहूँ का पीसना तो इसे दे दो, चने का और किसीको दिया जायगा। (२) उतनी वस्तु जो किसी एक आदमी को पीसने को दी जाय। एक आदमी के हिस्से का पीसना। जैसे, तुम अपना पीसना ले जाओ। (३) किसी एक आदमी के हिस्से या जिम्मे का काम। उतना काम जो किसी एक आदमी के लिये अलग कर दिया गया हो (व्यंग्य में)।

मुहा०—पीसना पीसना = कठिन परिश्रम का काम लगातार करते रहना।

पीसू—संज्ञा पुं० [हिं० पिस्तू] एक प्रकार का परदार छोटा कीड़ा जो मच्छरों की तरह काटता है। यह पशुओं को बहुत तंग करता है और उनके रोएँ में बड़ी शीघ्रता से रेंगता है।

पीह—संज्ञा स्त्री० [?] चरबी।

पीहर—संज्ञा पुं० [सं० पितृ + गृह, हिं० घर] स्त्रियों का मायका। स्त्रियों के माता पिता का घर। मैका।

पीहू—संज्ञा पुं० दे० “पीसू”।

पुंख—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाण का पिछला भाग जिसमें पर खोंसे रहते थे। (२) मंगलाचार।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बाज पक्षी।

पुंखित—वि० [सं०] (बाण) जिसमें पर लगे हों।

पुंग—संज्ञा पुं० [सं०] समूह।

पुंगफल—संज्ञा पुं० दे० “पुंगीफल”।

पुंगल—संज्ञा पुं० [सं०] आत्मा।

पुंगव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बैल। वृष।

विशेष—किसी पद या शब्द के आगे लगने से यह शब्द श्रेष्ठ का अर्थ देता है, जैसे, नरपुंगव, वीरपुंगव।

(२) एक औषध का नाम।

पुंगवकेतु—संज्ञा पुं० [सं०] वृषभध्वज। शिव।

पुंगीफल—संज्ञा पुं० दे० “पुंगीफल”।

पुंछला—संज्ञा पुं० दे० “पुंछाला”।

पुंछवाना—क्रि० सं० दे० “पुंछवाना”।

पुंछार † *—संज्ञा पुं० [हिं० पूँछ + आर (प्रत्य०)] मथूर।

ओर। उ०—(क) जानि पुंछार जो भय बनबासू। रोवै रोवै

परि फाँद न आँसू।—जायसी। (ख) कूँडै फेरि जानु

गिड गाढ़े। हरे पुंछार ठगे जनु ठाढ़े।—जायसी। (ग)

कुटी में मेरी रक्खी है। पुंछार जो मिट्टी की है।—

प्रतापनारायण।

विशेष—यह शब्द पुं० ही मिलता है। स्त्री० प्रयोग उ०

(ग) को छोड़ और कहीं देखने में नहीं आया।

पुंछाला—संज्ञा पुं० [हिं० पूँछ + ला (प्रत्य०)] (१) पुंछला।

हुंवाला। पूँछ की तरह जोड़ी हुई वस्तु। जैसे, (क) पतंग

या कनकौवे के नीचे बँधी हुई लंबी धज्जी जो लटकती

रहती है। (ख) टोपी के पीछे टँकी हुई धज्जी जो नीचे लट-

कती रहती है। (२) बराबर पीछे लगा रहनेवाला। साथ

न छोड़नेवाला। बराबर साथ में दिखाई पड़नेवाला।

जैसे, वह जहाँ जाता है यह पुंछाला उनके साथ रहता है।

(३) साथ में जुड़ी या लगी हुई वस्तु या व्यक्ति जिसकी

उतनी आवश्यकता न हो। जैसे, तुम आप तो जाते ही हो

एक पुंछाला क्यों पीछे लगाए जाते हो। (४) पिछलग्गू।

खुशामद से पीछे लगा रहनेवाला। चापलूस। आश्रित।

पुंज—संज्ञा पुं० [सं०] समूह। ढेर।

पुंजदल—संज्ञा पुं० [सं०] सुसना का साग। सूनिषण्ण शोक।

पुंजशः—अव्य० [सं०] ढेर का ढेर। बहुत सा।

पुंजा—संज्ञा पुं० [सं० पुंज] (१) गुच्छा। समूह। (२)

पूजा। गढ़ा।

पुंजि—संज्ञा पुं० [सं०] समूह।

पुंजिक—संज्ञा पुं० [सं०] जमी हुई बर्फ।

पुंजी *—संज्ञा स्त्री० दे० “पूँजी”।

पुंड—संज्ञा पुं० [सं०] (१) तिलक। चंदन, केसर आदि पोतकर

मस्तक या शरीर पर बनाया हुआ चिह्न। टीका।

बौ०—ऊँड़, वपुंड। निपुंड।

(२) दक्षिण की एक जाति जो पहले पहल रेशम के कीड़े पालने का काम करती थी।

पुंडरिया—संज्ञा पुं० [सं० पुंडरीक] पुंडरी का पौधा।

पुंडरी—संज्ञा पुं० [सं० पुंडरिन] एक प्रकार का पौधा जिसकी पत्तियाँ शालपर्णी की पत्तियों की सी होती हैं। इसमें एक प्रकार की सुगंध होती है। इसका रस आँख में लगाने से आँख के रोग दूर होते हैं। वैद्यक में यह मीठा, कड़ुवा कसैला, वीर्यवर्द्धक, शीतल और नेत्रों को हितकारी माना गया है।

पर्या०—श्रीपुष्प । शीत । पुंडरीधक । प्रपौंडरीक । चातुष्य ।

तालपुष्पक । सालपुष्प । स्थलपद्म । सानुज । अनुज ।

पुंडरीक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) श्वेत कमल । (२) कमल ।

यौ०—पुंडरीकाक्ष ।

(३) रेशम का कीड़ा । पाट-कीट । (४) शेर । बाघ । नाहर । (५) एक प्रकार का सुगंधयुक्त पौधा । पुंडरिया । (६) सफेद छाता । (७) कमंडलु । (८) तिजक । (९) एक यज्ञ । (१०) एक प्रकार का आम । सफेदा । (११) एक प्रकार का धान । (१२) सफेद रंग का हाथी । (१३) एक प्रकार की ईख । पौड़ा । (१४) चीनी । शर्करा । (१५) सफेद रंग का साँप । (१६) एक प्रकार का बाज पक्षी । (१७) श्वेत कुष्ठ । सफेद कोढ़ । (१८) हाथियों का ज्वर । (१९) एक नाग का नाम । (२०) अश्विकोण के दिग्गज का नाम । (२१) कौंचद्वीप का एक पर्वत । (२२) एक तीर्थस्थान । (महाभारत) । (२३) अग्नि । आग । (२४) वाण । शर । (अनेकार्थ) । (२५) आकाश । (अनेकार्थ) । (२६) जैनियों के एक गणधर । (२७) रघुवंश का एक राजा (रघुवंश) । (२८) दौने का पौधा । (२९) श्वेत वर्ण । सफेद रंग ।

पुंडरीकाक्ष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु भगवान् । नारायण । (जिनके नेत्र कमल के समान हैं) । (२) रेशम के कीड़े पालनेवाली एक जाति ।

वि० जिसके नेत्र कमलप के समान हों ।

पुंडरीयक—संज्ञा पुं० [सं०] पुंडरी का पौधा । स्थलपद्म ।

पुंडर्य—संज्ञा पुं० [सं०] पुंडरी का पौधा ।

पुंड्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार की ईख । पौड़ा । (२) बलि के पुत्र एक दैत्य का नाम जिसके नाम पर देश का नाम पड़ा । (३) अतिमुक्तक । तिनिश वृक्ष । (४) माधवी-लता । (५) हल्वडूब । पाकर । पकड़ । (६) श्वेत कमल । (७) चंदन केसर आदि की रेखाओं से शरीर पर बनाया हुआ चिह्न या चित्र । तिलक । टीका । जैसे, उर्दू-पुंड्र । (८) तिलक वृक्ष । (९) भारत के एक भाग का प्राचीन नाम जो इतिहास पुराणादि में मिलता है । महाभारत

के अनुसार अंग, वंग, कलिंग, पुंड्र और सुक्का, बलि के इन पाँच पुत्रों के नाम पर देशों के नाम पड़े । (१०) एक प्राचीन जाति जिसका उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में इस प्रकार है । विश्वामित्र के सौ पुत्रों में से पचास तो मधुच्छंदा से बड़े और पचास छोटे थे । विश्वामित्र ने जब शुनःशेफ का अभिषेक किया तब ज्येष्ठ पुत्र बहुत असंतुष्ट हुए । इसपर विश्वामित्र ने उन्हें शाप दिया कि तुम्हारे पुत्र अंत्यज होंगे । अंध्र, पुंड्र, शबर, मूतिव इत्यादि उन्हीं पुत्रों के वंशज हुए जिनकी गिनती दस्युओं में हुई । महाभारत में एक स्थान पर यवन, किरात, गांधार, चीन, शबर आदि दस्यु जातियों के साथ पौंड्रकों का नाम भी है । पर दूसरे स्थान पर 'पौंड्रकों' और सुपुंड्रकों में भेद किया है । पौंड्रकों और पुंड्रों को तो अंग, वंग, गय आदि के साथ शस्त्रधारी क्षत्रिय लिखा है जिन्होंने युधिष्ठिर के लिये बहुत सा धन इकट्ठा किया था । उनके जाने पर युधिष्ठिर के द्वारपाल ने उन्हें नहीं रोका था । पर वंग, कलिंग, मगध, ताम्रलिप्त आदि के साथ सुपुंड्रकों का द्वारपाल द्वारा रोका जाना लिखा है जिससे वे वृषलत्व प्राप्त क्षत्रिय जान पड़ते हैं । मनुस्मृति में जिन पौंड्रकों का उल्लेख है वे भी संस्कारभ्रष्ट क्षत्रिय थे जो स्तेच्छ हो गए थे । इससे पौंड्र या पुंड्र सुपुंड्रों से भिन्न और क्षत्रिय प्रतीत होते हैं । महाभारत कर्ण पर्व में भी कुरु, पांचाल, शाहव, मत्स्य, नैमिष, कलिंग, मागध आदि शाश्वत धर्म जाननेवाले महात्माओं के साथ पौंड्रों का भी उल्लेख है, आदिपर्व में बलि के पाँच पुत्रों (अंग, वंग आदि) में जिस पुंड्र का नाम है उसीके वंशज संभवतः ये पुंड्र या पौंड्र हों । ब्रह्मांड और मत्स्यपुराण के अनुसार पुंड्रलोक प्राच्य (पूर्वी भारत के) थे, पर विष्णु पुराण में और मार्कंडेय पुराण में उन्हें दक्षिणात्य लिखा है ।

पुंड्रक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) माधवी लता । (२) तिलक । टीका । (३) तिलकवृक्ष । (४) एक प्रकार की ईख । पौड़ा । (५) घोड़े के शरीर का एक चिह्न जो रोएँ के रंग के भेद से होता है । शंख, चक्र, गदा, पद्म, खड्ग, अंकुश और धनुष के ऐसे चिह्न को पुंड्रक कहते हैं ।

पुंड्रवर्द्धन—संज्ञा पुं० [सं०] पुंड्र देश की प्राचीन राजधानी । यह नगर किसी समय में हिंदुओं और बौद्धों दोनों का तीर्थ था । स्कंदपुराण में यहाँ 'मंदार' नामक शिवमूर्ति का होना लिखा है । देवी भागवत के अनुसार सती के देहांश गिरने से जो पीठ हुए उनमें एक यह भी है । चीनी यात्री हुएनसांग ने इस नगर को एक समृद्ध नगर लिखा है । इसकी स्थिति कहाँ है इस पर मतभेद है । कोई इसे रंगपुर के पास कहते हैं और कोई पटना को ही प्राचीन पुंड्रवर्द्धन के स्थान पर मानते हैं । पर कुछ लोगों का कहना है कि

यह नगर गंगातट के पास होना चाहिए जैसा कि कथा सरित्सागर और हनुमत्सांग के उल्लेख से पाया जाता है। अतः मालदह से दो कोस उत्तरपूर्व जो फीरोजाबाद नाम का स्थान है वही प्राचीन पुंडवर्द्धन हो सकता है। वहाँ के लोग उसे अबतक पोंडोवा, पांडुया या बड़पूंडो कहते हैं।

पुंमंत्र—संज्ञा पुं० [सं०] वह मंत्र जिसके अंत में “स्वाहा” वा “नमः” न हो।

पुंलिङ्ग—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुरुष का चिह्न। (२) शिश्न। (३) पुरुषवाचक शब्द। (व्याकरण)।

पुंवृष—संज्ञा पुं० [सं०] छद्मदर।

पुंश्चली—वि० स्त्री० [सं०] अनेक पुरुषों के पास जानेवाली (स्त्री)। व्यभिचारिणी। कुलटा। छिनाल।

संज्ञा स्त्री० कुलटा स्त्री।

पुंश्चलीय—संज्ञा पुं० [सं०] कुलटा या वेश्या का पुत्र।

पुंसः—संज्ञा पुं० [सं० पुं०] पुरुष। नर। मर्द।

पुंसवन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) दुग्ध। दूध। (२) द्विजातियों के सोलह संस्कारों में से दूसरा संस्कार जो गर्भाधान से तीसरे महीने किया जाता है। गर्भिणी पुत्र प्रसव करे इस अभिप्राय से यह किया जाता है।

विशेष—गर्भ हिलने डोलने से पहले ही यह संस्कार होना चाहिए। अच्छे दिन और सुहृत् में अग्निस्थापना करके स्त्री और पुरुषकुशासन पर बैठते हैं। पति उठकर स्त्री का दहना कंधा स्पर्श करता है, फिर दहने हाथ से स्त्री की नाभि को स्पर्श करता हुआ कुछ मंत्र पढ़ता है। यहाँ तक तो प्रथम पुंसवन हुआ। फिर दूसरे दिन या उसी दिन किसी वटवृक्ष की पूर्वोत्तर शाखा की टहनी के दो फलोंवाले सिरे (शुंगा, फुनगी) को जो या उरद देकर सात बार मंत्र पढ़कर क्रय करते हैं और मंत्र पढ़ते हुए नोचकर लाते हैं। वट की फुनगी को साफ सिल पर ओस के पानी से पीसते हैं। फिर इस बरगद के रस को पश्चिम ओर मुँह करके बैठी हुई स्त्री के पीछे खड़ा होकर पति उसकी नाक के दहने नथने में डाल देता है।

(३) वैष्णवों का एक व्रत। (भागवत)।

वि० पुत्रोत्पादक।

पुंसवान्—वि० [सं० पुंसवत्] [स्त्री० पुंसवती] पुत्रवाला।

पुंस्त्व—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुरुषत्व। पुरुष का धर्म। (२) पुरुष की स्त्रीसहवास की शक्ति। (३) शुक्र। वीर्य। (४) गोधृत्य।

पुंस्त्वविग्रह—संज्ञा पुं० [सं०] भृत्य। एक सुगंधयुक्त घास।

पुत्रा—संज्ञा पुं० [सं० पुं०] मीठे के रस में सने हुए आटे की मोटी पूरी या टिकिया।

पुत्रार्ह—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक सदाबहार पेड़ जिसकी लकड़ी

ढढ़ चिकनी और पीले रंग की होती है। यह घरों में लकड़ी, मेज, कुर्सी आदि बनाने के काम में आती है। लकड़ी प्रति घन फुट १७ या १८ सेर तोल में होती है। यह पेड़ दार-जिलिंग, सिकम, भोटान आदि पहाड़ी प्रदेशों में आठ हजार फुट की ऊँचाई तक होता है। इसीसे मिलता जुलता एक और पेड़ होता है जिसे डिडिया कहते हैं और जिसके पत्तों में एक प्रकार की सुगंध होती है।

पुत्राल—संज्ञा पुं० [देश०] एक ऊँचा जंगली पेड़ जिसकी लकड़ी बहुत मजबूत और पीले रंग की होती है और इमारतों में लगती है। यह दार्जिलिंग, सिकिम और भोटान के जंगलों में होता है।

संज्ञा पुं० दे० “पयाल”।

पुकार—संज्ञा स्त्री० [हिं० पुकारना] (१) किसीका नाम लेकर बुलाने की क्रिया या भाव। अपनी ओर ध्यान आकर्षित करने के लिये किसीके प्रति ऊँचे स्वर से संबोधन। सुनाने के लिये जोर से किसीका नाम लेना या कोई बात कहना। हाँक। डेर। (२) रक्षा या सहायता के लिये चिल्लाहट। बचाव या मदद के लिये दी हुई आवाज। दुहाई। उ०—असुर महा उत्पात कियो तब देवन करी पुकार।—सूर।

क्रि० प्र०—करना।—मचना।—मचाना।—होना।

(१) प्रतिकार के लिये चिल्लाहट। किसीसे पहुँचे हुए दुःख या हानि का उससे विवेदन जो दंड या पूर्ति की व्यवस्था करे। फरियाद। नाजिश। जैसे, उसने दरबार में पुकार की। (४) माँग की चिल्लाहट। गहरी माँग। जैसे, जहाँ जाओ वहाँ ‘पानी पानी’ की पुकार सुनाई पड़ती थी।

क्रि० प्र०—करना।—मचना।—मचाना।—होना।

पुकारना—क्रि० सं० [सं० संश्लुतकरण = आवाज को खींचना वा प्रकृश = पुकारना] (१) नाम लेकर बुलाना। अपनी ओर ध्यान आकर्षित करने के लिये ऊँचे स्वर से संबोधन करना। किसीका इसलिये जोर से नाम लेना जिसमें वह ध्यान दे या सुनकर पास आए। हाँक देना। डेरना। आवाज लगाना। जैसे, (क) नौकर को पुकारो वह आकर ले जायगा। (ख) उसने पीछे से पुकारा मैं खड़ा हो गया।

संयो० क्रि०—देना।

(२) नाम का उच्चारण करना। रटना। धुन लगाना। जैसे, हरिनाम पुकारना। (३) ध्यानआकर्षित करने के लिये कोई बात जोर से कहना। चिल्लाकर कहना। घोषित करना। जैसे, (क) ग्वालिन का ‘दही दही’ पुकारना। (ख) मंगन का द्वार पर पुकारना। उ०—करे कबहुँ न होय आपने मधुवन कहाँ पुकारि।—सूर। (४) चिल्लाकर माँगना। किसी वस्तु को पाने के लिये आकुल होकर बार बार उसका नाम लेना। जैसे, व्यास के मारे सब ‘पानी पानी’

पुकार रहे हैं। (५) रक्षा के लिये चित्तलाना। गोहार लगाना। छुटकारे के लिये आवाज लगाना। उ०—पर्व पयादे धाय गये गज जबै पुकारयो।—सूर। (६) प्रति-कार के लिये किसीसे चित्लाकर कहना। किसीसे पहुँचे हुए दुःख या हानि को उससे कहना जो दंड या पूर्ति की व्यवस्था करे। फरियाद करना। नालिश करना। जैसे, जाय पुकारयो नृप दरबार।—सबल। (७) नामकरण करना। अभिहित करना। संज्ञा द्वारा निर्देश करना। जैसे, (क) तुम्हारे यहाँ इस चिड़िया को किस नाम से पुकारते हैं। (ख) यहाँ मुझे लोग यही कहकर पुकारते हैं।

पुक्कश, पुक्कष, पुक्कस—संज्ञा पुं० [सं०] (१) चांडाल।

विशेष—मनुस्मृति के अनुसार निषाद पुरुष और शूद्रा के गर्भ से और उशना के अनुसार शूद्र पुरुष और तन्निया स्त्री के गर्भ से इस जाति कि उत्पत्ति है।

(२) अधम। नीच।

पुक्कसी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कालापन। कालिमा। (२)

नील का पौधा।

पुख † *—संज्ञा पुं० दे० “पुष्य”।

पुखता—वि० दे० “पुख्ता”।

पुखराज—संज्ञा पुं० [सं० पुष्पराग] एक प्रकार का रत्न या बहु-मूल्य पत्थर जो प्रायः पीला होता है पर कभी कभी कुछ हलका नीलापन या हरापन लिए भी होता है। यह अलुमी-नियम का एक प्रकार का सैकत चार है। यह हीरे से भारी पर कम कड़ा होता है। पुखराज अधिकतर ग्रेनाइट की चट्टानों और कभी कभी ज्वालामुखी पर्वतों के दरारों में मिलता है। कर्नवाल (इंग्लैंड), स्कॉटलैंड, ब्रेजिल, मैक्सिको, साइबेरिया और अमेरिका के संयुक्त राज में यह पाया जाता है। एशिया में खुराल पर्वत से बहुत निकाला जाता है। ब्रेजिल का गहरे पीले रंग का पुखराज सब से अच्छा माना जाता है। यों तो भारतवर्ष तथा और पूर्वीय देशों में भी यह थोड़ा बहुत पाया जाता है।

हमारे यहाँ के रत्नपरीक्षा के ग्रंथों में पुष्पराग के कई भेद लिखे हैं। जो पुष्पराग कुछ पीलापन लिए लाल रंग का हो उसे कौरंट और जो कुछ ललाई लिए पीले रंग का हो उसे काषायक कहते हैं। जो कुछ ललाई लिए सफेद हो वह सोमलक, जो बिलकुल लाल हो वह पद्मराग और जो नीला हो वह इंद्रनील है। इस प्रकार प्राचीन ग्रंथों में पुखराज भी कुंरंड जाति के पत्थरों में माना गया है।

पुगाना—क्रि० स० [हि० पुगाना] (१) पूरा करना। पुजाना। जैसे, मिति पुगाना, रूपया पुगाना। (२) गोली के खेल में गोली का गड्ढे में डालना। (लड़के)।

पुचकार—संज्ञा स्त्री० [हि० पुचकारना] प्यार जताने के लिए

ओठों से निकाला हुआ चूमने का सा शब्द। चुमकार।

पुचकारना—क्रि० स० [अनु० पुच = ओठों को दबाकर छोड़ने से निकला हुआ शब्द + हि० कार + ना (प्रत्य०)] चूमने का सा शब्द निकालकर प्यार जताना। चुमकारना। जैसे, (क) बच्चे को पुचकारना। (ख) कुत्ते को पुचकारना। उ०—(क) ठोंकि पीठ पुचकारि बहोरी। कीन्हों विदा सिद्धि कहि तोरी।—रघुराज। (ख) सुनि बैठाय अंक दानवपति पोंछि बदन पुचकारी। बेठा, पढ़ी कौन विद्या तुम देहु परीक्षा सारी।—रघुराज।

पुचकारी—संज्ञा स्त्री० [हि० पुचकारना] प्यार जताने के लिये ओठों से निकाला हुआ चूमने का सा शब्द। चुमकार। जैसे, जानवर या बच्चे को पुचकारी देकर बुलाना।

क्रि० प्र०—देना।

पुचरस†—संज्ञा पुं० [देश०] कई धातुओं का मेल। ऐसी धातु जिसमें मिलावट हो।

पुचारना—क्रि० स० [हि० पुचारा] पुचारा देना। पोतना।

पुचारा—संज्ञा पुं० [अनु० पुचपुच = भीगे कपड़े को दबाने का शब्द। वा पुतारा] (१) किसी वस्तु के ऊपर पानी से तर कपड़ा फेरने की क्रिया। भीगे कपड़े से पोंछने का काम। जैसे बरतन आँच पर चढ़ाकर ऊपर से पानी का पुचारा देते जाना।

क्रि० प्र०—देना।

(२) पतला लेप करने का काम। हलकी पुताई या लिपाई। पोता।

क्रि० प्र०—फेरना।

(३) किसी वस्तु के ऊपर कोई गीली वस्तु फेरकर चढ़ाई हुई पतली तह। हलका लेप। जैसे, चूने का पुचारा, मिट्टी या गोबर का पुचारा। (४) वह गीला कपड़ा जिससे पोतते या पुचारा देते हैं। जैसे, जुलहाँ का पुचारा जिससे पाई के ऊपर माँड़ या पानी पोतते हैं। (५) लेप करने या पोतने के लिये पानी में घोली हुई कोई वस्तु (जैसे, रंग, चूना आदि)। (६) दगी हुई तोप या बंदूक की गरम नली को ठंडी करने के लिये उसपर गीला कपड़ा डालने की क्रिया। (७) किसीको अनुकूल करने या मनाने के लिये कहे हुए मीठे और सुहाते वचन। प्रसन्न करनेवाले वचन। जैसे, कड़ाई से नहीं बनेगा, पुचारा देकर काम लेना चाहिए।

क्रि० प्र०—देना।

(८) झूठी प्रशंसा। चापलूसी। ठकुरसुहाती। खुशामद।

क्रि० प्र०—देना।

(९) उत्साह बढ़ानेवाले वचन। किसी ओर प्रवृत्त करनेवाले वचन। बढ़ावा। जैसे, जरा पुचारा दे दो; देखो वह सब कुछ करने को तैयार हो जाता है।

पुच्छ—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुम। पूँछ। (२) किसी वस्तु का पिछला भाग।

पुच्छदा—संज्ञा स्त्री० [सं०] लक्ष्मणाकंद।

पुच्छफल—संज्ञा पुं० [सं०] वेर का पेड़।

पुच्छल—वि० [हिं० पुच्छ] दुमदार। पूँछदार।

यौ०—पुच्छल तारा = कभी कभी उदित होनेवाला वह तारा जिससे लगा हुआ आप या कुहरे सा द्रव्य भाऊ के आकार में दूर तक फैला दिखाई देता है। विशेष—दे० “केतु”।

पुच्छिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] माषपर्णी।

पुच्छी—वि० [सं० पुच्छिन्] पूँछवाला। दुमदार।

संज्ञा पुं० (१) आक। मदार। (२) कुक्कुट। मुग।

पुछला—संज्ञा पुं० [हिं० पूँछ + ला (प्रत्य०)] (१) बड़ी पूँछ। लंबी दुम। (२) पूँछ की तरह जोड़ी हुई वस्तु। जैसे, (क) पतंग या कनकौवे के नीचे बँधी हुई लंबी धज्जी जो लटकती रहती है, (ख) टोपी में टँकी हुई धज्जी जो अलग लटकती रहती है। (३) बराबर पीछे लगा रहनेवाला। साथ न छोड़नेवाला। बराबर साथ में दिखाई पड़नेवाला। जैसे, वह जहाँ जाता है यह पुछला उसके साथ रहता है। (४) साथ में जुड़ी या लगी हुई वस्तु या व्यक्ति जिसकी उत्तरी आवश्यकता न हो। जैसे, तुम आप तो जाते ही हो, एक पुछला क्यों पीछे लगाए जाते हो। (५) पिछलगू। खुशामद से पीछे लगा रहनेवाला। चापलूस। आश्रित। जैसे, अमीरों का पुछला। (६) लपेटन की बाईं ओर का खूँटा। (जुलाहे)

पुछार † *—संज्ञा पुं० [हिं० पूछना] पूछनेवाला। खोज खबर लेनेवाला। आदर करनेवाला।

संज्ञा पुं० दे० “पुछार”।

पुछिया—संज्ञा पुं० [हिं० पूँछ] दुँबा मेढ़ा।

पुछैया †—संज्ञा पुं० [हिं० पूछना] पूछनेवाला। खोजखबर लेनेवाला। ध्यान देनेवाला।

पुजना—क्रि० अ० [हिं० पूजना] (१) पूजा जाना। आराधना का विषय होना। जैसे, वहाँ अनेक देवता पुजते हैं। (२) आदर होना। सम्मानित होना।

पुजवना † *—क्रि० स० [हिं० पूजना] (१) पुजाना। भरना। (२) पूरा करना। (३) सफल करना। उ०—जिन व्रज बीथिन में सदा बिहरत स्यामा स्याम। सकल मनोरथ मंजु मम ते पुजवहु सुख धाम।

पुजवाना—क्रि० स० [हिं० ‘पूजना’ का प्रे०] (१) पूजन कराना। पूजा करने में प्रवृत्त करना। आराधन कराना। जैसे, हम अपने ठाकुर दूसरे से पुजवा लेंगे। (२) अपनी पूजा कराना। पूजा प्रतिष्ठा लेना। जैसे, ये देवता ऐसे हैं जो सब से पुजवाते हैं। (३) अपनी सेवा-शुश्रूषा कराना। आदर

सम्मान कराना। जैसे, गाँवों में साधु अपने को खूब पुजवाते हैं।

पुजाई—संज्ञा स्त्री० [हिं० पूजना] (१) पूजने वा भाव या क्रिया। जैसे, गंगापुजाई। (२) पूजने का दाम या मजदूरी। संज्ञा स्त्री० [हिं० पूजना = पूरा होना] (१) पूरा करने की क्रिया या भाव। (२) पूरा करने की मजदूरी।

पुजाना—क्रि० स० [हिं० पूजना का प्रे०] (१) दूसरे से पूजा कराना। पूजा में प्रवृत्त या नियुक्त करना। जैसे, पुजारी से ठाकुर पुजाना। (२) अपनी पूजा प्रतिष्ठा कराना। आदर सम्मान प्राप्त करना। भेंट चढ़वाना। (३) धन वसूल करना। जैसे, (क) गाँवों में बैरागी खूब पुजाते हैं। (ख) आज ५) उससे पुजाए।

संयो० क्रि०—लेना।

क्रि० स० [हिं० पूजना = पूरा होना, भरना] (१) भर देना। किसी घाव गड्ढे आदि को बराबर करना। जैसे, यह दवा घाव को बहुत जल्दी पुजा देगी।

संयो० क्रि०—देना।

(२) पूरा करना। पूर्ति करना। कमी दूर करना। उ०—पंडुवधू पटहीन सभा में कोटिन वसन पुजाए।—सूर। (३) परिपूर्ण करना। सफल करना। उ०—करि विवाह ताही लै आयो। तासु मनोरथ सकल पुजायो।—सूर।

पुजापा—संज्ञा पुं० [सं० पूजा + पात्र] (१) देवपूजन की सामग्री। जैसे, फूलपत्र, नैवेद्य, पंचपात्र, अरघा इत्यादि। पूजा का सामान।

मुहा०—पुजापा फैलाना = (१) वस्तुओं को बिना किसी क्रम के इधर उधर फैलाकर रखना। (२) आडंबर फैलाना। बखेड़ा फैलाना।

(२) पूजा की सामग्री रखने की शैली। पुजाही।

पुजारी—संज्ञा पुं० [सं० पूजा + कारी] पूजा करनेवाला। जो पूजा करता हो। किसी देवमूर्ति की सेवा शुश्रूषा करनेवाला।

पुजाही—संज्ञा स्त्री० [हिं० पूजा + आही (प्रत्य०)] पूजन की सामग्री रखने की शैली वा पात्र।

पुजेरी—संज्ञा पुं० दे० “पुजारी”। उ०—आप देव आप ही पुजेरी। आपुहि भोजन जेवत हेरी।—सूर।

पुजैया†—संज्ञा पुं० [हिं० पूजना] पूजा करनेवाला।

संज्ञा पुं० [हिं० पूजना = भरना] पूरा करनेवाला। भरनेवाला।

‡ संज्ञा स्त्री० दे० “पुजाई”।

पुजौरा—संज्ञा पुं० [हिं० पूजा] (१) पूजन। अर्चा। (२) पूजा के समय देवता को अर्पित करने की सामग्री।

पुट—संज्ञा पुं० [अनु० पुट पुट = छीटा गिरने का शब्द] (१) किसी वस्तु से तर करने या उसका हलका मेल करने के लिये डाँडा हुआ छीटा। हलका छिरकाव। जैसे, (क) पकाते वक्त ऊपर से पानी का हलका पुट दे देना।

क्रि० प्र०—देना ।

(२) रंग या हलका मेल देने के लिये धुले हुए रंग या और किसी पतली चीज में डुबाना । बोर । जैसे, इसमें एक पुट लाल रंग का दे दो । उ०—ज्यों बिन पुट पट गहत न रंग को, रंग न रसै परै । —सूर ।

क्रि० प्र०—देना ।

(३) बहुत हलका मेल । अल्प मात्रा में मिश्रण । भावना । जैसे, भाँग में संख्या का भी पुट ।
संज्ञा पुं० [सं०] (१) आच्छादन । ढाकनेवाली वस्तु । जैसे, रदपुट, नेत्रपुट । (२) दोना । कटोरा । गोल गहरा पात्र । उ०—(क) पियत नैन पुटरूप पियूखा । —तुलसी ।
(ख) जलपुट आनि धरो आँगन में मोहन नेक तौ लीजै । —सूर । (३) दोने के आकार की वस्तु । कटोरे की तरह की चीज । जैसे, अंजलिपुट । (४) मुँहबंद वरतन । औषध पकाने का पात्र विशेष ।

विशेष—दो हाथ लंबा, दो हाथ चौड़ा, दो हाथ गहरा एक चौखुंटा गड्ढा खोद कर उसमें बिना पथे हुए उपले डाल दे । उपलों के ऊपर औषध का मुँहबंद वरतन रख दे और ऊपर से भी चारों ओर उपले डाल कर आग लगा दे । दवा पक जायगी । यह महापुट है । इसी प्रकार गड्ढे के बिस्तार के हिसाब से गजपुट, कौकटपुट, कपोतपुट, भांडपुट, इत्यादि हैं जैसे, सबा हाथ विस्तार के गड्ढे में जो पात्र रखा जाय वह गजपुट है ।

(५) कटोरे के आकार के दो बराबर वरतनों को मुँह मिलाकर जोड़ने से बना हुआ बंद घेरा । संपुट । (६) घोड़े की टाप । (७) अंतःपट । अंतरौटा । (८) जायफल । (९) एक वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में दो नगण, एक मगण और एक यगण होता है । उ०—अवणपुट करी ना जान रानी । रघुपति कर याकी मीचु ठानी ।

पुटकंद—संज्ञा पुं० [सं०] कोलकंद । बाराही कंद ।

पुटक—संज्ञा पुं० [सं०] कमल ।

विशेष—शेष अर्थ पुट के समान ।

पुटकिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पद्मिनी । कमलिनी । (२) पद्मसमूह । (३) कमलों से भरा देश ।

पुटकी—संज्ञा स्त्री० [सं० पुटक = देना] पोदली । गठरी ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पटपटाना = मरना] (१) आकस्मिक मृत्यु । मौत जो एकबारगी आ पड़े । (२) बज्रपात । दैवी आपत्ति । आफत । गजब ।

मुहा०—(किसी पर) पुटकी पड़ना = (१) मौत आना । अकाल मृत्यु होना । (२) बज्र पड़ना । आफत आना । गजब गिरना । (स्त्रि० शाप) ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पुट = हलका मेल] बेसन या आटा जो

तरकारी के रसे में उसे गाढ़ा करने के लिये मिला दिया जाता है । आलन ।

पुटग्रीव—संज्ञा पुं० [सं०] गगरा । कलसा ।

पुटपाक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पत्ते के दोने में रखकर औषध पकाने का विधान (वैद्यक) ।

विशेष—पकाई जानेवाली औषध को गंभारी, बरगद, जामुन, आदि के पत्तों में चारों ओर से लपेट दे और कसकर बाँध दे । फिर पत्तों के ऊपर गीली मिट्टी का अंगुल दो अंगुल मोटा लेप कर दे । फिर उस पिंड को उपले की आग में डाल दे । जब मिट्टी पक कर लाल हो जाय तब समझे कि दवा पक गई । नेत्ररोगों में भी पुटपाक की रीति से औषध पकाकर उसका रस आँख में डालने का विधान है । स्निग्ध मांस और कुछ औषध लेकर द्रव पदार्थ मिलाकर पीस डाले फिर सबको ऊपर लिखी रीति से पकाकर उसका रस निचोड़कर आँख में डाले ।

(२) मुँहबंद वरतन में दवा रखकर उसे गड्ढे के भीतर पकाने का विधान । (भस्म बनाने के लिये धातुएँ प्रायः इस रीति से फूँकी जाती हैं ।) (३) पुटपाक द्वारा सिद्ध रस या औषध । उ०—रावण सो रसराज सुभट रस सहित लंक खल खलतो । करि पुटपाक नाक नायक हित घने घने घर धलतो । —तुलसी ।

पुटभेद—संज्ञा पुं० [सं०] (१) जल का भँवर । (२) नगर । पत्तन ।

पुटभेदक—संज्ञा पुं० [सं०] परतदार पत्थर जो आधा पुरसा खोदने पर जमीन के भीतर मिले । (बृहत्संहिता)

विशेष—कहाँ खोदने से जल निकलेगा इसका विचार जिस उदकार्गल प्रकरण में है उसीमें इसका उल्लेख है ।

पुटरिया—संज्ञा स्त्री० दे० “पोदली” ।

पुटरी—संज्ञा स्त्री० दे० “पोदली” ।

पुटालु—संज्ञा पुं० [सं०] कोलकंद ।

पुटास—संज्ञा पुं० दे० “पोटाश” ।

पुटिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) संपुट । पुड़िया । (२) इलायची ।

पुटित—वि० [सं०] (१) जो सिमटकर दोने के आकार का हो गया हो । (२) संकुचित । सुकड़ा हुआ । (३) पटा हुआ । (४) सिला हुआ । (५) बंद ।

पुटनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] फेनी नाम की मिठाई ।

पुटिया—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की छोटी मछली ।

पुटी—संज्ञा स्त्री० [सं० पुट] (१) छोटा दोना । छोटा कटोरा ।

उ०—भरि भरि परनपुटी रवि रूरी । —तुलसी । (२)

खाली स्थान जिसमें कोई वस्तु रखी जा सके । जैसे, चंचुपुटी । (३) पुड़िया । (४) कौपीन । लँगोटी ।

पुटीन—संज्ञा पुं० [सं० पुटी] किवाड़ों में शीशे बैठाने या लकड़ी

के जोड़, छेद, दरार आदि भरने में काम आनेवाला एक मसाला जो अलसी के तेल में खरिया मिट्टी मिलाकर बनाया जाता है।

पुट्टी-संज्ञा स्त्री० [देश०] मछलियों के पकड़ने का भावा।

पुट्टा-संज्ञा पुं० [सं० पुष्ट वा पृष्ठ] (१) चूतड़ का ऊपरी कुछ कड़ा भाग। (२) चौपायों विशेषतः घोड़ों का चूतड़।

मुहा०—पुट्टे पर हाथ न रखने देना = चंचलता और तेजी के कारण सवार को धास न आने देना (घोड़ों के लिये)।

(३) घोड़ों की संख्या के लिये शब्द। जैसे, (क) इस साल कितने पुट्टे लाए ? (ख) फी पुट्टा १०० के हिसाब से दाम ले लो। (४) किसी पुस्तक की जिल्द का पिछला भाग। (५) पुट्टे पर का मजबूत चमड़ा। (चमार)

पुट्टी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पुट्टा] बैलगाड़ी के पहिये के घेरे का एक भाग जिसमें आरा और गज घुसे रहते हैं। किसी पहिये में ४ किसी में ६ ऐसे भाग मिलकर पूरा घेरा बनाते हैं।

पुठवाला-संज्ञा पुं० [हिं० पुट्टा + वाला] (१) चोरों के दल का वह वलिष्ठ आदमी जो संध के सुँह पर पहर के लिये खड़ा रहता है। (२) भले बुरे काम में किसीका साथ देनेवाला। मददगार। पृष्ठरक्षक।

पुड़ा-संज्ञा पुं० [सं० पुट] [स्त्री० अल्प० पुड़िया] बड़ी पुड़िया या बंडल।

संज्ञा पुं० [हिं० पुट्टा] वह चमड़ा जिससे ढोल मड़ा जाता है।

पुड़िया-संज्ञा स्त्री० [सं० पुटिका, प्रा० पुड़िया] (१) मोड़ या लपेटकर संपुट के आकार का किया हुआ कागज या पत्ता जिसके भीतर कोई वस्तु रखी जाय। जैसे, पंसारी ने एक पुड़िया बाँधकर दी।

क्रि० प्र०—बाँधना।

(२) पुड़िया में लपेटी हुई दवा की एक खुराक या मात्रा। जैसे, एक पुड़िया सुबह खाना एक शाम। (३) आधार स्थान। खान। भंडार। घर। जैसे, यह बुड़िया आफत की पुड़िया है।

पुड़ी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पुड़ा] वह चमड़ा जिससे ढोल मड़ा जाता है।

पुण्य-वि० [सं०] पवित्र। शुभ। अच्छा। भला। धर्मविहित। जैसे, पुण्य कार्य।

संज्ञा पुं० (१) वह कर्म जिसका फल शुभ हो। शुभाष्ट। सुकृत। भला काम। धर्म का कार्य। जैसे, दीनों को दान देना बड़े पुण्य का कार्य है।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(२) शुभ कर्म का संचय। जैसे, ऐसा करने से बड़ा पुण्य होता है।

क्रि० प्र०—होना।

पुण्यक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) व्रत, अनुष्ठान आदि जिनसे पुण्य होता है। (२) वह व्रत या उपचार जो पुत्रवती स्त्री अपने पुत्र के कल्याण के लिये करती है। (३) विष्णु।

पुण्यकाल-संज्ञा पुं० [सं०] दान पुण्य का समय।

पुण्यक्षेत्र-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जहाँ जाने से पुण्य हो। तीर्थ।

पुण्यगंध-संज्ञा पुं० [सं०] चंपा।

पुण्यगंधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सोनजुही का फूल।

पुण्यजन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) धर्मात्मा। सज्जन। (२) राजस। (३) यक्ष।

पुण्यजनेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] कुबेर।

पुण्यजित-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रलोक आदि (जिनकी प्राप्ति पुण्य द्वारा होती है)।

पुण्यदर्शन-वि० [सं०] जिसके दर्शन से पुण्य हो। जिसके दर्शन का फल शुभ या अच्छा हो।

संज्ञा पुं० नीलकंठ। चाषपत्नी। (विजयादशमी के दिन इसके दर्शन से लोग पुण्य मानते हैं।)

पुण्यभूमि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आर्यावर्त देश। (२) पुत्रवती स्त्री।

पुण्यवान्-वि० [सं० पुण्यवत्] [स्त्री० पुण्यवती] पुण्य करनेवाला। धर्मात्मा।

पुण्यश्लोक-वि० [सं०] [स्त्री० पुण्यश्लोका] जिसका सुंदर चरित्र या यश हो। पवित्र चरित्र या आचरणवाला। जिसका जीवनवृत्तांत पवित्र और शिक्षादायक हो।

संज्ञा पुं० (१) नल। (२) युधिष्ठिर। (३) विष्णु।

पुण्यश्लोका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सीता। (२) द्रौपदी।

पुण्यस्थान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पवित्र स्थान। तीर्थस्थान। (२) जन्मकुंडली में लग्न से नवां स्थान जिसमें कुछ ग्रहों के होने से पुण्यवान् या पुण्यहीन होने का विचार किया जाता है।

पुण्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) तुलसी। (२) पुनपुना नदी।

पुण्याई-संज्ञा स्त्री० [हिं० पुण्य + आई (प्रत्य०)] पुण्य का फल वा पुण्य का प्रभाव। उ०—आज तो वह पुरखों की पुण्याई से बच गया।

पुण्यात्मा-वि० [सं० पुण्यात्मन्] जिसकी प्रवृत्ति पुण्य की ओर हो। पुण्यशील। धर्मात्मा।

पुण्याह-संज्ञा पुं० [सं०] शुभ दिन। मंगल का दिन।

पुण्याह वचन-संज्ञा पुं० [सं०] देवकार्य के अनुष्ठान के पहले मंगल के लिये 'पुण्याह' शब्द का तीन बार कथन।

पुत्-संज्ञा पुं० [सं०] एक नरक का नाम जिससे पुत्र होने पर उद्धार होता है।

पुतरा*—संज्ञा पुं० दे० "पुतला"।

पुतरिका*—संज्ञा स्त्री० दे० "पुतलिका"।

पुतरिया—संज्ञा स्त्री० दे० “पुतरी”, “पुतली” ।

पुतरी—संज्ञा स्त्री० दे० “पुतली” ।

पुतला—संज्ञा पुं० [सं० पुत्रक, पुतल] [स्त्री० पुतला] लकड़ी, मिट्टी, धातु, कपड़े आदि का बना हुआ पुरुष का आकार या मूर्ति विशेषतः वह जो विनोद या क्रीड़ा (खेल) के लिये हो ।

मुहा०—किसी का पुतला बाँधना = किसीकी निंदा करते फिरना । किसीकी अपकृति फैलाना । बदनामी करना । (भाट जिसके यहाँ कुछ नहीं पाते हैं उसके नाम का एक पुतला बाँस में बांधकर घूमते हैं और उसे कंजूस कह कहकर गालियाँ देते हैं) । उ०—तौ तुलसी पूतरा बांधिहै । —तुलसी ।

पुतली—संज्ञा स्त्री० [हिं० पुतला] (१) लकड़ी, मिट्टी, धातु, कपड़े आदि की बनी हुई स्त्री की आकृति या मूर्ति विशेषतः वह जो विनोद या क्रीड़ा (खेल) के लिये हो । गुड़िया । (२) आँख का काला भाग जिसके बीच में वह छेद होता है जिससे होकर प्रकाश की किरणें भीतर जाती हैं और पदार्थों का प्रतिबिंब उपस्थित करती हैं । नेत्र के ज्योतिष्केंद्र के चारों ओर का कृष्णमंडल । (दूसरे की आँख पर दृष्टि गड़ाकर देखनेवाले को इस काले मंडल के बीच के तिल में अपना प्रतिबिंब पुतली के आकार का दिखाई देता है इसीसे यह नाम पड़ा) ।

मुहा०—पुतली फिर जाना = (१) आँख पथरा जाना । नेत्र स्तब्ध होना । (मरण चिह्न) । (२) घमंड हो जाना ।

(३) कपड़ा बुनने की कल या मशीन ।

यौ०—पुतली घर ।

(४) किसी स्त्री की सुकुमारता और सुंदरता सूचित करने के लिये व्यवहृत शब्द । जैसे, वह स्त्री क्या है पुतली है । (५) घोड़े की टाप का वह मांस जो मेढक की तरह निकला होता है ।

पुतार्ह—संज्ञा स्त्री० [हिं० पोतना + आर्ह (प्रत्य०)] (१) किसी गीली वस्तु की तह चढ़ाने का काम । पोतने की क्रिया या भाव । (२) दीवार आदि पर मिट्टी गोबर चूना आदि पोतने का काम । (३) पोतने की मजदूरी ।

पुतारा—संज्ञा पुं० [हिं० पुतना, पोतना] (१) किसी वस्तु के ऊपर पानी से तर कपड़ा फेरने की क्रिया । भीगे कपड़े से पोछने का काम । (२) पोतने का तर कपड़ा ।

पुत्त *—संज्ञा पुं० दे० “पुत्र” ।

पुतरी *—संज्ञा स्त्री० दे० “पुत्री” ।

पुत्तल—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० पुतली] पुतला ।

पुत्तलक—संज्ञा स्त्री० [सं०] [स्त्री० पुत्तलिका] पुतला ।

पुत्तलिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पुतली । (२) गुड़िया ।

पुत्तिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार की मधुमक्खी ।

(२) दीमक ।

पुत्र—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० पुत्री] लड़का । बेटा ।

विशेष—‘पुत्र’ शब्द की व्युत्पत्ति के लिये यह कल्पना की गई है कि जो पुत्राम नरक से उद्धार करे उसकी संज्ञा पुत्र है । पर यह व्युत्पत्ति कल्पित है । मनु ने बारह प्रकार के पुत्र कहे हैं—औरस, चेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, गूढोत्पन्न, अपविद्ध, कानीन, सहोद, क्रीत, पौनर्भव, स्वयंदत्त और शौद्र । विवाहिता सवर्णा स्त्री के गर्भ से जिसकी उत्पत्ति हुई हो वह औरस कहलाता है । औरस ही सबसे श्रेष्ठ और मुख्य पुत्र है । मृत, नपुंसक आदि की स्त्री देवर आदि से नियोग द्वारा जो पुत्र उत्पन्न करे वह चेत्रज है । गोद लिया हुआ पुत्र दत्तक कहलाता है । किसी पुत्रगुणों से युक्त व्यक्ति को यदि कोई अपने पुत्र के स्थान पर नियत करे तो वह कृत्रिम पुत्र होगा । जिसकी स्त्री को किसी स्वजातीय या घर के पुरुष से ही पुत्र उत्पन्न हो, पर यह निश्चित न हो कि किससे तो वह उसका गूढोत्पन्न पुत्र कहा जायगा । जिसे माता पिता दोनों ने या एक ने त्याग दिया हो और तीसरे ने ग्रहण किया हो वह उस ग्रहण करनेवाले का अपविद्ध पुत्र होगा । जिस कन्या ने अपने बाप के घर कुमारी अवस्था में ही गुप्त संयोग से पुत्र उत्पन्न किया हो उस कन्या का वह पुत्र उसके विवाहित पति का कानीन पुत्र कहा जायगा । पहले से गर्भवती कन्या का जिस पुरुष के साथ विवाह होगा गर्भजात पुत्र उस पुरुष का सहोद पुत्र होगा । माता पिता को मूल्य देकर जिसे मोल लें वह मोल लेनेवाले का क्रीत पुत्र कहा जायगा । पति द्वारा त्यागी जाकर अथवा विधवा या स्वेच्छाचारिणी होकर जो पर पुरुष संयोग द्वारा पुत्र उत्पन्न करे वह पुत्र उस पुरुष का पौनर्भव पुत्र होगा । मातृपितृविहीन अथवा माता पिता का त्याग हुआ यदि किसीसे आप आकर कहे कि “मैं आपका पुत्र हुआ” तो वह स्वयंदत्त पुत्र कहलाता है । विवाहिता शूद्रा और ब्राह्मण के संयोग से उत्पन्न पुत्र ब्राह्मण का पार्श्व या शौद्र पुत्र कहलाएगा ।

पुत्रकंदा—संज्ञा स्त्री० [सं०] लक्ष्मणकंद जिसके सेवन से गर्भ-दोष दूर होते हैं ।

पुत्रक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुत्र । बेटा । (२) पतंग । फतिंगा । टिड्डा । (३) दाने का पौधा । (४) एक प्रकार का चूहा जिसके काटने से बड़ी पीड़ा और सूजन होती है ।

पुत्रकामेष्टि—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक यज्ञ जो पुत्र की इच्छा से किया जाता है ।

पुत्रघ्नी—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक योनिरोग जिसके कारण गर्भ नहीं धरता ।

पुत्रजीव—संज्ञा पुं० [सं०] इंगुदी से मिलता जुलता एक बड़ा और सुंदर पेड़ जो हिमालय से लेकर सिंहल तक होता है। इसकी लकड़ी कड़ी और मजबूत होती है। यह चैत बैसाख में फूलता है। फल भी इसके इंगुदी के फलों के ऐसे होते हैं। बीज सूखकर रुद्राच की तरह के हो जाते हैं, इससे बहुत से साधु उसकी माला पहनते हैं। बीजों से तेल भी निकलता है जो जलाने के काम में आता है। छाल, बीज और पत्ते दवा के काम में आते हैं। वैद्यक में पुत्रजीव भारी, वीर्यवर्द्धक, गर्भदायक, कफकारक, मलमूत्रकारक, रुखा और शीतल माना जाता है।

पर्या०—जियापोता। पुतजिया। पवित्र। गर्भद। सिद्धिद। यष्टीपुष्प।

पुत्रजीवक—संज्ञा पुं० [सं०] पुत्रजीव वृक्ष।

पुत्रदा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वेध्या कर्कोटकी। बाँस ककोड़ा या खेखसा। (२) लक्ष्मण कंद। (३) सफेद भटकटैया। श्वेत कंटकारि। (४) जीवन्ती।

पुत्रदात्रा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक लता जो मालवा में होती है। (२) श्वेतकंटकारि।

पुत्रप्रदा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) श्वेतकंटकारि। (२) छुविका।

पुत्रमद्रा—संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ी जीवन्ती।

पुत्रभाव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुत्र का भाव। पुत्रत्व। (२) फलित ज्योतिष में लग्न से पंचम स्थान का विचार जिसके द्वारा ज्योतिषी यह निश्चित करते हैं कि किसके कितने पुत्र या कन्याएँ होंगी।

पुत्रवती—संज्ञा स्त्री० [सं०] जिसके पुत्र हो। पुत्रवाञ्छी। पूती।

पुत्रवधू—संज्ञा स्त्री० [सं०] पुत्र की स्त्री। पतोहू। पुतऊ।

पुत्रभृंगी—संज्ञा स्त्री० [सं०] मेढ़ा।

पुत्रश्रेणी—संज्ञा स्त्री० [सं०] मूलाकानी।

पुत्रसहस्र—संज्ञा पुं० [सं० पुत्र + अ० सहस्र] नीलकंठ ताजिक में जो १० प्रकार के सहस्र कहे गए हैं उनमें से एक।

विशेष—वृहस्पति स्फुट में से चंद्रस्फुट निकाल देने से जो अंक बचे उसे लग्नस्फुट के साथ जोड़ने से पुत्रसहस्र आता है। इसके द्वारा पुत्रलाभ आदि का विचार किया जाता है।

पुत्रादी—वि० [सं० पुत्रादिन्] [स्त्री० पुत्रादिनी] पुत्रमत्तक। बेटे को खानेवाला। (गाली)

पुत्रिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लड़की। बेटी। उ०—जनक सुखद गीता। पुत्रिका पाह सीता। —केशव। (२) पुत्र के स्थान पर मानी हुई कन्या।

विशेष—जिसे पुत्र न हो वह कन्या को इस प्रकार पुत्र रूप से ग्रहण कर सकता है। विवाह के समय वह जामाता से यह निश्चय कर ले कि “कन्या का जो पुत्र होगा वह मेरा ‘स्वधाकर’ अर्थात् मुझे पिंड देनेवाला और मेरी संपत्ति का अधिकारी होगा। (मनु)

(३) गुड़िया। मूर्ति। पुतली। (४) आँख की पुतली। उ०—महादेव के नेत्र की पुत्रिका सी। कि संग्राम की भूमि में चंडिका सी। —केशव। (५) स्त्री का चित्र। स्त्री की तसवीर। उ०—चित्र की सी पुत्रिका की रुरे बगरुरे माहिं, शंबर छोड़ाय लई कामिनी की काम की। —केशव।

पुत्रिकापुत्र—संज्ञा पुं० [सं०] कन्या का पुत्र जो पुत्र के समान माना गया हो और संपत्ति का अधिकारी हो।

पुत्री—संज्ञा स्त्री० [सं०] कन्या। लड़की। बेटी।

वि० [सं० पुत्रिन्] [स्त्री० पुत्रिणी] पुत्रवाला। जिसे पुत्र हो।

पुत्रेष्टि—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का यज्ञ जो पुत्र की इच्छा से किया जाता है।

पुदीना—संज्ञा पुं० [फा० पोदानः] एक छोटा पौधा जो या तो जमीन ही पर फैलता है अथवा अधिक से अधिक एक या डेढ़ बीता ऊपर जाता है। इसकी पत्तियाँ दो ढाई अंगुल लंबी और डेढ़ पौने दो अंगुल तक चौड़ी तथा किनारे पर कटावदार और देखने में खुरदुरी होती हैं। पत्तियों में बहुत अच्छी गंध होती है इससे लोग उन्हें चटनी आदि में पीसकर डालते हैं। पुदीने को यहाँ डंठलों से ही लगाते हैं, उसका बीज नहीं बोते। पुदीने का फूल सफेद होता है और बीज छोटे छोटे होते हैं। पुदीना तीन प्रकार का होता है—साधारण, पहाड़ी और जलपुदीना। जलपुदीने की पत्तियाँ कुछ बड़ी होती हैं। पुदीना रुचिकारक, अजीर्णनाशक और वमन को रोकनेवाला है। यह पौधा हिंदुस्तान में बाहर से आया है, प्राचीन ग्रंथों में इसका उल्लेख नहीं है। यह पिपरमिट की जाति का ही पौधा है।

पुद्गल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) जैनशास्त्रानुसार ६ द्रव्यों में से एक। जगत् के रूपवान् जड़ पदार्थ। स्पर्श, रस और वर्णवाला पदार्थ।

विशेष—जैन दर्शन में षडद्रव्य माने गए हैं—जीवास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल।

(२) शरीर। देह। (बीड़)। (३) परमाणु। (४) आत्मा। (५) गंधतृण।

पुद्गलास्तिकाय—संज्ञा पुं० [सं०] संसार के सब रूपवान् जड़ पदार्थों की समष्टि।

पुनः—अव्य० [सं० पुनर्] (१) फिर। दोबारा। दूसरी बार। (२) उपरांत। पीछे। अनंतर।

पुनःखुरी—संज्ञा पुं० [सं० पुनःखुरिन्] घोड़ों के पैर का एक रोग जिसमें उनकी टाप फैंल जाती है और वे लड़खड़ाते चलते हैं।

पुनःपुनः—क्रि० वि० [सं०] बार बार।

पुनःपुना—संज्ञा स्त्री० [सं०] गया की पुनपुना नदी।

पुनः संस्कार—संज्ञा पुं० [सं०] फिर से किया जानेवाला संस्कार उपनयन आदि संस्कार जो फिर से किए जायें।

विशेष—जैसे, अनजाने अभक्ष्य, मलमूत्र मद्य लगा हुआ अन्न आदि मुँह में पड़ जाने से ब्राह्मण का फिर से उपनयन होना चाहिए। इस पुनः संस्कार में शिरोमुंडन, मेखला, दंड, भैक्ष्य और ब्रह्मचर्य की आवश्यकता नहीं होता।

पुन-संज्ञा पुं० [सं० पुण्य] पुण्य । धर्म । सवाव ।

पुनना-क्रि० सं० [हिं० पूना] बुरा भला कहना । उघटना । बखानना । बुराई खोल खोलकर कहना । (स्त्री०)

पुनपुना-संज्ञा स्त्री० [सं० पुनःपुना] विहार या मगध की एक छोटी नदी जो गया से बहती है और पवित्र मानी जाती है। इसके किनारे लोग पिंडदान करते हैं। वर्षा को छोड़ और ऋतुओं में इसमें जल नहीं रहता।

पुनरपि-क्रि० वि० [सं०] फिर भी ।

पुनरवस, पुनरवसु*—संज्ञा पुं० दे० “पुनर्वसु” ।

पुनरागमन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) फिर से आना । दोबारा आना । (२) संसार में फिर आना । फिर जन्म लेना ।

पुनराधान-संज्ञा पुं० [सं०] श्रौत या स्मार्त अग्नि का फिर से प्रदण । फिर से अग्निस्थापन ।

विशेष—पत्नी की मृत्यु हो जाने पर उसके दाहकर्म में अग्नि अर्पित करके गृहस्थ फिर से विवाह और अग्नि ग्रहण कर सकता है ।

पुनरावृत्त-वि० [सं०] (१) फिर से घूमा हुआ । फिर से घूमकर आया हुआ । (२) दोहराया हुआ । फिर से किया या कहा हुआ ।

पुनरावृत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) फिर से घूमना । फिर से घूमकर आना । (२) किए हुए काम को फिर करना । दोहराना । (३) पुनः पाठ । एक बार पढ़कर फिर पढ़ना । दोहराना ।

पुनरुक्त-वि० [सं०] (१) फिर से कहा हुआ । (२) एक बार का कहा हुआ । जो फिर कहा गया हो ।

पुनरुक्तवदाभास-संज्ञा पुं० [सं०] वह शब्दालंकार जिसमें शब्द सुनने से पुनरुक्ति सी जान पड़े परंतु यथार्थ में न हो । उ०—चंदनीय केहि के नहीं वे कविंद मति मान । स्वर्ग गये हू काव्यरस जिनको जगत जहान । इसमें ‘जगत’ और ‘जहान’ इन दोनों शब्दों के प्रयोग में पुनरुक्ति जान पड़ती है, पर है नहीं, क्योंकि ‘जगत’ का अर्थ है जगता है ।

पुनरुक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक बार कही हुई बात को फिर कहना । कहे हुए वचन को फिर लाना ।

विशेष—साहित्य की दृष्टि से रचना का यह एक दोष माना जाता है ।

पुनर्ग्रहण-संज्ञा पुं० [सं०] पुनरुक्ति ।

पुनर्जन्म-संज्ञा पुं० [सं०] मरने के बाद फिर दूसरे शरीर में उत्पत्ति । एक शरीर छूटने पर दूसरा शरीर धारण ।

पुनर्णव-संज्ञा पुं० [सं०] नख । नाखून ।

पुनर्नव-वि० [सं०] जो फिर से नया हो गया हो ।

पुनर्नवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक छोटा पौधा जिसकी पत्तियाँ चौलाई की पत्तियों की सी गोल गोल होती हैं । फूलों के रंग के भेद से यह पौधा तीन प्रकार का होता है—श्वेत, रक्त और नील । श्वेत पुनर्नवा को विषखपरा और रक्त पुनर्नवा को साँठ या गदहपूरना कहते हैं । श्वेत पुनर्नवा या विषखपरे का पौधा जमीन पर फैला होता है ऊपर की ओर बहुत कम जाता है । फूल सफेद होते हैं । साँठ या गदहपूरना ऊसर और कंकरीली जमीन पर अधिक होती है । फूल लाल होते हैं, डंडल लाल होते हैं और पत्तियाँ भी किनारे पर कुछ ललाई लिये होती हैं । पुनर्नवा की जड़ सूसला होती है और नीचे दूर तक गई होती है । औषध में इसी जड़ का व्यवहार अधिकतर होता है । पुनर्नवा कड़वी, गरम, चरपरी, कसैली, रुचिकारक, अग्निदीपक, रुखी, खारी, दस्तावर, हृदय और नेत्र को हितकारी, तथा सूजन, कफ, बात, खाँसी, बवासीर, सूँठ, पाँडु रोग इत्यादि को दूर करनेवाली मानी जाती है । नेत्र रोगों में तो यह बहुत उपकारी मानी जाती है । इसकी जड़ को पीते भी हैं और घिसकर घी आदि के साथ अंजन की तरह लगाते भी हैं । ऐसा प्रसिद्ध है कि इसके सेवन से आँखें नई हो जाती हैं ।

पर्या०—(क) श्वेत पुनर्नवा । श्वेत मूला । कठिरल । चिराटिका । बुरचीरा । सितवर्षाभू । वर्षांगी । वर्षाही । विसाख । शशिवाटिका । पृथ्वी । घनपत्र । शोधघ्नी । दीर्घपत्रिका । (ख) रक्तपुनर्नवा । रक्तपत्रिका । रक्तकांडा । वर्षकेतु । वर्षाभू । रक्तपुष्पा । लोहिता । क्रूरा । मंडलपत्रिका । विकस्वरा । विषघ्नी । सारिणी । शोणपत्र । भौम । पुनर्भव । नव । नव्य । (ग) नील-पुनर्नवा । नीला । श्यामा । नीलवर्षाभू । नीलिनी ।

पुनर्भव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) फिर होना । पुनर्जन्म । (२) नख । नाखून । (३) रक्तपुनर्नवा ।

वि० जो फिर हुआ हो । फिर उत्पन्न ।

पुनर्भू-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह विधवा स्त्री जिसका विवाह पहले पति के मरने पर दूसरे पुरुष से हो ।

विशेष—मिताचारा के अनुसार पुनर्भू तीन प्रकार की होती हैं । जिसका पहले पति से केवल विवाह भर हुआ हो, समागम न हुआ हो, दूसरा विवाह होने पर वह अक्षत-योनि स्त्री प्रथमा पुनर्भू होगी । विधवा हो जाने पर जिसके चरित्र के बिगड़ने का डर शुरुजनों को हो उसका यदि वे पुनर्विवाह कर दें तो वह द्वितीया पुनर्भू होगी । विधवा

होकर व्यभिचार करनेवाली स्त्री का यदि फिर विवाह कर दिया जाय तो वह तृतीया पुनर्भू होगी ।

पुनर्वसु—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सत्ताईस नक्षत्रों में से सातवाँ नक्षत्र । दे० “नक्षत्र” (२) विष्णु । (३) शिव । (४) कात्यायन मुनि । (५) एक लोक ।

पुनर्वासी—संज्ञा स्त्री० दे० “पूर्णवासी” ।

पुनि—क्रि० वि० [सं० पुनः] फिर फिर से । दोबारा ।

मुहा०—**पुनि पुनि** = बार बार । **उ०**—**पुनि पुनि** मोहिं देखाव कुठारा ।—**तुलसी** ।

पुनी—संज्ञा पुं० [सं० पुण्य, हिं० पुन] पुण्य करनेवाला । पुण्यात्मा । **उ०**—सब निर्दम, धर्मरत पुनी । नर अरु नारि चतुर सब गुनी ।—**तुलसी** ।

संज्ञा स्त्री० [सं० पूण] पूर्णिमा । पूनो । **उ०**—चित्र में विलोकित ही लाल को बदन बाल, जीते जेहि कोटि चंद शरद पुनीन को ।—**मतिराम** ।

पुनीत—वि० [सं०] पवित्र किया हुआ । पवित्र । पाक ।

पुन्न—संज्ञा पुं० दे० “पुण्य” ।

पुन्नाग—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सुलताना चंपा ।

विशेष—इसका पेड़ बड़ा और सदाबहार होता है । पत्तियाँ इसकी गोठ अंडाकार, दोनों सिरों पर प्रायः बराबर चौड़ी और चंपा की पत्तियों से मिलती जुलती होती हैं । टहनियों के सिरे पर लाल रंग के फूल गुच्छों में लगते हैं । फूलों में केसर होता है जो पुन्नागकेसर कहलाता है और दवा के काम में आता है । फल भी गुच्छों में ही लगते हैं । इस पेड़ की लकड़ी बहुत मजबूत ललाई लिये बादामी रंग की होती है । यह हमारतों में लगती है, जहाज के मस्तूल बनाने, रेल की पटरी के नीचे देने तथा और बहुतसे कामों में आती है । छाल को छीलने से एक प्रकार का रस या गोद निकलता है जिसमें सुगंध होती है । फलों के बीज से तेल निकलता है । पुन्नाग के पेड़ दक्षिण मद्रास प्रांत में समुद्रतट पर बहुत अधिक होते हैं । उड़ीसा, सिंदल और बरमा में भी यह पेड़ आप से आप होता है । समुद्रतट की रेतीली भूमि में जहाँ और कोई बड़ा पेड़ नहीं होता वहाँ यह अपने फल फूल की बहार दिखाता है । वैद्यक में पुन्नाग मधुर, शीतल, सुगंध और पित्तनाशक माना जाता है ।

पर्या०—**पुरुषाख्य** । **रक्तवृक्ष** । **देववल्लभ** । **पुरुष** । **तुंग** । **केसर** । **केसरी** ।

(२) श्वेत कमल । (३) जायफल । (४) पुरुष श्रेष्ठ । मनुष्यों में बड़ा ।

पुन्नाट, पुन्नाड़—संज्ञा पुं० [सं०] (१) चक्रमर्द । चक्रवर्द्ध का पौधा । (२) कर्नाटक के पास एक देश । (३) दिगंबर जैन

संप्रदाय का एक संघ । जैन हरिवंश के कर्ता जिनसे नाचार्य इसी संघ के थे ।

पुन्य—संज्ञा पुं० दे० “पुण्य” ।

पुपली—संज्ञा स्त्री० [हिं० पोपला] बाँस की पतली पोजी न ली

पुष्कल—संज्ञा पुं० [सं०] उदरस्थ वायु । जठरवात ।

पुष्कस—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पञ्चबीज कोश । कँवलगद्दे का छत्ता । (२) फुफुस ।

पुमान्—संज्ञा पुं० [सं०] मर्द । नर । पुरुष ।

पुरंजन—संज्ञा पुं० [सं०] जीवात्मा ।

विशेष—भागवत में विस्तृत रूपकाख्यान के रूप में शरीर-रूपी पुर, उसके नवद्वार, त्वक् रूपी प्राचीर और उसमें पुरंजन नाम से जीवात्मा के निवास आदि का वर्णन किया गया है ।

पुरंजय—वि० [सं०] पुर को जीतनेवाला ।

संज्ञा पुं० एक सूर्यवंशी राजा । काकुत्स्थ ।

विशेष—विष्णुपुराण में लिखा है कि एक बार दैत्यों से हारकर जब देवता विष्णु भगवान् के पास गए तब उन्होंने उनसे राजा पुरंजय के पास जाने के लिये कहा । भगवान् ने अपना कुछ अंश पुरंजय में डाल दिया । पुरंजय ने इंद्र से बैल बनने के लिये कहा । बैल के ककुद (छीले) पर बैठकर पुरंजय ने युद्ध किया और दैत्यों को परास्त कर दिया इसीसे उनका नाम काकुत्स्थ पड़ा ।

पुरंदर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुर, नगर या घर को तोड़ने-

वाला । (२) इंद्र (जिन्होंने शत्रु का नगर तोड़ा था) ।

(३) (घर को फोड़नेवाला) चोर । (४) चविका ।

चव्य । चई । (५) मिर्च । (६) ज्येष्ठा नक्षत्र । (७) विष्णु ।

पुरंदरा—संज्ञा स्त्री० [सं०] गंगा ।

पुरंधी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पति, पुत्र कन्या आदि से भरी पूरी स्त्री । (२) स्त्री ।

पुरः—अव्य० [सं० पुरस्] (१) आगे । (२) पहले ।

पुरःसर—वि० [सं०] (१) अग्रगता । अगुआ । (२) संगी । साथी । (३) समन्वित । सहित ।

संज्ञा पुं० (१) अग्रगमन । (२) साथ ।

पुर—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० पुरी] (१) वह बड़ी बस्ती जहाँ कई ग्रामों या बस्तियों के लोगों को व्यवहार आदि के लिये आना पड़ता ही । नगर । शहर । कसबा । (२) आगार । घर ।

यौ०—अंतःपुर । नारीपुर ।

(३) गृहोपरि गृह । कोठा । अटारी । (४) लोक ।

भुवन । (५) नक्षत्र । पुंज । राशि । (६) देह । शरीर ।

(७) मोथा । (८) चर्म । चरसा । पुरवट । मोटा । (९)

पीली कटसरैया । (१०) गुग्गुलु नाम गंध द्रव्य । (११)

दुर्ग । किला । गढ़ । (१२) चोंगा ।

वि० पूर्ण । भरा हुआ ।

पुरइन—संज्ञा स्त्री० [सं० पुटकिनी, प्रा० पुडइनी = कमलिनी, पु० हिं० पुरइनि] (१) कमल का पत्ता । उ०—(क) पुरइन सवन ओट जल बेगि न पाइय मर्म । मायालज न देखिये जैसे निर्गुण ब्रह्म ।—तुलसी । (ख) देखो भाई रूप सरोवर-साज्यो । ब्रज वनिता बर बारि बूंद में श्री ब्रजराज विराज्यो । पुरइन कपिश निचोल विविध रंग विहसत सच्चु उपजावै । सूर श्याम आनंदकंद की सोभा कहत न आवै ।—सूर । (२) कमल । उ०—(क) सरवर चहुँ दिसि पुरइन फूली । देखा बारि रहा मन भूली ।—जायसी । (ख) ऊधो तुम हौ अति बड़ भागी । अपरस रहत सनेहतगा तैं नाहिन मन अनुरागी । पुरइत-पात रहत जल भीतर ता रस देह न दागी । ज्यों जल माँह तेल की गागरि बूँद न ताको लागी ।—सूर ।

पुरखा—संज्ञा पुं० [सं० पुरुष] [स्त्री० पुरखिन] (१) पूर्वज । पूर्व पुरुष । उत्पत्ति-परंपरा में पहले पड़नेवाले पुरुष । जैसे, बाप दादा परदादा इत्यादि । जैसे, ऐसी चीज उसके पुरखों ने भी न देखी होगी । उ०—चलत लीक पुरखान की करत तिनहिं के काज ।—लक्ष्मण ।

मुहा०—पुरखे तर जाना = पूर्व पुरुषों को (पुत्र आदि के कुल से) परलोक में उत्तम गति प्राप्त होना । बड़ा भारी पुण्य या फल होना । कृतकृत्य होना । जैसे, एक दिन वे तुम्हारे घर आ गए, वस पुरखे तर गए ।

(२) घर का बड़ा बूढ़ा ।

पुरगुर—संज्ञा पुं० [देश०] बंगाल के उत्तरपूर्व होनेवाला एक पेड़ जो धौली से मिलता जुलता होता है । इसकी लकड़ी खेती के सामान और खिलौने आदि बनाने के काम आती है ।

पुरचक—संज्ञा स्त्री० [हिं० पुचकार] (१) चुमकार । पुचकार । (२) बढ़ावा । उत्साह दान । जैसे, तुम्हीने तो पुरचक दे देकर लड़के को गाली बकना सिखाया है ।

क्रि० प्र०—देना ।

(३) प्रेरणा । उसकावा । उभारने का काम । जैसे, उसने पुरचक देकर उसे लड़ा दिया । (४) पृष्ठपोषण । वाहवाही । समर्थन । पचमंडन । हिमायत । तरफदारी । जैसे, पुरचक पाकर ही पुलिसवालों ने यह सब उपद्रव किया ।

क्रि० प्र०—देना ।—पाना ।—लेना ।

पुरजा—संज्ञा पुं० [फा०] (१) टुकड़ा । खंड । उ०—सुरा सोइ सराहिए लड़े धनी के खेत । पुरजा पुरजा हैं परै तज न छाँड़े खेत ।—कबीर ।

मुहा०—पुरजे पुरजे करना वा उड़ाना = खंड खंड करना । टुक

टुक करना । धज्जियाँ उड़ाना । पुरजे पुरजे होना = खंड खंड होना । टूटफूट कर टुकड़े टुकड़े होना ।

(२) कतरन । धज्जी । कटा टुकड़ा । कत्तल । (३) अवयव । अंग । अंश । भाग । जैसे, कल के पुरजे, घड़ी के पुरजे ।

मुहा०—चलता पुरजा = चालाक आदमी । तेज आदमी । उद्योगी ।

(४) चिड़ियों के महीन पर । रोई ।

पुरजित्—संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव । (२) एक राजा । (३)

कृष्ण का एक पुत्र जो जांबवती से उत्पन्न हुआ था ।

पुरट—संज्ञा पुं० [सं०] सुवर्ण । सोना ।

पुरण—संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र ।

पुरतः—अव्य० [सं०] आगे ।

पुरत्राण—संज्ञा पुं० [सं०] शहरपनाह । प्राकार । कोट । परकोटा ।

उ०—कनक रचित मणि खचित दिवाला । अष्ट द्वार पुरत्राण विशाला ।

पुरद्वार—संज्ञा पुं० [सं०] नगरद्वार । शहरपनाह का फाटक ।

पुरनियाँ—वि० [हिं० पुरान] बृद्ध । वयोवृद्ध । बुढ़ा ।

पुरनी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पूरना = भरना] (१) छुछा । अँगूठे में पहनने का गहना । (२) तुरही । सिंहा । (३) बंदूक का गज ।

पुरपाल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) नगर का रक्षक । कोतवाल । (२) जीव ।

पुरबलाँ, पुरबुला—वि० [सं० पूर्व + ला (प्रत्य०)] [स्त्री० पुरबली, पुरबुली] (१) पूर्व का । पहले का । (२) पूर्व-जन्म का । पूर्वजन्म संबंधी । जैसे, पुरबुले का पाप । उ०—रही न रानी केकयी अमर भई यह बात । कवन पुरबुले पाप ते बन पठयो जगतात ।

पुरवा—संज्ञा स्त्री० दे० “पुरवा” ।

पुरवियाँ—वि० [हिं० पुरव] [स्त्री० पुरविनी] पूर्वदेश में उत्पन्न वा रहनेवाला । पुरव का । जैसे, पुरविये लोग ।

संज्ञा पुं० पुरव का रहनेवाला । जैसे, पुरवियों की फौज ।

पुरबिहाँ—वि० दे० “पुरबिया” ।

पुरबी—वि० दे० “पुरबी” ।

पुरभिदू—संज्ञा पुं० [सं०] (असुरों के त्रिपुर का नाश करने-वाले) शिव ।

पुरमथन—संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

पुरला—संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा ।

पुरवइया, पूरवैया—संज्ञा स्त्री० दे० “पुरवाई” ।

पुरवट—संज्ञा पुं० [सं० पुर] चमड़े का बहुत बड़ा डोल जिसे कुएँ में डालकर बैलों की सहायता से खेत की सिंचाई आदि के लिए पानी खींचते हैं । चरसा । मोट ।

क्रि० प्र०—चलना ।—खींचना ।

मुहा०—पुरवट नाधना = पुरवट की रस्सी में बैल जोतना ।

पुरवट हाँकना = पुरवट के बैलों को चलाना ।

पुरवना—क्रि० सं० [हिं० पूरना] (१) पूरना । भरना । पूजाना । जैसे, घाव पुरवना । (२) पूरा करना । पूर्ण करना । उ०—(क) जौं बिधि पुरव मनोरथ काबी । करउँ तोहि चषपूतरि आबी ।—तुलसी । (ख) में से कहा दुरावति राधा । कहाँ मिली नंदनंदन को निज पुरयो मन की साधा ।—सूर ।

मुहा०—साथ पुरवना = साथ देना । साथी होना । उ०—पुरवहु साथ तुम्हार बड़ाई ।—जायसी ।

क्रि० अ० (१) पूरा होना । (२) यथेष्ट होना । (३) उपयोग के योग्य होना ।

मुहा०—बल पुरवना = पूरी शक्ति या सामर्थ्य होना । बलवीर्य का काम करना ।

पुरवा—संज्ञा पुं० [सं० पुर] छोटा गाँव । पुरा । खेड़ा । उ०—नदी नद सागर डगरि मिलि गये देव, डगर न सूकत नगर पुरवान को ।—देव । संज्ञा पुं० [सं० पूर्व + वात, हिं० पूर्व + वाव] (१) पूर्व की हवा । पूर्व दिशा से चलनेवाली वायु । (२) एक रोग जो पुरवा वायु चलने से उत्पन्न होता है । यह पशुओं को होता है । इसमें पशु का गला फूट जाता है और उसके पेट में पीड़ा होती है ।

संज्ञा पुं० [सं० पुटक] मिट्टी का कुल्हड़ । कुल्हिया । उ०—बूट के केदार सम लूटि है त्रिलोक काल पुरवा के फूट सम ब्रह्म अंड फूटिहै ।—हनुमान ।

पुरवाई—संज्ञा स्त्री० [सं० पूर्व + वायु, हिं० पूर्व + वाई] पूर्व की वायु । वह वायु जो पूर्व से चलती है ।

पुरवाना—क्रि० सं० [हिं० पुरवना का प्रे०] पूरा करना ।

पुरवैया—संज्ञा स्त्री० दे० “पुरवाई” ।

पुरशासन—संज्ञा पुं० [सं०] शिव । (द्वैतों के त्रिपुर का ध्वंस करनेवाले) ।

पुरश्चरण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी कार्य की सिद्धि के लिये पहले से ही उपाय सोचना और अनुष्ठान करना । (२) किसी मंत्रस्तोत्र आदि को किसी अभीष्ट कार्य की सिद्धि के लिये किसी नियत समय और परिमाण तक नियमपूर्वक जपना वा पाठ करना । प्रयोग ।

पुरश्छद—संज्ञा पुं० [सं०] कुश या डाम की तरह की एक घास ।

पुरषा—संज्ञा पुं० दे० “पुरखा” ।

पुरसा—संज्ञा पुं० [सं० पुरीष] खाद । पौंस ।

पुरसा—संज्ञा पुं० [सं० पुरुष] ऊँचाई या गहराई की एक माप जिसका विस्तार हाथ ऊपर उठाकर खड़े हुए मनुष्य के बराबर होता है । साढ़े चार या पाँच हाथ की एक माप । जैसे, चार पुरसा गहरा, छः पुरसा ऊँचा ।

पुरस्कार—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० पुरस्कृत] (१) आगे करने

की क्रिया । (२) आदर । पूजा । (३) प्रधानता । (४) स्वीकार । (५) पारितोषिक । उपहार । इनाम ।

क्रि० प्र०—देना ।—पाना ।

पुरस्कृत—वि० [सं०] (१) आगे किया हुआ । (२) आदृत । पूजित । (३) स्वीकृत । (४) जिसने इनाम पाया हो । जिसे पुरस्कार मिला हो ।

पुरस्तात्—अव्य० [सं०] (१) आगे । सामने । (२) पूर्व दिशा में । (३) पहले । पूर्वकाल में ।

पुरहत—संज्ञा पुं० [सं० पुर + अत] वह अन्न और द्रव्यादि जो विवाह आदि मंगल कार्यों में पुरोहित या प्रजा को किसी कृत्य के करने के प्रारंभ में दिया जाता है । आखत ।

पुरहन्—संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु । (२) शिव ।

पुरहा—संज्ञा पुं० [हिं० पुर] वह पुरुष जो पुर चलते समय कुँए पर पुर के पानी को गिराने के लिये नियत रहता है ।

पुरहूत—संज्ञा पुं० दे० “पुरहुत” ।

पुरातक—संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

पुरा—अव्य० [सं०] (१) पुराने समय में । पहले । पूर्व काल में । प्राचीन काल में । उ०—हरे चक्रवर्ती नृपति विश्वामित्र महान । कियो राज शासन पुरा जाहिर भयो जहान ।—रघुराज । (२) प्राचीन । अतीत । पुराना । जैसे, पुरावृत्त, पुराकल्प, पुराविद्, पुराकथा ।

संज्ञा स्त्री० (१) पूर्व दिशा । (२) एक सुगंध द्रव्य । मुरा । वैद्यक में यह कसैली, शीतल तथा कफ, श्वास, मूर्च्छा और विष को दूर करनेवाली मानी जाती है ।

संज्ञा पुं० [सं० पुर] गाँव । बस्ती ।

पुराकल्प—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पूर्वकल्प । पहले का कल्प । (२) प्राचीन काल । (३) एक प्रकार का अर्थवाद जिसमें प्राचीन काल का इतिहास कहकर किसी विधि के करने की ओर प्रवृत्त किया जाय । जैसे, ब्राह्मणों ने इससे हविः पवमान सामस्तोम की स्तुति की थी ।

पुराकृत—वि० [सं०] (१) पूर्व काल में किया हुआ । (२) पूर्वजन्म में किया हुआ ।

संज्ञा पुं० पूर्वजन्म में किया हुआ पाप या पुण्यकर्मा ।

पुराण—वि० [सं०] पुरातन । प्राचीन । जैसे, पुराण पुरुष ।

संज्ञा पुं० (१) प्राचीन आख्यान । पुरानी कथा । सृष्टि, मनुष्य, देवों, दानवों, राजाओं, महात्माओं आदि के ऐसे वृत्तांत जो पुरुषपरंपरा से चले आते हों । (२) हिंदुओं के धर्म-संबंधी आख्यान ग्रंथ जिनमें सृष्टि, लय, प्राचीन ऋषियों, मुनियों और राजाओं के वृत्तांत आदि रहते हैं । पुरानी कथाओं की प्रेमी ।

विशेष—पुराण अठारह हैं । विष्णुपुराण के अनुसार उनके नाम ये हैं—विष्णु, पद्म, ब्रह्मा, शिव, भागवत, नारद,

मार्कण्डेय, अग्नि, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, वाराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड, ब्रह्माण्ड और भविष्य। पुराणों में एक विचित्रता यह है कि प्रत्येक पुराण में अठारहों पुराणों के नाम और उनकी श्लोक संख्या है। नाम और श्लोक-संख्या प्रायः सब की मिलती है, कहीं कहीं भेद है। जैसे, कूर्मपुराण में अग्नि के स्थान में वायुपुराण, मार्कण्डेय पुराण में लिंगपुराण के स्थान में नृसिंहपुराण, देवी भागवत में शिवपुराण के स्थान में नारदपुराण और मत्स्य में वायुपुराण है। भागवत के नाम से आजकल दो पुराण मिलते हैं—एक श्रीमद्भागवत, दूसरा देवी-भागवत। कौन वास्तव में पुराण है इसपर झगड़ा रहा है। रामाश्रम स्वामी ने 'दुर्जनमुखचपेटिका' में सिद्ध किया है कि श्रीमद्भागवत ही पुराण है। इसपर काशी-नाथ भट्ट ने 'दुर्जनमुखमहाचपेटिका' तथा एक और पंडित ने 'दुर्जनमुखपद्मपादुका' देवीभागवत के पंच में लिखी थी। पुराण के पाँच लक्षण कहे गए हैं—सर्ग, प्रतिसर्ग (अर्थात् सृष्टि और फिर सृष्टि) वंश, मन्वंतर और वंशानुचरित।

पुराणों में विष्णु, वायु, मत्स्य और भागवत में ऐतिहासिक वृत्त, राजाओं की वंशावली आदि के रूप में, बहुत कुछ मिलते हैं। ये वंशावलियाँ यद्यपि बहुत संक्षिप्त हैं और इनमें परस्पर कहीं कहीं विरोध भी हैं पर हैं बड़े काम की। पुराणों की ओर ऐतिहासिकों ने इधर विशेष रूप से ध्यान दिया है और वे इन वंशावलियों की छानबीन में लगे हैं। पुराणों में सब से पुराना विष्णुपुराण ही प्रतीत होता है। उसमें सांप्रदायिक खींचतान और रागद्वेष नहीं है। पुराण के पाँचों लक्षण भी उसपर ठीक ठीक घटते हैं। उसमें सृष्टि की उत्पत्ति और लय, मन्वंतरो, भरतादि खंडों और सूर्यादि लोकों, वेदों की शाखाओं तथा वेदव्यास द्वारा उनके विभाग, सूर्य चंद्र वंश आदि का वर्णन है। कलि के राजाओं में मगध के सौर्य राजाओं तथा गुप्तवंश के राजाओं तक का उल्लेख है। श्रीकृष्ण की लीलाओं का भी वर्णन है पर विलकुल उस रूप में नहीं जिस रूप में भागवत में है। कुछ लोगों का कहना है कि वायुपुराण ही शिवपुराण है क्योंकि आजकल जो शिवपुराण नामक पुराण या उपपुराण है उसकी श्लोकसंख्या २४००० नहीं है, केवल ७००० ही है। वायुपुराण के चार पाद हैं जिनमें सृष्टि की उत्पत्ति, कल्पों और मन्वंतरो, वैदिक ऋषियों की गाथाओं, दक्ष-प्रजापति की कन्याओं से भिन्न भिन्न जीवोत्पत्ति, सूर्यवंशी और चंद्रवंशी राजाओं की वंशावली तथा कलि के राजाओं का प्रायः विष्णुपुराण के अनुसार वर्णन है। मत्स्यपुराण

में मन्वंतरो और राजवंशावलियों के अतिरिक्त वर्णाश्रम धर्म का बड़े विस्तार के साथ वर्णन है और मत्स्यावतार की पूरी कथा है। इसमें मय आदिक असुरों के संहार, मानु-लोक, पितृलोक, मूर्ति और मंदिर बनाने की विधि का वर्णन विशेष दंग का है।

श्रीमद्भागवत का प्रचार सब से अधिक है क्योंकि उसमें भक्ति के माहात्म्य और श्रीकृष्ण की लीलाओं का विस्तृत वर्णन है। नौ स्कंधों के भीतर तो जीवब्रह्म की एकता, भक्ति का महत्व, सृष्टि लीला, कपिलदेव का जन्म और अपनी माता के प्रति वैष्णव भावानुसार सांख्य शास्त्र का उपदेश, मन्वंतर और ऋषि वंशावली, अवतार जिसमें ऋषभदेव का भी प्रसंग है, ध्रुव, वेणु पृथु, प्रह्लाद इत्यादि की कथा, समुद्रमंथन आदि अनेक विषय हैं। पर सब से बड़ा दशम स्कंध है जिसमें कृष्ण की लीला का विस्तार से वर्णन है। इसी स्कंध के आधार पर शृंगार और भक्ति-रस से पूर्ण कृष्णचरित संबंधी संस्कृत और भाषा के अनेक ग्रंथ बने हैं। एकादश स्कंध में यादवों के नाश और बारहवें में कलियुग के राजाओं के राजत्व का वर्णन है। भागवत की लेखन-शैली और पुराणों से भिन्न है। इसकी भाषा पांडित्यपूर्ण और साहित्यसंबंधी चमत्कारों से भरी हुई है, इससे इसकी रचना कुछ पीछे की मानी जाती है।

अग्निपुराण एक विलक्षण पुराण है जिसमें राज-वंशावलियों तथा संक्षिप्त कथाओं के अतिरिक्त धर्मशास्त्र, राजनीति, राजधर्म, प्रजाधर्म, आयुर्वेद, व्याकरण, रस, अलंकार, शस्त्रविद्या आदि अनेक विषय हैं। इसमें तंत्र-दीक्षा का भी विस्तृत प्रकरण है। कलि के राजाओं की वंशावली विक्रम तक आई है, अवतार प्रसंग भी है।

इसी प्रकार और पुराणों में भी कथाएँ हैं। विष्णु पुराण के अतिरिक्त और पुराण जो आजकल मिलते हैं उनके विषय में संदेह होता है कि वे असल पुराणों के न मिलने पर पीछे से न बनाए गए हों। कई एक पुराण तो मत मतान्तरों और संप्रदायों के राग द्वेष से भरे हैं। कोई किसी देवता की प्रधानता स्थापित करता है, कोई किसी की। ब्रह्मवैवर्तपुराण का जो परिचय मत्स्य पुराण में दिया गया है उसके अनुसार उसमें रथंतर कल्प और वराह अवतार की कथा होनी चाहिए पर जो ब्रह्मवैवर्त आजकल मिलता है उसमें यह कथा नहीं है। कृष्ण के वृंदावन के रास से जिन भक्तों की तृप्ति नहीं हुई थी उनके लिये गोलोक में सदा होनेवाले रास का उसमें वर्णन है। आजकल का यह ब्रह्मवैवर्त मुसलमानों के माने के कई सौ वर्ष पीछे का है क्योंकि इसमें 'गुलाहा'

जाति की उत्पत्ति का भी उल्लेख है—“भजेच्छात् कुविन्द-कन्यायां जोला जातिर्भवह” (१०। १२१)। ब्रह्मपुराण में तीर्थों और उनके माहात्म्य का वर्णन बहुत अधिक है, अनंतवासुदेव और पुरुषोत्तम (जगन्नाथ) माहात्म्य तथा और बहुत से ऐसे तीर्थों के माहात्म्य लिखे गए हैं जो प्राचीन नहीं कहे जा सकते। ‘पुरुषोत्तम-प्रासाद’ से अवश्य जगन्नाथ जी के विशाल मंदिर की ओर ही इशारा है जिसे गांगेय वंश के राजा चोड़गंग (सन् १०७७ ई०) ने बनवाया था। मत्स्यपुराण में दिए हुए लक्षण आज कल के पद्मपुराण में भी पूरे नहीं मिलते हैं। वैष्णव सांप्रदायिकों के द्वेष की इसमें बहुत सी बातें हैं। जैसे, पार्षदिलक्षण, मायावादिनिंदा, तामसशास्त्र, पुराणवर्णन इत्यादि। वैशेषिक, न्याय, सांख्य और चार्वाक तामस शास्त्र कहे गए हैं और यह भी बताया गया है कि दैत्यों के विनाश के लिये बुद्ध रूपी विष्णु ने असत् बौद्ध शास्त्र कहा। इसी प्रकार मत्स्य, कूर्म, लिंग, शिव, स्कंद और अग्नि तामस पुराण कहे गए हैं। सारांश यह कि अधिकांश पुराणों का वर्तमान रूप हजार वर्ष के भीतर का है। सब के सब पुराण सांप्रदायिक हैं, इसमें भी कोई संदेह नहीं है। कई पुराण (जैसे, विष्णु) बहुत कुछ अपने प्राचीन रूप में मिलते हैं पर उनमें भी सांप्रदायिकों ने बहुत सी बातें बढ़ा दी हैं।

यद्यपि आजकल जो पुराण मिलते हैं उनमें से अधिकतर पीछे से बने हुए या प्रक्षिप्त विषयों से भरे हुए हैं पर पुराण बहुत प्राचीन काल से प्रचलित थे। बृहदारण्यक और शतपथब्राह्मण में लिखा है कि गीली लकड़ी से जैसे धूँआँ अलग अलग निकलता है वैसे ही महान् भूत के निश्वास से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वगिरस, इतिहास, पुराण विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, व्याख्यान और अनुव्याख्यान हुए। छांदोग्य उपनिषद् में भी लिखा है कि इतिहास पुराण वेदों में पाँचवाँ वेद है। अत्यंत प्राचीन काल में वेदों के साथ पुराण भी प्रचलित थे जो यज्ञ आदि के अवसरों पर कहे जाते थे। कई बातें जो पुराण के लक्षणों में हैं वेदों में भी हैं। जैसे, पहले असत् था और कुछ नहीं था यह सर्ग या सृष्टित्व है, देवासुर संग्राम, उर्वशी-पुरुष-संवाद इतिहास हैं। महाभारत के आदि पर्व में (१। २३२) भी अनेक राजाओं के नाम और कुछ विषय गिनाकर कहा गया है कि इनके वृत्तांत विद्वान् सत्कवियों द्वारा पुराण में कहे गए हैं। इससे कहा जा सकता है कि महाभारत के रचनाकाल में भी पुराण थे। मनुस्मृति में भी लिखा है कि पितृकार्यों में वेद, धर्मशास्त्र, इतिहास, पुराण आदि सुनाने चाहिए।

अब प्रश्न यह होता है कि पुराण हैं किसके बनाए। शिवपुराण के अंतर्गत रेवा माहात्म्य में लिखा है कि अठारहो पुराणों के वक्ता सत्यवती-सुत व्यास हैं। यही बात जनसाधारण में प्रचलित है। पर मत्स्यपुराण में स्पष्ट लिखा है कि पहले पुराण एक ही था उसीसे १८ पुराण हुए (५३। ४)। ब्रह्मांडपुराण में लिखा है कि वेदव्यास ने एक पुराणसंहिता का संकलन किया था। इसके आगे की बात का पता विष्णुपुराण से लगता है। उसमें लिखा है कि व्यास का एक लोमहर्षण नाम का शिष्य था जो सूत जाति का था। व्यास जी ने अपनी पुराणसंहिता उसीके हाथ में दी। लोमहर्षण के छे शिष्य—सुमति, अग्निवर्चा, मित्रयु, शांशपायन, अकृतव्रण और सावर्णी। इनमें से अकृतव्रण, सावर्णी और शांशपायन ने लोमहर्षण से पढ़ी हुई पुराणसंहिता के आधार पर और एक एक संहिता बनाई।

वेदव्यास ने जिस प्रकार संज्ञा का संग्रह कर उनका संहिताओं में विभाग किया उसी प्रकार पुराण के नाम से चले आते हुए वृत्तों का संग्रह कर पुराणसंहिता का संकलन किया। उसी एक संहिता को लेकर सूत के चेलों ने तीन और संहिताएँ बनाई। इन्हीं संहिताओं के आधार पर अठारह पुराण बने होंगे। मत्स्य, विष्णु, ब्रह्मांड आदि सब पुराणों में ब्रह्मपुराण पहला कहा गया है। पर जो ब्रह्मपुराण आजकल प्रचलित है वह कैसा है यह पहले कहा जा चुका है। जो कुछ हो यह तो ऊपर लिखे प्रमाण से सिद्ध है कि अठारह पुराण वेदव्यास के बनाए नहीं हैं। जो पुराण आजकल मिलते हैं उनमें विष्णुपुराण और ब्रह्मांडपुराण की रचना औरों से प्राचीन जान पड़ती है। विष्णुपुराण में भविष्य राजवंश के अंतर्गत गुप्तवंश के राजाओं तक का उल्लेख है इससे वह प्रकरण ईसा की छठीं शताब्दी के पहले का नहीं हो सकता। जावा के आगे जो बाली टापू है वहाँ के हिंदुओं के पास ब्रह्मांडपुराण मिला है। इन हिंदुओं के पूर्वज ईसा की पाँचवीं शताब्दी में भारतवर्ष से पूर्व के द्वीपों में जाकर बसे थे। बाली वाले ब्रह्मांडपुराण में भविष्य-राजवंश-प्रकरण नहीं है, उसमें जनमेजय के प्रपौत्र अधिसीमकृष्ण तक का नाम पाया जाता है। यह बात ध्यान देने की है। इससे प्रकट होता है कि पुराणों में जो भविष्य राजवंश है वह पीछे से जोड़ा हुआ है। यहाँ पर ब्रह्मांडपुराण की जो प्राचीन प्रतियाँ मिलती हैं देखना चाहिए कि उनमें भूत और वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग कहाँ तक है। भविष्य-राजवंश-वर्णन के पूर्व उनमें ये श्लोक मिलते हैं—

तस्य पुत्रः शतानीको बलवान् सत्यविक्रमः।

ततः सुतं शतानीकं विप्रास्तमभ्यपेचयत् ॥

पुत्रोऽश्वमेधदत्तोऽभूत् शतानीकस्य वीर्यवान् ।
पुत्रोऽश्वमेधदत्ताद्वै जातः परपुरंजयः ॥
अधिसीमकृष्णो धर्मात्मा साम्प्रतोयं महायशः ।
यस्मिन् प्रशासति महीं युष्माभिरिदमाहृतम् ॥
दुरापं दीर्घसत्रं वै त्रीणि वर्षाणि पुष्करम् ।
वर्षद्वयं कुरुक्षेत्रे दृषद्वत्यां द्विजोत्तमाः ॥

अर्थात्—उनके पुत्र बलवान् और सत्यविक्रमशतानीक । पीछे शतानीक के पुत्र को ब्राह्मणों ने अभिषिक्त किया । शतानीक के अश्वमेधदत्त नाम का एक वीर्यवान् पुत्र उत्पन्न हुआ । अश्वमेधदत्त के पुत्र परपुरंजय धर्मात्मा अधिसीमकृष्ण हैं । ये ही महायशः आजकल पृथ्वी का शासन करते हैं । इन्हींके समय में आप लोगों ने पुष्कर में तीन वर्ष का और दृषद्वती के किनारे कुरुक्षेत्र में दो वर्ष तक का यज्ञ किया है ।

उक्त ग्रंथ से प्रकट है कि आदि ब्रह्माण्डपुराण अधिसीमकृष्ण के समय में बना । इसी प्रकार विष्णुपुराण, मत्स्यपुराण आदि की परीक्षा करने से पता चलता है कि आदि विष्णुपुराण परीक्षित के समय में और आदि मत्स्यपुराण जनमेजय के प्रपौत्र अधिसीमकृष्ण के समय में संकलित हुआ ।

पुराण संहिताओं से अठारह पुराण बहुत प्राचीन काल में ही बन गए थे इसका पता लगता है । आपस्तंबधर्मसूत्र (२ । २४ । ५) में भविष्यपुराण का प्रमाण इस प्रकार उद्धृत है—

आभूत् संप्लवासे स्वर्गजितः । पुनः सर्गे बीजीर्था भवन्तीति भविष्यपुराणे ।

यह अवश्य है कि आजकल पुराण अपने आदिम रूप में नहीं मिलते हैं । बहुत से पुराण तो असल पुराणों के न मिलने पर फिर से नए रचे गए हैं, कुछ में बहुत सी बातें जोड़ दी गई हैं । प्रायः सब पुराण शैव, वैष्णव और सौर संप्रदायों में से किसी न किसीके पोषक हैं इसमें भी कोई संदेह नहीं । विष्णु, रुद्र, सूर्य आदि की उपासना वैदिक काल से ही चली आती थी, फिर धीरे धीरे कुछ लोग किसी एक देवता को प्रधानता देने लगे, कुछ लोग दूसरे को । इस प्रकार महाभारत के पीछे ही संप्रदायों का सूत्रपात हो चला । पुराण संहिताएँ उसी समय में बनीं । फिर आगे चलकर आदि पुराण बने जिनका बहुत कुछ ग्रंथ आजकल पाए जानेवाले कुछ पुराणों के भीतर है ।

पुराणों का उद्देश्य पुराने वृत्तों का संग्रह करना, कुछ प्राचीन और कुछ कल्पित कथाओं द्वारा उपदेश देना, देवमहिमा तथा तीर्थमहिमा के वर्णन द्वारा जनसाधारण में धर्मबुद्धि स्थिर रखना ही था । इसीसे व्यास ने सूत (भाट

या कथक्कड़) जाति के एक पुरुष को अपनी संकलित आदि पुराणसंहिता प्रचार करने के लिये दी । पुराणों में वैदिक काल से चले आते हुए सृष्टि आदि संबंधी विचारों, प्राचीन राजाओं और ऋषियों के परंपरागत वृत्तान्तों तथा कथा कहानियों आदि के संग्रह के साथ साथ कल्पित कथाओं की विचित्रता और रोचक वर्णनों द्वारा सांप्रदायिक या साधारण उपदेश भी मिलते हैं । पुराण उस प्रकार प्रमाणग्रंथ नहीं है जिस प्रकार श्रुति, स्मृति आदि हैं ।

हिंदुओं के अनुकरण पर जैन लोगों में भी बहुत से पुराण बने हैं । इनमें से २४ पुराण तो तीर्थंकरों के नाम पर हैं और भी बहुत से हैं जिनमें तीर्थंकरों के अलौकिक चरित्र, सब देवताओं से उनकी श्रेष्ठता, जैनधर्मसंबंधी तत्त्वों का विस्तार से वर्णन, फलस्तुति माहात्म्य आदि हैं । अलग पद्मपुराण और हरिवंश (अरिष्टनेमि पुराण) भी हैं । इन जैन पुराणों में राम कृष्ण आदि के चरित्र लेकर खूब विकृत किए गए हैं ।

बौद्ध ग्रंथों में कहीं पुराणों का उल्लेख नहीं है पर तिब्बत और नैपाल के बौद्ध ६ पुराण मानते हैं जिन्हें वे नवधर्म कहते हैं—१ प्रज्ञापारमिता (न्याय का ग्रंथ कहना चाहिए), २ गंडव्यूह, ३ समाधिराज, ४ लंकावतार (रावण का मलयगिरि पर जाना, और शाक्यसिंह के उपदेश से बोधिज्ञान लाभ करना वर्णित है), ५ तथागत गुह्यक, ६ सद्धर्मपुंडरीक, ७ लज्जितविस्तर (बुद्ध का चरित्र), ८ सुवर्णप्रभा (लक्ष्मी, सरस्वती, पृथ्वी आदि की कथा और उनका शाक्यसिंह का पूजन), ९ दशभुमीश्वर ।

(३) अठारह की संख्या । (४) शिव । (५) कार्वाण्य ।

पुराण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्रह्मा । (२) पुराण कहनेवाला ।

पुराणपुरुष-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

पुरातत्व-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन-कालसंबंधी विद्या । प्रत्नशास्त्र ।

पुरातन-वि० [सं०] प्राचीन । पुराना ।

संज्ञा पुं० विष्णु ।

पुरातल-संज्ञा पुं० [सं०] तलातल ।

पुरान-वि० दे० “पुराना” ।

संज्ञा पुं० दे० “पुराण” ।

पुराना-वि० [सं० पुराण] [स्त्री० पुरानी] (१) जो किसी समय के बहुत पहले से रहा हो । जो किसी विशेष समय में भी हो और उसके बहुत पूर्व तक लगातार रहा हो । जिसे उत्पन्न हुए, बने, या अस्तित्व में आए बहुत काल हो गया हो । जो बहुत दिनों से चला आता हो । बहुत दिनों का । जो नया न हो । प्राचीन । पुरातन । बहुपूर्वकालव्यापी । जैसे, पुराना पेड़, पुराना घर, पुराना जूता, पुराना चावल, पुराना ज्वर, पुराना वैर, पुरानी रीति । (२) जो बहुत

दिनों का होने के कारण अच्छी दशा में न हो। जीर्ण।
जैसे, तुम्हारी टोपी अब बहुत पुरानी हो गई बदल दो।
३०—छुवतहि दूट पिनाक पुराना।—तुलसी।

क्रि० प्र०—पड़ना।—होना।

यौ०—फटा पुराना। पुराना धुराना।

(३) जिसने बहुत जमाना देखा हो। जिसका अनुभव बहुत दिनों का हो। परिपक्व। जिसका अनुभव पक्का हो गया हो। जिसमें कच्चाई न हो। जैसे, (क) रहते रहते जब पुराने हो जाओगे तब सब काम सहज हो जायगा। (ख) पुराना काढ़ाई, पुराना चोर।

मुहा०—पुराना खुराट = (१) बूढ़ा। (२) बहुत दिनों का अनुभवी। किसी बात में पक्का। पुरानी खोपड़ी = दे० “पुराना खुराट”। पुराना घाव = किसी बात में पक्का। बहुत दिनों तक अनुभव करते करते जो गहरा चालाक हो गया हो। गहरा काढ़ाई।

(४) जो बहुत पहले रहा हो, पर अब न हो। बहुत पहले का। अगले समय का। प्राचीन। अतीत। जैसे, (क) पुराना समय, पुराना जमाना। (ख) पुराने राजाओं की बात ही और थी। (ग) पुराने लोग जो कह गए हैं ठीक कह गए हैं। (घ) पुरानी बात उठाने से अब क्या लाभ? (५) काल का। समय का। जैसे, यह चावल कितना पुराना है? (६) जिसका चलन अब न हो। जैसे, पुराना पहनावा।

क्रि० सं० [हिं० पुराना का प्रे०] (१) पूरा कराना। पुजवाना। भराना। (२) पालन कराना। अनुकूल बात कराना। जैसे, शर्त पुराना। ३०—मारि मारि सब सत्रु तुर्त निज सर्ष पुरावत।—गोपाल। (३) पूरा करना। भरना। पुजाना। किसी घाव, गड्ढे या खाली जगह को किसी वस्तु से छेक देना। जैसे, घाव पुराना। (४) पूरा करना। पालन करना। अनुकूल बात करना। अनुसरण करना। ३०—सूरदास प्रभु ब्रज गोपिन के मन अभिलाख पुराए।—सूर। (५) इस प्रकार बाँटना कि सब को मिल जाय। अँटाना। पूरा डालना।

संयो० क्रि०—देना।—लेना।

पुरारि—संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

पुराला*—संज्ञा पुं० दे० “पयाल”।

पुरावती—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी, (महाभारत)।

पुरावसु—संज्ञा पुं० [सं०] भीष्म।

पुरावृत्त—संज्ञा पुं० [सं०] पुराना वृत्तान्त। पुराना हाल। इतिहास।

पुरासाह—संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र।

पुरासिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] सहदेवी। सहदेइआ नाम की बूटी।

पुरि—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पुरी। (२) शरीर। (३) नदी। संज्ञा पुं० (१) राजा। (२) दशनामी संन्यासियों में एक

पुरिखा—संज्ञा पुं० दे० “पुरखा”।

पुरिया—संज्ञा स्त्री० [हिं० पुरना] वह नरी जिस पर जुलाहे बाने को बुनने के पहले फैलाते हैं।

मुहा०—पुरिया करना = ताने को पुरिया पर फैलाना।

†संज्ञा स्त्री० दे० “पुडिया”।

पुरी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नगरी। शहर। (२) जगन्नाथ-पुरी। पुरुषोत्तम धाम।

पुरीमोह—संज्ञा पुं० [सं०] धतूरा।

पुरीष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्टा। मल। गू। (२) जल

पुरीषम—संज्ञा पुं० [सं०] साष। उरद।

पुरु—संज्ञा पुं० [सं०] (१) देवलोक। (२) दैत्य।

(३) पराग। (४) एक पर्वत। (५) शरीर

(६) एक देश (बृहत्संहिता)। (७) एक प्राचीन

राजा जो नहुष के पुत्र ययाति के पुत्र थे। पुराणों में ययाति चंद्रवंश के मूल पुरुषों में थे। ययाति की दो रानियाँ थीं। एक शुक्राचार्य की कन्या देवयानी, दूसरी शर्मिष्ठा। देवयानी के गर्भ से यदु और तुवंसु तथा शर्मिष्ठा के गर्भ से द्रुह्य, अनु और पुरु हुए। इन नामों का उल्लेख ऋग्वेद में है। पुरु के बड़े भारी विजयी और पराक्रमी होने की चर्चा भी ऋग्वेद में है। एक स्थान पर लिखा है—“हे वैश्वानर! जब तुम पुरु के समीप पुरियों का विश्वंस करके प्रज्वलित हुए तब तुम्हारे भय से असिक्नी (असिक्नीरसितवर्णाः—सायन। अर्थात् असिक्नी या चेनाब के किनारे के काले अनार्य दस्यु) भोजन छोड़ छोड़कर आए”। एक स्थान पर और भी है—“हे इंद्र! तुम युद्ध में भूमि लाभ के लिए पुरुकुत्स के पुत्र व्रसदस्यु और पुरु की रक्षा करो।” इसका समर्थन एक और मंत्र इस प्रकार करता है—“हे इंद्र! तुमने पुरु और दिवोदास राजा के लिए नब्बे पुरों का नाश किया है।”

महाभारत और पुराणों में पुरु के संबंध में यह कथा मिलती है। शुक्राचार्य के शाप से जब ययाति जराग्रस्त हुए तब उन्होंने सब पुत्रों को बुलाकर अपना बुढ़ापा देना चाहा। पर पुरु को छोड़ और कोई बुढ़ापा लेकर अपनी जवानी देने पर सम्मत न हुआ। पुरु से यौवन प्राप्त कर ययाति ने बहुत दिनों तक सुख भोग किया, अंत में अपने पुत्र पुरु को राज्य देवेवन में चले गए। पुरु के वंश में ही दुष्यंत के पुत्र भरत हुए। भरत से कई पीढ़ियों पीछे कुरु हुए जिनके नाम से कौरव वंश कहलाया। (८) पंजाब का एक राजा जो ईसा से ३२७ वर्ष पहले सिकंदर से लड़ा था।

पुरुकुत्स—संज्ञा पुं० [सं०] एक राजा जो सांधाता का पुत्र और मुचुकुंद का भाई था और नर्मदा नदी के आस पास के प्रदेश पर राज्य करता था। नागों की भगिनी नर्मदा के साथ इसने विवाह किया था। नागों और नर्मदा के कहने से पुरुकुत्स ने रसातल में जाकर मौनेय गंधर्वों का नाश किया था। (हरिवंश पुराण)

ऋग्वेद में भी पुरुकुत्स का नाम आया है। उसमें लिखा है कि दस्युनगर का ध्वंस करने में इंद्र ने राजा पुरुकुत्स की सहायता की थी। (१।६३।७; १।११२।१७)

पुरुकुत्सव—संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र के एक शत्रु का नाम (गरुड-पुराण)

पुरुख*—संज्ञा पुं० दे० “पुरुष”।

पुरुखा—संज्ञा पुं० दे० “पुरुखा”।

पुरुजित्—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुंतिभोज का पुत्र। यह अर्जुन का मामा था और महाभारत के युद्ध में आया था। (२) विष्णु। (३) भागवत के अनुसार शशविंदु वंशीय हचक के पुत्र का नाम।

पुरुदंशक—संज्ञा पुं० [सं०] हंस।

पुरुदंशा—संज्ञा पुं० [सं० पुरुदंशस्] इंद्र।

पुरुदस्म—संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

पुरुव—संज्ञा पुं० दे० “पूर्व दिशा”।

पुरुभोजा—संज्ञा पुं० [सं० पुरुभोजस्] मेष। मेढ़ा।

पुरुमित्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्राचीन राजा जिसका नाम ऋग्वेद में आया है। (२) धृतराष्ट्र का एक पुत्र।

पुरुष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मनुष्य। आदमी। (२) नर। (३) सांख्य के अनुसार प्रकृति से भिन्न एक अपरिणामी, अकर्ता और असंग चेतन पदार्थ। आत्मा। इसीके साक्षिभ्य से प्रकृति संसार की सृष्टि करती है। दे० “सांख्य”। (४) विष्णु। (५) सूर्य। (६) जीव। (७) शिव। (८) पुत्राग का वृत्त। (९) पारा। (१०) गुग्गुलु। (११) घोड़े की एक स्थिति जिसमें वह अपने दोनों अगले पैरों को उठाकर पिछले पैरों के बल खड़ा होता है। जमना। सीखपांव। (१२) व्याकरण में सर्वनाम और तदनुसारिणी क्रिया के रूपों का वह भेद जिससे यह निश्चय होता है कि सर्वनाम वा क्रियापद वाचक (कहनेवाले) के लिये प्रयुक्त हुआ है अथवा संबोध्य (जिससे कहा जाय) के लिये अथवा अन्य के लिये। जैसे, ‘मैं’ उत्तम पुरुष हुआ, ‘वह’ प्रथम पुरुष और ‘तुम’ मध्यम पुरुष। (१३) मनुष्य का शरीर वा आत्मा। (१४) पूर्वज। उ०—(क) सो सठ कोटिक पुरुष समेता। बसहिं कलप सत नरक निकेता।—तुलसी। (ख) जा कुज माहिं भक्ति मम होई। सस पुरुष लै उधरै सोई।—सूर। (१५) पति। स्वामी।

पुरुषक—संज्ञा पुं० [सं०] घोड़े का जमना। सीखपांव। अलफ।

पुरुषकार—संज्ञा पुं० [सं०] पुरुषार्थ। उद्योग। पौरुष।

पुरुषकेशरी—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुरुषों में श्रेष्ठ पुरुष। (२) नरसिंह भगवान।

पुरुषगति—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का साम।

पुरुषग्रह—संज्ञा पुं० [सं०] ज्योतिष के अनुसार मंगल, सूर्य और बृहस्पति।

पुरुषत्व—संज्ञा पुं० [सं०] पुरुष होने का भाव। पुंस्त्व।

पुरुषदंतिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] मेढ़ा नाम की ओषधि।

पुरुषनक्षत्र—संज्ञा पुं० [सं०] ज्योतिष शास्त्रानुसार हस्त, मूल, श्रवण, पुनर्वसु, मृगशिरा और पुष्य नक्षत्र।

पुरुषपुंडरीक—संज्ञा पुं० [सं०] जैनियों के मतानुसार नव वासुदेवों में सप्तम वासुदेव।

पुरुषपुर—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन नगर जो गांधार की राजधानी था। आजकल का पेशावर।

पुरुषमेध—संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक यज्ञ जिसमें नरबलि की जाती थी। इस यज्ञ के करने का अधिकार केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय को था। यह यज्ञ चैत्र मास शुक्ल दशमी से प्रारंभ होता था और चाबीस दिनों में होता था। इस बीच में २३ दीक्षा १२ उपसत् और ५ सूया होती थीं इस प्रकार यह ४० दिनों में समाप्त होता था। यज्ञ के समाप्त हो जाने पर यज्ञकर्ता वानप्रस्थाश्रम ग्रहण करता था। इसका विधान शुक्ल यजुर्वेद के तेईसवें अध्याय तथा शतपथ ब्राह्मण में है।

पुरुषराशि—संज्ञा स्त्री० [सं०] ज्योतिष शास्त्रानुसार मेष, मिथुन, सिंह, तुला, धनु और कुंभ राशि।

पुरुषवार—संज्ञा पुं० [सं०] ज्योतिष शास्त्रानुसार रवि, मंगल, बृहस्पति, और शनि वार।

पुरुषव्रत—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम।

पुरुषसूक्त—संज्ञा पुं० [सं०] ऋग्वेद के एक सूक्त का नाम जो “सहस्रशीर्षा” से प्रारंभ होता है। यह सूक्त बहुत प्रसिद्ध है और इसका पाठ अनेक अवसरों पर किया जाता है।

पुरुषाद्—संज्ञा पुं० [सं०] (१) (मनुष्य खानेवाला) राक्षस। (२) एक देश का नाम जो आर्द्रा पुनर्वसु और पुष्य के अधिकार में है (बृहत्संहिता)।

पुरुषादक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) नरभक्षी राक्षस। (२) कल्माष-पाद का नाम।

पुरुषाय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) जिनों में प्रथम, आदिनाथ। (जैन)। (२) विष्णु। (३) राक्षस।

पुरुषानुक्रम—संज्ञा पुं० [सं०] पुरुषों की चली आती हुई परंपरा।

पुरुषायण—संज्ञा पुं० [सं०] प्राणादि षोडश कला। (प्रश्नोपनिषद्)।

पुरुषायुष—संज्ञा पुं० [सं०] सौ वर्ष का काल (जो मनुष्य की पूर्णायु का काल माना गया है) ।

पुरुषारथ*—संज्ञा पुं० दे० “पुरुषार्थ” ।

पुरुषार्थ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुरुष का अर्थ या प्रयोजन जिसके लिये उसे प्रयत्न करना चाहिए । पुरुष के उद्योग का विषय । पुरुष का लक्ष्य ।

विशेष—सांख्य के मत से त्रिविध दुःख की अत्यंत निवृत्ति (मोक्ष) ही परम पुरुषार्थ है । प्रकृति पुरुषार्थ के लिये अर्थात् पुरुष को दुःखों से निवृत्त करने के लिये निरंतर यत्न करती है, पर पुरुष प्रकृति के धर्म को अपना धर्म समझ अपने स्वरूप को भूल जाता है । जब तक पुरुष को स्वरूप का ज्ञान नहीं हो जाता तब तक प्रकृति साथ नहीं छोड़ती ।

पुराणों के अनुसार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ हैं । चार्वाक मतानुसार कामिनी-संग-जनित सुख ही पुरुषार्थ है ।

(२) पुरुषकार । पौरुष । उद्यम । पराक्रम । (३) पुंस्त्व । शक्ति । सामर्थ्य । बल ।

पुरुषार्थी—वि० [सं० पुरुषार्थिन्] (१) पुरुषार्थ करनेवाला ।

(२) उद्योगी । (३) परिश्रमी । (४) बली । सामर्थ्यवान् ।

पुरुषाशी—संज्ञा पुं० [सं० पुरुषाशिन्] [स्त्री० पुरुषाशिनी] (मनुष्य खानेवाला) राक्षस ।

पुरुषोत्तम—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुरुषश्रेष्ठ । श्रेष्ठ पुरुष ।

(२) विष्णु । (३) जगन्नाथ जिनका मंदिर उड़ीसा में है ।

(४) धर्मशास्त्रानुसार वह निष्पाप पुरुष जो शत्रु मित्र आदि से सर्वदा उदासीन रहे । (५) जैनियों के एक वासु-देव का नाम । (६) कृष्णचंद्र । (७) ईश्वर । नारायण ।

(८) मलमास का महीना । अधिक मास ।

पुरुषोत्तम क्षेत्र—संज्ञा पुं० [सं०] जगन्नाथपुरी ।

पुरुषोत्तम मास—संज्ञा पुं० [सं०] मलमास । अधिक मास ।

पुरुहूत—संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र ।

पुरुहूति—संज्ञा स्त्री० [सं०] दाक्षायणी ।

संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

पुरुषा—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्राचीन राजा जिसका नाम और कुछ वृत्तांत ऋग्वेद में है । ऋग्वेद में पुरुषा को इला का पुत्र कहा है । पुरुषा और उर्वशी का संवाद भी मिलता है । पर एक मंत्र में पुरुषा सूर्य और उषा के साथ स्थित भी कहा गया है जिससे कुछ लोग सारी कथा को एक रूपक भी कह दिया करते हैं ।

हरिवंश तथा पुराणों के अनुसार बृहस्पति की स्त्री तारा और चंद्रमा के संयोग से बुध उत्पन्न हुए जो चंद्र-वंश के आदि पुरुष थे । बुध का इला के साथ विवाह

हुआ । इसी इला के गर्भ से पुरुषा उत्पन्न हुए जो बड़े रूपवान्, बुद्धिमान् और पराक्रमी थे । उर्वशी शापवश भूलोक में आ पड़ी थी । पुरुषा ने उसके रूप पर मोहित हो उसके साथ विवाह के लिए कहा । उर्वशी ने कहा—“मैं अप्सरा हूँ । जब तक आप मेरी तीन बातों का पालन करेंगे तभी तक मैं आपके पास रहूँगी—मैं आपको कभी नंगा न देखूँ, अकामा रहूँ तो आप संयोग न करें और मेरे पलंग के पास दो मेढ़े बँधे रहें । राजा ने इन बातों को मानकर विवाह किया और वे बहुत दिनों तक सुख-पूर्वक रहे । एक दिन गंधर्व उर्वशी के शापमोचन के लिये दोनों मेढ़े छोड़ाकर ले चले । राजा नंगे उनकी ओर दौड़े । उर्वशी का शाप छूट गया और वह स्वर्ग को चली गई । पुरुषा बहुत दिनों तक विलाप करते घूमते रहे । एक बार कुरुक्षेत्र के अंतर्गत प्लक्ष तीर्थ में हेमवती पुष्करिणी के किनारे उन्हें उर्वशी फिर दिखाई पड़ी । राजा देखकर बहुत विखाप करने लगे । उर्वशी ने कहा—“मुझे आपसे गर्भ है, मैं शीघ्र आपके पुत्रों को लेकर आपके पास आऊँगी और एक रात रहूँगी ।” स्वर्ग में उर्वशी के गर्भ से आयु, अमावसु, विश्वायु, श्रुतायु, इन्द्रायु, वनायु और शतायु उत्पन्न हुए जिन्हें लेकर वह राजा के पास आई और एक रात रही । गंधर्वों ने पुरुषा को एक अग्निपूर्णा स्थाली दी । उस अग्नि से राजा ने बहुत से यज्ञ किए । पुरुषा की राजधानी प्रयाग में गंगा के किनारे थी । उसका नाम प्रतिष्ठानपुर था । (२) विश्वदेव । (३) पार्वण श्राद्ध में एक देवता ।

पुरेया—संज्ञा पुं० [हिं० पूरा + हया] हल की मूठ । परिहया ।

पुरेमा—संज्ञा स्त्री० दे० “कुरेमा” ।

पुरैन, पुरैनि—संज्ञा स्त्री० दे० “पुरइन” ।

पुरोगामी—वि० [सं० पुरोगामिन्] [स्त्री० पुरोगामिनी] अग्रगामी ।

पुरोचन—संज्ञा पुं० [सं०] दुर्योधन के एक मित्र का नाम । इसे दुर्योधन ने पांडवों को लाक्षागृह में जलाने के लिये नियुक्त किया था । भीमसेन लाक्षागृह से निकल पुरोचन के घर आग लगाकर माता और भाइयों समेत चले गए थे । वह अपने घर में जलकर मर गया ।

पुरोजव—संज्ञा पुं० [सं०] पुष्कर द्वीप के सात खंडों में से एक खंड ।

वि० (१) जिसके अग्रभाग में वेग हो । (२) आगे बढ़नेवाला ।

पुरोडाश—संज्ञा पुं० [सं०] (१) यज आदि के आटे की बनी हुई टिकिया जो कपाल में पकाई जाती थी । यह आकार में लंबाई लिए गोठ और बीच में कुछ मोटी होती थी । यज्ञों में इसमें से टुकड़ा काटकर देवताओं के लिए मंत्र पढ़कर आहुति दी जाती थी । यह यज्ञ का

अंग है। (२) हवि। (३) वह हवि वा पुरोडाश जो यज्ञ से बच रहे। (४) वह वस्तु जो यज्ञ में होम की जाय। यज्ञभाग। (५) सोमरस। (६) आटे की चोंसी। (७) वे मंत्र जिनका पाठ पुरोडाश बनाते समय किया जाता है।

पुरोद्भव—संज्ञा स्त्री० [सं०] महामेदा।

पुरोध—संज्ञा पुं० [सं०] पुरोहित।

पुरोध्या—संज्ञा पुं० [सं० पुरोधस्] पुरोहित।

पुरोधानीय—संज्ञा पुं० [सं०] पुरोहित।

पुरोधिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रियतमा भार्या। प्यारी स्त्री।

पुरोनुवाक्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) यज्ञों की तीन प्रकार की आहुतियों में एक। (२) वह ऋचा जिसे पढ़कर पुरोनुवाक्या नाम की आहुति दी जाती है।

पुरोभागी—वि० [सं० पुरोभागिन्] [स्त्री० पुरोभागिनी] (१) अग्र-भागवाला। (२) दोषदर्शी। गुणों को छोड़ केवल दोषों की ओर ध्यान देनेवाला। छिद्रान्वेषी।

पुरोरवस—संज्ञा पुं० [सं०] दे० “पुरुरवा”।

पुरोहित—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० पुरोहितानी] वह प्रधान याजक जो राजा या और किसी यजमान के यहाँ अगुआ बनकर यज्ञादि श्रौतकर्म, गृहकर्म और संस्कार तथा शांति आदि अनुष्ठान करे कराए। कर्मकांड करानेवाला। कृत्य करानेवाला ब्राह्मण।

विशेष—वैदिक काल में पुरोहित का बड़ा अधिकार था और वह मंत्रियों में गिना जाता था। पहले पुरोहित यज्ञादि के लिये नियुक्त किए जाते थे। आजकल वे कर्मकांड कराने के अतिरिक्त, यजमान की ओर से देवपूजन आदि भी करते हैं, यद्यपि स्मृतियों में किसी की ओर से देवपूजन करनेवाले ब्राह्मण का स्थान बहुत नीचा कहा गया है। पुरोहित का पद कुछ परंपरागत चलता है। अतः विशेष कुलों के पुरोहित भी नियत रहते हैं। उस कुल में जो होगा वह अपना भाग लेगा, चाहे कृत्य कोई दूसरा ब्राह्मण ही क्यों न कराए। उच्च ब्राह्मणों में पुरोहित कुल अलग होते हैं जो यजमानों के यहाँ दान आदि लिया करते हैं।

पुरोहिताई—संज्ञा स्त्री० [सं० पुरोहित + आई (प्रत्य०)] पुरोहित का काम।

पुरोहितानी—संज्ञा स्त्री० [सं० पुरोहित] पुरोहित की स्त्री।

पुर्जल—संज्ञा पुं० [हिं० पूरना] एक यंत्र जिसपर कच्चाबत्तू लपेटा जाता है।

पुर्जा—संज्ञा पुं० दे० “पुरजा”।

पुर्तगाल—संज्ञा पुं० [अंग०] योरप के दक्षिण पश्चिम कोने पर पड़नेवाला एक छोटा प्रदेश जो स्पेन से लगा हुआ है।

पुर्तगाली—वि० [हिं० पुर्तगाल] (१) पुर्तगाल संबंधी। (२) पुर्तगाल का रहनेवाला।

विशेष—योरप की नई जातियों में हिंदुस्तान में सब से पहले पुर्तगाली लोग ही आए। पुर्तगाली व्यापारियों के द्वारा अकबर के समय से ही युरोपीय शब्द यहाँ की भाषा में मिलने लगे। जैसे, गिरजा, पादरी, आलू, तंबाकू आदि का प्रचार तभी से होने लगा।

पुर्तगीज—वि० [अंग०] पुर्तगाली। पुर्तगाल का रहनेवाला।

पुर्वला—वि० दे० “पुरबला”।

पुरसा—संज्ञा पुं० दे० “पुरसा”।

पुल—संज्ञा पुं० (फा०) किसी नदी, जलाशय, गड्ढे या खाई के आर पार जाने का रास्ता जो नाव पाटकर या खंभों पर पटरियाँ आदि बिछाकर बनाया जाय। सेतु।

मुहा०—पुल बाँधना = पुल तैयार होना। पुल बाँधना = पुल तैयार करना। (किसी बात) का पुल बाँधना = ढेर लगना। भंडी बाँधना। बहुत अधिकता होना। लगातार बहुत सा होना। (किसी बात का) पुल बाँधना = ढेर लगाना। भंडी बाँधना। बहुत अधिकता कर देना। अतिशय करना। जैसे, बातों का पुल बाँधना, तारीफ का पुल बाँधना। पुल टूटना = (१) पुल गिर पड़ना। (२) बहुतायत होना। अधिकता होना। अटाला या जमघट लगना। जैसे, देखने के लिये आदमियों का पुल टूट पड़ा। संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुलक। रोमांच। (२) शिव का एक अनुचर।

वि० विपुल। बहुत सा।

पुलक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) रोमांच। प्रेम, हर्ष आदि के उद्देग से रोमकूपों (छिद्रों) का प्रफुल्ल होना। त्वक्कंप। (२) एक तुच्छ धान्य। एक प्रकार का मोटा अन्न। (३) एक प्रकार का रत्न। एक नग या बहुमूल्य पत्थर। याकृत। चुनरी। महताब।

विशेष—यह भारत में कई स्थानों पर होता है पर राजपूताने का सबसे अच्छा होता है। दक्षिण में यह पत्थर विजया-पटम, गोदावरी, त्रिचिनापली और तिनावली जिलों में निकलता है। यह अनेक रंगों का होता है—सफेद, हरा, पीला, लाल, काला, चितकबरा। जितने भेद इस पत्थर के होते हैं उतने और किसी पत्थर के नहीं होते। यह देखने में कुछ दानेदार होता है। इसके द्वारा मानिक और नीलम कट सकते हैं।

(४) शरीर में पड़नेवाला एक कीड़ा। (५) रत्नों का एक दोष। (६) हाथी का रातिब। (७) हरताल। (८) एक प्रकार का मद्यपात्र। (९) एक प्रकार की राई। (१०) एक गंधर्व का नाम। (११) एक प्रकार का गेरू। गिरि-मारी। (१२) एक प्रकार का कंद।

पुलकना—क्रि० अ० [सं० पुलक + ना (प्रत्य०)] पुलकित होना। प्रेम, हर्ष आदि से प्रफुल्ल होना। गद्गद होना।

पुलकाई—संज्ञा स्त्री० [हिं० पुलकना] पुलकित होने का भाव।
गद्गद् होना।

पुलकायल—संज्ञा पुं० [सं०] कुबेर का एक नाम।

पुलकालि—संज्ञा स्त्री० [सं०] पलकावलि। हर्ष से प्रफुल्ल
रोम। उ०—बीज राम गुनगन नयन जलश्रृङ्खुर पुलकालि।
सुकृती सुतन सुषेत वर थिलसत तुलसी साखि।—तुलसी।

पुलकावलि—संज्ञा स्त्री० [सं०] हर्ष से प्रफुल्ल रोम।

पुलकित—वि० [सं०] रोमांचित। प्रेम या हर्ष के वेग से जिसके
रोएँ उभर आए हों। गद्गद्।

पुलकी—वि० [सं० पुलकिन्] रोमांचयुक्त। हर्ष या प्रेम से गद्गद्
होनेवाला।

संज्ञा पुं० (१) धारा कदंब। (२) कदंब।

पुलट—संज्ञा स्त्री० दे० “पलट”।

पुलटिस—संज्ञा स्त्री० [अ० पेल्टिस] फोड़े, घाव आदि को पकाने
या बहाने के लिये उसपर चढ़ाया हुआ अलसी, रेंदी आदि
का मोटा लेप।

क्रि० प्र०—चढ़ाना।—बाँधना।

पुलपुल—वि० दे० “पुलपुल”।

पुलपुला—वि० [अनु०] जिसके भीतर का भाग ठोस न हो।
जो भीतर इतना ढीला और मुलायम हो कि दबाने से
धँस जाय। जो छूने में कड़ा न हो (विशेषतः फलों के लिये)।
जैसे, ये आम पककर पुलपुले हो गए हैं।

पुलपुलाना—क्रि० सं० [हिं० पुलपुलाना] (१) किसी मुलायम
चीज को दबाना। जैसे, आम पुलपुलाना। (२) मुँह में
लेकर दबाना। चूसना। बिना चबाए खाना। जैसे, आम
को मुँह में लेकर पुलपुलाना।

पुलपुलाहट—संज्ञा स्त्री० [हिं० पुलपुला + हट (प्रत्य०)] पुलपुला
होने का भाव। मुलायमियत।

पुलस्त—संज्ञा पुं० दे० “पुलस्त्य”।

पुलस्ति—संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि। दे० “पुलस्त्य”।

पुलस्त्य—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक ऋषि जिनकी गिनती
सप्तर्षियों और प्रजापतियों में है।

विशेष—ये ब्रह्मा के मानस पुत्रों में थे। ये विश्रवा के पिता
और कुबेर और रावण के पितामह थे। विष्णुपुराण के
अनुसार ब्रह्मा के कहे हुए आदि पुराण का मनुष्यों के बीच
इन्होंने प्रचार किया था।

(२) शिव का एक नाम।

पुलह—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक ऋषि जो ब्रह्मा के मानस पुत्रों
और प्रजापतियों में थे। ये सप्तर्षियों में हैं। (२) एक गंधर्व।

(३) शिव का एक नाम।

पुलाक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक कदंब। अँकरा। (२) उबाला हुआ
चावल। भात। (३) भात का माड़। पीच (४) मांसोदन।

पुलाव। (२) अल्पता। संक्षेप। (६) क्षिप्रता। जल्दी।

पुलाकी—संज्ञा पुं० [सं० पुलाकिन्] वृद्ध।

पुलाव—संज्ञा पुं० [सं० पुलाक। मि० फा० पलाव] एक व्यंजन या
खाना जो मांस और चावल को एक साथ पकाने से बनता
है। मांसोदन।

पुलिंद—संज्ञा पुं० [सं०] (१) भारतवर्ष की एक प्राचीन
असभ्य जाति।

विशेष—ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि विश्वामित्र के जिन
पुत्रों ने शुनःशेफ को उषेष्ठ नहीं माना था वे ऋषि के शाप
से पतित हो गए। उन्हींसे पुलिंद शवर् आदि वर्वर
जातियों की उत्पत्ति हुई। रामायण, महाभारत, पुराण,
काव्य सब में इस जाति का उल्लेख है। महाभारत सभा
पर्व में सहदेव के दिग्विजय के संबंध में लिखा है कि
उन्होंने अर्जुन राजाओं को जीतकर वाताधिप को वश में
किया और उसके पीछे पुलिंदों को जीतकर वे दक्षिण की
ओर बढ़े। कुछ लोगों के अनुमान के अनुसार यदि अर्जुन
को आठ पहाड़ और बात को वातापिपुरी (बादामी)
मानें तो गुजरात और राजपुताने के बीच पुलिंद जाति का
स्थान ठहरता है। महाभारत (भीष्मपर्व) में एक स्थान
पर “सिंधुपुलिंदकाः” भी है इससे उनका स्थान सिंधुदेश के
आसपास भी सूचित होता है। वामनपुराण में पुलिंदों
की उत्पत्ति की एक कथा है कि अथू हत्या के प्रायश्चित्त
के लिये इंद्र ने कालंजर के पास तपस्या की थी और उनके
साथ उनके सहचर भी भूलोक में आए थे। उन्हीं सहचरों की
सेतति से पुलिंद हुए जो कालंजर और हिमाद्रि के बीच
बसते थे। अशोक के शहबाजगढ़ी के लेख में भी पुलिंद
जाति का नाम आया है।

(२) वह देश जहाँ पुलिंद जाति बसती थी।

पुलिंदा—संज्ञा पुं० [सं० पुल = ढेर। हिं० पूला] लपेटे हुए कपड़े,
कागज आदि का छोटा मुट्ठा। गड्डी। पूला। गट्टा।
बंडल। जैसे, कागज का पुलिंदा।

संज्ञा स्त्री० एक छोटी नदी जो ताप्ती में मिलती है। महा-
भारत में इसका उल्लेख है।

पुलिकेशि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) चालुक्यवंशीय एक राजा
जिन्होंने ईसा की छठीं शताब्दी में परलवों की राजधानी
वातापिपुरी (बादामी) को जीतकर दक्षिण में चालुक्य
राज्य स्थापित किया था। (२) चालुक्यवंशीय एक सब से
प्रतापी राजा जो सन् ६१० ई० के लगभग वातापिपुरी के
सिंहासन पर बैठा और जिसने सारा दक्षिण और महाराष्ट्र
प्रदेश अपने अधिकार में किया। यह द्वितीय पुलिकेशि के
नाम से प्रसिद्ध है। परम प्रतापी हर्षवर्द्धन जिसकी राज-
सभा में वाणभट्ट थे और जिसके समय में प्रसिद्ध चीनी

थात्री हुएसंग भारतवर्ष आया था इसका समकालीन था। हर्षवर्द्धन सारे उत्तरीय भारत को अपने अधिकार में लाया पर जब दक्षिण की ओर उसने चढ़ाई की तब पुलिकेशि के हाथ से गहरी हार खाकर भाग आया।

पुलिन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह सीढ़ या कीचड़ की जमीन जिसपर से पानी हटे थोड़े ही दिन हुए हैं। पानी के भीतर से हाल की निकली हुई जमीन। चर। (२) नदी आदि का तट। किनारा। (३) नदी के बीच पड़ी हुई रेत। (४) एक यक्ष का नाम।

पुलिखि-संज्ञा पुं० [सं०] सर्प। साँप।

पुलिश-संज्ञा पुं० [सं०] ज्योतिष के एक प्राचीन आचार्य जिनके नाम से पौलिश सिद्धांत प्रसिद्ध है जो वराहमिहिरोक्त पंच सिद्धांतों में हैं। अलबरूनी ने पुलिश या पलस को यूनानी (यवन) लिखा है। कुछ इतिहासज्ञों ने पुलिश को मिस्र देश का बताया है। आजकल मूल पौलिश सिद्धांत नहीं मिलता। अटोपल और बलभद्र ने थोड़े से वचन उद्धृत किए हैं। उन उद्धृत वचनों से निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि पुलिश कोई विदेशी ही था।

पुलिस-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नगर, ग्राम आदि की शांति-रक्षा के लिये नियुक्त सिपाहियों और कर्मचारियों का वर्ग। प्रजा की जान और माल की हिफाजत के लिये मुकर्रर सिपाहियों और अफसरों का दल। (२) अपराधों को रोकने और अपराधियों का पता लगाकर उन्हें पकड़ने के लिये नियुक्त सिपाही या अफसर। पुलिस का सिपाही या अफसर।

पुलिसमैन-संज्ञा पुं० [सं०] पुलिस का प्यादा। पुलिस का सिपाही। कांस्टेबल।

पुलिहोरा-संज्ञा पुं० [देश०] एक पकवान। उ०—विविध पंच पकवान अपारे।सकर पुंगल औ पुलिहोरा। —रघुराज।

पुली-संज्ञा स्त्री० [देश०] काले और भूरे रंग की एक चिड़िया जो सारे उत्तर भारत में, पंजाब से लेकर बंगाल तक होती है।

पुलेवैठ—पीछे के दोनों पैर झुका दे (हाथीवानों की बोली)।
पुलोम-संज्ञा पुं० [सं० पुलोमन्] (१) एक दैत्य जिसकी कन्या शची थी। इंद्र ने युद्ध में पुलोम को मारकर उसकी कन्या शची से व्याह किया था। (२) एक राक्षस। (३) अंघ्रवंश का एक राजा।

पुलोमजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुलोम की कन्या। इंद्राणी। शची।

पुलोमही-संज्ञा स्त्री० [सं०] अहिफेन। अफीम।

पुलोमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] भृश की पत्नी का नाम जो वैश्वानर नामक दैत्य की कन्या थी। च्यवन ऋषि उन्हींके पुत्र थे।

पुलकस-संज्ञा पुं० [सं०] एक संकर जाति जिसकी उत्पत्ति ब्राह्मण पुरुष और चत्रिया स्त्री से कही जाती है। शतपथ ब्राह्मण और बृहदारण्यक उपनिषद् में इस जाति का उल्लेख है।

पुल्ला†-संज्ञा पुं० [हिं० फूल] नाक में पहनने का एक गहना।

पुल्ली†-संज्ञा स्त्री० [देश०] घोड़े के सुम के ऊपर का हिस्सा।

पुवा†-संज्ञा पुं० दे० 'पूवा', 'मालपूवा'।

पुवार†-संज्ञा पुं० दे० 'पयाल'।

पुश्त-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) पृष्ठ। पीठ। पीछा। (२) वंश-परंपरा में कोई एक स्थान। पिता पितामह प्रपितामह आदि या पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि का पूर्वापर स्थान। पीढ़ी।

यौ०—पुश्त दर पुश्त = वंशपरंपरा में। बाप के पीछे बेटा, बेटे के पीछे पोता इस क्रम से लगातार। पुश्तहा पुश्त = कई पीढ़ियों तक।

पुश्तक-संज्ञा स्त्री० [फा० पुश्त] घोड़े, गदहे, आदि का पीछे के दोनों पैरों से लात मारना। दोलत्ती।

क्रि० प्र०—झाड़ना। —मारना।

पुश्तनामा-संज्ञा पुं० [फा०] वह कागज जिसपर पूर्वापर क्रम से किसी कुल में उत्पन्न लोगों के नाम लिखे हों। वंशावली। पीढ़ीनामा। कुरसीनामा।

पुश्तवानी-संज्ञा स्त्री० [फा० पुश्त + हिं० वान् (प्रत्य०)] वह आड़ी लकड़ी जो किवाड़ के पीछे पल्ले की मजबूती के लिये लगी रहती है।

पुश्ता-संज्ञा पुं० [फा० पुश्तः] (१) पानी की रोक के लिये या मजबूती के लिये किसी दीवार से लगाकर कुछ ऊपर तक जमाया हुआ मिट्टी, ईंट, पत्थर आदि का ढेर या ढालुवां टीला। (२) पानी की रोक के लिये कुछ दूर तक उठाया हुआ टीला। बाँध। ऊँचा मेंड़। (३) किताब की जिल्द के पीछे का चमड़ा।

क्रि० प्र०—उठाना। —देना। —बाँधना।

(४) पौने चार मात्राओं का एक ताल जिसमें तीन आघात और एक खाली रहता है।

पुश्ताबंदी-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) पुश्ते की बँधाई। पुश्ता उठाने की क्रिया या भाव। (२) पुश्ते का काम।

पुश्ती-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) टेढ़। सहारा। आश्रय। थाम।

(२) सहायता। पृष्ठरक्षा। मदद।

क्रि० प्र०—करना। —होना।

(३) पक्ष। तरफदारी।

क्रि० प्र०—जेना।

(४) बड़ा तकिया जिसपर पीठ टिकाकर बैठते हैं। पीठ टेकने का तकिया। गावतकिया।

पुश्तैन-संज्ञा स्त्री० [फा० पुश्त] पुरुषपरंपरा। वंशपरंपरा। पीढ़ी दर पीढ़ी।

पुस्तैनी-वि० [हि० पुस्तैन] (१) जो कई पुस्तों से चला आता हो। कई पीढ़ियों से चला आता हुआ। दादा पदादा के समय का पुराना। जैसे, पुस्तैनी बीमारी, पुस्तैनी नौकर। (२) जो कई पुस्तों तक चला चले। आगे की पीढ़ियों तक चलनेवाला। बेटे, पोते परपोते आदि तक लगातार चला चलनेवाला। जैसे, उसे पुस्तैनी खिताब मिला है।

पुषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कलिहारी का पौधा। कलियारी।

पुषित-वि० [सं०] (१) पोषण किया हुआ। पाला पोसा हुआ। (२) वर्द्धित।

पुष्कर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जल। (२) जलाशय। ताल। पोखरा। (३) कमल। (४) करछी का कटोरा। (५) ढोल, मृदंग आदि का मुँह जिसपर चमड़ा मड़ा जाता है। (६) हाथी की सूँड़ का अगला भाग। (७) आकाश। (८) वाण। तीर। (९) तलवार का म्यान या फल। (१०) पिँजड़ा। (११) पद्मकंद। (१२) नृत्यकला। (१३) सर्प। (१४) युद्ध। (१५) भाग। अंश। (१६) मद। नशा। (१७) भगपाद नक्षत्र का एक अशुभ योग जिसकी शांति की जाती है। (१८) पुष्करमूल। (१९) कूट। कुष्ठौषधि। कुष्ठभेद। (२०) एक प्रकार का ढोल। (२१) सूर्य। (२२) एक रोग। (२३) एक दिग्गज। (२४) सारस पक्षी। (२५) विष्णु का एक नाम। (२६) शिव का एक नाम। (२७) पुष्कर द्वीपस्थ वरुण के एक पुत्र। (२८) एक असुर। (२९) कृष्ण के एक पुत्र का नाम। (३०) बुद्ध का एक नाम। (३१) एक राजा जो नल के भाई थे। इन्होंने नल को जूए में हराकर निषध देश का राज्य ले लिया था। पीछे नल ने जूए में ही फिर राज्य को जीत लिया। (३२) भरत के एक पुत्र का नाम। (३३) पुराणों में कहे गए सात द्वीपों में से एक।

विशेष-दधि समुद्र के आगे यह द्वीप बताया गया है। इसका विस्तार शाकद्वीप से दूना कहा गया है।

(३४) मेघों का एक नायक।

विशेष-जिस वर्ष मेघों के ये अधिपति होते हैं उस वर्ष पानी नहीं बरसता और न खेती होती है।

(३५) एक तीर्थ जो अजमेर के पास है।

विशेष-ऐसा प्रसिद्ध है कि ब्रह्मा ने इस स्थान पर यज्ञ किया था। यहाँ ब्रह्मा का एक मंदिर है। पद्म और नारदपुराण में इस तीर्थ का बहुत कुछ माहात्म्य मिलता है। पद्म पुराण में लिखा है कि एक बार पितामह ब्रह्मा हाथ में कमल लिये यज्ञ करने की इच्छा से इस सुंदर पर्वत प्रदेश में आए। कमल उनके हाथ से गिर पड़ा। उसके गिरने का ऐसा शब्द हुआ कि सब देवता कांप उठे। जब

देवता ब्रह्मा से पूछने लगे तब ब्रह्मा ने कहा “बालकों का घातक वज्रनाभ असुर रसातल में तप करता था वह तुम लोगों का संहार करने के लिये यहाँ आना ही चाहता था कि मैंने कमल गिराकर उसे मार डाला। तुम लोगों की बड़ी भारी विपत्ति दूर हुई। इस पद्म के गिरने के कारण इस स्थान का नाम पुष्कर होगा। यह परम पुण्यप्रद महा-तीर्थ होगा”। पुष्कर तीर्थ का उल्लेख महाभारत में भी है। साँची में मिले हुए एक शिलालेख से पता लगता है कि ईसा से तीन सौ वर्ष से भी और पहले से यह तीर्थ-स्थान प्रसिद्ध था। आजकल पुष्कर में जो ताल है उसके किनारे सुंदर घाट और राजाओं के बहुत से भवन बने हुए हैं। यहाँ ब्रह्मा, सावित्री, बदरीनारायण और वराहजी के मंदिर प्रसिद्ध हैं।

(३६) विष्णु भगवान का एक रूप।

विशेष-विष्णु की नाभि से जो कमल उत्पन्न हुआ था वह उन्हींका एक अंग था। इसकी कथा हरिवंश में बड़े विस्तार के साथ आई है। पृथ्वी पर के पर्वत आदि नाना भाग इस पद्म के अंग कहे गए हैं।

पुष्करकर्णिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्थलपद्मिनी।

पुष्करनाडी-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्थलपद्मिनी।

पुष्करपर्णी-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कमल का पत्ता। (२) एक प्रकार की ईंट जो यज्ञ की वेदी बनाने के काम में आती थी।

पुष्करप्रिय-संज्ञा पुं० [सं०] मधुमक्षिका।

पुष्करमूल-संज्ञा पुं० [सं०] एक औषधि का मूल या जड़ जो कश्मीर देश के सरोवरों में उत्पन्न कही जाती है। यह औषधि आजकल नहीं मिलती; वैद्यलोग इसके स्थान पर कुष्ठ या कूट का व्यवहार करते हैं।

पुष्करशिफा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुष्करमूल।

पुष्करसागर-संज्ञा पुं० [सं०] पुष्करमूल।

पुष्करसारी-संज्ञा स्त्री० [सं०] ललितविस्तर में गिनाई हुई लिपियों में से एक।

पुष्करस्वज-संज्ञा पुं० [सं०] अश्विनीकुमार।

पुष्करावर्त्तक-संज्ञा पुं० [सं०] मेघों के एक विशेष अधिपति।

पुष्करिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक रोग जिसमें लिंग के अग्र-भाग पर फुंसियाँ हो जाती हैं।

पुष्करी-संज्ञा पुं० [सं० पुष्करिन्] हाथी।

पुष्कल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चार प्रास की भिन्ना। (२) अनाज नापने का एक प्राचीन मान जो ६४ मुद्दियों के बराबर होता था। (३) राम के भाई भरत के दो पुत्रों में से एक। (४) एक असुर। (५) एक प्रकार का ढोल। (६) एक प्रकार की वीणा। (७) शिव।

(८) वरुण के एक पुत्र । (९) एक बुद्ध का नाम ।
वि० (१) बहुत । अधिक । ढेर सा । प्रचुर । (२)
भरापूरा । परिपूर्ण । (३) श्रेष्ठ । (४) उपस्थित ।
(५) पवित्र ।

पुष्कलावती—संज्ञा स्त्री० [सं०] गांधार देश की प्राचीन राजधानी ।

विशेष—विष्णुपुराण में लिखा है कि भरत के पुत्र पुष्कल ने इस नगरी को बसाया था । सिकंदर की चढ़ाई के समय में यह नगरी थी क्योंकि एरियन आदि यूनानी लेखकों ने पेरुकेले, प्युकोलैतिस आदि नामों से इसका उल्लेख किया है । एरियन ने लिखा है कि यह नगरी बहुत बड़ी थी और सिंधुनद से थोड़ी ही दूर पर थी । ईसा की सातवीं शताब्दी में आए हुए चीनी यात्री हुएन्संग ने भी इस नगरी में हिंदू देवमंदिरों और बौद्धस्तूपों का होना लिखा है । पेशावर से नौ कोस उत्तर स्वात और काबुल नदी के संगम पर जहाँ हस्तनगर नाम का गाँव है वहीं प्राचीन पुष्कलावती थी ।

पुष्ट—वि० [सं०] (१) पोषण किया हुआ । पाला हुआ । (२) तैयार । मोटाताजा । बलिष्ठ । (३) मोटाताजा करनेवाला । बलवर्द्धक । जैसे, गाजर का हलुआ बड़ा पुष्ट है । (४) दृढ़ । मजबूत । पक्का ।

संज्ञा पुं० विष्णु ।

पुष्टई—संज्ञा स्त्री० [सं० पुष्ट + ई० (प्रत्य०)] पुष्ट करनेवाली औषध । बलवीर्यवर्द्धक औषध । ताकत की दवा ।

पुष्टता—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मोटा ताजापन । मजबूती । (२) पोड़ापन । दृढ़ता ।

पुष्टि—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पोषण । (२) मोटाताजापन । बलिष्ठता । (३) वृद्धि । संतति की बढ़ती । (४) दृढ़ता । मजबूती । (५) बात का समर्थन । पक्कापन । जैसे, इस बात से तुम्हारे कथन की पुष्टि होती है । (६) सोलह मातृकाओं में से एक । (७) मंगला, विजया आदि आठ प्रकार की चारपाइयों में से एक । (८) धर्म की पत्नियों में से एक । (९) एक योगिनी । (१०) अश्वमेधा । असंगंध ।

पुष्टिकर—वि० [सं०] पुष्ट करनेवाला । बलवीर्यवर्द्धक । ताकत देनेवाला । जैसे, पुष्टिकर पदार्थों का भोजन ।

पुष्टिकरी—संज्ञा स्त्री० [सं०] गंगा (काशीखंड) ।

पुष्टिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] जल की सीप । सुतही । सीपी ।

पुष्टिकारक—वि० [सं०] पुष्टि करनेवाला । बलवीर्यकारक ।

पुष्टिदा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अश्वमेधा । असंगंध । (२) वृद्धि नाम की ओषधि ।

पुष्टिदग्धवत्—संज्ञा पुं० [सं०] आग के जले को आग से ही सेंक

कर या किसी प्रकार का गरम गरम लेप करके अच्छा करने की युक्ति ।

पुष्टिपति—संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि का एक भेद ।

पुष्टिमति—संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि का एक भेद ।

पुष्टिमार्ग—संज्ञा पुं० [सं०] बलभसंप्रदाय । बलभाचार्य के मतानुकूल वैष्णव भक्तिमार्ग ।

पुष्प—संज्ञा पुं० [सं०] (१) फूल । पौधों का वह अवयव जो ऋतुकाल में उत्पन्न होता है ।

विशेष—दे० “फूल” ।

(१) ऋतुमती स्त्री का रज । (२) आँख का एक रोग । फूला । फूली । (४) घोड़ों का एक लक्षण । चित्ती ।

विशेष—जिस रंग का घोड़ा हो उससे भिन्न रंग की चित्ती को पुष्प कहते हैं । कनपटी, ललाट, सिर, कंधे, छाती, नाभि और कंठ में ऐसे चिह्न हों तो शुभ और आँठ, कान की जड़, भों और चूतड़ पर हों तो अशुभ माने जाते हैं ।

(५) विकाश । (६) कुबेर का विमान । पुष्पक । (७) एक प्रकार का अंजन या सुरमा । (८) रसौत । (९) पुष्करमूल । (१०) लवंग । (११) मांस । (वाममार्गी) ।

पुष्पक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) फूल । (२) कुबेर का विमान ।

विशेष—यह विमान आकाश मार्ग से चलता था । कुबेर को हराकर रावण ने यह विमान छीन लिया था । रावण के वध के उपरान्त राम ने इसे फिर कुबेर को दे दिया । (३) आँख का एक रोग । फूला । फूली । (४) जड़ाज कंगन । (५) रसांजन । रसौत । (६) हीराकसीस । (७) पीतल । (८) लोहे या पीतल की मैल । (९) मिट्टी की अंगीठी । (१०) एक प्रकार का निर्विष सर्प । बिना विष का एक साँप । (११) एक पर्वत का नाम । (१२) प्रासाद बनाने में एक प्रकार का मंडप ।

विशेष—यह मंडप चौंसठ खंभों का होना चाहिए ।

(१३) वह खंभा जिसके कोने आठ भागों में बँटे हों ।

पुष्पकरंडक—संज्ञा पुं० [सं०] उज्जयिनी का एक पुराना उद्यान या बगीचा जो महाकाल के मंदिर के पास था ।

पुष्पकरंडिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] उज्जयिनी ।

पुष्पकासीस—संज्ञा पुं० [सं०] हीराकसीस ।

पुष्पकीट—संज्ञा पुं० [सं०] (१) फूल का कीड़ा । (२) भौंरा ।

पुष्पकृच्छ्र—संज्ञा पुं० [सं०] एक व्रत जिसमें केवल फूलों का व्रथ पीकर महीना भर रहना पड़ता है ।

पुष्पकेतु—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुष्पांजन । (२) कामदेव ।

पुष्पगंधा—संज्ञा स्त्री० [सं०] जूही ।

पुष्पगवेषुका—संज्ञा स्त्री० [सं०] नागवला ।

पुष्पचाप—संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव ।

पुष्पचामर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) दौना । (२) केवड़ा ।

पुष्पदंत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वायुकोण का दिग्गज । (२) एक प्रकार का नगर द्वार । (३) शिव का अनुचर एक गंधर्व जिसका रचा हुआ महिम्नस्तोत्र कहा जाता है ।

विशेष—इस गंधर्व के विषय में कहा जाता है कि यह एक बार शिव का निर्मात्य लांच गया था इससे शिव ने शाप द्वारा इसका आकाशगमन रोक दिया था । पीछे महिम्नस्तोत्र बनाकर पाठ करने से खेचरत्व प्राप्त हो गया ।

(४) एक विद्याधर । (५) कार्तिकेय का एक अनुचर ।

पुष्पदंष्ट्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक नाग ।

पुष्पध-संज्ञा पुं० [सं०] ब्राह्म्य ब्राह्मण से उत्पन्न एक जाति ।

विशेष—ब्राह्म्य ब्राह्मण की सवर्णा पत्नी से उत्पन्न संतति पुष्पध कहलाती है ।

पुष्पधनुस्-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव ।

पुष्पधन्वा-संज्ञा पुं० [सं० पुष्पधन्वन्] (१) कामदेव । (२) एक रसौषध जो रससिंदूर, सीसे, लोहे, अभ्रक और वंग में धतूरा, भाँग, जेठी मधु, सेमरामूल मिलाकर पान के रस की भावना देने से बनती है और कामोद्दीपक और शक्ति-वर्द्धक मानी जाती है ।

पुष्पध्वज-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव ।

पुष्पनिक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] अमर । भौरा ।

पुष्पनेत्र-संज्ञा पुं० [सं०] वस्ति की पिचकारी की सलाई ।

पुष्पपत्री-संज्ञा पुं० [सं० पुष्पपत्रिन्] कामदेव ।

पुष्पपथ-संज्ञा पुं० [सं०] स्त्रियों के रज के निकलने का मार्ग । योनि । भग ।

पुष्पपांडु-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साँप ।

पुष्पपिंड-संज्ञा पुं० [सं०] अशोक का पेड़ ।

पुष्पपुट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) फूल की पंखड़ियों का आधार जो कटोरी के आकार का होता है । (२) उक्त आकार का हाथ का चंगुल ।

पुष्पपुर-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन पाटलिपुत्र (पटना) का एक नाम ।

पुष्पप्रियङ्गु-संज्ञा पुं० [सं०] विजयसाल ।

पुष्पफल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुम्हड़ा । (२) कैथ । कपित्थ । (३) अर्जुन वृक्ष ।

पुष्पमद्र-संज्ञा पुं० [सं०] वास्तु शिल्प में एक प्रकार का मंडप जिसमें ६२ खंभे हों ।

पुष्पमद्रक-संज्ञा पुं० [सं०] देवताओं का एक उपवन ।

पुष्पमद्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मलयगिरि के पश्चिम की एक नदी । (महावैवर्त) ।

पुष्पभूति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सम्राट् हर्षवर्द्धन के पूर्व पुरुष जो शैव थे । (२) कांबोज या काबुल के एक हिंदू राजा जो ईसा की सातवीं शताब्दी में राज्य करते थे ।

पुष्पमंजरिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] नीलकमलिनी ।

पुष्पमंजरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) फूल की मंजरी । (२) वृत्त-करंज । घीकरंज ।

पुष्पमास-संज्ञा पुं० [सं०] वसंत ऋतु के दो महीने ।

पुष्पमित्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक राजा । दे० "पुष्पमित्र" ।

पुष्पमृत्यु-संज्ञा पुं० [सं०] देवनल । एक प्रकार का नरकट । बड़ा नरसल ।

पुष्परक्त-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्यमणि नाम के फूल का पौधा ।

पुष्परज-संज्ञा पुं० [सं० पुष्परजस] पराग । फूलों की धूल ।

पुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] मधु ।

पुष्पराग-संज्ञा पुं० [सं०] एक मणि । पुखराज ।

पुष्पराज-संज्ञा पुं० [सं०] पुष्पराग । पुखराज ।

पुष्परेणु-संज्ञा पुं० [सं०] फूल की धूल । पराग ।

पुष्परोचन-संज्ञा पुं० [सं०] नागकेसर ।

पुष्पलाव-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० पुष्पलावी] फूल चुननेवाला । माली ।

पुष्पलावन-संज्ञा पुं० [सं०] उत्तर दिशा का एक देश । (बृहत्संहिता) ।

पुष्पलावी-संज्ञा स्त्री० [सं० पुष्पलाविन्] फूल चुननेवाली । मालिन ।

पुष्पलिख-संज्ञा पुं० [सं०] अमर । भौरा ।

पुष्पलिपि-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक पुरानी लिपि या लिखावट । (ललितविस्तर) ।

पुष्पलिह-संज्ञा पुं० [सं०] अमर । भौरा ।

पुष्पवती-वि० [सं०] (१) फूलवाली । फूली हुई । (२) रजोवती । रजस्वला । ऋतुमती । (३) एक तीर्थ (महाभारत) ।

पुष्पवर्ष-संज्ञा पुं० [सं०] एक वर्ष पर्वत का नाम ।

पुष्पवाटिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] फूलवारी । फूलों का बगीचा । ध्यान ।

पुष्पवाटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] फूलवारी । फूलों का बगीचा ।

पुष्पवाण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) फूलों का वाण । (२) कामदेव । (३) कुशद्वीप के एक राजा । (४) एक दैत्य ।

पुष्पवाहिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी । (हरिवंश) ।

पुष्पवृष्टि-संज्ञा स्त्री० [सं०] फूलों की वर्षा । ऊपर से फूल गिरना या गिराना । (मंगल उत्सव या प्रसन्नता सूचित करने के लिये फूल गिराए जाते थे) ।

पुष्पशकटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] आकाशवाणी ।

पुष्पशकली-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बिषहीन साँप । (सुश्रुत) ।

पुष्पशर-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव ।

पुष्पशरासन-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव ।

पुष्पशाक-संज्ञा पुं० [सं०] ऐसे सब्जि जिनकी भाजी बनाई

जाती है। जैसे, कवनाल, रासना, खैर, सेमल, सहजन, अगस्त, नीम।

पुष्पशब्द-वि० [सं०] बिना फूल का। पुष्परहित।

संज्ञा पुं० गूलर।

पुष्पश्रेणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मूलाकानी।

पुष्पसाधारण-संज्ञा पुं० [सं०] वसंतकाल।

पुष्पसार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) फूल का मधु या रस।
(२) फूलों का इत्र।

पुष्पसार-संज्ञा स्त्री० [सं०] तुलसी।

पुष्पसूत्र-संज्ञा पुं० [सं०] दक्षिण में प्रसिद्ध सामवेद का एक सूत्रग्रंथ जो गोभिल रचित कहा जाता है।

पुष्पसौरभा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कलिवारी का पौधा। करियारी।

पुष्पस्नान-संज्ञा पुं० [सं०] दे० "पुष्पस्नान"।

पुष्पहास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) फूलों का खिलना। (२) विष्णु।

पुष्पहासा-संज्ञा स्त्री० [सं०] रजस्वला स्त्री।

पुष्पहीन-वि० [सं०] बिना फूल का।

संज्ञा पुं० गूलर का पेड़।

पुष्पहीना-वि० स्त्री० [सं०] (स्त्री) जिसे रजोदर्शन न हो।
बांझ। बंध्य।

पुष्पांक-संज्ञा पुं० [सं०] माधवी। (अनेकार्थ)।

पुष्पांजन-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का अंजन जो पीतल के हरे कसाव के साथ कुछ औषधियों को पीसकर बनाया जाता है। वैद्यक में सब प्रकार के नेत्ररोगों पर यह चलता है।

पर्या०—पुष्पकेतु। कौसुम। रीतिक। रीतिपुष्प।

पुष्पांजलि-संज्ञा स्त्री० [सं०] फूलों से भरी अंजली या अंजली भर फूल जो किसी देवता या पूज्य पुरुष को चढ़ाए जायँ।

पुष्पांबुज-संज्ञा पुं० [सं०] मकरंद।

पुष्पांभस्-संज्ञा पुं० [सं०] एक तीर्थ।

पुष्पा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कर्ण की राजधानी जो अंगदेश में थी।
चंरा (आजकल के भागलपुर के पास)।

पुष्पाकर-संज्ञा पुं० [सं०] वसंत ऋतु।

पुष्पागम-संज्ञा पुं० [सं०] वसंत काल।

पुष्पानन-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का मद्य।

पुष्पायुध-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

पुष्पासव-संज्ञा पुं० [सं०] फूलों से बनाया हुआ मद्य। मद्य।

पुष्पाह्वा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सौंफ।

पुष्पिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दाँत की मैल। (२) लिंग की मैल। (३) अध्याय के अंत में वह वाक्य जिसमें कहे हुए प्रसंग की समाप्ति सूचित की जाती है। यह वाक्य "इति श्री" करके प्रायः आरंभ होता है। जैसे, "इति श्री स्कंदपुराणे रेवाखंडे" इत्यादि।

पुष्पित-वि० [सं०] पुष्पसंयुक्त। फूला हुआ।

संज्ञा पुं० (१) कुशद्वीप का एक पर्वत। (२) एक बुद्ध का नाम।

पुष्पिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] रजस्वला स्त्री।

पुष्पिताग्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अर्द्धसम वृत्त जिसके पहले और तीसरे चरण में दो नगण, एक रगण और एक यगण होता है तथा दूसरे और चौथे चरण में एक नगण, दो जगण एक रगण और गुरु होता है। उ०—प्रभु सम नहीं अन्य कोई दाता। सुधन जु ध्यावत तीन लोक त्राता। सकल असत कामना बिहाई। हरि नित सेवहु मित चित लाई।

पुष्पेष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

पुष्पोत्कटा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सुमाली राक्षस की केतुमती भार्या से उत्पन्न ४ कन्याओं में से एक जो रावण और कुंभकर्ण की माता थी।

पुष्पोद्यान-संज्ञा पुं० [सं०] फूलवारी। पुष्पवाटिका।

पुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुष्टि। पोषण। (२) फूल या सार वस्तु। (३) अश्विनी भरणी आदि २७ नक्षत्रों में से आठवाँ नक्षत्र जिसकी आकृति वाण की सी है। सिध्य। तिष्य। (४) पूस का महीना। (५) सूर्यवंश का एक राजा।

पुष्पनेत्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह राक्षि जिसमें बराबर पुष्प नक्षत्र रहे।

पुष्पमित्र-संज्ञा पुं० [सं०] मौयों के पीछे मगध में शुंग वंश का राज्य प्रतिष्ठित करनेवाला एक प्रतापी राजा।

विशेष—अशोक से कई पीढ़ियों पीछे अंतिम मौर्य राजा बृहद्रथ को लड़ाई में मार पुष्पमित्र मगध के सिंहासन पर बैठा। अपने पुत्र अग्निमित्र को उसने विदिशा का राज्य दिया था। अग्निमित्र का वृत्तांत कालिदास के मालविकाग्निमित्र नाटक में आया है। पुष्पमित्र हिंदू धर्म का अनन्य अनुयायी था इससे बौद्धों की प्रधानता से चिढ़ी हुई प्रजा उसके सिंहासन पर बैठने से बहुत प्रसन्न हुई। वैदिक धर्म और अपने प्रताप की घोषणा के लिये पुष्पमित्र ने पाटलिपुत्र में बड़ा भारी अश्वमेध यज्ञ किया। लोगों का अनुमान है कि इस यज्ञ में भाष्यकार पतंजलि भी आए थे। ईसा से प्रायः दो सौ वर्ष पूर्व पुष्पमित्र मगध में राज्य करते थे। उनके पीछे उनके पुत्र अग्निमित्र सिंहासन पर बैठे। दे० "शुंगवंश"।

पुष्परथ-संज्ञा पुं० [सं०] कीड़ा रथ। घूमने, फिरने या उत्सव आदि में निकलने का रथ। (यह रथ युद्ध के काम का नहीं होता)।

पुष्पलक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कस्तूरी मृग। (२) चपलक। चँवर लिये रहनेवाला जैन साधु। (३) खूँटा। कील।

पुण्यस्नान—संज्ञा पुं० [सं०] विघ्न शांति के लिये एक स्नान जो पूस के महीने में चंद्रमा के पुण्य नक्षत्र में होने पर होता है। यह स्नान राजाओं के लिये है। कालिकापुराण और बृहत्संहिता में इस स्नान का पूरा विधान मिलता है।

विशेष—बृहत्संहिता के अनुसार उद्यान, देवमंदिर, नदीतट आदि किसी रमणीय और स्वच्छ स्थान पर मंडप बनवाना चाहिए और उसमें राजा के पुरोहितों और अमात्यों के सहित पूजन के लिये जाना चाहिए। पितरों और देवताओं का यथाविधि पूजन करके तब राजा पुण्य स्नान करे। जिस कलश के जल से राजा स्नान करनेवाले हों उसमें अनेक प्रकार के रत्न और मंगल द्रव्य पहले से डालकर रखे। पश्चिम ओर की वेदी पर बाघ या सिंह का चमड़ा बिछाकर उसपर सोने, चाँदी, ताँबे या गूलर की लकड़ी का पाटा रखा जाय। उसीपर राजा स्नान करे।

पुष्यार्क—संज्ञा पुं० [सं०] (१) ज्योतिष में एक योग जो कर्क की संक्रांति में सूर्य के पुष्य नक्षत्र में होने पर होता है यह प्रायः श्रावण में दस दिन के लगभग रहता है। (२) रविवार के दिन पड़ा हुआ पुण्य नक्षत्र।

पुस—संज्ञा पुं० [देश०] प्यार से बिहजी को पुकारने का शब्द। जैसे, आ पुस, पुस !

पुसाना * †—कि० अ० [हिं० पोसना] (१) पूरा पड़ना। बन पड़ना। पटना। (२) अच्छा लगना। शोभा देना। उचित जान पड़ना। उ०—पथिक आपने पथ लगी इहाँ रहौ न पुसाय। रसनिधि नैन सराय में बस्यो भावतो आइ। —रसनिधि।

पुस्त—संज्ञा पुं० [सं०] (१) गीली मिट्टी, लकड़ी, कपड़े, चमड़े, लोहे, यारलों आदि से गढ़, काट या छील छालकर बनाई जानेवाली वस्तु। सामान। (२) बनावट। कारीगरी। (३) [स्त्री० पुस्ती] पोथी। पुस्तक। किताब।

* † संज्ञा स्त्री० दे० “पुस्त”।

पुस्तक—संज्ञा स्त्री० [सं०] पोथी। किताब। ग्रंथ।

पुस्तकाकार—वि० [सं०] पोथी के रूप का। पुस्तक के आकार का।

पुस्तकालय—संज्ञा पुं० [सं०] वह भवन या घर जिसमें पुस्तकों का संग्रह हो। वह घर जहाँ अनेक विषयों की पोथियाँ इकट्ठी करके रखी गई हों।

पुस्तकी—संज्ञा स्त्री० [सं०] पोथी। पुस्तक।

पुस्तशिबी—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की सेम।

पुहकर*—संज्ञा पुं० दे० “पुष्कर”।

पुहकरमूल—संज्ञा पुं० दे० “पुष्करमूल”।

पुहाना †—कि० स० [हिं० पोहना का प्रे०] पिरोने का काम कराना। प्रथित कराना। गुथवाना।

पुहुप*—संज्ञा पुं० [सं० पुष्प] फूल।

पुहुमी*—संज्ञा स्त्री० [सं० भूमि। वा पृथिवी, प्रा० पुहुवी] पृथ्वी। भूमि।

पुहुरेनु—* संज्ञा पुं० [सं० पुष्परेणु] फूल की धूल। पराग।

पुहुवी*—संज्ञा स्त्री० [सं० पृथिवी] भूमि। पृथ्वी।

पुंगरण—संज्ञा पुं० [सं० पुंग = राशि या समूह] सामान्य वस्त्र। कपड़ा। (डि०)

पूंगा—संज्ञा पुं० [देश०] वह कीड़ा जो सीप के भीतर होता है। सीप का कीड़ा।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पोंगी = छोटा चोंगा] सपेरों का बाजा। महुवर।

पूँछ—संज्ञा स्त्री० [सं० पुच्छ] (१) मनुष्य से भिन्न प्राणियों के शरीर का वह गावदुमा भाग जो गुदमार्ग के ऊपर रीढ़ की हड्डी की संधि में या उससे निकलकर नीचे की ओर कुछ दूर तक लंबा चला जाता है। जंतुओं, पक्षियों, कीड़ों आदि के शरीर में सिर से आरंभ मानकर सब से अंतिम या पिछला भाग। पुच्छ। लांगूल। दुम।

विशेष—भिन्न भिन्न जीवों की पूँछें भिन्न भिन्न आकार की होती हैं। पर सभी की पूँछें उनके गुदमार्ग के ऊपर से ही आरंभ होती हैं। सरीसृप वर्ग के जीवों की पूँछें रीढ़ की हड्डी की सीध में आगे की अधिकाधिक पतली होती हुई चली जाती हैं। मछली की पूँछ उसके उदरभाग के नीचे का पतला भाग है। अधिकांश मछलियों की पूँछ के अंत में पर होते हैं। पक्षियों की पूँछ परों का एक गुच्छा होती है जिसका अंतिम भाग अधिक फैला हुआ और आरंभ का संकुचित होता है। कीड़ों की पूँछ उनके मध्य भाग के और पीछे का नुकीला भाग है। भिड़ का डंक उसकी पूँछ से ही निकलता है। स्तनपायी जंतुओं में से कुछ की पूँछ उनके शेष शरीर के बराबर या उससे भी अधिक लंबी होती है, जैसे लंगूर की। इस वर्ग के प्रायः सभी जीवों की पूँछ पर बाल नहीं होते; रोएँ होते हैं। हाँ किसी किसी की पूँछ के अंत में बालों का एक गुच्छा होता है। पर घोड़े की पूँछ पर सर्वत्र बड़े बड़े बाल होते हैं।

मुहा०—किसी की पूँछ पकड़कर चलना = (१) किसी के पीछे पीछे चलना। किसीका पिछुआ या पिछलग्गू बनना। हर बात में किसीका अनुगमन करना। बेतरह अनुयायी होना (व्यंग्य)। (२) किसीके सहारे से कोई काम करना। सहारा लेना या पकड़ना। किसी विषय में किसीकी सहायता पर निर्भर होना। (व्यंग्य)।

(२) किसी पदार्थ के पीछे का भाग। (३) पिछलग्गू। पुछछा। जो किसीके पीछे या साथ रहे।

पूँछ गच्छ—संज्ञा स्त्री० दे० “पूछगच्छ”।

पूँछड़ी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पूँछ + डी (प्रत्यय)] (१) पूँछ। (२) वह पानी जो नाले में चढ़ाव के आगे आगे चलता है।

पूछताछ-संज्ञा स्त्री० दे० “पूछपाछ” ।

पूछना-क्रि० अ० दे० “पूछना” ।

पूछपाछ-संज्ञा स्त्री० दे० “पूछपाछ” ।

पूछलतारा-संज्ञा पुं० दे० “केतु” या “पुच्छलतारा” ।

पूजना-क्रि० स० [देश०] नए बंदर को पकड़ना । (कलंदर) ।

पूजी-संज्ञा स्त्री० [सं० पुंज] (१) किसी व्यक्ति या समुदाय का ऐसा समस्त धन जिसे वह किसी व्यवसाय या काम में लगा सके । किसीकी अधिकारभुक्त वह संपूर्ण सामग्री या वस्तुएँ जिनका उपयोग वह अपनी आमदनी बढ़ाने में कर सकता हो । निर्वाह की आवश्यकता से अधिक धन या सामग्री । संचित धन । संपत्ति । जमा । (२) वह धन या रुपया जो किसी व्यापार या व्यवसाय में लगाया गया हो । वह धन जिससे कोई कारोबार आरंभ किया गया हो या चलता हो । किसी दूकान, कोठी, कारखाने, बैंक आदि की निज की चर या अचर संपत्ति । मूलधन ।

क्रि० प्र०—लगाना ।

मुहा०—पूजी खोना या गँवाना = व्यापार या व्यवसाय में इतना घाटा उठाना कि कुछ लाभ के स्थान पर पूँजी में से कुछ या कुल देना पड़े । ऐसा घाटा उठाना कि मूलधन की भी हानि हो । भारी बादा या क्षति उठाना । पूँजीदार या पूँजीवाला = किसी व्यापार या उद्यम में जिसने धन लगाया हो । जिसने मूलधन या पूँजी लगाई हो ।

(३) धन । रुपया-पैसा । जैसे, इस समय तुम्हारी जेब में कुछ पूँजी मालूम होती है । (४) किसी विशेष विषय में किसीकी योग्यता । किसी विषय में किसीका परिज्ञान या जानकारी । किसी विषय में किसीकी सामर्थ्य या बल । (बोलचाल क्व०) (५) पुंज । समूह । ढेर । उ०—रतन की पूँजी अति राजें । कनक कंधनी अति छवि छाजें ।—गोपाल ।

पूँठ*—संज्ञा स्त्री० [सं० पुष्ठ] पीठ । उ०—पंथी ऊभा पाथ सिर बुगचा बाँधा पूँठ । मरना मुँह आगे खड़ा, जीवन का सब झूठ ।—कबीर ।

पूआ-संज्ञा पुं० [सं० पूष, अपूप] एक प्रकार की पूरी जो आटे को गुड़ या चीनी के रस में घोलकर घी में छानी जाती है । स्वाद के लिये इसमें कतरे हुए मेवे भी छोड़ते हैं । मालपुआ ।

पूग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सुपारी का पेड़ या फल । (२) ढेरा । (३) शहद का पेड़ । (४) कटहल । (५) एक प्रकार की कटेरी । (६) भाव । (७) छंद । (८) समूह । वृंद । ढेर ।

पूगकृत-वि० [सं०] (१) स्तूप के आकार में स्थापित । स्तुपाकार किया हुआ । जो टीले के आकार का हो । (१) संगृहीत । इकट्ठा किया हुआ । ढेर । राशि ।

पूगापात्र-संज्ञा पुं० [सं०] पीकदान । उगालदान ।

पूगपीठ-संज्ञा पुं० [सं०] पीकदान ।

पूगपुष्पिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] विवाह-संबंध स्थिर हो जाने पर दिया जानेवाला पुष्प सहित पान । पानफूल ।

पूगफल-संज्ञा पुं० [सं०] सुपारी ।

पूगमंड-संज्ञा पुं० [सं०] पाकड़ । प्रत्न ।

पूगरोठ-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का ताड़ ।

पूगी-संज्ञा पुं० [सं० पूग] सुपारी का पेड़ ।

संज्ञा स्त्री० [सं० पूग] सुपारी ।

पूगीफल-संज्ञा पुं० [सं० पूगफल] सुपारी ।

पूछ-संज्ञा स्त्री० [हिं० पूछना] (१) पूछने का भाव । जिज्ञासा ।

(२) खोज । चाह । जरूरत । तलब । जैसे, आप वहाँ अवश्य जाइए वहाँ आपकी सदा पूछ रहती है । (२) आदर । आवभगत । खातिर इज्जत । जैसे, तनिक भी पूछ न होने पर तो तुम्हारे मिजाज का यह हाल है, जो कुछ होती तो न जाने क्या करते !

पूछगाल-संज्ञा स्त्री० दे० “पूछताछ” ।

पूछताछ-संज्ञा स्त्री० [हिं० पूछना] कुछ जानने के लिये प्रश्न करने की क्रिया या भाव । किसी बात का पता लगाने के लिये बार बार पूछना या प्रश्न करना । बातचीत करके किसी विषय में खोज, अनुसंधान या जाँच पड़ताल । जिज्ञासा । जैसे, घंटों पूछताछ करने के बाद तब इस मामले में इतना पता चला है ।

पूछना-क्रि० स० [सं० पूच्छण] (१) कुछ जानने के लिये किसीसे प्रश्न करना । कोई बात जानने की इच्छा से सवाल करना । जिज्ञासा करना । कोई बात दरियाफ्त करना । जैसे, किसीका नाम-पता पूछना, किसी चीज का दाम पूछना । (२) सहायता करने की इच्छा से किसीका हाल जानने की चेष्टा करना । खोज खबर लेना । जैसे, इतने बड़े शहर में गरीबों को कौन पूछता है ? (३) किसी व्यक्ति के प्रति सत्कार के सामान्य भाव प्रकट करना । किसीका कुशल, स्थान आदि पूछना या उससे बैठने आदि के लिये कहना । संबोधन करना । जैसे, तुम चाहे जितनी देर यहाँ खड़े रहो, तुम्हें कोई पूछनेवाला नहीं ।

मुहा०—बात न पूछना = (१) तुच्छ जान कर बातचीत न करना । ध्यान न देना । (२) आदर न करना ।

(४) आदर करना । गुण या मूल्य जानना । कद्र करना । किसी लायक समझना । आश्रय देना । जैसे, इस शहर में तुम्हारे गुण को पूछनेवाले बहुत कम हैं । (५) ध्यान देना । टोकना । जैसे, तुम बेखटके चले जाओ, कोई नहीं पूछ सकता ।

पूछपाछ-संज्ञा स्त्री०—दे० “पूछताछ” ।

पूछरी * †—संज्ञा स्त्री० [हिं० पूँछ] (१) डुम। पूँछ। (२) पीछे का भाग।

पूछाताछी, पूछापाछी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पूछना + ताछना या पाछन अनु०] पूछने की क्रिया या भाव।

पूज † ‡—वि० [सं० पूज्य] पूजने योग्य। पूजनीय।

संज्ञा पुं० [सं० पूज्य] देवता। (डि०)

संज्ञा स्त्री० [सं० पूजन] खत्रियों आदि में वह गणेशपूजन जो विवाह, यज्ञोपवीत आदि शुभ कर्मों के पहले होता है।

पूजक—संज्ञा पुं० [सं०] पूजा करनेवाला। पूजनकर्त्ता। वह जो पूजन करे।

पूजन—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० पूजक, पूजनीय पूजितव्य, पूज्य] (१) पूजा की क्रिया। ईश्वर या किसी देवी देवता के प्रति श्रद्धा, सम्मान, विनय और समर्पण प्रकट करनेवाला कार्य। देवता की सेवा और वंदना। अर्चन। आराधन।

(२) आदर। सम्मान। खातिरदारी। जैसे, अतिथिपूजन।

पूजना—क्रि० सं० [सं० पूजन] (१) किसी देवी देवता को प्रसन्न करने के लिये यथाविधि कोई अनुष्ठान या कर्म करना। ईश्वर या किसी देवी देवता के प्रति श्रद्धा, सम्मान, विनय और समर्पण का भाव प्रकट करनेवाला कार्य करना। अर्चना करना। आराधन करना। (२) किसीको प्रसन्न या परितुष्ट करने के लिये कोई कार्य करना। भक्ति या श्रद्धा के साथ किसी की सेवा करना। आदर स्तुकार करना। (३) वंदना करना। सिर झुकाना। बड़ा मानना। सम्मान करना। (४) घूस देना। रिसवत देना। (५) नया बंदर पकड़ना। (कलंदर)। क्रि० अ० [सं० पूज्यते, प्रा० पूजति] (१) पूरा होना। भरना। बराबर हो जाना। कमी न रह जाना। जैसे, यह हानि इस जन्म में तो नहीं पूजने की। (२) गहराई का भरना या बराबर हो जाना। आस पास के धरातल के समान हो जाना। जैसे, घाव पूजना, गड्ढा पूजना। (३) पटना। चुकता होना। जैसे, ऋण पूजना। (४) पूरा होना। बीतना। समाप्त होना। जैसे, वर्ष, अवधि, मिश्राद आदि पूजना।

पूजनीय—वि० [सं०] (१) जिसकी पूजा करना कर्त्तव्य या उचित हो। पूजने योग्य। आराध्य। अर्चनीय। (२) आदरणीय। सम्मान योग्य।

पूजमान—वि० [हिं० पूजना + मान] पूज्य। पूजनीय।

पूजयिता—संज्ञा पुं० [सं० पूजयितृ] पूजा करनेवाला। पूजक।

पूजा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ईश्वर या किसी देवी देवता के प्रति श्रद्धा, सम्मान, विनय और समर्पण का भाव प्रकट करनेवाला कार्य। अर्चना। आराधन। (२) वह धार्मिक कृत्य जो छल, फूल, फल, अन्न अथवा इसी प्रकार के

और पदार्थ किसी देवी देवता पर चढ़ा कर या उसके निमित्त रख कर किया जाता है। आराधन। अर्चा।

विशेष—पूजा संसार की प्रायः सभी आस्तिक और धार्मिक जातियों में किसी न किसी रूप में हुआ करती है। हिंदू लोग ज्ञान और शिक्षा बंदन आदि करके बहुत पवित्रता से पूजा करते हैं। इसके पंचोपचार दशोपचार और षोडशोपचार ये तीन भेद माने जाते हैं। गंध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य से जो पूजा की जाती है उसे पंचोपचार; जिसमें इन पाँचों के अतिरिक्त पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, मधुपर्क और आचमन भी हो वह दशोपचार, और जिसमें इन सब के अतिरिक्त आसन, स्वागत, स्नान, वसन, आभरण और वंदना भी हो वह षोडशोपचार कहलाती है। इसके अतिरिक्त कुछ लोग विशेषतः तांत्रिक आदि १८, ३६ और ६४ उपचारों से भी पूजा करते हैं। पूजा के सात्विक, राजसिक और तामसिक ये तीन भेद भी माने जाते हैं। जो पूजा निष्काम भाव से, बिना किसी आडंबर के और सच्ची भक्ति से की जाती है वह सात्विक; जो सकाम भाव और समारोह से की जाय वह राजसिक; और जो बिना विधि, उपचार और भक्ति के केवल लोगों को दिखाने के लिये की जाय वह तामसिक कहलाती है। पूजा के नित्य, नैमित्तिक और काम्य ये तीन और भेद माने जाते हैं। शिव, गणेश, राम, कृष्ण आदि की जो पूजा प्रति दिन की जाती है वह नित्य, जो पूजा पुत्र-जन्म आदि विशिष्ट अवसरों पर विशिष्ट कारणों से की जाती है वह नैमित्तिक और जो पूजा किसी अभीष्ट की सिद्धि के उद्देश्य से की जाती है वह काम्य कहलाती है।

(३) आदर स्तुकार। खातिर। आव भगत।

यौ०—पूजा प्रतिष्ठा।

(४) किसीको प्रसन्न करने के लिये कुछ देना। जैसे, पुलिस की पूजा करना, कचहरी के अमलों की पूजा करना। (५) तिरस्कार। दंड। ताड़ना। प्रहार। कुटाई। जैसे, जब तक इस लड़के की अच्छी तरह पूजा न होगी तब तक यह नहीं मानेगा।

पूजाधार—संज्ञा पुं० [सं०] पूजा की आधाररूप वस्तुएँ। देवपूजा में विधेय वस्तुएँ। जल, विष्णुचक्र, मंत्र, प्रतिमा, शालग्राम शिलादि।

पूजार्ह—वि० [सं०] पूजायोग्य। पूजनीय।

पूजित—वि० [सं०] [स्त्री० पूजिता] जिसकी पूजा की गई हो। प्राप्तपूजा। आराधित। अर्चित।

पूजितव्य—वि० [सं०] पूजा करने योग्य। पूजनीय।

पूजिल—संज्ञा पुं० [सं०] देवता।

वि० पूजनीय। पूजा योग्य।

पूज्य-वि० [सं०] [स्त्री० पूज्या] (१) पूजा योग्य । पूजनीय ।
(२) आदर योग्य । माननीय ।

संज्ञा पुं० ससुर । रसुर ।

पूज्यता-संज्ञा स्त्री० [सं०] पूज्य होने का भाव । पूजायोग्य होना । पूजनीयता ।

पूज्यपाद-वि० [सं०] जिसके पैर पूजनीय हों । अत्यंत पूज्य ।
परमाराध्य । अत्यंत मान्य ।

पूज्यमान-वि० [सं०] जिसकी पूजा की जा रही हो । पूजा जाता हुआ । सेव्यमान ।

संज्ञा पुं० सफेद जीरा ।

पूटरी-संज्ञा स्त्री० [देश०] ईस्त्र के रस की वह अवस्था जो उसके खाँड़ बनने से पहले होती है ।

पूटीन-संज्ञा स्त्री० दे० 'पुटीन' ।

पूठा-संज्ञा पुं० दे० 'पुठ्ठा' ।

पूठा-संज्ञा पुं० दे० 'पुठ्ठा' ।

पूठि*-संज्ञा स्त्री० [सं० पुठ्] पीठ । उ०—देखा देखी पकरिया गई छिनक के छूटि । कोई बिरला जन उहरे जाकी ठकोरी पूठि ।—कबीर ।

पूड़ा-संज्ञा पुं० दे० 'पूया' ।

पूड़ी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पूरी] (१) तबले या मृदंग पर मढ़ा हुआ गोल चमड़ा । (२) दे० 'पूरी' ।

पूरु-संज्ञा पुं० [हिं०] पथर ।

† संज्ञा स्त्री० [सं० पूर्णिमा] पूर्णिमा । पूर्णमासी ।

पूत-वि० [सं०] पवित्र । शुद्ध । शुचि ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) सत्य । (२) शंख । (३) सफेद कुश । (४) पलास । (५) तिल का पेड़ । (६) वह अन्न जिसकी भूसी निकाल दी गई हो । (७) जलाशय ।

संज्ञा पुं० [सं० पुत्र, प्रा० पुत्] बेटा । लड़का । पुत्र ।

संज्ञा पुं० [देश०] चूल्हे के दोनों किनारों और बीच के वे लुकीले उभार जिनके सहारे पर तवा या और वस्तु रखते हैं ।

पूतकृता-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वैदिक ऋषि की स्त्री का नाम ।

पूतकृतायी-संज्ञा स्त्री० [सं०] इंद्रपत्नी । शची । इंद्राणी ।

पूतकृतु-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र ।

पूतगंध-संज्ञा पुं० [सं०] काली बर्बरी तुलसी । बर्बर ।

पूतड़ा-संज्ञा पुं० [हिं० पूत + डा (प्रत्य०)] वह छोटा बिड़ौना जो बच्चों के नीचे इसलिये बिछाया जाता है कि बड़ा बिड़ौना मल मूत्रादि से बचा रहे ।

मुहा०-पूतड़ों के अमीर = जन्म के अमीर । पैदाइशी धनी या रईस । खानदानी या पुरतौनी अमीर ।

पूतनृण-संज्ञा पुं० [सं०] सफेद कुश ।

पूतदारु-संज्ञा पुं० [सं०] पलास । ढाक ।

पूतदु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ढाक । पलास । (२) खदिर । खैर का पेड़ । (३) देवदार ।

पूतधान्य-संज्ञा पुं० [सं०] तिल ।

पूतन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वैद्यक के अनुसार गुदा में होने वाला एक प्रकार का रोग । (२) बेताल ।

पूतना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक दानवी जो कंस के भेजने से बालक श्रीकृष्ण के मारने के लिये गोकुल आई थी । इसने अपने स्तनों पर इसलिये विष लगा लिया था कि श्रीकृष्ण दूध पीकर उसके प्रभाव से मर जायँ । परंतु कथा है कि श्रीकृष्ण पर विष का तो कुछ प्रभाव न पड़ा उल्टे उन्होंने इसका सारा रक्त चूसकर इसीसे मार डाला । यह भी कथा है कि मरने के समय इसने बहुत अधिक लंबा चौड़ा शरीर धारण कर लिया था और जितनी दूर में वह गिरी उतनी दूर की जमीन धँस गई थी । (२) सुश्रुत के अनुसार एक बाल ग्रह या बाल रोग जिसमें बच्चे को दिन रात में कभी अच्छी नींद नहीं आती । पतले और मैले रंग के दस्त होते रहते हैं । शरीर से कौवे की सी गंध आती है, बहुत प्यास लगती और कै होती है तथा रोंगटे खड़े रहते हैं । (३) कार्तिकेय की एक मातृका का नाम । (४) एक योगी का नाम । (५) पीली हड़ । (६) गंधमासी । सुगंध जटामासी ।

पूतनारि-संज्ञा पुं० [सं०] पूतना को मारनेवाले, श्रीकृष्ण ।

पूतनासूदन-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण ।

पूतनाहड़-संज्ञा स्त्री० [सं० पूतना + हिं० हड़] छोटी हड़ ।

पूतनिका-संज्ञा स्त्री० दे० 'पूतना (२)' ।

पूतफल-संज्ञा पुं० [सं०] कटहल । पनस ।

पूतभूत-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक वस्तु जिसमें सोमरस रखा जाता था ।

पूतमति-वि० [सं०] जितकी बुद्धि पवित्र हो । शुद्धचित्त । पवित्र अंतःकरणवाला ।

संज्ञा पुं० शिव का एक नाम ।

पूतरा-संज्ञा पुं० दे० 'पुतरा' ।

संज्ञा पुं० [सं० पुत्र] पुत्र । लड़का । बाल-बच्चा । उ०—हम पहले से भी सुआ, हम भी चलनेहार । हमरे पाछे पूतरा तिन भी बाँधा भार ।—कबीर ।

पूतरी-संज्ञा स्त्री० दे० 'पुतली' ।

पूता-संज्ञा स्त्री० [सं०] दूब ।

वि० स्त्री० पवित्र । शुद्ध ।

पूतात्मा-संज्ञा पुं० [सं० पूतात्मन्] (१) जिसकी आत्मा पवित्र हो । पवित्र चित्त । शुद्ध अंतःकरण का । (२) विष्णु ।

पूति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पवित्रता । शुचिता । (२) दुर्गंध । बदबू । (३) गंधमाजरी । मुश्क बिलाव । (४) रोहिप सोधिया । रोहिप तृण ।

पूतिकंदक-संज्ञा पुं० [सं०] हिंगोट ।

पूतिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दुर्गंध करंज । कांटा करंज ।

पूति करंज । (२) विष्टा । पाखाना । गू ।

वि० दुर्गंधयुक्त । बदबूदार ।

पूतिकन्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुदीना ।

पूतिकर्ण, पूतिकर्णक-संज्ञा पुं० [सं०] कान का एक रोग जिसमें भीतर फुंसी या रक्त होने के कारण बदबूदार पीप निकलने लगती है ।

पूतिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पोई का साग । (२) एक प्रकार की शहद की मक्खी । (३) बिल्ली ।

पूतिकामुख-संज्ञा पुं० [सं०] घोंघा । शंवक ।

पूतिकाष्ट, पूतिकाष्टक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) देवदार । (२) धूपल । सरल वृक्ष ।

पूतिकाह-संज्ञा पुं० [सं०] दुर्गंध करंज । पूति करंज ।

पूतिकोट-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की शहद की मक्खी । पूतिका ।

पूतिकेशर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नागकेशर । (२) मुश्क बिलाव । गंधमार्जार ।

पूतिकेशवतीर्थ-संज्ञा पुं० [सं०] शिवपुराण में वर्णित एक तीर्थस्थान ।

पूतिगंध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रांगा । (२) हिंगोट वा गोंदी । इंगुदी । (३) गंधक । (४) दुर्गंध । बदबू ।

पूतिगंधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] बकुची । बावची । सोमराजी ।

पूतिगंधि, पूतिगंधिक-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गंध । बदबू ।

पूतिगंधिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बावची । बकुची । (२) पोय । पूतिका-शाक ।

पूतिघास-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत में वर्णित मृग की जाति का एक जंतु ।

पूतिदला-संज्ञा स्त्री० [सं०] तेजपत्ता ।

पूतिनस्य-संज्ञा पुं० [सं०] वह रोग जिसमें श्वास अथवा नाक और मुँह से दुर्गंध निकलती है । सुश्रुत के मत से इस रोग का कारण गले और तालुमूल में दोषों का संघट्ट होकर वायु को पूतिभावयुक्त या दुर्गंधित कर देता है ।

पूतिनासिक-वि० [सं०] जिसे पूतिनस्य रोग हुआ हो । जिसके नाक या श्वास से दुर्गंध निकलती हो । पूतिनस्य रोगी ।

पूतिपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सोनापाठा । (२) पीला लोघ । पीतलोघ ।

पूतिपत्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] पसरन । प्रसारिणी लता ।

पूतिपर्ण, पूतिपर्णक-संज्ञा पुं० [सं०] दुर्गंध करंज । पूति करंज ।

पूतिपल्लवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ा करेला ।

पूतिपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] गोंदी । इंगुदी वृक्ष ।

पूतिपुष्पिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] चकोतरा नीव ।

पूतिफल-संज्ञा पुं० [सं०] बावची । बकुची । सोमराजी ।

पूतिफला, पूतिफली-संज्ञा स्त्री० [सं०] बावची ।

पूतिमज्जा-संज्ञा स्त्री० [सं०] गोंदी । इंगुदी वृक्ष ।

पूतिमथूरिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बर्बरी । (२) बनतुलसी ।

पूतिमाखत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) छोटी बेर का पेड़ । (२) बेल का पेड़ ।

पूतिमाष-संज्ञा पुं० [सं०] एक गोत्रप्रवर्तक ऋषि ।

पूतिमृषिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] छुईंदर ।

पूतिमृत्तिक-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार इक्ष्वाकुस नरकों में से एक नरक का नाम ।

पूतिमेद-संज्ञा पुं० [सं०] दुर्गंध खैर । अरिमेद ।

पूतिमुद्गला-संज्ञा स्त्री० [सं०] रोहिष सोधिया । रोहिष वृक्ष ।

पूतियोनि-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का योनिरोग । दे० "योनिरोग" ।

पूतिरक्त-संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें नाक में से दुर्गंधयुक्त रक्त निकलता है ।

पूतिरज्जु-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक लता ।

पूतिवर्बरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] बनतुलसी । जंगली तुलसी । काली बर्बरी ।

पूतिवात-संज्ञा पुं० [सं०] बेल का पेड़ ।

पूतिवृक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] सोनापाठा । श्योनाक वृक्ष ।

पूतिशाक-संज्ञा पुं० [सं०] अगस्त । बकवृक्ष ।

पूतिशारिजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] बनबिलाव ।

पूतिस्त्रुंजय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्राचीन जनपद या देश । (२) उक्त देश के निवासी ।

पूती-संज्ञा स्त्री० [सं०] पोत = गट्टा । (१) जड़ जो गाँठ के रूप में हो । (२) जहसुन की गाँठ ।

पूतीक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दुर्गंध या काँटा करंज । (२) गंध-मार्जार । बिलाव ।

पूतीकरंज-संज्ञा पुं० [सं०] काँटा करंज ।

पूतीका-संज्ञा स्त्री० [सं०] पोय । पोई । पूतिका शाक ।

पूतकारी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सरस्वती देवी का एक नाम । (२) नागों की राजधानी । दे० "पूतकारी" ।

पूत्यंड-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह हिरन जिसकी नाभि से कस्तूरी निकलती है । (२) एक बदबूदार कीड़ा । गंधकीट ।

पूजित-वि० [सं०] पूजन किया हुआ ।

पूथ, पूथा-संज्ञा पुं० [देश०] बालू का ऊँचा टीला या ढूह ।

पूथिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] पूतिका शाक । पोई का साग ।

पूदना-संज्ञा पुं० [देश०] एक पत्ती जो उत्तरी भारत में पाया जाता है । इसका रंग प्रायः भूरा होता है, परंतु ऋतुभेद के अनुसार कुछ कुछ बदलता रहता है । इसका शरीर प्रायः ७ इंच लंबा होता है । यह जमीन पर चला करता है

और घास का घोंसला बना कर रहता है।

संज्ञा पुं० दे० “पुदीना”।

पून-संज्ञा पुं० [देश०] (१) जंगली बादाम का पेड़ जो भारत के पश्चिमी किनारों पर होता है। इसके फूल और पत्तियाँ दवा के काम आती हैं और फल में से तेल निकाला जाता है। इस वृक्ष में एक प्रकार का गोंद निकलता है। (२) कलपून नामक वृक्ष जिसकी लकड़ी इमारत बनाने के काम में आती है। इसके बीजों से एक प्रकार का तेल निकलता है। (३) तलवार की मुठिया का नीचेवाला सिरा। संज्ञा पुं० दे० “पुण्य”।

संज्ञा पुं० दे० “पूर्ण”। उ०—तैसाइ लहंगा बन्यो सिल-सिलो पूर्णमासी की पूनरी।—नंददास।

पूनच-संज्ञा स्त्री० दे० “पूनी” या “पूर्णमा”।

पूनसलाई-संज्ञा स्त्री० [हिं० पूनी + सलाई] वह पतली लकड़ी जिसपर रूई की पूनियाँ कातने के लिए बनाते हैं।

पूनना-संज्ञा पुं० [देश०] (१) कलपून या पून नाम का सदा-बहार पेड़। (२) एक प्रकार की ईख।

पूनाक-संज्ञा स्त्री० [देश०] तेलहन में की बची हुई सीधी। खली।

पूनिउँ-संज्ञा स्त्री० दे० “पूनी”।

पूनी-संज्ञा स्त्री० [सं० पिजिका] धुनी हुई रूई की वह बत्ती जो चरखे पर सूत कातने के लिये तैयार की जाती है।

पूनी-संज्ञा स्त्री० [सं० पूर्णिमा] पूर्णिमा। पूर्णमासी। शुक्ल पक्ष की पंद्रहवीं या चांद्रमास की अंतिम तिथि।

पून्यो-संज्ञा स्त्री० दे० “पूनी”।

पूप-संज्ञा पुं० [सं०] पूआ या मालपूआ नाम का मीठा पकवान।

पूपला, पूपली-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का मीठा पकवान।

पूपली-संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) पोली नली। (२) बच्चों के खेलने का काठ का बहुत छोटा खिलौना जो छोटी डंडी के आकार का होता है और जिसके दोनों सिरों कुल मोटे होते हैं। (३) बाँस आदि में से काटी हुई वह छोटी खोखली नली जिसमें देसी पंखों की डंडी का अंतिम भाग फँसाया रहता है और जिसके सहारे पंखा सहज में चारों ओर घूमा करता है।

पूपशाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्थान जहाँ पूप आदि पकवान रहते हों।

पूपाली-संज्ञा स्त्री० [सं०] पूप। मालपूआ।

पूपाष्टका-संज्ञा स्त्री० [सं०] पूस के कृष्णपक्ष की अष्टमी। तिथितत्व के अनुसार इस दिन मालपूप से श्राद्ध किया जाना चाहिए।

पूपिक-संज्ञा पुं० [सं०] पूआ, पूरी आदि पकवान।

पूप-संज्ञा पुं० [सं०] पीप। मवाद।

पूपउडश-संज्ञा पुं० [देश०] भोजपत्र की जाति का एक वृक्ष जो खसिया पहाड़ी और बरमा में होता है। इसकी छाल मनीपुर आदि के जंगली लोग खाते हैं और पानी के बड़े बड़े पर इसकी मजबूती के लिये लपेटते हैं।

पूपका-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्रेतयोनि जिसमें मरने के उपरांत वे वैश्य जाते हैं जो अपने धर्म से च्युत होते हैं। कहते हैं कि ऐसे प्रेतों का आहार पीप है।

पूपकुंड-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक नरक का नाम।

पूपप्रमेह-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का रोग जिसमें पीप के समान मूत्र होता है, अथवा जिसमें मूत्र में से पीप के समान दुर्गंध आती है।

पूपरक्त-संज्ञा पुं० [सं०] नाक का एक रोग जिसमें रक्तपित्त की अधिकता अथवा माथे पर चोट आने के कारण नाक में से पीप मिला हुआ लहू निकलता है।

पूपवाह-संज्ञा पुं० [सं०] एक नरक का नाम।

पूपस्त्राव-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार आँखों का वह रोग जिसमें उसका संधिस्थान पक जाता है और उससे पीप बहने लगती है।

पूपारि-संज्ञा पुं० [सं०] नीम। निंब।

पूपालस, पूपालसक-संज्ञा पुं० [सं०] आँखों का एक रोग जिसमें उसकी पुतली की संधि में शोथ होने के कारण वह स्थान पक जाता है और उसमें से दुर्गंधयुक्त पीप निकलती है।

पूपोद-संज्ञा पुं० [सं०] एक नरक का नाम।

पूर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दाह अगर। दाहागुरु। (२) बाढ़।

(३) घाव। पूरा होना या भरना। व्रणसंशुद्धि। (४)

प्राणायाम में पूरक की क्रिया। दे० “पूरक”।

वि० [सं० पूर्ण] (१) दे० “पूर्ण”। (२) वे मसाले या दूसरे पदार्थ जो किसी पकवान के भीतर भरे जाते हैं। जैसे, समोसे का पूर।

पूरक-वि० [सं०] पूरा करनेवाला। जिससे किसीकी पूर्ति हो।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राणायाम विधि के तीन भागों में से पहला भाग जिसमें श्वास को नाक से खींचते हुए भीतर की ओर ले जाते हैं। योगविधि से नाक के दाहिने नथने को बंद करके बाएँ नथने से श्वास को भीतर की ओर खींचना। (२) बिजौरा नीबू। (३) वे दस पिंड जो हिंदुओं में, किसीके मरने पर उसके मरने की तिथि से दसवें दिन तक नित्य दिए जाते हैं। कहते हैं कि जब शरीर जल जाता है तब इन्हीं पिंडों से मृत व्यक्ति के शरीर की पूर्ति होती है और इसीलिये इन्हें पूरक कहते

हैं। पहले पिंड से मस्तक, दूसरे से आंखें, नाक और कान, तीसरे से गला, चौथे से बांहें और छाती इसी प्रकार अलग अलग पिंडों से अलग अलग अंगों का बनना माना जाता है। (३) वह अंक जिसके द्वारा गुणा किया जाता है। गुणक अंक।

पूरण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भरने की क्रिया। परिपूर्ण करने की क्रिया। (२) पूरा करने की क्रिया। समाप्त या समाप्त करना। (३) कान आदि में तेल आदि भरने की क्रिया। (४) अंकों का गुणा करना। अंक-गुणन। (५) पूरक-पिंड। दशाहपिंड। (६) मेह। वृष्टि। (७) केवटी। मोथा। (८) सेतु। पुल। (९) एक प्रकार का व्रण या फोड़ा जो वात के प्रकोप से होता है। (१०) समुद्र। (११) पुनर्नवा। गदहपूरन।

वि० [सं०] पूरक। पूरा करनेवाला।

पूरणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] सेमर। शाहमली वृक्ष।

पूरणीय-वि० [सं०] भरने योग्य। परिपूर्ण करने योग्य।

पूरन*-वि० दे० “पूर्ण”।

पूरनकाम*-वि० दे० “पूर्णकाम”।

पूरनपरब*-संज्ञा पुं० [सं० पूर्णपर्व] पूर्णमासी। उ०—
दशरथ पूरन-परब-बिधु उदित समय संजोग। जनकनगर
सर, कुमुदगण तुलसी प्रमुदित लोग। —तुलसी।

पूरनपूरी-संज्ञा स्त्री० [सं० पूर्ण + हिं० पूरे] एक प्रकार की मीठी कचौड़ी।

पूरनमासी-संज्ञा स्त्री० दे० “पूर्णमासी”।

पूरना†-क्रि० सं० [सं० पूरण] (१) कमी या त्रुटि को पूरा करना। किसी खाली जगह को भरना। पूर्ति करना। (२) ढाँकना। किसी वस्तु को किसी वस्तु से आच्छादित कर देना। उ०—कूह कै कै कर मारै मही लखि कुंभन वारन छारन पूरत। —शंभु। (३) (मनोरथ) सफल करना। सिद्ध करना। (मनोरथ) पूर्ण करना। उ०—
सिद्ध गणेश मनावहिं विधि पूरै मन काज। —जायसी। (४) मंगल अवसरों पर आटे, अबीर आदि से देवताओं के पूजन आदि के लिये चौखूँटे चित्र आदि बनाना। चौक बनाना। जैसे, चौक पूरना। उ०—साजा पाट छत्र के छाँहाँ। रतन चौक पूरी तेहि माहाँ। —जायसी। (५) बटना। जैसे, सेंवई पूरना, तागा पूरना। (६) फूँकना। बजाना। उ०—(क) तेहिं वियोग सिंगी नित पूरी। बार बार किंगरी भइ भूरी। —जायसी। (ख) किंगरी गहे बजावै भूरी। भोर साँक सिंगी नित पूरी। —जायसी।

क्रि० अ० पूर्ण होना। भर जाना। व्याप्त हो जाना।

उ०—परगट गुपुत सकल महँ पूरि रहा सो नाउँ। जहँ देखो वह देखो दूसर नहिं कर जाउँ। —जायसी।

पूरव-संज्ञा पुं० [सं० पूर्व] वह दिशा जिसमें सूर्य का उदय होता है। मध्याह्न से पहले सूर्य की ओर मुहँ करने पर सामने पड़नेवाली दिशा। पच्छिम के विरुद्ध दिशा। पूर्व। प्राची।

*† वि० दे० “पूर्व”।

*† क्रि० वि० दे० “पूर्व”।

पूरवल*-संज्ञा पुं० [हिं० पूरवा] (१) प्राचीन समय। पुराना जमाना। (२) पूर्वजन्म। इस जन्म से पहलेवाला जन्म।

पूरवला*-वि० पुं० [सं० पूर्व, हिं० ला (प्रत्य०)] [स्त्री० पूरवली] (१) प्राचीन काल का। पुराना। (२) पूर्व-जन्म का। पहले जन्म का। उ०—(क) कछु करनी कछु करम गति कछु पूरवला लेख। देखो भाग कबीर का दोसत किया अलेख। —कबीर। (ख) भौरै भूली खसम को कबहु न किया विचार। सतगुरु साहेब बताइया पूरवला भारतार। —कबीर। (ग) मेरो सुरुप नहीं यह व्याधि है पूरवली अँग के संग जागै। का मैं कहौं घर बाहर होत ही लागत दीठि विलंब न लागै। —रघुनाथ।

पूरविया†-संज्ञा पुं० दे० “पूरबी”।

पूरबी-वि० [हिं० पूरव + ई (प्रत्य०)] पूरव का। पूरवसंबंधी। जैसे, पूरबी दादरा, पूरबी हिंदी, पूरबी चावल आदि। वि० दे० “पूर्बी”।

संज्ञा पुं० एक प्रकार का दादरा जो बिहारी भाषा में होता है और बिहार प्रांत में गाया जाता है।

संज्ञा स्त्री० पूर्वी नाम की रागिनी। विशेष—दे० “पूर्वी”।

पूरयिता-संज्ञा पुं० [सं० पूरयित] (१) पूर्णकर्ता। पूरक। पूर्ण करनेवाला। (२) विष्णु का एक नाम।

पूरयितव्य-वि० [सं०] पूरा करने के योग्य। पूरणीय।

पूरा-वि० पुं० [सं० पूर्ण] [स्त्री० पूरी] (१) जो खाली न हो। भरा। परिपूर्ण। (२) जिसका अंश या विभाग न किया गया हो अथवा जिसके टुकड़े या विभाग न हुए हों। समूचा। सोलह आना। समग्र। समस्त। सकल। (३) जिसमें कोई कमी या कसर न रह गई हो। पूर्ण। कामिल। जैसे, पूरा मर्द, पूरा अधिकार, पूरा दबाव आदि।

क्रि० प्र०—पड़ना। —उतरना। —डालना। होना।

(४) भरपूर। यथेच्छ। काफी। बहुत। जैसे, मेरे पास पूरा सामान है, डरने की कोई बात नहीं।

मुहा०—किसी बात का पूरा = (१) जिसके पास कोई वस्तु यथेष्ट या प्रचुर हो। जैसे, विद्या का पूरा, बल का पूरा। (२) पक्का। दृढ़। मजबूत। अटल। जैसे, बात का पूरा, वादे का पूरा। किसीका पूरा पड़ना = कार्य पूर्ण हो जाना। सामग्री न घटना। सामग्री की कमी से बाधा न आना। उ०—

(क) में समझता हूँ कि इतनी सामग्री से तुम्हारा सब काम पूरा पड़ जायगा। (ख) जाओ, तुम्हारा कभी पूरा न पड़ेगा।

(५) संपन्न। पूर्ण। संपादित। कृत। जिसके किए जाने में कुछ कसर न रह गई हो। जैसे, काम पूरा होना। (इसका व्यवहार प्रायः “करना” क्रिया के साथ होता है)।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

मुहा०—(कोई काम) पूरा उतरना = अच्छी तरह होना। जैसा चाहिये वैसा ही होना। जैसे, काम पूरा उतर जाय तो जानें।

बात पूरी उतरना = ठीक निकलना। सत्य उतरना। सच होना। जैसा कहा गया हो वैसा ही होना। दिन पूरे करना = (१) समय बिताना। किसी प्रकार कालचेप करना। (२) किसी अवधि तक समय बिताना। जैसे, बनवास के दिन पूरे करना। (दिन) पूरे होना = अंतिम समय निकट आना। जैसे, अद्य उनके दिन पूरे हो गए।

(६) तुष्ट। पूर्ण। जैसे, हमारी इच्छाएँ पूरी हो गईं।

पूरामल—संज्ञा पुं० [सं०] विपाविल। वृचामल। महामल।

पूरिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] कचौड़ी।

पूरित—वि० [सं०] (१) भरा हुआ। परिपूर्ण। लबालब। (२) वृत्त। (३) गुणा किया हुआ। गुणित।

पूरिया—संज्ञा पुं० [देश०] पाड़व जाति का एक राग जो संध्या समय गाया जाता है। इसमें पंचम स्वर वर्जित है। किसी के मत से यह भैरव राग का पुत्र और किसी के मत से संकर राग है।

पूरियाकल्याण—संज्ञा पुं० [हिं पूरिया + कल्याण (राग)] संपूर्ण जाति का एक संकर राग जिसके गाने का समय रात का पहला पहर है।

पूरी—संज्ञा स्त्री० [सं० पूरिका] (१) एक प्रकार का प्रसिद्ध पकवान जिसे साधारण रोटी आदि की तरह बेलकर खोलते घी में छान लेते हैं। (२) सृदंग, तबले, ढोल आदि के मुँह पर मड़ा हुआ गोळ चमड़ा।

क्रि० प्र०—चढ़ना।—चढ़ाना।—मढ़ना।

वि० स्त्री० “पूरा” शब्द का स्त्रीलिंग रूप। (मुहावरों आदि के लिये दे० “पूरा”)।

पूरु—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मनुष्य। (२) वैराज मनु के एक पुत्र का नाम। (३) जहू के एक पुत्र का नाम। (४) एक राक्षस का नाम।

पूरुजित—संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु का एक नाम।

पूरुब—संज्ञा पुं० दे० “पूरव”।

पूरुष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुरुष। (२) आत्मा।

पूर्ण—वि० [सं०] (१) पूरा। भरा हुआ। परिपूर्ण। पूरित। (२) जिसे कोई इच्छा या अपेक्षा न हो। अभावशून्य।

(३) जिसकी इच्छा पूर्ण हो गई हो। आसकाम। परितृप्त। (४) भरपूर। जितना चाहिए उतना। यथेष्ट। काफी। (५) समूचा। अखंडित। सकल। (६) समस्त। सारा। सबका सब। (७) सिद्ध। सफल। (८) जो पूरा हो चुका हो। समाप्त। जैसे, इसका दंडकाज पूर्ण हो गया।

संज्ञा पुं० (१) एक गंधर्व का नाम। (२) एक नाग का नाम। (३) बौद्ध शास्त्र के अनुसार सैत्रायणी के एक पुत्र का नाम। (४) जल। (५) विष्णु।

पूर्ण-अतीत—संज्ञा पुं० [सं०] ताल (संगीत) में वह स्थान जो “सम अतीत” के एक मात्रा के बाद आता है। यह स्थान भी कभी कभी सम का काम देता है।

पूर्णक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) भुर्गा। कुक्कुट। ताम्रचूड़। (२) देवताओं की एक योनि। (३) दे० “पूर्ण”।

पूर्णकाम—वि० [सं०] (१) जिसे किसी बात की कामना या चाह न रह गई हो। जिसकी सारी इच्छाएँ तृप्त हो चुकी हों। आसकाम। (२) निष्काम। कामनाशून्य।

संज्ञा पुं० परमेश्वर।

पूर्णकाश्यप—संज्ञा पुं० [सं०] बौद्ध शास्त्रों के अनुसार एक प्रसिद्ध तीर्थिक। भगवान् बुद्ध ने जिन छः तीर्थिकों को पराजित किया था उनमें एक ये भी थे। बुद्ध से पहले ही इन्होंने अपने मत का प्रचार आरंभ कर दिया था और बहुत से लोग उनके अनुयायी हो गए थे। साधारण लोगों से लेकर सम्राट के राजा तक इनपर भक्ति और श्रद्धा रखते थे। शूदान में मिले हुए एक बौद्ध ग्रंथ के अनुसार ये उपर्युक्त छः तीर्थिकों में प्रधान थे। ये कोई कपड़ा नहीं पहनते थे, नंगे बदन घूमा करते थे। ये कहते थे, जगत् अनंत भी है और सांत भी, अक्षय भी है, क्षयशील भी, असीम भी है और ससीम भी, चित्त और देह भिन्न भी हैं और अभिन्न भी। परलोक का अस्तित्व और अनस्तित्व दोनों ही हैं। परजन्म नहीं है, इस जन्म में ही जीव का शेष, ध्वंस या मृत्यु होती है। मरने के बाद फिर जन्म नहीं होता। शरीर चार भूतों ही से—चित्ति, अप, तेज और मस्त—से बना है। मृत्यु के पश्चात् वह क्रम से पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु में मिल जाता है। उनके मत से यही परमत्व था। बुद्ध से पराजित होने का इन्हें इतना दुःख हुआ था कि ये गले में बालू से भरा चड़ा बाँधकर डूब मरे। आदस्ती और जेतवन में बुद्ध के साथ इनकी मूर्ति भी पाई गई है।

पूर्णकोशा—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की लता।

पूर्णकोषा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कचौरी। (२) प्राचीन काल का एक प्रकार का पकवान जो जौ के आटे का बनता था।

पूर्णकोश—संज्ञा स्त्री० [सं०] नागरमोक्ष ।

पूर्णगर्भा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पूरा पूरी । (२) वह स्त्री जिसे शीघ्र प्रसव होने की संभावना हो । वह स्त्री जिसे शीघ्र ही संतान होनेवाली हो ।

पूर्णचंद्र—संज्ञा पुं० [सं०] पूर्णिमा का चंद्रमा । अपनी सब कलाओं से युक्त चंद्रमा ।

पूर्णतया—क्रि० वि० [सं०] पूरी तरह से । पूर्णरूप से ।

पूर्णतः—क्रि० वि० [सं०] पूरे तौर से । पूर्णतया ।

पूर्णता—संज्ञा स्त्री० [सं०] पूर्ण का भाव । पूर्ण होना ।

पूर्णद्वय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक वैदिक क्रिया । (२) पूर्णिमा ।

पूर्णपरिवर्तक—संज्ञा पुं० [सं०] वह जीव जो अपने जीवन में अनेक बार अपना रूप आदि बदलता हो, जैसे, तितली ।

पूर्णपर्वदु—संज्ञा पुं० [सं०] पूर्णिमा । पूर्णमासी ।

पूर्णपात्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुत्रजन्मादि के उत्सव के समय पारितोषिक या इनाम के रूप में मिले हुए वस्त्र, अलंकार आदि । (२) वह बड़ा जो प्राचीन काल में चावलों से भरकर होम या यज्ञ के अंत में ब्रह्मा को दक्षिणा रूप में दिया जाता था । इसमें साधारणतः २५६ मुट्ठी चावल हुआ करता था ।

पूर्णप्रज्ञ—वि० [सं०] जिसकी बुद्धि में कोई कमी या त्रुटि न हो । पूर्णज्ञानी । बहुत बुद्धिमान् ।

संज्ञा पुं० पूर्णप्रज्ञदर्शन के कर्ता मध्वाचार्य । ये वैष्णव मत के संस्थापक आचार्यों में माने जाते हैं । वेदांतसूत्र पर इन्होंने 'माध्वभाष्य' नामक द्वैतपक्षप्रतिपादक भाष्य लिखा है । हनुमान और भीम के बाद ये वायु के तीसरे अवतार माने गए हैं । अपने भाष्य में इन्होंने स्वयं भी यह बात लिखी है । इनका एक नाम आनंदतीर्थ भी है ।

पूर्णप्रज्ञदर्शन—संज्ञा पुं० [सं०] (सर्वदर्शनसंग्रह के अनुसार) वह दर्शन जिसके प्रवर्तक पूर्णप्रज्ञ या मध्वाचार्य हैं । इस दर्शन का आधार वेदांतसूत्र और उसपर रामानुज कृत भाष्य है । इसके अधिकतर सिद्धांत रामानुज-दर्शन के सिद्धांतों से मिलते हैं । दोनों का मुख्य अंतर ईश्वर और जीव के भेदाभेद के विषय में है । इस संबंध में रामानुज-दर्शन का भेद, अभेद और भेदाभेद सिद्धांत इस दर्शन को स्वीकार नहीं है । इसके मत से जीव और ईश्वर में किसी प्रकार का सूक्ष्म या स्थूल अभेद नहीं है, किंतु स्पष्ट भेद है । उनका संबंध शरीरात्म भाव का नहीं है बल्कि सेव्य सेवक भाव का है । अंतर्धामी होने के कारण जीव ईश्वर का शरीर नहीं है, बल्कि उसका सेवक और अधीन है । ईश्वर स्वतंत्रतत्त्व और जीव अस्वतंत्रतत्त्व और ईश्वरायत है । इस दर्शन के मत से पदार्थ के तीन

भेद हैं—चित (जीव), अचित (जड़) और ईश्वर । चित जीवपदवाच्य, भोक्ता, असंकुचित, अपरिच्छिन्न, निर्मलज्ञान स्वरूप, नित्य, अनादि और कर्मरूप अविद्या से ढका हुआ है । ईश्वर का आराधन और उसकी प्राप्ति उसका स्वभाव है । (आकार में) वह बाल की नाक के सौवें भाग के बराबर है । अचित पदार्थ दृश्यपदवाच्य, योग्य, अचेतनस्वरूप और विकारशील हैं । फिर भोग्य, भोगोपकरण और भोगाद्यतन या भोगाधार रूप से इसके भी तीन भेद हैं । ईश्वर हरिपदवाच्य, सब का नियामक, जगत् का कर्ता, उपादान, सकलान्तर्धामी, अपरिच्छिन्न और ज्ञान, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति, तेज आदि गुणों से संपन्न है । इस दर्शन के अनुसार यह निखिल जगत् अनंत ससुदृशाधी भगवान् विष्णु से उत्पन्न हुआ है । चित और अचित संपूर्ण पदार्थ उनके शरीर रूप हैं । पुरुषोत्तम, वासुदेवादि उनकी संज्ञाएँ हैं । उपासकों को यथोचित फल देने के लिये लीलावश वे पाँच प्रकार की मूर्तियाँ धारण करते हैं । प्रथम अर्चा अर्थात् प्रतिमादि, द्वितीय विभव अर्थात् रामादि अवतार, तृतीय वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये चार संज्ञाकाल व्यूह, चतुर्थ सूक्ष्म और संपूर्ण वासुदेव नामक परब्रह्म, पंचम अंतर्धामी सकल जीवों के नियंता । उपासक क्रम से पूर्व मूर्ति की उपासना द्वारा पापचय करके परमूर्ति की उपासना का अधिकारी होता है । अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग नाम से भगवान की उपासना के भी पाँच प्रकार हैं । देवमंदिर का मार्जन, अनुलेपन आदि अभिगमन हैं, गंध-पुष्पादि पूजा के उपकरणों का आयोजन उपादान, पूजा इज्या, अर्थानुसंधान के सहित मंत्रजप, स्तोत्रपाठ, नाम-कीर्तन और तत्त्व प्रतिपादक शास्त्रों का अभ्यास स्वाध्याय और देवता का अनुसंधान योग्य है । इन उपासनाओं के द्वारा ज्ञान लाभ होने पर भगवान उपासक को नित्यपद प्रदान करते हैं । इस पद की प्राप्ति होने पर भगवान का यथार्थ रूप से ज्ञान होता है और फिर जन्म नहीं लेना पड़ता । पूर्णप्रज्ञ के मत से भगवान विष्णु की सेवा तीन प्रकार की है—अंकन, नामकरण और भजन । गरम लोहे से दाग कर शरीर पर शंख, चक्र आदि के चिह्न उत्पन्न करना अंकन है, पुत्र पौत्रादि के केशव नारायण आदि नाम रखना नामकरण । भजन के कायिक, वाचिक और मानसिक भेद से तीन प्रकार हैं । फिर इनके भी कई कई भेद हैं—कायिक के दाज, परित्राण और परिस्नान, वाचिक के सत्य, हित, प्रिय और स्वाध्याय, और मानसिक के दया, स्पृहा और श्रद्धा ।

पूर्वबीज—संज्ञा पुं० [सं०] विजौरा नीबू ।

पूर्णभद्र—संज्ञा पुं० [सं०] एक नाग जिसका उल्लेख महाभारत में है।

पूर्णमा—संज्ञा स्त्री० [सं०] पूर्णिमा। पूर्णमासी।

पूर्णमास—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पूर्णिमा। (२) सूर्य। (३) चंद्रमा।

पूर्णमास—संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राचीन काल का एक याग जो पूर्णिमा को किया जाता था। पूर्णमास याग। (२) धाता का एक पुत्र जो उसकी अनुमति नाम की स्त्री से उत्पन्न हुआ था।

पूर्णमासी—संज्ञा स्त्री० [सं०] चंद्रमास की अंतिम तिथि। शुक्ल-पक्ष का अंतिम या पंद्रहवाँ दिन। वह तिथि जिसमें चंद्रमा अपनी सारी कलाओं से पूर्ण होता है। पूर्णिमा।

पूर्णमुख—संज्ञा पुं० [सं०] एक नाग जो जनमेजय के सर्पसत्र में जलाया गया था।

पूर्णमैत्रायनी पुत्र—संज्ञा पुं० [सं०] बुद्ध भगवान के अनुचरों में से एक। वे पश्चिम भारत के सुरपाक नामक स्थान में रहते थे। सूत्र का अभ्यास करनेवाले बौद्ध इनकी उपासना करते थे।

पूर्णयोग—संज्ञा पुं० [सं०] बाहु युद्ध का एक भेद। भीम और जरासंध में यही बाहुयुद्ध हुआ था।

पूर्णवर्मा—संज्ञा पुं० [सं०] मगध का एक बौद्ध राजा, जो सम्राट अशोक के वंश में अंतिम था। गौड़राज शशांक ने बोधिगया के जिस बोधिवृक्ष को नष्ट कर दिया था उसे इसने फिर से संजीवित किया। ह्वेनसांग के अमणवृत्तांत से ज्ञात होता है कि उसके आगमन के पहले ही यह सिंहासन पर बैठ चुका था।

पूर्णविराम—संज्ञा पुं० [सं०] लिपि प्रणाली में वह चिह्न जो वाक्य के पूर्ण हो जाने पर लगाया जाता है। वाचक के लिये सब से बड़े विराम या ठहराव का चिह्न या संकेत। विशेष—अंग्रेजी आदि अधिकांश लिपियों में, और उन्हीं के अनुकरण पर मराठी आदि में भी, यह चिह्न एक बिंदु “.” के रूप में होता है, परंतु नागरी बंगला आदि में इसके लिये खड़ी पाई “।” का व्यवहार होता है।

पूर्णविषम—संज्ञा पुं० [सं०] ताल (संगीत) में एक स्थान जो कभी कभी सम का काम देता है।

पूर्ण शैल—संज्ञा पुं० [सं०] एक पर्वत जिसका उल्लेख योगिनी तंत्र में है।

पूर्ण होम—संज्ञा पुं० [सं०] पूर्णाहुति।

पूर्णांगद—संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत में उल्लिखित एक नाग।

पूर्णांजलि—वि० [सं०] अंजुलिभर। जितना अंजुली में आ सके।

पूर्णा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पंचमी, दशमी, अमावस और पूर्णमासी की तिथियाँ। (२) दक्षिण भारत की एक नदी।

पूर्णाघात—संज्ञा पुं० [सं०] ताल (संगीत) में वह स्थान जो अनाघात के उपरांत एक मात्रा के बाद आता है। कभी कभी यह स्थान भी सम का काम देता है।

पूर्णानंद—संज्ञा पुं० [सं०] परमेश्वर।

पूर्णाभिषेक—संज्ञा पुं० [सं०] वाममार्गियों का एक तांत्रिक संस्कार जो किसी नष्ट साधक के गुरु द्वारा दीक्षित होने के समय किया जाता है और जो कई दिनों में पूरा होता है। इसमें अनेक क्रियाओं के उपरांत गुरु अपने शिष्य को दीक्षा देकर वाममार्ग की क्रियाओं और संस्कारों का अधिकारी बनाता है। अभिषेक। महाभिषेक।

पूर्णायु—संज्ञा स्त्री० [सं० पूर्णायुस्] (१) सौ वर्ष की आयु। सौ वर्ष तक पहुँचनेवाला जीवनकाल। (२) पूरी आयु। (३) महाभारत में उल्लिखित एक गंधर्व।

वि० पूरी आयुवाला। जिसने पूरी उम्र पाई हो। सौ वर्ष तक जीनेवाला।

पूर्णावतार—संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऐसा अवतार जो अंशावतार न हो। किसी देवता का संपूर्ण कलाओं से युक्त अवतार। षोडश कलायुक्त अवतार। (२) विष्णु के वे अवतार जो अंशावतार नहीं थे।

विशेष—ब्रह्मवैवर्तपुराण के मत से विष्णु भगवान के सोलहों कलायुक्त अवतार नृसिंह, राम और श्रीकृष्ण हैं।

पूर्णाशा—संज्ञा स्त्री० [सं०] महाभारत में उल्लिखित एक नदी।

पूर्णाहुति—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी यज्ञ की अंतिम आहुति। वह आहुति जिसे देकर होम समाप्त करते हैं। होम के अंत में दी जानेवाली आहुति। (२) किसी कर्म की समाप्ति या समाप्ति के समय होनेवाली क्रिया।

पूर्ण—संज्ञा स्त्री० [सं०] पूर्णिमा। पूर्णमासी।

पूर्णिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक चिट्ठिया जिसकी चोंच का दोहरी होना माना जाता है। नासाच्छिन्नी पक्षी।

पूर्णमा—संज्ञा स्त्री० [सं०] पूर्णमासी। वह तिथि जिस दिन चंद्रमा अपने पूरे मंडल के साथ उदय होता है।

पर्यां—पौर्णमासी। पितृया। चांदी। पूर्णमासी। अनंता। चंद्रमाता। निरंजना। ज्योत्स्नी। इंदुमती। सिता। अनुमती। राका।

पूर्णदु—संज्ञा पुं० [सं०] पूर्णिमा का चंद्रमा। पूर्णचंद्र।

पूर्णोत्कट—संज्ञा पुं० [सं०] मार्कंडेय पुराण में उल्लिखित एक पूर्वदेशीय पर्वत।

पूर्णोत्सव—संज्ञा पुं० [सं०] आंध्रवंश का एक राजा।

पूर्णोदरा—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक देवी।

पूर्णोपमा—संज्ञा पुं० [सं०] उपमा अलंकार का वह भेद जिसमें उसके चारों अंग अर्थात्-उपमेय, उपमान, वाचक और धर्म प्रकट रूप से प्रस्तुत हों। जैसे, इंदु सो उदार है

नरेंद्र मारवाड़ को। इसमें 'मारवाड़' को नरेंद्र' उपमेय, 'इंद्र' उपमान, 'लो' वाचक और 'उद्धार' धर्म चारों प्रस्तुत हैं।

पूर्त-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पालन। (२) खोदने अथवा निर्माण करने का कार्य। पुष्करिणी, सभा, बापी, बावजी, देवगृह, आराम (बगीचा), सड़क आदि बनाने का काम। वि० (१) पूरित। (२) ढका हुआ। आच्छादित। वृत्त।

पूर्तविभाग-संज्ञा पुं० [सं० पूर्व + विभाग] वह सरकारी विभाग या सुहकमा जिसका काम सड़क, नहर, पुल, मकान आदि बनवाना है। सामीर का सुहकमा।

पूर्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी आरंभ किए हुए कार्य की समाप्ति। (२) पूर्णता। पूरापन। (३) किसी कार्य में अपेक्षित वस्तु की प्रस्तुति। किसी काम में जो वस्तु चाहिए उसकी कमी को पूरा करने की क्रिया। (४) बापी, क्षृप, या तड़ाग आदि का उत्सर्ग। (५) भरने का भाव। पूरण। (६) गुणा करने का भाव। गुणन।

पूर्त्ति-वि० [सं० पूर्त्तिन्] (१) तृप्ति देनेवाला। (२) इच्छा पूर्णकरनेवाला। (३) पूरित।

संज्ञा पुं० आद्ध।

पूर्व-संज्ञा पुं० दे० "पूर्व"।

वि० दे० "पूर्व"।

पूर्वभक्तिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रातःकाल किया जानेवाला भोजन। जलपान।

पूर्व-वि० [सं०] (१) पूरा करने योग्य अथवा जिसे पूरा करना हो। पूरणीय। (२) पालनीय।

संज्ञा पुं० एक तृणधान्य।

पूर्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह दिशा जिस ओर सूर्य निकलता हुआ दिखलाई देता हो। पश्चिम के सामने की दिशा। (२) जैनमतानुसार सात नील, पाँच खरब, साठ अर्ब वर्ष का एक काल विभाग।

वि० [सं०] (१) पहले का। जो पहले हो या रह चुका हो। (२) आगे का। अगला। (३) पुराना। प्राचीन। (४) पिछला। (५) बड़ा।

क्रि० वि० पहले। पेशतर। जैसे, मैं इसके पूर्व ही पुस्तक दे चुका था।

पूर्वक-संज्ञा पुं० [सं०] पुरषा। बापदादा। पूर्वज।

क्रि० वि० [सं०] साथ। सहित।

विशेष—इस अर्थ में यह शब्द प्रायः संयुक्त संज्ञा के अंत में आता है। जैसे, ध्यानपूर्वक। निश्चयपूर्वक।

पूर्वकर्म-संज्ञा पुं० [सं० पूर्वकर्मन्] सुश्रुत के अनुसार तीन कर्मों में से पहला कर्म। रोगोत्पत्ति के पहले किए जानेवाले काम।

२१७

विशेष—शेष दो कर्म प्रधान कर्म और पश्चात् कर्म हैं।

पूर्वकाय-संज्ञा पुं० [सं०] शरीर का पूर्व भाग। शरीर में नाभि से ऊपर का भाग।

पूर्वकालिक-वि० [सं०] (१) जिसकी उत्पत्ति या जन्म पूर्व-काल में हुआ हो। पूर्वकाल-जात। (२) जिसकी स्थिति पूर्व काल में रही हो या जो पूर्वकाल में किया गया हो। पूर्वकालीन। पूर्वकाल संबंधी।

पूर्वकालिक क्रिया-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह अपूर्ण क्रिया जिसका काल किसी दूसरी पूर्ण क्रिया के पहले पड़ता हो। जैसे, ऐसा करके वह गया।

पूर्वकृत्-संज्ञा पुं० [सं०] पूर्व दिशा के कर्त्ता सूर्य।

पूर्वगंगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] नर्मदा नदी।

पूर्वग-वि० [सं०] पूर्वगामी।

पूर्वचिन्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] इंद्र की एक अप्सरा का नाम।

पूर्वज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बड़ा भाई। अग्रज। (२) ऊपर की पीढ़ियों में उत्पन्न पुरुष। पूर्व पुरुष। पुरखा। बाप, दादा, परदादा आदि। (३) चंद्रलोक में रहनेवाले दिव्य पितृगण।

पर्या०—चंद्रगोलस्थ। न्यस्तशस्त्र। स्वधाशुत्र। कन्यवालादि।

वि० पूर्व काल में उत्पन्न।

पूर्वजन-संज्ञा पुं० [सं०] पुराने समय के लोग। पुराकालीन पुरुष।

पूर्वजन्म-संज्ञा पुं० [सं० पूर्वजन्मन्] वर्तमान से पहले का जन्म। पिछला जन्म।

पूर्वजन्मा-संज्ञा पुं० [सं०] बड़ा भाई। अग्रज।

पूर्वजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ी बहन।

पूर्वजाति-संज्ञा स्त्री० [सं०] पूर्व जन्म। पिछला जन्म।

पूर्वजिन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अतीत जिन या बुद्ध। (२) मंजुश्री का एक नाम।

पूर्वज्ञान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पूर्वजन्म का ज्ञान। पूर्वजन्मा में अर्जित ज्ञान जो इस जन्म में भी विद्यमान हो। (२) पहले का ज्ञान। पूर्वार्जित ज्ञान।

पूर्वदक्षिणा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पूर्व और दक्षिण के बीच का कोना।

पूर्वदिग्बदन-संज्ञा पुं० [सं०] मेघ, सिंह और धनु ये तीनों राशिर्था।

पूर्वदिगीश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र। (२) मेघ, सिंह और धनु ये तीनों राशिर्था।

पूर्वदिष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] वह सुख दुःख आदि जो पूर्वजन्म के कर्मों के परिणाम स्वरूप भोगने पड़े।

पूर्वदेव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नर और नारायण। (२) असुर, जो पहले सुर थे, पीछे अपने दुष्कर्मों के कारण अश्र हो गए थे।

पूर्वनङ्क—संज्ञा पुं० [सं०] टाँग की एक हड्डी का नाम ।

पूर्वनिरूपण—संज्ञा पुं० [सं०] भाष्य । किस्मत ।

पूर्वन्याय—संज्ञा पुं० [सं०] किसी अभियोग में प्रत्यर्थी का यह कहना कि ऐसे अभियोग में मैं वादी को पराजित कर चुका हूँ । यह उत्तर का एक प्रकार है ।

पूर्वपक्ष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी शास्त्रीय विषय के संबंध में उठाई हुई बात, प्रश्न या शंका । शास्त्र विचार के लिए किया हुआ प्रश्न या शंका । (उत्तर में जो बात कही जाती है उसे उत्तर पक्ष कहते हैं) । (२) कृष्ण पक्ष । (३) व्यवहार या अभियोग में वादी द्वारा उपस्थित बात । सुद्ध का दावा ।

पूर्वपक्षी—संज्ञा पुं० [सं० पूर्वपक्षिन्] (१) वह जो पूर्वपक्ष उपस्थित करे । (२) वह जो किसी प्रकार का दावा दायर करे ।

पूर्वपर्वत—संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार वह कल्पित पर्वत जिसके पीछे से सूर्य का उदय होना माना जाता है । उदयाचल ।

पूर्वपाली—संज्ञा पुं० [सं० पूर्वपालिन्] ईद्र ।

पूर्वपितामह—संज्ञा पुं० [सं०] प्रपितामह । परदादा ।

पूर्वफाल्गुनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] नक्षत्रों में ग्यारहवाँ नक्षत्र । दे० “नक्षत्र” ।

पूर्वभाद्रपद—संज्ञा पुं० [सं०] नक्षत्रों में २२वाँ नक्षत्र । दे० “नक्षत्र” ।

पूर्वमीमांसा—संज्ञा पुं० [सं०] हिंदुओं का एक दर्शन जिसमें कर्मकांड संबंधी बातों का निर्णय किया गया है । इस शास्त्र के कर्त्ता जैमिनि मुनि माने जाते हैं । विशेष—दे० “मीमांसा” ।

पूर्वयज्ञ—संज्ञा पुं० [सं०] जैनियों के अनुसार एक जिनदेव जो मणिभद्र और जलेंद्र भी कहलाते हैं ।

पूर्वरंग—संज्ञा पुं० [सं०] वह संगीत या स्तुति आदि जो नाटक आरंभ होने से पहले विघ्नों की शांति के लिए या दर्शकों को सावधान करने के लिए नट लोग करते हैं ।

पूर्वराग—संज्ञा पुं० [सं०] साहित्य में नायक अथवा नायिका की एक अवस्था जो दोनों के संयोग होने से पहले प्रेम के कारण होती है । प्रथमानुराग । पूर्वानुराग ।

विशेष—कुछ लोगों का मत है कि पूर्वरंग केवल नायिकाओं में ही होता है । नायक को देखने पर या किसी के मुँह से उसके रूप-गुण आदि की प्रशंसा सुनने पर नायिका के मन में जो प्रेम उत्पन्न होता है वही पूर्वरंग कहलाता है । जैसे, हंस के मुँह से नल की प्रशंसा सुनकर दमयंती में अनुराग का उत्पन्न होना । इसमें नायक से मिलने की अभिलाषा, उसके संबंध में चिंता, उसका स्मरण, सखियों

से उसकी चर्चा, उससे मिलने के लिए उद्विग्नता, प्रलाप, उन्मत्तता, रोग, मूर्छा और मृत्यु ये दस बातें होती हैं । पूर्वरंग उसी समय तक रहता है जब तक नायक नायिका का मिलन न हो । मिलन के उपरांत उसे प्रेम या प्रीति कहते हैं ।

पूर्वरूप—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पहले का रूप । वह आकार या रंग रंग जिसमें कोई वस्तु पहले रही हो । जैसे, इस पुस्तक का पूर्वरूप ऐसा ही था । (२) किसी वस्तु का वह चिह्न या लक्षण जो उस वस्तु के उपस्थित होने के पहले ही प्रकट हो । आगमसूचक लक्षण । आसार । जैसे, (क) बादलों का घिरना वर्षा का पूर्वरूप है । (ख) आँखों का जलना और अंग टूटना उबर का पूर्वरूप है ।

पूर्ववत्—क्रि० वि० [सं०] पहले की तरह । जैसा पहले था वैसाही । जैसे, आज सौ वर्ष बीत जाने पर भी यह नगर पूर्ववत् है ।

संज्ञा पुं० किसी कार्य का वह अनुमान जो उसके कारण को देखकर उसके होने से पहले ही किया जाय । जैसे, बादलों को देखकर यह अनुमान करना कि पानी बरसेगा ।

पूर्ववर्ती—वि० [सं० पूर्ववर्तिन्] पहले का । जो पहले हो या रह चुका हो । जैसे, (क) इस देश के अंगरेजों के पूर्ववर्ती शासक मुसलमान थे । (ख) यहाँ के पूर्ववर्ती अध्यापक ब्राह्मण थे ।

पूर्ववाद—संज्ञा पुं० [सं०] व्यवहारशास्त्र के अनुसार वह अभियोग जो कोई व्यक्ति न्यायालय आदि में उपस्थित करे । पहला दावा । नालिश ।

पूर्ववादी—संज्ञा पुं० [सं० पूर्ववादिन्] वह जो न्यायालय आदि में पूर्व वाद या अभियोग उपस्थित करे । वादी । सुद्ध ।

पूर्वविद्—वि० [सं०] पुरानी बातों को जाननेवाला । इतिहास आदि का ज्ञाता ।

पूर्ववृत्त—संज्ञा पुं० [सं०] इतिहास ।

पूर्वशैल—संज्ञा पुं० [सं०] उदयाचल ।

पूर्वसंध्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रातःकाल ।

पूर्वा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पूर्व दिशा । पूरब । (२) दे० “पूर्वाफाल्गुनी” ।

पूर्वानुराग—संज्ञा पुं० [सं०] वह प्रेम जो किसी के गुण सुनकर अथवा उसका चित्र या रूप देखकर उत्पन्न होता है । अनुराग या प्रेम का आरंभ । (साहित्य में पूर्वानुराग उस समय तक माना जाता है जब तक प्रेमी और प्रेमिका का मिलन न हो । मिलने के उपरांत उसे प्रेम या प्रीति कहते हैं ।)

पूर्वाह—संज्ञा पुं० दे० “पूर्वाह्न” ।

पूर्वापर—क्रि० वि० [सं०] आगे पीछे ।

वि० आगे का और पीछे का । अगला और पिछला ।

संज्ञा पुं० पूर्व और पश्चिम ।

पूर्वापर्य—संज्ञा पुं० [सं०] पूर्वापर का भाव ।

पूर्वाफाल्गुनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] नक्षत्रों में म्यारहवाँ नक्षत्र । इसका आकार पलंग की तरह माना जाता है और इसमें दो तारे हैं । इसके अधिष्ठाता देवता यम कहे गए हैं और इसका सुँह नीचे की ओर माना जाता है । दे० “नक्षत्र” ।

पूर्वाभाद्रपद—संज्ञा पुं० [सं०] नक्षत्रों में पचीसवाँ नक्षत्र । इसका आकार घंटे के समान माना गया है और इसमें दो नक्षत्र हैं । दे० “नक्षत्र” ।

पूर्वाभाद्रपदा—संज्ञा स्त्री० [सं०] नक्षत्रों में पचीसवाँ नक्षत्र । दे० “नक्षत्र” ।

पूर्वाभिषेक—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का मंत्र ।

पूर्वाराम—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बौद्धसंघ या मठ ।

पूर्वार्द्ध—संज्ञा पुं० [सं०] किसी पुस्तक का पहला आधा भाग । शुरु का आधा हिस्सा ।

पूर्वार्द्ध—वि० [सं०] जो पूर्वार्द्ध से उत्पन्न हुआ हो ।

पूर्वावेदक—संज्ञा पुं० [सं०] जो अभियोग उपस्थित करे । वादी । मुद्दे ।

पूर्वाषाढ़—संज्ञा पुं० दे० “पूर्वाषाढ़ा” ।

पूर्वाषाढ़ा—संज्ञा स्त्री० [सं०] नक्षत्रों में बीसवाँ नक्षत्र । इसमें चार तारे हैं और इसका आकार सूप का सा और अधिष्ठाता देवता जल माना जाता है ।

पूर्वाह्न—संज्ञा पुं० [सं०] दिन का पहला आधा भाग । सबेरे से दुपहर तक का समय ।

पूर्वाह्नक—वि० [सं०] पूर्वाह्न संबंधी । पूर्वाह्न का । संज्ञा पुं० दे० “पूर्वाह्न” ।

पूर्वाह्निक—संज्ञा पुं० [सं०] वह कृत्य जो दिन के पहले भाग में किया जाता हो । जैसे, स्नान, संध्या, पूजा आदि ।

पूर्वी—वि० [सं० पूर्वीय] पूर्व दिशा से संबंध रखनेवाला । पूरब का । संज्ञा पुं० (१) पूरब में होनेवाला एक प्रकार का चावल । (२) एक प्रकार का दादरा जो बिहार प्रांत में गाया जाता है और जिसकी भाषा बिहारी होती है । (३) संपूर्ण जाति का एक राग जिसके गाने का समय संध्या है । कुछ लोगों के मत से यह श्री राग की रागिनी है और कुछ लोग इसे भैरवी और गौरी अथवा देवगिरि, गोंड और गौरी से मिलकर बनी हुई संकर रागिनी भी मानते हैं और इसके गाने का समय दिन में २५ दंड से २८ दंड तक बताते हैं ।

पूर्वी घाट—संज्ञा पुं० [हिं० पूर्वी + घाट] दक्षिण भारत के पूर्वी किनारे पर का पहाड़ों का सिलसिला जो बालासोर से कन्याकुमारी तक चला गया है और वहीं पश्चिमी घाट के अंतिम अंश से मिल गया है । इसकी औसत ऊँचाई लगभग १२०० फुट है ।

पूर्वैद्युः—संज्ञा पुं० [सं० पूर्वैद्युस्] (१) वह आद्य जो अगहन, पूस, माघ, और फागुन के कृष्णपक्ष की सप्तमी तिथि को किया जाता है । (२) प्रातःकाल । सबेरा ।

पूर्वोक्त—वि० [सं०] पहले कहा हुआ । जिसका जिक्र पहले आ चुका हो ।

पूर्वोत्तरा—संज्ञा स्त्री० [सं०] पूर्व और उत्तर के बीच की दिशा । ईशान कोण ।

पूलक—संज्ञा स्त्री० [सं०] सूँज आदि का बंधा हुआ सुड़ा । पूला ।

पूला—संज्ञा पुं० [सं० पूलक] [स्त्री० अल्प० पुली] सूँज आदि का बंधा हुआ सुड़ा । पूलक ।

पूलिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का पूआ (पकवान) ।

पूलिया—संज्ञा स्त्री० [देश०] मलाबार प्रदेश में रहनेवाली एक नीच मुसलमान जाति ।

पूली—संज्ञा स्त्री० [हिं० पूला का अल्प०] छोटा पूला ।

पूलीची—संज्ञा स्त्री० [देश०] मलाबार प्रदेश की एक असभ्य जंगली जाति ।

पूवा—संज्ञा पुं० दे० “पूआ” ।

पूष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) शहत्त का पेड़ । (२) पौष मास ।

पूषक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) शहत्त का पेड़ । (२) शहत्त का फल ।

पूषण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य । (२) पुराणानुसार बारह आदित्यों में से एक । (३) एक वैदिक देवता जिनकी भावना भिन्न भिन्न रूपों में पाई जाती हैं । कहीं वे सूर्य के रूप में (लोकलोचन), कहीं पशुओं के पोषक के रूप में, कहीं धनरक्षक के रूप में और कहीं सोम के रूप में पाए जाते हैं ।

पूषणा—संज्ञा स्त्री० [सं०] कार्तिकेय की अनुचरी एक सातुका का नाम ।

पूषदंतहर—संज्ञा पुं० [सं०] शिव के अंश से उत्पन्न वीरभद्र का नाम जिसने दक्ष के यज्ञ के समय सूर्य का दांत तोड़ा था ।

पूषध—संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार वैवस्वतमनु के एक पुत्र का नाम ।

पूषभाषा—संज्ञा स्त्री० [सं०] इंद की नगरी का एक नाम ।

पूषमित्र—संज्ञा पुं० [सं०] गोमित्र का एक नाम ।

पूषा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दाहिने कान की एक नाड़ी का नाम । (२) पृथ्वी ।

संज्ञा पुं० [सं० पूषण] (१) सूर्य । दे० “पूषण” ।

पूषात्मज—संज्ञा पुं० [सं०] मेघ । बादल ।

पूस—संज्ञा पुं० [सं० पौष, पूष] हेमंत ऋतु का दूसरा चांद्रमास जिसकी पूर्वमासी तिथि को ‘पुष्य’ नक्षत्र पड़ता है । अग-

हन के बाद और माघ के पहले का महीना । ३०—
 धरति जमाई लौं वज्रो खरो पूस दिनमान ।—विहारी ।
 पृष्ठा-संज्ञा स्त्री० [सं०] असवरग नाम का गंध द्रव्य जिसका
 व्यवहार औषधों में भी होता है ।
 पृक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) संबंध । लगाव । (२) स्पर्श ।
 छूना ।
 पृत्त-संज्ञा पुं० [सं०] अन्न । अनाज ।
 पृच्छक-वि० [सं०] (१) पूछनेवाला । प्रश्न करनेवाला । (२)
 जिज्ञासु । जानने की इच्छा रखनेवाला ।
 पृच्छना-संज्ञा स्त्री० [सं०] पूछना । जिज्ञासा करना । (जैन) ।
 पृच्छा-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रश्न । सवाल ।
 पृच्छ्य-वि० [सं०] जो पूछने योग्य हो ।
 पृतना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सेना का एक विभाग जिसमें २४३
 हाथी, २४३ रथ, ७२६ घोड़सवार और १२१२ पैदल
 सिपाही होते हैं । ३०—धरु धरु मारु मारु सबद अपार
 फैल्यो इत उत चहें पर पृतना करें बिहंड ।—गोपाल ।
 (२) सेना । फौज । (३) युद्ध । लड़ाई ।
 पृतनानी, पृतनापति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पृतना नामक
 सेना का अफसर । (२) सेनापति ।
 पृतनापाट, पृतनासाह-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र ।
 पृतन्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] सेना । फौज ।
 पृतन्यु-वि० [सं०] जो युद्ध करना चाहता हो । जो लड़ने के
 लिए तैयार हो ।
 पृथक्-वि० [सं०] भिन्न । अलग । जुदा ।
 पृथक्करण-संज्ञा पुं० [सं०] अलग करने का काम ।
 पृथक्त्व-संज्ञा पुं० [सं०] एक ही पिता परंतु भिन्न माता से
 उत्पन्न संतान ।
 पृथक्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] पृथक् होने का भाव । अलहदगी ।
 अलगाव ।
 पृथक्त्व-संज्ञा पुं० [सं०] पृथक् होने का भाव । अलगाव ।
 पृथक्त्वचा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मूर्वा लता ।
 पृथक्पर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] पिठवन नाम की ओषधि ।
 पृथगात्मता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विरक्ति । वैराग्य । (२)
 भेद । अंतर ।
 पृथग्जन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मूर्ख । बेवकूफ । (२) नीच
 व्यक्ति । कमीना आदमी । (३) पापी ।
 पृथग्बीज-संज्ञा पुं० [सं०] भिन्नता ।
 पृथ्वी-संज्ञा स्त्री० दे० “पृथ्वी” ।
 पृथा-संज्ञा पुं० [सं०] कुंतिभोज की कन्या कुंती का दूसरा
 नाम ।
 पृथाज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पृथा या कुंती के पुत्र युधिष्ठिर,
 अर्जुन आदि । (२) अर्जुन का पेड़ ।

पृथिवी-संज्ञा स्त्री० दे० “पृथ्वी” ।
 पृथिवीकंप-संज्ञा पुं० दे० “भूकंप” ।
 पृथिवीक्षित-संज्ञा पुं० [सं०] राजा ।
 पृथिवीजय-संज्ञा पुं० [सं०] एक दानव का नाम ।
 पृथिवीतीर्थ-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक तीर्थ
 का नाम ।
 पृथिवीपति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऋषभ नामक औषध ।
 (२) राजा । (३) यज्ञ ।
 पृथिवीपाल-संज्ञा पुं० [सं०] राजा ।
 पृथिवीभुज-संज्ञा पुं० [सं०] राजा ।
 पृथिवीश-संज्ञा पुं० [सं०] राजा ।
 पृथिवीशत्रु-संज्ञा पुं० [सं०] राजा ।
 पृथी-संज्ञा स्त्री० दे० “पृथ्वी” ।
 संज्ञा पुं० [सं०] वेणु के पुत्र राजर्षि पृथु का एक नाम ।
 पृथु-वि० [सं०] (१) चौड़ा । विस्तृत । (२) बड़ा । महान् ।
 (३) अधिक । अगणित । असंख्य । (४) कुशल । चतुर ।
 प्रवीण ।
 संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक हाथ का मान । दो बालिशत
 की लंबाई । (२) अग्नि । (३) विष्णु । (४) शिव का एक
 नाम । (५) एक विश्वदेव का नाम । (६) चौथे मन्वन्तर
 के एक सप्तर्षि का नाम । (७) पुराणानुसार एक दानव का
 नाम । (८) तामस मन्वन्तर के एक ऋषि का नाम । (९)
 इक्ष्वाकु वंश के पाँचवें राजा का नाम जो त्रिशंकु का पिता
 था । (१०) राजा वेणु के पुत्र का नाम ।
 विशेष—पुराणों में कहा है कि जब राजा वेणु मरे, तब
 उनके कोई संतान नहीं थी । इसलिए ब्राह्मण लोग
 उनके हाथ पकड़ कर हिलाने लगे । उस समय उन हाथों
 में से एक स्त्री और एक पुरुष उत्पन्न हुआ । ब्राह्मणों ने
 उस पुरुष का नाम “पृथु” रखा और उस स्त्री को उनकी
 पत्नी बनाया । इसके उपरांत सब ब्राह्मणों ने मिलकर
 पृथु का राज्याभिषेक किया और उन्हें पृथ्वी का स्वामी
 बनाया । उस समय पृथ्वी में से अन्न उत्पन्न होना बंद हो
 गया जिससे सब लोग बहुत दुःखी हुए । उनका दुःख
 देख कर पृथु ने पृथ्वी पर चलाने के लिए कमान पर तीर
 चढ़ाया । यह देख कर पृथ्वी गौ का रूप धारण करके
 भागने लगी और जब भागती भागती थक गई तब फिर
 पृथु की शरण में आई और कहने लगी कि ब्रह्मा ने पहले
 सुक्र पर जो ओषधियाँ आदि उत्पन्न की थीं, उनका लोग
 दुरुपयोग करने लगे, इसलिए मैंने उन सब को अपने
 पेट में रख लिया है । अब आप मुझे दूध दार वे सब ओष-
 धियाँ निकाल लें । इसपर पृथु ने मनु को बछड़ा बनाया
 और अपने हाथ पर पृथ्वी रूपी गौ से सब ओषधियाँ दूध

लीं। इसके उपरांत पंद्रह ऋषियों ने भी बृहस्पति को बड़ड़ा बना कर अपने कानों में वेदमन्त्र पवित्र दूध दूहा और तब दैत्यों, दानवों, गंधर्वों, अप्सराओं, पितरों, सिद्धों, विद्याधरों, खेचरों, किन्नरों, मायाविधियों, यक्षों, राक्षसों, भूतों और पिशाचों आदि ने अपनी अपनी रुचि के अनुसार सुरा, आसव, सुंदरता, मधुरता, कव्य, अणिमा आदि सिद्धियाँ, खेचरी विद्या, अंतर्धान विद्या, माया, आसव, विना कन के साँप, बिच्छू आदि अनेक पदार्थ दूहे। इसके उपरांत पृथु ने संतुष्ट होकर पृथ्वी को “बुहिता” कह कर संबोधन किया और तब उसके बहुत से पर्वतों आदि को तोड़कर इसलिये सम कर दिया जिसमें वर्षा का जल एक स्थान पर रुक न जाय, और तब उसपर अनेक नगर और गाँव आदि बसाए। पृथु ने १६ यज्ञ किए थे। जब वे सौवां यज्ञ करने लगे तब इंद्र उनके यज्ञ का घोड़ा लेकर भागा। पृथु ने उनका पीछा किया। इंद्र ने अनेक प्रकार के रूप धारण किए थे, जिनसे जैन, बौद्ध और कापालिक आदि मतों की सृष्टि हुई। पृथु ने इंद्र से अपना घोड़ा छीनकर उसका नाम “विजिताश्व” रखा। पृथु उस समय इंद्र को भस्म करना चाहते थे, पर ब्रह्मा ने आकर दोनों में मेल करा दिया। यज्ञ समाप्त करके पृथु ने सनत्कुमार से ज्ञान प्राप्त किया और तब वे अपनी स्त्री को साथ लेकर तपस्या करने के लिए वन में चले गए। वहीं उन्होंने योग के द्वारा अपने इस भोग शरीर का अंत किया।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) काला जीरा। (२) हिंगुपत्री। (३) अफीम।

पृथुऋ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चिड़वा। (२) पुराणानुसार चाक्षुष मन्वन्तर का एक देवगण। (३) बालक। लड़का। (४) हिंगुपत्री।

पृथुका-संज्ञा स्त्री० [सं०] हिंगुपत्री।

पृथुकीर्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार पृथा की एक छोटी बहन का नाम।

वि० जिसकी कीर्ति बहुत अधिक हो।

पृथुकोल-संज्ञा पुं० [सं०] बड़ा वेर।

पृथुग-संज्ञा पुं० [सं०] चाक्षुष मन्वन्तर के देवताओं का एक भेद।

पृथुच्छद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का डाम। (२) हाथीकंद।

पृथुता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पृथु होने का भाव। (२) विस्तार। फैलाव।

पृथुस्व-संज्ञा पुं० दे० “पृथुता”।

पृथुपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लाल लहसुन। (२) हाथीकंद।

पृथुपलाशिका-संज्ञा पुं० [सं०] कचूर।

पृथुपाणि-संज्ञा पुं० [सं०] जिसके हाथ बहुत लंबे या पुटनों तक हों। आजानुबाहु।

पृथुभैरव-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों के एक देवता का नाम।

पृथुल-वि० [सं०] (१) मोटा ताजा। (२) दीर्घाकार। भारी। बड़ा। (३) बहुत। ढेर। अधिक।

पृथुला-संज्ञा स्त्री० [सं०] हिंगुपत्री।

पृथुलोमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मछली। (२) मीन राशि। (ज्योतिष)।

पृथुशिंव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सोनापाटा। (२) पीली लोथ।

पृथुशिरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] काली जोंक।

पृथुशृंगक-संज्ञा पुं० [सं०] मेढ़ा।

पृथुशेखर-संज्ञा पुं० [सं०] पहाड़। पर्वत।

पृथुश्रवा-संज्ञा पुं० [सं० पृथुश्रवस्] (१) कार्तिकेय के एक अनुचर का नाम। (२) पुराणानुसार नवें मनु के एक पुत्र का नाम।

पृथुस्कंध-संज्ञा पुं० [सं०] सूअर।

पृथूदक-संज्ञा पुं० [सं०] सरस्वती नदी के दक्षिण तट पर का एक प्रसिद्ध प्राचीन तीर्थ।

विशेष—पुराणों में कहा है कि राजा पृथु ने अपने पिता वेणु के मरने पर वहीं उनकी अत्येष्टि क्रिया की थी और बारह दिनों तक अश्वागतों को जल पिलाया था। इसीसे इसका यह नाम पड़ा। आजकल इस स्थान को पोहोआ कहते हैं।

पृथूदर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेढ़ा। मेघ। (२) जिसका पेट बहुत बड़ा हो। बड़े पेटवाला।

पृथ्वी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सौर-जगत् का वह ग्रह जिस पर हम सब लोग रहते हैं। वह लोकपरिपंड जिस पर हम मनुष्य आदि प्राणी रहते हैं।

विशेष—सौर-जगत् में यह ग्रह दूरी के विचार से सूर्य से तीसरा ग्रह है। (सूर्य और पृथ्वी के बीच में बुध और शुक्र के दो ग्रह और हैं।) इसकी परिधि लगभग २५००० मील और व्यास लगभग ८००० मील है। इसका आकार नारंगी के समान गोल है और इसके दोनों सिरे जिन्हे ध्रुव कहते हैं कुछ चिपटे हैं। यह दिन-रात में एक बार अपने अक्ष पर घूमती है और ३६५ दिन ६ घंटे ९ मिनट अर्थात् एक सौर वर्ष में एक बार सूर्य की परिक्रमा करती है। सूर्य से यह ९,३०,००,००० मील की दूरी पर है। जल के मान से इसका घनत्व १.३ है। इसके अपने अक्ष पर घूमने के कारण दिन और रात होते हैं और सूर्य की परिक्रमा करने के कारण ऋतु-परिवर्तन होता है। कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि इसका भीतरी भाग भी प्रायः ऊपरी भाग की तरह ही ठोस है पर अधिकांश लोग यही मानते हैं कि इसके अंदर बहुत अधिक जलता हुआ तरल पदार्थ है जिसके ऊपर यह ठोस पपड़ी उसी प्रकार है जिस प्रकार दूध के ऊपर मलाई

रहती है। इसके अंदर की गरमी बाहर कम होती जाती है जिससे इसके ऊपरी भाग का घनत्व बढ़ता जाता है। इसमें पाँच महाद्वीप और पाँच महासमुद्र हैं। प्रत्येक महाद्वीप में अनेक देश और अनेक प्रायद्वीप आदि हैं। समुद्रों में दो बड़े और अनेक छोटे छोटे द्वीप तथा द्वीपपुंज भी हैं। आधुनिक विज्ञान के अनुसार सारे सौर-जगत् का उपादान पहले सूक्ष्म ज्वलंत नीहारिका के रूप में था। नीहारिका मंडल के अत्यंत वेग से घूमने से उसके कुछ अंश अलग हो कर मध्यस्थ द्रव्य की परिक्रमा करने लगे। ये ही पृथक्-पृथक् अंश पृथ्वी, मंगल, बुध आदि ग्रह हैं जो सूर्य (मध्यस्थ द्रव्य) की परिक्रमा कर रहे हैं। ज्वलंत वायुरूप पदार्थ ठंडा हो कर तरल ज्वलंत द्रव्य रूप में आया, फिर ज्यों-ज्यों और ठंडा होता गया उस पर ठोस पपड़ी जमती गई। उपनिषदों के अनुसार परमात्मा से पहले आकाश की उत्पत्ति हुई; आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई। मनु के अनुसार महत्त्व, अहंकार तत्त्व आर पंचतन्मात्राओं से इस जगत् की सृष्टि हुई है। प्रायः इसी से मिलता जुलता सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम कई पुराणों आदि में भी पाया जाता है। (विशेष-दे० “सृष्टि”) इसके अतिरिक्त पुराणों में पृथ्वी की उत्पत्ति के संबंध में अनेक प्रकार की कथाएँ भी पाई जाती हैं। कहीं कहीं यह कथा है कि पृथ्वी मधुकैटभ के मेद से उत्पन्न हुई जिससे उसका नाम “मेदिनी” पड़ा। कहीं लिखा है कि बहुत दिनों तक जल में रहने के कारण जब चिराट पुरुष के रोम-कूपों में मैल भर गई तब उस मैल से पृथ्वी उत्पन्न हुई। पुराणों में पृथ्वी शेषनाग के फन पर, कलुष की पीठ पर स्थित कही गई है। इसी प्रकार पृथ्वी पर होनेवाले उद्भिदों, पर्वतों और जीवों आदि की उत्पत्ति के संबंध में भी अनेक कथाएँ पाई जाती हैं। कुछ पुराणों में इस पृथ्वी का आकार तिकोना, कुछ में चौकोर और कुछ में कमल के पत्ते के समान बतलाया गया है। पर ज्योतिष के ग्रंथों में पृथ्वी गोलाकार ही मानी गई है।

पर्या०—अचला। अदिति। अनंता। अवनी। आद्या। इडा। इरा। इला। उर्वरा। उर्वी। कुक्षमा। कामा। क्षिति। क्षोणी। गो। गोत्रा। जगती। ज्या। धरणी। धरती। धरा। धरित्री। धात्री। निश्चला। पारा। भू। भूमि। महि। मही। मेदिनी। रत्नगर्भा। रत्नावती। रसा। वसुंधरा। वसुधा। वसुमती। विपुला। श्यामा। सदा। स्थिरा। सागरमेखला।

(२) पंच भूतों या तत्त्वों में से एक जिसका प्रधान गुण गंध है, पर जिसमें गोण रूप से शब्द, स्पर्श, रूप और रस ये चारों गुण भी हैं। विशेष-दे० “भूत”। (३) पृथ्वी

का वह ऊपरी ठोस भाग जो मिट्टी और पत्थर आदि का है और जिस पर हम सब लोग चलते फिरते हैं। भूमि। जमीन। धरती। (मुहा० के लिए दे० “जमीन”)। (४) मिट्टी। (५) सत्रह अक्षरों का एक वर्णवृत्त जिसमें न, ण पर यति और अंत में लघु-गुरु होते हैं। (६) हिंगुपत्री। (७) काला जीरा। (८) सोंठ। (९) बड़ी इलायची।

पृथ्वीका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बड़ी इलायची। (२) छोटी इलायची। (३) कालाजीरा। (४) हिंगुपत्री।

पृथ्वीकुरवक—संज्ञा पुं० [सं०] सफेद मदार या आक।

पृथ्वोगर्भ—संज्ञा पुं० [सं०] गणेश।

पृथ्वीगृह—संज्ञा पुं० [सं०] गुफा।

पृथ्वीज—संज्ञा पुं० [सं०] सार्भर नमक।

वि० जो पृथ्वी से उत्पन्न हुआ हो।

पृथ्वीतल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) जमीन की सतह। वह धरातल जिसपर हम लोग चलते फिरते हैं। (२) संसार। दुनियाँ।

पृथ्वीधर—संज्ञा पुं० [सं०] पर्वत। पहाड़।

पृथ्वीनाथ—संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

पृथ्वीपति, पृथ्वीपाल—संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

पृथ्वीपुत्र—संज्ञा पुं० [सं०] मंगल ग्रह।

पृथ्वीश—संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

पृदाकु—संज्ञा पुं० [सं०] (१) साँप। (२) बिच्छू। (३) बाघ। चीता। (४) हाथी। (५) वृत्त। पेड़।

पृथिन—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सुतप नामक राजा की रानी का नाम। (२) चितले रंग की गाय। चितकबरी गाय। (३) पिठवन। (४) रश्मि। किरण।

संज्ञा पुं० (१) अनाज। (२) वेद। (३) पानी। जल। (४) अमृत। (५) एक प्राचीन ऋषि का नाम।

वि० (१) जिसका शरीर दुबला पतला हो। (२) सफेद रंग का। (३) चितकबरा। (४) साधारण। सामूली।

पृथिनका—संज्ञा स्त्री० [सं०] जलकुंभी।

पृथिनगर्भ—संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण।

पृथिनपर्णी—संज्ञा स्त्री० [सं०] पिठवन लता।

पृथिनमद्—संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण।

पृथिव्युग—संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु। (२) गणेश।

पृथ्वी—संज्ञा स्त्री० [सं०] जलकुंभी।

पृथ्वी—संज्ञा पुं० [सं०] (१) चितला हिरन। चितल पाड़ा। (२) राजा द्रुपद के पिता का नाम। (३) एक प्रकार का साँप। (४) रोहित नाम की मछली। (५) वेद।

पृथ्वीश्वर—संज्ञा पुं० [सं०] वायु। हवा।

पृथक्—संज्ञा पुं० [सं०] बाण।

पृषदश्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वायु । हवा । (२) महाभारत के अनुसार एक राजर्षि का नाम । (३) भागवत के अनुसार विरूपाक्ष के पुत्र का नाम ।

पृषदाज्य-संज्ञा पुं० [सं०] दही मिला हुआ घी ।

पृषद्वंश-संज्ञा पुं० [सं०] हरिवंश के अनुसार वैवस्वतमनु के एक पुत्र का नाम ।

पृषद्वरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सेनका की कन्या का नाम ।

पृषभाषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] इंद्र की पुरी । अमरावती का एक नाम ।

पृषाकरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] तौलने का बाट ।

पृषातक-संज्ञा पुं० [सं०] दही मिला हुआ घी ।

पृषोदर-संज्ञा पुं० [सं०] वायु । हवा ।

वि० जिसका पेट छोटा हो ।

पृष्ट-वि० [सं०] पूछा हुआ । जो पूछा गया हो ।

संज्ञा पुं० दे० "पृष्ठ" ।

पृष्टि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पूछने की क्रिया या भाव । (२) पिछला भाग ।

पृष्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीठ । (२) किसी वस्तु का वह भाग या तल जो ऊपर की ओर हो । ऊपरी तल । (३) पीछे का भाग । पीछा । (४) पुस्तक के पन्ने का एक ओर का तल । (५) पुस्तक का पन्ना । पन्ना ।

पृष्ठक-संज्ञा पुं० [सं०] पिछला भाग । पीठ की ओर का हिस्सा ।

पृष्ठगोप-संज्ञा पुं० [सं०] वह सैनिक जो सेना के पिछले भाग की रक्षा के लिए नियुक्त हो ।

पृष्ठग्रह-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ों का एक रोग ।

पृष्ठचक्षु-संज्ञा पुं० [सं० पृष्ठचक्षुः] (१) कंकड़ा । (२) रीछ । भालू ।

पृष्ठतःप्रथित-संज्ञा पुं० [सं०] खज्ज चलाने का ढंग । तलवार का एक हाथ ।

पृष्ठदृष्टि-संज्ञा पुं० [सं०] रीछ । भालू ।

पृष्ठपर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] पिठवन लता ।

पृष्ठपोषक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीठ ठोंकनेवाला । (२) सहायक । मददगार ।

पृष्ठफल-संज्ञा पुं० [सं०] किसी पिंड के ऊपरी भाग का क्षेत्रफल ।

पृष्ठभंग-संज्ञा पुं० [सं०] युद्ध का एक ढंग जिसमें शत्रु-सेना का पिछला भाग आक्रमण करके नष्ट किया जाता है ।

पृष्ठभाग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीठ । पृष्ठ । (२) पिछला भाग ।

पृष्ठमर्मे-संज्ञा पुं० [सं० पृष्ठमर्मन्] सुश्रुत के अनुसार पीठ पर के वे चौदह मर्मस्थान जिनपर आघात लगने से मनुष्य मर सकता है, अथवा उसका कोई अंग बेकाम हो जाता है । ये सब स्थान गरदन से चूतड़ तक मेरुदंड के दोनों ओर युग्म संख्या में हैं और इन सब के अलग अलग नाम हैं ।

पृष्ठमांसाद-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो पीठ पीछे किसीकी बुराई करता हो । चुगलखोर ।

पृष्ठमांसादन-संज्ञा पुं० [सं०] पीठ पीछे किसीकी निंदा करना । चुगली ।

पृष्ठवंश-संज्ञा पुं० [सं०] रीछ ।

पृष्ठवास्तु-संज्ञा पुं० [सं०] एक मकान के ऊपर बना हुआ, अथवा एक खंड के ऊपर दूसरे खंड पर बना हुआ मकान ।

पृष्ठवाह्य-संज्ञा पुं० [सं०] वह पशु जिसकी पीठ पर बोझ लादा जाता हो ।

पृष्ठशृंगी-संज्ञा पुं० [सं० पृष्ठशृंगिन्] (१) भेड़ा । (२) भैंसा । (३) हिजड़ा । बंड । नामर्द । (४) भीमसेन का एक नाम ।

पृष्ठास्थि-संज्ञा स्त्री० [सं०] पीठ की हड्डी । रीछ ।

पृष्ठेरुख-संज्ञा पुं० [सं०] कार्तिकेय के एक अनुचर का नाम ।

पृष्ठोदय-संज्ञा पुं० [सं०] ज्योतिष में मेष, वृष, कर्क, धन, मकर और मीन ये छः राशियाँ जिनके विषय में यह माना जाता है कि ये पीठ की ओर से उदय होती हैं ।

पृष्ठ्य-वि० [सं०] पृष्ठ-संबंधी । पीठ का ।

संज्ञा पुं० वह घोड़ा जिसकी पीठ पर बोझ लादा जाता हो ।

पृष्ठ्यस्तोम-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ का षडाह्निक नामक एक समय-विभाग । षट्क्रतु या छः एकाह ।

पृष्ठ्यावलंब-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ का पाँच दिन का एक समय-विभाग । यज्ञ के कुछ विशिष्ट २ दिन ।

पृष्णिपर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] पिठवन लता ।

पै-संज्ञा पुं० [अनु०] पै पै का शब्द, जो रोने, बाजा फूँकने आदि से निकलता है ।

पेंग-संज्ञा स्त्री० [हिं० पेंग] पट = पट्टा + वेग अथवा प्लवंग] हिंडोले या झूले का झूलते समय एक ओर से दूसरी ओर को जाना ।

मुहा०—पेंग मारना = झूले पर झूलते समय उस पर इस प्रकार जोर पहुँचाना जिसमें उसका वेग बढ़ जाय और दोनों ओर वह दूर तक झूले । पेंग बढ़ाना या चढ़ाना = दे० "पेंग मारना" ।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का पत्ती ।

पेंगिया मैना-संज्ञा स्त्री० [हिं० पेंग + मैना] एक प्रकार की मैना (पत्ती) जिसे सतमैया भी कहते हैं । दे० "सतमैया" ।

पेंघट, पेंघा-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का पत्ती जिसका शरीर मटमैले रंग का, आँखें लाल और चोंच सफेद होती है ।

पेंचा-संज्ञा पुं० दे० "पेच" ।

पेंचक-संज्ञा पुं० दे० "पेचक" ।

पेंचकश-संज्ञा पुं० दे० "पेचकश" ।

पेंजनी-संज्ञा स्त्री० दे० "पैजनी" ।

पेंठ-संज्ञा स्त्री० दे० "पैठ" ।

पेड़-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का सारस पक्षी जिसकी चोंच पीली होती है।

संज्ञा पुं० (१) दे० "पेड़"। (२) दे० "पेड़"।

पेड़ना-क्रि० सं० दे० "बैठना"।

पेड़की-संज्ञा स्त्री० [सं० पंडुक] (१) पंडुक पक्षी। फाखता।
(२) सुनारों का वह औजार जिससे फूँककर वे लोग आग सुलगाते हैं। फूँकनी।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पिराक] पिराक या गुम्फिया नाम का पक्षवान। दे० "गुम्फिया"।

पेड़ली-संज्ञा स्त्री० दे० "पिंडली"।

पेड़-संज्ञा पुं० [हिं० पेड़ा या पेह] पेड़।

पेड़ा-संज्ञा पुं० [सं० पिंड] [स्त्री० अल्प० पेदी] किसी वस्तु का निचला भाग जिसके आधार पर वह ठहरती या रखी जाती हो। बिस्कुल निचला भाग। तला। जैसे, बोटे का पेड़ा, जहाज का पेड़ा।

मुहा०—पेड़े के चल बैठना = (१) चूतड़ टेककर बैठना। पतथी मारकर बैठना। (व्यंग्य)। (२) हार मानना। दबना।

पेड़े का हलका = वह जिसका विकास न किया जा सके। ओछा।

पेदी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पेड़ा] (१) किसी वस्तु का निचला भाग। (२) गुदा। गाँड़। (३) तोप या बंदूक की कोठी। (४) गाजर या मूली आदि की जड़।

पेंशन-संज्ञा स्त्री० दे० "पेंशन"।

पेंशनर-संज्ञा पुं० दे० "पेंशनर"।

पेंसिल-संज्ञा स्त्री० दे० "पेंसिल"।

पेउशी-संज्ञा पुं० [सं० पीयूष] पेउसी।

पेउसरी-संज्ञा स्त्री० [सं० पीयूष] दे० "पेउसी"।

पेउसी-संज्ञा स्त्री० [सं० पीयूष] (१) ब्याई हुई गाय या भैंस का पहले दिन का दूध जो बहुत गाढ़ा और कुछ पीले रंग का होता है। यह दूध पीने के योग्य नहीं होता। इसे तेली भी कहते हैं। (२) एक प्रकार का पक्षवान जो उक्त दूध में सांड और शकर आदि डाल कर पकाया और जमाया जाता है। यह स्वादिष्ट और पुष्टिकर होता है। इंदर।

पेखक*-संज्ञा पुं० [सं० प्रेक्षक, प्रा० पेखक] देखनेवाला। दर्शक।
उ०—व्योम विमानन विबुध विलोकित खेलक पेखक छाहँ छये।—तुलसी।

पेखना*-क्रि० सं० [सं० प्रेक्षण, प्रा० पेखण] देखना। अवलोकन करना। उ०—श्रमकण सहित श्याम तनु देखे। कूँ दुख समउ प्राणपति पेखे।—तुलसी।

संज्ञा पुं० [सं० प्रेक्षण] वह जो कुछ देखा जाय। दृश्य।

पेच-संज्ञा पुं० [फा०] (१) घुमाव। फिराव। लपेट। फेर। चक्कर। (२) उलझन। झंझट। बलेड़ा। कठिनता।

उ०—कागज करम करवृत्ति के उठाव धरे पचि पचि पेच में परे हैं प्रेतनाह अथ।—पद्माकर।

क्रि० प्र०—डालना।—पड़ना।

विशेष—उक्त दोनों अर्थों में कहीं कहीं लोग इसको स्त्री लिंग भी बोलते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने एक स्थान पर इसका व्यवहार स्त्रीलिंग में ही किया है। यथा—
सोचत जनक पोच पेच परि गई है।

(३) चालाकी। चालबाजी। धूर्तता।

क्रि० प्र०—पड़ना।—चलना।

(४) पगड़ी का फेरा। पगड़ी की लपेट।

क्रि० प्र०—कसना।—बांधना।—देना।

(५) किसी प्रकार की कल। यंत्र। मशीन। जैसे, रुई का पेच। (६) यंत्र का कोई विशेष अंग जिसके सहारे कोई विशेष कार्य होता हो। मशीन का पुरजा। (७) यंत्र का वह विशेष अंग जिसको दबाने, घुमाने या हिलाने आदि से वह यंत्र अथवा उसका कोई अंग चलता या रुकता हो।

क्रि० प्र०—घुमाना।—चलाना।—दबाना।

मुहा०—पेच घुमाना = ऐसी युक्ति करना जिससे किसीके विचार या कार्य आदि का रख बदल जाय। तरकीब से किसीका मन फेरना। पेच हाथ में होना = किसीके विचारों को परिवर्तन करने की शक्ति होना। प्रवृत्ति आदि बदलने की सामर्थ्य होना।

(८) वह कील या कांटा जिसके नुकीले आधे भाग पर चक्करदार गड़ारियाँ बनी होती हैं और जो ठोक कर नहीं बल्कि घुमाकर जड़ा जाता है। स्कू।

क्रि० प्र०—कसना।—खोलना।—जड़ना।—निकालना।

(९) पतंग लड़ने के समय दो या अधिक पतंगों के डोर का एक दूसरे में फँस जाना।

क्रि० प्र०—डालना।

मुहा०—पेच काटना = दूसरे की गुड़ी या पतंग की डोर में अपनी डोर फँसाकर उसकी डोर काटना। गुड़ी या पतंग काटना। पेच लड़ना = दूसरे की पतंग काटने के लिए उसकी डोर में अपनी डोर फँसाना। पेच छुटाना = दो पतंगों की फँसी हुई डोर का अलग अलग हो जाना।

(१०) कुरती में वह विशेष क्रिया या घात जिससे प्रतिद्वंद्वी पछाड़ा जाय। कुरती में दूसरे को पछाड़ने की युक्ति। उ०—इक एक पुहुमि पछार देत उछारि पुनि उठि धाय। रह सावधान बखान करि पुनि गँसन पेंच लगाय।—रघुराज।

क्रि० प्र०—चलाना।—मारना।—लगाना।

(११) युक्ति। तरकीब।

क्रि० प्र०—निकालना।

(१२) तजे के किसी परन या ताल के बोल में से

कोई एक टुकड़ा निकाल कर उसके स्थान पर ठीक उतना ही बड़ा दूसरा कोई टुकड़ा लगा देना ।

क्रि० प्र०—लगाना ।

(१३) एक प्रकार का आभूषण जो टोपी या पगड़ी में सामने की ओर खोँसा या लगाया जाता है । सिरपेच ।
(१४) सिरपेच की तरह का एक प्रकार का आभूषण जो कानों में पहना जाता है । गोशपेच । उ०—गोश पेच कुंडल कलंगी सिरपेच पेच पेंचन से खैचि विन बेंचे वारि आयो है ।—पद्माकर । (१५) पेचिश । पेट का मरोड़ । दे० “पेचिश” ।

क्रि० प्र०—उठना ।—पड़ना ।

(१६) दे० “पेचताव” ।

पेचक—संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) बटे हुए तागे की गोली या गुच्छी । (२) बटा हुआ महीन तागा जिससे कपड़े सीते हैं ।
संज्ञा पुं० [सं०] [खी० पेचिका] (१) उल्लू पत्नी ।
(२) जू । (३) बादल । (४) पलंग । चारपाई ।
(५) हाथी की पूँछ ।

पेचकश—संज्ञा पुं० [फा०] (१) बड़हों और लोहारों आदि का वह औजार जिससे वे लोग पेच (स्क्रू) जड़ते अथवा निकालते हैं । यह आगे से चपटा और कुछ नुकीला लोहा होता है जिसके पिछले भाग में पकड़ने के लिए दस्ता जड़ा रहता है । (२) लोहे का बना हुआ वह घुमावदार पेच जिसकी सहायता से बोटल का काग निकाला जाता है । इसे पहले घुमाते हुए काग में धँसाते हैं और जब वह कुछ अंदर चला जाता है तब ऊपर की ओर खींचते हैं जिससे काग बोटल के बाहर निकल आता है ।

पेचताव—संज्ञा पुं० [फा०] वह क्रोध जो विवशता आदि के कारण प्रकट न किया जाय । वह गुस्सा जो मन ही मन में रह जाय, और निकाला न जा सके ।

क्रि० प्र०—खाना ।

पेचदार—वि० [फा०] (१) जिसमें कोई पेच लगा हो । जिसमें कोई कल लगी हो । पेचवाला । (२) जिसमें कोई उल्लाव हो । उल्लाववाला । कठिन । दे० “पेचीला” ।

संज्ञा पुं० एक प्रकार का कसीदे का काम जिसमें काढ़ते समय फँदे लगाए जाते हैं ।

पेचना—क्रि० स० [फा० पेच] दो चीजों के बीच में उसी प्रकार की एक तीसरी चीज इस प्रकार घुसेड़ देना जिससे साधारणतः वह दिखाई न पड़े । इस प्रकार लगाना जिसमें पता न लगे ।

पेचनी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पेच] चिकन वा कामदानी के काम में एक लीची लकीर पर काड़ा हुआ कसीदा ।

पेचवान—संज्ञा पुं० [फा०] (१) बड़ी सटक जो फर्शी या गुड़गुड़ी में लगाई जाती है । (२) बड़ा हुका ।

२६८

पेचा—संज्ञा पुं० [सं० पेचक] [खी० पेची] उल्लू पत्नी ।

पेचिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] उल्लू पत्नी की सादा ।

पेचिश—संज्ञा स्त्री० [फा०] पेट की वह पीड़ा जो आँव होने के कारण होती है । मरोड़ ।

पेचीदगी—संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) पेचीला होने का भाव । घुमावदार होने का भाव । (२) उल्लाव ।

पेचीदा—वि० [फा०] (१) जिसमें बहुत कुछ पेच हो । पेचदार । (२) जो टेढ़ा मेढ़ा और कठिन हो । उल्लावदार । मुश्किल ।

पेचीला—वि० [हिं० पेच + ईला (प्रत्य०)] (१) जिसमें बहुत पेच हो । घुमाव फिराववाला । (२) जो टेढ़ामेढ़ा और कठिन हो । उल्लावदार । मुश्किल ।

पेचुली—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का शाक ।

पेज—संज्ञा स्त्री० [सं० पेय] रखड़ी । बसौंधी ।

संज्ञा पुं० [अ०] पुस्तक का पृष्ठ । वरका । सफ़ा । पन्ना ।

पेट—संज्ञा पुं० [सं० पेट = थैला] (१) शरीर में थैले के आकार का वह भाग जिसमें पहुँचकर भोजन पचता है । उदर ।

विशेष—बहुत ही विघ्न कोटि के जीवों में गले के नीचे का प्रायः सारा भाग पेट का ही काम देता है । कुछ जीव ऐसे भी होते हैं जिनमें किसी प्रकार की पाचन क्रिया होती ही नहीं और इसलिए उनमें पेट भी नहीं होता । पर उच्च कोटि के जीवों के शरीर के प्रायः मध्य भाग में थैले के आकार का एक विशेष अंग होता है जिसमें पाचन रस बनता और भोजन पचता है । मनुष्यों और चौपायों आदि में यह अंग पसलियों के नीचे और जननेंद्रिय से कुछ ऊपर तक रहता है । पाचक रस बनाने और भोजन पचानेवाले सब अंग । जैसे, आमाशय, पकाशय, जिगर, तिस्ली, गुरदे आदि इसीके अंतर्गत रहते हैं । इसीके नीचे का भाग कटोरे के आकार का होता है जिसमें आँतें और मूत्राशय रहता है । कुछ जीवों, जैसे पक्षियों आदि में एक के बदले दो पेट होते हैं ।

मुहा०—पेट आना = दस्त आना । (क०) । पेट का कुत्ता = जो केवल भोजन के लालच से सब काम करता हो । केवल पेट के लिए सब कुछ करनेवाला । पेट काटना = बचाने के लिए कम खाना । जान बूझकर कम खाना । जिसमें कुछ बचत हो जाय । पेट का धंधा = (१) भोजन बनाने का प्रबंध । रसोई पकाने की कसबत । (२) रोजी रोजगार ढूँढ़ने का प्रबंध । जीविका का उपाय । (३) हलका कामकाज । मिहनत मजदूरी । पेट का पानी न पचना = रक्षा न जाना । रह न सकना । जैसे, बिना सब हाल कहे तुम्हारे पेट का पानी न पचेगा । पेट का पानी न हिलना = कुछ परिश्रम न पड़ना । जरा भी मिहनत या तकलीफ न होना । पेट का हलका = तुद्र प्रकृति का । ओछे स्वभाव का । जिसमें गंभीरता न हो । पेट की आग = सूर । उ०—आगि बढ़वागि

तैं बड़ो है आगि पेट की।—तुलसी। पेट की आग बुझाना = पेट में भोजन पहुँचाना। भूख दूर करना। पेट की बात = गुप्त भेद। भेद की बात। पेट की मार देना या मारना = भूखा रखना। भोजन न देना। पेट के लिए दौड़ना = रोजी वा जिविका के लिए उद्योग और परिश्रम करना। पेट को धोखा देना = दे० “पेट काटना”। † पेट खलाना = (१) अत्यंत दीनता दिखलाना। उ०—राम सुभाव सुने तुलसी प्रभु सों कही बारक पेट खलाई। (२) भूखे होने का संकेत करना। पेट को लगना = भूख लगना। पेट गड़ना = अपच के कारण पेट में दर्द होना। पेट गुड़-गुड़ाना = बाँदी के कारण आँतों में गुड़गुड़ शब्द होना। पेट में वायु का विकार होना। पेट चलना = दस्त होना। बार बार पाखाना होना। पेट छूटना = (१) पेट का साफ हो जाना। पेट का मल निकल जाना। (२) पेट की मोटाई का कम होना। दुबला हो जाना। पेट छूटना = दस्त होना। पेट जलना = (१) अत्यंत भूख लगना। (२) अत्यंत असंतुष्ट वा कुछ होना। पेट जारी होना = दस्त लगना। दस्तों की बीमारी हो जाना। पेट दिखाना = (१) भूखे होने का संकेत करना। (२) पेट के रोग की पहचान कराना। पेट के रोग का निदान कराना। † पेट देना = अपना गुद भेद वा विचार किसी को बतलाना। अपने मन की बात बतलाना। उ०—अपना पेट दियो तैं उनको नाकबुद्धि तिय सवै कहैं री।—सूर। पेट पकड़ना या पकड़े फिरना = परेशान होना। बहुत दुःखी या तंग होना। व्याकुल होना। पेट पाटना = जो कुछ मिल जाय उसीसे पेट भर लेना। भूख के मारे खाद्य या अखाद्य का विचार छोड़कर खा लेना। पेट पानी होना = पतले दस्त आना। पेट पालना = कठिनाता से खाने भर को कमा लेना। जीवन निर्वाह करना। पेट पीठ एक हो जाना या पेट पीठ से लग जाना = (१) बहुत दुबला हो जाना। (२) बहुत भूखे होना। पेट फूलना = (१) किसी बात को जानने या कहने के लिए अथवा किसी पदार्थ को पाने आदि के लिए व्याकुल होना। किसी बात के लिए बहुत अधिक उत्सुक होना। (२) बहुत अधिक हँसने के कारण पेट में हवा भर जाना (जिसके कारण और अधिक हँसा न जा सके।)। (३) पेट में वायु का प्रकोप होना। पेट मारना = (१) दे० “पेट काटना”। (२) आत्मघात करना। आत्महत्या करना। पेट मार कर मर जाना = आत्मघात करना। उ०—पेटो ना दिखाओ कौक पेट मारि मरिहै। पेट में आँत न। मुँह में दाँत = वह जो बहुत बुढ़ा हो। अत्यंत वृद्ध। पेट में खलबली पड़ना = (१) चिंता होना। फिक्र होना। (२) व्याकुलता होना। घबराहट होना। पेट में चूड़ों का कलंगीजी खेलना = दे० “पेट में चूहे दौड़ना”। पेट में चींटे की गिरह होना = बहुत कम खाना। थोड़ा भोजन करना। पेट में डाढ़ी होना = वचन ही में बहुत बुद्धिमान होना। पेट में झाड़ना = खा जाना। पेट में पाँव होना = अत्यंत ठली

वा कपटी होना। चालबाज होना। पेट में बल पड़ना = इतनी हँसी आना कि पेट में दर्द सा होने लगे। (कोई वस्तु) पेट में होना = अधिकार या चँगुल में होना। गुप्त रूप से पास में होना। जैसे, तुम्हारी पुस्तक इन्हीं लोगों के पेट में है। पेट मोटा हो जाना = बहुत घूसखोर हो जाना। अधिक रिश्वत लेने लगना। पेट लगना या लग जाना = भूख से पेट का अंदर घँस जाना। पेट से पाँव निकालना = (१) किसी अच्छे आदमी का बुरा काम करने लग जाना। कुमार्ग में लगना। (२) बहुत इतराना। (कोई वस्तु) पेट से निकालना = किसी के द्वारा उड़ाई या छिपा कर रखी हुई वस्तु को प्राप्त करना। हज़म की हुई चीज़ पाना।

(२) गर्भ। हमल।

यौ०—पेट पोंड़ना = अंतिम संतान। वह संतान जिसके उपरांत और कोई संतान न हो।

मुहा०—पेट गदराना = गर्भ के लक्षण प्रकट होना। गर्भवती होने के चिह्न दिखाई देना। पेट गिरना = गर्भ गिरना। गर्भपात होना। पेट गिराना = गर्भ नष्ट करना। गर्भपात करना। पेट गिरवाना = गर्भपात कराना। पेट चोटी = वह स्त्री जिसको गर्भ हो, परंतु लांघित न होता हो। गर्भवती होने पर भी जिसके गर्भ के लक्षण दिखाई न पड़ें। पेट छूटना = प्रसूता के गर्भाशय का अच्छी तरह साफ हो जाना। पेट ठंडा रहना = बच्चों का सुख देखना। संतान का जीवित रहना। पेट दिखाना = दाई से यह निश्चित कराना कि गर्भ है या नहीं। गर्भ होने या न होने की परीक्षा कराना। पेट फुलाना वा फुला देना = गर्भवती कर देना। पेट फूलना = गर्भ रहुँजाना। पेट रखना = गर्भवती कर देना। पेट रखाना = किसीसे संभोग करा के गर्भवती होना। पेट रखवाना = (१) गर्भवती होना। (२) गर्भवती होने की प्रेरणा करना। पेट रहना = गर्भ स्थित होना। गर्भ रहना। हमल रहना। पेटवाली = गर्भवती। पेट से होना = गर्भवती होना।

(३) पेट के अंदर की वह पैली जिसमें खाद्य पदार्थ रहता और पचता है। पचौनी। ओम्बर। (४) चक्की के पादों का वह तल जो दोनों को जोड़ने से भीतर पड़े। (५) सिल आदि का वह भाग जो कूटा हुआ और खुरदुरा रहता है और जिसपर रख कर कोई चीज़ पीसी जाती है। (६) अंतःकरण। मन। दिल। उ०—चेटकी चवाइन के पेट की न पाई मैं।—ठाकुर।

मुहा०—पेट में चूहे दौड़ना = (१) बहुत भूख लगना। (२) व्याकुल या चिंतित होना। व्यग्रता या खलबली होना। पेट में घुसना = भेद लेने के लिए मित्र बनना। रहस्य जानने के लिए मेल बढ़ाना। पेट में डालना = कोई बात अपने मन में रखना। भेद प्रकट न होने देना। पेट में बैठना या पैठना = दे० “पेट में घुसना”। पेट में होना = मन में होना। ज्ञान में होना। जैसे, कोई बात पेट में होना।

(७) पोली वस्तु के बीच का या भीतरी भाग। किसी पदार्थ के अंदर का वह स्थान जिसमें कोई चीज भरी जा सके। जैसे, बड़े पेट की बोतल। (८) बंदूक या तोप में का वह स्थान जहाँ गोली या गोला भरा जाता है। (९) गुंजाइश। समाई। (१०) रोजी। जीविका। जैसे, पेट के लिए सभी को कुछ न कुछ काम करना पड़ता है।
पेटक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पिटारा। मंजूषा। उ०—रघुवीर यश मुकुता विपुल सब भुवन पट्ट पेटक भरे। —तुलसी।
 (२) समूह। ढेर।

पेटकैयाँ—क्रि० वि० [हिं० पेट + कैयाँ (प्रत्य०)] पेट के बल।
पेटपोसुया ‡-संज्ञा पुं० दे० “पेटू”।
पेटरिया ‡-संज्ञा स्त्री० दे० “पिटारी”।
पेटल-वि० [हिं० पेट + ल (प्रत्य०)] बड़े पेटवाला। जिसका पेट बड़ा हो। तोंदल।

पेटा-संज्ञा पुं० [हिं० पेट] (१) किसी पदार्थ का मध्य भाग। बीच का हिस्सा। (२) तफसील। व्योरा। पूरा विवरण। (३) बड़ा टोकरा। (४) सीमा। हद्द। (५) घेरा। वृत्त। (६) नदी के बहने का मार्ग। (७) नदी का पाट। (८) पशुओं की अँतड़ी। (९) पतंग या गुड्डी की डोर का झोल। उड़ती हुई गुड्डी की डोर का वह अंश जो बीच में कुछ ढीला होकर लटक जाता है।

मुहा०—पेटा तोड़ना = उड़ती हुई गुड्डी की बीच में लटकती या झूमती हुई डोर तोड़ना। पेटा छोड़ना = उड़ती हुई गुड्डी की डोर का बीच में से लटक या झूल जाना।

पेटागि—संज्ञा स्त्री० [सं० पेट + अग्नि] भूख। उ०—जाति के सुजाति के कुजाति के पेटागिवश, खाये दूक सबके विदित बात दुनी सों। —तुलसी।

पेटार * ‡-संज्ञा पुं० [सं० पेटक] पिटारा। उ०—तिल चारो पानिप सलिल अलक फंद पल जार। मन पच्छी गहि कै किते डारे अवण पेटार। —सुबारक।

पेटारा-संज्ञा पुं० दे० “पिटारा”। उ०—कनक किरिटी कोटि पलंग पेटारे पीठ, काढ़त कहार सब जरे भरे भारहीं। —तुलसी।

पेटारी-संज्ञा स्त्री० दे० “पिटारी”। उ०—(क) नाम मंथरा मंदमति चेरि केकई केरि। अजसपिटारी ताहि करि गई गिरा मति फेरि। —तुलसी। (ख) बिसहर नाचहि पीठ हमारी। औ घर मूँदहि घालि पेटारी। —जायसी।

संज्ञा स्त्री० [सं० पेटिका] एक प्रकार का वृत्त। दे० “पिटारी”।

पेटार्यी, पेटार्यु-वि० [सं० पेट + अग्नि] जो पेट भरने को ही सब कुछ समझता हो। भुखड़। पेटू।

पेटिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पिटारी नाम का वृत्त। (२) संदूक। पेटी। (३) छोटी पिटारी।

पेटी-संज्ञा स्त्री० [सं० पेटिका] (१) संदूकची। छोटा संदूक। (२) छाती और पेडू के बीच का स्थान। पेट का वह भाग जहाँ त्रिबली पड़ती है। उ०—पेटी सुखवि लपेटी भलघल पाइ। पकरसि काम बनेटी राखु छिपाइ। —रहीम।

मुहा०—पेटी पड़ना = तोंद निकलना।

(३) कमर में बाँधने का चौड़ा तसमा। कमरबंद।

(४) चपरास।

मुहा०—पेटी उतरना = पुलिस के सिपाही का सुअत्तल वा बरखास्त किया जाना।

(५) हजामों की किसबत जिसमें वे कैची, लुरा आदि रखते हैं। (६) वह डोरा जो बुलबुल की कमर में उसे हाथ पर बैठाने के लिए बाँधते हैं।

क्रि० प्र०—बाँधना।

पेटू-वि० [हिं० पेट] जिसे सदा पेट भरने की ही फिक्र रहे। जो बहुत अधिक खाता हो। भुखड़।

पेटेंट-वि० [अंग०] (१) किसी आविष्कारक के आविष्कार के संबंध में सरकार द्वारा की हुई रजिस्ट्री जिसकी सहायता से वह आविष्कारक ही अपने आविष्कार से आर्थिक लाभ उठा सकता है, दूसरे किसीको उसकी नकल करके आर्थिक लाभ उठाने का अधिकार नहीं रह जाता। यह रजिस्ट्री नए प्रकार की मशीनों, यंत्रों, युक्तियों या औषधों आदि के संबंध में होती है। ऐसी रजिस्ट्री के उपरान्त उस आविष्कार पर एक मात्र आविष्कारक का ही अधिकार रह जाता है। (२) (वह आविष्कार या पदार्थ आदि) जिसकी इस प्रकार रजिस्ट्री हो चुकी हो।

पैठ-संज्ञा पुं० दे० “पैठ”।

पैठा-संज्ञा पुं० [देश०] सफेद रंग का कुम्हड़ा। विशेष—दे० “कुम्हड़ा”।

पेड़-वि० [अंग०] (१) जो चुका दिया गया हो। जो चुकता कर दिया गया हो। (२) जिसका महसूल, कर या भाड़ा आदि दे दिया गया हो। “बैरिंग” या “बैरंग” का उलटा।

पेड़-संज्ञा पुं० [सं० पिंड] (१) वृत्त। द्रव्य। विशेष—दे० “वृत्त”।

मुहा०—पेड़ लगना = वृत्त का किसी स्थान पर जड़ पकड़ना। पौधे आदि का जमाना। पेड़ लगाना = वृत्त या पौधे आदि को किसी स्थान पर जमाना।

(२) आदि कारण। मूल कारण। (क्व०)

पेड़ना ‡-क्रि० सं० दे० “पेरना”।

पेड़ा-संज्ञा पुं० [सं० पिंड] (१) खोवा और खाँड़ से बनी हुई एक प्रसिद्ध मिठाई जिसका आकार गोल और चपटा होता है। (२) गुँधे हुए आँटे की लोई।

पेड़ार ‡-संज्ञा पुं० [सं० पिंड] एक प्रकार का वृत्त।

पेड़ी—संज्ञा स्त्री० [सं० पिंड] (१) वृत्त की पींड। पेड़ का तना। धड़। कांड। (२) मनुष्य का धड़। शरीर का ऊपरी भाग। (३) पान का पुराना पौधा। जैसे, पेड़ी का पान, (४) पुराने पौधे के पान। वह पान जो पुराना तोड़ा हुआ तो न हो, पर पुराने पौधों में बाद में हुआ हो। (५) वह कर जो प्रति वृत्त पर लगाया जाय। (६) वह खेत जिसमें पहले ऊख बोया गया हो और जो फिर जो या गेहूँ बोने के लिए जोता जाय। (७) एक बार का काटा हुआ नील का पौधा। (८) दे० 'पैड़ी'।

पेड़ू—संज्ञा पुं० [हिं० पेट] (१) नाभि और मूत्रेन्द्रिय के बीच का स्थान। उपस्थ। (२) गर्भाशय।

मुहा०—पेड़ू की आँच = (१) पुरुष के साथ स्त्री का वह प्रेम जो केवल काम-वासना के कारण हो। (२) स्त्री की काम-वासना।

पेड़ड़ी—संज्ञा स्त्री० दे० 'पिड़ी'।

पेदर—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बहुत बड़ा जंगली पेड़ जिसके पत्ते हर साल झड़ जाते हैं। इसकी लकड़ी भीतर से सफेद और बहुत मजबूत होती है। यह मेज, कुर्सियाँ, अलमारियाँ, और नावें बनाने तथा इमारत के काम में आती है। इसकी जड़, पत्ते और फूल औषधि रूप में भी काम आते हैं। यह मद्रास और बंगाल में अधिकता से होता है।

पेन—संज्ञा पुं० [देश०] लसोड़े की जाति का एक वृक्ष जो गढ़वाल में होता है। इसकी लकड़ी मजबूत होती है। इसे 'कूम' भी कहते हैं।

पेनी—संज्ञा स्त्री० [अ०] इंग्लैंड में चलनेवाला ताँवे का सिक्का जो एक शिलिंग का बारहवाँ भाग होता है। यह भारत के प्रायः तीन पैसों के बराबर मूल्य का होता है।

पेनीवेट—संज्ञा पुं० [अ०] एक अँगरेजी तौल जो लगभग १० रस्ती के बराबर होती है।

पेन्शन—संज्ञा स्त्री० [अ०] वह मासिक या वार्षिक वृत्ति जो किसी व्यक्ति अथवा उसके परिवार के लोगों को उसकी पिछली सेवाओं के कारण दी जाय।

विशेष—जो लोग कुछ निश्चित समय तक किसी राजकीय (जैसे, शासन, सेना आदि) विभाग में काम कर चुकते हैं, उन्हें वृद्धावस्था में, नौकरी से अलंग होने पर, कुछ वृत्ति दी जाती है जो उनके वेतन के आधे के लगभग होती है। सेना-विभाग के कर्मचारियों के मारे जाने पर उनके परिवार वालों को, अथवा किसी राज्य को जीत लेने पर उस राजकुल के लोगों और उनके वंशजों को भी इसी प्रकार कुछ वृत्ति दी जाती है। इसी प्रकार की वृत्तियाँ 'पेन्शन' कहलाती हैं।

क्रि० प्र०—देना।—पाना।—मिलना।—लेना।

पेन्शनर—संज्ञा पुं० [अ०] वह जिसे पेन्शन मिलती हो। पेन्शन पानेवाला व्यक्ति।

पेन्सिल—संज्ञा स्त्री० [अ०] लिखने का एक प्रसिद्ध साधन जिससे बिना दावात या स्याही के ही लिखा जाता है। यह प्रायः सुरमे, सीसे, रंगीन खड़िया या इसी प्रकार की और किसी सामग्री की बनी हुई पतली लंबी सलाई होती है जो या तो कलम के आकार की गोल लंबी लकड़ी के अंदर लगी हुई होती है और या किसी धातु के खाने में अटकई हुई होती है।

पेन्हाना—क्रि० सं० दे० 'पहनाना'।

क्रि० अ० [सं० पयः स्नान, प्रा० पहण्वन] तुहते समय गाय, भैंस आदि के थन में दूध उतरना जिससे थन फूले या भरे जान पड़ते हैं। उ०—तेइ तृण हरित चरै जब गाई। भाव बच्छ सिंसु पाय पेन्हई।—तुलसी।

पेपर—संज्ञा पुं० [अ०] (१) कागज। (२) दस्तावेज, तमसुक, सनद या और कोई लेख जो कागज पर लिखा हो। (३) समाचारपत्र। संवादपत्र। अखबार।

पेपरमिट—संज्ञा पुं० दे० 'पिपरमिट'।

पेम—संज्ञा पुं० दे० 'प्रेम'। उ०—राम सुपेमहिँ पोषत पानी। हरत सकल कलिकलुष गलानी।—तुलसी।

पेमचा—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का रेशमी कपड़ा।

पेय—वि० [सं०] पीने योग्य। जिसे पी सकें।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीने की वस्तु। वह चीज जो पीने के काम में आती हो। जैसे, पानी, दूध, शराब आदि। (२) जल। पानी। (३) दूध।

पेया—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वैद्यक में चावलों की बनी हुई एक प्रकार की लपली जो किसीके मत से ग्यारह गुने, किसीके मत से चौदह गुने और किसीके मत से पंद्रह गुने पानी में पकाकर तैयार की जाती है। यह स्वेद और अग्नि-ज्वर तथा भूख, प्यास, गलानि, दुर्बलता और कुचरोग की नाशक मानी जाती है। (२) माँड़। (३) आदी। अदरक। (४) सोआ नामक साग। (५) सौफ।

पेयूष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह दूध जो गौ के बच्चा देने के सात दिन बाद तक निकलता है। ऐसा दूध स्वाद में अच्छा नहीं होता और हानिकारक होता है। पेउस। (२) अमृत। (३) ताजा घी।

पेरना—क्रि० सं० [सं० पाइन] (१) दो भारी तथा कड़ी वस्तुओं के बीच में डालकर किसी तीसरी वस्तु को इस प्रकार दबाना कि उसका रस निकल आवे। जैसे, कोल्हू में तेल पेरना। उ०—(क) ज्यों किसान बेलन में ऊपहिँ। पेरत लेत निचोरि पियूषहिँ।—निरचल। (ख) भूखी शूल कर्म कोल्हून तिल ज्यों बहु बारन पेरो।—तुलसी।

(२) कष्ट देना । बहुत सताना । उ०—जोहिँ बालि बली वर सो वर पेरयो।—केशव । (३) किसी काम में बहुत देर लगाना । आवश्यकता से बहुत अधिक बिलंब करना । (४) किसी वस्तु को किसी यंत्र में डालकर घुमाना । कि० सं० [सं० प्रेरण] (१) प्रेरणा करना । चलाना । उ०—ये किरिट दशकंधर करे । आवत बालितनय के पेरे । —तुलसी । (२) भेजना । पठाना ।

पेरली—संज्ञा स्त्री० [?] तांडव नृत्य का एक भेद । इसमें अंगविक्षेप अधिक होता है और अभिनय कम । इसे “देशी” भी कहते हैं ।

पेरवा, पेरवाहा—संज्ञा पुं० [हि० पेरना] वह जो कोल्हू आदि में कोई चीज पेरता हो । पेरनेवाला ।

पेरा—संज्ञा पुं० [हि० पीला] एक प्रकार की मिट्टी जिससे दीवार, घर इत्यादि पोतने का काम लिया जाता है । इसका रंग कुछ पीलापन लिए हुए होता है । पोतनी मिट्टी । संज्ञा पुं० दे० “पेड़ा” ।

पेरी—संज्ञा स्त्री० [हि० पीली] पीले रंग में रंगी हुई धोती जो विवाह में वर वा बधू को पहनाई जाती है । इसे पिथरी भी कहते हैं ।

पेरु—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सागर । समुद्र । (२) सूर्य । (३) अग्नि । आग । (४) वह जो रक्षा करे । (५) वह जो पूर्ति करे । पूरा करनेवाला ।

पेलह—संज्ञा पुं० दे० “पेलहड़” ।

पेलना—कि० सं० [सं० पीड़न] (१) दबाकर भीतर घुसाना । जोर से भीतर टेलना या घँसाना । दबाना । उ०—विपति हरत हठि पघिनी के पात सम, पंक ज्यों पताल पेलि पठवै कलुष को।—केशव । (२) ढकेलना । धक्का देना । उ०—(क) गिरि पहाड़ पर्वत ऊहँ पेलहिँ । वृक्ष उचारि भारि मुख मेलहिँ । —जायसी । (ख) स्वामि काज इंद्रालन पेलों । —जायसी । (३) टाल देना । अवज्ञा करना । उ०—(क) जो न कियो परिनै पन पेलि, पषाण परै पुहुमीपति के पन । —रघुराज । (ख) भोरेहु भरत न पेलिहहिँ, मनसहुँ राम रजाइ । करिय न सोच सनेह बस, कहेउ भूप बिलखाइ । —तुलसी । (ग) जनक-सुता परिहरी अकेली । आयहु तात बचन मम पेजी । —तुलसी । (घ) प्रभु पितु बचन मोह बस पेजी । आयउँ यहाँ समाज सकेली । —तुलसी । (४) त्यागना । हटाना । फेंकना । उ०—राजमराल को बालक पेलि कै पावत लालत खूसर को । —तुलसी । (५) जबरदस्ती करना । बल प्रयोग करना । उ०—कह्यौ युवराज बोलि बानर समाज आज खाहु फल सुनि पेलि पैठे मधुवन में । —तुलसी । (६) प्रविष्ट करना । घुसेड़ना । (७) गुद्दा-मैथुन करना । (बाजारू) । (८) दे० “पेरना” ।

कि० सं० [सं० प्रेरण] आक्रमण करने के लिए सामने छोड़ना । ढीलना । आगे बढ़ाना । उ०—(क) कुंभस्थल कुच दोउ मयमंता । पेलों सौहँ सँभारहु कंता । —जायसी । (ख) जौ लहि धावहिँ अलका खेजहु । हकिहिँ केर जूइ सब पेलहु । —जायसी । (ग) पीलवान गज पेल से बाँके । जानहु काल करहिँ जिय माँके । —जायसी । (घ) (इतनी) बात के सुनते ही गजपाल ने गज पेला, ज्यों वह बलदेव जी पर दूटा, त्यों उन्होंने हाथ घुमाय एक थपेड़ा ऐसा मारा । —लल्लू ।

पेलवाना—कि० सं० [हि० पेलना का सकर्मक रूप] पेलने का काम दूसरे से कराना । दूसरे को पेलने में प्रवृत्त करना । दे० “पेलना” ।

पेला—संज्ञा पुं० [हि० पेलना] (१) तकरार । झगड़ा । उ०—कहा कहत तुमसों मैं ग्वारिनी । । लीन्हें फिरति रुन त्रिभुवन को पे मोखी बनजारिनि । पेला करति देत नहिँ नीके तुम हो बड़ी बँजारिनि । सूरदास ऐसो गद्य जाके ताके बुद्धि पसारिनि । —सूर । (२) अपराध । कसूर । (३) आक्रमण । धावा । चढ़ाई । उ०—करयौ गढ़ा कोटा पर पेला । जहाँ सुनै छत्रसाल बुँदेला । —लाल । (४) पेलने की क्रिया या भाव ।

पेलास—संज्ञा पुं० [अ०] मंगल और बृहस्पति के बीच का एक ग्रह जो सूर्य से २८२ करोड़ मील की दूरी पर है । चार वर्ष आठ मास में यह ग्रह सूर्य की परिक्रमा करता है । आकार में यह ग्रह चंद्रमा से छोटा है । सन् १८०२ ई० में डाक्टर आलवर्ज ने पहले पहल इसका पता लगाया था ।

पेलू—संज्ञा पुं० [हि० पेलना + ल (प्रत्यय)] (१) पेलनेवाला । वह जो पेलता हो । (२) पति । साविंद । (३) जार । उपपति । (४) वह जो गुद्दा-मैथुन करता हो । (बाजारू) । (५) जबरदस्त । बलवान ।

पेलहड़—संज्ञा पुं० [सं० पेलना पेलक] अंडकोष । फोता ।

पेव—संज्ञा पुं० [सं० प्रेम] प्रेम । उ०—दायज बसन भणि धेनु धन हय गय सुसेवक सेवकी । दीन्ही मुदित गिरिराज जे गिरिजहिँ पियारी पेव की । —तुलसी ।

पेवकड़ा—संज्ञा पुं० दे० “पियकड़ा” ।

पेवड़ी—संज्ञा स्त्री० [सं० पीत] (१) पीले रंग की बुकनी । (२) पीली रज । समरज ।

पेवरी—संज्ञा पुं० [सं० पीत] पीला रंग ।

पेवस—संज्ञा पुं० [सं० पेयूप] हाल की व्याई माय या भैंस का दूध जो अधिक गाढ़ा और रंग में कुछ पीला होता है । यह हानिकारक होने के कारण पीने योग्य नहीं होता ।

पेवसी—संज्ञा स्त्री० दे० “पेवस” ।

पेश—कि० वि० [फा०] सामने । आगे । सम्मुख ।

मुहा०—पेश आना = (१) वतीव करना। व्यवहार करना।
(२) घटित होना। सामने आना। होना। पेश करना = (१)
सामने रखना। दिखाना। सम्मुख उपस्थित कर देना। (२) भेंट
करना। नजर करना। पेश जाना वा चलना = वय चलना।
अधिकार वा जोर चलना। (किसीसे) पेश पाना = जीतना।
बाजी, होड़ मुकाबिले आदि में बढना। कृतकार्य होना।

पेशकब्ज—संज्ञा स्त्री० [फा०] कटारी।

पेशकश—संज्ञा पुं० [फा०] (१) नजर। भेंट। (२)
लौगात। तोहफा। उ०—कौन भयो ऐसे नृपति को हूँ है
यहि भाय। जाके डर गज पेशकश दिगज देत पठाय।—
गुमान।

पेशकार—संज्ञा पुं० [फा०] किसी दफ्तर का वह कार्यकर्ता जो
उस दफ्तर के कागज पत्र अफसर के सामने पेश करके
उनपर उसकी आज्ञा लेता है। हाकिम के सामने कागज
पत्र पेश करके उसपर हाकिम की आज्ञा लिखनेवाला
कर्मचारी।

पेशकारी—संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) पेशकार का पद। (२)
पेशकार का काम।

पेशखेमा—संज्ञा पुं० [फा०] (१) सेना की खेमा तंबू आदि
वह आवश्यक सामग्री जो उसके किसी स्थान पर पहुँचने
से पहले उसके सुभीते के लिए भेजी जाती हो। फौज का
वह सामान जो पहले से ही आगे भेज दिया जाय। (२)
फौज का वह अगला हिस्सा जो आगे आगे चलता है।
हरावल॥ (३) किसी बात या घटना का पूर्व लक्षण।

पेशगी—संज्ञा स्त्री० [फा०] वह धन वा रकम जो किसीको
किसी काम के करने के लिए उस काम के करने से पहले
ही दे दी जाय। पुरस्कार या मजदूरी आदि का वह अंश
जो काम होने से पहले ही दिया जाय। अगौड़ी। अगाज।

पेशतर—क्रि० वि० [फा०] पहले। पूर्व।

पेशताख—संज्ञा स्त्री० [फा० पेशताक] एक प्रकार की मेहराब जो
अच्छी इमारतों में दरवाजे के ऊपर और आगे की ओर
निकली हुई बनाई जाती है।

पेशदस्त—संज्ञा पुं० दे० “पेशाकार”।

पेशदस्ती—संज्ञा स्त्री० [फा०] वह अनुचित कार्य जो किसी
पक्ष की ओर से पहले हो। जबरदस्ती। ज्यादती।

पेशबंद—संज्ञा पुं० [फा०] चारजामें में लगा हुआ वह दोहरा
बंधन जो घोड़े के गर्दन पर से लाकर दूसरी ओर बांध
दिया जाता है। इस बंधन के कारण चारजामा घोड़े की
हुम की ओर नहीं खिसक सकता।

पेशबंदी—संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) पहले से किया हुआ प्रबंध
या बचाव की युक्ति। पूर्व चिंतित युक्ति। (२) छल।
धोखा।

पेशराज—संज्ञा पुं० [फा० पेश + हिं० राज = मकान बनानेवाला] वह
मजदूर जो राज वा मेमार के लिए पत्थर ढो ढोकर लाता
हो। पत्थर ढोनेवाला मजदूर। (कहीं कहीं पेशराज लोग
हुँटों की जुनाई आदि का भी काम करते हैं।)

पेशल—वि० [सं०] (१) मनोमुग्धकारी। मनोहर। सुंदर।
(२) चतुर। प्रवीण। (३) धूर्त। चालाक। (४)
कोमल।

संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

पेशलता—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सुंदरता। सौंदर्य। खूबसूरती।
(२) सुकुमारता। नज़ाकत। (३) धूर्तता। चालाकी।

पेशवा—संज्ञा पुं० [फा०] (१) नेता। सरदार। अग्रगण्य। (२)
महाराष्ट्र साम्राज्य के प्रधान मंत्रियों की उपाधि।

विशेष—मुसलमानों के राज्य-काल में दक्षिण की मुसलमानी
रियासतों के प्रधान मंत्री ‘पेशवा’ कहलाते थे। पर उस समय
तक यह शब्द अधिक प्रसिद्ध नहीं हुआ था। इसके उपरांत
शिवाजी के प्रधान-मंत्री भी पेशवा ही कहे जाने लगे।
यद्यपि आगे चलकर शिवाजी ने यह शब्द उठा दिया था,
तथापि कुछ दिनों के बाद फिर इसका प्रचार हो गया और
धीरे धीरे यह शब्द “प्रधान मंत्री” का पर्याय सा हो गया।
आगे चलकर जब शिवाजी के राजवंश का ह्रास होने लगा,
तब ये पेशवा लोग ही महाराष्ट्र साम्राज्य के अधीश्वर
हुए। कई एक पेशवाओं के समयमें महाराष्ट्र साम्राज्य की
शक्ति बहुत बढ़ गई थी।

पेशवाई—संज्ञा स्त्री० [फा०] किसी माननीय पुरुष के आने पर
कुछ दूर आगे चलकर उसका स्वागत करना। अगवानी।
संज्ञा स्त्री० [हिं० पेशवा + ई (प्रत्य०)] (१) पेशवाओं की
शासन कला। (२) पेशवा का पद या कार्य।

पेशवाज़—संज्ञा स्त्री० [फा०] वेश्याओं या नर्तकियों का वह
वावरा जो वे नाचते समय पहनती हैं। इसका घेरा कुछ
अधिक होता है और इसमें प्रायः ज़रदोजी का काम बना
रहता है।

पेशा—संज्ञा पुं० [फा०] वह कार्य जो मनुष्य नियमित रूप से
अपनी जीविका उपार्जित करने के लिए करता हो। कार्य।
उद्यम। व्यवसाय। जैसे, वकालत का पेशा, हलवाई
का पेशा, मजदूरी का पेशा।

यौ०—पेशा काना या कमाना = कसब कमाना। वेश्यावृत्ति
करना। रंडी बनकर जीविका उपार्जित करना। (बाजारू)।

पेशानी—संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) ललाट। मात। कपाल।
माथा। (२) किस्मत। आरब्ध। भाग्य। (३) किसी
पदार्थ का ऊपरी और आगे का भाग।

पेशान—संज्ञा पुं० [फा०] सि० सं० प्रसाव] (१) मूत। मूत्र।
यौ०—शानखाना।

मुहा०—पेशाव करना = (१) मूतना। (२) अत्यंत तुच्छ समझना। कुछ न समझना। पेशाव की राह बहा देना = रंडीबाजी में खर्च कर देना। पेशाव निकल पड़ना या खता होना = अत्यंत भयभीत होना। इतना डरना कि पेशाव निकल जाय। पेशाव बंद होना = (१) मूत्र का उतरना रुक जाना। (२) अत्यंत भयभीत हो जाना। (किसी के) पेशाव का चिराग जलना या पेशाव से चिराग जलना = अत्यंत प्रतापी होना। अत्यंत प्रभावशाली वा विभवशाली होना।

(२) वीर्य। धातु। (३) संतान। औलाद।

पेशावखाना—संज्ञा पुं० [फा०] वह स्थान जहाँ लोग मूत्र त्याग करते हैं। पेशाव करने की जगह।

पेशावर—संज्ञा पुं० [फा०] किसी प्रकार का पेशा करनेवाला। व्यवसायी।

संज्ञा पुं० [फा०] पेश + आवर = आगे लानेवाला। मि० सं० पुरुषपुर] भारत की पश्चिमी सीमा का एक प्रसिद्ध नगर।

पेशिका—संज्ञा पुं० [सं०] अंडा।

पेशी—संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) हाकिम के सामने किसी मुकदमे के पेश होने की क्रिया। मुकदमे की सुनवाई।

पेशी—पेशी का मुहरिर = वह मुहरिर जो मुकदमे के कागज-पत्र पढ़कर हाकिम को सुनावे। पेशकर। मितिलखवां।

(२) सामने होने की क्रिया या भाव।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वज्र। (२) तलवार की म्यान।

(३) अंडा। (४) जटामासी। (५) पकी हुई कली।

(६) प्राचीन काल का एक प्रकार का ढोल। (७) एक प्राचीन नदी का नाम। (८) एक राक्षसी का नाम।

(९) चमड़े की वह थैली जिसमें गर्भ रहता है। (१०) शरीर के भीतर मांस की गुलथी या गाँठ।

विशेष—आधुनिक शरीर-विज्ञान के अनुसार शरीर के भीतर मांसतंतुओं की बहुत सी छोटी बड़ी गुलथियाँ या लच्छे से होते हैं जो कुछ सूत्रों के द्वारा आपस में जुड़े रहते हैं। इन सूत्रों को हटाने पर ये मांस के टुकड़े अलग अलग किए जा सकते हैं। इस प्रकार जो टुकड़े बिना चिरे-फाड़े सहज में अलग किये जा सकें, उन्हीं को पेशी या मांस-पेशी कहते हैं। पेशियों में विशेषता यह होती है कि वे सुकड़ती और फैलती हैं। अनेक पेशियों के संयोग से शरीर में के पुट्टे, आदि बनते हैं। ये पेशियाँ अनेक आकार और प्रकार की होती हैं। कोई छोटी कोई बड़ी, कोई पतली, कोई मोटी, कोई लंबी और कोई चौड़ी होती हैं। मांस-पेशियों के बीच बीच में झिल्लियाँ रहती हैं। ये पेशियाँ सहज में अपने स्थान से हटाई नहीं जा सकती क्योंकि ये कहीं न कहीं अपने नीचे रहनेवाली हड्डी से जुड़ी रहती हैं। इन्हीं पेशियों की सहायता से शरीर के

अंग हिलते डोलते हैं। अंगों का संचालन, प्रसारण, संकोचन, स्थितिस्थापन आदि इन्हीं पेशियों की सहायता से होता है। जैसे, कोई पेशी मुँह खोलने के समय होंठ को ऊपर उठाती है, कोई हाथ उठाने में सहायक होती है, कोई उसे मर्यादा से आगे बढ़ने से रोकती है, कोई गरदन को अधिक झुकने नहीं देती, कोई पेट के भीतर के किसी यंत्र को दबाये रखती है, और कोई मल अथवा मूत्र के त्यागने अथवा रोकने में सहायता देती है। कभी कभी शरीर के एक ही काम के लिए अनेक पेशियों की भी सहायता होती है। कुछ पेशियाँ ऐसी होती हैं जो इच्छा करते ही हिललाई जुलाई जा सकती हैं और कुछ ऐसी होती हैं जो इच्छा करने पर भी अपने स्थान से नहीं हट सकतीं। शरीर की सभी पेशियों का संबंध मस्तिष्क अथवा उसके निचले भाग के गतिवाहक सूत्रों से होता है। आधुनिक शरीर-विज्ञान के ग्रंथों में यह बतलाया गया है कि शरीर के किस अंग में कितनी पेशियाँ हैं। कुल पेशियों की संख्या भी निश्चित है। हमारे यहाँ वैद्यक में इन पेशियों को प्रत्यंग में माना है और उनकी संख्या ५०० बतलाई गई है। यद्यपि यह संख्या आधुनिक शरीर-विज्ञान में बतलाई हुई संख्या के लगभग ही है, तथापि दोनों के ब्योरे में बहुत अधिक अंतर है।

पेशीनगोई—संज्ञा स्त्री० [फा०] भविष्य कथन। भविष्यद्वाणी।

पेशतर—क्रि० वि० [फा०] पहले। पूर्व।

पेषण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीसना। (२) तिथारा धूँड़।

पेषणी—संज्ञा स्त्री० [सं०] सिला जिसपर कोई चीज़ पीसी जाय।

पेषना—क्रि० सं० दे० “पेखना”।

संज्ञा पुं० दे० “पेखना”।

पेषि—संज्ञा स्त्री० [सं०] वज्र।

पेषी—संज्ञा स्त्री० [सं०] पिशाचिनी।

पेस—वि० दे० “पेश”। उ०—हेतुमान सहित बखाने “हेतु” जाको नाम, चारो फल आठो सिद्धि दीवे ही को पेस हैं।

—डूल्ह।

पेहँटा—संज्ञा स्त्री० [देश०] कचरी नाम की लता का फल जो कुंदरू के आकार का होता है और जिसकी तरकारी तथा कचरी बनती है। विशेष—दे० “कचरी (१)”।

पेहँटी—संज्ञा स्त्री० दे० “पेहँदुल”।

पैकड़ा—संज्ञा पुं० [दि० पाँच = कड़ा] (१) पैर का कड़ा। (२) बेड़ी।

संज्ञा पुं० [?] ऊँट की नकेल।

पैंग—संज्ञा स्त्री० दे० “पिंग”।

पैच—संज्ञा स्त्री० [सं० प्रतंची] धनुष की डोरी।

संज्ञा स्त्री० [सं० पिच्छ] मोर की पूँछ।

पैचना †—क्रि० सं० [देश०] (१) अनाज फटकना । पछोरना ।

(२) पलटना । फेरना ।

पैचा—संज्ञा पुं० [देश०] हेर फेर । पलटा ।

पैचा—पैचा पैचा = हेर फेर । हेरा फेरा । उलट पलट ।

पैजना—संज्ञा पुं० [हिं० पाँच + अनु० मन, मन] [स्त्री० अल्प० पैजनी] पैर का एक आभूषण जो कड़े के आकार का पर उससे मोटा और खोलला होता है। इसके भीतर कंकड़ियाँ पड़ी रहती हैं जिससे चलने में यह बजता है ।

पैजनियाँ—संज्ञा स्त्री० दे० 'पैजनी' ।

पैजनी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पाँच + अनु० मन, मन] (१) खियों और बच्चों का एक गहना जो कड़े की तरह पैर में पहना जाता है। यह खोलला होता है और इसके भीतर कंकड़ियाँ पड़ी रहती हैं जिससे चलने में यह मन मन बजता है। घोड़ों के पैर में भी उन्हें कभी कभी पहनाते हैं। (२) सगड़ या बैलगाड़ी के पहिण के आगे की वह टेढ़ी लकड़ी जिसके छेद में से घुरा निकला रहता है ।

पैठ—संज्ञा स्त्री० [सं० पण्यस्थान, प्रा० पण्डा; अप० पँड्डा] (१) हाट । बाजार । उ०—लेना हो सो लेइ ले उठी जात है पैठ ।—कबीर । (२) हठी । दुकान । उ०—ऊधो धज में पैठ करी ।—सूर । (३) वह दिन जिस दिन हाट लगती हो । बाजार का दिन । (४) दूसरी हुंडी जो महाजन पहली हुंडी के खो जाने पर लिख देता है ।

पैठौर—संज्ञा पुं० [हिं० पैठ + ठौर] दुकान । हाट । उ०—ऐसी वस्तु अनूपम मधुकर मन जिनि आनहु और । ब्रजबनिता के नाहिँ काम को है तुम्हरे पैठौर ।—सूर ।

पैड़—संज्ञा पुं० [हिं० पाँच + ड (प्रत्य०) वा पाददंड, प्रा० पायडंड] (१) चलने में एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान पर पैर रखना । डग ।

क्रि० प्र०—भरना ।

मुहा०—पैड़ भरना = (१) किसी देवता या तीर्थ की ओर पैर नापते चलेना । (२) इस प्रकार शपथ खाना । जैसे, तू सच बोलता है तो गंगा की ओर चार पैड़ भर जा ।

(२) एक स्थान से उठाकर जितनी दूरी पर पैर रखा जाय उतनी दूरी । डग । पग । कदम । उ०—तीन पैड़ धरती हों पाऊँ परन कुटी इक छाऊँ ।—सूर । (३) पथ । मार्ग । रास्ता । पगडंडी ।

पैड़ा—संज्ञा पुं० [हिं० पैड़] (१) रास्ता । पथ । मार्ग ।

मुहा०—पैड़े परना = पीछे पड़ना । तंग करने के लिए साथ लगे फिरना । बार बार तंग करना । उ०—मानत नाहिँ हटकि हारों हम पैड़े परे कन्हाई ।—सूर ।

(२) घुड़सार । अस्तबल । (३) प्रणाली । रीति । उ०—गोकुल गाँव को पैड़े चारो ।

पैड़िया †—संज्ञा पुं० [देश०] कोल्हू में गन्ने भरनेवाला ।

पैड़ा—संज्ञा पुं० दे० 'पैड़ा' ।

पैत †—संज्ञा स्त्री० [सं० पण्यकृत, प्रा० पण्यत] दाँव । बाज़ी ।

उ०—(क) माँगे पैत पावत पचारि पातकी प्रचंड काल की कशालता भले को होतु पोच है ।—तुलसी । (ख) चोर पैत जस संध सँवारी । जुवा पैत जस लाय जुआरी ।—जायसी ।

संज्ञा पुं० [?] सात की संख्या । (दलाल) ।

पैतालीस—वि० दे० 'पैतालिस' ।

पैतालिस—वि० [सं० पंचचत्वारिंशत, प्रा० पंचचत्वारिंशति, अप० पंचतालीसा] जो गिनती में चालीस से पाँच अधिक हो । चालीस और पाँच ।

संज्ञा पुं० चालीस से पाँच अधिक की संख्या या अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—४५ ।

पैती—संज्ञा स्त्री० [सं० पवित्र, प्रा० पवित, पवत्] (१) कुश को ऐंठकर बनाया हुआ छल्ला जिसे श्राद्धादि कर्म करते समय उंगली में पहनते हैं । पवित्री । (२) ताँबे या त्रिलोह की आँगूठी जो पवित्रता के लिए अनामिका में पहनी जाती है ।

पैतीस—वि० [सं० पंचत्रिंशत्, प्रा० पंचत्त्रिंशति, अप० पंचतीसा] जो गिनती में तीस से पाँच अधिक हो । तीस और पाँच । संज्ञा पुं० तीस से पाँच अधिक की संख्या या अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—३५ ।

पैयाँ †—संज्ञा स्त्री० [हिं० पाँच] पैर । पाँव ।

पैसठ—वि० [सं० पंचषष्टि, प्रा० पंचसष्टि] जो गिनती में साठ से पाँच अधिक हो । साठ और पाँच ।

संज्ञा पुं० साठ से पाँच अधिक की संख्या या अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—६५ ।

पै †—प्रत्य० [सं० परं] (१) पर । परंतु । लेकिन । उ०—बरजत बार बार हैं तुमको पै तुम नेकन मानो ।—सूर । (२) निश्चय अवश्य । जरूर । उ०—सुख पाइहैं कान सुने बतियाँ कल आपुस में कलु पै कहिहैं ।—तुलसी । (३) पीछे । अनंतर । बाद । उ०—(क) ऊधो ! श्याम कहा पावैगे प्रान गए आप ।—सूर । (ख) कमल भानु देखे पै हँसा ।—जायसी ।

यौ०—जो पै = यदि । अगर । उ०—जो पै रहनि राम सो नाही । तौ नर खर कूर सूकर से जाय जियत जग माहीं ।—तुलसी । तो पै = तो फिर । उस अवस्था में । उ०—होते जौ न, शंसु रानी ! पद बरदानि तेरे तो पै कौन सुनतो कहानी दीन जन की ।—चरणचंद्रिका ।

[हिं० पास, पहुँ । वा सं० प्रति, प्रा० पडि, पड] (१) पास । समीप । निकट । उ०—(क) परतिज्ञा राखी मनमोहन फिर तापै पड्यो ।—सूर । (ख) वापै कही बहुत बिधि सोँ हम नेकु न दीनों कान ।—सूर । (२) प्रति । ओर । तरफ ।

उ०—सरसीरुह लोचन मोचन नीर चितै रघुनाथक सीय पै है ।
—तुलसी ।

प्रत्य० [सं० उपरि, हिं० ऊपर] (१) अधिकरण-सूचक एक विभक्ति । पर । ऊपर । उ०—(क) चढ़े अश्व पै वीर धाए सबै । (ख) कोपि चढ़े दशकंठ पै राम निशाचर सेन हिये हहरी ।—शंकर । (ग) विहारी पै वारंगी भालती भावरा ।—हितहरिवंश । (२) करण-सूचक विभक्ति । से । द्वारा । उ०—दीनदयाल कृपालु कृपानिधि कापै बहो परै ।—सूर । संज्ञा स्त्री० [सं० आपत्ति=दोष, भूल] दोष । ऐब । तुबस ।

क्रि० प्र०—करना ।—निकालना ।

संज्ञा पुं० दे० “पय” ।

संज्ञा पुं० [देश०] माड़ी देने की क्रिया । कलफ चढ़ाना ।

क्रि० प्र०—करना ।

पैकर—संज्ञा पुं० [फा० पैकार = इकट्ठा करनेवाला] कपास से रुई इकट्ठी करनेवाला ।

पैकरमा*—संज्ञा स्त्री दे० “परिक्रमा” ।

पैकरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पाय + कड़ा] पैरी । पवि में पहनने का एक गहना ।

पैकार—संज्ञा पुं० [फा०] थोड़ी पूँजी का रोजगारी । छोटा व्यापारी । फेरीवाला । फुटकर बेचनेवाला ।

पैकारी—संज्ञा पुं० दे० “पैकार” ।

पैकी—संज्ञा पुं० [सं० पायिक = हरकारा, फेरी लगानेवाला] मंखे तमाशे में घूम घूमकर लोगों को हुका पिलानेवाला ।

पैकेट—संज्ञा पुं० [अं०] पुलिंदा । मुट्ठा । छोटी गहरी ।

क्रि० प्र०—बांधना ।—भेजना ।

मुहा०—पैकेट लगाना = डाकघर में बाहर भेजने के लिए कोई पुलिंदा देना ।

पैखाना—संज्ञा पुं० दे० “पाखाना”, “पाखाना” ।

पैगंबर—संज्ञा पुं० [फा०] मनुष्यों के पास ईश्वर का संदेश लेकर आनेवाला । धर्मप्रवर्तक । जैसे, मूसा, ईसा, मुहम्मद ।

पैगंबरी—संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) पैगंबर होने का भाव । (२) पैगंबर का कार्य या पद । (३) एक प्रकार का गेहूँ ।

वि० पैगंबर-संबंधी ।

पैग*—संज्ञा पुं० [सं० पदक, प्रा० पत्रक, पग] डग । कदम । फाल ।

पैगाम—संज्ञा पुं० [फा०] (१) बात जो कहला भेजे । संदेश । संदेश । (२) विवाह संबंध की बात जो कही या कहलाई जाय ।

मुहा०—पैगाम डालना = संबंध करने का संदेश भेजना । संबंध करने की बातचीत करना ।

पैज*—संज्ञा स्त्री० [सं० प्रतिज्ञा, प्रा० पतिज्ञा, अप० पदज्ञा] (१) प्रतिज्ञा । प्रण । टेक । हठ । उ०—(क) पैज करी हनुमान निशाचर मारि सीय सुधि लाऊँ ।—सूर । (ख) पैज करि कही हरि तोहि उबारौं ।—सूर ।

क्रि० प्र०—करना ।—बांधना ।

(२) प्रतिद्वंद्विता । होड़ । किसीके विरोध में किया हुआ हठ । रीस । लागडाट । ज़िद । जैसे, कुछ नहीं वह मेरी पैज से वहाँ जा रहा है ।

मुहा०—पैज पैड़ जाना = प्रतिद्वंद्विता हो जाना । चक्काचक्की हो जाना । लागडाट हो जाना ।

संज्ञा पुं० [सं० पय, प्रा० पज] पैतरा ।

क्रि० प्र०—करना ।

पैजनी—संज्ञा स्त्री० दे० “पैजनी” ।

पैजा—संज्ञा पुं० [सं० पाद, हिं० पाय + सं० जट, हिं० जड़] लोहे का बड़ा जो किवाड़ के छेद में इसलिए पहनाया रहता है जिसमें किवाड़ उतर न सके । पाथना ।

पैजामा—संज्ञा पुं० दे० “पायजामा” ।

पैजार—संज्ञा पुं० [फा०] जूता । पनहीं । जोड़ा ।

यौ०—जूती पैजार = जूते से भार पीटा । जूता चलना । लड़ाई भगड ।

पैठ—संज्ञा स्त्री० [सं० प्रविष्ट, प्रा० पड्ड] (१) घुसने का भाव । प्रवेश । दखल ।

यौ०—घुस पैठ ।

(२) गति । पहुँच । आना जाना । जैसे, इस दरबार में उनकी पैठ नहीं है ।

संज्ञा स्त्री० दे० “पैठ” ।

पैठना—क्रि० अ० [हिं० पैठ + ना (प्रत्य०)] घुसना । प्रविष्ट होना । प्रवेश करना । किसी वस्तु के भीतर या बीच में जाना । जैसे, घर में पैठना, पानी में पैठना । उ०—चलेउ नाह सिर पैठेउ बागा ।—तुलसी ।

संयो० क्रि०—जाना ।

पैठाना—क्रि० स० [हिं० पैठना] प्रवेश कराना । घुसाना । भीतर से जाना ।

संयो० क्रि०—देना ।—लेना ।

पैठार*—संज्ञा पुं० [हिं० पैठ + आर (प्रत्य०)] (१) पैठ । प्रवेश । उ०—असगुन होहिं नगर पैठार । रटहि कुभांति कुखेत करार ।—तुलसी । (२) प्रवेशद्वार । फाटक । दरवाज़ा । मुहाना ।

पैठारी*—संज्ञा स्त्री० [हिं० पैठार] (१) पैठ । प्रवेश । (२) गति । पहुँच ।

पैठी*—संज्ञा स्त्री० [हिं० पैठ] बदला । एवज़ ।

पैड़ी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पैर] (१) वह जिसपर पैर रखकर ऊपर चढ़ें । सीढ़ी । जैसे, हर की पैड़ी । (२) कुएँ पर चरसा खींचनेवाले बेलों के चलने के लिए बना हुआ ढालवा रास्ता । (३) वह स्थान जहाँ सिंचाई के लिए जलाशय से पानी लेकर ढालते हैं । पौदा ।

पैतरा—संज्ञा पुं० [सं० पठांतर, प्रा० पथांतर] (१) पटा । तलवार

चलाने या कुशती लड़ने में धूम फिर कर पैर रखने की मुद्रा। वार करने का ठाट।

मुहा०—पैतरा बदलना = पटा चलाने या कुशती लड़ने में ढव के साथ इधर उधर पैर रखना। **पैतरा भाँजना** = धूमते हुए पैर रखना और हाथ घुमाना।

(२) धूल पर पड़ा हुआ पदचिह्न। पैर का निशान। खोज। **पैतरी**—संज्ञा स्त्री० [हिं० पैतरा] रेशम फेरने की परेती। **पैतला**—वि० [हिं० पाँव + यल] उथला। छिछला। पायाव। पैयला।

पैतलाय—वि० [?] सत्रह। १७। (दलाल)

पैताना—संज्ञा पुं० दे० “पायताना”।

पैतामह—वि० [सं०] पितामह संबंधी।

पैतामहिक—वि० [सं०] पितामह से पास (धन आदि)।

पैतृक—वि० [सं०] पितृ संबंधी। पुश्तैनी। पुरखों का। जैसे, पैतृक भूमि, पैतृक संपत्ति।

पैत्त—वि० [सं०] पित्तज। पित्त से उत्पन्न।

पैत्तिक—वि० [सं०] पित्त संबंधी। पित्त का। पित्त से उत्पन्न।

पैत्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) अँगूठे और तर्जनी के बीच का भाग। पितृतीर्थ। (२) पितृ संबंधी श्राद्ध आदि।

पैत्र्य—वि० [सं०] पितृ संबंधी।

पैथला—वि० [हिं० पाँव + यल] उथला। छिछला। पायाव।

पैदर—संज्ञा पुं० दे० “पैदल”।

पैदल—वि० [सं० पादतल, प्रा० पायतल] जो पाँव पाँव चले। जो सवारी आदि पर न हो। पैरों से चलनेवाला। जैसे, पैदल सिपाही, पैदल सेना।
क्रि० वि० पाँव पाँव। पैरों से। सवारी आदि पर नहीं। जैसे, पैदल चलना, पैदल घूमना।
संज्ञा पुं० (१) पाँव पाँव चलना। पादचारण। जैसे, पैदल का रास्ता, पैदल का सफर। (२) पैदल सिपाही। पाँव पाँव चलनेवाला सैन्ना। पदाति। जैसे, उसके साथ ५ हजार सवार और बीस हजार पैदल थे। (३) शतरंज में वह नीचे दर्जे की गोटी जो सीधा चलती और आड़ा मारती है।

पैदा—वि० [फा०] (१) उत्पन्न। जन्मा हुआ। प्रसूत। जो पहले न रहा हो, नया प्रकट हुआ हो। जैसे, लड़का पैदा होना, अनाज पैदा होना। (२) प्रकट। आविर्भूत। घटित। उपस्थित। जैसे, फगड़ा पैदा होना, नई बात पैदा होना। (३) प्राप्त। अर्जित। हासिल। कमाया हुआ। जैसे, रुपया पैदा करना, कमाल पैदा करना।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

†संज्ञा स्त्री० आय। आमदनी। अर्थागम। लाभ। जैसे, उस नौकरी में बड़ी पैदा है।

पैदाइश—संज्ञा स्त्री० [फा०] उत्पत्ति। जन्म।

पैदाइशी—वि० [फा०] (१) जन्म का। जब से जन्म हुआ अभी का। बहुत पुराना। जैसे, पैदाइशी रोग। (२) स्वाभाविक। प्राकृतिक। जैसे, यह हुनर पैदाइशी होता है।

पैदावार—संज्ञा स्त्री० [फा०] अन्न आदि जो खेत में बोने से प्राप्त हो। उपज। फसल। जैसे, इस खेत की पैदावार अच्छी नहीं है।

पैदावारी—संज्ञा स्त्री० दे० “पैदावार”।

पैन—संज्ञा पुं० [सं० पयाण, हिं० पायान] (१) नाली। (२) पनाला।

पैना—वि० [सं० पैण = घिसना, टेना] [स्त्री० पैनी] जिसकी धार बहुत पतली या काटनेवाली हो। चोखा। धारदार। तीक्ष्ण। तेज़। उ०—परनारी, पैनी लुरी कबहुँ न लावे अंग।

संज्ञा पुं० (१) हलवाहों की बैल हाँकने की छोटी छड़ी। (२) लोहे का नुकीला छड़। अंकुश।

संज्ञा पुं० [?] धातु गलाने का मसाला।

संज्ञा पुं० दे० “पैन”।

पैनाक—वि० [सं०] पिनाक संबंधी।

पैनाना—क्रि० सं० [हिं० पैना] लुरे आदि की धार को रगड़कर पैनी करना। चोखा करना। टेना।

पैन्हना—क्रि० सं० दे० “पहनना”।

पैमक—संज्ञा स्त्री० [?] कलावत्तू की बनी हुई एक प्रकार की सुनहरी गोठ जिसे अँगरेखे टोपी आदि के किनारे पर लगाते हैं। लेस।

पैमाइश—संज्ञा स्त्री० [फा०] मापने की क्रिया या भाव। माप। जैसे, जमीन या खेत की पैमाइश।

पैमाना—संज्ञा पुं० [फा०] वह वस्तु (छड़, डंडा, सूत, डोरी, बरतन आदि) जिससे कोई वस्तु मापी जाय। मापने का औजार। मानदंड।

पैमाल—वि० दे० “पामाल”।

पैयाँ—संज्ञा स्त्री० [हिं० पाँव] पाँव। पैर।

पैया—संज्ञा पुं० [सं० पाय्य = निवृत्त] (१) बिना सत का अमाज का दाना। मारा हुआ दाना। खोखला दाना। उ०—मातु पिता कहैं सब धन तेरो मोरे लेखे पछोरल पैया।—कबीर। (२) सुक्ख। दीन हीन।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बाँस जो पूरबी बंगाल, चटगाँव और बरमा में बहुत होता है। इसमें बड़े बड़े फल लगते हैं जो खाए जाते हैं। बंसलोचन भी इस बाँस में बहुत निकलता है। यह बाँस बहुत सीधा जाता है और गाँठें भी इसमें दूर दूर पर होती हैं। चटगाँव में इसकी चटाइयाँ बहुत बनती हैं। घरों में भी यह लगता है। इसे मूलीमंतंगा और तराई का बाँस भी कहते हैं।

† संज्ञा पुं० दे० “पहिया” ।

पैर-संज्ञा पुं० [सं० पद + दंड, प्रा० पयदंड, अप० पयँड] (१)

वह अंग या अवयव जिसपर खड़े होने पर शरीर का सारा भार रहता है और जिससे प्राणी चलते फिरते हैं । गतिसाधक अंग । पाँव । चरण (‘पैर’ शब्द से कभी कभी एड़ी से पंजे तक का भाग ही समझा जाता है) । विशेष—दे० “पाँव” ।

मुहा०—पैर छूटना = मासिक धर्म अधिक होना । रजःस्राव अधिक होना ।

(२) धूल आदि पर पड़ा हुआ पैर का चिह्न । पैर का निशान । जैसे, बालू पर पड़े हुए पैर देखते चले जाओ । संज्ञा पुं० [हिं० पयाल, पयार] (१) वह स्थान जहाँ खेत से कटकर आई हुई फसल दाना झाड़ने के लिये फैलाई जाती है । खलियान । (२) खेत से कटकर आए डंठल सहित अनाज का अटाला ।

† संज्ञा पुं० [सं० प्रदर] प्रदर रोग ।

पैरउठान-संज्ञा पुं० [हिं० पैर + उठाना] कुरती का एक पंच जिसमें बायाँ पैर आगे बढ़ाकर बाएँ हाथ से जोड़ की छाती पर धक्का देते और उसी समय दहने हाथ से उसके पैर के घुटने को उठाकर और बायाँ पैर उसके दहने पैर में अड़ाकर कुरती से उसे अपनी ओर खींचकर चित कर देते हैं ।

पैरगाड़ी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पैर + गाड़ी] वह हलकी गाड़ी जो बेंठे बेंठे पैर दबाने से चलती है । जैसे, बाइसिकिल, ट्राइसिकिल ।

पैरना-क्रि० अ० [सं० पलवन, प्रा० पवण, हिं० पौडना] तैरना । पानी के ऊपर हाथ पैर चलाते हुए जाना ।

संयो० क्रि०—जाना ।

मुहा०—पैरा हुआ = पारंगत । दत्त । निपुण ।

पैरवी-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) कदम बा कदम चलना । अनुगमन । अनुसरण । (२) आज्ञापालन । (३) पच का मंडन । पच लेना । किसी बात के अनुकूल प्रयत्न । कोशिश । दौड़धूप । जैसे, मुकदमे की पैरवी करना, किसीके लिए पैरवी करना ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

पैरवीकार-संज्ञा पुं० [फा०] पैरवी करनेवाला ।

पैरा-संज्ञा पुं० [हिं० पैर] (१) आधा हुआ कदम । पड़े हुए चरण । पौरा । जैसे, बहू का पैरा न जाने कैसा है कि जब से आई है कोई सुख से नहीं है । (२) एक प्रकार का कड़ा जो पैर में पहना जाता है । (३) किसी ऊँची जगह चढ़ने के लिए लकड़ियों के बरले आदि रख कर बनाया हुआ रास्ता । उ०—मन गरुओ कुचगिरिन पे जैसह पहुँचि सकै न । याही तँ लै डीठि के पैरे बाधत नैन ।—रसनिधि ।

संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की दक्खिनी कपास जिसके पेड़ बहुत दिनों तक रहते हैं । इसके डंठल लाल रंग के होते हैं । रुई इसकी बहुत साफ नहीं होती, उसमें कुछ ललाईपन या भूरापन होता है । यह कपास मध्य भारत से लेकर मकरास तक होती है ।

संज्ञा पुं० [सं० पिटक, प्रा० पिडा] लकड़ी का खाना जिसमें सोनार अपने कांटे बाट रखता है ।

संज्ञा पुं० दे० “पयाल” ।

संज्ञा पुं० [अ०] लेख का उतना अंश जितने में कोई एक बात पूरी हो जाय और जो इसी प्रकार के दूसरे अंश से कुछ जगह छोड़ कर अलग किया गया हो । जिस पंक्ति पर एक पैरा समाप्त होता है, दूसरा पैरा उस पंक्ति को छोड़कर और किनारे से कुछ हटाकर आरंभ किया जाता है ।

पैराई-संज्ञा स्त्री० [हिं० पैरना, धातु पैर + आई (प्रत्य०)] (१)

पैरने या तैरने की क्रिया या भाव । (२) तैरने की कला ।

(३) तैरने की मजदूरी ।

पैराक-संज्ञा पुं० [हिं० पैरनी] तैरनेवाला । तैराक ।

पैराग्राफ-संज्ञा पुं० [अ०] दे० “पैरा” ।

पैराना-क्रि० स० [हिं० ‘पैरना’ का प्रे०] पैरने का काम कराना । तैराना ।

संयो० क्रि०—देना ।—लेना ।

पैराच-संज्ञा पुं० [हिं० पैरना] इतना पानी जिसे केवल तैरकर ही पार कर सकें । डुबाव ।

पैराशूट-संज्ञा पुं० [अ०] एक बहुत बड़ा छाता जिसके सहारे बैलून (गुब्बारा) धीरे धीरे ज़मीन पर उतरता और गिरकर टूटता फूटता नहीं ।

पैरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पैर] (१) पैर में पहनने का एक चौड़ा गहना जो फूल या काँसे का बनता है और जिसे नीच जाति की स्त्रियाँ पहनती हैं । (२) अनाज के कटे हुए पौधे जो दायँने के लिए फैलाए जाते हैं । (३) अनाज के सूखे पौधों पर बैल चलाकर और डंडा मार कर दाना झाड़ने की क्रिया । दायँने का काम । दवाई ।

क्रि० प्र०—करना ।

(४) भेड़ों के बाल कतरने का काम । (५) पैड़ी । सीढ़ी ।

पैरेखना*—क्रि० स० दे० “परेखना” ।

पैरोकार-संज्ञा पुं० दे० “पैरवीकार” ।

पैल-संज्ञा पुं० [सं०] एक ब्राह्मण जिन्होंने वेदव्यास के संहिता-विभाग करने पर ऋग्वेद का अध्ययन किया था । (भागवत)

पैलगी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पायँ + लगना] प्रणाम । अभिवंदन । पालागन ।

पैलव-वि० [सं०] पीलू के पेड़ का । पीलू संबंधी ।

पैला—संज्ञा पुं० [हि० पैली] (१) नांद के आकार का मिट्टी का बरतन जिससे दूध दही ढांकते हैं। बड़ी पैली। उ०—श्याम सब भाजन फेरि पराने। हाँक देत पैठत हैं पैला नेकु न मनहिं डराने।—सूर। (२) चार सेर अनाज नापने की डलिया। चार सेर नाप का बरतन।

पैली—संज्ञा स्त्री० [सं० पातिली, प्रा० पाइली] (१) मिट्टी का एक चौड़ा बरतन जिसमें अनाज या तेल रखते हैं। (२) अनाज या तेल नापने का मिट्टी का बरतन।

पैवंद—संज्ञा पुं० [फा०] (१) कपड़े आदि का वह छोटा टुकड़ा जो किसी बड़े कपड़े आदि का छेद बंद करने के लिए जोड़ कर सी दिया जाता है। चकती। थिगली। जोड़।

क्रि० प्र०—लगाना।

मुहा०—पैवंद लगाना = (१) बात में बात जोड़ना। मेल मिशाना। जैसे, सारा लेख उनका लिखा है बीच बीच में आपने भी पैवंद लगाए हैं। (२) अचूरीया विगड़ी हुई बात में नई बात जोड़कर उसे पूरा करना या सुधारना।

(२) किसी पेड़ की टहनी काटकर उसी जाति के दूसरे पेड़ की टहनी में जोड़कर बाधना जिससे फल बढ़ जाय या उनमें नया स्वाद आ जाय।

क्रि० प्र०—लगाना।

(३) मेल जोल का आदमी। इष्ट मित्र। संबंधी।

पैवंदी—वि० [फा०] (१) पैवंद लगाकर पैदा किया हुआ। कलम और पैवंद द्वारा बड़ा और मीठा बनाया हुआ (फल)। कलमी। जैसे, पैवंदी बेर।

यौ०—पैवंदी मूँछ = चिपकई हुई मरोड़दार मूँछ।

(२) वर्षांशकर। दोगजा।

संज्ञा पुं० बड़ा आँड़ू। शफ़ताल्।

पैवस्त—वि० [फा० पैवस्तः] (जल, दूध, घी आदि द्रव पदार्थ) जो भीतर घुसकर सब भागों में फैल गया हो। जिसने भीतर बाहर फैलकर तर कर दिया हो। सोखा हुआ। समाया हुआ। जैसे, सिर में तेल पैवस्त होना, दूध का रोटी में पैवस्त होना।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

पैशल्य—संज्ञा पुं० [सं०] पैशलता। केमलता।

पैशाच—वि० [सं०] (१) पिशाच संबंधी। पिशाच का। पिशाच का किया या बनाया हुआ। (२) पिशाच देश का। जैसे, पैशाच भाषा।

संज्ञा पुं० (१) पिशाच। (२) एक आयुधजीवी संघ का नाम। एक लड़ाका दल।

पैशाच काय—संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत में कहे हुए कायों (शरीरों) में से एक जो राजस काय के अंतर्गत है। जूठा खाने की रुचि,

स्वभाव का तीखापन, दुःसाहस, खीलोखुपता और निर्लज्जता पैशाच काय के लक्षण हैं।

पैशाच विवाह—संज्ञा पुं० [सं०] आठ प्रकार के विवाहों में से एक जो सोई हुई कन्या का हरण करके या मदोन्मत्त कन्या को फुसलाकर बल से किया गया हो। इस प्रकार का विवाह बहुत निंदनीय कहा गया है। (स्मृति)

पैशाचिक—वि० [सं०] पिशाच संबंधी। पिशाचों का। राक्षसी। घोर और वीभत्स। जैसे, पैशाचिक कांड, पैशाचिक कर्म।

पैशाची—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की प्राकृत भाषा।

पैशुन—संज्ञा पुं० [सं०] पिशुनता। चुगलखोरी।

पैशुन्य—संज्ञा पुं० [सं०] पिशुनता। चुगलखोरी।

पैष्टिक—संज्ञा पुं० [सं०] जौ, चावल आदि अन्नों को सड़ाकर बनाया हुआ मद्य।

पैष्टी—संज्ञा स्त्री० [सं०] पैष्टिक।

पैसना—क्रि० अ० [सं० प्रविश, प्रा० पइस + ना (प्रत्य०)] घुसना। पैठना। प्रवेश करना।

पैसरा—संज्ञा पुं० [सं० परिश्रम] जंजाल। झंझट। बखेड़ा। प्रयत्न। व्यापार। उ०—पेटो है हरि पूजन ताता। पुनि पैसर केरि नहिं बाता।—विश्राम।

पैसा—संज्ञा पुं० [सं० पाद, प्रा० पाय = चौथाई + अंश, प्रा० अंस, या पणांश] (१) तांबे का सबसे अधिक चलता सिक्का जो आने का चौथा और रुपये का चौसठवां भाग होता है। पाव आना। तीन पाई का सिक्का। (२) रुपया पैसा। धन। दौलत। माल। जैसे, उसके पास बहुत पैसा है। उ०—साई या संसार में मतलब का व्यवहार। जब तक पैसा पास में तब तक हैं सब थार।—गिरिधर।

मुहा०—पैसा उठना = धन खर्च होना। पैसा उठाना = धन व्यर्थ नष्ट करना। फजूलखर्ची करना। पैसा कमाना = धन उपार्जन करना। रुपया पैदा करना। पैसा डूबना = लगा हुआ रुपया नष्ट होना। वाया होना। पैसा ढो ले जाना = सब धन खींच ले जाना। व्यापार आदि द्वारा किसी देश का धन दूसरे देश में ले जाना। पैसा धोकर उठाना = किसी देवता की पूजा की मनौती करके अलग पैसा निकाल कर रखना।

पैसार—संज्ञा पुं० [हि० पैसना] पैठ। प्रवेश। भीतर जाने का मार्ग। प्रवेशद्वार।

पैसिंजरगड़ी—संज्ञा स्त्री० [अ० पैसिंजर + हि० गाड़ी] मुसाफिरो को ले जानेवाली रेगाड़ी।

पैसेवाला—संज्ञा पुं० [हि०] (१) धनवान। मालदार। धनी। (२) सराफ़। पैसा बेचनेवाला।

पैहरा—संज्ञा पुं० [देश०] कपास के खेत में रुई इकट्ठी करनेवाला। पैकर। विनिया।

पैहारी—वि० [सं० पयस् + आहारी] केवल दूध पीकर रहनेवाला (साधु) ।

पों—संज्ञा स्त्री० [अनु०] (१) लंबी नाल या भोंपे को फूँकने से निकला हुआ शब्द । (२) लंबी नाल के आकार का एक बाजा जिसमें फूँकने से 'पों' शब्द निकलता है । भोंपा । (३) अधोवायु निकलने का शब्द ।

मुहा०—**पों बोलना** = (१) हार मानना । थककर बैठ रहना । (२) दिवाला निकालना । खुद ख हो जाना ।

पोंकना—क्रि० अ० [पों से अनु०] (१) पतला पाखाना फिरना । (२) अत्यंत भयभीत होना । बहुत डरना ।

संज्ञा पुं० पतला दस्त होने का रोग । (चौपाये)

पोंका—संज्ञा पुं० [देश०] बड़ा फतिंगा जो पौधों पर उड़ता फिरता है । बोंका ।

पोंगली—संज्ञा स्त्री० [हिं० पोंगा] (१) दे० 'पोंगी' । (२) वह नरिया जो दोबारा चाक पर से बना कर उतारी गई हो । (कुम्हार)

पोंगा—संज्ञा पुं० [सं० पुटक = खोखला वरतन] [स्त्री० अल्प पोंगी] (१) बाँस की नली । बाँस का खोखला पोर । (२) टीन आदि की बनी हुई लंबी खोखली नली जिसमें कागज़ पत्र रखते हैं । चोंगा । (३) पाँच की नली । वि० (१) पोला । (२) मूर्ख । बुद्धिहीन । अहमक । उ०—विमला ने कहा 'हँसी नहीं' मैं उस ब्राह्मण को पतियाती हूँ । वह तो पोंगा ही है—किंतु वह जाय या न जाय । —गदाधरसिंह ।

पोंगी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पोंगा] (१) छोटी पोली नली । (२) नरकुल की एक नली जिस पर जुलाहे तागा लपेट कर ताना या भरनी करते हैं । (३) चार या पाँच अंगुल की बाँस की पोली नली जो बाँस के बीजने की डाँड़ी में लगी होती है । हाँकनेवाले इसे पकड़ कर बीजने को धुमाते हैं । (४) ऊँच वा बाँस आदि में दो गाँठों के बीच का प्रदेश वा भाग ।

पोंछ—संज्ञा स्त्री० दे० 'पूँछ' ।

पोंछन—संज्ञा पुं० [हिं० पोंछना] किसी लगी हुई वस्तु का वह बचा अंश जो पोंछने से निकले ।

पोंछना—क्रि० सं० [सं० प्रोच्छन, प्रा० पोंछन] (१) लगी हुई गीली वस्तु को जोर से हाथ या कपड़ा आदि फेर कर उठाना या हटाना । काछना । जैसे, आँख से आँसू पोंछना, कागज़ पर पड़ी स्याही पोंछना, कटोरे में लगा हुआ घी पोंछ कर खा जाना, नहाने के बाद गीला बदन पोंछना । उ०—(क) सुनि के उत्तर आँसु पुनि पोंछे । कौन पंख बाँधा बुधि ओछे ।—नायसी । (ख) पोंछि डारे अँजन अँगोछि डारे अंगराग, दूरि कीने भूषण, उतारि अँग

अंग ते ।—रघुनाथ । (२) पड़ी हुई गर्द, मैल आदि को हाथ या कपड़ा जोर से फेर कर दूर करना । रगड़कर साफ करना । जैसे, कुर्सी पर गर्द पड़ी है पोंछ दे । पैर पोंछ कर तब फर्श पर आओ । उ०—मानहु विधि तन अच्छ छवि स्वच्छ राखिबे काज । दग पग पोंछन को किए भूखन पायंदाज ।—बिहारी ।

संयो० क्रि०—डालना ।—देना ।—लेना ।

यौ०—झाड़ पोंछ ।

विशेष—जो वस्तु लगी या पड़ी हो तथा जिसपर कोई वस्तु लगी या पड़ी हो अर्थात् आधार और आधेय दोनों इस क्रिया के कर्म होते हैं । जैसे, कटोरा पोंछना, कटोरे में लगा घी पोंछना, पैर पोंछना, पैर में लगी गर्द पोंछना । झटके से साफ करने को झाड़ना और रगड़ कर साफ करने को पोंछना कहते हैं ।

संज्ञा पुं० [स्त्री० पोंछनी] पोंछने का कपड़ा । वह कपड़ा जो पोंछने के लिए हो ।

पोंटा—संज्ञा पुं० [देश०] नाक का सल ।

पोंटी—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की छोटी मछली ।

पोआ—संज्ञा पुं० [सं० पुत्रक] साँप का बच्चा । सँपोला ।

पोआना—क्रि० सं० [हिं० 'पोना' का प्रे०] (१) पोने का काम कराना । (२) गीले आटे की लोई को गोल रोटी के रूप में बना बना कर पकानेवाले को सेंकने के लिए देना । जैसे, रोटी पोआना ।

संयो० क्रि०—देना ।

पोइया—संज्ञा स्त्री० [फा० पोयः] घोड़े की दो दो पैर फेंकते हुए दौड़ । सरपट चाल ।

मुहा०—**पोइयों जाना** = दोनों पैर फेंकते हुए दौड़ना ।

पोइस—संज्ञा स्त्री० [फा० पोयः, हिं० पोइया] सरपट । दौड़ । उ०—रे सन जवम अकारध खोइस । हरि की भक्ति कबहुँ नहिं कीन्होँ उदर भरे पर खोइस । निसि दिन रहत फिरत मुँह बाँधे अहंकार करि जनम बिगोइस । गोड़ पसारि परयो दोउ नीके अबके किये कहा होइस । कालथमन सो आनि बनैहै देखि देखि मुख रोइस । सूरथाम बिनु कौन लुड़ावै चले जाहु भाई पोइस ।—सूर ।

अव्य० [फा० पोय] देखो । हटो । बचो ।

विशेष—गधे, खच्चर आदि लेकर चलनेवाले, लोगों को छु जाने से बचाने के लिए, 'पोश' 'पोस' या 'पोइस पोइस' पुकारते चलते हैं ।

पोई—संज्ञा स्त्री० [सं० पोदकी] एक लता जिसकी पत्तियाँ पान की सी गोल पर दल की मोटी होती हैं । इसमें छोटे छोटे फलों के गुच्छे लगते हैं जिन्हें पकने पर चिड़िया खाती हैं । पोई दो प्रकार की होती है—एक काले डंठल की, दूसरी हरे डंठल

की। बरसात में यह बहुत उपजती है। पत्तियों का लोग खाग खाते हैं। एक जंगली पोई भी होती है जिसकी पत्तियां लंबोतरी होती हैं। इसका साग अच्छा नहीं होता। पोई की लता में रेशे होते हैं जो रस्सी बटने के काम में आते हैं। वैद्यक में पोई गरम, रुचिकारक, कफ-वर्द्धक और निद्राजनक मानी गई है।

पर्याय—उपोदकी। कलंबी। पिच्छिला। मोहिनी। विशाला। मदशाका। पूतिका।

संज्ञा स्त्री० [सं० पोत] (१) नरम कल्ला। अंकुर। (२) ईश्वर का कल्ला। ईश्वर की आँख।

मुहा०—पोई फूटना = ईश्वर में अंकुर निकलना।

(३) गेहूँ, ज्वार, बाजरे आदि का नरम और छोटा पौधा। जई। (४) गन्ने का पोर।

पोकना—संज्ञा पुं० [देश०] महुए का पका हुआ फल।

संज्ञा पुं० दे० “पोंकना”।

क्रि० अ० दे० “पोंकना”।

पोकल †—वि० [देश०] (१) पुलपुला। नाजुक। कमजोर।

(२) पोला। खोखला। (३) निःसार। तत्वहीन। तत्वशून्य।

पोख—संज्ञा पुं० [सं० पोष] पालने पोसने का संबंध या लगाव।

पोस। उ०—कबीरा पाँच पखेरुआ राखा पोख लगाय।

एक जो आया पारधी ले गया सबै उड़ाय। —कबीर।

पोखनरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पोखरा + नरी] ढरकी के बीच का गड्ढा जिसमें नरी लगा कर जुलाहे कपड़ा बुनते हैं।

पोखना*—क्रि० स० [सं० पोषण] पालना। पोसना। उ०—अरे कलानिधि निरदई कहा नधी यह आय। पोखत अमिरित कलन जग बिरहिन हेत जराय। —रसनिधि।

क्रि० अ० गाय भैंस आदि का, बच्चा देने का समय समीप आने पर, हाथ पैर आदि का ढीला पड़ जाना और थन का सूज आना। पोखाना। थलकना।

पोखर—संज्ञा पुं० [सं० पुष्कर, प्रा० पुक्खर] (१) तालाब।

पोखरा। (२) पट्टेबाजी में एक बार जो प्रतिपत्नी की कमर पर दहनी ओर होता है।

पोखरा—संज्ञा पुं० [सं० पुष्कर प्रा० पुक्खर] [स्त्री० अल्प पोखरी] वह जलाशय जो खोदकर बनाया गया हो। तालाब। सागर।

पोखराज—संज्ञा पुं० दे० “पुखराज”।

पोखरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पोखरा] छोटा पोखरा। तलैया।

पोगंड—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाँच से दस वर्ष तक की अवस्था का बालक।

विशेष—कुछ लोग २ से १५ तक पोगंड मानते हैं।

(२) वह जिसका कोई अंग छोटा, बड़ा या अधिक हो।

जैसे, छुः डँगलियां होना, बायां हाथ दहने से छोटा होना।

पोच—वि० [फा० पूच] (१) तुच्छ। चुद्र। बुरा। निकृष्ट। नीच। उ०—(क) मिट्टी महा मोह जी को छूट्यो पोच सोच सी को जान्यो अवतार भयो पुरुष पुरान को। —तुलसी। (ख) भलो पोच कह राम को मोको नर नारी। बिगरे सेवक श्वान सों साहब सिर गारी। —तुलसी। (ग) भलेउ पोच सब विधि उपजाये। गनि गुन दोष वेद विलगाये। —तुलसी। (घ) कहिहै जग पोच न सोच कछु फल लोचन आपनो तो लहिहै। —तुलसी। (च) कौन सुनै काके श्रवण काकी सुरति लँकोच। कौन निडर कर आरको को उत्तम को पोच। —सूर। (छ) श्रीति भार लै हिमे न सोचू। वही पंथ भल होय कि पोचू। —जायसी। (२) अशक्त। क्षीण। हीन।

पोचारा—संज्ञा पुं० दे० “पुचारा”।

पोची*—संज्ञा स्त्री० [हिं० पोच] निचाई। हेरापन। बुराई। उ०—यद्यपि मों ते कै कुसातु ते होइ आई अति पोची। सन्मुख गये सरन राखहिँगे रघुपति परम सँकोची। —तुलसी।

पोछना—क्रि० स० दे० “पोंछना”।

पोट—संज्ञा स्त्री० [सं० पोत] (१) गठरी। पोटली। बुक्का। मोटरी। उ०—(क) पहले बुरा कमाय के बांधी विषय की पोट। कोटि कर्म फिरे पलक में जब आये हरि ओट। —कबीर। (ख) खुक्ति खेळौ संसार में बांधि सकै नहिँ कोय। घाट जगाती क्या करै सिर पै पोट न होय। (२) ढेर। अटाला। जैसे, दुःख की पोट, पानी की पोट।

संज्ञा स्त्री० [सं० पृष्ठ, हिं० पुठ] पुस्तक के पन्नों की वह जगह जहाँ से जुड़बंदी या सिलाई होती है।

संज्ञा स्त्री० [सं० पोत = वस्त्र] मुर्दे के ऊपर की चादर। कफन के ऊपर का कपड़ा।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) घर की नींव। (२) मेल। मिलान।

पोटगल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) नरसल। नरकट। (२) काश।

कास। (३) मछली। (४) एक प्रकार का साँप।

पोटना*—क्रि० स० [हिं० पुट] (१) समेटना। बटोरना। उ०—(क) ऐसे पोटी ओंठ रल लेत। हठ सों परसि भरहि नख देत। —गुमान। (ख) पोटी भट्ट तट ओट कटी के लपेटि पटी सो कटी पटु छोरत। —देव। (२) हथियाना। पंजे में करना। फुसलाना। बात में लाना। उ०—लखिता के लोचन मिचाये चंद्रभागा सो, दुराइवे को त्याई वै तहाँई दास पोटी पोटी। —दास।

पोटरी † *—संज्ञा स्त्री० दे० “पोटली”।

पोटला—संज्ञा पुं० [हिं० पोदलक] बड़ी गठरी।

पोटली—संज्ञा स्त्री० [सं० पोदलिका] (१) छोटी गठरी। छोटा बुक्का। भीतर किसी वस्तु को रख कर बटोर कर बाँधा

हुआ कपड़ा आदि। जैसे, (क) अनाज को पोतली में बांध कर ले चला। (ख) सूजन पर नीम की पोतली बनाकर सेंको।

पोटा—संज्ञा पुं० [सं० पुट = थैली] [स्त्री० अल्प० पोटी] (१) पेट की थैली। उदराशय।

मुहा०—पोटा तर होना = पास में धन होने से प्रसन्नता और निश्चितता होना। पास में माल रहने से बेफिक्री होना।

(२) कलेजा। साहस। सामर्थ्य। पिप्ता। जैसे, किसका पोटा है जो उनके विरुद्ध कुछ कर सके। (३) समाई। औकात। बिसात। (४) आँख की पलक। (५) उँगली का झोर।

संज्ञा पुं० [सं० पोत] चिड़िया का बच्चा जिसे पर न निकले हों। गेदा।

यौ०—चेंगी पोटे।

संज्ञा पुं० [?] बाक का सल या श्लेषमा।

क्रि० प्र०—ब्रह्मा।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह स्त्री जिसमें पुरुष के से लक्षण हों, जैसे, दाढ़ी या मूँड़ के स्थान पर बाल। (२) दासी। (३) घड़ियाल ^{मत्त}।

पोटास—संज्ञा पुं० [अ०] वह चार जो पाले जलाए हुए पौधों की राख से निकाला जाता था, पर अब कुछ खनिज पदार्थों से प्राप्त होता है।

विशेष—पौधों की राख को पानी में घोल कर निथारते हैं फिर उस निथरे हुए पानी को औंटाते हैं जिससे चार गाढ़ा होकर नीचे जम जाता है। चुकंदर की सीठी (चीनी निकालने पर बची हुई) और भेंड़ों के ऊन से भी पोटास निकलता है। शोरा, अवाखार आदि पोटास ही हैं। पोटास औषध और शिल्प में काम आता है।

पाढ़ † *—वि० दे० “पोढ़ा”।

पोढ़ा—वि० [सं० प्रौढ़, प्रा० पोढ़] [स्त्री० पोढ़ी] (१) पुष्ट। दृढ़। मजबूत। उ०—कहीं छटना छाज पिटारी है कहीं बिकती खाटखटोला है। जब देखा खूब तो आखिर को न पोढ़ी खाट न चरखा है।—नजीर। (२) दृढ़। कड़ा। कठिन। कठोर। उ०—तीखी हेर चीर गहि ओढ़ा। कंतन हेर कीन्ह जिय पोढ़ा।—जायसी।

मुहा०—जी पोढ़ा करना = जी कड़ा करना। चित्त को दृढ़ करना जिससे भय, पीड़ा दुःख आदि से विचलित न हो।

पोढ़ाना †—क्रि० अ० [हिं० पोढ़] (१) दृढ़ होना। मजबूत होना। (२) पक्का पड़ना।

क्रि० स० दृढ़ करना। पक्का करना। दढ़ाना।

पोत—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पशु पक्षी आदि का छोटा बच्चा। (२) छोटा पौधा। (३) वह गर्भस्थ पिंड जिस पर फिल्ली न चढ़ी हो।

यौ०—पोतज = जो जरायुज न हो।

(४) दस वर्ष का हाथी का बच्चा। (५) घर की नींव। (६) कपड़ा। पट। (७) कपड़े की बुनावट। जैसे, इस कपड़े का पोत अच्छा नहीं है। (८) नौका। नाव। जहाज।

संज्ञा स्त्री० [सं० पोता, प्रा० पोता] (१) माता या गुरिया का दाना। (२) काँच की गुरिया का दाना। यह अनेक रंगों का होता है और कोदों के दाने के बराबर होता है। नीच जाति की स्त्रियाँ इसे तागे में गूथकर गले में पहनती हैं। इसे लोग छड़ी और नैचे आदि पर भी लपेटते हैं। उससे सोनार गहनों को भी साफ करते हैं।

उ०—(क) पतिव्रता मैली भली गले काँच की पोत। सब सखियन में देखिये ज्यों सूरज की जोत।—कबीर। (ख) भीनी कामरि काज कान्ह ऐसी नहि कीजै। काँच पोत गिर जाइ नंद घर गयौ न पूजै।—सूर।

(ग) फिरि फिरि कहा सिखावत मौन। वचन दुसह लागत अलि तेरे ज्यों पँजरे पर लौन। सींगी मुद्रा भस्म अधारी औ आराधन पौन। हम अबला अहीर शठ मधुकर! धरि जानै कहि कौन। यह मत जाइ तिन्हें तुम सिखबो जिनहीं यह मत सोहत। सूर आज लौं सुनी न देखी पोत पूतरी पोहत।—सूर।

संज्ञा पुं० [सं० प्रवृत्ति, प्रा० पउत्ति] (१) ढंग। ढब। प्रवृत्ति। उ०—नीच हिये हुलसे रहैं गहे गेंद के पोत। ज्यों ज्यों माथे मारिये त्यों त्यों ऊँचे होत।—बिहारी। (२) बारी। दाँव। पारी। अबसर। ओसरी।

मुहा०—पोत पूरा करना = कमी पूरी करना। ज्यों ज्यों करके किसी काम को पूरा करना। पोत पूरा होना = कमी पूरी होना। ज्यों त्यों करके किसी काम का पूरा होना।

संज्ञा पुं० [फा० पोता] ज़मीन का लगान। भूकर।

पोतक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) दे० “पोत”। (२) बच्चा। शिशु। (३) महाभारत के अनुसार एक नाग का नाम।

पोतकी—संज्ञा स्त्री० [सं०] पूतिका। पोई नाम की लता।

पोतड़ा—संज्ञा पुं० [सं० पोत = कपड़ा] वह कपड़ा जो बच्चों के चूतड़ों के नीचे रखा जाता है। गंतरा।

पोतदार—संज्ञा पुं० [हिं० पोत + दार] (१) वह पुरुष जिसके पास लगान कर का रुपया रखा जाय। खज़ानची। (२) पारखी। वह पुरुष जो खज़ाने में रुपया परखने का काम करता हो।

पोतन—संज्ञा पुं० [सं०] पवित्र। स्वच्छ। शुद्ध।

वि० विपन्न करनेवाला।

पोतनहर †—संज्ञा स्त्री० [हिं० पोतना + हर(प्रत्यय)] (१) वह वस्तु जिसमें घर पोतने के लिए मिट्टी घोल कर रखी हो। (२)

वह स्त्री जो घर पोते या घर पोतने का काम करती हो।

संज्ञा स्त्री० [सं० पोत + ना] अर्थात्। अंतर्द्धी।

पोतना—क्रि० सं० [सं० प्लुत, प्रा० पुत + ना] पोतन = पवित्र।

(१) किसी गीले पदार्थ को दूसरे पदार्थ पर फैला कर लगाना। गीली तह चढ़ाना। चुपड़ना। जैसे, रोगन पोतना, तेल पोतना, चूना पोतना।

संयो० क्रि०—देना।—लेना।

(२) किसी गीले या सूखे पदार्थ को किसी वस्तु पर ऐसा लगाना कि वह उस पर जम जाय। जैसे, कालिख पोतना, अश्वीर पोतना, मिट्टी पोतना, धूल पोतना, रंग पोतना।

संयो० क्रि०—देना।—लेना।

(३) किसी स्थान को मिट्टी, गोबर, चूने आदि से ढीपना। चूने, मिट्टी, गोबर आदि का गीला लेप चढ़ा कर किसी स्थान को स्वच्छ करना। जैसे, घर पोतना, आंगन पोतना। उ०—(क) सोमरूप भल भयो पलारा। धवल सिरी पोतहि घर बारा।—जायसी। (ख) पोता मंडप अगर औ चंदन। देव भरा अरगज औ बंदन।—जायसी।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।—लेना।

संज्ञा पुं० वह कपड़ा जिससे कोई चीज़ पोती जाय। पोतने का कपड़ा। पोता।

पोतला—संज्ञा पुं० [हिं० पोतना] पराँठा। तवे पर भी पोतकर सेंकी हुई चपाती।

पोता—संज्ञा पुं० [सं० पोत, प्रा० पोत्] बेटे का बेटा। पुत्र का पुत्र। उ०—तुम्हारे पोते से हमारी पोती का ब्याह होय तो बड़ा आनंद है।—लख्खू।

संज्ञा पुं० [सं० पोत, पोता] (१) यज्ञ में सोलह प्रधान ऋत्विजों में से एक। (२) पवित्र वायु। वायु। (३) विशु। संज्ञा पुं० [फा० पोता] (१) पोत। बगान। भूमिकर। (२) अंडकोष।

संज्ञा पुं० दे० “पोटा”। उ०—क्यों घरते घर धीर सबै भट होत कलू बल काहू के पोते।—हनुमान।

संज्ञा पुं० [हिं० पोतना] (१) पोतने का कपड़ा। कुची जिससे घरों में चूना फेरा जाता है। (२) घुली हुई मिट्टी जिसका लेप दीवार आदि पर करते हैं।

मुहा०—पोता फेरना = (१) दीवार आदि पर चूने मिट्टी आदि का लेप करके सफाई करना। (२) चौका लगाना। चौपट करना। (३) सफाई कर देना। सब कुछ लट ले जाना।

संज्ञा पुं० [सं० पोत] १२ या १६ अंगुल लंबी एक प्रकार की मछली जो हिंदुस्तान की प्रायः सब नदियों में मिलती है।

पोताच्छादन—संज्ञा पुं० [सं०] तंबू। छोलदारी। डेरा।

पोताधान—संज्ञा पुं० [सं०] छाँवर। मछलियों के बच्चों का समूह।

पोतारा—संज्ञा पुं० दे० “पुतारा”।

पोतारी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पुतारा] पोतने का कपड़ा।

पोतास—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कपूर। बरास। भीमसेनी कपूर।

विशेष—दे० “कपूर”।

पोतिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पोई की बेल। (२) वख। कपड़ा।

पोतिया—संज्ञा पुं० [सं० पोत] (१) वह कपड़े का टुकड़ा जिसे साधु पहनते हैं या जिसे पहन कर लोग नहाते हैं। (२) वह छोटी थैली जिसे लोग पास में लिए रहते और जिसमें चूना, तंबाकू, सुपारी आदि रखते हैं। छोटा बटुवा।

संज्ञा पुं० [?] एक प्रकार का खिलौना।

पोती—संज्ञा स्त्री० [हिं० पोता] पुत्र की पुत्री। बेटे की बेटी।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पोतना] (१) मिट्टी का लेप जो हैंडिया की पेंदी पर इसलिये चढ़ाया जाता है जिसमें अधिक आंच न लगे (२) पानी का वह पुतारा जो मद्य चुवाते समय बरतन पर फेरा जाता है। इससे भभके से उठी हुई भाप उस बरतन में जाकर ठंडी हो जाती है और मद्य के रूप में टपकती है। (३) पुतारा देने की क्रिया।

पोत्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूअर का खाँग। (२) वज्र। (३) एक यज्ञपात्र जो पोता नामक याजक के पास रहता है। (४) नाव। (५) नाव का डाँड़।

पोत्रायुध—संज्ञा पुं० [सं०] सूअर।

पोत्री—संज्ञा पुं० [सं०] सूअर।

पोथकी—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नेत्ररोग जिसमें आँख में खुजली और पीड़ा होती है, पानी बहता है और सरसों के बराबर छोटी छोटी लाल लाल फुंसियाँ निकल आती हैं।

पोथा—संज्ञा पुं० [हिं० पोथी] (१) कागज़ों की गड्डी। (२) बड़ी पोथी। बड़ी पुस्तक। (व्यंग्य या चिनोद) जैसे, तुम हलना बड़ा पोथा लिए क्या फिरते हो ?

पोथिया—संज्ञा पुं० दे० “पोतिया”।

पोथी—संज्ञा स्त्री० [सं० पुस्तिका, प्रा० पोथिआ] पुस्तक। उ०—पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुखा पंडित भया न कोई। एकै अक्षर प्रेम का पढ़े सो पंडित होइ।—कबीर।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पोत = गड़ा] लहसुन की गाँठ।

पोदना—संज्ञा पुं० [अ० पुदकना] (१) एक छोटी चिड़िया।

उ०—कुछ लाल चिड़े पोदने पिछे ही न खुश थे। पिददी भी समझती थी उसे आँख का तारा।—नजीर। (२) छोटे डील डौल का पुरुष। नाटा आदमी। टेंगना आदमी।

मुहा०—पोदना सा = बहुत छोटा सा। ज़रा सा।

पोदीना—संज्ञा पुं० दे० “पुदीना” ।

पोदार—संज्ञा पुं० [सं० पोत, हिं० पौद + दार] वह मनुष्य जो गाँजे की जातियाँ उसके खी० और पुं० भेद तथा खेती के ढंग जानता हो ।

संज्ञा पुं० दे० “पोतदार” ।

पोना—क्रि० सं० [सं० पूष, हिं० पूषा + ना (प्रत्य०)] (१) गीले आटे की लोई को हाथ से दबा दबाकर घुमाते हुए रोटी के आकार में बढाना । गीले आटे की चपाती गढ़ना । जैसे, आटा पोना । (२) (रोटी) पकाना । उ०—(क) तुमहिँ अबै जेईय घर पोई । कमल न भेंटहि, भेंटहि कोई ।—जायसी । (ख) सूर आखि मजीठ कीनी निपट काँची पोय ।—सूर । क्रि० सं० [सं० पोत, प्रा० पोइअ, पोय + ना (प्रत्य०)] पिरोना । गूथना । पोहना । उ०—(क) हरि मोतियन की माल है पोई काँचे धाग । जतन करो भटका बना दूटे की कहुँ लाग ।—रबीर । (ख) ल्यों ल्यों नाचो रे मनमोहन धाम मधुर सुर होई । तैसिये किंकिनि हरि पग नुपुर रसहि मिले सुर होई । कंचन को कँडुला मन मोहत तिन बघनहा बिच पोई । निरखि निरखि सुख नंद सुअन को सुर मन आनंद होई ।—सूर । (ग) दिनकर-कुल-मनि निहारि प्रेम मगन ग्राम नारि परसपर कहैं सखि अनु-राग ताग पोऊ । तुलसी यह ध्यान सुधन जानि मानि लाभ सधन कृपन ज्यों सनेह सोहिसे सुगेह जोऊ ।—तुलसी । संज्ञा पुं० दे० “पौना” ।

पोप—संज्ञा पुं० [अ०] ईसाइयों के कैथलिक संप्रदाय का प्रधान धर्मगुरु । इसका प्रधान स्थान यूरोप में इटली राज्य का रोम नगर है । चौदहवीं शताब्दी तक संसार के सभी ईसाई धर्मावलंबी राज्यों पर पोप का बड़ा प्रभाव था । पंद्रहवीं शताब्दी में लूथर नामक एक नए संप्रदाय-स्थापक की शिक्षा से पोप का अधिकार घटने लगा, पर पुराने कैथलिक संप्रदाय के माननेवालों में पोप का अभी वैसा ही आदर है । उनका अभिषेक आदि उसी प्रकार किया जाता है जैसे महाराजाओं का होता है ।

पोपला—वि० [हिं० पुलपुला] (१) जो भीतर के भराव के कम होने या न रहने के कारण पचक गया हो । पचका और सुकड़ा हुआ । (२) बिना दाँत का । जिसमें दाँत न हों । जैसे, बुढ़ों का पोपला मुँह । (३) जिसके मुँह में दाँत न हों । जैसे, पोपला बुढ़ा ।

पोपलाना—क्रि० अ० [हिं० पोपला] पोपला होना । उ०—डाढ़ी नाक याक मा मिलगै बिना दाँत मुँह अस पोपलान । डाढ़िहि पर बहि बहि आवति है कबौ तमाकू जो फाँकन ।—प्रताप ।

पोपली—संज्ञा स्त्री० [हिं० पोपला] आम की गुठली घिसकर बनाया हुआ बाजा जिसे लड़के बजाते हैं ।

३००

पोय—संज्ञा स्त्री० दे० “पोई” ।

पोया—संज्ञा पुं० [सं० पोत] (१) बृक्ष का नरम पौधा । (२) बच्चा । (३) साँप का छोटा बच्चा । सँपोला ।

पोर—संज्ञा स्त्री० [सं० पर्व] (१) उँगली की गाँठ या जोड़ जहाँ से वह झुक सकती है । (२) उँगली में दो गाँठों या जोड़ों के बीच की जगह । उँगली का वह भाग जो दो गाँठों के बीच हो । (३) ईख, बाँस, नरसल, सरकंडे आदि का वह भाग जो दो गाँठों के बीच हो । उ०—(क) प्रीति सीखिए ईख सों पोर पोर रस होय । (ख) पोर पोर तन आपनो अनत विधायो जाय । तब मुरली नंदलाल पै भई सुहागिन आय ।

पौ०—पोर पोर = पोर पोर में ।

(४) रीढ़ । पीठ । उ०—मनमोहन खेलत चौगान । दारावती कोट कंचन में रच्यो रुचिर मैदान । यादव वीर बराए इक इक, इक हलधर, इक अपनी ओर । निकसे सबै कुँवर असवारी उच्चरवा के पोर ।—सूर ।

पोरा—संज्ञा स्त्री० [हिं० पोर] (१) लकड़ी का मंडलाकार टुकड़ा । लकड़ी का गोल कुंदा । (२) कुंदे की तरह मोटा आदमी ।

पोरिया—संज्ञा स्त्री० [हिं० पोर] चाँदी का एक गहना जो हाथ पर की उँगलियों की पोरों में पहना जाता है । यह ब्रह्मे का सा होता है पर इसमें धुँवरु के गुच्छे वा भुँवे लगे रहते हैं ।

पोरी—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की कड़ी मिट्टी ।

पोरुआ—संज्ञा पुं० [हिं० पोर] पोरिया ।

पोर्ट—संज्ञा पुं० [पुर्त० पोर्ट] अंगूर से बनी हुई एक प्रकार की शराब जो भबके से नहीं चुआई जाती, अंगूर के रस को धूप में सड़ाकर बनाई जाती है । इसमें मादकता नाम मात्र की होती है, इससे इसका सेवन पुष्टई के रूप में लोग करते हैं । इसे द्राक्षासव कह सकते हैं ।

पोल—संज्ञा पुं० [हिं० पोला] (१) शून्य स्थान । अवकाश । खाली जगह । जैसे, ढोल के भीतर पोल । (२) खोखला-पन । भराव का अभाव । सारहीनता । अंतःसार शून्यता ।

मुहा०—(किसी की) पोल खुलना = भीतरी दुरवस्था प्रगट हो जाना । छिपा हुआ दोष या बुराई प्रगट हो जाना । संडा फूटना । (किसी की) पोल खोलना = भीतरी दुरवस्था प्रगट करना । छिपे हुए दोष या बुराई को प्रगट करना । संडा फोड़ना ।

संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का फुलका ।

संज्ञा पुं० [सं० प्रतेली, प्रा० पत्रोली] (१) कहीं जाने का फाटक । प्रवेशद्वार । (२) आँगन । सहन ।

पोलक—संज्ञा पुं० [हिं० पूला] लंबे बाँस के छोर पर चरखी में बँधा हुआ पयाल जिसे लुक की तरह जलाकर बिगड़े हाथी को डराते हैं ।

पोलच, पोलचा—संज्ञा पुं० [हि० पोल] (१) वह परती भूमि जो पिछले वर्ष रबी बोने के पहले जोती गई हो। जौनाल। (२) वह ऊसर या बंजर भूमि जिसे जुते या दूटे तीन वर्ष हो गए हों।

पोला—वि० [हि० फूलना, वा सं० पोल = फुलका] [स्त्री० पोली] (१) जो भीतर से भरा न हो। जिसके भीतर खाली जगह हो। जो ठोस न हो। खोखला। जैसे, पोला बांस, पोली नली। (२) अंतःसार शून्य। निःसार। तत्वहीन। खुल। उ०—है प्रभु मेरो ही सब दोस।...वेप वचन विराग, मन अथ औगुनन को कोस। राम प्रीति प्रतीति पोलो कपट करतव ठोस।—तुलसी। (३) जो भीतर से कड़ा न हो। जो दाब पड़ने से नीचे ढँस जाय। पुलपुला। उ०—पर हाथी बुद्धिमान् होते हैं, बहुधा पोला स्थान देखकर चलते हैं।—शिवप्रसाद।

संज्ञा पुं० [हि० पूला] सूत का लच्छा जो परेती पर लपटने से बन जाता है।

संज्ञा पुं० [देश०] एक छोटा पेड़ जो मध्यप्रदेश में बहुत होता है। इसकी लकड़ी भीतर से बहुत सफेद और नरम निकलती है जिससे उसपर खुदाई का काम बहुत अच्छा होता है। वजन में भी भारी होती है। हल आदि खेती के समान उससे बनाए जाते हैं। भीतरी छाल से रेशे होते हैं जो रस्सी बनाने के काम आते हैं। पेड़ बरसात में बीजों से उगता है।

पोलाद—संज्ञा पुं० दे० “फौलाद”।

पोलारी—संज्ञा स्त्री० [हि० पोल] छेनी के आकार का एक छोटा औजार जिससे सोनार खोरिया, कंगन, धुंधरू आदि के दानों को फिरफिर में रख कर खलते हैं। यह तीन चार अंगुल का होता है और इसकी नोक पर छोटा सा गोला दाना बना रहता है।

पोलाव—संज्ञा पुं० दे० “पुलाव”।

पोलिटिकल—वि० [अ०] राज्यप्रबंध संबंधी। शासन संबंधी। राजनीतिक। जैसे, पोलिटिकल काम, पोलिटिकल चाल।

पोलिटिकल एजेंट—संज्ञा पुं० [अ०] वह राज-पुरुष जो दूसरे राज्य में अपने राज्य की ओर से उसके स्वत्व और व्यापारादि की रक्षा के लिए रहता है। राजप्रतिनिधि।

पोलिया—संज्ञा स्त्री० [हि० पोला] एक पोला गहना जिसे स्त्रियाँ पैरों में पहनती हैं।

संज्ञा पुं० दे० “पौरिया”।

पोली—संज्ञा स्त्री० [देश०] जंगली कुसुम या बरें जिसका तेल अफरीदी मोमजामा बनाने के काम में आता है।

पोलो—संज्ञा पुं० [अ०] चौगान की तरह का एक अंगरेजी खेल जो घोड़े पर चढ़कर खेला जाता है।

पोशाक—संज्ञा स्त्री० [फा० पोश] पहनने के कपड़े। वस्त्र। परिधान। पहनावा। उ०—कीन्हें हैं पोशाक कारी, अंग-राग कजल को, लोहे के विभूषण, त्यों दूषण हथ्या हैं।—रघुराज।

मुहा०—पोशाक बढ़ाना = कपड़े उतारना।

विशेष—यह शब्द फारस से नहीं आया है, यहीं हिंदुस्तान में बना है।

पोशाकी—संज्ञा पुं० [फा०] (१) एक कपड़ा जो गाढ़े से बारीक और तनजेव से मोटा होता है। (२) अच्छा कपड़ा।

पोशीदगी—संज्ञा स्त्री० [फा०] गुस्सा। खिपाव।

पोशीदा—वि० [फा०] गुस्सा। खिपा हुआ।

पोष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पोषण। पुष्टि। उ०—पादप ये इहि सींचते, पावै अँग अँग पोष। पूरवजा ज्यों वरणते सब मानियों संतोष।—प्रियादास। (२) अशुद्ध। उन्नति। (३) आधिक्य। वृद्धि। बढ़ती। (४) धन। (५) पुष्टि। संतोष। उ०—(क) तेहि का होइ नाद पै पोष। तब परि हूँ कै होइ संतोष।—जायसी। (ख) कोऊ आवे भाव लै, कोउ लै आवै अभाव। साधु दोऊ को पोस दै, भाव न गिनै अभाव।—कबीर।

पोषक—वि० [सं०] (१) पालक। पालनेवाला। (२) वर्द्धक। बढ़ानेवाला। (३) सहायक।

पोषण—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० पोषित, पुष्ट, पोषणीय, पोष्य] (१) पालन। (२) वर्द्धन। बढ़ती। (३) पुष्टि। (४) सहायता। जैसे, पृष्ठपोषण।

पोषध—संज्ञा पुं० [सं० उपवसथ—उपोषध—पोषध] उपवासव्रत। (वैद)

पोषना—क्रि० सं० [सं० पोषण] पालना। उ०—(क) का मैं कीन जो काया पोषी। दोष माहिं आपुनि निर्दोषी।—जायसी। (ख) माधव जू जो जनते बिगरे। तउ कृपालु करुनामय केशव प्रभु नहिं जीय धरे। जैसे जननि जठर अंतर्गत सुत अपराध करै। तउ पुनि जतन करै औ पोषै निकसे अंक भरै।—सूर। (ग) राम सुप्रेमहिं पोषत पानी। हरत सकल कलिकलुष गलानी।—तुलसी।

पोषित—वि० [सं०] पाला हुआ।

पोषा—वि० [सं० पोष्ट] पालनेवाला।

संज्ञा पुं० कंजा। करंज।

पोष्य—वि० [सं०] पालने योग्य। पालनीय। जिसका पालन पोषण कर्तव्य हो।

विशेष—माता, पिता, गुरु, पत्नी, संतान, अभ्यागत, शर-णागत इत्यादि पोष्य वर्ग में हैं।

संज्ञा पुं० भृत्य । नौकर । दास ।

पौष्यपुत्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पालक । पुत्र के समान पाला हुआ लड़का । (२) दत्तक ।

पोस—संज्ञा पुं० [सं० पोष] पालने की कृतज्ञता । पालनेवाले के साथ प्रेम या हैल मेल । जैसे, कुत्ते बहुत पोस मानते हैं; तोते पोस नहीं मानते ।

पोसन—संज्ञा पुं० [सं० पोषण] पालन । रक्षा । उ०—मथुरा हूँ मैं गए, सखी री ! अब हरि काले कोसन । यह अचरज है अति मेरे जिय, यह छाँड़न वह पोसन ! —सूर ।

पोसना—क्रि० सं० [सं० पोषण] (१) पालना । रक्षा करना । उ०—राम सुखामी कुलेश्वर मैं सो । निज दिसि देखि दयानिधि पोसो ।—तुलसी । (२) (पशु को) आहार आदि देकर अपनी रक्षा में रखना । दाना पानी देकर रखना । जैसे, कुत्ता पोसना ।

पोस्ट—संज्ञा स्त्री० [अंग०] (१) जगह । स्थान । (२) पद । (३) नौकरी । (४) डाकखाना ।

पोस्टआफिस—संज्ञा पुं० [अंग०] डाकघर । डाकखाना ।

पोस्टकार्ड—संज्ञा पुं० [अंग०] एक मोटे कागज का टुकड़ा जिसपर पत्र लिखकर खुला भेजते हैं ।

पोस्टमार्टम—संज्ञा पुं० [अंग०] (१) मृत्यु का कारण आदि निश्चित करने के लिए मरने पर किसी प्राणी के शरीर की चीर फाड़ । (२) वह परीक्षा जो किसी प्राणी की लाश को चीर फाड़ कर की जाय ।

पोस्टमास्टर—संज्ञा पुं० [अंग०] डाकघर का सब से बड़ा कर्मचारी ।

पोस्टमैन—संज्ञा पुं० [अंग०] डाँकिया । इधर उधर चिट्ठी बाँटने वाला । चिट्ठीरसाँ ।

पोस्टर-ईक—संज्ञा स्त्री० [अंग०] एक प्रकार की छापे की स्याही जो लकड़ी के अक्षर छापने में काम आती है ।

पोस्टल-गाइड—संज्ञा पुं० [अंग०] वह पुस्तक जिसमें डाक द्वारा चिट्ठी, पारसल आदि भेजने के नियम और डाकघरों के नाम आदि रहते हैं ।

पोस्टेज—संज्ञा स्त्री० [अंग०] डाक द्वारा चिट्ठी पारसल आदि भेजने का महसूल ।

पोस्त—संज्ञा पुं० [फार०] (१) झिलका । बकल । बकला । (२) खाल । चमड़ा । (३) अफीम के पौधे का डोडा या ढोंड़ । (४) अफीम का पौधा । पोस्ता ।

पोस्ता—संज्ञा पुं० [फार० पोस्त] एक पौधा जिसमें से अफीम निकलती है ।

विशेष—पौधा दो ढाई हाथ ऊँचा होता है । पत्तियाँ भांग या गाँजे की पत्तियों की तरह कटावदार पर बहुत बड़ी और सुंदर होती हैं । डंठलों में रोइयाँ सी होती हैं । फागुन चैत में पौधा फूलने लगता है । पौधे के बीचोबीच

से एक लंबी पतली बाल (डंठी) ऊपर की ओर जाती है जिसके सिरे पर चार पाँच पखड़ियों का कटोरे के आकार का बहुत सुंदर गोल फूल लगता है । फारस और हिंदुस्तान में जो पोस्ता बोया जाता है उसका फूल भी सफेद और बीज के दाने भी सफेद होते हैं । पर रूस के राज्य में जो पोस्ता होता है उसके फूल प्याजी रंग के और दाने काले होते हैं । बहुत चटकीले लाल फूलवाले पौधे को ही गुलेलाबा कहते हैं जिसकी सुंदरता का फारसी के कवियों ने इतना वर्णन किया है और जो शोभा के लिए बगीचों में लगाया जाता है । फूल के बीच में एक घुंड़ी सी होती है जिसमें इधर उधर की किरनों के सिरों पर पुं० पराग होता है । पखड़ियों के झड़ जाने पर घुंड़ी बढ़ कर डोडे (ढेंड़) के रूप में हो जाती है । इसीको पोस्ते का डोडा या ढेंड़ कहते हैं । डोडा तीन बार अंगुल का होता है । डोडे के कुछ बढ़ जाने पर उसमें लोहे की नहरनी से खड़ा चीरा या पाँड़ लगा देते हैं । पाँड़ लगने से उसमें से हलके गुलाबी रंग का दूध निकलता है जो दूसरे दिन लाल रंग का होकर जम जाता है । यही जमा हुआ दूध अफीम है । एक डोडे से तीन चार बार दूध पाँड़कर निकाला जा सकता है । फूल की पखड़ियों को भी लोग मिट्टी के गरम तवे पर इकट्ठा करके गोल रोटी के रूप में जमाते हैं जिसे पत्तर कहते हैं । सूखे डोडों से राई के से सफेद सफेद बीज निकलते हैं जो पोस्ते के दाने कहलाते हैं और खाए जाते हैं । पोस्ते की जाति के २५ या २६ पौधे होते हैं । पर उनमें से अफीम नहीं निकलती । वे शोभा के लिए बगीचों में लगाए जाते हैं ।

पोस्ती—संज्ञा पुं० [फार०] (१) वह जो नशे के लिए पोस्ते के डोडे को पीसकर पीता हो । उ०—पोस्ती पड़े कुर्छे में तो वहीं चैन है । (२) आलसी आदमी । (३) गुड़िया के आकार का कागज का एक खिलौना जिसके पेंदे में मिट्टी का ठोस गोल दीया सा भरा रहता है । पेंदे से ऊपर की ओर यह गावदुम होता जाता है । यह सदा खड़ा ही रहता है, खेदने से या ऊपर गिरने से तुरंत खड़ा हो जाता है । इसे मतवाला और खड़े खाँ भी कहते हैं ।

पोस्तीन—संज्ञा पुं० [फार०] (१) गरम और मुलायम रोएँवाले समूर आदि कुछ जानवरों की खाल का बना हुआ पहरावा जिसे पामीर, तुर्किस्तान, मध्य एशिया के लोग पहनते हैं । (२) खाल का बना हुआ कोट जिसमें नीचे की ओर बाल होते हैं । उ०—सर्द मुस्कवाले सदा ऊनी कपड़े और पोस्तीनों में लिपटे रहते हैं ।—शिवप्रसाद ।

पोहना—क्रि० सं० [सं० पोत, प्रा० पोह्य, पोय + ना (प्रत्यय)]

(१) पिरौना । गूँथना । उ०—(क) लटकन लटकि रहे मुख ऊपर पंचरंग मणिगण पोहे री । मानहुँ गुरु शनि शुक्र एक हैं लाल भाल पर सोहे री ।—सूर । (ख) जुगुति बेधि पुनि पोहि यहि रामचरित बर ताग । पहिरहिँ सज्जन बिमल उर सोभा अति अनुराग ।—तुलसी । (२) छेदना । उ०—इक एक सिर सरनिकर छेदे नम उड़त इमि सोहहीं । जनु कोपि दिनकर-करनिकर जहँ तहँ विधु-तुद पोहहीं ।—तुलसी । (३) लगाना । पोतना । उ०—भरोसो कान्ह को है मोहि । सुनु यशोदा कंस भय ते तू जनि व्याकुल होहि । पहिले पूतना कपट करि आई स्तननि विष पोहि । वैसी प्रबल द्वै दिन के बालक मारि देखावत तोहि ।—सूर । (४) जड़ना । घुसाना । धँसाना । जमाना । उ०—(क) अब जानी पिय बात तुम्हारी । मों सों तुम मुँह की मिलवत हो भावत है वह प्यारी..... भली करी यह बात जनाई प्रगट देखाई मोंहि । सूरश्याम यह प्राण पिथारी उर में राखी पोहि ।—सूर । (ख) कै मधु-पावलि मंजु लसै अरविंद लगी मकरंदहि पोहे ।—बेनी । (२) पीसना । धिसना । (६) दे० “पोना” । वि० [स्त्री० पोहनी] घुसनेवाला । भेदनेवाला । उ०—यह चार अंग सी सोहनी, चार सैन्य मधि पोहनी । जुग चार चार श्रुति में विदित मृत्युपास मनसोहनी ।—गोपाल ।

पोहमी—संज्ञा स्त्री० दे० “पुहमी” ।

पोहरा—संज्ञा पुं० [हि० पोहा] (१) वह स्थान जहाँ पशु चराये जाते हैं वा चरते हैं । चरहा । (२) चरहा । घासवा पशुओं के चरने का चारा । चरी ।

पोहा—संज्ञा पुं० [सं० पशु] पशु । चौपाया ।

पोहिया—संज्ञा पुं० [हि० पोहा] चरवाहा ।

पौँचा—संज्ञा पुं० [हि० पाँच] साढ़े पाँच का पहाड़ा ।

पौँडई—वि० [हि० पौंडा] पौंडे के रंग का । गन्नाई ।

संज्ञा पुं० एक रंग जो पौंडे के रंग से मिलता जुलता होता है । इसमें २० सेर टेसू का रंग और १ छटाँक हलदी पड़ती है । रंग पीलापन लिए हरा होता है । इसे गन्नाई भी कहते हैं ।

पौंडरीक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्थलपद्म । पुंडरी । (२) एक प्रकार का कुष्ठ जिसमें कमल के पत्रों के रंग का सा वर्ण हो जाता है । (३) एक यज्ञ का नाम ।

पौंडर्य—संज्ञा पुं० [सं०] स्थल पद्म ।

पौंडा—संज्ञा पुं० [सं० पौंडक] एक प्रकार की बड़ी और मोटी जाति की ईख या गन्ना जिसका छिलका कुछ कड़ा होता है पर जिसमें रस बहुत अधिक होता है । यह ईख अधिकतर चूसने के काम में आती है । लोग इसके रस से गुड़, चीनी आदि नहीं बनाते ।

पौंडा दो प्रकार का होता है—सफेद और काला । सुश्रुत ने पौंडे को शीतल और पुष्ट कहा है । कहते हैं कि पौंडा पहले पहल इस देश में चीन से आया ।

पर्या०—भीरुक । वंशक । शतपोरक । कांतार । काप्टेतु । सूचिपत्रक । नैपाल । नीलपोर (काला गन्ना) ।

पौंडी—संज्ञा स्त्री० दे० “पौरी” ।

पौंडू—वि० [सं०] (१) पुंड्र देश का । (२) पुंड्र देश का निवासी या राजा ।

संज्ञा पुं० (१) भीमसेन के शंख का नाम । (२) मोटा गन्ना । पौंडा । (३) पुंड्र देश (बिहार का एक भाग) के वसुदेव का पुत्र जो मिथ्या वासुदेव कहलाया । दे० “पौंडक” । (४) मनु के अनुसार एक जाति जो पहले क्षत्रिय थी पर पीछे संस्कारभ्रष्ट होकर वृषलत्व को प्राप्त हो गई थी । दे० “पुंडू” ।

पौंडक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का मोटा गन्ना । पौंडा । (२) एक पतित जाति । दे० “पुंडू” । ब्रह्मवैवर्त पुराण में इसी जाति को शौंडिका (कलवारिन) और वैश्य से उत्पन्न एक संकर जाति लिखा है । (३) पुंड्र देश का एक राजा जो जरासंध का संबंधी था । इसके पिता का नाम भी वसुदेव था, इससे यह अपने को वासुदेव कहता था । राज-सूय यज्ञ के समय भीम ने इसे हराया था । श्रीकृष्ण के समान यह भी अपना रूप बनाए रहता था । नारद के द्वारा श्रीकृष्ण की महिमा सुनकर यह बहुत क्रुद्ध हुआ और कहने लगा मेरे अतिरिक्त और दूसरा वासुदेव है कौन । इसने एकलव्य आदि वीरों को लेकर द्वारका पर चढ़ाई की पर कृष्ण के हाथ से मारा गया ।

पौंडवर्त—संज्ञा पुं० [सं०] वेद की एक शाखा का नाम ।

पौंडवर्द्धन—संज्ञा पुं० [सं०] पुंड्रवर्द्धन नगर ।

पौंडिक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पौंडा नाम का गन्ना । (२) एक गोत्रप्रवर्त्तक ऋषि । (३) लवा नाम का पक्षी । (४) पुंड्र नामक देश ।

पौंडना—क्रि० सं० दे० “पौंडना” ।

पौरना—क्रि० अ० [सं० प्लवन] तैरना ।

पौरि—संज्ञा स्त्री० दे० “पौरि”, “पौरी” ।

पौरिया—संज्ञा पुं० दे० “पौरिया” ।

पौ—संज्ञा स्त्री० [सं० प्रपा, प्रा० पवा] पौसाला । पौसला । प्याऊ । संज्ञा स्त्री [सं० पाद, प्रा० पाय, पाव = किरन] किरन । प्रकाश की रेखा । ज्योति ।

मुहा०—पौ फटना = सेबों का उजाला दिखाई पड़ना । सेबों होना । तड़का होना । उ०—पौ फाटी, पागर हुआ, जागे जीया जून । सब काहूँ को देत है चोंच समाना चून —कबीर । संज्ञा पुं० [सं० पाद, प्रा० पाय, पाव] (१) पैर । (२) जड़ ।

उ०—पौ बिनु पत्र, कहह बिन तूँबा, बिनु जिम्मा गुन गावै।—कबीर।

संज्ञा स्त्री० [सं० पद्, प्रा० पव = कदम, डग] पाँसे की एक चाल या दाँव।

विशेष—फँकने पर जब ताक आता है या दस, पचीस, तीस आते हैं तब पौ होती है।

मुहा०—पौ बारह पड़ना = जीत का दाँव पड़ना। पौ बारह होना = (१) जीत का दाँव पड़ना। (२) जीत होना। बन आना। भाग्य खुलना। लाभ का खूब अवसर मिलना। जैसे, यहाँ तो सदा पौ बारह हैं।

पौआ—संज्ञा पुं० दे० “पौवा”।

पौगंड—संज्ञा पुं० [सं०] पाँच वर्ष से दस वर्ष तक की अवस्था।

पौट—संज्ञा स्त्री० [सं० प्रवृत्ति, प्रा० पवट] जोत की एक रीति जिसके अनुसार प्रति वर्ष जोतने का अधिकार नियमानुसार बदलता रहता है। बारी बारी गाँव के सब किसानों की जोत में खेत जाता रहता है। भोजवारी।

पौडर—संज्ञा पुं० [अ०] (१) चूर्ण। बुकनी। (२) एक सफ़ेद चूर्ण जिसे लोग मुँह पर मलते हैं।

पौड़ी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पौव + डी] लकड़ी का मोड़ा जिसपर मदारी बंदर को नचाते समय बिठाता है।

मुहा०—पौड़ी पर ठिकना = पौड़ी पर बैठना। मोड़े पर बैठना। (मदारी)

संज्ञा स्त्री० [देग०] एक प्रकार की बहुत कड़ी मिट्टी।

पौढ़ना—क्रि० अ० [सं० प्लवन, प्रा० पव्वलन] झूलना। आगे पीछे हिलना। जैसे, झूले का पौढ़ना।

क्रि० अ० [सं० प्रलोठन, ?] लेटना। सोना। उ०—(क) महलन माहीं पौढ़ते परिमल अंग लगाय। झुलपती की छात में गढ़वा लोटै जाय।—कबीर। (ख) ठै सर ऊपर खाट बिछाई। पौढ़ी दोऊ कंत गर लाई।—जायसी। (ग) पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता। पौढ़े धरि उर पद जलजाता।—तुलसी। (घ) दूरहि ते देखे बलबीर। अपने बाल सखा सुदामा मलिन बसन अरु छीन सरीर। पौढ़े हुते प्रयंक परम रुचि रुक्मिणि चमर डुलावति तीर। उठि अकुलाय अगमने लीने मिलत नैन भरि आये नीर।—सूर।

पौढ़ाना—क्रि० स० [हिं० पौढ़ना] (१) झुलाना। झुलाना। इधर से उधर हिलाना। (२) लेटाना। उ०—एक बार जननी अम्हवाये। करि सिंगार पालन पौढ़ाये।—तुलसी। (३) सोलाना। उ०—(क) सेज रुचिर रुचि राम उठाये। प्रेम समेत पलँग पौढ़ाये।—तुलसी। (ख) चारों आतन अमित जानि कै जननी तब पौढ़ाये। चापत चरण जननि अब अपनी कलुक मधुर स्वर गाये।—सूर।

पौण्य—वि० [सं०] पुण्यकर्मकारक।

पौतन—संज्ञा पुं० [सं०] एक जनपद।

पौताना—संज्ञा पुं० (१) दे० “पैताना”। (२) जुलाहों के करघे में लकड़ी का एक औजार जो चार अंगुल लंबा और चौकोर होता है। इसके बीच में छेद होता है जिसमें रस्सी लगा कर इसे पौसर में बाँध देते हैं। कपड़ा बुनते समय यह करघे के गड्ढे में लटकता रहता है। इसे पैर के अँगूठे में फँसाकर ऊपर नीचे उठाते और दबाते हैं जिससे राख पौसर आदि दबते और उठते हैं।

पौतिक—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का मधु।

पौतिनासिक्य—संज्ञा पुं० [सं०] पीनस रोग।

पौत्तलिक—वि० [सं०] (१) पुतली का। पुतली संबंधी। (२) प्रतिमापूजक। भूर्तिपूजक।

पौत्तिक—संज्ञा पुं० [सं०] पुत्तिका नाम की मधु मक्खी का मधु। यह मधु घी के समान होता है और प्रायः नैपाल से आता है।

पौत्र—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० पौत्री] लड़के का लड़का। पोता।

पौत्रिकेय—संज्ञा पुं० [सं०] पुत्रिका का पुत्र। लड़की का लड़का जो अपने नाना की संपत्ति का उत्तराधिकारी हो।

पौद—संज्ञा स्त्री० [सं० पोत] (१) छोटा पौधा। नया निकलता हुआ पेड़। (२) वह कोमल छोटा पौधा जो एक स्थान से उखाड़कर दूसरे स्थान पर लगाया जा सके।

क्रि० प्र०—जमाना।—लगाना।

(३) संतान। वंश।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पौव + पद] वह वस्त्र जो बड़े लोगों के मार्ग में इसलिये बिछाया जाता है कि वे उसपर से होकर चले। पाँवड़ी। पाँवड़ा। उ०—(क) सबै बड़भागी अनुरागी प्रभु पाहन के, चाहन सों बात कहैं सब के बिलास की। चले उपरौध मनो पौद लगी आनंद की, औध आय गई औध गई बनवास की।—हनुमान। (ख) गोपुर ते अंतःपुर द्वारा, लगी पौद विस्तार अपारा।—रघुराज।

पौदन्य—संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक नगर का नाम जहाँ अशोक राजा की राजधानी थी।

पौदर—संज्ञा स्त्री० [हिं० पौव + दाहना] (१) पैर का चिह्न। (२) वह राह जो पैर की रगड़ से बन गई हो। पगडंडी। (३) वह राह जिसपर होकर कोल्हू या मोट खींचनेवाला बैल घूमता या आता जाता है।

पौदा—संज्ञा पुं० [सं० पोत] (१) नया निकलता हुआ पेड़। वह पेड़ जो अभी बढ़ रहा हो। (२) छोटा पेड़। चुप, गुल्म आदि।

क्रि० प्र०—लगाना।

(३) रेशम या सूत का फुंदना जिसे बुलबुल की पेटी में बाँध देते हैं।

पौडलिक-वि० [सं०] (१) पुत्रल संबंधी । द्रव्य या भूत संबंधी । (२) जीव संबंधी । (३) विषयानुरक्त । स्वार्थी ।

पौघन-संज्ञा स्त्री० [सं० पयस् + आधान] मिट्टी का वह बरतन जिसमें खाना रखकर परोसा जाता है ।

पौधा-संज्ञा पुं० [सं० पोत] (१) नया निकलता हुआ पेड़ । वह पेड़ जो अभी बड़ रहा हो । उगता हुआ नरम पेड़ (२) छोटा पेड़, छुप, गुल्म आदि । जैसे, आग का पौधा, नील का पौधा ।

क्रि० प्र०-लगाना ।

पौधि-संज्ञा स्त्री० दे० “पौद” । उ०—प्रेम की सी पौधि प्यारी सुखत अनौधि दुख औधि दिन बीते कहो कैसे थीर धरिहीं । —देव ।

पौनः पुनिक-वि० [सं०] जो बार बार हो । फिर फिर होनेवाला ।

पौन-संज्ञा पुं०, स्त्री० [सं० पवन] (१) वायु । हवा ।

यौ०-पौन का पृत = (१) हनुमान । (२) नाग । सर्प (वेग के कारण) ।

(२) जीव । प्राण । जीवात्मा । उ०—तौ द्वारे का पीजरा तामें पंछी पौन । रहने को आचरज है गए अचंभा कौन ।—कवीर । (३) प्रेतात्मा । प्रेत । भूत ।

मुहा०-पौन चलाना या मारना = जादू करना । डेना चलाना । मूठ चलाना । प्रयोग करना । **पौन बिठाना =** (किसी पर) भूत करना । किसीके पीछे प्रेत लगाना ।

वि० [सं० पाद + ऊन = पादोन, प्रा० पाञ्चोन] एक में से चौथाई कम । तीन चौथाई । जैसे, पौन बंटें में आएँगे । **संज्ञा** पुं० ढगण का एक भेद जिसमें पहले गुरु पीछे लघु होते हैं ।

पौनर्णाव-संज्ञा पुं० [सं०] भरतृकी तंत्र के अनुसार एक प्रकार का सन्निपात ज्वर जिसमें रोगी लंबी सासें लेता है और पीड़ा से बहुत तलफता है ।

पौनर्भव-वि० [सं०] [स्त्री० पौनर्भवा] (१) पुनर्भू संबंधी । पुनर्भू का । (२) पुनर्भू से उत्पन्न ।

संज्ञा पुं० (१) पुनर्भू से उत्पन्न पुत्र । यह धर्मशास्त्र में सात प्रकार के पुत्रों में अंतिम माना गया है । (२) वह पति जिसके साथ विधवा का वा पति से परित्यक्ता स्त्री का पुनर्विवाह हो ।

पौनर्भवा-संज्ञा पुं० [सं०] वह कन्या जिसका किसीके साथ एक बार विवाह संस्कार हो गया हो और फिर दूसरी बार दूसरे के साथ विवाह किया जाय । कश्यप ने सात प्रकार की पौनर्भवा कन्याएँ मानी हैं, (१) वाचादत्ता, (२) मनोदत्ता, (३) कृतकौतुकमंगला, (४) उदकस्पर्शिता, (५) पाणिगृहीतिका, (६) अग्निपरिगता, और (७) पुनर्भूप्रभवा ।

पौना-संज्ञा पुं० [सं० पाद + ऊन, प्रा० पाव + ऊन = पाऊन] पौन का पहाड़ा ।

संज्ञा पुं० [हिं० पोना] काठ या लोहे की बड़ी करछी जिसका सिरा गोल और चिपटा होता है । इसके द्वारा आग पर चढ़े कड़ाह में से पूरियाँ कचौरियाँ आदि निकालते हैं ।

पौनार-संज्ञा स्त्री० [सं० पद्मनाल] कमल के फूल की नाज या डंठल । कमल की नाज बहुत नरम और कोमल होती है, उसके ऊपर महीन महीन रोइयाँ या काँटे से होते हैं । उ०—(क) पहुँचहिँ छपी कमल पौनारी, जंघ छिपा कदली होइ बारी ।—जायसी । (ख) चंदन गाभ की सुजा सँवारी । जनु सो बेक कमल पौनारी ।—जायसी ।

पौनारि †—संज्ञा स्त्री० दे० “पौनार” ।

पौनिया-संज्ञा पुं० [हिं० पौन] कपड़ा जिसका धान पौन धान के बराबर होता है और अर्ज भी कुछ कम होता है ।

पौनी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पावना] (१) गांव में वे काम करनेवाले जिन्हें अनाज की राशि में से कुछ अंश मिलता है । (२) नाई, बारी, धोबी आदि काम करनेवाले जो विवाह आदि उत्सवों पर इनाम पाते हैं । उ०—(क) काढ़ी कोरा कापर हो अरु काढ़ी बी को सौन । जाति पांति पहिराई कै सब समदि छत्तीसौ पौनि ।—सूर । (ख) चलीं पौनि सब गोहने फूल डार लै हाथ । विश्वनाथ कह पूजा पदुमावति के साथ ।—जायसी ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पौना] छोटा पौना ।

पौने-वि० [हिं० पौन] किसी संख्या में से चौथाई भाग कम । किसी संख्या का तीन चौथाई । जैसे, पौने दो, पौने आठ इत्यादि ।

विशेष—इसका प्रयोग संख्यावाचक शब्दों के साथ होता है ।

मुहा०-पौने चार सेर = बनियों की बेल चाल में एक रुपये में पंद्रह सेर की बिक्री । **पौने सोलह आना =** बहुत अधिक अंश । अधिकान्त । बहुत सा । उ०—परंतु ध्यान से देखने से उन लोगों की बातों में पौने सोलह आना झूठ निकलता है । —दुर्गाप्रसाद । **पौने सोलह आने =** अधिक अंश में । प्रायः । जैसे, तुम्हारी बात पौने सोलह आने ठीक निकली ।

पौमान-संज्ञा पुं० (१) दे० “पवमान” । (२) जलाशय । उ०—दासी दास अप्सरा नाना । बाग तड़ाग विविध पौमाना । —रघुनाथ ।

पौरंदर-संज्ञा पुं० [सं०] ज्येष्ठा नक्षत्र का नाम ।

पौर-वि० [सं०] (१) पुर संबंधी । नगर का । (२) नगर में उत्पन्न । (३) पेद्र । उदरभरि । (४) पूर्व दशा वा काल में उत्पन्न ।

संज्ञा पुं० (१) रोहिण वा रुसा नाम की वास । (२) पुर राजा का पुत्र । (३) नखी नामक गंधद्रव्य । नख ।

संज्ञा स्त्री० दे० “पौरि”, “पौरी” ।

पौरक—संज्ञा पुं० [सं०] घर के बाहर का उपवन । पाई बाग ।

पौरकुत्स—संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक तीर्थ का नाम ।

पौरगीय—वि० [सं०] पूर्वजन्म संबंधी ।

पौरव—वि० [सं०] [स्त्री० पौरवी] पुरुष के वंश का । पुरुष से उत्पन्न ।

संज्ञा पुं० (१) पुरुष का वंशज । पुरुष की संतति । (२) उत्तर पूर्व का एक देश (महाभारत) । (३) उक्त देश निवासी ।

(४) उक्त देश का राजा ।

पौरवी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) युधिष्ठिर की एक स्त्री का नाम ।

(२) वसुदेव की एक स्त्री का नाम । (३) संगीत में एक मूर्च्छना । इसका सरगम इस प्रकार है,—ध, नि, स, रे, ग, म, प । प, ध, नि, स, रे, ग, म, प, ध, नि, स, रे ।

पौरसख्य—संज्ञा पुं० [सं०] वह मित्रता जो एकही नगर वा ग्राम में रहने से परस्पर होती है ।

पौरस्त्री—संज्ञा स्त्री० [सं०] अंतःपुर में रहनेवाली । पुर या नगर की स्त्री ।

पौरा†—संज्ञा पुं० [हिं० पौर] आया हुआ कदम । पड़े हुए चरण । पौरा । जैसे, बहुत का पौरा न जाने कैसा है जब से आई है घर में कोई सुखी नहीं है ।

पौराण—वि० [सं०] (१) पुराणों में कहा वा लिखा हुआ । (२) पुराण संबंधी ।

पौराणिक—वि० [सं०] [स्त्री० पौराणिकी] (१) पुराणवेत्ता ।

(२) पुराणपाठी । (३) पुराण संबंधी । पुराण का । जैसे, पौराणिक कथा । (४) पूर्वकालीन । प्राचीन काल का । संज्ञा पुं० अठारह मात्रा के छंदों की संख्या ।

पौरि—संज्ञा स्त्री० दे० “पौरी” ।

पौरिया—संज्ञा पुं० [हिं० पौरि] द्वारपाल । ड्योड़ीदार । दरवान । उ०—(क) अति आतुर नृप मोहिं बुलायो । कौन काज ऐसे अँटक्यो है मन मन सोच बढ़ायो । आतुर जाय पौरि भयो ठाढ़ो कछो पौरिया जाई । सुनत बुलाय महल महँ लीना सुफलकसुत गयो धाई ।—सूर । (ख) साईं इन न विरोधिष्ट गुरु, पंडित, कवि, यार । बेटा, बनिता, पौरिया, पञ्च करावनहार ।—गिरिधर ।

पौरी—संज्ञा स्त्री० [सं० प्रतोली, प्रा० पओली] घर के भीतर का वह भाग जो द्वार में प्रवेश करते ही पड़े और थोड़ी दूर तक लंबी कोठरी या गली के रूप में चला गया हो । ड्योड़ी । उ०—(क) सेये सीताराम नहिं भजे न शंकर गौरि । जनम गँवायो बादि ही परत पराई पौरि ।—तुलसी । (ख) राजा ! इक पंडित पौरि तुम्हारी ।—सूर । (ग) चाह भरी अति रिस भरी बिरह भरी सब बात । कोरि सँदेसे दुहुन के

चले पौरि लौं जात ।—बिहारी । (घ) पौरि लौं खेलन जाती न लौं इन आलिन के मत में परती क्यों ?—देव ।

पौरकुत्स—संज्ञा पुं० [सं०] पुरुकुत्स के गोत्र में उत्पन्न पुरुष ।

पौरकुत्सि—संज्ञा पुं० [सं०] पुरुकुत्स का पुत्र ।

पौरुक्ति—संज्ञा पुं० [सं०] पुनर्वचन । पुनर्कथन । दोहराना ।

पौरुमद्र—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का सामगान ।

पौरुमह—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का सामगान ।

पौरुमीद—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का सामगान ।

पौरुष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुरुष का भाव । पुरुषत्व । पुंस्त्व ।

(२) पुरुष का कर्म । पुरुषार्थ । (३) बलवीर्य । पराक्रम ।

साहस । सरदानगी । (४) उद्योग । उद्यम । कर्मण्यता ।

जैसे, अरने पौरुष का आरोसा रखो, दूसरे की कमाई पर न रहो । (५) गहराई या ऊँचाई की एक माप । पुरसा ।

(६) उतना बोझ जितना एक आदमी उठा सके ।

वि० पुरुष संबंधी ।

पौरुषेय—वि० [सं०] (१) पुरुष संबंधी । पुरुष का । (२) पुरुष कृत । आदमी का किया हुआ । (३) आध्यात्मिक ।

संज्ञा पुं० (१) पुरुष का विकार । (२) पुरुष का समूह । जन-समुदाय । (३) पुरुष का कर्म । मनुष्य का काम । (४)

रोज की मजदूरी या काम करनेवाला मजदूर ।

पौरुष्य—संज्ञा पुं० [सं०] (१) साहस । (२) पुरुषत्व ।

पौरुहूत—संज्ञा पुं० [सं०] पुरुहूत या इंद्र का अस्त्र । वज्र ।

पौरु—संज्ञा स्त्री० [देश०] भूमि का एक भेद । एक प्रकार की मिट्टी या ज़मीन जिसके कई भेद होते हैं ।

पौरु—पौरु केहरा = यह मिट्टी सफेद रंग की होती है और इसके ऊपर पतली पपड़ी सी जम जाती है जिससे रेह और सज्जी बन सकती है । इस भूमि में रबी और खरीफ दोनों फसलें होती हैं । **पौरु केहरा अमीर** = इसका रंग सफेदी लिये पीला होता है और इसमें फसल अधिक वर्षा में उपजती है । **पौरु कौड़िया** = यह मिट्टी ललाई लिये होती है । यह न गीली होने से लसीली होती है न सुखने पर फटती है । इसमें खरीफ की फसल अच्छी होती है और पानी देने से इसमें रबी की फसल भी होती है । **पौरु तूसी** = भूरे रंग की होती है । इसमें रबी नहीं उपज सकती । **पौरु दुरसन** = इसकी मिट्टी कहीं ललाई और कहीं कालापन लिए होती है । इसमें रबी की फसल अच्छी होती है पर खरीफ के लिए पानी की अधिक आवश्यकता पड़ती है ।

पौरैय—संज्ञा पुं० [सं०] नगर के समीप का स्थान, देश ग्राम आदि ।

पौरोगव—संज्ञा पुं० [सं०] पाकशालाध्यक्ष ।

पौरौहित्य—संज्ञा पुं० [सं०] पुरोहिताई । पुरोहित का कर्म ।

पौरौषर्क—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का वैदिक कृत्य ।

पौरमास—संज्ञा पुं० [सं०] एक याग वा इष्टिका जो पूर्णिमा के दिन होती थी ।

पौर्णमासी—संज्ञा स्त्री० [सं०] पूर्णमासी ।

विशेष—यज्ञों में प्रतिपदुत्तरा पूर्णमासी का ही ग्रहण होता है । दो प्रकार की पूर्णमासी मानी गई है एक पूर्वा जिसे पंचदशी भी कहते हैं, दूसरी उत्तरा जिसे प्रतिपदुत्तरा कहते हैं ।

पौर्णमास्य—संज्ञा पुं० [सं०] पूर्णिमा को होनेवाला यज्ञ आदि ।

पौर्णमी—संज्ञा स्त्री० [सं०] पूर्णिमा ।

पौर्त्त—संज्ञा पुं० [सं०] पूर्त्त कार्य । पूर्त्त ।

पौर्त्तिक—संज्ञा पुं० [सं०] पूर्त्त साधक कर्म ।

पौर्वापर्य—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पूर्व और पर अर्थात् आगे और पीछे का भाव । (२) अलुक्रम । सिलसिला ।

पौर्वाहिक—वि० [सं०] [स्त्री० पौर्वाहिका] पूर्वाह्न संबंधी ।

पौर्विक—वि० [सं०] पूर्व में होनेवाला ।

पौलहस्ती—संज्ञा स्त्री० [सं०] सूर्यणखा ।

पौलस्त्य—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० पौलस्त्यी] (१) पुलस्त्य का पुत्र वा उनके वंश का पुरुष । (२) कुबेर । (३) रावण, कुम्भकर्ण और विभीषण । (४) चंद्र ।

पौलस्त्यी—संज्ञा स्त्री० [सं०] सूर्यणखा ।

पौला—संज्ञा पुं० [हि० पाव, पाउ + ला (प्रत्य०)] एक प्रकार की खड़ाऊँ जिसमें खूँटी नहीं होती, छेद में बंधी हुई रस्सी में श्रृंगुठा फँसा रहता है । उ०—पौला पहिरि कै हर जोतें औ सुयता पहिरि निरावैं । कहैं बाघ ये तीनों भकुआ सिर बोझा औ गावैं ।

पौलि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) थोड़ा मुना हुआ जौ, सरसों आदि । (२) फुलका । रोटी । संज्ञा स्त्री० दे० “पौली” ।

पौलिया—संज्ञा पुं० दे० “पौरिया” ।

पौलिश—वि० [यू० पालस (Paulus Alexandrinus)] पुलिश कृत (ज्योतिष का एक सिद्धांत) ।

पौली—संज्ञा स्त्री० [सं० प्रतेली, प्रा० पत्रोली] पौरी । ड्योड़ी । उ०—ऊँचा दीसै धरहरा माड़ी चिट्ठी पौलि ।—कबीर ।

संज्ञा स्त्री० [हि० पाव, पाउ + ली (प्रत्य०)] (१) पैर का वह भाग जो खड़े होने पर जमीन से आड़ा लगा रहता है । एड़ी से लेकर उँगलियों तक का भाग । उतना पैर जितने में जूता, खड़ाऊँ आदि पहनते हैं । (२) पैर का निशान जो धूल, गीली मिट्टी आदि पर पड़ जाता है । पदचिह्न ।

पौलुपि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुलु वंश में उत्पन्न पुरुष । (२) सत्ययज्ञ नामक एक ऋषि जो पुलु ऋषि के वंश में उत्पन्न हुए थे । इनका नाम शतपथ ब्राह्मण में आया है ।

पौलोम—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० पौलोमी] (१) पुलोमा ऋषि का अपत्य या पुत्र । (२) कौशीतक उपनिषद् के अनुसार देव्यों की एक जाति का नाम ।

पौलोमी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) इंद्राणी । (२) भृगु महर्षि की पत्नी का नाम ।

पौल्कस—वि० [सं०] पुल्कस (एक संकर जाति) जाति संबंधी ।

संज्ञा पुं० पुल्कस जाति का मनुष्य ।

पौवा—संज्ञा पुं० [सं० पाव, हिं० पाव] (१) एक सेर का चौथाई भाग । सेर का चतुर्थांश । उ०—ओढ़न मेरा राम नाम, मैं रामहिं को बनजारा हो । राम नाम का करो बनिज मैं हरि मोरा बढ़वारा हो । सहस नाम को करो पसारा दिन दिन होत सवाई हो । कान तराजू सेर तिनपौवा उह किन डोल बजाई हो—कबीर । (२) मिट्टी या काठ आदि का एक बरतन जिसमें पाव भर पानी, दूध आदि आजाय ।

पौष—संज्ञा पुं० [सं०] वह महीना जिसमें पूर्णमासी पुष्य नक्षत्र में हो । पूस ।

पौष्कर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुष्करमूल । (२) पद्म की जड़ । भीसा । भसीड़ । (३) परंड का मूल । (४) स्थलपद्म ।

पौष्करमूल—संज्ञा स्त्री० [सं०] पुष्करमूल ।

पौष्करसादि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक वैयाकरण ऋषि का नाम जिनके मत का उल्लेख महाभाष्य में है । (२) पुष्करसद् नाम ऋषि के गोत्र में उत्पन्न पुरुष ।

पौष्करिणी—संज्ञा स्त्री० [सं०] छोटा पोखरा । छोटा तालाब ।

पौष्कल—संज्ञा पुं० [सं०] एक साम का नाम ।

पौष्कल्य—संज्ञा पुं० [सं०] संपूर्णता ।

पौष्टिक—वि० [सं०] पुष्टिकारक । बलवीर्य दायक । जैसे, पौष्टिक औषध ।

संज्ञा पुं० (१) वह कर्म जिससे धन जन आदि की वृद्धि हो । (२) वह कपड़ा जो मुंडन के समय सिर पर डाल दिया जाता है ।

पौष्टी—संज्ञा स्त्री० [सं०] राजा पुरु की एक स्त्री ।

पौष्ण—संज्ञा पुं० [सं०] रेवती नक्षत्र ।

वि० पुषा देवता संबंधी । पुषा देवता का (चरु आदि) ।

पौष्प—वि० [सं०] पुष्प संबंधी । फूल का ।

संज्ञा पुं० (१) फूलों से निकाला हुआ मद्य । (२) पुष्प रेणु । फूल की धूल । पराग ।

पौष्पक—संज्ञा पुं० [सं०] कुसुमांजन ।

पौष्पी—संज्ञा स्त्री० [सं०] पुष्पपुर या पाटलिपुत्र ।

पौसला—संज्ञा स्त्री० [सं० पयशाला] (१) वह स्थान जहाँ पर पानी पिलाया जाता है । (२) प्यासों को पानी पिलाने का प्रबंध ।

क्रि० प्र०—बैठाना ।—चलाना ।

पौसार—संज्ञा स्त्री० [हिं० पाव] लकड़ी का एक डंडा जो ताने और राख के नीचे लगा रहता है । यह करघे के भीतर

सभा द्वारा प्रकाशित नवीन पुस्तकें ।
सूर्यकुमारी पुस्तकमाला की पहली पुस्तक

ज्ञान-योग

इसमें सुप्रसिद्ध स्वामी विवेकानंद के ज्ञान-योग संबंधी समस्त व्याख्यानों का सुंदर हिंदी अनुवाद है । इसका मूल पाठ मायावती संस्करण से मिलाया गया है । इसमें धर्म की आवश्यकता, मनुष्य की वास्तविक प्रकृति, माया और ईश्वर की भावना, ईश्वर सब में है, आत्मा की स्वतंत्रता, सृष्टि, दृश्य और वास्तव ब्रह्म आदि विषयों पर बहुत ही महत्वपूर्ण और शिक्षाप्रद सोलह व्याख्यानों का संग्रह है । गूढ़ धार्मिक बातों का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को इसका अध्ययन तथा संग्रह करना चाहिए । पौने चार सौ पृष्ठों की और सुनहरी जिल्दवाली प्रति का मूल्य केवल २॥) रु० ।

सूर्यकुमारी पुस्तकमाला की दूसरी पुस्तक

करुणा

यह परम प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता श्रीयुत् राखालदास बंदोपाध्याय के एक ऐतिहासिक उपन्यास का अनुवाद है । इसमें यह दिखलाया गया है कि किसी समय गुप्त साम्राज्य कैसा वैभवशाली था और अंत में किस प्रकार उसका नाश हुआ । यह उपन्यास जितना ही ऐतिहासिक घटनाओं से परिपूर्ण है, उतना ही मनोरंजक भी है । अतः प्रत्येक हिंदी प्रेमी को इसे अवश्य पढ़ना चाहिए । बढ़िया एंटीक कागज़ और सुनहरी कपड़े की जिल्द । पृष्ठ संख्या सवा छः सौ के लगभग । मूल्य ३॥) रु० ।

सूर्यकुमारी पुस्तकमाला की तीसरी पुस्तक

शशांक

यह भी श्रीयुत् राखालदास बंदोपाध्याय का लिखा हुआ और करुणा की तरह का परम मनोहर ऐतिहासिक उपन्यास है । यह भी गुप्त साम्राज्य के हास-काल से ही सम्बन्ध रखता है और इसमें सातवीं शताब्दी के आरंभ के भारत का जीता-जागता सामाजिक और ऐतिहासिक चित्र दिया गया है । जिन लोगों ने “करुणा” को पढ़ा है उनसे इस सम्बन्ध में और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है; पर जिन लोगों ने उसे नहीं देखा है, उनसे हम यही कहना चाहते हैं कि इन दोनों उपन्यासों के जोड़ के ऐतिहासिक उपन्यास आपको और कहीं न मिलेंगे । मूल्य ३) रु० ।

देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला की पहली पुस्तक फाहियान

पाँचवीं शताब्दी के आरंभ में चीन से फाहियान नामक जो चीनी बौद्ध यात्री इस देश में भ्रमण करने आया था, उसी का यह यात्राविवरण है। इसे पढ़ने से उस समय की राजनीतिक तथा सामाजिक अवस्था का बहुत कुछ ज्ञान होता है। इसके आरंभ में ६४ पृष्ठ का एक उपक्रम भी दिया गया है जिसमें खोज-संबंधी अनेक महत्वपूर्ण बातों का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त स्थान स्थान पर जो टिप्पण दिए गए हैं, उनसे पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ गई है। कई एक अंगरेज़ ग्रंथकारों ने अनेक स्थानों पर इस यात्रा-विवरण के संबंध में जे भूलें की हैं, उनका भी बहुत योग्यता के साथ संशोधन किया गया है। यह इतिहास-प्रेमियों के बड़े काम की चीज़ है। मूल्य १॥) २०।

देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला की दूसरी पुस्तक सुंगयुन

यह चीनी बौद्ध यात्री चीन की महारानी के आज्ञानुसार सन् ५१७ में महायान की पुस्तकों की खोज में भारत आया था। इसने अपना जो यात्रा-विवरण लिखा था, उसी का यह हिंदी अनुवाद है। इसमें भी प्रायः वे सभी विशेषताएँ हैं जो उक्त पुस्तक फाहियान में हैं। अतः यह भी प्रत्येक इतिहास-प्रेमी तथा विद्या-व्यसनी के पुस्तकालय में मुख्य स्थान पाने के योग्य है। इसकी सुंदर जिल्द बँधी हुई है और यह बढ़िया कागज़ पर छपी है। मूल्य १) २०।

देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला की तीसरी पुस्तक सुलेमान सौदागर

यह फारस के ऐसे मुसलमान सौदागर का यात्रा-विवरण है जिसके विषय में बड़े बड़े इतिहासज्ञों का मत है कि यह पहला मुसलमान यात्री था जो भारत में आया था और यहाँ से होता हुआ चीन गया था। यह नवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में भारत में आया था, और यहाँ का आँखों-देखा हाल लिख कर ले गया था। इसका मूल ग्रंथ १८११ में फ्रांस में छपा था; और इसका एक अंगरेजी अनुवाद १७३३ में लंडन में प्रकाशित हुआ था। ये दोनों ग्रंथ बड़ी कठिनता से प्राप्त करके मूल अरबी से यह अनुवाद किया गया है और स्थान स्थान पर अंगरेजी अनुवाद से मिलान भी किया गया है। इससे नवीं शताब्दी के भारत और चीन की अनेक बातों और रीति-रिवाजों आदि का पता लगता है। पुस्तक इतिहास-प्रेमियों के बड़े काम की है। मूल्य १॥) २०।

मिलने का पता—

संची, नागरीप्रचारिणी सभा,
बनारस सिटी।